कल्याण

उपनिषद् अंक

वर्ष २३] [अङ्क १

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय ।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर ।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा । जय गणेश, जय शुभ-आगारा ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । गौरी-शंकर सीता-राम ॥
जय रघुनन्दन जय सिया-राम । व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीता-राम ॥

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें ।

कल्याणमें बाहरके विज्ञापन नहीं छपते ।

समालोचनार्थ पुस्तकें कृपया न भेजें ।

कल्याणमें समालोचनाका स्तम्भ नहीं है ।

वार्षिक मूल्य भारतमें ६=) विदेशमें ८॥=) (१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

इस अङ्कका मूल्य ६=) विदेशमें ८॥=) (१३ शिलिङ्ग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्

B.K. Mitra

थाहारः

कल्याण-प्रेमियों तथा ग्राहकोंसे निवेदन

१-इस 'उपनिषद्-अङ्क'में चित्रोंसमेत सब मिलाकर करीब ८३० पृष्ठ दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त ३ बड़े साइजके यन्त्र हैं। रंगीन चित्र जितने सम्भव थे, दिये गये हैं।

२-जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ गये होंगे, उनके अङ्क जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० भेजी जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका एक कार्ड तुरंत डाल दें ताकि वी० पी० भेजकर 'कल्याण' को व्यर्थका नुकसान न उठाना पड़े। उनके दो पैसेके खर्चसे 'कल्याण' के कई आने बच जायँगे। आशा है, पुराने सम्बन्धके नाते वे इतना त्याग अवश्य स्वीकार करेंगे।

३-इस विशेषाङ्कका अलग मूल्य भी ६=) ही है। अतः पूरे वर्षके लिये ही ग्राहक बनना चाहिये। आजकल नये-नये उपद्रव तथा अशान्तिके कारण बन रहे हैं। इसलिये यदि किसी कारणवश आगेके अङ्क पूरे वर्षतक न भेजे जा सकें तो जितने अङ्क पहुँचें, उतनेमें ही मूल्य पूरा समझनेकी कृपा करें।

४-मनीआर्डर-कूपनमें अपना पता और ग्राहक-नंबर जरूर लिखें। ग्राहक-नंबर याद न हो तो कम-से-कम 'पुराना ग्राहक' अवश्य लिख दें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें।

५-ग्राहक-नंबर न लिखनेसे आपका नाम 'नये ग्राहकों'में दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'उपनिषद्-अङ्क' नये नंबरोंसे पहुँच जायगा और पुराने नंबरकी वी० पी० दुबारा जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उनके हमारे पास पहुँचनेके पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही सूरतोंमें आपसे यह प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटावें नहीं, चेष्टा करके कृपया नया ग्राहक बनाकर उनके नाम-पते साफ-साफ हमें लिखनेकी कृपा करें। आप ऐसा करेंगे तो आपका 'कल्याण' नुकसानसे बचेगा और आप 'कल्याण' के प्रचारमें सहायता करके पुण्यके भागी बनेंगे। अगर नया ग्राहक न मिले तो वी० पी० नहीं छुड़ानी चाहिये।

६-'उपनिषद्-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड पोस्टसे जायगा। सब अङ्कोंके जानेमें लगभग दो महीने लग जाते हैं; क्योंकि पोस्ट-आफिसवाले प्रतिदिन अधिक संख्यामें रजिस्टर्ड पैकेट नहीं ले पाते। इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें विशेषाङ्क क्रमसे जायगा। परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

७-जिन कल्याण-प्रेमी महानुभावोंने 'कल्याण'के नये ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। इस बार कल्याण-प्रेमी सज्जनोंको 'कल्याण'के नये ग्राहक बनानेकी फिर सफल चेष्टा करनी चाहिये। धर्मपर इस समय बड़ी विपत्ति आयी हुई है। ऐसे समयमें शुद्ध धर्म-सेवा समझकर 'कल्याण'का प्रचार बढ़ानेमें सभीको सहायक होना चाहिये।

८-गीताप्रेस पोस्ट-आफिस अब 'डिलेवरी आफिस' हो गया है। अतः 'कल्याण' व्यवस्था-विभाग तथा सम्पादन-विभाग और 'गीताप्रेस' तथा 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति'के नाम भेजे जानेवाले सभी पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, बीमा आदिपर केवल गोरखपुर न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) इस प्रकार लिखना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

उपनिषद्-अङ्ककी विषय-सूची

संगृहीत

कविता

चित्र-सूची

कल्याणके पुराने प्राप्य अङ्क

(इनमें ग्राहकोंको कमीशन नहीं दिया जायगा । डाकखर्च हमारा लगेगा ।)

संक्षिप्त पद्मपुराणाङ्क

पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या ९७८, रङ्गीन चित्र २१, लाइन चित्र २४१, मूल्य ४≡)

पुराने वर्षोंके साधारण अङ्क आधे मूल्यमें

२१ वें वर्षके साधारण अङ्क २, ३, ४, ५, ९, १०, ११, १२ कुल आठ अङ्क एक साथ मूल्य १।), रजिस्ट्री-खर्च ।) कुल १॥)

२२ वें वर्षके साधारण अङ्क ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० कुल आठ अङ्क एक साथ मूल्य १।), रजिस्ट्री-खर्च ।) कुल १॥)

उपर्युक्त दोनों वर्षोंके कुल १६ अङ्क एक साथ रजिस्ट्री खर्चसहित मूल्य २॥।)

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

दिव्यलोकमें श्रीकृष्ण

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् । द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥
गोपगोपाङ्गनावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम् । दिव्यालङ्करणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम् ॥
कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम् । चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥
(गो० पू०)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ | गोरखपुर, सौर माघ २००५, जनवरी १९४९ | संख्या १ पूर्ण संख्या २६६

शरणागति

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

(श्वेताश्वतर० ६ । १८)

जिन परमेश्वरने ब्रह्माको सर्वप्रथम उत्पन्न किया ।
जिनने उनको अमित ज्ञानका आकर अपना वेद दिया ॥
आत्मबुद्धिके विमल विकाशक अखिल विश्वमें रहे विराज ।
मैं मुमुक्षु उन परम देवकी शरण ग्रहण करता हूँ आज ॥

औपनिषद-ब्रह्मका सर्वातीत और सर्वकारण-स्वरूप तथा उसके जाननेका फल

(१)

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥

योनि-योनि—कारण-कारणके जो हैं एक अधिष्ठाता,
जिनमें सब विलीन होता जग, जिनसे यह उद्भव पाता ।
वे आराध्य वरद ईश्वर हैं, वे ही देव—अलौकिक कान्ति,
उन्हें तत्त्वसे जान यहाँ मानव पाता है शाश्वत शान्ति ॥

(२)

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥

परम सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, हृदयकी गहन गुफामें छिप जाते,
अति महान् वे, घेर विश्वको एकमात्र हैं छवि पाते ।
वे ही एक जगत्-स्रष्टा हैं, विविध रूपमें वे आते,
जान उन्हीं मङ्गलमय प्रभुको शान्ति सनातन नर पाते ॥

(३)

स एव काले भुवनस्य गोप्ता
विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः ।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च
तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥

वे ही स्थितिके समय भुवनके संरक्षक, जगके स्वामी,
सब भूतोंमें छिपे हुए हैं, वे ही बन अन्तर्यामी ।
उनका ही ब्रह्मर्षि, देवगण एक चित्त हो धरते ध्यान,
जान उन्हें यों मनुज मृत्युके तोड़ डालता पाश महान ॥

(४)

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं
ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

माखनमें स्थित सारभाग-से परम सूक्ष्म जो अतिशय सार,
एकमात्र सब ओर व्याप्त जो घेरे हुए सकल संसार ।

सब भूतोंमें छिपे हुए हैं शिव—कल्याणगुणोंसे युक्त,
जान उन्हीं प्रभुको होता नर सब भवके बन्धनसे मुक्त ॥

(५)

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

ये ही देव विश्वकर्मा हैं परमात्मा सबके स्वामी,
सब मनुजोंके सदा हृदयमें बसे हुए अन्तर्यामी ।
हृदय, बुद्धि, मनसे चिन्तन हो, तब इनका हो साक्षात्कार,
इस रहस्यको जान गये जो जन्म-मृत्युसे होते पार ॥

(६)

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ता-
द्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

इन्द्र आदि लोकेश्वर जिनको परम महेश्वर जान रहे,
अन्य देवगण भी जिनको निज परम देव हैं मान रहे ।
पतियोंके भी पूज्य परम पति जगदीश्वर जो स्तुत्य महान्,
उन प्रकाशमय परमदेवको समझा हमने सर्वप्रधान ॥

(७)

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

देह और इन्द्रियसे उनका है सम्बन्ध नहीं कोई,
अधिक कहाँ, उनके सम भी तो दीख रहा न कहीं कोई ।
ज्ञानरूप, बलरूप, क्रियामय, उनकी परा शक्ति भारी,
विविध रूपमें सुनी गयी है, स्वाभाविक उनमें सारी ॥

(८)

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥

वे ही पति, इस जगमें कोई उनका अधिपति शेष नहीं,
शासक भी न, कहींपर उनका कोई चिह्न-विशेष नहीं ।
वे ही एक परम कारण हैं, इन्द्रिय-देवोंके अधिनाथ,
जनक न उनका, अधिप न कोई, उनसे ही सब विश्व सनाथ ॥

(९)

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

सब भूतोंमें छिपे हुए वे एक देव हैं परमात्मा,
सबमें व्यापक, सब जीवोंके वे अन्तर्यामी आत्मा ।
कर्मोंके अधिपति, फलदाता, सबके ही आश्रय-आवास,
साक्षी हैं, केवल, निर्गुण हैं, चेतन हैं—चैतन्य-प्रकाश ॥

(१०)

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

जो असंख्य निष्क्रिय जीवोंके शासक और नियन्ता एक,
एकमात्र इस प्रकृति बीजको देते हैं जो रूप अनेक ।
उन प्रभुको निज हृदयस्थित जो सदा देखते धीर प्रवीन,
उन्हें सनातन सुख मिलता है, नहीं उन्हें जो साधनहीन ॥

(११)

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥*

चेतन परम चेतनोंमें, नित्योंमें भी जो नित्य महान्,
करते एक अनेक जीवके कर्मफलोंका भोग-विधान ।
वे सबके कारण हैं, होता सांख्ययोगसे उनका ज्ञान,
पाता मोक्ष सभी बन्धनसे नर उन परमदेवको जान ॥

* ये सभी मन्त्र श्वेताश्वतर-उपनिषद्के हैं; इनमें पहले मन्त्रकी संख्या ४ । ११, दूसरेसे पाँचवें-तककी ४ । १४ से ४ । १७, छठेसे आठवेंतककी ६ । ७ से ६ । ९ और नवेंसे ग्यारहवेंतककी मन्त्रसंख्या ६ । ११ से ६ । १३ है ।

उपनिषद्

(पूज्य-श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज)

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्दधीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥

उपनिषद् अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्याको कहते हैं। वेदका अन्तिम भाग होनेसे इसे वेदान्त भी कहा जाता है और वेदान्तसम्बन्धी श्रुति-संग्रह-ग्रन्थोंके लिये भी उपनिषच्छब्दका प्रयोग होता है।

उपनिषद् वेदका ज्ञानकाण्ड है। यह चिरप्रदीप्त वह ज्ञानदीपक है जो सृष्टिके आदिसे प्रकाश देता चला आ रहा है और लयपर्यन्त पूर्ववत् प्रकाशित रहेगा। इसके प्रकाशमें वह अमरत्व है, जिसने सनातनधर्मके मूलका सिञ्चन किया है। यह जगत्कल्याणकारी भारतकी अपनी निधि है; जिसके सम्मुख विश्वका प्रत्येक स्वाभिमानी सभ्य राष्ट्र श्रद्धासे नतमस्तक रहा है और सदा रहेगा। अपौरुषेय वेदका अन्तिम अध्यायरूप यह उपनिषद्, ज्ञानका आदिस्रोत और विद्याका अक्षय्य भण्डार है। वेद-विद्याके चरम सिद्धान्त—

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।'
(त्रिपाद्विभूतिमहाना० ३। ३)

—का प्रतिपादन कर उपनिषद् जीवको अल्पज्ञानसे अनन्त ज्ञानकी ओर, अल्पसत्ता और सीमित सामर्थ्यसे अनन्त सत्ता और अनन्त शक्तिकी ओर, जगद्दुःखोंसे अनन्तानन्दकी ओर और जन्म-मृत्यु-बन्धनसे अनन्त स्वातन्त्र्यमय शाश्वती शान्तिकी ओर ले जाती है।

उपनिषद् सद्गुरुओंसे प्राप्त करनेकी वस्तु है। वैसे तो अधिकारानधिकारपर विचार न करके स्वेच्छया ग्रन्थरूपमें उपनिषदोंका कोई भी अध्ययन कर सकता है; किंतु इस प्रकारसे किसीको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अनधिकारीके साधनसम्पत्तिहीन वासनावासित अन्तःकरणमें ब्रह्मविद्याका प्रकाश नहीं होता। जिस प्रकार मलिन वस्त्रपर रंग ठीक नहीं चढ़ता और जिस प्रकार बंजर भूमिमें, जहाँ लंबी-लंबी जड़ोंवाली घास पहलेसे जमी हुई है, धान्यबीज अङ्कुरित नहीं होता और कुछ अङ्कुरित हो भी जाय तो वृद्धिङ्गत होकर फलित नहीं होता, उसी प्रकार अनधिकारीके वासनापूर्ण अन्तःकरणमें ब्रह्मविद्याका उपदेशबीज अङ्कुरित नहीं होता और यदि कुछ अङ्कुरित हो भी जाय तो उसमें आत्मनिष्ठारूपी वृद्धि और जीवन्मुक्तिरूपी फलकी प्राप्ति नहीं होती। इसीलिये शास्त्रोंमें सर्वत्र अधिकारीरूपी क्षेत्रकी सम्यक् परीक्षाका विधान है। श्रुतिका आदेश है—

नापुत्राय दातव्यं नाशिष्याय दातव्यम्।
सम्यक् परीक्ष्य दातव्यं मासं षाण्मासवत्सरम्॥

जिस प्रकार गुरुके लिये शिष्यकी परीक्षाका विधान है, उसी प्रकार शिष्यके लिये भी गुरुके लक्षणोंका स्पष्ट निर्देश करते हुए उपनिषद्का उपदेश है—

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥' (मुण्डक० १। २। १२)

भगवद्गीता भी विधान करती है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

श्रोत्रिय अर्थात् वेदवेदार्थके ज्ञाता और ब्रह्मनिष्ठ अपरोक्षज्ञानी तत्त्वदर्शी गुरुको प्रसन्न करके उनसे उपनिषद्का उपदेश श्रवण करनेका विधान है।

श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णबोधस्य कारणम्॥
(शुकरहस्य० ३। १३)

साधनचतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके द्वारा उपनिषत्तत्त्वका उपदेश श्रवण कर तार्किक युक्तियोंद्वारा उसपर प्रगाढ़ मनन करते हुए गुरूपदिष्ट ध्यानादिके अभ्यासद्वारा निदिध्यासनपूर्वक 'अहं ब्रह्मास्मि' आदिका निरन्तर विचार करते हुए उसपर निष्ठारूढ़ होकर सम्यक् तत्त्वज्ञान-विज्ञानस्वरूप परब्रह्मसत्तामें प्रवेश करके तद्रूप हो जाता है—

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'

उपनिषद्का यह उपदेश जीवके लिये परमसौभाग्यास्पद अमूल्य निधि है।

उपनिषत्तत्त्वोपदेशके निष्कर्षमें जीव-ब्रह्मैक्यप्रतिपादन करते हुए पूर्वाचार्योंने संक्षेपमें कह दिया है—

'जीवो ब्रह्मैव नापरः'

जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। उपनिषद्का उपदेश

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि'

यह समस्त (भासमान द्वैतप्रपञ्च) वास्तवमें ब्रह्म ही है। वही (ब्रह्म) तू है।

यह उपनिषद्के तत्त्वज्ञानोपदेशका सारांश है। इसमें निष्ठा न होना ही अज्ञान है। जीव ब्रह्मसे अभिन्न होते हुए भी अविद्याके कारण अपने वास्तविक, अजन्मा, अविनाशी, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दमय आत्मस्वरूपको विस्मृत कर अपनेको जन्म-मरणधर्मा, कर्ता, भोक्ता, सुखदुःखवान् मान बैठा है और मिथ्या जगत्में सत्यबुद्धि करके स्वनिर्मित कर्मपाशमें स्वयं बँधकर जन्म-मरण-संसृतिमें फँसा हुआ अनन्त दुःख भोग रहा है। जीवके सकल दुःखोंके कारण—इस अविद्याकी निवृत्तिके लिये उपनिषदोंमें जीव-ब्रह्मकी एकताके प्रतिपादनके साथ-साथ जगत्के मिथ्यात्वका उपदेश भी हुआ है, जिसे पूर्वाचार्योंने—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'

—इन सरल शब्दोंमें स्पष्ट कर दिया है।

ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। जिस प्रकार मन्दान्धकारमें रज्जु ही सर्परूप दिखलायी देती है, उसी प्रकार अविद्यामें निर्गुण निराकार ब्रह्म-सत्ता ही सगुण साकार जगद्रूप दिखलायी देती है। जिस प्रकार मन्दान्धकारके कारण वास्तविक रज्जु नहीं दिखलायी पड़ती, प्रत्युत वास्तविक सत्ताहीन सर्प ही प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार अविद्याके कारण वास्तविक (पारमार्थिक) सत्तामय ब्रह्म नहीं प्रतीत होता और वास्तविक सत्ताहीन व्यावहारिक जगत् ही प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। वस्तु एक ही है—जो रज्जु है, वही (भ्रमावस्थामें) सर्परूप है। उसी प्रकार (ज्ञानावस्थामें) जो ब्रह्म है वही (भ्रमावस्था, अज्ञानकी अवस्थामें) जगद्रूप है। जगत्की सत्य-प्रतीति और ब्रह्मकी अप्रतीति तबतक होती रहती है, जबतक अविद्यान्धकारकी निवृत्ति नहीं होती। विद्यारूपी प्रकाशद्वारा अधिष्ठानका निश्चय होते ही स्पष्ट हो जाता है कि सर्वाधिष्ठान ब्रह्मसत्ता ही (पारमार्थिक) सत्य है और रज्जुमें अध्यस्त सर्पके समान ब्रह्ममें अध्यस्त जगत् मिथ्या है।

इस प्रकार सद्गुरुओंसे दृष्टान्तादिके द्वारा औपनिषद-ज्ञान भलीप्रकार श्रवण कर जिज्ञासु उसपर मनन करते हुए वैराग्यादि साधन-सम्पत्तिके सहयोगसे जगत्के मिथ्यात्वकी पुष्टि और निदिध्यासनादि अन्तरङ्ग साधनोंके सहयोगसे जीवब्रह्मैक्यनिष्ठा-सम्पादनद्वारा स्वात्मानुभूतिमय ज्ञानदीपक प्रदीप्त कर अनादिकालीन अविद्यान्धकारकी निवृत्तिद्वारा निश्चय कर लेता है कि एकमात्र अद्वितीय स्वगत-सजातीय-विजातीय भेदशून्य त्रिकालाबाधित ब्रह्मसत्ता ही सत्य है। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी पारमार्थिक सत्य नहीं है। इस प्रकार दृढ़ बोधवान् ज्ञानीके लिये अन्य कुछ ज्ञातव्य एवं प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता। कृतकृत्य होकर वह नित्य-बोधमय निजस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो सच्चिदानन्दका सर्वत्र अनुभव करता हुआ जीवन्मुक्तिका परमानन्द लाभ कर ब्रह्मकी अद्वितीय चिन्मय सत्तामें प्रवेश कर जाता है। ऐसे ब्रह्म-स्वरूप विज्ञानीके लिये उपनिषद्का निश्चय है कि—

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।'

(बृहदा० ४। ४। ६)

जीव-ब्रह्मैक्य-ज्ञान-निष्ठाकी यह चरम सीमा ही औपनिषद-ज्ञानकी पराकाष्ठा है।

उपनिषत्तत्त्व निर्गुण निराकार ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर है। श्रुति उसके लिये कहती है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

इसी अवाङ्मनसगोचर परमाद्वितीय निर्गुण परम तत्त्वका बोध करानेके लिये उपनिषच्छ्रुतियाँ—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते—'

—इत्यादिके द्वारा इस नानागुणधर्मवान् इन्द्रियग्राह्य (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदिमय) जगत्प्रपञ्चका ब्रह्ममें अध्यारोप करती हैं और फिर इन्हीं इन्द्रियग्राह्य (एवं इन्द्रियानुभवद्वारा परिचित) गुणधर्मोंके निषेधरूपमें उस निर्गुण निर्व्यपदेश्य निर्विशेष ब्रह्म-सत्ताका परिचय कराती हैं। उदाहरणार्थ कठश्रुति उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस आदि कहकर उसका उपदेश करती है—

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्............'

इसी प्रकार माण्डूक्य श्रुति उसके सम्बन्धमें कहती है—

'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।'

'अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म-प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।'

इसी प्रकार अन्यत्र भी उपनिषदोंमें निषेधरूपमें ही उस

निर्गुण निरञ्जनके सम्बन्धमें उपदेश हुआ है और अन्तमें श्रुति 'नेति-नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कहकर उसके सम्बन्धमें समस्त उक्तियोंका खण्डन कर उसे सर्वथा निर्गुण निर्विशेष अवाङ्मनसगोचर प्रतिपादन करती है । इस प्रकार अध्यारोपके सहारे ब्रह्मका परिचय कराती हुई श्रुतियाँ अध्यारोपित समस्त जगत्‌की वास्तविक सत्ताके निरासार्थ ही बार-बार उपदेश करती हैं कि—

'आत्मैवेदं सर्वम्' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'—इत्यादि ।

इस प्रकार अध्यारोपित जगत्‌का सर्वथा अपवाद करती हुई श्रुतियाँ एक अद्वितीय अखण्ड ब्रह्मसत्ताका प्रतिपादन करती हैं । इससे यह स्पष्ट ही है कि उपनिषदोंमें यत्र-तत्र जगत्‌की सृष्टि, स्थिति, लय आदि-सम्बन्धी जो द्वैतबोधक श्रुतियाँ पायी जाती हैं, उनका प्रयोजन द्वैतप्रपञ्चके प्रतिपादनमें नहीं है; किंतु शुद्ध ब्रह्ममें जगत्‌का अध्यारोप करके उसके अपवादद्वारा एक अखण्ड अद्वितीय निर्गुण ब्रह्मसत्ताकी सिद्धि ही उनका लक्ष्य है ।

उपनिषद्‌के उपदेशक्रममें—

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।'

यही सिद्धान्त कार्यान्वित हुआ है । इसके अतिरिक्त तत्त्वोपदेशका और कोई प्रकार नहीं है कि जिसके द्वारा (परमार्थदृष्ट्या जीवके अपने ही एक अद्वितीय अखण्डस्वरूपमें अनादि कालसे चला आता हुआ यह) जगद्भ्रम निवृत्त हो सके और जीव अपने वास्तविक अद्वितीय, अखण्डस्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सके ।

ज्ञानस्वरूप नित्यबोधमय निजरूप आत्मामें प्रतिष्ठित होकर शाश्वत शान्तिमय हो जाना ही जीवका परम पुरुषार्थ है । इस परम पुरुषार्थकी प्राप्ति औपनिषद-ज्ञाननिष्ठाद्वारा ही होती है । बिना तत्त्वनिष्ठ हुए कैवल्यकी प्राप्ति नहीं होती, यही उपनिषद्‌का सिद्धान्त है—

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।'

उपनिषत्तत्त्वज्ञानकी महिमा वर्णन करते हुए मुण्डक-श्रुति कहती है—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥
(३ । २ । ६)

इसी प्रकार कठ-श्रुतियाँ अपरोक्ष आत्मज्ञानीके लिये ही शाश्वत सुख-शान्तिकी प्राप्तिका निर्देश करती हैं और अन्यके लिये उसका सर्वथा निषेध करती हुई कहती हैं—

'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्'
'......तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।'

इस प्रकार उपनिषद्‌का स्पष्ट उपदेश है कि यदि जीव स्थायी सुख-शान्तिकी प्राप्ति करना चाहता है तो उसे आत्मानुभूतिके लिये प्रयत्नशील होना पड़ेगा, अध्यात्मकी ओर बढ़े बिना स्थायी सुख-शान्तिकी प्राप्ति असम्भव है ।

इसीलिये सर्वकल्याणकारी वेद जीवको कर्म, उपासना और ज्ञानके उपदेशद्वारा अध्यात्म-पथपर आगे बढ़ाता है । जो जिस अवस्थामें है, उसे उसी अवस्थामें अध्यात्मकी ओर नियोजित करना ही वेदका लक्ष्य है । वेदके कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्डका चरम उद्देश्य है कि जीव अधिकारानुसार कर्मोपासनामें प्रवृत्त होकर अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा तत्त्व-ज्ञानका अधिकारी बने और परमात्मनिष्ठावान् होकर शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त करे । इस सर्वकल्याणकारी वैदिक उद्देश्यकी पूर्तिके लिये ही वेदमूलक वर्णाश्रम-व्यवस्था है । वर्णाश्रम-व्यवस्थामें वैदिक सिद्धान्तोंका सक्रिय व्यावहारिक रूप निष्पन्न हुआ है । जगतीतलपर समाज-व्यवस्थाका उज्ज्वल आदर्श-रूप भारतीय वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्था, सामाजिक व्यवहारको उत्तमताके उत्कृष्ट शिखरपर रखती हुई उसे ही परमार्थका साधन बनाकर जीवको सततोन्नतिके पथपर प्रतिष्ठित रखकर उसे पूर्णताकी ओर ले जाती है । वेदमूलक धर्मशास्त्र वर्णाश्रम-धर्मोंका इस प्रकारसे विधान करता है कि जो जिस श्रेणीमें, जिस अवस्थामें, जहाँ है, वहीं अपना धर्म पालन करता हुआ स्वाभाविक रूपसे अध्यात्मकी ओर बढ़ता जाय । इसीलिये उपनिषन्मूलक भगवद्गीताका उपदेश है कि धर्मशास्त्रके अनुसार—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥'
(१८ । ४५)

और—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(१६। २३-२४)

इस प्रकार कर्मक्षेत्रमें, शास्त्रोक्त स्वधर्म-पालन ही समस्त वेदोक्त ज्ञानका सार और सर्वोन्नतिका मूल है। इसीलिये सामान्य धर्म, विशेष धर्म और आपद्धर्म आदिका स्पष्ट वर्णन करता हुआ वेदमूलक सनातन धर्मशास्त्र प्रत्येक जीवको व्यष्टि-रूपमें और समस्त विश्वको समष्टिरूपमें वेदका यह सनातन सन्देश दे रहा है कि यदि सुख-शान्ति चाहते हो तो स्वधर्म-पालन करते हुए अध्यात्मपथपर आगे बढ़ो।

भगवती श्रुति प्रत्येक जीवको प्रत्येक अवस्थामें अपने पवित्र अङ्कमें उठाकर अध्यात्ममें प्रतिष्ठित करनेको तत्पर है। भारतीयो! जागो, श्रुति भगवती तुम्हें जगा रही है —

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।'

पवित्र भूखण्ड भारतमें तुम्हारा जन्म हुआ है, अध्यात्म-विद्या—ब्रह्मविद्या—तुम्हारे घरकी वस्तु है, उसका समुचित लाभ उठाकर स्वयं शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त करो और दुःख-पङ्कनिमग्न विश्वको सुख-शान्तिका परमोज्ज्वल पथ प्रदर्शित करो, अन्यथा तुम्हारे हाथमें उपनिषद्की यह ज्ञानराशि कलङ्कित हो रही है।

उपनिषन्महत्ता

(रचयिता—विद्याभूषण, कविवर, श्रीओंकार मिश्र 'प्रणव', व्या० सा० योगशास्त्री, सिद्धान्तशास्त्री)

उपनिषद्की साधना श्रुतिगान मङ्गल-माधुरी है॥
शुचि सत्यताका स्रोत निर्मल मन्द मञ्जुल बह रहा है।
कर पान अमृत ज्ञान अविरल, विश्व प्रमुदित हो रहा है॥
परिपूर्ण पुण्य पवित्रताकी सत्क्रियाका फल कहा है।
जो मौन मुनि-मण्डल महत्ताकी चमत्कृत चातुरी है॥ १॥

यह ध्यानियोंके ध्येय धृतिकी है धवल ध्रुव-धारणा।
प्रिय पारदर्शी परम पुरुषोंकी अटल व्रत-पारणा॥
'वद केन रचितं' प्रश्नकी उत्तरभरी सुख-सारणा।
उस ईशके कैवल्य-गृहकी वीथि दुर्गम साँकुरी है॥ २॥

इसकी अनेक विचारणामें एकताका रूप है।
सिद्धान्त वैदिक 'तत्त्वमसि' का दर्शनीय अनूप है॥
चितिचिन्तनाका लक्ष्य केवल जग-अचिन्त्य स्वरूप है।
दुर्लभ्य परमानन्दको यह कर रही अति आतुरी है॥ ३॥

सत्यं शिवं सौन्दर्यमय जो श्रेय-प्रेय वितान है।
उद्गीथकी है गूँज गुरु-गम्भीर ब्रह्म विधान है॥
ऋषि याज्ञवल्क्य, उषस्ति, वाजश्रवसके आख्यान है।
नृप-अश्वपतिकी कीर्ति-स्वरमें बज रही वर बाँसुरी है॥ ४॥

जिसकी महत्तापर- कि दारा, मुग्ध शोपनहार है।
मन मूल मानी मूलशंकर हो रहे बलिहार है॥
प्रतिक्षण प्रशंसामें 'प्रणव' हृद्वीण-नादित तार है।
वह मुक्ति-नभ-आरोहणाको जीव-खगकी पाँखुरी है॥ ५॥

उपनिषदोंका एक अर्थ है, एक परमार्थ है

(लेखक—श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज)

प्राणियोंके बाह्य अर्थोंका प्रकाश करनेवाली तथा नाना प्रकारसे उपकार करनेवाली अनेक विद्याएँ हैं; परंतु परम पुरुषार्थको प्रकाशित करनेवाली, परमार्थको दिखलानेवाली तथा परम उपकारिणी विद्या उपनिषद् है। जिससे तत्त्व-जिज्ञासु पुरुषोंको परम शान्ति प्राप्त होती है, वह परमार्थ कहलाता है। क्लेशग्रस्त जीवोंके समस्त क्लेशोंका निवारण जिससे हो, वह परम उपकार कहलाता है।

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'

यह ईशावास्योपनिषद्वाक्य एकत्वके साक्षात्काररूपी उपनिषद्विद्यासे युक्त पुरुषके समूल शोकनाशको उद्घोषित करता है।

'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।'

(गौड़० आग० १७)

तथा—

'तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि।' (छान्दोग्य० ६। ८। ७)

—इत्यादि श्रुतियाँ उस उपनिषद्विद्याकी परमार्थताको घोषित करती हैं।

फिर यह उपनिषद्विद्या क्लेशोंके पात्र सांसारिक प्राणियोंको हठात् प्राप्त होनेवाले क्लेशोंका उन्मूलन किस प्रकार करती है? इसका उत्तर श्वेताश्वतर उपनिषद् देती है—

'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।'

(१। ११)

'परमात्मदेवको जानकर सारे बन्धन कट जाते हैं, क्लेशोंके क्षीण होनेपर जन्म और मृत्युसे छुटकारा मिल जाता है।'

दुःखोंके मूलका नाश हुए बिना दुःखोंका आत्यन्तिक नाश नहीं बनता। यद्यपि कर्म-उपासना आदि धर्म अथवा खेत-घर आदि विषय तत्काल प्राप्त होनेवाले कुछ-न-कुछ दुःखोंकी निवृत्ति तो करते हैं, तथापि जिससे दुःखकी पुनः उत्पत्ति न हो, इस प्रकारकी समस्त दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति तो त्रिविध दुःखोंके मूलकी निवृत्ति हुए बिना संभव नहीं।

दुःखका मूल क्या है? विचारक लोग कहते हैं कि दुःखका मूल जन्म है।

'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।'

(छान्दोग्य० ८। १२। १)

'निश्चयपूर्वक जबतक यह शरीर बना हुआ है तबतक सुख और दुःखका निवारण नहीं हो सकता।'

इस प्रकार श्रुति मुख्यतः जन्मको ही दुःखका मूल कारण प्रतिपादन करती है।

तब फिर जन्मका मूल कारण क्या है? वे ही तत्त्व-परीक्षक उत्तर देते हैं कि जन्मका मूल कर्म है। यदि मनुष्य कर्मसे विराम ले ले, तो उसके लिये अत्यन्त दुःख-निवृत्ति हस्तामलकवत् हो जाय। अतः मुमुक्षुजनोंको दूसरे उपायोंके अनुसरणमें संलग्न नहीं होना चाहिये; परंतु इसमें यह संदेह उठ सकता है कि पूर्वजन्मोंमें और इस जन्ममें अबतक किये जानेवाले कर्मोंका जो मूल है उसका नाश किये बिना कर्मविरामका सङ्कल्प केवल कथनमात्र ही रह जायगा।

तब सामान्यतः कर्मका मूल क्या है? इसके उत्तरमें रागका नाम लिया जाता है। राग और उससे उपलक्षित द्वेष, भय आदिको भी दोष शब्दसे ग्रहण करते हैं। जिस किसी वस्तुमें जबतक राग या द्वेष होता है, तबतक उस वस्तुकी प्राप्ति या परित्यागके लिये प्रयत्नरूप कर्म करते हुए ही लोग देखे जाते हैं; जिस प्रकार जबतक भय रहता है, तबतक मनुष्य उस भयसे छुटकारा पानेके लिये प्रयत्न करता ही है।

इस दोषका मूल क्या है? अपनेसे अतिरिक्त दूसरेका भान होना ही दोषका मूल है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद्का वाक्य है—

'द्वितीयाद्वै भयं भवति।' (१। ४। २)

'निश्चय ही दूसरेसे भय होता है।' यदि दूसरी वस्तुका भान ही नहीं होगा तो कर्मके मूलभूत भय, द्वेष अथवा रागका कोई आधार न रह जानेके कारण भय आदिका प्रसङ्ग ही नहीं प्राप्त होगा।

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं जिघ्रेत्, तत्केन कं शृणुयात्, तत्केन कं विजानीयात्।'

(२। ४। १४)

'जिस अवस्थामें इसके लिये सब कुछ आत्मा ही हो जाता है, उस समय किसके द्वारा किसको देखे, किसके द्वारा किसको सूँघे, किसके द्वारा किसको सुने तथा किसके

द्वारा किसको जाने'—यह बात भी वही (बृहदारण्यक) उपनिषद् कहती है।

तब द्वैतके भानका हेतु क्या है? तत्त्वपरीक्षक कहते हैं कि द्वैतभानका हेतु मिथ्या ज्ञान है और वह मिथ्या ज्ञान ही समस्त संसारका बीज है, ऐसा न्यायवेत्ता आचार्योंने निश्चय किया है। इसका निवारण एकत्वदर्शनरूपी औपनिषद ज्ञानके द्वारा ही होता है; इसलिये यह उपनिषद्-विद्या प्राणियोंका परम उपकार करती है। ज्ञान ही अज्ञानका विरोधी है। द्वितीय वस्तुकी प्रतीतिमें कारणभूत अज्ञानको दूर करनेवाला एकत्वसाक्षात्काररूप ज्ञान ही है। मनोनिग्रह और भगवदुपासना आदि अन्य सारे ही शास्त्रप्रसिद्ध साधन एकत्वसाक्षात्कारकी उत्पत्तिमें ही प्रयोजक होनेके कारण पहली सीढ़ीमें आते हैं।

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।'

—इस श्रुतिवाक्यमें जिसकी जिज्ञासा की गयी है, वह उपनिषद्वर्णित ब्रह्मतत्त्व—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' (छान्दोग्य० ३।१४।१)

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।' (तैत्तिरीय० ३।६।१) तथा—

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।' (बृहदारण्यक० ३।९।२८)

—इत्यादि श्रुतियोंद्वारा बारंबार गाया जानेवाला परम आनन्दघन ही है, अतः यह प्राणियोंके लिये परम पुरुषार्थ-स्वरूप है। इसका ज्ञान करानेवाली उपनिषद् भी प्राणियोंके लिये सहस्रों माता-पिताओंकी अपेक्षा भी परम प्रिय है, अतएव परम उपकार करनेवाली है।

सहस्रों माता-पिताकी अपेक्षा भी मनुष्यका परम हित चाहनेवाली उपनिषद्-विद्या स्वयं ही औपनिषद ब्रह्मतत्त्वकी नित्यता एवं यथार्थतामें इस प्रकार उपपत्ति (युक्ति) प्रदर्शित करती है। कारणसे कार्यमें जो भेद जान पड़ता है, वह केवल नाम और रूपको लेकर ही है। 'घट' यह नाम-भेद है और 'मोटी पेंदी एवं पेटवाला' यह आकारभेद है। यही नाम और रूप श्रुतियोंमें भिन्न-भिन्न स्थलोंपर त्याग देने योग्य बताये गये हैं—सर्वत्र इनको त्यागनेके लिये ही सूचित किया गया है।

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म।' (छान्दोग्य० ८।१४।१)

'निश्चयपूर्वक आकाश ही नाम और रूपका निर्वाह करनेवाला अर्थात् उनका आधार है, वे दोनों जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म है।'

'नामरूपे व्याकरवाणि।' (छान्दोग्य० ६।३।२)

'मैं नामरूपको विशेषरूपसे व्यक्त करूँ।' तथा—

सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते।

'बुद्धि-प्रेरक परमेश्वर सब रूपोंकी रचना करके उनके नाम रखकर उन नामोंके द्वारा स्वयं ही व्यवहार करता हुआ स्थित है।'

मृत्तिका ही घट है, कारण ही कार्य है। नाम-भेद अथवा आकार-भेद केवल काल्पनिक है। अतएव श्रुति कहती है—

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।'

(छान्दोग्य० ६।१।४)

'विकार (कार्य) वाणीका विलासमात्र है, वह नाम-मात्रके लिये है। वास्तवमें वह घटरूप विकार नहीं, केवल मृत्तिका ही है—ऐसा मानना ही सत्य है।'

'मृत्तिकेत्येव' इस पदमें 'एव' शब्दसे समस्त विकारोंका मिथ्यात्व तथा कारणका सत्यत्व स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार कारण-परम्पराका विचार करते-करते सबका परम कारण ब्रह्म ही है, यह निश्चित होता है। एकमात्र ब्रह्म ही बिना किसी उपचारके परमार्थ सत्य है तथा ब्रह्मके अतिरिक्त समस्त पदार्थ मिथ्या एवं कल्पित हैं। यह बात श्रुतिके द्वारा तात्पर्यनिर्णय करनेवाली युक्तियोंके प्रदर्शनपूर्वक स्पष्टरूपसे कह दी गयी है। परमार्थका ज्ञान और पुरुषार्थका अनुभव करानेके कारण हमपर उपनिषदोंका परम उपकार सिद्ध होता है। सारी विद्याओंके ज्ञाता देवर्षि नारदजी भी जन्मजात महासिद्ध योगी सनत्कुमारके पास ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये गये—इस छान्दोग्योपनिषद्की आख्यायिकासे तथा—

'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्।'

—इस मुण्डकोपनिषद्के वाक्यसे भी यह सिद्ध होता है कि परमार्थरूप परम पुरुषार्थका अनुभव करानेके कारण उपनिषद्-विद्या परम उपकारिणी है।

बादरायण मुनि श्रीव्यासजीने ब्रह्मसूत्रमें कहा है—

'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्।'

पूर्वजन्मके शास्त्राभ्याससे स्वतः प्राप्त हुई ज्ञान-दृष्टिसे भी उपदेश करना सम्भव है, जैसे वामदेव मुनिने

उपदेश किया था । शास्त्रदृष्टिका अर्थ है 'तत्त्वमसि' 'सोऽहमस्मि' आदि महावाक्योंसे उत्पन्न अखण्ड परा बुद्धि। वेदोंके पूर्व भागमें अर्थात् कर्मकाण्डमें ज्ञानसे भिन्न कर्ममात्र-का वर्णन है । वे समस्त कर्म क्रियामात्र हैं, उन्हें 'दृष्टि' नहीं कह सकते । सब प्रकारकी उपासनाएँ भी क्रियामात्र ही हैं, 'दृष्टि' नहीं । कर्मकाण्डोक्त क्रियाओंसे ध्यानादि उपासनाओं-में इतना ही अन्तर है कि वे मानसिक क्रियाएँ हैं; इन्हें श्रेष्ठ महात्मा पुरुषोंने दृष्टान्तपूर्वक सिद्ध किया है। वे क्रियाएँ की जा सकती हैं, अन्यथा की जा सकती हैं, और नहीं भी की जा सकती हैं । उनका अनुष्ठान विकल्पयुक्त है; परंतु दृष्टि वस्तुके अधीन होती है, अतएव उसमें विकल्प सम्भव नहीं है । उपर्युक्त ब्रह्मसूत्रमें शास्त्रदृष्टिके दृष्टान्तरूपमें वामदेवका नाम आया है । यजुर्वेदीय उपनिषद् (बृहदारण्यक० १ । ४ । १०) में वामदेवको ऐसी दृष्टि प्राप्त होनेका वर्णन मिलता है, जो उनके लिये सूर्य और मनुके साथ अपना अत्यन्त अभेद सूचित करनेवाली थी । जिस प्रकार देह-देहीका सम्बन्ध होता है, तदनुसार यह दृष्टि नहीं उत्पन्न होती । वामदेव मुनि सूर्य और मनुके शरीर हैं, ऐसा मानना यहाँ अभिप्रेत नहीं है और न यही अभीष्ट है कि वामदेवके ही ये दोनों शरीर थे । शास्त्ररूप उपनिषद्के यथार्थ ज्ञानसे प्राप्त होनेवाली जो परमार्थदृष्टि है, वह सबमें आत्मदर्शनको लेकर है, यही मानना अभीष्ट है । उस दृष्टिके अनुसार सबका आत्मरूपमें ही बोध होता है । वामदेवके सर्वात्मा होनेपर ही उनकी मनु और सूर्यसे अभिन्नता होनी सम्भव है । 'शास्त्रदृष्ट्या तु' कहनेसे लोकदृष्टिका बाध हो जाता है । देह और देही (आत्मा) में अभेद-प्रतीतिकी रीतिसे जो कहीं-कहीं ब्रह्म और आत्मामें विशिष्ट-अद्वैतभावका उल्लेख किया जाता है, उस प्रकारके अभेदरूप अर्थका भान तो लोकदृष्टिसे ही सम्भव होता है । इस विषयमें यह दृष्टान्त दिया जाता है— 'जैसे मैं मोटा हूँ, मैं श्याम हूँ' इत्यादि । ऐसे स्थलोंमें शरीर-में ही आत्मदृष्टि होनेके कारण देहात्मवादका भ्रम होता है, जो सर्वथा हेय है, यह बन्धनका ही हेतु है । यह बात लोक-दृष्टिसे भी सिद्ध ही बतायी गयी है । देह-देहीमें अभिन्नताका बोध त्याज्य है, क्योंकि यह मोक्षके लिये उपयोगी नहीं है । शास्त्र शब्दका मुख्य अर्थ साक्षात् उपनिषद् ही है, ऐसा उक्त ब्रह्मसूत्रसे अभिव्यक्त होता है । उससे भिन्न जो शास्त्र है, वह तत्त्व-साक्षात्कार करानेमें समर्थ नहीं है । जिस प्रकार 'अहं वै त्वमसि' (मैं ही तुम हो) यह महावाक्य है, उसी प्रकार 'त्वं वा अहमस्मि' यह भी है । ऐसी ही 'भगवो देवता' इत्यादि श्रुति भी है । यह श्रुति परस्पर व्यतिहारसे अर्थात् आत्माके स्थानपर ब्रह्मको और ब्रह्मके स्थानपर आत्माको रखनेसे दोनोंकी एकता सिद्ध करती हुई उनमें देह-देहि-सम्बन्धकी कल्पनाका विरोध करती है; क्योंकि उस देह-देहि-सम्बन्धकी कल्पना करनेपर तो अवश्य ही ईश्वर भी शरीररूप माना जायगा तथा जीवात्मा भी उस ईश्वरमय शरीरका शरीरी (आत्मा) माना जाने लगेगा । इस तरहकी अनेकों असङ्गत आपत्तियाँ उठ खड़ी होंगी । यदि कहें, तब तो कर्ममार्गकी कोई उपयोगिता नहीं है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि जैसे मनुष्य पहले असत्य मार्गपर खड़ा होकर ही सत्यको प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, उसी प्रकार पहले कर्ममार्गपर चलनेवाला साधक कर्मद्वारा अन्तःशुद्धिका सम्पादन करके फिर सत्यस्वरूप ज्ञानका आश्रय ले उपनिषद्-गति (वेदान्तवेद्य ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है । सारी श्रुतियोंका एक ही तात्पर्य है; यह बात कठोपनिषद्ने यमराज-के मुखसे कहलायी है । यथा—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति···तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि; ओमित्येतत् ।'

'सम्पूर्ण वेद जिस पदका बारंबार प्रतिपादन करते हैं उस पदको संक्षेपसे तुम्हें बतलाता हूँ । वह ओम् है'—इस वाक्यद्वारा समस्त श्रुतियोंकी एकार्थताका स्पष्टतः प्रतिपादन किया गया है । माण्डूक्योपनिषद्का उद्देश्य एकमात्र ॐकार-के अर्थका विवेचन करना ही है । उसमें अ, उ और म— इन तीन मात्राओंके विवेचनके बाद जो चतुर्थ पादका वर्णन आया है, उसका वास्तविक अर्थ इस प्रकार बताया गया है— 'वह ब्रह्म परम शान्त, परम कल्याणमय तथा अद्वैत (भेद-शून्य) है । वही आत्मा है ।' क्योंकि वह आत्मा सैकड़ों उपनिषदोंके द्वारा भी एक रूपसे ही जानने योग्य है । जो ब्रह्मको जानता है वह निश्चय ब्रह्म ही हो जाता है ।

सारे वेदोंका एक ही तात्पर्य है, जैसा कि **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** इस कठोपनिषद्की श्रुतिसे सिद्ध होता है । कहाँतक कहा जाय, श्रुतिके शीर्ष-स्थानमें अवस्थित समस्त उपनिषदोंका तात्पर्य एक तत्त्वमें ही है । यदि पूछो, वह तात्पर्य कहाँ है ? तो इसका उत्तर यह है कि 'प्रणवमें ही है'—यही भाव कठोपनिषद्का वाक्य भी व्यक्त करता है । जैसे—

'तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि; ओमित्येतत् ।'

और उस प्रणवका तात्पर्य किसमें है ? अद्वैत शिव-तत्त्वमें। क्योंकि एकमात्र प्रणवके अर्थका ही निरूपण करनेवाली माण्डूक्योपनिषद् प्रणवके चतुर्थ पादके अर्थका उपसंहार करती हुई कहती है—

'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।'

'जो शान्त, शिव, अद्वैत ब्रह्म है, उसीको ज्ञानीजन प्रणवस्वरूप परमात्माका चतुर्थ पाद मानते हैं। वह आत्मा है, और वही जानने योग्य है।'

इसलिये—

'तं त्वा[1] औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।'

—इस वाक्यद्वारा बृहदारण्यक-उपनिषद्में जिसके लिये प्रस्ताव किया गया है,

'वेदान्तेषु[2] यमाहुरेकपुरुषम्।'

—इस श्लोकद्वारा महाकवि कालिदासने जिसका अनुवाद किया है,

'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम उमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद् यक्षमिति। सा ब्रह्मेति होवाच[3]।'

इस केनोपनिषद्के प्रसङ्गमें जिसका 'ब्रह्म' के नामसे उपदेश किया गया है तथा उपर्युक्त माण्डूक्योपनिषद्में जिसका चतुर्थ पादके रूपमें उपसंहार किया गया है, उस परम कल्याणमय अद्वैत ब्रह्ममें ही सम्पूर्ण उपनिषदोंका परम तात्पर्य है।

ज्योति-पुंज वह पाया मैंने

(रचयिता—श्रीभागवतप्रसादसिंहजी)

रक्त, मांस, हड्डीसे निर्मित काया जिसको दुलराया था;
समझ रहा था जिसको अपना जीवन तक आश्रय पाया था।
था मेरा संसार मनोरम, लघुतम थे जब जीवनके क्षण,
कण-कणको चूमा था मैंने, उलझा था कुन्तलमें यौवन।
कितने वार चला छुप-छुपकर, जब थी तितली रानी मेरी,
नेह लगाया निर्मम मिट्टीसे जब थी नादानी मेरी।
आज खुलीं आँखें, पाता हूँ दिग-दिगन्तमें अन्धकार वन,
समझ सका हूँ आज, नहीं कुछ भी अपना, वे थे स्वप्निल क्षण।
दूर हुआ ज्यों ही, भूला वह, जिसको मैंने प्यार किया था,
उसे देखता नहीं कहीं अब, जिसपर सब कुछ वार दिया था।
आज दूर मैं उस मिट्टीसे एकाकी पथपर जाता हूँ,
शून्य मार्ग, आधार नहीं कुछ, कहीं न आदि-अन्त पाता हूँ।
मेरे पद-तलमें आलोकित हैं ये सारे रवि, शशि, उडुगण,
दूर व्योमकी किरण-डोरसे सभी बँधे पाते हैं जीवन।
डोर पकड़ ली मैंने भी वह, अपना मार्ग बनाया मैंने,
खोज रहा था जिसे तिमिरमें, ज्योति-पुंज वह पाया मैंने।

---

१. आपसे उस उपनिषत्प्रतिपाद्य परम पुरुषके विषयमें प्रश्न करता हूँ।

२. वेदान्तों (उपनिषदों) में जिन्हें एकमात्र अद्वितीय 'पुरुष' कहा गया है।

३. वे इन्द्र उसी आकाशमें, जहाँ यक्ष अन्तर्धान हुआ था, एक स्त्रीके पास आ पहुँचे। वह स्त्री साक्षात् हिमवान्-कुमारी उमा थीं; उनसे इन्द्रने पूछा—'यह यक्ष कौन था ?' उन्होंने कहा—'वे परब्रह्म हैं।'

उपनिषदोंकी श्रेष्ठता

(श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्रीअभिनव सच्चिदानन्दतीर्थजी महाराज)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंमें परम निःश्रेयसरूप मोक्ष ही मनुष्यका अन्तिम लक्ष्य है—यह सबके द्वारा सुनिश्चित सिद्धान्त है। चौरासी लाख योनियोंमें बारंबार जन्म-मरणकी प्राप्तिरूप घोर संसारसे पार होनेके लिये मनुष्यको परम शान्तिस्वरूप मोक्षकी प्राप्तिके निमित्त सतत प्रयत्न करना चाहिये। मोक्ष अमृतत्वरूप है। उसकी प्राप्तिके लिये मानव-जन्म स्वर्ण-सुयोग है; क्योंकि मनुष्यके सिवा और किसी प्राणीको उस योनिमें रहते हुए कैवल्य-मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिये शास्त्रोंमें मानव-जन्मको अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है—

'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभतरम्'

—इत्यादि। अतः प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह अपने जन्मके प्रधानतम लक्ष्य मोक्षकी सिद्धिके लिये दिन-रात प्रयत्न करे। यदि वह ऐसा यत्न नहीं करता, विषय-भोगोंमें फँसकर राग-द्वेषके वशीभूत हो उन विषयभोगोंकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता रहता है तो निश्चय ही उसे दो पैरोंका पशु कहना चाहिये।

लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

'यदि किसी प्रकार (पुण्यविशेषसे) परम दुर्लभ मानव-जन्म पाकर उसमें भी सम्पूर्ण श्रुतियोंका आद्योपान्त अनुशीलन करनेवाले पुरुष-शरीरको पा लेनेपर भी जो मूढचित्त मानव अपनी मुक्तिके लिये प्रयत्न नहीं करता, वह आत्महत्यारा है। वह अनित्य भोगोंमें फँसे रहनेके कारण अपने-आपको विनाशके गर्तमें गिरा रहा है।'

—इत्यादि वचनोंके अनुसार मनुष्य अज्ञानके द्वारा अपनी हत्या ही करता है। अतः अपना कल्याण चाहनेवाले प्रत्येक पुरुषका कर्तव्य है कि वह क्षणमात्र सुख देनेवाले अनित्य सांसारिक विषय-भोगमें न फँसकर आध्यात्मिक साधनमें संलग्न हो सदा आत्मतत्त्वके बोधके लिये ही प्रयत्नशील बना रहे।

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'

—इस श्रुतिके द्वारा आत्मज्ञानके लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन—ये तीन साधन बताये गये हैं।

पहले—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

'कर्मतः प्राप्त हुए लोकोंकी परीक्षा करके (अर्थात् उनकी अनित्यताको भलीभाँति समझकर) ब्राह्मण उनसे विरक्त हो जाय; क्योंकि कृत (अनित्य कर्म) से अकृत (नित्य आत्म-तत्त्व) की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह आत्मज्ञानके लिये हाथमें समिधा लेकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुकी ही शरणमें जाय।'

—इत्यादि शास्त्रवचनोंके अनुसार ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरण लेकर और उनके समीप रहकर वेदोक्त आत्मतत्त्वका, जो दम्भ-अहङ्कार आदि विकारोंसे रहित है, श्रवण करे। वेदके चार भाग बताये जाते हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता आदि भागोंमें कर्म, उपासना आदि मार्गोंका उल्लेख हुआ है। उपनिषद्में केवल ज्ञानका ही प्रतिपादन है। अतएव उपनिषद्-विद्या अन्य विद्याओंकी अपेक्षा प्रधानतम एवं गौरवमयी है। इसी विद्याको लक्ष्य करके कहा जाता है कि **'सा विद्या या विमुक्तये'** (वही वास्तविक विद्या है, जो मोक्ष दिलानेमें सहायक हो)।

अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। (गीता १०। ३२)

भगवान् कहते हैं—'मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या हूँ।'

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। (मुण्डक०)

'परा विद्या वह है, जिससे उस अविनाशी ब्रह्मका ज्ञान होता है।' इत्यादि सब श्रुतियोंद्वारा इसीको 'मोक्ष-दायिनी विद्या' 'अध्यात्मविद्या' तथा 'परा विद्या' आदि नाम दिये गये हैं तथा यही विद्या सब अनर्थोंके मूलभूत संसारकी निवृत्ति करती हुई परमानन्दरूप मोक्षकी प्राप्तिका मुख्य कारण बतायी गयी है। इसीलिये इसे सबसे श्रेष्ठ कहा गया है।

दार्शनिक विद्वान् 'उपनिषद्' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलाते हैं—'उप + नि' इन दो उपसर्गोंके साथ 'सद्' धातुसे 'क्विप्' प्रत्यय करनेपर 'उपनिषद्' इस रूपकी सिद्धि होती है। सद् धातुके तीन अर्थ हैं—विशरण (विनाश), गति (ज्ञान और प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना)। इन अर्थोंके अनुसार—

उपनिषदयति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।

'जो समस्त अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाले संसारका नाश करती, संसारकी कारणभूत अविद्याको शिथिल करती तथा ब्रह्मकी प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है।' इस प्रकार ब्रह्मविद्याको ही 'उपनिषद्' नामसे कहा गया है तथा इसका यह 'उपनिषद्' नाम सर्वथा सार्थक है। 'उपनिषद्' का दूसरा नाम 'वेदान्त' भी है। यह वेदके अन्तमें है, इसलिये वेदान्त है अथवा वेदका सिद्धान्त—चरम तात्पर्य उपनिषद्में ही वर्णित हुआ है; इस कारण इसे 'वेदान्त' नाम दिया गया है। रहस्यके अर्थमें भी 'उपनिषद्' शब्दका प्रयोग हुआ है। जैसे 'इत्युपनिषत्' (तै०) अर्थात् यह उपनिषद् है—परम रहस्यभूत आत्मतत्त्वका बोध करानेवाली विद्या है। यह आत्मतत्त्व अन्य सब रहस्योंसे अधिक रहस्यभूत है; क्योंकि यह हमारे भीतर अत्यन्त निकट है। तथापि मनुष्य मायासे मोहित होनेके कारण इसे नहीं जान पाता। इसके सिवा इस आत्मतत्त्वरूपी रहस्यका ज्ञान हो जानेपर संसारमें दूसरी कोई वस्तु जानने योग्य शेष नहीं रह जाती। जैसा कि श्वेताश्वतर-उपनिषद्में कहा है—

'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं
नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।'

छान्दोग्यमें भी कहा है—एक आत्माको भलीभाँति जान लेनेपर यहाँ सब कुछ ज्ञात हो जाता है।* ऐसा ही अन्य श्रुतियाँ भी कहती हैं।

चारों वेदोंकी प्रत्येक शाखासे सम्बन्ध रखनेवाली एक-एक उपनिषद् है। वेद स्वयं अनन्त हैं; अतः उनकी शाखाएँ भी अनन्त ही होंगी। शाखाओंकी अनन्तताके कारण उपनिषदोंकी भी अनन्तता ही सिद्ध होती है। वेदोंकी अनेक शाखाएँ इस समय विलुप्त हैं तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी उपनिषदें भी आज उपलब्ध नहीं हैं। इस समय एक सौ आठ उपनिषदें प्रकाशित हैं *। उनमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक—ये दस उपनिषदें ही गम्भीरतर अर्थका प्रतिपादन करनेवाली हैं तथा इन्हींको सब आचार्योंने ब्रह्मविद्याके लिये प्रमाणभूत माना है। इन दसोंमें माण्डूक्य उपनिषद् सबसे छोटी और बृहदारण्यकोपनिषद् सबसे बड़ी है। सभी उपनिषदें सरल और रोचक हैं तथा सभी प्रायः अध्यात्मतत्त्वका ही बोध कराती हैं। बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद्में यद्यपि कुछ अन्य उपासनाओंका भी उल्लेख है, तथापि ब्रह्म और आत्माके एकत्वका बोध ही प्रधान रूपसे उनका भी विषय है। सबसे अधिक रहस्यभूत आत्मतत्त्वका बोध करानेके कारण ही उपनिषदोंका स्थान सब शास्त्रोंसे अधिक ऊँचा है। उपनिषदोंमें प्रतिपादित ज्ञान ही सबसे उत्कृष्ट है। उपनिषदोंमें जिस तत्त्व-ज्ञानका विवेचन हुआ है, उससे आगे एक पग भी अबतक कोई तत्त्वज्ञानी नहीं बढ़ सका है। ऐसी उपनिषदोंके अपार ज्ञानकी निधिसे परिपूर्ण होनेके कारण ही 'यह भारतवर्ष आज सब देशोंसे परम श्रेष्ठ है' इस बातको निष्पक्ष-बुद्धि रखनेवाले पाश्चात्त्य विद्वान् भी पूर्णतः स्वीकार करते हैं।

इस समय संसारमें भौतिकवाद और नास्तिकताके भाव बढ़ गये हैं। इससे शान्तिका कहीं दर्शन नहीं होता। यदि वर्तमान समयमें तथा आगे भी जगत्में पूर्णरूपसे वास्तविक शान्ति अपेक्षित है तो उसके लिये उपनिषदोंकी ही शरण लेनी चाहिये। उनमें बताये हुए साधनोंको ही अपनाना उचित है। जबतक उपनिषदोंके श्रवण, मनन और निदिध्यासन होते थे, तबतक देशमें सर्वत्र सुख-शान्तिमयी संपदा सुशोभित होती थी। जबसे भारतवर्ष उपनिषदोंके उपदेशपर ध्यान न देकर पाश्चात्त्य राष्ट्रोंकी भाँति भौतिकवाद और नास्तिकताका अन्धानुकरण करनेमें तत्पर हुआ; तभीसे यहाँ दरिद्रता, राग-द्वेष आदि दोष, अशान्ति तथा दुःखमय कोलाहल बढ़ने लगे हैं। यदि अब भी भारतके मनुष्य समझसे काम लेकर अपने पूर्वज महर्षियोंके बताये हुए मार्गका आश्रय लें और उपनिषदोंकी शरण ग्रहण करें तो निश्चय ही सब प्रकारकी उन्नति और परम शान्ति उन्हें प्राप्त हो सकती है।

उपनिषदोंमें ब्रह्मका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

* एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।

* अडियारसे लगभग १७९ उपनिषदोंका प्रकाशन अबतक हो चुका है—सम्पादक

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।' (तैत्तिरीय०)

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व ।'

(तैत्तिरीय० ३ । १ । १)

'ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त हैं ।' 'जिनसे ये सम्पूर्ण प्राणी जन्म लेते, जन्म लेकर जिनसे जीवन धारण करते तथा प्रलयके समय जिनमें पूर्णतः प्रवेश कर जाते हैं, वे ब्रह्म हैं, उनको जाननेकी इच्छा करो ।'

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं ··· परिपश्यन्ति धीराः ॥'

(मुण्डक० १ । १ । ६)

'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि ॥'

(केन० १ । ५)

'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।' (मुण्डक० २ । २ । ११)

'जिसका नेत्रोंद्वारा दर्शन तथा हाथोंद्वारा ग्रहण नहीं हो सकता, जिसमें कोई रूप-रंग नहीं है, जो आँख-कान और हाथ-पैर आदिसे रहित है, उस नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म एवं अविनाशी ब्रह्मतत्त्वको धीर पुरुष ही सब ओर देखते हैं ।' 'जिसका मनके द्वारा मनन नहीं होता, जिसकी शक्तिसे ही मन मनन-व्यापारमें समर्थ होता है, उसीको तुम ब्रह्म जानो ।' 'यह सब कुछ अमृतमय ब्रह्म ही है। आगे ब्रह्म है, पीछे ब्रह्म है तथा दायें और बायें भी ब्रह्म है ।'

उपनिषदोंमें जीव और ब्रह्मका सम्बन्ध इस प्रकार बताया गया है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥

(मुण्डक० २ । १ । १)

'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ···ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि'

(छान्दोग्य०)

'जैसे जलती हुई आगसे उसीके समान रूपवाली सहस्रों चिनगारियाँ निकलती रहती हैं, उसी प्रकार हे सोम्य! अविनाशी ब्रह्मसे नाना प्रकारके भाव (जीव) उत्पन्न होते और उन्हींमें लीन होते हैं ।' ''हे सोम्य ! ये सारी प्रजा 'सत्' रूपी कारणसे ही उत्पन्न हुई हैं, 'सत्'में ही निवास करती हैं और अन्तमें भी 'सत्'में ही प्रतिष्ठित होती हैं ।'' 'यह सब कुछ ब्रह्मरूप ही है। वह ब्रह्म ही सत्य है, वही आत्मा है। वह ब्रह्म तू है ।'

जीव और जगत्के सम्बन्धको लेकर उपनिषदोंका कथन इस प्रकार है—'जैसे मकड़ी अपने स्वरूपसे ही जालेको बनाती और पुनः उसे निगल लेती है, जैसे पृथ्वीसे अन्न आदि ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे जीवित पुरुषसे ही केश-लोम आदि उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षर-ब्रह्मसे यहाँ सम्पूर्ण जगत् प्रकट होता है ।' (मुण्डक०) 'यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है ।' (मुण्डक०) 'यह सब कुछ एतदात्मक (ब्रह्मस्वरूप) है ।' (छान्दोग्य०)

उपनिषदोंमें 'अक्षि' ब्रह्म और 'आकाश' ब्रह्मकी उपासना आदि साधनोंका भी वर्णन हुआ है। आत्मतत्त्वका सुगमतापूर्वक बोध हो, इसके लिये परम सुन्दर, बोधसुलभ आख्यायिकाओं और दृष्टान्तोंका उल्लेख किया गया है। इस प्रकार सर्वाङ्ग-परिपूर्ण, सर्वसुलभ और सबके लिये हितकर इन उपनिषदोंका आश्रय लेना सबका कर्तव्य है। उपनिषदोंके अर्थका निर्णय करनेके लिये महर्षि बादरायण (व्यास)ने ब्रह्मसूत्रोंका निर्माण किया है तथा श्रीशङ्कर भगवत्पाद आचार्यने इन उपनिषदोंपर भाष्य लिखे हैं। इन्हीं उपनिषदोंके सारभूत अर्थका भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको गीतामें उपदेश दिया है। उपनिषदोंका अभिप्राय सब लोग सुगमतापूर्वक समझ सकें—इसीके लिये पुराण-इतिहास आदि ग्रन्थोंका प्राकट्य हुआ है।

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता—ये वेदान्त-दर्शनके तीन प्रस्थान हैं। इन्हें प्रस्थानत्रयी कहते हैं। इनमें उपनिषद् श्रवणात्मक, ब्रह्मसूत्र मननात्मक और गीता निदिध्यासनात्मक है।

उपनिषदोंमें मुख्यतः आत्मज्ञानका निरूपण होनेपर भी द्विजके लिये उनमें जिन कर्तव्योंका उपदेश दिया गया है, वे निश्चय ही सबके लिये परम हितकर हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्में उनका बहुत सुन्दर रूपसे वर्णन हुआ है। इस लेखके अन्तमें उन उपदेशोंका स्मरण कराया जाता है—

वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर आचार्य अपने शिष्यको उपदेश देते हैं—१. सत्य बोलो। २. धर्मका आचरण करो। ३. स्वाध्यायसे कभी न चूको। ४. आचार्यके लिये

दक्षिणाके रूपमें वाञ्छित धन लाकर दो, फिर उनकी आज्ञासे गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके संतानपरम्पराको चालू रक्खो, उसका उच्छेद न करना । ५. सत्यसे कभी नहीं डिगना चाहिये । ६. धर्मसे नहीं डिगना चाहिये । ७. शुभ कर्मोंसे कभी नहीं चूकना चाहिये । ८. उन्नतिके साधनोंसे कभी नहीं चूकना चाहिये । ९. वेदोंके पढ़ने और पढ़ानेमें कभी भूल नहीं करनी चाहिये । १०. देवकार्य और पितृकार्यकी ओरसे कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये । ११. तुम मातामें देवबुद्धि करनेवाले बनो । १२. पिताको देवरूप समझनेवाले बनो । १३. आचार्यमें देव-बुद्धि रखनेवाले बनो । १४. अतिथिको देवतुल्य समझनेवाले बनो । १५. जो-जो निर्दोष कर्म हैं । १६. उन्हींका तुम्हें सेवन करना चाहिये । १७. दूसरोंका नहीं । १८. जो कोई भी तुमसे श्रेष्ठ गुरुजन या ब्राह्मण आयें । १९. उनको तुम्हें आसन आदिके द्वारा सेवा करके विश्राम देना चाहिये । २०. श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये । २१. बिना श्रद्धाके नहीं देना चाहिये । २२. आर्थिक स्थितिके अनुसार देना चाहिये । २३. लज्जा (संकोच) पूर्वक देना चाहिये । २४. भयसे देना चाहिये । २५. विवेकपूर्वक देना चाहिये । २६. इसके बाद यदि तुमको कर्तव्यका निर्णय करनेमें किसी प्रकारकी शङ्का हो अथवा सदाचारके विषयमें कोई शङ्का हो । २७. तो वहाँ जो-जो उत्तम विचारवाले ब्राह्मण हों । २८. जो कि परामर्श देनेमें कुशल हों; कर्म और सदाचारमें पूर्णतया संलग्न हों । २९. स्निग्ध स्वभाववाले तथा एकमात्र धर्मके अभिलाषी हों । ३०. वे जिस प्रकार उन कर्मों और आचरणोंमें बर्ताव करें । ३१. वैसा ही उनमें तुमको भी बर्ताव करना चाहिये । ३२. तथा यदि किसी दोषसे लाञ्छित मनुष्योंके साथ बर्ताव करनेमें सन्देह उत्पन्न हो जाय तो भी । ३३. जो वह उत्तम विचारवाले ब्राह्मण हों । ३४. जो कि परामर्श देनेमें कुशल हों, कर्म और सदाचारमें पूर्णतया संलग्न हों । ३५. रूखेपनसे रहित और धर्मके अभिलाषी हों । ३६. वे उनके साथ जैसा बर्ताव करते हों । ३७. तुम भी उनके साथ वैसा ही बर्ताव करो । ३८. यह शास्त्रकी आज्ञा है । ३९. यही गुरुजनोंका शिष्योंके प्रति उपदेश है । ४०. यह वेदोंका रहस्य है । ४१. यह परम्परागत शिक्षा है । ४२. इसी प्रकार तुमको अनुष्ठान करना चाहिये । ४३. निश्चय इसी प्रकार यह अनुष्ठान करना चाहिये ।

इस वर्ष कल्याणका विशेषाङ्क 'उपनिषद्-अङ्क' रूपसे प्रकाशित हो रहा है, यह बड़ा ही उत्तम और योग्य कार्य है । जिज्ञासु पुरुषोंको चाहिये कि वे उपनिषदोंके तत्त्वको समझकर परम कल्याण प्राप्त करें ।

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकर-
व्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान् स्थविष्ठान् पुनरपि धिषणो-
द्भासितान् कामजन्यान् ।
पीत्वा सर्वान् विशेषान् स्वपिति मधुरभुङ्
मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परमममृतमजं
ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥
अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगा-
दगति च गतिमत्तां प्रापदेकं ह्यनेकम् ।
विविधविषयधर्मग्राहि मुग्धेक्षणानां
प्रणतभयविहन्तृ ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥

शिव और शक्ति

(रचयिता—श्रीलक्ष्मीनारायणजी शर्मा 'मुकुर')

अग्नि व्याप्त ज्यों शमी, अरणि में,
ज्योतिर्मय त्यों चित्-स्वरूप में,
परिव्याप्त शिव विश्व-तरणि में ।
होती ज्यों उद्भूत अग्नि है,
उत्तर-अधरारणि-घर्षण से,
होती आद्याशक्ति विकीरण,
त्यों है शिव-तप के मंथन से ।
किन्तु नहीं शिव-शक्ति भिन्न है,
एक तत्त्व के महा रूप दो,
शिव चिति है, चैतन्य अन्य है ।
शक्ति और शिव-तत्त्व-रूप चिति,
सकल और निष्कल स्वरूप में,
निरुपाधिक चिति भासित होती,
सोपाधिक चैतन्य रूप में ।
जगन्मात्र चिन्मय, चितिमय है,
चितिका प्रकटित रूप, तन्य है,
गुप्त, तन्य का रूप अन्य है ।

उपनिषदुक्त ज्ञानसे ही सच्ची शान्ति

(श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्रसालपुरवराधीश्वर अनन्तश्री स्वामीजी श्रीपुरुषोत्तमनरसिंह भारतीजी महाराज)

इस समय चारों ओर अनेकों राजनीतिक और आर्थिक वादोंका ऐसा भयङ्कर जाल फैल गया है जिसके कारण जिन महान् दार्शनिक वादोंने हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनको चिन्तनशील एवं विचारशील बनाकर आध्यात्मिक उत्कृष्टताकी ओर प्रवृत्त कर रक्खा था, उनकी चर्चा ही बंद हो गयी है। इसीके परिणामस्वरूप आज चारों ओर राग-द्वेष और हिंसा-प्रतिहिंसाका प्रबल प्रवाह बह रहा है एवं समाजकी भयानक दुर्दशा हमारे सामने प्रत्यक्ष हो रही है।

बाह्य विज्ञानसे मनुष्यको सच्ची शान्ति कभी नहीं मिल सकती। उपनिषदुक्त आत्मस्वरूपके सम्यक् ज्ञानसे ही मनुष्य शोक-मोहसे निवृत्त होकर शाश्वती शान्तिको प्राप्त होता है।

'तरति शोकमात्मवित्', 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः', 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति'

—इत्यादि अनेकों उपनिषद्-वाक्य तथा तदनुसार चलकर शान्तिको प्राप्त करनेवाले महापुरुषोंके पवित्र जीवन इसके प्रमाण हैं।

उपनिषद्का अर्थ है—अध्यात्मविद्या। 'उप' तथा 'नि' उपसर्गपूर्वक सद् धातुमें क्विप् प्रत्यय जोड़नेपर 'उपनिषद्' शब्द निष्पन्न होता है। जिसके परिशीलनसे संसारकी कारणभूता अविद्याका नाश हो जाता है, गर्भवासादि दुःखोंसे सर्वथा छुटकारा मिल जाता है और परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, उसीका नाम उपनिषद् है।

हमें बड़ा संतोष है कि बहुत ही उपयुक्त समयपर 'कल्याण' का यह 'उपनिषद्-अङ्क' प्रकाशित हो रहा है। आशा है, इस अङ्कके पठन तथा चिन्तनसे भारतीयोंको अत्यधिक लाभ होगा।

अन्तमें हमारी अपने उपास्यदैवत श्रीराजराजेश्वरी, चन्द्रचूड, लक्ष्मी-नृसिंहके चरणारविन्दोंमें यही प्रार्थना है कि मुमुक्षुजनोंके उपनिषद्-चिन्तनमें आनेवाले समस्त विघ्नोंको दूर करके उन्हें अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपका साक्षात्कार करा दें, जिससे पृथिवीपर सच्ची शान्तिके साम्राज्यकी शुभ स्थापना हो। जय सच्चिदानन्द भगवान्!

उपनिषद्

(रचयिता—पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी)

निर्गुण है या सगुण रूप क्या परमात्माका।
क्या है कारण, सूक्ष्म, स्थूल तन इस आत्माका॥
क्या लीला है ललित, मोहिनी क्या माया है।
किन तत्त्वोंसे बनी हुई सबकी काया है॥
पंचभूत हैं कौनसे, क्या, क्या इनका काम है।
सत्य-चेतनानन्दका कहाँ और क्या धाम है॥ १॥

ऐसे-ऐसे गूढ़ प्रश्न समझाने वाले।
प्रकृति पुरुष सम्बन्ध, भेद बतलाने वाले॥
वैदिक ब्रह्मज्ञान सु-मनमें भरने वाले।
मुक्तिमार्गको सरल, सुगमतम करने वाले॥
सभी उपनिषद् धन्य हैं, ऐसे कहीं न अन्य हैं।
इनके कर्त्ता धन्य हैं, वक्ता श्रोता धन्य हैं॥ २॥

उपनिषद्का तात्पर्य

(श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परब्रह्मको प्राप्त अथवा व्यक्त करानेवाली, निःसन्धिबन्धनात्मिका चिज्जडग्रन्थिस्वरूपा अविद्याको शिथिल करनेवाली अविचारितरमणीय नामरूप-क्रियात्मक मायामय विश्वप्रपञ्चको समूलोन्मूलन करके जीवकी ब्रह्मात्मताको बोधित करनेवाली ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् है। उसके उत्पादक एवं व्यञ्जक होनेसे ईशावास्य, केन, कठ आदि मन्त्र-ब्राह्मण वेदशीर्ष ग्रन्थ भी उपनिषत्पदवाच्य होते हैं। अतएव मन्त्र एवं ब्राह्मण उभयस्वरूप वेदशीर्ष उपनिषद् हैं और वे सब-के-सब ही अनादि अविच्छिन्न सम्प्रदाय-परम्परया प्राप्त तथा अस्मर्यमाणकर्तृक होनेसे अपौरुषेय वेदस्वरूप ही हैं। ('तुल्यं साम्प्रदायिकम्' जै० सू०) अतएव प्रमाणान्तरोंसे अर्थोपलम्भपूर्वक विरचितत्व अथवा पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्षोच्चरितत्वरूप पौरुषेयत्व न होनेसे पुरुषाश्रित भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटवादि दोषोंसे असंस्पृष्ट अपास्तसमस्तपुंदोष-शङ्काकलङ्क उपनिषदोंका प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्ममें परम प्रामाण्य है। यद्यपि उपनिषदें वेदशीर्ष या वेदसार हैं तथापि वे वेदसे पृथक् नहीं हैं। अतएव वे भी परमेश्वरके निःश्वासभूत तथा अनादि ही हैं। अतएव वेदकाल, उपनिषत्काल आदि आधुनिक कालभेद-कल्पनाएँ व्यर्थ एवं निराधार हैं। पौरुषेय वस्तुओंमें ही ज्ञान, क्रिया, शक्तिके विकासकी कल्पना सम्भव है। उपनिषदोंका सार होनेसे ही गीतामें भी गीतोपनिषद्का व्यवहार होता है। गीताका भी मूल होनेसे उपनिषदोंकी महिमा अत्यन्त प्रख्यात है, यद्यपि जैसे इक्षुदण्डकी अपेक्षा भी उसके सारभूत शर्करा-सिता आदिकी मधुरताके समान उपनिषदोंसे भी अधिक मधुरता गीतामें है। अतएव उपनिषद्रूप गौओंका अमृतमय दुग्ध गीताको कहा है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

—तथापि कारण होनेसे उपनिषदोंका महत्त्व अत्यन्त अनुपेक्षणीय है। जैसे गौ न होनेसे दुग्ध एवं इक्षुदण्ड न होनेसे सिता-शर्करा दुर्लभ हैं, वैसे ही उपनिषदोंके न होनेपर गीता भी दुर्लभ ही होती। यद्यपि कहा जाता है कि उपनिषद् तो भगवान्के निःश्वास हैं जो कि सावधान-असावधान, सुप्त-प्रबुद्ध किसी भी अवस्थामें प्रकट होते रहते हैं, परंतु गीता पद्मनाभ भगवान्के मुखपद्मसे प्रकट हुई है। तत्रापि योगयुक्त परम सावधान भगवान्के मुखपद्मसे गीताका प्रादुर्भाव है, इसलिये गीताकी महिमा अधिक है; तथापि भगवान्का निःश्वास होनेसे ही उपनिषदोंकी विशेषता है। सुप्त-प्रबुद्ध, सावधान-असावधान प्रत्येक अवस्थावालेसे श्वास प्रकट होते हैं, इसलिये ही उसमें बुद्धि और प्रयत्नकी निरपेक्षता और सहज अकृत्रिमता सिद्ध होती है। इसीलिये पुरुषाश्रित भ्रम-प्रमादादि दूषणोंका असंस्पर्श होनेसे उपनिषदोंका स्वतःप्रामाण्य सिद्ध होता है। जीवकी कौन कहे, परमेश्वरके भी प्रयत्न और बुद्धिका उपयोग उपनिषदोंके निर्माणमें नहीं हुआ; किंतु वह अकृत्रिम अपौरुषेय निःश्वासवत् सहज प्रकट होते हैं। हाँ, सर्वज्ञ परमेश्वरकी बुद्धि और प्रयत्नका उपयोग उपनिषदोंका अर्थ निर्णय करनेमें ही होता है। अतएव उपनिषदोंके सहज एवं अकृत्रिम होनेसे उनका स्वतःप्रामाण्य है, परंतु गीताका प्रामाण्य उपनिषद्-मूलक होनेसे ही है। भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर ही हैं, तथापि तन्मुखविनिःसृत गीताका ईश्वरोक्तत्वात् प्रामाण्य नहीं, किंतु वेदमूलक होनेसे ही है। अन्यथा बुद्धदेवकी उक्तिको भी ईश्वरोक्तत्वात् प्रमाण मानना पड़ता; परंतु आस्तिकोंने वेदविरुद्धत्वात् उनकी उक्तिको प्रमाण नहीं माना। वेदसार होनेसे उपनिषदोंमें भी कर्म, उपासना एवं ज्ञानका वर्णन है। तत्सारभूत होनेसे गीतामें भी ये ही तीनों विषय वर्णित हैं। वेद, उपनिषद्, गीता—इन सभीका अवान्तर तात्पर्य कर्म और उपासनामें होते हुए भी महातात्पर्य स्वप्रकाश प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परात्पर परब्रह्ममें ही है। जन्मना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं अनादि अविच्छिन्न उपनीत पितृ-पितामहादि-परम्परामें उत्पन्न एवं विधिवदुपनीत ही वेदों और उपनिषदोंके अध्ययनका अधिकारी होता है। यह पूर्वोत्तर-मीमांसामें स्पष्ट है। उपनिषदोंमें कर्मका दिङ्मात्र प्रदर्शन किया गया है। उपासना और विशेषतः ज्ञानका ही प्रतिपादन किया गया है। अतएव नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थ फल-भोग-वैराग्य, शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान तथा तीव्र मुमुक्षाके होनेपर ही उपनीत द्विजाति उपनिषदोंके विचारात्मक श्रवणका अधिकारी होता है। जैसे आलोकादिसहकारिसहकृत मनःसंयुक्त निर्दोष चक्षुसे ही रूपका बोध होता है, अन्यथा नहीं, और तादृक् चक्षुसे रूपका बोध अवश्य ही होता है; इसी प्रकार साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारीको ही उपक्रमोपसंहारादि

षड्विध लिङ्गोंद्वारा ब्रह्ममें तात्पर्य-निर्धारणरूप उपनिषत्-श्रवणसे ही ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, अन्य किसी साधनसे नहीं। पूर्वोक्त कारणकलापसहित उपनिषत्-श्रवणसे अवश्य ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। जैसे श्मशानकी अग्नि और गार्हपत्य अग्निमें पवित्रता-अपवित्रताका महान् अन्तर होता है, वैसे ही मनमानी रेडियो सुनकर या अखबार आदि पढ़कर उत्पन्न ज्ञान और ब्रह्मचर्य-व्रत गुरुशुश्रूषादि शास्त्रोक्त नियमोंके साथ उत्पन्न ज्ञानमें पवित्रता-अपवित्रता, निर्वीर्यता-वीर्यवत्तरता आदिका महान् अन्तर रहता है। इसीलिये सदाचार स्वधर्म-निष्ठा, तपस्या, उपासना, ब्रह्मचर्य, गुरु-शुश्रूषादि नियमोंके साथ अधिकारीको ही उपनिषदोंका विचार लाभदायक होता है, अन्यथा नहीं। अनधिकारीको तो हानि भी हो सकती है। अज्ञ अर्धबुद्धको उपनिषदोंके महावाक्योंका उपदेश अनर्थकारक होता है—

अज्ञस्याल्पप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः॥

उपनिषदोंके महातात्पर्यका विषय अदृश्य अग्राह्य अलक्षण अचिन्त्य अव्यपदेश्य परात्पर शुद्ध ब्रह्म ही है। वही अचिन्त्य अनिर्वाच्य लीलाशक्तिके योगसे अनन्तकल्याणगुणगण-निलय, सगुण एवं सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य-सौगन्ध्य-सुधाजल-निधि, अनन्तकोटिकन्दर्प-दर्पदमनपटीथान् साकार भी होता है। सदाशिव, श्रीमन्नारायण, श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, उमा, रमा, सीता, राधा आदि अनेक रूप उसी परब्रह्मके हैं। इसीलिये उपनिषदर्थनिर्णायक ब्रह्मसूत्रोंद्वारा विभिन्न आचार्योंने विभिन्न स्वरूपोंसे उसी ब्रह्मका प्रतिपादन किया है। गुरु एवं इष्टकी तथा श्रद्धा, ध्यान, पराभक्तिकी तत्त्वसाक्षात्कारमें अत्यन्त आवश्यकता होती है।

'यस्य देवे परा भक्तिः' 'श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादवेहि'

जिससे अनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मक विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय होता है, वही उपनिषदर्थ ब्रह्म है। आकाशका कारण अहम्, अहंका भी कारण महान्, महान्का भी कारण अव्यक्त है। अव्यक्त उपनिषदर्थ ब्रह्मसे उत्पन्न या उसमें ही अध्यस्त होता है। 'तदैक्षत', 'एकोऽहम्' इत्यादिक ईक्षण और अहं ही 'महान्' और 'अहं' हैं। अहं, महान्, ईक्षण, निद्रा और अव्यक्त—इन सबका साक्षी, भासक, निर्दृश्यमान ही उपनिषदर्थ ब्रह्म है। उस अखण्डबोधस्वरूप भानकी अत्यन्त अबाध्यता ही सद्रूपता, सद्रूप उसी तत्त्वकी अवेद्यत्वे सति अपरोक्षता ही चिद्रूपता और सच्चिद्रूप उसी परमात्मतत्त्वकी सर्वोपप्लव-विवर्जितता ही आनन्दरूपता है। सम्पूर्ण पुरुषार्थोंका चरम लक्ष्य अनर्थवर्जन एवं आनन्दप्राप्ति है। निरुपप्लव निरवधि, निःसीम, आनन्द ही ब्रह्म है। सर्वबाधावधि अत्यन्ताबाध्यता ही उसकी अमृतता एवं सत्यता है। अग्नि, चन्द्र, विद्युत् सूर्यसे भी सूक्ष्म अन्तरङ्ग प्रकाश चक्षुरादि इन्द्रियाँ हैं एवं उनसे भी सूक्ष्म मन, बुद्धि एवं अहमर्थ हैं; परंतु उन सबका प्रकाशक सबसे सूक्ष्म भान ज्ञानस्वरूप आत्मा है। जैसे दर्पणभानके अनन्तर तत्स्थ प्रतिबिम्ब भासित होता है, अथवा सौरादि आलोकके भानके अनन्तर नील-पीत आदि रूप भासित होते हैं, वैसे ही शुद्ध भानस्वरूप प्रत्यग् ब्रह्म-भानके अनन्तर ही अहमर्थ, ईक्षण, अव्यक्त आदि भासित होते हैं।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

घटादिकी अपरोक्षता मनश्चक्षु-आलोकादिसापेक्ष है; परंतु प्रत्यक्की अपरोक्षता सर्वनिरपेक्ष स्वतः है। **'यत्साक्षाद-परोक्षाद्ब्रह्म'** सर्वकारण सर्वाधिष्ठानस्वरूप प्रत्यक्चैतन्याभिन्न **परब्रह्मसे भिन्न सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार मिथ्या है; जैसे रज्जुमें कल्पित सर्पादि रज्जुसे भिन्न होकर सर्वथा मिथ्या हैं।** जैसे मृत्तिका ही घट-शरावादिरूपेण, सुवर्ण ही कटक-मुकुट-कुण्डलादिरूपेण, जल ही तरङ्गादिरूपेण प्रतीत होते हैं, वैसे ही भगवान् भी प्रपञ्चरूपेण प्रतीत होते हैं। आरम्भवाद, परिणामवाद भी तत्त्वनिश्चयके लिये किसी कक्षामें मान्य होते हैं; परंतु क्षपितकल्मष विद्वान् तो विवर्त ही समझता है। जगदाकारेण परिणममाना मायाका अधिष्ठानभूत ब्रह्म ही दृष्टिभेदसे मायाके कारण ही अतात्त्विक अतएव असमसत्ताक अन्यथाभावापन्न होनेसे विवर्ताधिष्ठान कहलाता है। रूपान्तर-से चित्तचाञ्चल्यके कारण भी उसमें मिथ्या द्वैत-प्रतिभास होता है। वस्तुतः कार्यकारणातीत नित्यनिरस्तनिखिलप्रपञ्च-विभ्रम, अज, अनिद्र, अस्वप्न, स्वप्रकाश, अपार, अनन्त सद्घन चिद्घन आनन्दघन ब्रह्म ही सब कुछ है। जैसे बिम्ब-प्रति-बिम्बका भेद प्रतीत होते हुए भी वास्तवमें वह भेद मिथ्या है। बिम्बसे अतिरिक्त प्रतिबिम्ब कोई वस्तु नहीं है। बिम्ब ही प्रतिबिम्बात्मना प्रतीत होता है, वैसे ही जीवात्मा-परमात्माका भेद भी मिथ्या है। वस्तुतः परमात्मा ही उपाधिके द्वारा जीवात्मस्वरूपसे प्रतीत होता है। इसी तरह अहङ्कारादि उपाधिके कारण ही आत्मामें मिथ्या-कर्तृत्व उसी प्रकार प्रतीत होता है जैसे जपाकुसुमादिके संसर्गसे स्वच्छ स्फटिकमें लौहित्य प्रतीत होता है। जिस प्रकार घट-मठ आदि उपाधिमें रहता हुआ भी आकाश वस्तुतः सर्वथा असङ्ग ही रहता है, तद्वत

गुणों और दूषणोंसे वह लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार देहादि उपाधियोंमें रहता हुआ भी आत्मा उपाधियोंके तत्तद्गुणों और दूषणोंसे भूषित और दूषित नहीं होता। उत्पत्तिविपरीत-क्रमेण सम्पूर्ण प्रपञ्चको अधिष्ठानस्वरूप प्रत्यग् ब्रह्ममें लय कर देनेसे ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है, अथवा वागुपलक्षित बाह्येन्द्रियोंको मनमें, मनको ज्ञानात्मा अहमर्थमें, उसे अस्मिता-मात्रमें, उसे शान्तशुद्ध चिद्घनमें प्रतिसंहृत कर लेनेपर फिर शुद्ध अद्वितीय ब्रह्म ही स्फुरित होता है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

इसी वस्तुस्थितिको एकमेवके 'एव' से दृढ़ किया गया है। इसीको **'नेह नानास्ति किञ्चन'**, **'नात्र काचन भिदा'** के **'किञ्चन'** एवं **'काचन'** से स्पष्ट किया गया है। अचिन्त्यानिर्वाच्य मायाके कारण सकल वाङ्मनसव्यपदेशभाक् प्रत्यक् चिति ही सकल-मनोवचनप्रपञ्चातिगता है। यही उपनिषदोंका सार है। फिर भी पूर्णरूपेण वर्णाश्रमानुसारी, धर्मानुष्ठान एवं परा भगवद्भक्ति-के बिना उपनिषदर्थबोध एवं तन्निष्ठा अत्यन्त दुर्लभ है। इसीलिये—

तमेतमात्मानं ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन विविदिषन्ति।

—इत्यादि वचनोंद्वारा वेदनेच्छा या इष्यमाण वेदनमें यज्ञ-तप-दानादिका उपयोग बतलाया गया है। ब्रह्मचर्य, सदुपासना, सदाचार आदिका पद-पदपर उपनिषदोंमें समर्थन मिलता है। पञ्चाग्नि-विद्या, वैश्वानर-विद्या, दहर-विद्या आदि अनेक उपासनाओंका प्रतिपादन भी ब्रह्मसाक्षात्कारकी सुविधाके लिये ही किया गया है। लय एवं विक्षेप दोनों ही अवस्थाओंमें तत्त्वसाक्षात्कारमें कठिनाई पड़ती है। सुषुप्तिकी निद्रा एवं जाग्रत्-स्वप्नका द्वैतदर्शन अवरुद्ध हो, तब निश्चल अनिद्र प्रबुद्ध अविक्षिप्त चित्तपर प्रत्यग्ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। यत्नातिशयसाध्य निर्विकल्प समाधान अथवा सुषुप्ति-प्रबोध-सन्धि, वृत्तिसन्धि तथा दण्डायमान दीर्घनिर्विषयवृत्तिपर युक्तिसे ब्रह्मानुभव किया जा सकता है। फिर भी उपनिषन्माना-पनोद्य ब्रह्माश्रय ब्रह्मविषयक मूलाज्ञानके नाशार्थ उपनिषद्विचार अत्यन्त अपेक्षित हैं। परम्परासे जो विधिवत् उपनीत नहीं हैं या उपनयनके अधिकारी नहीं हैं, उन्हें गीता, वासिष्ठ, भागवत, विष्णुपुराणादिके श्रवणद्वारा भी तत्त्वबोध प्राप्त हो सकता है।

रस-ब्रह्म

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

कोई शम-दममें नियममें निरत कोई
जप-तप व्रत-उपवासनामें रत हैं।
आसन बिछाये पद्मासन लगाये दृढ
कोई श्वास-वायुकी ही शासनामें रत हैं॥
होके यज्ञ-यागमें प्रवृत्त सानुराग कोई
स्वर्गके निवासकी ही वासनामें रत हैं।
कोई शब्द-ब्रह्म कोई अर्थ-ब्रह्म ढूँढ़ा करें
हम रस-ब्रह्मकी उपासनामें रत हैं॥
बतला रही है नित्य-मुक्त वेदवानी जिसे
देखो नन्दरानीने उलूखलमें बाँधा है।
पूरन अकाम, लिये प्रकट सकाम-भाव
ध्याती जिसे प्रणयसुधाका रस राधा है॥
जगको नचाता वही नाचता निकुञ्ज-बीच
गोप-गोपियोंने इस भाँति उसे साधा है।
वेदोंमें न ढूँढ़, उपनिषद्-निगूढ रस
व्रज-सरबस बस एक वही काँधा है॥

अपौरुषेयताका अभिप्राय

(लेखक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

वेद शब्दका अर्थ ज्ञान है। वेद-पुरुषके शिरोभागको उपनिषद् कहते हैं। उप (व्यवधानरहित) नि (सम्पूर्ण) षद्[1] (ज्ञान) ही उसके अवयवार्थ हैं। अर्थात् वह सर्वोत्तम ज्ञान जो ज्ञेयसे अभिन्न एवं देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे रहित परिपूर्ण ब्रह्म है, 'उपनिषद्' पदका अभिप्रेत अर्थ है। इसलिये जबतक ज्ञानके स्वरूपका ठीक-ठीक विचार न कर लिया जायगा, तबतक उपनिषद् क्या हैं, यह बात स्पष्ट नहीं हो सकेगी।

पहली बात—ज्ञान स्वतःप्रमाण है, परतःप्रमाण नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि किसी भी पदार्थका यथार्थ निश्चय करनेमें ज्ञान ही अन्तिम निर्णायक होगा। सम्पूर्ण व्यवहार अपने ज्ञानके आधारपर ही चलता है। किसी भी विषयके होने एवं न होनेका निर्णय करनेमें ज्ञान ही अन्तिम कारण होगा। उदाहरणार्थ—विषयकी सत्ता इन्द्रियोंसे, इन्द्रियोंकी मनसे, मनकी बुद्धिसे और बुद्धिकी ज्ञानस्वरूप आत्मासे निश्चित होती है। अज्ञानका अनुभव भी ज्ञान ही है; परंतु ज्ञानको प्रमाणित करनेके लिये क्या ज्ञानसे भिन्न पदार्थकी आवश्यकता होगी? कदापि नहीं।

प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेयकी त्रिपुटी ज्ञानके द्वारा ही प्रकाशित होती है। इसलिये ज्ञानकी सिद्धिके लिये उनकी कोई अपेक्षा नहीं है। यों भी कह सकते हैं कि इस त्रिपुटीके भाव और अभावका प्रकाशक ज्ञान ही है। वे रहें तब भी ज्ञान है और न रहें तब भी ज्ञान है। ज्ञानके विना उन्हें अनुभव ही कौन करेगा। त्रिपुटीमें ज्ञानका अन्वय है और ज्ञान त्रिपुटीसे व्यतिरिक्त है। इसलिये ज्ञानकी सत्ता अखण्ड है। प्रमाणोंके द्वारा ज्ञानकी सिद्धि नहीं होती। ज्ञानसे ही समस्त प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि ज्ञानका प्रामाण्य स्वतः है, परतः नहीं।

दूसरी बात—ज्ञान स्वयंप्रकाश है। यह कर्ता, करण, क्रिया एवं फलके अधीन नहीं है। कर्ता करोड़ प्रयत्न करके भी स्थाणु-ज्ञानको पुरुष-ज्ञान नहीं बना सकता। मान्यता कर्ताके अधीन होती है। वह अपनी मानी हुई वस्तुको गणेश माने, सूर्य माने, बादमें फेरफार कर दे या बिल्कुल ही छोड़ दे—इन सब बातोंमें स्वतन्त्र होता है। परंतु यह ज्ञान नहीं है, यह तो कर्ताकी कृति है, जिसको वह स्वयं गढ़ता है और बादमें स्वतन्त्र मान लेता है। ये मान्यताएँ प्रत्येक कर्ताकी, सम्प्रदायकी, जातिकी और राष्ट्रकी अलग-अलग हो सकती हैं और होती हैं; परंतु ज्ञान सबका एक होता है। स्थाणुको भिन्न-भिन्न मनुष्य चोर, सिपाही अथवा भूतके रूपमें मान सकते हैं। परंतु ज्ञान सबका एक ही होगा कि यह स्थाणु है। पुरुष-भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं हो सकता। क्योंकि किसी भी पुरुषके द्वारा अथवा पुरुषविशेषद्वारा ज्ञानका निर्माण अथवा रचना नहीं होती। यहाँतक कि ईश्वर भी ज्ञानका कर्ता नहीं होता। वह तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है। यदि ईश्वर ज्ञानका कर्ता हो तो ज्ञानरूप कर्मके पूर्व ईश्वरमें ज्ञानका अभाव स्वीकार करना पड़ेगा। परंतु ज्ञानका अभाव किसी भी प्रमाण अथवा अनुभवसे सिद्ध नहीं हो सकता। वह प्रमाण या अनुभव भी तो ज्ञानरूप ही होगा। अभिप्राय यह है कि ज्ञान साधन-साध्य नहीं है, सिद्ध है। उसके कारणके रूपमें अज्ञानकी अथवा ज्ञानान्तरकी कल्पना नितान्त असंगत है। इसलिये ज्ञान स्वयंप्रकाश है।

तीसरी बात—ज्ञान काल-परिच्छिन्न नहीं है। जब हम यह सोचने लगते हैं कि यह ज्ञान भूत है और यह ज्ञान भविष्य है, तब हम मानो यह स्वीकार कर लेते हैं कि कालकी धारामें ज्ञानका उदय एवं विलय हुआ करता है अर्थात् ज्ञान क्षणिक है। परंतु यह क्षण ही क्या है जिसकी पृथक्ताका आरोप ज्ञानपर किया जाता है। प्रश्न यह है कि काल सावयव है अथवा निरवयव? यदि निरवयव है तो उसमें भूत-भविष्य एवं कला-काष्ठा आदिके भेद ही सम्भव नहीं हैं, वह ब्रह्म ही है। यदि सावयव है तो ज्ञान उसके भिन्न-भिन्न अवयवोंका प्रकाशक मात्र होगा और प्रकाश्यगत भेद प्रकाशकपर आरोपित नहीं किया जा सकेगा। जैसे घट-पटादिके भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनको प्रकाशित करनेवाले प्रकाशमें भेद-कल्पनाका कोई प्रसंग नहीं है, ऐसे ही कला-काष्ठा आदिरूप कालके अवयवोंमें भेद होनेपर भी उनके प्रकाशक ज्ञानमें भेद-कल्पनाका अवसर नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि काल-भेदकी कल्पना ही निर्मूल है। कल्पना करें कि क्या कभी कालका अभाव था या कालका अभाव होगा; जिस कालमें

१. गत्यर्थक षद् धातु।

हम कालके अभावकी कल्पना करेंगे, वह भी काल ही होगा और कालके अभावकी कल्पनाको निवृत्त कर देगा। अभाव-रहित वस्तु निरंश होती है। गुणन अथवा विभाजन केवल सांश वस्तुमें हो सकता है, निरंशमें नहीं। इसलिये अभाव-रहित कालमें कला-काष्ठादिरूप अवयवके आधारपर भूत-भविष्यकी कल्पना करना निःसार है। तब ये जो भूत-भविष्य मालूम पड़ते हैं, वे हैं क्या ? संविन्मात्र हैं! कोई भी संविन्मात्र वस्तु संवित्‌को परिच्छिन्न नहीं बना सकती। इसलिये ज्ञान कालपरिच्छिन्न नहीं है।

चौथी बात—ज्ञानमें देश-परिच्छेद भी नहीं है। ज्ञानमें कालपरिच्छेदका निषेध करते समय यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि यह जो धारा अथवा क्रमकी संवित् है, यह कालनिष्ठ नहीं है, संविन्मात्र ही है। जैसे स्वप्नके पचासों वर्ष कालके अवयव नहीं हैं, संविद्रूप ही हैं, उनमें भूतकी स्मृति, भविष्यत्‌की कल्पना और ज्ञानके द्वितीयत्व-सद्वितीयत्व-की प्रतीति संविन्मात्र ही है, वैसे ही यह जो दैर्घ्य-विस्तार-की कल्पना हो रही है, सो भी संवित्‌से भिन्न नहीं है।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर आदिके रूपमें प्रतीयमान देशभेद देशनिष्ठ हैं अथवा पृथ्वी, सूर्य, ध्रुव आदि ग्रहनक्षत्रनिष्ठ हैं ? यह स्पष्ट है कि इस भेद-कल्पनाका कारण ध्रुवादि ग्रहनक्षत्र हैं, देश नहीं। तब क्या अन्यगत भेदका अन्यपर आरोपित करना न्यायोचित है ? कदापि नहीं। कालके समान ही कहीं भी देशका अभाव नहीं है। जिस देशमें देशके अभाव-की कल्पना की जायगी, वह भी देश ही होगा। अभावरहित देश ब्रह्म है। पूर्व, पश्चिम आदि एवं दैर्घ्य-विस्तार आदिकी कल्पना वस्तुनिष्ठ नहीं, संविन्मात्र है, ठीक वैसी ही जैसी स्वप्न-देशकी लंबाई-चौड़ाई। स्वयंप्रकाश ज्ञानके द्वारा प्रकाशित देशभेद ज्ञानका भेदक नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञान देश-परिच्छेदसे रहित है।

पाँचवीं बात—विषयपरिच्छेद भी ज्ञानका परिच्छेदक नहीं है, सबसे पहले तो यह विचार करनेयोग्य है कि विषय देश-काल-परिच्छेदके आश्रित हैं या नहीं ? जब भी कोई विषय प्रकाशित होगा, अपनेको किसी-न-किसी काल और देशमें ही प्रकाशित करेगा। देश और कालभेदकी कल्पनाके बिना विषयकी प्रतीति ही नहीं हो सकती। ठीक इसी प्रकार विषयभेदके बिना देश और कालकी भी प्रतीति नहीं हो सकती। जब देश और कालके भेद ही कल्पित हैं, तब उनके आश्रयसे प्रतीत होनेवाले विषय अकल्पित कैसे हो सकते हैं ! ये पृथक्-पृथक् प्रतीयमान विषय सन्मात्र ही हैं या और कुछ ? यदि ये सन्मात्र ही हैं तो इनमें भेदकी कल्पनाका क्या आधार है, फिर तो इन्हें त्रिकालाबाध्य सत्तासे भिन्न समझा ही नहीं जा सकता। और यदि ये सन्मात्रसे भिन्न हैं तो इन्हें नितान्त असत् कहनेमें क्या आपत्ति है ? सत् और असत्, भाव और अभावका मिश्रण तो कभी हो ही नहीं सकता। अब यह कल्पना करें कि ये भिन्न-भिन्न विषय सत्ताके विशेष-विशेष रूप हैं; परंतु यह बात भी निराधार है। बिना देश-कालका भेद सिद्ध हुए सत्तामें भेद सिद्ध करनेकी कोई युक्ति नहीं है। सत्ताका परिणाम स्वीकार करनेपर भी परिणाम-की पूर्वावस्था, उत्तरावस्था, क्रम आदि अपेक्षित होंगे। इस प्रकार तो सत्ताका त्रिकालाबाध्यत्व ही कट जायगा और शून्य-वाद, क्षणिकविज्ञानवाद अथवा सर्वोच्छेदवादका प्रसङ्ग होगा। यदि यह कल्पना करें कि सत्ताका एक अंश तो स्थिर है और दूसरे अंशमें वह विपर्योंका आरम्भ कर रही है या उनके रूपमें परिणत हो रही है तो यह अंशभेदकी कल्पना सर्वथा उपहासास्पद होगी। जो वस्तु एक अंशमें विदीर्ण हो रही है, वह दूसरे अंशमें नित्य नहीं हो सकती। अंशभेद तो असिद्ध है ही। इसलिये सत्तामें विशेष भी उपपन्न नहीं होता। विषयों-की उत्पत्ति सत्‌से, असत्‌से, सदसत्‌से अथवा उनसे भिन्नसे किसी भी प्रकार संगत नहीं है। जिनकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ही असिद्ध है, जिनका स्वयं अपने अधिष्ठानमें ही अत्यन्ताभाव है, ज्ञानके बिना जिनकी कल्पना ही नहीं हो सकती, ऐसे विषयोंके द्वारा भी ज्ञान परिच्छिन्न नहीं हो सकता।

छठी बात—ज्ञानमें ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्वका भेद भी औपाधिक ही है। देश-काल और वस्तुभेदका निषेध हो जाने-पर ज्ञानसे पृथक् ज्ञेयकी उपस्थिति अपने-आप ही कट जाती है। ज्ञेयके बिना ज्ञातृत्वके व्यवहारकी सिद्धि नहीं हो सकती। ज्ञेय और ज्ञाता दोनों ही एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं; परंतु ज्ञान दोनोंकी, दोनोंमेंसे किसी एककी अथवा और किसी अन्य-की अपेक्षा रक्खे बिना स्वतः सिद्ध है। यदि ज्ञेयरूप विषय भी ज्ञानसे पूर्व सिद्ध हैं, ऐसा माना जाय तो अननुभूत होनेके कारण वह केवल कल्पना होगी। अनुभवके बिना पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। यह जो भिन्न-भिन्न विषय और इनकी समष्टि ज्ञेयरूपसे पृथक् प्रतीत होती है, वह क्या ज्ञानसे बहिर्देश-में है अथवा ज्ञानके अन्तर्देशमें ? पहली बात तो यह है कि ज्ञानमें बहिर्देश और अन्तर्देशकी कल्पना नितान्त असंगत है। दूसरी यह कि ज्ञेय विषयको बहिर्देशमें माननेपर उसके साथ

ज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि अन्तर्देशमें ही माने तो ज्ञानके साथ व्यापक-व्याप्य-भाव सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा। यह सम्बन्ध भी ज्ञानको विषयका उपादान कारण माने बिना सम्भव नहीं है। तब क्या ज्ञान परिणामको प्राप्त होकर विषयका रूप ग्रहण करता है? ऐसी स्थितिमें परिणामकी एक धारा अथवा क्रम स्वीकार करना पड़ेगा। यह बात तभी स्वीकार की जा सकती है, जब कालकी क्षणिकताका आरोप उसके प्रकाशक ज्ञानपर किया जाय; परंतु अध्यस्तके गुण-दोष अधिष्ठानका स्पर्श भी नहीं कर सकते। आदिरहित, अन्तरहित ज्ञानमें विषयकी उपस्थितिके लिये एक क्षण अथवा भिन्न-भिन्न क्षण हैं ही नहीं। यह भी एक प्रश्न है कि विषय सम्पूर्ण ज्ञानमें हैं अथवा ज्ञानके एक अंशमें। ज्ञानमें अंशता, पूर्णता आदि तो कल्पित हैं। फिर यदि ज्ञानका परिणाम मानें भी तो क्या उसका कोई आकार है जो दूधसे दहीके समान रूपान्तरित होगा और क्या वह रूपान्तर भी ज्ञानस्वरूप नहीं होगा? ऐसी स्थितिमें प्रथमरूप द्वितीयरूपका भेद विचारहीनोंके द्वारा कल्पित एवं केवल विवर्तमात्र होगा। ज्ञेय विषयका निराकरण हो जानेपर ज्ञातृत्वकी कल्पनाका कोई कारण ही नहीं है।

सातवीं बात—ज्ञान हेतुफलात्मक नहीं है। ज्ञानकी उत्पत्ति स्वीकार करनेपर उसके प्रागभावकी अर्थात् उसकी उत्पत्तिके पहलेकी स्थिति बतानी पड़ेगी। परंतु ज्ञानके बिना उसकी भी स्थिति नहीं बतलायी जा सकती। अभिप्राय यह है कि ज्ञानका जन्म नहीं होता। अन्तःकरणकी शुद्ध स्थिति अथवा निर्विषयता भी ज्ञानकी जननी नहीं है, विचारकी जननी है। विचारके द्वारा वृत्त्यात्मक ज्ञान परिपुष्ट होता है और दृढ़ होनेपर वह अज्ञानका नहीं, अज्ञान-भ्रान्तिका निवर्तक होता है। प्रक्रिया ग्रन्थोंके अनुसार यह वृत्त्यात्मक ज्ञान भी दूसरे क्षणमें नहीं रहता है। यह क्षणसहित वृत्तिको और अपने व्यक्तित्वको भी बाधित कर देता है। जब यह स्वयं बाधित होता है तब कोई अपना कार्य या फल छोड़कर बाधित हो और वह ज्ञान-वृत्तिकी निवृत्तिके अनन्तर रहे, तब तो द्वैत बना ही रहा। इसलिये हेतुता और फलताकी कल्पना ही मिटती है। हेतु और फल तो कुछ है ही नहीं, जिनकी ज्ञानसे निवृत्ति होती हो। अज्ञान घटके उपादानकारण मृत्तिकाके समान जगत्का उपादान नहीं है। वह तो जगत्की व्यवस्थाकी सिद्धिके लिये कल्पित है। अज्ञान है—यह कल्पना भी ज्ञानका विवर्त ही है। इसलिये ज्ञानवृत्तिसे अज्ञानका ध्वंस नहीं होता, प्रत्युत कल्पना ही बाधित होती है। यह निवर्त्य-निवर्तक भावकी कल्पना अविचार दशामें ही है। ज्ञानदृष्टिसे हेतुफलात्मक भेद सर्वथा ही असिद्ध है।

आठवीं बात—ज्ञानमें यथार्थ-अयथार्थ और परोक्ष-अपरोक्षका भेद भी नहीं है। व्यवहारमें जो ज्ञानमें यथार्थता आदि भेद किये जाते हैं, यदि वास्तवमें विचार करके देखें तो कल्पित विषयगत भेद ही ज्ञानपर आरोपित होते हैं। स्वप्नका हाथी झूठा है। परंतु स्वप्नमें हाथीका देखना झूठा नहीं है। 'हाथी नहीं था' हमारी जाग्रत्कालीन स्मृतिका यही स्वरूप है। हाथी देखा ही नहीं था, यह नहीं। हाथीकी असत्ता ज्ञानकी असत्ताकी प्रयोजक नहीं हो सकती। अविचार दशामें हाथीकी अयथार्थताका आरोप ज्ञानपर कर दिया जाता है। इसी प्रकार ज्ञानकी परोक्षता भी विचारणीय है। परोक्ष-अपरोक्षका भेद घटादि पदार्थोंमें होता है या उनके ज्ञानमें? क्या ज्ञान भी कभी अपनेसे दूर होता है। यदि ऐसा मान लें 'पृथ्वीपर घट है और अन्तःकरणमें ज्ञान' तब भी तो घट-ज्ञान अपने अन्तःकरणमें ही रहा। उसकी परोक्षता कहाँ हुई। घटगत परोक्षताका ही आरोप ज्ञानपर हुआ। यह तो छोटी बात है। आश्रयत्व, विषयत्व आदि विभागसे रहित अद्वितीय चित्स्वरूप ज्ञानमें अयथार्थता और परोक्षताकी कथाका कोई प्रसंग ही नहीं है।

नवीं बात—ज्ञान सर्वथा अबाध्य है। ज्ञानका कोई भी प्रतियोगी या विरोधी नहीं है। स्वयं अज्ञान भी ज्ञानके द्वारा ही प्रकाशित होता है। 'मैं अज्ञ हूँ' यह भाव भी एक प्रकारका ज्ञान ही है। ज्ञानमें यह प्रकारभेद भी विचार न करनेसे जान पड़ता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि सन्धिहीन होनेके कारण ज्ञान और अज्ञानका भेद कल्पित है। इसलिये अज्ञान ज्ञानका बाध नहीं कर सकता। ज्ञानके बाधकी कल्पना करनेपर यह प्रश्न होता है कि ज्ञानका बाध ज्ञात होगा या अज्ञात, वह ससाक्षिक होगा अथवा निःसाक्षिक। अज्ञात और असाक्षिक होनेपर ज्ञानका बाध होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। ज्ञात और ससाक्षिक स्वीकार करनेपर ज्ञानकी सत्ता—ज्ञान-स्वरूप सत्, अक्षुण्ण एवं अखण्ड सिद्ध हो जाता है।

दसवीं बात—ज्ञानका स्वरूप अनिर्वचनीय है। जब हम किसी पदार्थका निर्वचन करने लगते हैं, तब उसमें दृश्यता, अन्यता आदिका आरोप अवश्य करते हैं। कोई भी निर्वचनार्ह वस्तु इदन्तासे आक्रान्त ही होगी। इसलिये मन-वाणीका विषय भी अवश्य होगी। ऐसी स्थितिमें विषय-विषयिभाव भी

अनिवार्य होगा। यही कारण है कि ज्ञानको उत्पाद्य अथवा आत्माका समवायी माननेवालोंने उसके जो-जो निर्वचन किये हैं, उन्हींकी रीतिसे वेदान्तीलोग उनका निषेध करते हैं। अनिर्वचनीयता भी परमत रीतिसे है। अनिर्वचनीयताका अभिप्राय केवल इतना ही है कि यह ज्ञानस्वरूपसे भिन्न नहीं है। अबाध्यता, स्वयंप्रकाशता, अपरिच्छिन्नता आदि जो लक्षण हैं, वे अन्य पदार्थमें, चाहे उसका नाम कुछ भी क्यों न रक्खें, पूरे नहीं उतर सकते। एक पर-रूप अपरिच्छिन्न स्वप्रकाश एवं अबाध्य हो तथा दूसरा स्वस्वरूप, वह भी हो और मैं भी होऊँ, यह बात अनुभूतिका विश्लेषण करनेपर सिद्ध नहीं होती। अज्ञेय और अनिर्वचनीय शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। विदित और अविदितसे विलक्षण अन्य नहीं हो सकता। इसलिये अनिर्वचनीय पद समस्त निर्वचनोंका निषेध करके अनिरुक्त स्वात्मामें ही विश्रान्ति लाभ करता है।

ग्यारहवीं बात—सत्य, अहिंसा, ध्यान, उपासना, परत्व, कारणत्व आदि ज्ञानके ही उपलक्षण हैं। मुमुक्षु और मुक्तके व्यावहारिक भेदको सामने रखकर यदि सत्य, अहिंसा आदि सद्गुणोंके स्वरूपपर विचार किया जाय तो किसी भी गुणमें सत् होनेका निर्देश सच्चित्स्वरूप आत्माके सामीप्यके कारण ही करते हैं। जितना-जितना आत्म-सामीप्य जिस-जिस वृत्तिमें है, वह-वह वृत्ति उतना ही उतना अधिक शोधनद्वारा आत्मसाक्षात्कारका अथवा अज्ञान-निवृत्तिका उपाय है। उदाहरणार्थ—सत्य, अहिंसा आदि सद्गुणरूप वृत्तियोंको ही ले लीजिये। असत्य रूप दुर्गुण अनेकरूप होगा। उसके आचरण-भाषण आदिकी वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न विषयोंके एवं चिन्ताके भारसे ग्रस्त होंगी। इसके विपरीत सत्य वृत्तिके लिये किसी चिन्ता—बनावट या विषय-चिन्तनकी आवश्यकता नहीं होगी। मुमुक्षुपुरुष सरल स्वभावसे विषयरहित सत्य वृत्तिमें स्थित रह सकेगा और वास्तवमें वह आत्मस्थिति ही होगी। अज्ञान-निवृत्ति होनेपर स्थितिके लिये उसे किसी प्रयासकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुणकी वृत्तियाँ भी सगर्भ एवं सविषय ही होती हैं। किसके प्रति काम है, किसपर क्रोध है, क्या चाहिये—यह निश्चय करके तदाकार हुए बिना इन दुर्गुणोंकी स्थिति नहीं हो सकती। इसके विपरीत निष्कामता, अक्रोध एवं निर्लोभता आदि वृत्तियाँ यह अपेक्षा नहीं रखतीं कि हम किसके प्रति हैं। विषयहीन वृत्ति अपने आश्रयभूत प्रत्यगात्मासे अपनेको पृथक् नहीं दिखाती है—इसलिये आत्मविषयक अज्ञान-निवृत्तिकी प्रतिबन्धकतासे रहित होती है। सविषय स्थिति ही मुमुक्षुको सत्से भिन्न प्रतीत होती है। निर्विषय वृत्ति तो सद्रूप ही प्रतीत होती है—यही आत्म-सामीप्य ज्ञानस्वरूप आत्माका उपलक्षण है। अभिप्राय यह है कि ये वृत्तियाँ भी असत्य, हिंसा आदिके अभावरूप होनेके कारण स्वतः भावरूप नहीं, ज्ञानरूप हैं; अनेक नहीं, अद्वितीय हैं। ध्यान, उपासना आदि भी अनेकविषयक वृत्तियोंको व्यावृत करनेके लिये ही हैं; क्योंकि एक वस्तुमें एकतानता ही उनका स्वरूप है।

ज्ञानस्वरूप परमात्मामें कार्य-कारणकी कल्पना अथवा भोक्तृ-भोग्य भेदभावकी कल्पना असंगत है। श्रुतिने—

'न तस्य कश्चिज्जनिता' 'न तस्य कार्यम्' 'न तदश्नाति कश्चन' 'न तदश्नाति किञ्चन'

—आदि वाक्योंके द्वारा इसी अर्थका प्रतिपादन किया है। इस बातको ध्यानमें रखकर जब कार्य-कारण-भाव वर्णन करनेवाली श्रुतियोंको पढ़ते हैं, तब स्पष्ट रूपसे उनका अन्य अभिप्राय ज्ञात होता है। यथा—

१–दृश्य-प्रपञ्चमें नित्यताकी भ्रान्ति निवारण करनेके लिये इसकी उत्पत्ति-प्रलयका वर्णन है।

२–परमाणु, प्रकृति आदि अन्यकारणताका निषेध करनेके लिये ज्ञानस्वरूप परमात्मामें कारणत्वका अध्यारोप किया गया है।

३–निमित्तकारण और उपादानकारणका भेद मिटानेके लिये ऊर्णनाभि, विस्फुलिङ्ग आदिके दृष्टान्त हैं एवं एक विज्ञानसे सर्व विज्ञानकी उपपत्ति दिखलायी गयी है। 'वही सब हो गया', 'मैं एकसे बहुत होऊँ' इत्यादि वचनोंका अभिप्राय उपादान और निमित्त कारणके भेदकी निवृत्तिमात्र ही है, परिणाम नहीं।

४–परिणामका निषेध करनेके लिये ही परमात्माके अद्वितीय अज-स्वरूपका वर्णन करते हुए 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' अर्थात् जो कुछ बाह्यत्वेन अथवा आभ्यन्तरत्वेन प्रतीत हो रहा है वह अज ही है, ऐसा कहा गया है और दृश्य-प्रपञ्चकी उपपत्तिके लिये परमात्मामें मायाका अध्यारोप किया गया है।

५–**'न तु तद्द्वितीयमस्ति' 'विकल्पो न हि वस्तु'** इन श्रुतियोंसे अध्यारोपित मायाका भी अपवाद कर देते हैं। **'सद्धीदं सर्वम्' 'चिद्धीदं सर्वम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इत्यादि श्रुतियाँ **परमात्मासे भिन्न और कुछ नहीं है—यह प्रतिपादन करती हैं।**

यह सब कारणत्व आदिका आरोप मुमुक्षुओंके हितार्थ अज्ञान-निवृत्तिके लिये ही किया गया है। इसलिये इन सबका अन्तिम पर्यवसान ज्ञानमें ही है।

परत्व, आन्तरतमत्व आदिका अभिप्राय भी ज्ञानस्वरूप आत्मामें ही पर्यवसित होता है। इन्द्रियोंसे परे पञ्चतन्मात्रा, तन्मात्रासे परे मन, मनसे परे बुद्धि—इस प्रकार एककी अपेक्षा दूसरा आन्तर है। बाह्य-बाह्यका परित्याग करते-करते आन्तर-आन्तरके ज्ञानकी ओर अग्रसर होना ही इसका लक्ष्य है। बुद्धिसे परे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त और अव्यक्तसे परे पुरुष—यही परत्व अथवा आन्तरतमत्वकी विश्रान्ति है, यही पराकाष्ठा और परागति है। इस पुरुषसे परे कुछ भी नहीं है। यह आत्माके एकत्वका एक उज्ज्वल उदाहरण है। उपनिषद्गत लयप्रक्रिया भी शान्त आत्माको ही लयकी अवधि बतलाती है।

बारहवीं बात—अपरिच्छेद-रूप लक्षणके एकरूप होनेके कारण 'ज्ञान', 'आत्मा', 'ब्रह्म' और 'विश्व' आदि शब्द पर्यायवाची हैं और एक ही अर्थके बोधक हैं। यथा—

१—**'प्रज्ञानं ब्रह्म'** प्रज्ञान अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

२—**'अयमात्मा ब्रह्म'** यह आत्मा अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

३—**'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'** यह सम्पूर्ण विश्व अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही है।

४—**'सर्वं यदयमात्मा'** यह सब जो कुछ है, आत्मा ही है।

५—**'अहमेवेदं सर्वम्'** मैं ही यह सब हूँ।

६—**'प्रतिबोधविदितं मतम्'** प्रत्येक ज्ञान ही उसका ज्ञान है।

७—**'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'** सम्पूर्ण प्रज्ञान घन ही है।

८—**'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** विज्ञान और आनन्द ब्रह्म ही है।

गीतामें **'ज्ञानं ज्ञेयम्'**, श्रीमद्भागवतमें **'विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति'**, विष्णुपुराणमें **'ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतत्'** इत्यादि वचनोंसे उपर्युक्त अर्थकी पुष्टि होती है।

इस प्रकार उपनिषद्का प्रतिपाद्य अर्थ **'अहम्'**, **'इदम्'**, **'प्रत्यगात्मा'** एवं **'विश्वम्'** की ब्रह्मरूपता है। अब यह ब्रह्म क्या है, इसको उपनिषद्के मुखसे ही सुन लीजिये—

'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्। अयमात्मा ब्रह्म। सर्वानुभूरित्यनुशासनम्।'

इसका अभिप्राय है कि जो देश, काल, वस्तु-परिच्छेदसे रहित सर्वानुभवस्वरूप अपना आत्मा है वही ब्रह्म है।

'यत् साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि'

—इत्यादि अवान्तर वाक्य एवं महावाक्य दृश्य-द्रष्टा, तुम, मैं, वह आदिके रूपसे प्रतीयमान समस्त पद-पदार्थ एवं पदार्थ-ज्ञानको अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही निरूपण करते हैं। परिच्छेद सामान्याभावोपलक्षित ब्रह्मतत्त्वमें दृश्यता, अनेकता, परिणामिता, अन्यता आदिका कथा-प्रसङ्ग स्वयं ही अनुत्थान-पराहत है। यह तत्त्वका ज्ञान नहीं है, तत्त्वरूप ज्ञान है। इसका वेत्ता ब्रह्मका वेत्ता नहीं, ब्रह्मरूप वेत्ता है।

ज्ञानके इस स्वरूपके निरूपणसे वेद अथवा उपनिषद्की अपौरुषेयताका अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। ज्ञान ज्ञान ही है, वह किसी पुरुषकी अनुभूति, भावना, स्मृति अथवा कल्पना नहीं है। ज्ञान स्वयंप्रकाश, सर्वानुभवस्वरूप, सृष्टि-प्रलय, समाधि-विक्षेप आदि समस्त प्रतीयमान व्यवहारोंका प्रकाशक, अखण्ड, अजन्मा एवं स्वतःप्रमाण है। इसका सम्बन्ध भूत, भविष्य, वर्तमान, देश, वस्तु आदि किसीके साथ नहीं है और सब कुछ यही है। यह ज्ञान है, यह जानना है। कुछ भी जानना यही है, 'कुछ' नहीं जानना है, 'कुछ' भी यही है।

ऐसे ज्ञानका प्रतिपादक, अस्मर्यमाण-कर्तृक, अनादि सम्प्रदायाविच्छेदसे प्राप्त नियतानुपूर्वीक जो ग्रन्थविशेष है उसे भी अपौरुषेय कहते हैं। वह एकार्थक है, एकात्मक है, एक वाक्य है, उसके अवान्तर तात्पर्यमें भले ही भेद जान पड़ते हों परंतु परम तात्पर्यमें कोई भेद नहीं है। वेद-पुरुषका शिरोभाग अर्थात् मस्तिष्क उपनिषद् है। वह शाखा-भेदसे पृथक्-पृथक् प्रतीयमान होनेपर भी एक ही है। ज्ञान अद्वितीय है—यही अपौरुषेयताका अभिप्राय है।

मुक्तिके द्वार

वेदोंके सुअंग प्रतिमूर्ति हैं परमात्माकी, साधना-उपासनाके उत्तम अगार हैं।
भरे हैं वेदान्तके सिद्धान्त भी इन्हींमें सब, पातक-विनाशनको भागीरथी-धार हैं॥
मानवीय त्रयताप हरनेके हेतु तात! विश्वमें ये स्वतः 'रमा' प्रणव-ओंकार हैं।
पठन-मननसे है होता आत्मज्ञान सदा, अखिल उपनिषद् मुक्तिके ही द्वार हैं॥

—लक्ष्मीप्रसाद मिश्री 'रमा'

उपनिषद्का अमर उपदेश

(माननीय वायसराय चक्रवर्ती श्रीराजगोपालाचारी महोदय)

उपनिषद्के सार-तत्त्वको वेदान्त कहते हैं। ज्ञान, भक्ति और अपने सम्पूर्ण कर्मोंमें भगवच्छरणागति-का भाव—यही उपनिषदोंका मथितार्थ है। ज्ञानका अर्थ प्रचुर अध्ययनसे होनेवाला गम्भीर आध्यात्मिक ज्ञान नहीं, अपितु अनुभव तथा गुरुजनोंके उपदेश एवं आचरणपर ध्यान देनेसे प्राप्त होनेवाली सम्यग् दृष्टि है। सत् क्या है और असत् क्या है, महान् क्या है और क्षुद्र क्या है, हमें क्या स्मरण रखना चाहिये और क्या भूल जाना चाहिये—इस बातको जानना आवश्यक है। इसीका नाम ज्ञान है और यह ज्ञान हमारी समस्त क्रियाओंका सूत्रधार होना चाहिये। इससे कर्ममें अनासक्तिका भाव आता है। हम कर्तव्यसे मुँह न मोड़ें, अपितु समस्त प्राप्त कर्म अनासक्त होकर तथा इस बातपर दृष्टि रखते हुए कि, किस बातमें जगत्का हित है और किसमें अहित है—करते रहें। हमारी क्रिया स्वार्थके लिये—अपने लाभके लिये न हो।

भक्ति संकल्पकी दृढ़ता, विनयशीलता तथा श्रद्धाका वह समन्वित रूप है, जिसके द्वारा हमारा कर्म और हमारी उपासना दूसरोंके लिये तथा अपने लिये भी कल्याणकारक एवं सफल होते हैं। भक्ति-शून्य कर्म अहङ्कारका प्रतीक है और भक्तिरहित उपासना दम्भका नामान्तर है।

भगवान्के शरण हुए विना शोक एवं विफलतासे छुटकारा नहीं मिल सकता और न चित्तकी शान्ति ही सम्भव है। आनन्दकी प्राप्ति करानेवाला वेदान्तका यही अन्तिम उपदेश है।

दार्शनिक ज्ञानका मूल स्रोत

(माननीय पं० श्रीगोविन्दवल्लभजी पंत, प्रधानमन्त्री युक्तप्रदेश)

उपनिषद् सनातन दार्शनिक ज्ञानके मूल स्रोत हैं। वे केवल प्रखरतम बुद्धिके ही परिणाम नहीं हैं अपितु प्राचीन ऋषियोंकी अनुभूतिके फल हैं। उपनिषदोंका जनतामें प्रचार करनेका आप जो प्रयत्न कर रहे हैं, उसकी सफलता सब प्रकारसे वाञ्छनीय है।

उपनिषदोंका आध्यात्मिक प्रभाव

(बिहारके गवर्नर माननीय श्री एम्० एस्० अणे महोदय)

पाठकोंको अनुवाद एवं व्याख्यासहित भेंट देनेवाले उपनिषत्सम्बन्धी 'कल्याण'के विशेषाङ्कका समस्त हिंदी पढ़नेवाली जनता स्वागत करेगी। उपनिषद् शान्ति और विश्वप्रेमका जो महान् संदेश देना चाहते हैं, उसे प्रस्तुत अङ्क गरीबोंकी झोंपड़ियोंतक पहुँचा देगा। शोपनहर-जैसे दार्शनिकको भी उपनिषदों-से शान्ति एवं आश्वासन प्राप्त हुआ है। जिनका चित्त अशान्त है, उन्हें चित्तकी सान्त्वनाके लिये उपनिषदोंसे बढ़कर कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं मिल सकता। इनके अध्ययनसे मनुष्यके विचार एवं हृद्गत भाव संयत होते हैं और सामान्यतः उनका मनुष्यपर महान् आध्यात्मिक प्रभाव पड़ता है। अतः आप एवं आपके सहयोगी इस विशेषाङ्कको निकालनेके लिये जो प्रयत्न कर रहे हैं, उसका मैं अत्यन्त आदर करता हूँ। मैं आपकी सर्वांशमें सफलता चाहता हूँ।

गीतोपनिषद्‌की श्रेष्ठता और उसके कारण

(लेखक—माननीय डा० श्रीकैलासनाथजी काटजू, गवर्नर, बंगप्रान्त)

गीताप्रेसके द्वारा प्रकाशित होनेवाले 'उपनिषद्-अङ्क'में बहुतसे विद्वान् एवं गम्भीर चिन्तनामें लगे हुए लोगोंके निबन्ध रहेंगे। ये परम विज्ञ लेखक निश्चय ही इन महान् उपनिषदोंके सिद्धान्तोंकी श्रेष्ठताका विवेचन करेंगे। हिंदुओंके विचारका सर्वोच्च स्तर हमें उपनिषदोंमें प्राप्त होता है। उपनिषद् हमारे उत्कृष्ट भारतीय ज्ञानकी परिणति हैं। उन्होंने सभी देशोंके विद्वान् दार्शनिकोंका आदर एवं सम्मान सहज ही प्राप्त किया है, और गत दो हजार वर्षोंमें उपनिषदोंपर सैकड़ों टीकाएँ लिखी गयी हैं। अतीतकालमें हमारी जातिके जितने भी दार्शनिकों एवं आचार्योंने प्राचीन सिद्धान्तको विशुद्धरूपमें पुनः प्रतिष्ठित करनेका प्रयास किया है, उन सभीने एक या अधिक उपनिषदोंका आश्रय लेकर अपना तथा अपने मतका समर्थन करनेकी चेष्टा की है। उपनिषदोंमें हिंदूधर्मका निचोड़ है; हमारे धर्मकी ऊँची-से-ऊँची और उत्तम-से-उत्तम शिक्षा इनमें है। बहुधा इनकी भाषा सूत्रों-जैसी और इनकी वर्णनशैली गहन है। इसीलिये टीकाओंका लिखा जाना आवश्यक था और इसीलिये उनपर इतनी अधिक टीकाएँ लिखी गयीं।

मेरे-जैसे व्यक्तिको, जो अपनी प्राचीन भाषा संस्कृतसे अनभिज्ञ है और जिसकी रुचि दर्शनशास्त्रकी अपेक्षा इतिहासके अध्ययनकी ओर अधिक रही है, उपनिषद् कभी-कभी गूढ़ एवं दुरूह प्रतीत होते हैं। मेरे लिये उपनिषदोंके सिद्धान्तोंको समझानेकी बात मनमें भी लाना अथवा उनके उच्च विचारोंके औदात्त्यकी प्रशंसा करना एक प्रकारसे धृष्टता ही होगी। यह कार्य ऐसा है, जिसे विश्रुत एवं विज्ञ विद्वान् ही कर सकते हैं। मेरी जीवन-यात्राका बहुत बड़ा भाग बीत चुका है और हमारे उपनिषत्कालीन प्राचीन ऋषियोंने जिन विविध मार्गोंसे एक ही लक्ष्यको प्राप्त किया है, उन सबको बोधगम्य करनेमें शक्तिको व्यय करनेकी अपेक्षा मेरी चेष्टा उस लक्ष्यपर ही अपनी दृष्टिको केन्द्रित करनेकी रही है। भगवद्गीताको सभीने सम्पूर्ण वेदों एवं उपनिषदोंका सार कहकर उसका बखान किया है और मेरी चेष्टा यथाशक्ति गीताके मुख्य उपदेशपर ही अपनी दृष्टिको जमाये रखने एवं उसे अपने जीवन-व्यवहारका आधार माननेकी रही है। मनुष्यके जीवनमें—यदि वह ज्ञान-प्राप्तिका सच्चा मार्ग पकड़े रहे—एक समय ऐसा आता है, जब कि केवल शास्त्र-ज्ञानके अर्जनकी ओरसे उसकी प्रवृत्ति हट जाती है। यह सिद्धान्त मुझे बहुत सत्य जँचा है। विभिन्न मतवादोंसे और कभी-कभी एक ही सिद्धान्तको अलग-अलग भाषामें व्यक्त करनेसे साधारण मनुष्यके चित्तमें संशय और भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। इसलिये सार-वस्तुपर अपनी दृष्टि स्थिर रखना और उसी मुख्य सिद्धान्तके अनुसार अपने जीवनको कसना अधिक निरापद मार्ग है। इसी भावसे उपनिषदोंके साररूपमें मैं अपने करोड़ों हिंदू भाई-बहिनोंके साथ गीताकी पूजा करता हूँ। उन्हींकी भाँति मेरी दृष्टिमें भी गीता अकेली ही हमारी जीवनयात्रामें प्रशस्त पथ दिखलानेके लिये पर्याप्त है।

हमारे राष्ट्रीय इतिहासके प्रारम्भसे ही गीताको इस प्रकार उपनिषदोंके साररूपमें स्वीकार किया गया है। विगत दो सहस्राब्दियोंमें उसपर सचमुच सैकड़ों ही टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। दुर्भाग्यवश उनमेंसे अधिकांश इस समय सर्वथा लुप्त हो गयी हैं। उपलब्ध टीकाओंसे कुछ तो इस सुदीर्घ-कालकी सीमाको पार करके आयी हैं और उनमें इस महान् उपदेशकी जिस पटुता एवं कौशलके साथ विभिन्न प्रकारसे व्याख्या की गयी है, उसे देखकर हमारे मनमें सात्त्विक ईर्ष्या एवं श्रद्धा होती है। प्रत्येक मरजीवेने ज्ञानके इस महान् सागरमें गोता लगाया है और वह एक या एकसे अधिक अमूल्य रत्न निकालकर लाया है। अबतक भगवद्गीता विज्ञ पण्डितोंकी ही सम्पत्ति थी; परंतु पिछले साठ वर्षोंमें इसके चमत्कारपूर्ण प्रचारका विस्तार हुआ है और आज भगवद्गीता प्रत्येक आस्तिक हिंदूकी बहुमूल्य निधि बन गयी है। राजप्रासादसे लेकर कृषककी कुटीरतकमें उसका प्रवेश हो गया है, और करोड़ों हिंदुओंके दैनिक जीवनका यह मूलमन्त्र बन गयी है। यह सर्वश्रेष्ठ उपनिषद् जो प्राच्य जगत्‌के पुरातन ज्ञान-भण्डारकी कुञ्जी है, आज भगवान्‌की कृपासे केवल भारतके ही नहीं, अपितु बाहरके भी अगणित नर-नारियोंके जीवनकी बागडोर बन गयी है।

इस बीसवीं शताब्दीमें विचार-जगत्‌के अंदर जो यह चमत्कार हुआ है, उसका क्या कारण है? छोटे-छोटे अठारह अध्यायोंके इस लघु-कलेवर ग्रन्थमें, जिसकी अवतारणा

युद्धक्षेत्रकी अनोखी रङ्गभूमिमें हुई, ऐसी कौन-सी बात है, जिसे अखिल विश्वके नर-नारी इस संसाररूप पहेलीकी कुञ्जीके रूपमें उत्तरोत्तर अधिक संख्यामें स्वीकार कर रहे हैं ? सर्वसाधारणकी बुद्धि सूक्ष्म विचारोंको ग्रहण नहीं कर सकती । वह केवल मुख्य बातोंको पकड़ती है और उनसे दृढ़तापूर्वक चिपट जाती है । कभी-कभी थोड़े समयके लिये उन्हें लुभावने एवं भ्रामक वाक्योंद्वारा बहकाया जा सकता है। परंतु अन्ततोगत्वा वह सदा सत्य वस्तुओंपर और सम्पूर्ण सत्सिद्धान्तोंके सार-तत्त्वपर ही स्थिर हो जाती है । उपनिषदोंके भी महान् उपनिषद् इस गीतामें ऐसी क्या वस्तु है, जिसे हमारे इस भारतवर्षमें तथा उत्तरोत्तर बढ़ती संख्यामें भारतवर्षके बाहर भी सर्वसाधारणकी बुद्धिने जीवनके तत्त्वरूपमें आग्रहपूर्वक ग्रहण किया है ? मेरा विनीत मत यह है कि साधारण हिंदू जनता, जिसमें मैं भी अन्तर्भूत हूँ, गीतासे दो सिद्धान्तोंको उत्तरोत्तर अधिक संख्यामें ग्रहण कर रही है । पहला सिद्धान्त मृत्युसे अभय हो जाना है । मृत्यु अनिवार्य है; जिसने भी जन्म लिया है उसका अवसान मृत्यु ही है । शरीर नश्वर है परंतु आत्मा अमर है, अतः जीवनके प्रति सम्पूर्ण आसक्ति और मृत्युका सारा भय ऐसी भूल है जिससे सदा बचे रहना चाहिये । एक महान् शिक्षा तो यह है । दूसरी शिक्षा यह है कि एकाकी ध्यान अथवा भक्तिपूर्ण उपासनाके मार्गका अनुसरण करनेसे चित्तकी आन्तरिक शान्ति—वह शान्ति जिसे पाकर मनुष्य सारे मात्रास्पर्शों एवं बाह्य सुख-दुःखोंसे अलिप्त रहता है, अवश्य मिल सकती है; परंतु सर्वश्रेष्ठ मार्ग सर्वभूतहितके लिये निरन्तर निष्कामभावसे कर्ममें लगे रहना है । यहाँ यह कहा जा सकता है कि इस कर्मके मार्गपर चलना कभी-कभी जलमें रहते हुए उससे अलग रहनेके समान कठिन हो जाता है । यह मार्ग सङ्कीर्ण अवश्य है; परंतु साथ ही श्रेष्ठ भी है । यही शिक्षा आज हिंदुओंके मनपर अधिकार कर रही है, जिस शिक्षाके अनुसार मानव-जातिके कल्याणके लिये कर्मफलकी आसक्तिको त्यागकर कर्म करना सर्वोत्तम योग है । मैं इसे जीता-जागता चमत्कार मानता हूँ, क्योंकि हम भारतीयोंको इस कर्मयोगके सिद्धान्तकी नितान्त आवश्यकता है । इस उपदेशको भुला देनेसे ही हमने अपनी स्वाधीनता और स्वतन्त्रता खो दी थी । हिंदुओंकी बुद्धि जन्म-मरणके इस चक्रसे, जो देखनेमें शाश्वत प्रतीत होता है, छूटनेका साधन निरन्तर खोजती रहती है । हमलोग इस चक्रको भेदकर उससे मुक्त होना चाहते हैं, और कुछ काल पूर्वतक सर्वसाधारण हिंदू जनता इस भ्रममें थी कि यह छुटकारा संसारसे अलग हो जानेपर ही सम्भव है । चाहे आप ध्यानयोगका आश्रय लेकर अथवा ईश्वरकी उपासनामें लगकर और उन्हें अपने हृदयके आसनपर बिठाकर अलग हों, आप अलग तो होते ही हैं और इस मुक्तिकी खोजमें संसारकी प्रत्येक वस्तु नगण्य हो जाती है, और इस दृष्टिकोणको ग्रहण करनेमें भय यह है कि देशकी पराधीनता अथवा स्वाधीनताका प्रश्न भी बहुत कुछ गौण हो जा सकता है; परंतु इस समय भगवद्गीताने सर्वसाधारण हिंदूकी बुद्धिको खींचकर सर्वथा एक दूसरे ही नवीन मार्गमें लगा दिया है । ध्येय वही-का-वही है—मुक्तिकी प्राप्ति, जन्म-मृत्युके उस शाश्वत प्रतीत होनेवाले चक्रका भेदन । परंतु आप उस व्यक्तिगत ध्येयको संसारमें बने रहकर अनवरत निष्काम कर्ममें लगे रहकर प्राप्त कर सकते हैं ।

मुझे गीताके अन्य महान् सिद्धान्तोंका विवेचन करनेकी आवश्यकता नहीं है । गौतम बुद्धने पता लगाया कि जीवनकी वासना, जीनेकी कामना ही दुःखका मूल है । 'कामनाओंको जीत लो, और तुम दुःखपर विजय पा लोगे' यह बुद्धका कहना है । उसी महान् सत्यको गीताके दृढतापूर्ण किंतु सूत्रसदृश शब्दोंमें बार-बार कहा गया है । भगवान्का भक्त वही है जो आसक्ति एवं कामनासे मुक्त है और जिसका अहङ्कार सर्वथा नष्ट हो गया है । साथ ही, भगवान् एक और अखण्ड हैं तथा समस्त रूपों एवं आकृतियोंमें प्रकट हैं । इस बातको गीताने उदात्त एवं सुन्दर भाषामें व्यक्त किया है । सच पूछिये तो गीतामें जीवनके एक सर्वाङ्गपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तका समावेश हुआ है; परंतु गीताके उपदेशका मूल मन्त्र है—कर्म और अविराम कर्म । आलस्य एवं दीर्घसूत्रताका पापकी भाँति परित्याग कर देना चाहिये । कर्मयोग ही हमारे सामने आदर्शके रूपमें रक्खा गया है, और मैं फिर कहता हूँ कि कर्मका ही अन्तःकरणकी शुद्धि एवं परमपुरुषार्थकी प्राप्तिके साधनरूपमें विधान किया गया है, उस पुरुषार्थको हम मुक्ति कहें, कल्याण कहें अथवा निर्वाण । गीता न होती तो हिंदुओंकी प्रवृत्ति कर्ममात्रको प्रलोभनका कारण, सांसारिक बन्धनका हेतु और इस प्रकार आध्यात्मिक उन्नतिका बड़ा विघ्न कहकर उससे घृणा करनेकी होती । विश्वके समस्त धर्मग्रन्थोंमें, जिनसे मेरा परिचय है, एकमात्र गीताने ही इस प्रश्नपर यथार्थ दृष्टिसे विचार किया है और हमें बतलाया है

कि कर्म बुरा नहीं है, कर्ममें और कर्मफलमें आसक्ति तथा फलकी कामना ही—जिस फलको प्राप्त करनेके लिये मनुष्यमात्र लालायित रहता है, दोषका कारण है । कर्मको कर्मफलसे अलग करते ही आप अनुभव करेंगे कि कर्म स्वरूपतः व्यक्तिको ही नहीं, अपितु समाजको भी ऊपर उठाता है । कहा जाता है कि सभी भगवत्प्राप्त पुरुष जन्म-मृत्युका उल्लङ्घन करनेके पश्चात् भी, मनुष्यमात्रको संसाररूप इस महान् बन्धनसे मुक्त करनेके लिये स्वेच्छासे जीवनके साथ लगे हुए बड़े-से-बड़े क्लेशोंको सहन करना स्वीकार करते हैं । गीता ही कर्मको आध्यात्मिक उन्नतिका सर्वश्रेष्ठ साधन कहकर उसकी प्रशंसा करती है और मेरा विश्वास है हमारे इस प्रिय भारतवर्षका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। इसका एक अत्यन्त सुदृढ़ प्रमाण यह है कि निष्काम कर्मयोगका यह सिद्धान्त सर्वसाधारण हिंदूकी बुद्धिमें व्यापकरूपसे प्रवेश कर रहा है । जिस किसी परिस्थितिमें हम हों, सम्पूर्ण व्यक्तिगत हेतुओं, यहाँतक कि जीवनतकका विचार छोड़कर अपने कर्तव्यका पालन करना ही चाहिये । यह सिद्धान्त निश्चय ही हमारे लिये सबसे बड़ा रक्षाका साधन प्रमाणित होगा । ध्यान रहे कि यह कर्मयोग संग्राममें जूझनेवाले सैनिकके लिये ही नहीं है अपितु प्रत्येक नर-नारीके लिये, जिस किसी परिस्थितिमें वह हो, जीवनभर साधन करनेका है । निष्कामकर्म हमारे राष्ट्रका प्राण बन जाना चाहिये और जबतक हमारे शरीरमें यह प्राण रहेगा तबतक हमारी मृत्यु नहीं हो सकती ।

उपनिषदोंमें सनातन सत्य

(माननीय पं० श्रीरविशङ्करजी शुक्ल, प्रधानमन्त्री मध्यप्रान्त-बरार)

'कल्याण'की सेवाओंसे प्रत्येक भारतीय कृतार्थ हुआ है। 'कल्याण'के विशेषाङ्क भारतीय साहित्य और विचार-जगत्की एक महत्त्वपूर्ण घटना होते हैं। उपनिषद् हमारे युग-युगोंकी सबसे मूल्यवान् धरोहर हैं। मुझे विश्वास है 'कल्याण'का 'उपनिषद्-अङ्क' प्रत्येक घरमें एक सम्माननीय स्थान प्राप्त करेगा और सनातन सत्यका प्रकाश फैलाकर यथार्थमें कल्याणदायी सिद्ध होगा ।

चित्त ही संसार है

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् । यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम् ॥
चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् । प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते ॥
समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरम् । यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥

(मैत्रेयी० ५—७)

चित्त ही संसार है; अतः प्रयत्नपूर्वक उसको शुद्ध करना चाहिये। जिसका जैसा चित्त होता है, वैसा ही वह बन जाता है। यह सनातन रहस्य है। चित्तके प्रशान्त हो जानेपर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं; और प्रशान्त मनवाला पुरुष जब आत्मामें स्थितिलाभ करता है, तब उसे अक्षय आनन्दकी प्राप्ति होती है। मनुष्यका चित्त जितना इन्द्रियोंके विषयोंमें समासक्त होता है, उतना यदि परब्रह्ममें हो जाय तो बन्धनसे कौन न मुक्त हो जाय।
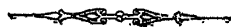
उपनिषद् और कर्तव्याकर्तव्य-विवेक

(लेखक—माननीय बाबू श्रीसम्पूर्णानन्दजी, शिक्षा-सचिव, युक्तप्रान्त)

भारतीय दर्शनके पाश्चात्त्य आलोचकोंने इस बातकी ओर बराबर ध्यान आकृष्ट किया है कि उन विचार-शास्त्रोंमें, जो वेदमूलक हैं, कर्तव्याकर्तव्यकी विवेचना नहीं की गयी है। इस दृष्टिसे भारतीय होते हुए भी बौद्धदर्शनकी परम्परा भिन्न है। उसमें जिस मध्यम मार्गका प्रतिपादन किया गया है, वह यूरोपीय विचारकोंको स्वभावतः अपनी ओर खींचता है। उनको उसमें चरित्रनिर्माण और समाज-संव्यूहनका वह बीजक मिलता है, जिसके सहारे आजके परितप्त जगत्को शान्ति दी जा सकती है। जिस समय बुद्धदेव भारतीय जगत्में अवतरित हुए थे, उन दिनों सद्धर्मका एक प्रकारसे लोप हो गया था। सहस्र-संख्यक निरीह पशुओंके आलभन और तामस तपसे समाजका आत्मा क्षुब्ध हो उठा था। इसकी ही प्रतिक्रियाके स्वरूपमें मध्यम मार्गकी प्रतिष्ठा लोकसम्मत हुई। उस प्रारम्भिक कालमें न तो ऐसे मन्दिर थे, न किन्हीं देव-देवियोंकी पूजा होती थी। इसलिये भी मध्यम मार्गके उपदेशकोंको प्रश्रय मिला। बादमें तो उसका नाममात्र अवशिष्ट रह गया; क्योंकि महायान सम्प्रदायने आध्यात्मिक जगत्में इतने बुद्धों, बोधि-सत्त्वों, देवों और देवियोंको ला बिठाया था कि किसीको मध्यम मार्गपर चलनेका कष्ट करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह गयी।

इसके विपरीत यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक विचारधारामें चरित्रशुद्धि और कृत्याकृत्यविवेकको कभी भी महत्त्वका स्थान नहीं दिया गया। पूर्वमीमांसा कर्मशास्त्र तो है, परंतु उसको भी पाश्चात्त्य ईथिक्स-विषयक ग्रन्थोंकी भाँति कर्तव्यशास्त्र नहीं कह सकते। 'कर्तव्य' और 'धर्म' शब्दोंको समानार्थक मान लेनेपर भी काम नहीं चलता। जैमिनिके अनुसार 'चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः' इसके आगे वह कहते हैं, 'तद्वचनादाम्नायस्यप्रामाण्यम्' इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसकी चोदना, घोषणा, विधि वेदमें की गयी हो, वह धर्म है। इसीमें वेदकी प्रामाणिकता है। यह परिभाषा चाहे व्यवहारदृष्टिसे उपयोगी भी हो परंतु दार्शनिक दृष्टिसे सन्तोषजनक नहीं है। जिन कामोंको वेदने वैध ठहराया है, उनके सम्बन्धमें यह प्रश्न बराबर हो सकता है कि उनको क्यों किया जाय। भले ही वेद अपौरुषेय हों, ईश्वरकृत हों, परंतु ईश्वरकी आज्ञा क्यों मानी जाय? यह हो सकता है कि ईश्वरमें निग्रहानुग्रहकी शक्ति हो; परंतु पुरस्कारकी आशा या दण्डके भयसे किया गया काम वस्तुतः उत्कृष्ट नहीं होता। लोकमें भी ऐसे काम प्रशस्त नहीं माने जाते। कर्मविशेषकी करणीयता या अकरणीयताका निर्णय उसके स्वरूपके आधारपर होना चाहिये न कि कर्ताके अतिरिक्त किसी शक्तिशाली व्यक्तिकी इच्छापर। कणादने इससे अच्छी परिभाषा की है। वे कहते हैं—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'जिस कर्मसे अभ्युदय—इहलोक और परलोकमें कल्याण और मोक्षकी सिद्धि हो, वह धर्म है।' इससे धर्माचरण-के परिणामका परिचय तो मिलता है; परंतु परखनेकी कसौटी नहीं दी गयी। बादके विद्वानोंने तो इतना भी विचार नहीं किया है। जगत्-सम्बन्धी अनेक सूक्ष्म और स्थूल प्रश्नोंकी समीक्षा की गयी; परंतु कर्मके सम्बन्धमें केवल इतना ही कह दिया जाता था कि जो आचरण वेदविहित है, वह करणीय है और जो निषिद्ध है वह अकरणीय है। यदि किसी विद्वान्को किसी ऐसे कृत्यके विषयमें व्यवस्था देनी होती थी जिसका स्पष्ट उल्लेख श्रुतिमें नहीं मिलता तो वह इसी बातका प्रयत्न करता था कि उसको स्वरूप-साम्यके आधारपर वेदमें दी हुई किसी-न-किसी कर्मसूचीमें बिठा दे। इसको स्वतन्त्र विचार नहीं कह सकते।

ऐसी आलोचनाका प्रभाव भारतीयोंपर पड़ना स्वाभाविक है। आलोचनाका उत्तर देनेकी सामग्री भी उसके पास नहीं थी। विदेशी शासनके प्रभावने उनके आत्मविश्वासको लुप्तप्राय कर दिया था। अतः जिस किसी वस्तुकी शिकायत विदेशी करते थे, वह उनकी आँखोंमें भी खटकने लगती थी।

यह बिल्कुल ठीक है कि भारतीय दर्शनमें सत्कर्म-मीमांसाको वह स्थान नहीं दिया गया है जो उसे पश्चिममें प्राप्त है; परंतु इसमें लज्जित होनेकी कोई बात नहीं। यहूदी, ईसाई और इस्लाम-धर्म एकेश्वरवादी ही नहीं, प्रत्युत एकोपास्यवादी हैं। ईश्वर जगत्का स्रष्टा, पालक और संहर्ता है। जगत् उसकी इच्छाकी अभिव्यक्ति, उसकी लीला है। वह सर्वथा 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ है। किसी और-की उपासना उसके लिये असह्य है। उसने मूसासे स्वयं कहा था कि 'मैं तेरा ईश्वर ईर्ष्यालु हूँ।' वह और सब अपराधोंको

क्षमा कर सकता है; परंतु शिर्क और इनकार, उसके सिवा किसी और उपास्यकी सत्ताको मानना या स्वयं उसकी सत्ताको न मानना अक्षम्य अपराध है। यह तो इन धर्मोंका मूलरूप है। ईसाई-धर्मपर उसके शैशव-कालमें ही यूनानी दर्शनका प्रभाव पड़ा। इस समन्वयके कारण उसकी कट्टरता बहुत कुछ कम हो गयी। बाइबिलका वह भाग जिसमें ईसा और उनके शिष्य जॉन तथा सेंट पालके उपदेश अङ्कित हैं, उदार आत्मज्ञानमूलक वाक्योंसे परिपूर्ण हैं। जो ईसाई 'मैं आल्फा और ओमेगा—वर्णमालाका प्रथम और अन्तिम अक्षर हूँ' तथा 'मैं अपने पितासे अभिन्न हूँ'-जैसे वाक्योंके अर्थपर मनन करेगा वह विशिष्टाद्वैत अनुभूतिका निश्चय ही अधिकारी बन सकेगा।

इस्लामपर भी यूनानी दर्शन और ईरान पहुँचनेपर भारतीय दर्शनका प्रभाव पड़ा। इसीके फलस्वरूप सूफी सम्प्रदायका जन्म हुआ। कोई सूफी कहता है 'हमः अज़ोस्त' सब कुछ उससे निकला है। उपनिषद्के शब्दोंमें 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च', जैसे मकड़ी अपने शरीरसे तन्तु निकालती है और फिर अपनेमें खींच लेती है। कोई सूफी इससे भी आगे जाता है। वह 'हमः ओस्त' सब कुछ वही है—कहता है। वह ऐसा मानता है कि 'हम बन्दः हम मौलास्तम'—'मैं सेवक भी हूँ और सेव्य भी हूँ।' परंतु ईसाई और सूफी साधक इस बातको नहीं भूल सकता कि—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

'हे नाथ! सचमुच भेद दूर होनेपर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं। तरङ्ग समुद्रसे निकली है, कभी समुद्र तरङ्गसे नहीं निकलता।' वह उस पदकी बात नहीं करता, जहाँ सेवकके साथ-साथ सेव्यकी सत्ता भी किसी 'तत्' में विलीन हो जाती है।

जिन विचारधाराओंमें प्रतीयमान जगत्का मूल कोई सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर माना जाता है, उनमें स्वभावतः इस बातपर बहुत जोर दिया जाता है कि मनुष्यको ईश्वरकी आज्ञाका आँख बंद करके पालन करना चाहिये। कविके लिये असह्य है कि कोई व्यक्ति उसकी कृतिको विकृत कर दे। अनन्त ज्ञानसम्पन्न ईश्वरने ऐसे नियम बनाये हैं, जिनके अनुसार मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। यदि वह इन नियमोंका पालन नहीं करता, तो वह ईश्वरके काममें बाधा डालता है और दण्डका भागी बनता है। उसमें इतनी शक्ति नहीं है कि इन नियमोंको अपनी बुद्धिके बलसे ढूँढ़ निकाले। यह हो सकता है कि यदि वह प्रपन्न होकर ईश्वरकी शरण जाय तो उसकी बुद्धिमें ईश्वरकी बुद्धिकी छाया अवतरित हो और ईश्वरकी इच्छाकी झलक मिलती रहे; परंतु यह सब तभी हो सकता है, जब कि वह ईश्वरचोदित विधि-निषेधकी परिधिके बाहर जानेका क्षण भरके लिये भी दुःसाहस न करे। सत्कर्मका अर्थ ईश्वराज्ञाका पालनमात्र रह जाता है।

ईसाने कहा है—दूसरोंके साथ वैसा बर्ताव करो, जैसा बर्ताव तुम अपने लिये पसंद करोगे। इस आदेशमें बुद्धिके ऊपर बहुत बड़ा दायित्व आ जाता है, 'दूसरा' शब्दका क्या अर्थ है? मैं अपने साथ कैसा बर्ताव पसंद करता हूँ—का विशद रूप यह हो जाता है कि मुझे अपने साथ कैसा बर्ताव पसंद करना चाहिये। ऐसे प्रश्नका यथार्थ उत्तर देनेके लिये बर्तावकी कोई-न-कोई कसौटी होनी चाहिये। यही कर्तव्यमीमांसाका उद्गम-स्थान है। पाश्चात्त्य दर्शनशास्त्री बाइबिलकी व्याख्या भले ही न करते हों, परंतु उनके ऊपर उस वातावरणका प्रभाव तो पड़ता ही है, जिसमें उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई है। इसके सिवा उनके सामने यह प्रश्न तो बराबर ही रहता था और है कि समाजका सञ्चालन सुचारुरूपसे तभी हो सकता है, जब समाजके सब अङ्ग एक-दूसरेके साथ यथोचित आचरण करें। यथोचित आचरण क्या है, जाननेके लिये उनको सदाचरणकी कसौटी ढूँढ़नी पड़ी है। इस कसौटी-की खोजमें उनको जगत्के स्वरूपको पहचाननेका भी यत्न करना पड़ता है। इसीलिये वह 'The good' के बाद 'The true' 'शिव'के बाद 'सत्यम्'का नाम लेते हैं।

भारतीय दर्शनका स्रोत इससे सर्वदा भिन्न और विपरीत है। भारतीय विचारक ऐसा मानता है कि मनुष्यकी सारी विपत्तियों, सारी कठिनाइयोंका मूल अविद्या—अज्ञान है। जहाँ विद्या है, वहीं शक्ति है। अतः वह ज्ञानकी खोज करता है। ज्ञानका क्षेत्र अनन्त है। जिस किसी पदार्थकी सत्ता है, वह ज्ञानका विषय है। यदि ईश्वरका अस्तित्व है तो वह भी ज्ञेय है। ज्ञेयत्वकी दृष्टिसे छोटे-से-छोटे कीड़े-मकोड़ेका वही स्थान है, जो ईश्वरका है। विभिन्न विद्वानोंने अविद्या और ज्ञाता तथा ज्ञेयके स्वरूपका विभिन्न प्रकारसे वर्णन किया है। इन सबकी पराकाष्ठा शाङ्कर-अद्वैतवाद अर्थात् मायावाद है। इसके अनुसार जगत् मिथ्या है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जगत् असत् है। यदि किसीको पृथ्वीपर पड़ी रस्सी सर्प प्रतीत होती है तो यह प्रतीयमान

सर्प तो मिथ्या है, पर रस्सी सत्य है। जगत्के मिथ्यात्वकी यही अर्थ है। जगत् जगत्-रूपसे असत्य है, ब्रह्मरूपसे सत्य है। ब्रह्म ईश्वर नहीं है। वह चेतन नहीं, चित् है। न उसमें इच्छा है, न सङ्कल्प है। न उसमें कोई परिवर्तन होता है। न उसमें क्रिया करनेकी सम्भावना है। जिस अज्ञानके कारण उसमें जगत्की प्रतीति होती है, उसका दूर हो जाना मोक्ष है।

भारतीय दर्शनमें 'पुनर्जन्म' सिद्धान्तका बहुत बड़ा स्थान है। अपने कर्म-संस्कारोंके कारण प्राणी एकके बाद दूसरे शरीरको धारण करता है। उसके सुख-दुःखका कारण किसी ईश्वरकी इच्छा नहीं, वरं स्वयं उसका कर्म है। जब जीवनका सबसे बड़ा उद्देश्य, परम पुरुषार्थ मोक्ष है तो फिर किसी सर्वशक्तिमान् व्यक्तिकी खुशामद करनेकी, किसी ईश्वरकी आँख बंदकर आज्ञा माननेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। वेदादि ग्रन्थ निश्चय ही विधि-निषेधकी घोषणा करते हैं; परंतु उनके आदेश उसी प्रकारके हैं, जैसे कि बड़ा भाई छोटे भाईको देता है। देवगण और ऋषिगण भी जीव हैं। वे भी नीचेसे ऊपर उठे हैं। जो जीव आज उनकी आज्ञाओंका पालन करता है, वह ज्ञानकी वृद्धिके साथ-साथ उन आज्ञाओंके औचित्यका स्वयं अनुभव करने लगेगा और एक दिन उस पदवीको प्राप्त कर लेगा, जब उसको किसी उपदेष्टाकी आवश्यकता न रह जायगी। वह स्वयं परमर्षि महादेव हो जायेगा। उसके मन और शरीरसे सत्कर्म उसी प्रकार होंगे, जिस प्रकार कि बादलसे अनायास जलकी वृष्टि होती है। इसीलिये इस अवस्थाको धर्ममेघ कहते हैं। जिस परमात्माकी ओर इन शास्त्रोंमें संकेत है, वह अल्लाहसे बहुत भिन्न है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होते हुए भी कर्मके अटल सिद्धान्तको किसी भी अंशमें बदल नहीं सकता। उसका दूसरा नाम मायाशबल ब्रह्म है। अर्थात् यह ब्रह्मका वह रूप है जिसकी अनुभूति मायाके झीने परदेके भीतरसे होती है।

यह स्पष्ट है कि इस विचारशैलीमें प्रधान स्थान ज्ञान—विद्याका ही हो सकता है; क्योंकि अविद्याके दूर होनेसे ही मोक्ष हो सकता है अर्थात् जीव इस प्रतीयमान जगत्को अपने जीवत्वके, जीवेश्वर-भेदके ऊपर उठकर आत्मस्वरूप अर्थात् अखण्ड, अद्वय, सत्, चिन्मात्र, अनिर्वचनीय ब्रह्म-पदमें स्थिर हो सकता है। अविद्याका विनाश विद्यासे हो सकता है, कर्मसे नहीं। कर्म उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट क्यों न हो, वह द्वैतकी सत्ताको स्वीकार करके ही किया जा सकता है और इस दृष्टिसे जीव और मोक्षके बीचकी दीवारको दृढ़ करता है। शृङ्खला भले ही सोनेकी हो, परंतु कोई बुद्धिमान् उससे बँधना पसंद न करेगा। इसीलिये हमारे दर्शनोंमें कर्तव्यशास्त्रको प्राधान्य नहीं दिया जा सकता। हम 'शिवम्'का नाम लेते भी हैं तो 'सत्यम्'के बाद।

मोक्षानुभूति अर्थात् साक्षात्कार समाधिसे होता है और समाधिके लिये अभ्यास एवं वैराग्यकी आवश्यकता है। विक्षिप्त चित्त प्रतिक्षण इधर-उधर भटका फिरता है। स्थिर सत्यका अनुभव नहीं कर सकता। ऐसे अनुभवके लिये चित्तको वासनाविरहित करना होगा। कठोपनिषद्के शब्दोंमें—

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति।' (२। ३। १४)

इसका तात्पर्य यह हुआ कि कर्म किये तो जायँ परंतु निष्काम होकर; वासनाओंकी तृप्तिके लिये नहीं, वरं उनके उपशमके लिये। भारतीय दर्शनमें यही स्थल कर्तव्यशास्त्रका उद्गम-स्थान है। ईशावास्य-उपनिषद् विशेषरूपसे विचारणीय है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ १-२॥

पहले द्वितीय मन्त्रको लीजिये। इस प्रकार कर्म करते हुए वह अर्थात् उनके सुख-दुःख, आशा-भय आदिके संस्कार उसको लिप्त न कर सकें। मनुष्य सौ वर्ष अर्थात् पूर्णायु जीवे। शुक्ल यजुर्वेदके छत्तीसवें अध्यायका चौबीसवाँ मन्त्र इस सौ वर्षकी पूर्ण आयुका रूप बतलाता है—

'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्।'

'हम सौ वर्षतक जीते रहें, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सौ वर्षतक काम करती रहें। (वैदिक वाङ्मयमें चक्षुको सब ज्ञानेन्द्रियोंका और वाणीको सब कर्मेन्द्रियोंका उपलक्षण मानते हैं।) सौ वर्षतक ज्ञानका सञ्चय करते रहें (वेदको श्रुति कहते हैं इसलिये 'हम सुनते रहें' का अर्थ है हमको ज्ञानकी प्राप्ति होती रहे) और हम सौ वर्षतक अदीन रहें।' पहला मन्त्र यह बतलाता है कि किस प्रकारका आचरण करनेसे मनुष्य कर्म-फलसे अलिप्त रह सकता है। समस्त जगत्को ईश्वरसे आच्छादित करना चाहिये। ऐसा मानना चाहिये कि समस्त जगत्में ईश्वर भीतर और बाहर व्याप्त है।

समस्त जगत् उसकी अभिव्यक्ति है। ऐसी अवस्थामें एक वस्तुको पसंद करने और दूसरीको नापसंद करनेका प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इसलिये जो कुछ यदृच्छया प्राप्त हो जाय, उसका त्यागके द्वारा असङ्ग भावसे उपभोग करना चाहिये। त्याग सक्रिय भाव है। हम उसकी व्याख्या आगे चलकर करेंगे। अन्तमें मन्त्र यह कहता है कि किसीके अर्थात् दूसरोंके धनकी लालच मत करो। यह सुननेमें बड़ी स्थूल-सी बात प्रतीत होती है, परंतु इसका वास्तविक आशय यह है कि मनुष्यको चाहिये कि विषयोंकी, जो दूसरों अर्थात् इन्द्रियोंके धन हैं, कामना न करे। यदि ध्यानसे देखा जाय तो सारी भगवद्गीता इन दोनों मन्त्रोंकी व्याख्यामात्र है।

कठोपनिषद्की दूसरी वल्लीने परम पुरुषार्थ और सदाचारके सम्बन्धमें एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है। जिसके बारेमें पाश्चात्त्य विद्वानोंको भी बराबर विचार करते रहना पड़ता है।

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषᳪ सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥

(कठ० १। २। १)

श्रेय प्रेयसे भिन्न है। इन दोनोंके अर्थ अर्थात् विषय भिन्न हैं और ये मानो जीवको अलग-अलग प्रकारसे बाँधते हैं। जो श्रेयको चुनता है, उसका कल्याण होता है; परंतु जो प्रेयको चुनता है, वह पुरुषार्थसे दूर हो जाता है। इसके आगे चलकर कहा गया है—

'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।'

(कठ० १। २। २०)

जो व्यक्ति फलकी कामनाको छोड़कर कर्म करता है, जो शोकका अतिक्रमण कर गया है, वह धातुके प्रसादसे आत्माकी महिमाका अनुभव करता है। यहाँ 'धातु'का तात्पर्य अन्तःकरण और उसके उपकरणों अर्थात् इन्द्रियोंसे है। अन्तःकरणके प्रसादकी प्राप्तिका उपाय पातञ्जलयोग-दर्शनमें इस प्रकार बताया गया है—

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयेषु भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'

चित्तका प्रसाद प्राप्त करनेके लिये सुखके प्रति मैत्रीका अर्थात् संसारमें सुखकी मात्राको बढ़ानेका, दुःखके प्रति करुणाका, अर्थात् संसारमें दुःखकी मात्रा घटानेका, पुण्यके प्रति मुदिताका अर्थात् संसारमें पुण्यकी मात्रा बढ़ानेका और अपुण्यके प्रति उपेक्षाका, अर्थात् दुराचारीसे द्वेष न करते हुए दुराचारको दूर करनेका, सतत अभ्यास करना होगा। अपनी शारीरिक और बौद्धिक विभूतियोंको इस प्रयासमें लगाना ही त्याग है। इस वल्लीका एक और मन्त्र कहता है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(कठ० १। २। २४)

'जो दुश्चरितसे विरत नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, जिसका चित्त समाधिमें स्थिर नहीं है, उसको इस सत् पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता।' केनोपनिषद्में कर्मको विद्याके आधारों—वर्तनोंमें परिगणित किया है।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्। (केन० खण्ड ४ मन्त्र ८)

भारतीय आचार्योंने कर्मका क्षेत्र कभी भी मनुष्यतक सीमित नहीं किया। इस जगत्में ब्रह्मदेवसे लेकर कीटाणुतक जितने भी प्राणी हैं, उन सबसे हमारा सम्बन्ध है, उन सबका हमारे ऊपर ऋण है, उन सबके ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोगसे ही हमारा कल्याण हो रहा है। अतः उन सबके प्रति हमारा कुछ-न-कुछ कर्तव्य है। न तो हम उन सबको पहचानते हैं, जो निरन्तर हमारा उपकार कर रहे हैं और न उन सबकी किसी प्रकारकी सेवा ही कर सकते हैं, परंतु इस बातका अनुभव भी हमारे चरित्रको उठाता है कि हम पदे-पदे दूसरोंके ऋणी हैं।

बृहदारण्यक-उपनिषद्के पहले अध्यायके चौथे ब्राह्मणका सोलहवाँ मन्त्र कहता है—

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाᳪस्या पिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवᳪ हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति।

'कर्ममें लगा हुआ यह आत्मा सब प्राणियोंका लोक अर्थात् आश्रय है। अपने यज्ञ और पूजनसे वह देवोंका लोक होता है। अपने अध्ययन और अनुशिक्षणसे ऋषियोंका, पितरोंके लिये बलि देने और सन्तान छोड़ जानेकी इच्छा करनेसे पितरोंका, मनुष्योंको भोजनादि देनेसे मनुष्योंका,

तृणोदक देनेसे पशुओंका तथा उन कुत्तों, चिड़ियों और चींटी आदि छोटे प्राणियोंका लोक हो जाता है, जो उसके घरमें रहते हैं और उसके सहारे जीते हैं। जिस प्रकार सब लोग अपने शरीरका भला चाहते हैं, इसी प्रकार सब प्राणी उसका भला चाहते हैं, जिसका ज्ञान और कर्म इस प्रकारका होता है।'

जो मनुष्य जगत्में जलसे अलिप्त कमलके पत्तेके समान रहना चाहता है, उसके लिये पाँचवें अध्यायके दूसरे ब्राह्मणमें दी हुई कथा रोचक होनेके साथ ही बहुत ही उपदेशपूर्ण भी है। एक बार प्रजापतिके तीनों प्रकारके पुत्र अर्थात् देव, असुर और मनुष्य उनकी सेवामें उपस्थित हुए। उनकी दीर्घकालीन अर्चासे प्रजापति प्रसन्न हुए। उपासकोंको आकाशमें गम्भीर नादके रूपमें 'द' अक्षर सुन पड़ा। 'द' का अर्थ देवोंके लिये दाम्यत 'दमन करो', मनुष्यके लिये दत्त 'दो' और असुरोंके लिये दयध्वम् 'दया करो' था। देव और असुर सौतेले भाई दोनों ही प्रजापतिकी सन्तान हैं, बलवान् हैं, तप कर सकते हैं अर्थात् विक्षेपको छोड़कर किसी एक काममें अपनी सारी शक्ति लगा सकते हैं और जिस काममें लग जाते हैं, उसमें प्रायः सफलता प्राप्त करके ही छोड़ते हैं। दोनोंमें बराबर संघर्ष होता रहता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि असुरगण देवगणको जीत लेते हैं। परंतु पराशक्ति फिर देवोंको विजय प्रदान करती है। कभी-कभी देवोंको ऐसी विजयपर गर्व भी हो जाता है, परंतु जैसा कि केनोपनिषद्का 'यक्षोपाख्यान' दिखलाता है, यह अभिमान नीचे गिरानेवाला है। ऐसा नम्रतापूर्वक समझ लेनेमें कि उनको पराशक्तिसे ही स्फूर्ति मिलती है, उनका कल्याण है। सप्तशतीमें इस बातकी ओर सङ्केत है कि असुरगण देवीके हाथों मारे तो जाते हैं, परंतु इस प्रक्रियासे पवित्र होकर उनको देवलोककी प्राप्ति होती है। यह तो स्पष्ट ही है कि ऐतिहासिक दृष्टिसे देव और असुर कोई भी रहे हों, परंतु ऐसे दार्शनिक प्रसङ्गोंमें ये दोनों शब्द परार्थमूलक और स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों और वासनाओंके लिये प्रयुक्त होते हैं। परार्थमूलक प्रवृत्तियाँ अच्छी हैं परंतु उनके ऊपर बुद्धिका अङ्कुश रहना चाहिये। अन्यथा भलाईके स्थानमें संसारका अहित हो सकता है। इसीलिये देवोंको 'दाम्यत' का उपदेश दिया गया। अपने स्वार्थकी सिद्धिमें कभी-कभी सैकड़ों और हजारों व्यक्तियोंको घोर हानि पहुँचायी जाती है। उतने दामोंमें जो सुख मिलता है, उसका न मिलना ही अच्छा है। और फिर विषय-सुख तो उस कड़ुवी वस्तुके समान होते हैं, जिसके ऊपर धोखा देनेके लिये चीनी लगी होती है। मुँहपर रखते ही मीठा स्वाद कड़वेपनमें बदल जाता है, इसीलिये असुरोंके प्रति 'दयध्वम्' कहा गया है। प्रवृत्त होनेके पहले यह सोच लो कि तुम्हारे द्वारा कर्ता तथा दूसरोंका कितना बड़ा अनिष्ट होगा। मनुष्यके लिये तो 'दत्त' से अच्छा उपदेश हो ही क्या सकता है। तुम्हारा जो कुछ है, सब लोक-संग्रहमें—परार्थ-सेवनमें अर्पित कर दो।

देव-विजेता असुर देवीके हाथसे मारे जाकर देवलोकको प्राप्त हुए। इसका तात्पर्य यह है कि जो प्रवृत्तियाँ मनुष्यको नीचे गिराती हैं, यदि उनका दमन किया जाय तो वही पवित्र होकर मनुष्यको पावन बननेमें सहायता देती हैं। कामवासना स्वतः बुरी चीज हो सकती है; परंतु उन्नमित काम कविकी लेखनीमें चमत्कार ला देता है और मीरा-जैसे भक्त और गिरधरनागरके बीचमें सम्बन्धसूत्र बनता है। इसीलिये शृङ्गारको 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा जाता है। इसी बातको सामने रखकर बार-बार यह उपदेश दिया जाता है कि 'यज्ञभावसे कर्म करना चाहिये।' यज्ञमें बलिपशुमें देवता अवतरित होती है और बलिकर्मके बाद उसकी शक्ति यजमानमें प्रवेश कर जाती है। लोकसंग्रह-भावसे, ईशावास्य-उपनिषद्के शब्दोंमें ईशसे आच्छादित करके कर्म करनेसे, अपनी कुप्रवृत्तियोंका संहार हो जाता है और जो शक्ति उनको तृप्त करनेमें लगती थी, वह जीवको ऊपर उठानेमें लग जाती है। जो अन्तःकरण इन्द्रियोंके पीछे बहिर्मुख दौड़ता था, वही अन्तर्मुख होकर आत्मसाक्षात्कारका साधन बन जाता है।

उपनिषदोंने सत्कर्मोंकी सूची देनेका प्रयत्न नहीं किया है, फिर भी उन्होंने उन एक-दो बातोंपर बारंबार जोर दिया है, जिनको हम सदाचारका मूल या प्रधान अङ्ग कह सकते हैं। 'सत्य' और 'ब्रह्मचर्य' की प्रशंसामें सैकड़ों वाक्य मिलते हैं। छान्दोग्य-उपनिषद्के शब्दोंमें **'यद् यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्'** जिसको यज्ञ कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद्में ऋषि सत्यकी इस प्रकार महिमा गाता है—

> **सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा**
> **सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।**
> **अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो**
> **यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥**
> **सत्यमेव जयति नानृतं**
> **सत्येन पन्था विततो देवयानः।**
> **येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा**
> **यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥**
> (३।१।५-६)

'इस शुद्ध ज्योतिर्मय आत्माको, जिसको क्षीणदोष यति-लोग अपने भीतर देखते हैं, सत्य, तप, ज्ञान और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। सत्यकी ही विजय होती है, झूठकी नहीं। वह देवयान-मार्ग, जिससे आप्तकाम ऋषिगण सत्यके उस परम निधानपर पहुँचते हैं, सत्यके द्वारा ही खुलता है।' बार-बार यह कहा गया है—**'सत्यप्रिया हि देवाः'** देवोंको सत्य ही प्रिय है। किसी भी कर्मकी सिद्धि इस बात-पर निर्भर करती है कि उसके करनेमें कितनी सचाईसे काम लिया जाता है। सचाईके अभावमें अच्छा-से-अच्छा काम तामस-कर्म हो जाता है। इसीलिये ऋषियोंका आदेश था कि यज्ञात्मक कामोंके आरम्भमें यह सङ्कल्प किया जाय। **'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि'** 'यह मैं झूठको छोड़कर सत्यको ग्रहण करता हूँ।'

इस प्रकारके वाक्योंके अर्थपर मनन करनेसे यह बात समझमें आ जाती है कि भारतीय दर्शनमें कर्मका क्या स्थान है और किस प्रकारके आचरणको सदाचरण कहा जा सकता है; परंतु अभीतक मैंने स्पष्ट-रूपसे यह नहीं बतलाया कि भारतीय विचारधाराके अनुसार सत्कर्मकी कसौटी क्या हो सकती है। वह कौन-सा लक्षण होना चाहिये, जिसके अभावमें किसी कर्म-विशेषको सत्कर्म नहीं कहा जा सकता। अज्ञानके कारण आत्मा अपने स्वरूपको भुलाकर जीव बन रहा है। जिस प्रकार पानीमें गिरे हुए व्यक्तिको किनारेपर पहुँचनेके लिये पानीका उपयोग करना पड़ता है, उसी प्रकार अज्ञानसे छुटकारा पानेके लिये इस अज्ञानमूलक जगत्से काम लेना पड़ता है। कर्मसे तो नितान्त छुटकारा नहीं मिल सकता, परंतु इस प्रकार कर्म करना श्रेयस्कर होगा कि अज्ञानका बन्धन क्षीण हो। जबतक अज्ञान है, तबतक नानात्वकी प्रतीति होती रहेगी। उपनिषद् पुकार-पुकारकर कहते हैं—

'नेह नानास्ति किञ्चन, द्वितीयाद्वै भयं भवति'

'यहाँ जरा भी नानात्व नहीं है। द्वैतसे निश्चय ही भय होता है।' परंतु केवल वाक्योंकी आवृत्ति करने या तर्क करनेसे अखण्ड एकरस अद्वय ब्रह्म-सत्ताकी अनुभूति नहीं हो सकती। उसके लिये चित्तका समाहित होना अनिवार्यतया आवश्यक है। परंतु थोड़ी देरतक पद्मादि आसन लगाकर बैठ जाने और प्राणायाम-मुद्रा आदिका अभ्यास करनेसे ही समाधिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिये तो जाग्रत् अवस्थामें भी प्रयत्नशील रहना चाहिये। दूसरे प्राणियोंसे अभेद स्थापित करना ही इस दिशामें यथार्थ प्रयत्न है। जिस हदतक कोई मनुष्य दूसरेके दुःख-सुखको अपना दुःख-सुख बना सकता है—उसके साथ सह-अनुभूति प्राप्त कर सकता है, उस हदतक वह अज्ञानकी निवृत्तिके पथपर अग्रसर होता है। माताको अपनी सन्तानके साथ और दम्पतिको एक दूसरेके साथ भी ऐसी सह-अनुभूति, ऐसी अभेद-भावना हो सकती है, परंतु इस अभेद-भावनाके साथ एक प्रबल भेद-भावना भी लगी रहती है। जितना ही एकके साथ अभेद होता है, उतना ही दूसरोंके साथ भेद होता है। इसलिये इस भावनासे प्रेरित होकर जो कर्म किये जाते हैं, वे अज्ञानको दूर करनेमें सहायक नहीं हो सकते। परंतु जिस समय कोई व्यक्ति किसी डूबतेको या आगमें जलते हुएको बचानेके लिये कूद पड़ता है, उस समय उसको उसके साथ तादात्म्यका अनुभव तो होता है; परंतु किसी औरके साथ भेदका अनुभव नहीं होता। उस क्षणमें उसके लिये भेदका अभाव हो जाता है और उसको उस आनन्द-की झलक मिलती है, जिसको योगी समाधिकी अवस्थामें प्राप्त करता है, समाधिका अभ्यास ऐसे कामोंकी ओर प्रवृत्ति होने-की प्रेरणा देता है और ऐसे कामोंमें लगना समाधिके लिये अधिकार प्रदान करता है। इसका फलितार्थ यह निकला कि जो काम अभेद-भावनाकी ओर ले जाता है, वह सत्कर्म है, कर्तव्य है, करणीय है। जो काम भेद-भावनापर अवलम्बित है और भेद-भावनाको पुष्ट करता है, वह अकरणीय है, दुष्कर्म है। पाश्चात्त्य विद्वानोंने सत्कर्मके जितने भी लक्षण बताये हैं, वे सब इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

वेदको प्रमाण माननेवाले भारतीय दर्शनशास्त्रोंने उपनिषदोंको ही अपना आधार माना है। इसीलिये मैंने यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि यद्यपि भारतीय दर्शनमें कर्मको ज्ञानकी अपेक्षा गौण स्थान ही दिया जा सकता है; परंतु उपनिषदोंमें वे सिद्धान्त स्पष्ट रूपसे दिये हुए हैं, जिनके आधारपर कोई भी विचारशील मनुष्य अपने लिये कर्तव्यका निश्चय कर सकता है। इस पथपर चलनेवाला अपने लिये तो निःश्रेयसका द्वार खोल ही लेगा, उसके तपःपूत व्यक्तित्वके प्रकाशमें मानव-समाज भी अभ्युदयके पथपर आरूढ़ हो सकेगा।

उपनिषद्की दिव्य शिक्षा

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

मानव-चेतना स्वभावतः इन्द्रिय और मनके अनुगत होकर विश्व-जगत्में परिचय प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करती है। इससे मानव-चेतनाके क्रमशः विकाशशील ज्ञानके सामने यह विश्व-जगत् देशकालाधीन शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-विशिष्ट नित्य परिवर्तनशील असंख्य खण्ड पदार्थोंके समष्टिरूपमें ही प्रतीत होता है। किंतु मानव-चेतनाकी अन्तःप्रवृत्तिमें, जाने क्या एक प्रेरणा है, जिसके कारण विश्व-जगत्के इस बाहरी परिचयसे वह तृप्त नहीं हो सकती। इन्द्रियसमूह और मन इस जगत्का जो परिचय मानव-चैतन्यके सामने उपस्थित करते हैं, वह मानो उसका सच्चा परिचय नहीं है, उसके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान नहीं है—इस प्रकारकी एक अनुभूति मानव-चेतनाको सदा-सर्वदा इस जगत्का और भी निगूढ़, निगूढ़तर और निगूढ़तम ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उद्दीप्त करती रहती है। जगत्के इस बाह्य खण्ड-परिचयपर निर्भर करके मनुष्य कर्म और भोगमें प्रवृत्त होता है। पर इस प्रकारके कर्म और भोगसे उसे शान्ति नहीं मिलती। इसमें उसकी अबाध स्वाधीनताकी अनुभूति नहीं है, पूर्णताका आस्वादन नहीं है। इस प्रकारके ज्ञान, कर्म और भोगमें वह अपनेको पूर्णरूपसे उपलब्ध नहीं कर पाता; उसकी चेतनामें सभी अवस्थाओंमें अभावबोध, दुःखबोध और अशान्तिकी ज्वाला बनी रहती है। इस अभाव, दुःख और अशान्तिको दूर करनेके लिये वह उच्चतर ज्ञानभूमि, कर्मभूमि और भोगभूमिका अनुसन्धान करता है, विश्व-जगत्के साथ निविडतर परिचयके लिये आग्रहशील होता है।

इन्द्रिय और मनका अनुवर्तन करके मानव-चैतन्य जितना ही अग्रसर होता है, उतना ही उसे अनुभव होता है कि इस मार्गमें ज्ञानकी, कर्मकी और आनन्दकी पूर्णता नहीं है। परंतु इसी प्रयत्नके द्वारा चेतनाका क्रम-विकास होता रहता है। मानव-चेतना जब पूर्णरूपसे विकसित हो जाती है, सम्यक्रूपसे जाग्रत् और प्रबुद्ध हो जाती है; तब वह अपने ज्ञान, कर्म और भोगको इन्द्रिय और मनकी अधीनतासे मुक्त करनेके लिये प्रयास करती है, अपने स्वरूपभूत चित्-ज्योतिके प्रकाशसे इस विश्व-जगत्के यथार्थ स्वरूपका साक्षात् परिचय प्राप्त करनेमें अपनेको संलग्न कर देती है। इन्द्रिय-मनोनिरपेक्ष सम्यक् प्रकारसे सम्बुद्ध मानव-चेतनाके अपरोक्ष ज्ञानमें विश्व-जगत्का जो स्वरूप प्रत्यक्ष होता है, वही इस विश्व-जगत्का पारमार्थिक स्वरूप है। ऐसा उसे अनुभव होता है। इस ज्ञानमें मानव-चेतना और विश्व-जगत्के सारे भेद, व्यवधान और विसंवाद मिट जाते हैं। मानव-चेतनाकी अपूर्णताकी अनुभूति भी मिट जाती है, अपने साथ जगत्की एकात्मताका अनुभव करके वह अपने खण्ड, अपूर्ण और निरानन्दभावसे मुक्त हो जाती है एवं कर्ममें स्वाधीन तथा सम्भोगमें आनन्दमय बन जाती है।

यह जो इन्द्रिय-मनकी अधीनतासे मुक्त सम्यक्-प्रबुद्ध मानव-चेतना है, इसीका नाम 'ऋषिचेतना' है। इस ऋषिचेतनाके द्वारा विश्व-जगत्के अन्तर्निहित तत्त्वके सम्बन्धमें जो अपरोक्ष अनुभूति होती है, उसीका नाम उपनिषद्-ज्ञान है। ऋषि-चेतनामें जो सत्य प्रकाशित होता है, वही सम्पूर्ण जीव और जगत्का मूल-तत्त्व और यथार्थ स्वरूप है। वह ऋषिचेतना समस्त जीवों (चेतन) का और जडका अबाध मिलनक्षेत्र है। उस ऋषिचेतनाकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यके ज्ञानकी, स्वाधीनताकी, आनन्दकी और कल्याणकी पूर्णता हो जाती है। मनुष्यकी चेतना उस समय देश-कालकी सीमाका अतिक्रमण कर, कार्य-कारण-शृङ्खलाके बन्धनसे छूटकर, राग-द्वेष, भय-भावनासे ऊपर उठकर, सब प्रकारके आवरण और विक्षेपसे मुक्ति पाकर विश्व-जगत्के यथार्थ स्वरूपको देखती है और अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रतिष्ठित होती है। ऋषिगण जब इस अनुभूतिकी बातें बताते हैं, उस समय इन्द्रिय-मनकी शृङ्खलामें बँधे हुए ज्ञानपिपासु व्यक्ति बड़े आश्चर्यसे उन्हें सुनते हैं, परंतु वे सम्यक्रूपसे उनकी धारणा नहीं कर सकते। इन बातोंको वे अस्पष्ट भावसे ज्ञानके आदर्शरूपमें अनुभव करते हैं और इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये इन्द्रिय-मनकी अधीनतासे छूटनेकी साधना करते हैं।

प्राचीन भारतमें जिन असाधारण महामानव पुरुषोंने ऋषिचेतना प्राप्त करके अतीन्द्रिय और अतिमानस ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जीव-जगत्के पारमार्थिक स्वरूपको प्रत्यक्ष देखा था; जिनकी सम्यक्-सम्बुद्ध चेतनाके सामने परम सत्यने अनावृत और अविक्षिप्त रूपसे अपने स्वरूपको प्रकट कर दिया था; उनकी दिव्य वाणियाँ ही संकलित और संग्रथित होकर उपनिषद्-ग्रन्थके रूपमें मानव-समाजमें प्रचारित हैं। गुरु-शिष्य-परम्पराके क्रमसे उन वाणियोंका तत्त्व-ज्ञानके पिपासु साधक-

सम्प्रदायमें प्रसार हुआ है। इन्हीं सब वाणियोंका आश्रय लेकर ज्ञान-पिपासु, आनन्द-पिपासु और मुक्ति-पिपासु अगणित साधकोंने अपनी स्वाभाविक ज्ञानशक्ति, कर्मशक्ति और चित्तवृत्तियोंका भलीभाँति नियन्त्रण करके अपनी चेतनाको इन्द्रिय-मनकी अधीनतासे मुक्त किया है। और उस मुक्त चेतनाके द्वारा उन सब दिव्य वाणियोंके अनुसार अपरोक्ष अनुभव प्राप्त करके वे कृतकृत्य हुए हैं। उन साधकोंके जीवनकी कृतार्थताको देखकर समाजके सभी श्रेणीके नर-नारियोंको उन वाणियोंकी सत्यताके सम्बन्धमें संदेहरहित दृढ़ विश्वास हो गया। दार्शनिक आचार्योंने इन्द्रिय-मनकी अधीनता-शृङ्खलामें बँधे हुए प्रत्यक्षादि सब प्रकारके लौकिक प्रमाणों और तदनुगत समस्त युक्ति-तर्कोंको परम तत्त्वके प्रकाशनमें असमर्थ पाकर, जीव-जगत्को पारमार्थिक परिचय प्रदान करनेके लिये उपनिषद्-वाणीको ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना, और इन्हीं सब वाणियोंका तात्पर्य ढूँढ़ निकालनेमें उन्होंने प्रधानतया अपनी मनीषा और विचारशक्तिका बड़ी निपुणताके साथ प्रयोग किया। सम्बुद्ध चेतन तत्त्वदर्शी ऋषियोंकी अपरोक्षानुभूतिसे उत्पन्न दिव्य वाणियोंको श्रद्धापूर्वक सुनकर ही जीव-जगत्के यथार्थ स्वरूपका सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये मनुष्यकी स्वाभाविक ज्ञानशक्तिको नियोजित करना पड़ेगा—इसी हेतुसे इसको 'श्रुतिप्रमाण' कहा जाता है। भारतके सर्वश्रेष्ठ मनीषियोंके द्वारा रचित और प्रचारित जितने भी स्मृति, पुराण, दर्शन, तन्त्र और महाकाव्य आदि हैं, सभी इस 'श्रुति'के द्वारा ही अनुप्राणित हैं और वे समाजके सभी स्तरोंमें उस 'श्रुति' की भावधाराको ही वहन कर रहे हैं।

कहना नहीं होगा कि इस प्रकार ऋषिचेतनाकी प्राप्ति और अतीन्द्रिय एवं अतिमानस सत्यका अपरोक्ष साक्षात्कार केवल प्राचीन भारतके ही कुछ अनन्यसाधारण महापुरुषोंको हुआ था, ऐसी बात नहीं है। सभी युगों और सभी देशोंमें सभी प्रकारकी पारिपार्श्विक अवस्थामें अनन्य सत्यपिपासु पुरुषोंके द्वारा सत्यका अपरोक्ष साक्षात्कार सम्भव है। भारतमें युग-युगान्तरसे ऐसे असंख्य ऋषियोंका आविर्भाव होता रहा है। उन सभीने अपनी-अपनी सत्यानुभूतिके द्वारा उपनिषद्-वाणियोंकी यथार्थताका समर्थन किया है और उसे विभिन्न भावोंसे विभिन्न भाषामें मानव-समाजमें प्रचारित किया है। सभी देशोंके अपरोक्षानुभूति-सम्पन्न महापुरुषोंने ऐसा ही किया है। भारतीय संस्कृतिकी यह विशेषता है कि इस विशाल देशकी बहुमुखी साधना और सभ्यता उस ऋषिचेतना-लब्ध तत्त्वानुभूतिके ऊपर प्रतिष्ठित है। भारतका साहित्य और शिल्प, विज्ञान और दर्शन, कुल-धर्म, जाति-धर्म और समाज-धर्म, राष्ट्र-नीति, अर्थ-नीति, स्वास्थ्य-नीति और व्यवहार-नीति—इन सभीका निर्माण और प्रसार उपनिषद्-ज्ञानको मानव-जीवनके परम आदर्शरूपमें मानकर ही हुआ है। उपनिषद् ही भारतीय संस्कृतिके प्राणस्वरूप हैं। इसीसे भारतीय संस्कृतिको 'आर्य-संस्कृति' कहा जाता है। समस्त वेदोंका अर्थात् समस्त ज्ञानका जो चरम सत्य है, वही उपनिषदोंमें समुज्ज्वल रूपमें प्रकट है; इसीसे उपनिषद्का प्रसिद्ध नाम वेदान्त (वेद या ज्ञानका अन्त अथवा शिरोभाग) है, एवं वेदान्त ही सब प्रकारकी भारतीय साधनाओंकी भित्ति है। इसीसे जगत्में भारतीय वेदान्ती-जातिके नामसे विख्यात हैं।

राग-द्वेषशून्य, हिंसा-घृणा-भय-विरहित, देहेन्द्रिय-मनकी अधीनतासे मुक्त, जात्यभिमान-सम्प्रदायाभिमान प्रभृति सङ्कीर्णताओंसे अतीत, शुद्धहृदय, शुद्धबुद्धि, समाहितचित्त ऋषियोंकी भ्रम-प्रमादादिशून्य दिव्य सत्यानुभूतिको केन्द्र बनाकर ही भारतीय संस्कृति और सभ्यता युग-युगान्तरोंमें निर्मित हुई है। यही भारतीय संस्कृति और सभ्यताका प्रधान गौरव है। सहस्रों वर्षोंसे लगातार यह औपनिषद ज्ञान भारतीय साधनाक्षेत्रमें समस्त नर-नारियोंके अशेष विचित्रतामय जीवनमें सब प्रकारके जागतिक ज्ञान, लौकिक कर्म और हृदयगत भावप्रवाहको आश्चर्यजनक रूपसे अनुप्राणित करता आ रहा है। सभीपर इसका अक्षुण्ण शासन है। यहाँतक कि, इस देशके राग-द्वेषादियुक्त देहेन्द्रिय-मन-बुद्धि-हृदयपर भी औपनिषद आदर्शका असीम प्रभाव है। भारतीय जीवनके सभी विभागोंमें उपनिषद् चिरञ्जीवी है। जान या अनजानमें प्रत्येक नर-नारीके जीवनपर इसका अचिन्त्य प्रभाव है। भारतका सम्पूर्ण वातावरण ही उपनिषद्के ज्ञानादर्शके द्वारा संजीवित है।

सभी युगोंकी सम्यक् प्रबुद्ध ऋषि-चेतनामें विश्व-जगत्का यथार्थ स्वरूप प्रतिभात होता है और इन कतिपय उपनिषद्-ग्रन्थोंमें वाणीरूपमें वही स्वरूप प्रकट हुआ है, इस सम्बन्धमें किञ्चित् आभास इस लेखके द्वारा मिल सकता है।

प्रथमतः हमारे इन्द्रिय-मनके द्वारा उपलब्ध ज्ञानने इस विश्व-जगत्को अनन्त विषमताओंसे पूर्ण देख पाया है। उसने समझा है कि विभिन्न स्वभावयुक्त असंख्य पदार्थोंके संघर्ष और समन्वयसे ही इस जगत्का संगठन हुआ है; इसमें

इतने भेद हैं, इतने द्वन्द्व हैं, इतने कार्यकारण-सम्बन्ध और इतनी नियम-शृङ्खलाएँ हैं कि जिनका कहीं भी कोई अन्त नहीं मिलता; परंतु ऋषियोंकी अतीन्द्रिय और अतिमानस विशुद्ध चेतनाको दिखायी देता है कि यह विश्व-जगत् मूलतः या तत्त्वतः एक है, एक ही अखण्ड सत्ता विभिन्न सत्ताओंके रूपमें इन्द्रिय-मनके सम्मुख प्रतीत होती है—इन्द्रिय-मनोगोचर जितने भी विभिन्न पदार्थ हैं, सब एक अद्वितीय नित्य सत्य निर्विकार तत्त्वके ही विभिन्न रूपों और विभिन्न नामोंमें आत्मप्रकाश हैं, एकहीसे सबका प्राकट्य है, एकके ही आश्रयसे सबकी स्थिति है, एककी सत्तासे ही सब नियन्त्रित हैं और परिणाममें सब एकमें ही विलीन हो जाते हैं, एकके अतिरिक्त दूसरा कोई स्वतन्त्र पदार्थ है ही नहीं। इस प्रकार वे स्थावर-जङ्गम सभी पदार्थोंमें नित्य सत्य एक अद्वितीय वस्तु-तत्त्वको देखते हैं। उनकी चेतनासे भेदज्ञान सर्वथा दूर हो जाता है। एक ही बहुका—अनन्तका यथार्थ स्वरूप है—यह उपनिषद्का प्रथम सत्य है।

द्वितीयतः हमारे ज्ञानमें जीव और जडका—चेतन और अचेतनका भेद है। हम कभी इसका अतिक्रम नहीं कर सकते। पर ऋषियोंका अनुभव है कि यह विश्व-जगत् तत्त्वतः चैतन्यमय है। जिस एक अद्वितीय सद्वस्तुकी सत्तासे विश्व-जगत् सत्तावान् है, वही सद्वस्तु चित्-स्वरूप है—स्वयंप्रकाश है। दूसरेके प्रकाशसे जिसका प्रकाश हो, दूसरेके सम्बन्धसे ही जिसका परिचय हो और दूसरेके ज्ञानमें प्रतिभात होनेसे ही जिसकी सत्ता हो, उसीको 'जड' कहते हैं। चेतनके आश्रय और सत्तासे ही जडका प्रकाश और सत्ता है। समस्त विश्व-जगत्के मूलमें जो एक वस्तु है, जिसका दूसरा कोई न आश्रय है और न प्रकाशक है, अपनी सत्तासे ही जिसकी सत्ता है, अपने प्रकाशसे ही जिसका प्रकाश है, जो अपनेको ही अपना अनन्त विभिन्नतामय विश्व-जगत्के रूपमें परिचय दे रहा है,—वह अद्वितीय तत्त्व निश्चय ही स्वप्रकाश चैतन्यमय है। ऋषि-चेतना सम्पूर्ण जडमें उस एक चैतन्यस्वरूपको ही देखती है। ऋषिगण, एक अद्वितीय नित्य चैतन्यमय सद्वस्तुको ही इन्द्रिय-मनके सम्मुख विभिन्न जीवों और जड-पदार्थोंके रूपमें—चेतनाचेतन अनन्त विचित्र वस्तुओंके रूपमें लीला करते देखते हैं। चेतन ही जडका यथार्थ स्वरूप है, यही उपनिषद्का द्वितीय सत्य है।

तृतीयतः हमारे साधारण ज्ञानमें सभी विषय ससीम, सादि (आदिवान्) और सान्त (अन्तवान्) हैं। इन्द्रिय-मनकी अधीनताके पाशमें बँधी हुई हमारी चेतनाके सम्मुख असीम, अनादि और अनन्त कभी वास्तविक सत्यके रूपमें प्रतीत होता ही नहीं। अपनी ज्ञानलब्ध ससीमता, सादित्व और सान्तत्वका निषेध करके हम असीमत्व, अनादित्व और अनन्तत्वकी एक अभावात्मक कल्पना किया करते हैं। इस कल्पित असीम, अनादि और अनन्तमें और वास्तविक ससीम, सादि और सान्तमें एक भारी भेद है, इस कल्पनाका भी हम अतिक्रमण नहीं कर पाते। अगणित देशकाल-परिच्छिन्न ससीम, सादि और सान्त पदार्थोंकी समष्टि-कल्पना करनेपर हमारे लिये देश-कालातीत असीम अनादि और अनन्तकी धारणा करना सम्भव नहीं होता। ऋषि-चेतनाकी अतीन्द्रिय अतिमानस अनुभूतिमें साधारण ज्ञानकी यह असमर्थता नहीं रहती। इस चेतनामें देशकालातीत असीम अनादि अनन्त एक अद्वितीय अपरिणामी तत्त्व समुज्ज्वल-रूपसे प्रकट रहता है—अभावरूपमें नहीं, भावरूपमें—ज्ञानगोचर वास्तवको निषेध करके नहीं, वास्तवसमूहको कल्पनासे समष्टिबद्ध करके भी नहीं; सर्वव्यापी, सबमें अनुस्यूत, सभी भावोंमें लीलायमान, सर्वान्तरात्मा एक अखण्ड स्वप्रकाश वास्तवतम सत्यके रूपमें। असीम ही समस्त ससीमका पारमार्थिक तत्त्व है, अनादि-अनन्त ही सम्पूर्ण सादि-सान्तका तात्त्विक स्वरूप है, देश-कालातीत अपरिणामी निर्विकार एक अखण्ड चैतन्यमय परमात्मा ही देश-कालाधीन परिणामी उत्पत्ति-स्थिति-विनाशशील प्रत्येक खण्डपदार्थ-मात्रके अंदर विभिन्न विचित्र रूपोंमें लीला कर रहा है—इस अपरोक्ष-अनुभूति—प्रत्यक्ष दर्शनसे ऋषि-चेतना भरपूर हो जाती है। उन्हें ससीममात्रमें एक असीम, सादिमात्रमें एक अनादि, सान्तमात्रमें एक अनन्त, परिणाम और विकार-मात्रमें एक नित्य सत्य, अपूर्णमात्रमें एक नित्य पूर्ण सर्वत्र सदा चमकता हुआ दिखलायी पड़ता है। ससीम और असीमका भेद, सादि और अनादिका भेद, सान्त और अनन्तका भेद, इस दिव्यज्ञानमें—औपनिषद ज्ञानमें—मानो मिथ्या हो जाता है,—वह ज्ञानके निम्नस्तरमें—इन्द्रिय और मनके स्तरमें ही पड़ा रह जाता है। देशकालातीत और देश-कालाधीन असीम अनन्त एवं ससीम सान्त—नित्य और अनित्यका यह पारमार्थिक ऐक्य-दर्शन ही उपनिषद्का तृतीय सत्य है।

चतुर्थतः हमारा इन्द्रिय-मनोगोचर साधारण ज्ञान आत्मा और अनात्माके भेदको—मैं और अन्यके भेदको—व्यक्ति

और विश्वके भेदको—ज्ञाता और भोक्ता एवं ज्ञेय और भोग्य जगत्के भेदको तथा विभिन्न व्यक्तियोंके पारस्परिक भेदको कभी अतिक्रमण नहीं करता; परंतु ऋषि-चेतना अपने आत्मामें और अन्य समस्त मनुष्य तथा प्राणीमात्रके आत्मामें एवं समग्र विश्व-जगत्के आत्मामें पारमार्थिक एकत्वकी उपलब्धि करती है। वह अपनेको सभी मनुष्य, सभी प्राणी और समस्त विश्व-प्रपञ्चमें; और सब मनुष्यों, सब प्राणियों और सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्चको अपनेमें देखती है। एक आत्मा ही विभिन्न स्थावर-जङ्गम शरीरोंमें विभिन्न नाम-रूपोंमें, विभिन्न आकृति-प्रकृतिमें प्रतिभात हो रहा है। प्रबुद्ध ऋषि-चेतना इस सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव करती है। अतएव इस चेतनामें अभिमान और ममता, राग और द्वेष, शत्रु-मित्रका भेदबोध, अपने-परायेका भेदभाव, हिंसा-घृणा-भय और विषय-विशेषके प्रति कामना प्रभृति कुछ भी नहीं रह सकते। इस अनुभूतिके फलस्वरूप सबके प्रति अहैतुक प्रेम और सबके प्रति आत्मबोध स्वभावसिद्ध हो जाता है। यह विश्वात्मभाव और सर्वात्मभाव उपनिषद्का चतुर्थ सत्य है।

जिस किसी देशमें, जिस किसी कालमें, जिस किसी पारिपार्श्विक अवस्थामें, जो कोई भी व्यक्ति राग-द्वेष-कुसंस्कारादि-से रहित होकर उपयुक्त साधनाके द्वारा इन्द्रिय-मनकी अधीनतासे अपनेको छुड़ा लेता है, उसीकी विशुद्ध चेतनाके सम्मुख विश्व-जगत्का और अपना यह पारमार्थिक सत्यस्वरूप प्रकट हो जाता है। यह सत्य ही सनातन सत्य है और इस सत्य-दृष्टिका अनुवर्तन करनेके लिये मनुष्यके व्यष्टि-जीवन और समष्टि-जीवनको भीतर तथा बाहरसे जिस प्रणालीके अनुसार सुनियन्त्रित होना चाहिये, उस प्रणालीका नाम ही सनातन धर्म है। सनातन धर्म विश्वजनीन है, विश्वमानवका धर्म है;—विश्वके सभी श्रेणीके नर-नारियोंको सत्यदृष्टिमें प्रतिष्ठित करानेवाला धर्म है। यह विश्वजनीन सनातन सत्य और सनातन धर्म ही विभिन्न सम्यक् सम्बुद्ध ऋषियोंके मुखोंसे विभिन्न छन्दों—विचित्र कवित्वपूर्ण गम्भीरार्थव्यञ्जक भाषाके द्वारा उपनिषद्-ग्रन्थोंमें प्रकाशित है। इन्द्रिय-मन-शृङ्खलित बुद्धिके ऊर्ध्व स्तरमें विशुद्ध चेतनाकी तत्त्वानुभूतिको इन्द्रिय-मन-बुद्धिके स्तरकी भाषामें व्यक्त किया गया है। जो सत्यपिपासु लोग इन उपनिषद्-वाणियोंके गूढ़ तात्पर्यके अनुसन्धान-पथपर चलना चाहते हैं, उन्हें अपनी चेतनाको इन्द्रिय-मन-बुद्धिके स्तरसे ऊपर ले जानेकी चेष्टा करनी पड़ेगी और ऊपर ले जाकर ही इन वाणियोंके यथार्थ तात्पर्यको समझना होगा। केवल शाब्दिक अर्थ एवं युक्ति-तर्कोंके बलपर उपनिषद्की वाणियोंके तात्पर्यको कभी हृदयङ्गम नहीं किया जा सकता।

सम्यक्-प्रबुद्ध ऋषि-चेतनामें प्रतिभात चरम सत्यको ही उपनिषदोंके ऋषियोंने 'ब्रह्म' कहा है। 'ब्रह्म' शब्दका शाब्दिक अर्थ है—'बृहत्तम' (बहुत बड़ा), जिससे बृहत्तरकी कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। देशगत, कालगत, गुणगत, शक्तिगत, सत्तागत और अवस्थागत किसी भी प्रकारकी सीमा, परिधि या शेषकी, जिसके सम्बन्धमें कोई कल्पना नहीं की जा सकती, पाश्चात्त्य-दर्शनमें जिसको Infinite Eternal Absolute कहा जाता है,—उसीका नाम 'ब्रह्म' है। 'ब्रह्म' मानवकी बौद्ध-चेतना (Intellectual Conciousness) का चरम आदर्श है, समस्त दार्शनिक ज्ञान (Philosophical Knowledge) का चरम अनुसन्धेय है। जबतक इस ब्रह्मको ज्ञानगोचर नहीं कर लिया जाता, तबतक बुद्धि कभी तृप्त नहीं हो सकती; दार्शनिक-विद्याका अनुशीलन कभी चरम सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता। अथ च, बुद्धि (Intellect) स्वभावतः ही ब्रह्मका कभी साक्षात्कार नहीं कर सकती, दार्शनिक युक्तितर्क निःसन्दिग्धरूपसे कभी भी इस ब्रह्मको ज्ञानमें प्रतिष्ठित नहीं कर सकते; परंतु मानव-चेतनामें सामर्थ्य है—वह युक्तितर्कके अतीत—बुद्धिके अतीत—पारमार्थिक ज्ञानभूमिकामें उपनीत होकर ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकती है। उस इन्द्रिय-मन-बुद्धिसे अतीत ज्ञानभूमिकी अनुभूतिका, उस ब्रह्मोपलब्धिकी भाषामयी मूर्तिका ही उपनिषदोंकी वाणीमें संग्रह किया गया है।

उपनिषदोंके ऋषियोंने यह उपलब्ध किया कि 'ब्रह्म' केवल बुद्धिका एक अनधिगम्य चरम आदर्श नहीं है, एक अवाङ्मनसगोचर अज्ञेय; किंतु आकाङ्क्षणीय तत्त्वमात्र ही नहीं है;—ब्रह्म प्रत्यक्ष सत्य है। यही नहीं, ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। इन्द्रिय-मनोबुद्धि-गोचर विश्व-जगत् और तदङ्गीभूत समस्त चेतनाचेतन पदार्थोंका (**'यत् किञ्च जगत्यां जगत्'**) एकमात्र यथार्थ स्वरूप ही है—ब्रह्म। ऋषियोंने प्रत्यक्ष अनुभवके बलसे बलवान् होकर ही दृढ़ताके साथ यह घोषणा की—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**। विश्वनिवासी नर-नारीमात्रको ऊँचे स्वरसे पुकारकर उपनिषद्के ऋषियोंने कहा—**'शृण्वन्तु**

विश्वे अमृतस्य पुत्राः' देखो, तुम जिस जगत्‌में निवास करते हो, उसका यथार्थ स्वरूप देखो—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥
(मुण्डक० २ । २ । ११)

अमृतस्वरूप (मृत्युरहित, विकाररहित, दुःखदैन्यरहित, नित्यसत्य परमानन्दघन) ब्रह्म ही इस विश्वके रूपमें लीला करता हुआ हमारे सामने, पीछे, दाहिने, बायें, ऊपर-नीचे सर्वत्र प्रसारित हो रहा है। ब्रह्म ही इस विश्वका यथार्थ स्वरूप है और ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ वरणीय (जीवनका आराध्यतम आकाङ्क्षणीयतम सत्य) है। समस्त विश्वमें ब्रह्मस्वरूप-की साक्षात् उपलब्धि करनेसे ही मानव-जीवन परम कल्याणमें प्रतिष्ठित होता है।

ऋषि जब अपनी ओर देखते हैं तब अनुभव करते हैं—**'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म हूँ।) अर्थात् मैं क्षुद्र देह-विशिष्ट, दुर्बलमनोविशिष्ट, सुख-दुःखसमन्वित, देश-काला-वस्थापरिच्छिन्न एक जीवमात्र नहीं हूँ, मैं तत्त्वतः ब्रह्म हूँ, मेरी चित् सत्ता विश्वव्यापी है, सभी मनुष्यों, सभी जीवों और सभी जड पदार्थोंकी सत्ता मेरी सत्ताके साथ नित्य एकीभूत है। मेरा भागीदार कोई नहीं है, मुझसे बड़ा या छोटा कोई नहीं है, सभी मेरी सत्ताकी कुक्षिमें हैं, कोई सुख-दुःख, जय-पराजय और अभाव-अभियोग मेरा स्पर्श नहीं कर सकता। मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव हूँ। सम्यक् सम्बुद्धचेतन उपनिषदनुभूतिसम्पन्न महामानव समस्त विश्व-जगत्‌के साथ अपनी चैतन्यमयी एकताका अनुभव करके आत्माके परम गौरवकी प्रतिष्ठा करता है। उपनिषद्‌ने मानवात्माकी इस गौरव-वाणीका समस्त विश्वके मानवोंमें प्रचार किया है।

ऋषियोंने जैसे अपनेको ब्रह्मस्वरूप अनुभव किया, वैसे ही सभी मनुष्यों और सभी जीवोंमें ब्रह्मका दर्शन करके प्रत्येकको प्रकटरूपसे उन्होंने यही कहा—'तत्त्वमसि' (तुम वही ब्रह्म हो)। उन्होंने मानवमात्रके चित्तमें ब्रह्म-चेतनाको जाग्रत् करनेका प्रयास किया। ब्रह्म-चेतनाके जाग्रत् होनेपर मनुष्योंमें परस्पर भेद-विसंवाद नहीं रह सकता। सभी शरीरोंमें एक ही आत्माकी अनुभूति होनेपर मन-बुद्धि-हृदय अभेदज्ञान एवं प्रेमसे भर जाते हैं। जाति-भेद, सम्प्रदाय-भेद, उच्च-नीच-भेद, हेयोपादेय-भेद सभी मनसे मिट जाते हैं। समस्त विश्व ब्रह्मधाम, सच्चिदानन्दधाम, सौन्दर्य-माधुर्य-सिन्धु बनकर आस्वाद्य हो जाता है। उपनिषद् विश्वके सभी नर-नारियोंको ब्रह्मभावसे भावित होकर प्रेमानन्दमय ब्रह्मधामके निवासी होनेके लिये आह्वान कर रहे हैं।

प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक जीव, प्रत्येक पदार्थ और भूत-भविष्य-वर्तमानके समस्त मनुष्य, सभी प्राणी और सभी पदार्थोंके समष्टिभूत विश्व-जगत्‌के यथार्थ तात्त्विक स्वरूपको उपनिषदोंने जैसे **'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'** (सत्य, ज्ञान और अनन्त) बतलाया है, वैसे ही उसे 'रसमय' मानकर आस्वादन किया है,—**'रसो वै सः।'** ब्रह्म रसस्वरूप है, परमास्वाद्य-स्वरूप है, परम सौन्दर्य-माधुर्य-निकेतन है, परम प्रेमास्पद है। यह रसस्वरूप ब्रह्म ही वैचित्र्यमय जगत्‌में विभिन्न रूपोंमें प्रकट होकर अनादि-अनन्तकाल आत्मरमण, आत्मविलास, आत्म-रसास्वादन कर रहा है। विश्व-जगत्‌में सर्वत्र ही रसका विलास है, सर्वत्र ही आनन्दकी क्रीड़ा है। विश्वमें जितने भी संघर्ष, जीवन-संग्राम, घात-प्रतिघात और आपात-बीभत्सतामय युद्ध-विग्रह प्रभृति होते हैं, उन सबमें भी एक अनन्त चैतन्य-घन रसस्वरूप ब्रह्मका ही विचित्र रसविलास चलता है—उसीका रस-प्रवाह बहता है। उपनिषद्‌की दृष्टिमें सभी रस-मय हैं, सभी सुन्दर हैं, सभी आस्वाद्य हैं। आनन्दरूपमें, विज्ञानरूपमें, मनरूपमें, प्राणरूपमें, अन्न या भोग्य जड पदार्थरूपमें भी एक रसामृतसिन्धु ब्रह्मकी ही आत्माभिव्यक्ति और आत्मास्वादन हो रहा है (**'आनन्दं ब्रह्म' 'विज्ञानं ब्रह्म,' 'मनो ब्रह्म,' 'प्राणो ब्रह्म,' 'अन्नं ब्रह्म'**) सम्बुद्ध मानव-चेतनाकी अनुभूतिमें समस्त विश्व-जगत् ही प्रेम और आनन्द-के सहित आस्वाद्य है।

संसारमें ऐसे दो प्रकारके पुरुष बिरले ही होते हैं

१—जिसने जो माँगा, उसको वही दे देनेवाले।

२—स्वयं कभी किसीसे कुछ भी न माँगनेवाले।

उपनिषद्-रहस्य

(लेखक—आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०)

हमलोग पाश्चात्त्य विज्ञानकी बातें सोच-सोचकर आश्चर्यमें डूब जाते हैं। इसीसे आज पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंके गौरव-गानसे भारतका गगनमण्डल मुखरित है। सैकड़ों-सहस्रों परीक्षालय और सैकड़ों-सहस्रों लेबोरेटरियाँ बनी हैं; अपूर्व अगणित यन्त्रसमूह, सुन्दर-सुन्दर एपारेटस स्थान-स्थानपर सजे रक्खे हैं; विचित्र विद्युदाधार, विपुल रासायनिक सामग्रियाँ, प्रकाण्ड दूरवीक्षणयन्त्र, निपुणनिर्मित अणु-वीक्षणयन्त्र—सारांश यह कि चारों ओर विशाल विज्ञान-समारोह है। महान् आयोजन है!

इस विज्ञानयज्ञके धूम्रसे, धूसर छायासे और इसके अकल्याणमय आलोकसे संसार परिपूर्ण है, और साथ ही भारतवर्ष भी। इस अमङ्गल-विज्ञान-व्यापारके विपरीत एक महान् व्यापार प्राचीन कालके भारतवर्षमें था और अब भी है। यह भी एक सुमहान् विज्ञान-आयोजन है। ज्ञान-विज्ञानकी अति महती सामग्री-सज्जा है। महान् गभीर विज्ञान-विद्यानुशीलन—दिग्दिगन्तव्यापी विज्ञानाभियान है। जल-स्थल, जड-चेतन, चर-अचर, अनिल-अनल, सरित्-सागर, ग्रह-नक्षत्र, विद्युत्-नीहारिका, तरु-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, प्राण-मन, मस्तिष्क-हृदय, यहाँतक कि शरीरके प्रत्येक स्नायुमें यह विशाल विज्ञान-अनुसन्धान प्रचलित था, अब भी समाप्त नहीं हुआ है—इस भारतवर्षमें।

इस अनुसन्धानके और इस अनुसन्धानसे उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान और प्रज्ञानराज्यके जीवन्त, ज्वलन्त, अनन्त इतिहास, आख्यान, व्याख्यान, वितर्क-विचार, विवरण-विश्लेषण हैं—भारतके वेद, उपनिषद्, पुराण, तन्त्र और दर्शनादि शास्त्र। पाश्चात्त्य विज्ञान है—जडविज्ञान, प्रपञ्च-विज्ञान और बाह्य जगत्‌का विज्ञान। तथाकथित मनोविज्ञान, प्राणविज्ञान आदि जो कुछ है, सभी वह बाह्य विज्ञान—जडविज्ञान है, जिसका निश्चित फल है—अन्धकारमें प्रवेश, अन्तरके समस्त अमृत-आलोकका निर्वाण एवं नित्य मृत्युके दासत्वकी प्राप्ति। यही बाइबिल-कथित ज्ञानवृक्षका फल है। जो खायेगा, उसीको मृत्युका किङ्कर बनना पड़ेगा!

परंतु भारतवर्षकी जो असंख्य प्रवाहमयी विज्ञानविद्या है, वह जडविज्ञान नहीं है; वह है चिद्विज्ञान; बाह्य वस्तु-विज्ञान नहीं है, वह है—आध्यात्मिक विज्ञान, नित्य तत्त्व-विज्ञान, सच्चिदानन्द-विज्ञान, अमृत-विज्ञान, आत्म-विज्ञान, ब्रह्म-विज्ञान और भगवद्-विज्ञान। वह है—सृष्टि-स्थिति, प्रलय, भूर्भुवःस्वरादि लोक, देव-दानव-गन्धर्वादि जीव-जाति, जन्म-जरा-मृत्यु, सुख-दुःख, पाप-पुण्य और भगवत्स्वरूप-धाम-लीला-परिकर आदिका परमाश्चर्य-विज्ञान; एवं वह है इन उपनिषद्-पुराणादि शास्त्रोंमें! यहाँ जो 'विज्ञान' शब्दका व्यवहार किया गया है, सो यह शब्दमात्र नहीं है। फिजिक्स, केमिस्ट्री आदि जिस अर्थमें विज्ञान हैं, उपनिषद्-पुराण-तन्त्रादि भी उसी अर्थमें विज्ञान हैं। यह कल्पना नहीं है, स्वप्न नहीं है। यह सत्य है, अभ्रान्त सत्य है। यह परीक्षित वस्तुसत्ताकी अव्यभिचारिता है, जिसका न व्यत्यय है, न व्यतिक्रम है। जिसकी नीति-प्रणालीमें भी अन्यथा नहीं है। नियमित नित्यताबद्ध विषय है। यही विज्ञानका अर्थ है। गभीर भावसे विचार करनेपर भारतीय अध्यात्म-विज्ञान इसी अर्थसे युक्त है। श्रीमद्भागवतमें वेदको 'प्रपञ्चनिर्माणविधि' बतलाया गया है। अर्थात् वेदमें प्रकृतिके नियमोंका विचार-विवेचन भरा है। अतएव वेदादि शास्त्र विज्ञानशास्त्र हैं।

पाश्चात्त्य-विज्ञान-परीक्षागार 'यन्त्रयोग'को अर्थात् एक्स-पेरिमेंटको लेकर चलता है और यह भारतीय विज्ञान विशोधित चित्तागार 'योगयन्त्र'को अर्थात् यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-समाधिके उस आश्चर्यमय अव्यर्थ एक्सपेरिमेंटको लेकर चलता है, जो अपने निर्मल आलोकसे दसों दिशाओंको उद्भासित करके अचिन्तितपूर्व सत्यसमूहको प्रकाशित करता है—समस्त भ्रान्तियोंको दूर करता है। पाश्चात्त्य-विज्ञान प्रपञ्च-सर्वस्व है अर्थात् इस दृश्यमान जगत्‌के अतिरिक्त अन्य किसीके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करता। कठोपनिषद्‌की भाषामें वह—

'अयं लोको नास्ति पर इति मानी' (१।२।६)

—है। भारतीय विज्ञान इस विश्व-जगत्‌को तामसिक सत्य मानता है, तम समझता है, प्रकाश होनेपर भी यह अनाद्यनन्त ज्योतिकी तुलनामें तमोवत् है। यथार्थ सत्य और ज्योतिर्मय जगत् इस तमोयवनिकासे आच्छन्न है।—

'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।' (श्वेताश्वतर० ३।८)

—उस सहस्रों सूर्यसदृश ज्योतिकी एक किरणमात्र भी दीख जाती है तो मर्त्य जीव अमृत हो जाता है।

'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति ।' (श्वेताश्वतर० ३ । ८)

—भारतीय विज्ञान इस अमृत-ज्योतिर्जगत्को लेकर चलता है। कम-से-कम दस सहस्र वर्ष हो गये—शत सहस्र कहें तो भी क्षति नहीं है। पाश्चात्त्य इतिहासकी दृष्टि तो अत्यन्त ह्रस्व है।

इस उपनिषद्-निबन्धके लिये यह यत्किञ्चित् भूमिका है। हाँ उपनिषद्के काल-निर्णयकी कोई चेष्टा नहीं की जायगी; क्योंकि यह बहुत बड़ा विषय है। एक बृहत् ग्रन्थमें भी उसकी यत्किञ्चित् ही आलोचना हो सकती है। उपनिषदें इतनी प्राचीन हैं कि वे ऐतिहासिक भावनाके अतीत हैं। चपलचित्त पण्डित जो कुछ भी कहें। समग्रतः उपनिषदोंके पन्ने उलटनेपर उनमें एक सुदीर्घ विकास-विवर्त्तधारा दृष्टिगोचर होती है। एक महान् एवोल्यूशन है। विशाल विज्ञानपट है। एक विचित्र चिद्विद्या-चित्रपट धीरे-धीरे खुल रहा है। इसका आरम्भ होता है छान्दोग्योपनिषद्से। छान्दोग्योपनिषद् ही समस्त उपनिषद्-शास्त्रकी भित्तिभूमि है। उपनिषद्का क्या उद्देश्य है, औपनिषदिक अध्यात्म-अनुसन्धानकी कौन-कौन-सी प्रणाली-पद्धति है, उपनिषद्-विज्ञानसे उपलब्ध अर्थनियम किस प्रकारके हैं, और उपनिषद्की अन्वेषणविधि किस प्रकार आगे चलती है—छान्दोग्योपनिषद्के अध्ययनसे हम इन समस्त विषयोंकी प्रत्यक्ष धारणा कर सकते हैं। छान्दोग्यकी प्रणाली विशेषरूपसे प्रतिलोम-प्रणाली है। यह ग्रन्थ एक उत्कृष्ट Inductive Spiritual Science है।

एषां भूतानां पृथिवी रसः । पृथिव्या आपो रसः । अपामोषधयो रसः । (छान्दोग्य० १ । १ । २)

इस प्रकार अनुसन्धान आरम्भ होता है और यह अनुसन्धान समाप्त होता है—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये---

(छान्दोग्य० ८ । १३ । १)

--इत्यादिमें जाकर। पृथिवीके जल-वायु-तरु-लताको ढूँढ़-ढूँढ़कर, बार-बार निरीक्षण कर, चित्रपटकी लैबोरेटरीमें पुनः-पुनः एक्सपेरिमेंट कर, आकाश-वायु-मेघ-विद्युत्-चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र, जीवके देह-इन्द्रिय-मन-प्राणके कोने-कोनेमें घूम-घूमकर अन्तरके अन्तस्तलमें श्यामवर्ण परब्रह्म परमात्माके दर्शन किये थे छान्दोग्यके ऋषि-वैज्ञानिकने।

उनका क्या उद्देश्य था, वे क्या आविष्कार करना चाहते थे, इसपर उन्होंने स्पष्ट कहा है—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति । (छान्दोग्य० ८ । १ । १)

'यह मानव-शरीर ब्रह्मपुर है। इसके भीतर एक क्षुद्र कमलकुसुमाकार गृह है। उसके भीतर एक छोटा-सा आकाश है। उसके अंदर एक निगूढ़ रहस्य है, उसीको जानना होगा। उसीका अन्वेषण करना होगा।' यह अनुसन्धान उपनिषद्में सर्वत्र है। यह है सत्यानुसन्धान, तत्त्वानुसन्धान, ब्रह्मानुसन्धान या आत्मानुसन्धान। छान्दोग्यकी प्रणाली केवल प्रतिलोम—इंडक्टिव ही है। इसके पश्चात् सर्वत्र प्रतिलोम-अनुलोम, इंडक्टिव-डिडक्टिव मिश्रित है; किंतु अनुलोम-प्रधान है।

छान्दोग्यके पश्चात् छान्दोग्यके समीपवर्ती राज्यमें बृहदारण्यक है।

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः××× (१ । ४ । १)

स वै नैव रेमे×× स द्वितीयमैच्छत्×× । (१ । ४ । ३)

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च××× (२ । ३ । १)

'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत् ।' (२ । ३ । ६)

'सृष्टिसे पूर्व यह विश्व पुरुषरूपमें था। पुरुष बिल्कुल अकेला था। अकेलेमें उसे कोई आनन्द नहीं था, उसने दूसरेके संगकी कामना की। परब्रह्मके दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त। अर्थात् दृश्य और अदृश्य। परब्रह्म पुरुषका रूप है जैसे उज्ज्वल पीतवर्ण, उसका परिधान है पाण्डुवर्ण, कभी वह इन्द्रगोप (लाल रंगका एक कीट) कीटके सदृश लाल वर्णका प्रतीत होता है। कभी अग्निकी ज्वालाके वर्णका, कभी कमल-वर्णका और फिर कभी अचञ्चल बिजलीके समान चमकदार[१]।'

दीर्घकालव्यापी अनुसन्धानके बाद जो सन्धान प्राप्त कर चुके हैं, देख चुके हैं, वे ही इस प्रकारका स्पष्ट वर्णन कर सकते हैं। छान्दोग्यके परवर्ती बृहदारण्यककी ब्रह्मोपलब्धि-का यह परिचय है। अन्वेषणके तीन स्तर हैं—अनुसन्धान, अनुभव और उपलब्धि। ज्ञानाकाङ्क्षा, ज्ञान और विज्ञान। कभी-कभी तीनों वृत्तियाँ एक साथ ही चलती हैं—

१. ऋषिको क्या श्रीराधाकृष्णके रूपका दूराभास हो रहा था। बिल्वमङ्गल कहते हैं—'मारः स्वयं नु मधुरद्युतिमण्डलं नु माधुर्यमेव नु मनोनयनामृतं नु।'

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मधु । अस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु । यश्चायं अस्मिन् वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव स योऽयमात्मा । इदममृतम् । इदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ (२ । ५ । ४)

'वायु समस्त भूतोंका मधु है । समस्त भूत इस वायुके मधु हैं । इस वायुके अंदर एक तेजोमय पुरुष विराजित हैं, उनके अन्तरतरमें एक तेजोमय अमृतमय पुरुष विद्यमान हैं । उनके भी प्राणस्वरूप एक तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं, वे ही आत्मा हैं, वे ही अमृत हैं, वे ही ब्रह्म हैं, वे ही सब हैं ।'

ऐसी बात नहीं है कि छान्दोग्यमें स्पष्ट प्रकाश नहीं है; परंतु साधारणतः छान्दोग्यकी किरणें कुछ छायासे ढकी हैं । किञ्चित् परोक्ष-भावापन्न हैं । ऋषि और परब्रह्म परमात्माके बीचमें जगत्-प्रपञ्चकी यवनिका है । यवनिकाका आवरण सूक्ष्म और स्वच्छ हो गया है । ब्रह्मज्योतिकी रश्मिराशि यवनिकाका भेद करके ऋषिके नेत्रोंमें घन-घन प्रकाशित होती है । यवनिका उठी तो है ही नहीं, कहीं तनिक-सी फटी भी नहीं है । इसी-से ब्रह्मका कोई भी वैभव साक्षात् रूपमें नहीं दिखायी देता है । केवल प्रकाश, अस्फुट स्फटिकीकृत जगत्से विकीर्ण आभाससमूह ही चारों ओर चमक रहा है ।

ऋषि देख रहे हैं कि सूर्य देवताओंका मधुभाण्ड है । किरणें मधुकोष (छत्ते) हैं जो पूर्व दिशासे विच्छुरित हो रही हैं । ऋक्के मन्त्र मधुमक्षिका हैं । ऋग्वेदोक्त यज्ञ मधुपूर्ण पुष्प हैं । यज्ञसे उत्पन्न शक्ति, यश, तेज, वीर्य आदिकी उज्ज्वल छटाको ऋषियोंने देखा सूर्यके लोहितरूपमें । दक्षिण दिशाकी किरणराशि दक्षिणका मधुकोष है । यजुःके मन्त्र मधुमक्षिका हैं । यजुर्वेदोक्त यज्ञ मधुपूर्ण पुष्प हैं । सूर्यकी शुक्ल ज्योतिराशि ऋषियोंके देह-मन-प्राणकी दीप्ति है । यज्ञ सम्पादनजनित ब्रह्मवर्चस् है । पश्चिम दिशामें सूर्य-किरणोंकी कृष्ण प्रभा है । उत्तरमें और भी घनतर कृष्ण वर्ण है । (छान्दोग्य० ३ । १ । ४) । सूर्य-ज्योति अमृतमय है । वसुगण सूर्यका लोहित वर्ण अमृत-रस पान करते हैं । देवगण अमृतको देखकर ही तृप्त होते हैं । आदित्यगण सूर्यकी कृष्ण-वर्ण किरणोंमें परिप्लुत अमृतका पान करते हैं । मरुद्गण घन-कृष्णज्योति अमृत-पान करते हैं । इस प्रकार विभिन्न रूपसे नाना प्रकारसे प्रतिबिम्बित, विकीर्ण, विच्छुरित और विक्षिप्त हुई ब्रह्मज्योति ऋषियोंके देह-मन-प्राण और अन्तर्हृदयमें अविरत झाँकी दे रही है । यह कल्पना नहीं है, कवित्व नहीं है । ज्ञानघन विज्ञानदीप्त अनुभव है । दिव्य उपलब्धि है । ऋषियोंने ब्रह्मप्रतिबिम्ब-प्रभाको, सुरम्य अतीन्द्रियग्राह्य इन्द्र-धनुषकी वर्णच्छटाको जैसा-जैसा देखा है, वैसा-वैसा ही लिखा है । यह सब तत्त्व प्राकृत इन्द्रियगोचर नहीं होता । ध्यान, धारणा और समाधिके मार्गसे प्राप्त होता है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥
(श्वेताश्वतर० १ । ३)

दिव्यशक्ति आत्मशक्ति ब्रह्मशक्ति त्रिगुणमय भूतसमुदायके द्वारा आच्छादित हो रही है । उसीकी विच्छुरित विभाको ध्यानदृष्टिके द्वारा ऋषियोंने देखा था ।

हम उपनिषत्-साहित्यविज्ञानके क्रम-विकासकी बात कहते हैं। छान्दोग्यके बाद बृहदारण्यक है । बीचमें 'ऐतरेय' और 'प्रश्न' हैं । छान्दोग्यकी दृष्टि समष्टि-दृष्टि है, विश्व-दृष्टि है, अखण्ड ज्ञानसम्पत्, अविभक्त भाव-वैभव है । उद्गीथोपासना, सामो-पासना, प्राणोपासना, मधुविद्या, गायत्रीविद्या, पञ्चाहुतिविद्या, दहरविद्या—इस प्रकार छान्दोग्यके ऋषिने जिस किसी भी विज्ञान-विषयका अवलम्बन किया है, उसीमें समग्रता ला दी है । उसीको विश्वग्राही बना दिया है । मातृ-गर्भसे जो सन्तान-की उत्पत्ति होती है, उसके पीछे जो ब्रह्मभाव है, उसके अनुभवके लिये महर्षिने एक विराट् भावशृङ्खलाका आविष्कार किया है ।

निगूढ सम्बन्धयुक्त पाँच यज्ञ हैं, पाँच आहुति हैं । नक्षत्रलोक अग्नि है, सूर्य उसका समिध् है । देवगण श्रद्धापूर्वक सूक्ष्माहुति रसपूर्ण स्निग्ध अमृतके द्वारा यज्ञसम्पादन करते हैं । सोमराज चन्द्रका अर्थात् रसाधिदेवताका जन्म होता है । पर्जन्य अर्थात् सलिल शोषणशक्ति अग्नि है, वायु उसका समिध्—यज्ञकाष्ठ है । देवतागण उसमें राजा सोमकी—जो चन्द्रशक्ति है उसीकी आहुति देते हैं, वही वृष्टिका कारण होता है । पृथिवी अग्नि है, संवत्सर अर्थात् षडृतु समिध् है । देवता वर्षाकी आहुति देकर यज्ञ करते हैं । उससे अन्नकी उत्पत्ति होती है । पुरुष अग्नि है । वाक् समिध् है, देवतागण अन्नकी आहुति देकर यज्ञ करते हैं । स्त्री अग्नि है । पुरुष समिध है । देवतागण शुक्रसिञ्चनरूप आहुति देकर यज्ञ करते हैं, उससे शिशुकी उत्पत्ति होती है । (५ । ५—८) यह दर्शन, विज्ञान और कवित्व है ।

ऐतरेय उपनिषद्का ब्रह्मज्ञान असीम आकाशसे उतरकर नीचे नहीं आता । यहाँ दृष्टिका दिङ्मण्डल सीमाबद्ध हो गया

है। ऋषि परमपुरुषके सृष्टिलीला-तत्त्वको देख रहे हैं। विराट् पुरुषके आविर्भावको देख रहे हैं।

'सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत्।'

(ऐतरेय० १। ३)

परम पुरुषकी इच्छाके प्रभावसे अखिल वेद-विद्या-विभावित अखिल सृष्टि-शक्तिसमन्वित विराट् पुरुष अनन्त विस्तारवाले कारण-सलिलसे आविर्भूत होकर मूर्तिमान् हो गया है। यह अन्वेषणकी बात नहीं है, आविष्कारकी बात है। ज्ञानकी बात है। अनुमानकी बात नहीं है, प्रत्यक्षकी बात है। भूतेन्द्रिय देवतामयी त्रिविध सृष्टि है। अग्नि-वाक्-मुख, वायु-प्राण-नासिका, आदित्य-दृष्टिशक्ति-चक्षु इत्यादि क्रमसे समष्टि पुरुषके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी उत्पत्ति होती है। विश्वमें चक्षुशक्ति एक है। वही शक्ति सभी चक्षुओंकी—सभी आँखोंकी सृष्टि करती है। इसी प्रकार श्रवणशक्ति, घ्राणशक्ति, वाक्शक्ति प्रभृति एक-एक शक्ति समष्टि-रूपिणी है। शक्तिमात्र ही व्यक्ति और देवता है। समष्टिशक्ति, व्यष्टिशक्ति, इन्द्रियादिको उद्भावित करती है। ऋषिने धीरे-धीरे मन-बुद्धि-हृदयका प्राकट्य देखा। तदनन्तर हृदय और मनसे आत्माका आभास प्राप्त किया। पश्चात् आत्मज्योतिने जिन-जिन भावों—रूपोंमें आत्मप्रकाश किया उसको भी देखा। बस, अज्ञान दूर हो गया। अब संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, धृति, मति, मनीषा, स्मृति, सङ्कल्प, क्रतु और काम आदि आत्माकी रश्मियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं।

छान्दोग्यके ऋषिने सुदूर दर्शनदृष्टिसे नक्षत्र-नभोमण्डलमें शिशुका जन्म देखा था, ऐतरेयके वैज्ञानिकने पृथिवीके घर-घरमें शिशुका जन्म देखा। केवल गर्भ नहीं, माताकी गोदमें कुमार-का हँसता हुआ मुख देखा। दम्पतिकी प्रीति देखी।

'सा भावयित्री भावयितव्या भवति।'

(ऐतरेय० ४। ३)

परंतु उनकी ब्रह्मदृष्टि वैसी ही बनी है। ब्रह्मसूत्रके रचयिता श्रीबादरायण कहते हैं—

'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्।' (४। १। ५)

—इस ऋषिके अन्तरमें भी यही बात है—

'यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं ·····प्रज्ञानं ब्रह्म।'

(ऐतरेय० ५। ३)

प्रश्नोपनिषद्में मिलती है एक ओर जिज्ञासा और दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान। दोनोंका सम्मिलन है। प्रश्नके बाद प्रश्न, उत्तरके बाद उत्तर हैं। जीवगण कहाँसे आते हैं? प्रजापतिने सर्वप्रथम रयि और प्राणकी सृष्टि की। प्राण आदित्य है या आदित्यमें है। रयि चन्द्रमा है या चन्द्रमामें है। उत्पत्तिकी बात संक्षेपसे कहकर ऋषिने उत्क्रमणकी अर्थात् जीवनान्तमें जीवगतिकी बात कही। दूसरा प्रश्न है—प्रजाकी रक्षा कौन करता है? जीवनी शक्ति कौन देता है? इन्द्रियाधिपति देवता हैं। प्राणाधिपति सबमें श्रेष्ठ है। सभी प्राणके अधीन हैं। आदित्य, वायु, अग्नि, इन्द्र, वरुणादि देवता जीव-जीवनकी रक्षा करते हैं। प्राण कहाँसे आता है? जीव देहमें किस प्रकारसे रहता है? प्राणमें कौन-कौन-सी क्रियाएँ हैं? प्राण-अपान-समान-उदान-व्यान कौन क्या करता है? नाड़ीजालके साथ प्राणका घनिष्ठ सम्बन्ध है। तदनन्तर जागरण, स्वप्न, सुषुप्तिका प्रसंग है। ऋषिकी दृष्टि सदा ही सुदूरगामिनी है।

मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति। (प्रश्न० ४। ४)

इसके पश्चात् ओंकारका प्रसङ्ग है और तद्भावनाके द्वारा किस प्रकार कौन-कौनसे लोक जय किये जाते हैं।

माण्डूक्योपनिषद्में विज्ञान और भी अन्तरतर और अन्तर्मुखी है। ॐकार एवं आत्माकी बात है।

'सर्वमोङ्कार एव।' 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्।' 'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः।' 'स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः।' 'सुषुप्तस्थानः एकीभूतः प्रज्ञानघनः।' 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनम्।' 'एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थम्।'

आत्माकी यह तुरीयावस्था है। छान्दोग्यके उद्दालक-श्वेतकेतु-संवाद और नारद-सनत्कुमार-संवादमें जिस आत्म-तत्त्वपर विचार किया गया है वह दिग्दिगन्तव्यापिनी समीक्षासे युक्त है। अविरत एक्सपेरिमेंटका प्रवाह चल रहा है। अभ्युपगम सिद्धान्तको ग्रहण करके महर्षिगण सुदूरगामी अनुमान-प्रमाणके पथपर चल रहे हैं। बहिर्जगत्, अन्तर्जगत् और तदन्तर्गत जो कुछ भी है, सबकी पूरी-पूरी खोज की है और तत्तद्रूपसे आत्मतत्त्व—ब्रह्मतत्त्वको समझा है। उन-उन सिद्धान्तोंके साथ माण्डूक्यादिके सिद्धान्तमें बड़ा भेद है। छान्दोग्यके—

स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्। तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो। (छान्दोग्य० ६। ८। ७)

'वह जो यह अणिमा है, एतद्रूप ही यह सब है। यह सत्य है, आत्मा है और श्वेतकेतो! वही तू है।'

इस सिद्धान्तकी प्रकृति माण्डूक्यके इस सिद्धान्तकी प्रकृतिसे भिन्न है—

सुषुप्तस्थानः······प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः। (माण्डूक्य० ५)

'सुषुप्तस्थान प्रज्ञानघन है, एकमात्र आनन्दमय ही है, प्रकाशमुख है और आनन्दका भोक्ता है।'

और प्रश्नोपनिषद्में तो है—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परे अक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते। (प्रश्न० ४।९)

'यह देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, स्वाद चखनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला, कर्म करनेवाला विज्ञानात्मा पुरुष है। वह अविनाशी परमात्मामें प्रतिष्ठित है।'

विज्ञानाभियान अनुमान-उपमान-शब्द-प्रमाणादिके पथसे खोज-खोजकर—देख-देखकर बहुत दूर अग्रसर हो आया है, तब भी अनुसन्धान चल रहा है समीपमें, अन्तर्देशमें। तैत्तिरीयोपनिषद्में इसका अनुभव प्राप्त होता है। पहले ही देखनेमें आता है कि ऋषि अपनी उपलब्धि-लब्ध सम्पदाओंको सजा-सजाकर विशेषरूपसे समझ ले रहे हैं। Realization हो चुका है। Recapitulation हो रहा है। शिक्षावल्लीके शेषमें ऋषि सहसा दिव्यज्ञानके व्योमयानपर चढ़कर असीम आकाशमें एक चक्कर लगाते हैं। अपूर्व सुन्दर है।

'आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्मा प्राणारामं मनआनन्दम्। शान्तिसमृद्धिरमृतम्।' (तैत्तिरीय० १।६।३)

द्वितीय वल्लीमें ऐसी ही और भी मनोरम बात कहते हैं—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।' (तैत्तिरीय० २।१।१)

छान्दोग्योपनिषद्से वेदान्त-विद्याका शुभ आरम्भ है। श्रीमद्भागवतमें उसकी परम पवित्र परिसमाप्ति है। इस बातको जिन्होंने नहीं समझा है, उनका वेदान्त-अध्ययन अपूर्ण ही रह गया है। वेदान्तवर्त्म सहस्रयोजनव्यापी है। काल-क्रमानुसार विज्ञान-विकाश-विवर्तकी आनुमानिक अग्रगतिके प्रसङ्गमें यहाँ पाँच उपनिषदोंकी यत्किञ्चित् आलोचना की गयी है। तैत्तिरीयकी बात चल रही है। इसके बाद है कठ, फिर केन, तदनन्तर ईश, तत्पश्चात् क्रमशः मुण्डक, श्वेताश्वतर और कौषीतकि। काल तथा तत्त्वोपलब्धिके क्रमसे ये बारह हैं। खूब सम्भव है ये सबसे प्राचीन हैं। क्रमशः ये नाना मार्गोंसे श्रीमद्भागवतके राज्यकी ओर अग्रसर हुए हैं।

इनके अतिरिक्त जो रामतापनी, गोपालतापनी, नारायणोपनिषद्, रामरहस्योपनिषद्, कालाग्निरुद्रोपनिषद्, पञ्चब्रह्मोपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, सूर्योपनिषद्, दत्तात्रेयोपनिषद्, बृहज्जाबालोपनिषद्, मुक्तिकोपनिषद्, गर्भोपनिषद् आदि उपनिषद् हैं, उनके कालक्रम या क्रमविकासधाराका निरूपण करना बहुत कठिन है। छान्दोग्य, ऐतरेय और गर्भ—इन तीन उपनिषदोंमें गर्भविषयक ज्ञानका क्रमविकास स्पष्ट है। इन सब उपनिषदोंको साम्प्रदायिक समझकर जो लोग इनकी अवज्ञा करते हैं, उनके अतिपाण्डित्यकी प्रशंसा हम नहीं करते। सभी उपनिषद् स्वाभाविक विकासकी धाराको पकड़कर चले हैं। ये उपनिषद् नाना प्रकारसे विशाल पुराण-साहित्यकी उपक्रमणिका और भूमिका बने हुए हैं। पुराण और उपनिषद्का सम्बन्ध आगे चलकर दिखाया जायगा।

तैत्तिरीय-उपनिषद्में मिलता है—

'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।' (२।१।१)

उपनिषद्में यह नयी बात है। आत्मवित् निर्गुण निर्विकार निर्विकल्प आत्मा हो जाता है। **'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति।'** **'शान्तं शिवमद्वैतम्'** तत्त्व हो जाता है। **'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।'** परंतु श्रुति यहाँ इसकी ही बात कह रही है। परब्रह्मके साथ मिलकर वे समस्त कामनाओंके काम्यका उपभोग करते हैं, जिन्होंने इसी जीवनमें परब्रह्मको हृदयङ्गम किया है; किंतु क्षण-कालके लिये कौन जानता है कि शुभ्र ब्रह्मज्योतिके राज्यमें बैठकर ऋषिने रूपब्रह्मके रसराज्यकी एक झलकको किस शुभक्षणमें देख पाया था। मुण्डकोपनिषद्में है—

'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।' (२।२।७)

जिसके अमृत आनन्दरूपका दर्शन ऋषि कर रहे हैं वह अवाङ्मनसगोचर अवर्ण ब्रह्म नहीं है, रूपवर्ण-रसमय भगवान् है। तैत्तिरीय श्रुतिने इस रसब्रह्मके आभासको और भी स्पष्ट कर दिया है।

'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' (२।७)

परब्रह्म रसब्रह्म है। रसब्रह्म रूपब्रह्म है। जिस ब्रह्ममें रूप-रस हैं, वह अनन्तकालतक आनन्द-प्रेममय जीवनयापन

करता है। उसका सीमाहीन धाम है। चिदानन्दमय सुख-दुःख है अर्थात् लीला है। वह लीला-पुरुषोत्तम है।

किंतु ऋषिका चित्त **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** भावनामय है। अतः वे विश्वयवनिकाको छिन्न नहीं कर पाते हैं। सच्चिदानन्दमयकी स्वरूप-शक्तिके तरङ्गविलास-वैचित्र्यकी वर्णच्छटा देखकर भी वे उसे हृदयमें धारण नहीं कर पाते हैं; किंतु पूर्ण-दर्शन या नित्य-दर्शनकी आशाका भी त्याग नहीं करते हैं। कठोपनिषद्में कहा है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥

(१ । २ । २२)

'मेरी अपनी कुछ भी सामर्थ्य नहीं है। वे कृपा करके यदि मुझे वरण कर लेते हैं, यदि कृपा करके उस सकल सुन्दर-सन्निवेश-अमृतोज्ज्वल तनुको मेरे नेत्रोंमें प्रकाशित कर देते हैं तो मैं कृतार्थ हो जाता हूँ।' ऋषिका यही मनोभाव है। कठोपनिषद्के शेषमें (२ । २ । १३) एक गूढार्थ-पूर्ण बात है—

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

इसे देखकर रासपञ्चाध्यायीका एक श्लोक स्मरण हो आता है—

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥

(१० । ३३ । २०)

ब्रह्मज्ञानानुशीलनसे ऋषियोंका चित्त जितना ही स्वच्छ होता चला जा रहा है, उतनी ही चिदानन्दलीलाराज्यसे रस-रश्मियाँ आ-आकर उनके नेत्रोंमें झलक दिखा जा रही हैं।

केवल ज्ञानसे उस रागरञ्जित आकाशका आभास नहीं मिलता। अनुरागका स्पर्श आवश्यक है। ऋषियोंके हृदय कभी भी अनुरागशून्य नहीं हैं। केनोपनिषद्के ब्रह्मानुसन्धानमें अनुरागका रंग लग गया है।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्
वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।

(१ । १)

'यह अनुरागकी भाषा है। केनोपनिषद्का ज्ञान 'विशुद्धं केवलं ज्ञानम्' नहीं है। ज्ञानकी शुभ्र वाष्पपर प्रेमकी रवि-रश्मि पड़ जानेके कारण यहाँ इन्द्रधनुषका वर्ण प्रस्फुटित हो उठा है। ब्रह्म अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस नहीं है। ब्रह्म यहाँ ब्रह्मवादी देवताओंके नयनगोचर होता है। इतनेपर भी वह अपूर्व, अज्ञेय है।

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव । तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति । (केन० ३ । २)

यह लीलाकी प्रभात-किरण है। उपनिषद् पुराणके उस स्वर्गकी ओर अव्याहत गतिसे बढ़ा चला जा रहा है जहाँ शुष्क ज्ञान शोभा-सुषमामय दिव्य जीवन-तरङ्गोंमें उछलता रहता है।

ब्रह्म आभास देकर देवताओंको मुग्ध करके अन्तर्धान हो जाता है; परंतु ब्रह्मकी योगमायाशक्ति अपनी रूप-लावण्यमयी मूर्तिको प्रकट करके देवताओंके अज्ञानान्धकारको दूर कर देती है। इन्द्र देखते हैं—

तस्मिन्नेवाकाशे×× बहुशोभमानाम् उमां हैमवतीम् ।

(३ । १२)

दुर्गासप्तशतीमें चण्ड-मुण्ड अम्बिकाके सुमनोहर रूपको देखते हैं—

ततोऽम्बिकां परं रूपं बिभ्राणां सुमनोहरम् ।
ददर्श चण्डो मुण्डश्च .... ॥

(५ । ८९)

पुराण उपनिषद्का ही विकम्पित रूप है। उपनिषद् सतेज तरुण सुन्दर ब्रह्मज्ञान-महीरुह है और पुराण विवृद्ध श्यामशाखाप्रतान-पल्लवित-पुष्पित-फलित-प्रेमभक्ति-कल्पतरु है। उसमें भारतका ज्ञान-विज्ञान-दर्शन-भक्ति, प्रेम-साधना अखण्ड और अव्याहत है। जो लोग पुराणको अधःपतित युगका साहित्य समझते हैं वे वस्तुतः ज्ञानहीन और कुसंस्काराच्छन्न हैं। इस कुसंस्कारका तत्त्व और इतिहास हम जानते हैं।

छान्दोग्य-उपनिषद् गायत्री नामक कार्य-ब्रह्मके प्रसङ्गमें कहता है—

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

(३ । १२ । ६)

उपनिषद् और पुराणका सम्बन्ध-रहस्य इस मन्त्रमें छिपा है। परब्रह्मका एक पाद यह विश्वभुवन है और शेष तीन पाद उसके स्वरूपान्तर्गत हैं, उसकी त्रिपाद्विभूति हैं। एकपाद्-विभूति त्रिपाद्विभूतिके आकाशमें सूक्ष्म वाष्पकी भाँति लहरा रही है। उपनिषद् एकपाद्विभूतिभूत विश्वमण्डलमें त्रिपाद्विभूतिके छिटके हुए किरण-कणोंके अनुसन्धानमें

संलग्न है। उपनिषद्में त्रिपाद्विभूतिका प्राकट्य नहीं है। उपनिषद्में त्रिपाद्विभूतिके किसी भी भावका आविष्कार नहीं हुआ है। धाम, लीला, परिकर आदि कुछ भी स्पष्टतया उपनिषद्में नहीं है। कौषीतकि-उपनिषद्में ब्रह्मलोकका अर्थात् हिरण्यगर्भलोकका अपूर्व सुन्दर वर्णन है; किंतु वह भी एकपाद्विभूतिके अन्तर्गत है। वह अतीन्द्रिय विश्वकी सर्वोत्तम सम्पदा है तथापि त्रिपाद्विभूति नहीं है। स्वयं लीला-पुरुषोत्तम गीताके वक्ता हैं, पर गीता भी एकपाद्-विभूतिकी सीमाके अन्तर्गत ही है। कारण, गीता उपनिषद् है। भगवान् स्वयं ही महायोगेश्वर हरि होकर भी अमृताक्षर हर हो गये हैं। इस रहस्यको गोपन नहीं रक्खा गया है। वे कहते हैं—**'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्'** अतएव श्रीकृष्ण नहीं हैं। विश्वव्यापारमें और जीव-हृदयके अन्तरतम प्रदेशमें ब्रह्मका अन्वेषण करनेमें उपनिषद् नित्य संलग्न हैं। पुराणका प्रतिपाद्य है त्रिपाद्विभूति। एकपाद्विभूति अर्थात् विश्व-व्यापार भी पुराणमें है; किंतु पुराणका लक्ष्य है—लीला, धाम, परिकर अर्थात् त्रिपाद्विभूति, भक्तानुग्रह, नीति-धर्म, जीव-जीवनका कर्तव्य, भक्तितत्त्व और मोक्षविज्ञान।

उपनिषद्में जिसका आभास प्राप्त होता है, पुराणमें वह विस्तारित और विकसित हो गया है। उपनिषद्में—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगा-
द्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
(श्वेताश्वतर० ४। १)

उपनिषद्में वह प्रधानतः अवर्ण है। उसने जो विश्वमें और परव्योममें शत-सहस्र वर्णविलसित व्यापारका विधान किया है, उसका इतिहास और विवरण समस्त पुराणोंमें है।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'
(श्वेताश्वतर० ४। १०)

और—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' (श्वेताश्वतर० ४। ५)

—प्रभृति आभासमात्र उपनिषद्में है। मार्कण्डेय-चण्डी आदिमें हम पाते हैं इस विषयका विशाल विस्तार और विज्ञान-विभावना। ऐतरेय उपनिषद्ने सृष्टितत्त्वकी जो संक्षिप्त व्यञ्जना दी है, श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके पञ्चम-षष्ठ आदि अध्यायोंमें उसीका सुविस्तृत वैज्ञानिक वर्णन है। पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंको इधर ध्यान देना चाहिये। पुराण माइथोलॉजी (Mythology) नहीं है। पुराण उपनिषद्का उच्चतर विकासस्तर है।

कुसंस्कार सर्वत्र छाया है। ज्ञान, विज्ञान और दर्शनके राज्यमें भी सर्वत्र ही कुसंस्कार है—वहाँ भी भ्रान्ति-भूतका भय है। 'उपनिषद्की दृष्टिमें ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, जगत् मिथ्या है।' ऐसी जो एक धारणा है यह एक बुरा कुसंस्कार है। बृहत् मिथ्या है। जगत् मिथ्या है—यह बात उपनिषद्के ऋषिने कभी भ्रमसे भी नहीं लिखी। परमेश्वर परब्रह्मने निज सत्तासे, अपनी अव्यय भाववस्तुसे विश्वका सृजन किया है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरी बात श्रुति-देवियोंने कभी नहीं सुनी। उपनिषद्से आँखें मूँदकर इसके सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः××।'

'स तपस्तप्त्वा इदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।××सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च।'
(तैत्तिरीय० २। ६। १)

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। 'तज्जलानिति शान्त उपासीत।'
(छान्दोग्य० ३। १४। १)

'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।'
(श्वेताश्वतर० ४। २)

इस प्रकार सैकड़ों-सहस्रों श्रुति-वचन जगत्की सत्यताकी साक्षी दे रहे हैं। जगत् मिथ्या है, यह बात श्रुति नहीं कहती।

महान् आचार्य श्रीशङ्कराचार्यके मायावादकी आलोचना-का यहाँ स्थान नहीं है। आचार्यकी अपनी वाक्यावलीमें ही मायावाद-खण्डनके अस्त्र भरे पड़े हैं। पण्डितोंका दूसरा यह कुसंस्कार है कि 'केवल जगत् ही मिथ्या नहीं है, जीवात्मा भी मिथ्या है'। यह एक उत्कट मिथ्या है। 'तत्त्वमसि'—एवं

'नामरूपे विहाय×××परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।'
(मुण्डकोपनिषद् ४। ८)

—इत्यादि श्रुति-वाक्योंके दोनों प्रकारके अर्थ हो सकते हैं; किंतु जीव और ब्रह्मका पार्थक्य अर्थात् द्वैत, उपनिषद्में सर्वत्र अत्यन्त परिस्फुट रूपमें पुनः-पुनः उपदिष्ट है।

'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥' (१। ६)

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।' (१। १२)
(श्वेताश्वतर०)

भोग्य जगत्, भोक्ता जीव और प्रेरणकर्ता परमात्मा परब्रह्म—ये तीन विभाव ब्रह्मके ही हैं।

श्रीबादरायणने वेदान्तसूत्रमें सनिर्बन्धरूपसे पुनः-पुनः घोषणा की है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं हैं।

'भेदव्यपदेशाच्च' (१ । १ । १८)
'अधिकं तु भेदनिर्देशात् ।' (२ । १ । २१)

जीव और ब्रह्म तत्त्वतः एक होकर भी, अंशांशी होकर भी वस्तुतः विभिन्न हैं; भावतः विभिन्न हैं । आत्मज्ञ, त्रैगुण्य-निर्मुक्त जीव, सर्वभूतात्मभूतात्मा जीव भी देहपात होनेपर ब्रह्म नहीं हो जाता । श्रीबादरायणने ब्रह्मसूत्रमें इस तत्त्वपर स्पष्टरूपसे विचार किया है । मुक्त जीव ब्रह्म हो जाता है, इत्यादि बातोंका उल्लेखमात्र भी न करके उन्होंने इस बातपर विचार किया है कि 'मुक्त जीवके देह रहती है या नहीं'—

'तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।' (४ । ४ । १३)

—मुक्त जीवका जीवन कभी स्वप्नवत् होता है, कभी जाग्रद्वत् । जब स्वप्नवत् होता है तब स्वरूपदेह अप्रकट रहता है और जब जाग्रद्वत् होता है तब प्रकट रहता है ।

'भावे जाग्रद्वत्' (४ । ४ । १४) ।

—श्रुतिके तात्पर्यको ब्रह्मसूत्रमें निश्चितरूपसे स्पष्टाक्षरोंमें लिपिबद्ध किया गया है । ब्रह्मसूत्रमें जगन्मिथ्यावादका खण्डन किया गया है—

'आत्मकृतेः परिणामात् ।' (१ । ४ । २६)
'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (२ । १ । १४)

—इत्यादि सूत्र देखें । मृत्तिका जैसे घटका कारण है, सुवर्ण जैसे अलङ्कारका कारण है, वैसे ही ब्रह्म जगत्का कारण है । जब कारण सत्य है, तब कार्य भी सत्य है । ब्रह्म सत्य है । जगत् सत्य है । बौद्धोंने ब्रह्म एवं आत्माको असत्य समझा था, इसीलिये उनका जगत् भी असत्य—शून्यमय हो गया ।

'शून्यं तत्त्वम् । भावो विनश्यति ।'

—उपनिषद्-दर्शन विशुद्धाद्वैतदर्शन है, इस बातको आचार्य श्रीशङ्करके अनुयायियोंके अतिरिक्त अन्य किसीने भी नहीं माना । आचार्य श्रीरामानुज विशिष्टाद्वैतवादी हैं । परमेश्वर, जीव और जड—परब्रह्म इन तीन वैभवोंसे सम्पन्न हैं ।

'त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ।' 'त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।'

—यही श्रुतिप्रतिपादित है । निम्बार्क द्वैताद्वैतवादी हैं । यह अति निर्मल निःसंशय मतवाद है । श्रीमध्वाचार्य और गौड़ीय वैष्णवोंने अचिन्त्यभेदाभेदवादकी स्थापना की । ब्रह्म, माया, जीव, कर्म और काल—ये पाँच तत्त्व भिन्न होकर भी अभिन्न हैं, अभिन्न होकर भी भिन्न हैं । यह चिन्तातीत विश्वरहस्य है ।

केनोपनिषद्में भी अनुसन्धान है । एक्सपेरिमेंट है । यह पहले ही कहा जा चुका है । ईशोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् सम्पूर्ण सिद्धान्तके शैलशिखरपर समारूढ़ हैं । यहाँ समस्त समीक्षाओंका अन्वीक्षण आदि समाप्त हो गया है । ऋषिगण यहाँ ज्ञान-विज्ञानसंच्छिन्नसंशय होकर तत्त्व-विमानपर विचरण करते हैं । वे तत्त्वज्ञानके सीमाशीर्षपर आ पहुँचे हैं । जो कुछ जाना जाता है, सब जान चुके हैं, प्राप्त कर चुके हैं, देख चुके हैं । ज्ञानाभियानकी समाप्ति कहाँ है, यह भी जान चुके हैं—

'अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्'

यह समझ चुके हैं—

'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः'
(केन० २ । ११)

जो कहते हैं कि हम ब्रह्मतत्त्वको ठीक नहीं समझ सके हैं, वे ठीक समझ गये हैं, और जो कहते हैं कि हमने ठीक समझ लिया है, वे कुछ भी नहीं समझे हैं । यह ज्ञानीकी बात है । भगवद्विषय कुछ भी नहीं समझा जाता—यह मूर्खकी बात है । उसने भगवत्कृपाका स्पर्श नहीं पाया है । भगवद्विषय सारा समझा जा सकता है, यह भी मिथ्या कथन है ।

'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्'
(ईशोपनिषद् ४)

एवं—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
(श्वेताश्वतर० ६ । ११)

—इत्यादि वचन ईशोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद्में सर्वत्र हैं । उपनिषद्का ज्ञानाभियान यहाँ अन्वेषण समाप्त करके तत्त्वदर्शन और सिद्धान्तकी भूमिपर आरोहण कर चुका है । छान्दोग्यका—

'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच'
(छान्दोग्य० १ । ९ । १)

इत्यादि काल और भाव दोनोंके ही दूरत्वसे बहुत दूर रह गये हैं ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् अतुलनीय है । इसके अनेक कारण हैं । विशुद्ध अद्वैतवाद, मायावाद, जगन्मिथ्यावाद, जीव-ब्रह्मवाद आदि समस्त कल्पनावाद श्वेताश्वतरके सुदृढ़ विज्ञानगात्रसे आहत होकर चूरमूर हो गये हैं । **'या ते रुद्र शिवा तनूः'** प्रभृति वाक्य उपनिषद्की ज्ञान-सरणीको पुराणके तटपर पहुँचा देते हैं । श्वेताश्वतरका ब्रह्म रुद्र, हर, गिरीश,

शिव हो गया है। गीता-उपनिषद्का भी श्वेताश्वतरसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। गीताके भाव, तत्त्व, विन्यासविधि, 'सर्वेन्द्रिय-गुणाभासम्' आदि वाक्य एवं तत्त्वदर्शन अधिकांशमें श्वेताश्वतर-से अभिन्न हैं। श्वेताश्वतरमें सर्वप्रथम सांख्यदर्शनकी भूमिका है। 'तमेकनेमिम्' श्लोक और—

'स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।'
(श्वेताश्वतर० ५। १२)

—इत्यादि सांख्यतत्त्व है। श्वेताश्वतरके द्वितीय अध्यायमें पातञ्जलयोग-दर्शन एवं गीताके ध्यानयोगका आभास है। भक्तिके बिना कोई भी ज्ञान अन्तरमें उद्भासित नहीं होता, यह महावाक्य श्वेताश्वतरमें ही सर्वप्रथम ध्वनित हुआ है।

कौषीतकि-उपनिषद्के उज्ज्वल राज्यमें प्रवेश करनेपर प्रतीत होता है कि पुराणका शोभा-सौन्दर्यसमन्वित असीम देश अब अधिक दूर नहीं है। गोपालतापनी और कृष्णोप-निषद् श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणादिकी ओर मार्ग खोल देते हैं। रामतापनी उपनिषद्का उद्देश्य ज्ञान नहीं है, भक्ति है। यह श्रीरामोपासनाका ग्रन्थ है। साधन-भजनके उपदेशसे पूर्ण है। मन्त्रमयी उपनिषद् है। इसका पथनिर्देश तन्त्रकी ओर है।

वैदिक साधना देवता-विज्ञानात्मिका है। सकाम याग-यज्ञ क्रियामयी है। औपनिषदिक साधना विश्वप्रपञ्चमें सगुण-निर्गुण-द्वैताद्वैत-ब्रह्मानुसन्धानात्मिका है। पौराणिक साधना भगवद्भावना भगवदनुरागमयी भक्तिसाधना है, अमृतरूप रसकी साधना है। वह चिन्मयी सत्ताके, परमानन्दवस्तु-सत्ताके, नित्य-प्रेम-सुखमय सत्य-साम्राज्यके प्रवेशपथका अनुसन्धान करनेमें संलग्न है। तन्त्र प्रधानतः शक्ति-साधनामयी विद्या है। तन्त्रमें अध्यात्म, योग, कर्म, ज्ञान, भक्ति, मुक्ति, सभी कुछ हैं। तन्त्र सिद्धिकामी है। तान्त्रिक शक्तिसाधक है—मन्त्रतत्त्वविद् है। हिंदू-शास्त्र—हिंदू-धर्म आश्चर्य अपरिमेय है, इसका आदि-अन्त नहीं है। यह अगाध अपार ज्ञान-विज्ञान-दर्शन-प्रेम-भक्ति पारावार है। यदि पुण्य-मरण प्राप्त करना चाहते हो तो आओ, कूद पड़ो इस दिव्य सुधा-सलिल-सागरमें। यही अमृत-मरण है!

उपनिषद्में ज्ञानकी पराकाष्ठा

(लेखक—महामहोपाध्याय शास्त्ररत्नाकर पं० श्रीअ० चिन्नस्वामी शास्त्री)

जगत्स्थितिलयोद्भूतिहेतवे निखिलात्मने।
सच्चिदानन्दरूपाय परस्मै ब्रह्मणे नमः॥

'संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण तथा सबके आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मको नमस्कार है।'

इस जगत्में सभी सुख चाहते हैं, दुःखके त्यागकी इच्छा करते हैं। उसमें भी निरतिशय सुखमें सबका अधिक प्रेम होता है। यद्यपि आधुनिक समयमें जिस किसी प्रकारसे भी की हुई इन्द्रिय-तृप्तिको ही वर्तमान जन्मकी परम सफलता माननेवाले तथा इस इन्द्रिय-तृप्तिके साधनभूत विषयोंके उपभोग-में ही मनको लगाये रखनेवाले मनुष्य उन विषयोंकी प्राप्ति करानेवाली अति महान् धनराशिका किसी भी उपायसे अर्जन करना ही आत्यन्तिक पुरुषार्थ समझते हैं और उससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, ऐसा मानते हैं। धनी तथा अधिकारी पुरुष ही समाजमें गिना जाता है, वही सब जगह अगुआ हो जाता है। उसकी कही हुई सभी बातें समीचीन ही मानी जाती हैं। उसका सारा मत ही सर्वोत्तम मत है—ऐसा लोग मानते हैं; परंतु प्राचीन कालमें हमारे महर्षिगण विषय-भोगको अति तुच्छ समझते थे तथा उसके साधनभूत धन-अधिकारादिको तृणके समान मानकर आत्मज्ञानको ही सर्वोत्कृष्ट जान उसकी प्राप्ति-के लिये ही निरन्तर यत्न करते रहते थे।

इस समय भी ऐसे अनेकों श्रेष्ठ पुरुष हैं जो आज भी उसी वेदादि शास्त्रानुमोदित महर्षियोंके द्वारा संसेवित प्राचीन-तम मार्गका विशेषरूपसे समादर करते हैं। महर्षिलोग लौकिक विषयोंके विज्ञानकी अपेक्षा परम पुरुषार्थके साधनरूप पारमार्थिक आत्मज्ञानको अत्यन्त उत्कृष्ट मानते थे। इसीके द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण स्वर्गादि लोकोंपर विजय प्राप्त की थी और परम श्रेय अर्थात् मुक्तिको प्राप्त किया था। अपनी उत्प्रेक्षा-शक्ति (अत्यन्त विवेकशील बुद्धि) के द्वारा प्राप्त तेजसे परम कल्याणके पथपर, जहाँतक वे पहुँच सके थे, दूसरे लोग उसकी कल्पना करनेमें भी समर्थ नहीं हो सकते। इस बातको पाश्चात्त्य देशों-के विद्वानोंने भी आश्चर्यचकित चित्तसे मुक्तकण्ठ हो स्वीकार किया है। इस प्रकारका आत्मज्ञानजनित गौरव, जो हम भारतीयोंको प्राप्त हो सका था, हमारे उपनिषद्-ग्रन्थोंके अनुशीलनसे ही उपलब्ध हुआ था।

यद्यपि वेदोंके पूर्वकाण्ड (कर्मकाण्ड) में तथा वेदोंका ही आश्रय लेकर चलनेवाली दूसरी विद्याओंमें भी आत्मस्वरूप

और उसके नित्यत्व आदिका वर्णन किया गया है तथा कर्मकाण्डकी जो कुछ और जितनी भी प्रवृत्ति है, वह सब आत्मा और उसकी नित्यताका अवलम्बन लेकर ही है; तथापि वैदिक कर्मकाण्ड आदिके द्वारा आत्माकी नित्य, निरतिशय, आनन्दमय, प्रकाशमय सर्वात्मरूपताका ज्ञान नहीं हो सकता। केवल आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करनेमात्रसे कर्मकाण्डका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। इसके सिवा आत्माकी सर्वात्मता और एकताका प्रतिपादन कर्मकाण्डके विरुद्ध भी पड़ता है। अतएव आत्माके एकत्वका प्रतिपादन करना भेदको औपाधिक बतलाना, जीवात्मा और परमात्मामें भी वास्तविक भेदका अभाव बतलाना, आत्माकी अखण्ड चिदानन्दैक-रसरूपताका अनुभव कराना—आदि सब कुछ उपनिषदोंका कार्य है। इसीमें सारी उपनिषदोंका, विशेषतः 'ईशावास्य'से लेकर 'कैवल्य' पर्यन्त द्वादश उपनिषदोंका परम तात्पर्य है। आचार्य शङ्कर भगवत्पादने भी अपने भाष्यमें इसी अभिप्रायको अभिव्यक्त किया है—

सैन्धवघनवद् अनन्तरमबाह्यमेकरसं ब्रह्मेति विज्ञानं सर्वस्यामुपनिषदि प्रतिपिपादयिषितोऽर्थः।""""तथा सर्वशाखोपनिषत्सु च ब्रह्मैकत्वविज्ञानं निश्चितोऽर्थः।

(बृहदारण्यक० १।४।१०)

तथा—

इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैक्यप्रतिपादकत्वम्।

(माण्डूक्य० १।३)

'ब्रह्म नमकके डलेके समान अन्तररहित (व्यवधानशून्य अविच्छिन्न) है, वह बाह्यभेदसे रहित है अर्थात् बाहरसे कुछ और भीतरसे कुछ—ऐसा नहीं है तथा सर्वदा एकरस है। सम्पूर्ण उपनिषद्में इसी विज्ञानका प्रतिपादन करना अभीष्ट है।'

'इसी प्रकार सम्पूर्ण शाखाओंकी उपनिषदोंमें भी 'ब्रह्मकी एकताका विज्ञान' ही सिद्धान्तभूत अर्थ है।'

सारी उपनिषदें सबके आत्माकी एकताका ही प्रतिपादन करनेवाली हैं; यही मानना अभीष्ट है।

इस भाष्यपर विवृति लिखते हुए आनन्दगिरि कहते हैं—

उपक्रमोपसंहारैकरूप्यादिना सर्वासामुपनिषदां सर्वेषु देहेषु आत्मैक्यप्रतिपादनपरत्वमिष्टम्।

'उपक्रम और उपसंहारकी एकरूपता आदि तात्पर्य-निर्णयके छः हेतुओंको दृष्टिमें रखते हुए यही मानना इष्ट है कि सम्पूर्ण उपनिषदें सब देहोंमें स्थित आत्माकी एकताका ही प्रतिपादन करनेमें तत्पर हैं।' इस विषयमें अर्थात् जीवात्मा और परमात्माकी एकता तथा सब जीवोंकी परस्पर एकताके प्रतिपादनमें और आत्मा अखण्डानन्दरूप, चिन्मय एवं एकरस है—इस तथ्यके वर्णनमें इन सभी उपनिषदोंका कण्ठस्वर एक है। इस विषयको लेकर उनमें तनिक भी मतभेद नहीं है। यह बात नीचे उद्धृत किये हुए वचनोंसे स्पष्टतः जानी जा सकती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(ईश० ६)

'जो सब भूतोंको आत्मामें ही देखता है तथा सब भूतोंमें आत्माको ही देखता है; वह इस सर्वात्मभावके दर्शनके कारण किसीसे भी घृणा नहीं करता।'

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

(केन० १।४)

'जो वाणीके द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता। जिसके द्वारा वाणी अभिव्यक्त होती है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो। अज्ञानीजन जिस देश-कालादिसे परिच्छिन्न वस्तुकी उपासना करते हैं, यह ब्रह्म नहीं है।'

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

(कठ० २।२।१२)

'जो एक, सबको अपने वशमें रखनेवाला और सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है तथा जो अपने एक रूपको ही नाना रूपोंमें व्यक्त करता है—अपनी बुद्धिमें स्थित उस आत्मदेवको जो धीर (विवेकी) पुरुष देखते हैं, उन्हींको शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है, दूसरोंको नहीं।'

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥

(कठ० २।१।१३)

'वह पुरुष अङ्गुष्ठमात्र तथा धूमविहीन ज्योतिके समान है। वह जो कुछ हुआ है तथा होनेवाला है, सबका शासक है, वही आज है और वही कल भी रहेगा।'

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति।

(प्रश्न० ४।१०)

'हे सोम्य ! वह जो निश्चयपूर्वक उस तमोविहीन, शरीर-रहित, लोहितादि गुणोंसे शून्य, शुद्ध एवं अविनाशी पुरुष (आत्मा) को जानता है, वह उस परम अक्षरब्रह्मको ही प्राप्त होता है। वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है।'

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
यच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥
(मुण्डक० २।२।९)

'वह निर्मल तथा निष्कल (अवयवरहित) ब्रह्म हिरण्मय (ज्योतिर्मय) परम कोशमें स्थित है। वह शुद्ध तथा समस्त ज्योतिर्मय पदार्थोंका भी प्रकाशक है और वही परम तत्त्व है, जिसे आत्मज्ञानी जानते हैं।'

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः। (माण्डूक्य० ७

'वह अन्तःप्रज्ञ अर्थात् तैजसस्वरूप नहीं है, बहिःप्रज्ञ अर्थात् विश्वरूप भी नहीं है। अन्तर्बहिःप्रज्ञ अर्थात् जाग्रत् और स्वप्नकी अन्तराल-अवस्थारूप भी नहीं है, प्रज्ञानघन अर्थात् सुषुप्तावस्थारूप नहीं है। प्रज्ञ अर्थात् एक साथ सब विषयोंका प्रज्ञाता, निरा चेतनरूप नहीं है। अप्रज्ञ अर्थात् अचेतनरूप नहीं है। वह दृष्टिका विषय नहीं, व्यवहारका विषय नहीं, उसे हाथोंद्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसकी परिभाषा नहीं हो सकती। वह अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है, जाग्रदादि सभी अवस्थाओंमें एकात्म-प्रत्ययरूप है, प्रपञ्चकृत धर्मोंका वहाँ अभाव है, वह शान्त है, शिव है, अद्वैत है—ऐसे उस परम तत्त्वको ज्ञानीजन परमात्माका चतुर्थ पाद मानते हैं। वही आत्मा है, वही जाननेयोग्य है।'

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः।
(तैत्तिरीय० २।८।५)

'वह जो यह पुरुषमें (पञ्चकोशात्मक देहमें) है, और वह जो आदित्यमें है—वह एक है।'

यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म। (ऐतरेय० ३।३)

'जो कुछ यह जङ्गम जीवसमुदाय है, जो पक्षी हैं, जो यह स्थावर जगत् है, वह प्रज्ञानेत्र है अर्थात् प्रज्ञामें दृष्ट होता है। प्रज्ञानमें ही प्रतिष्ठित है। लोक प्रज्ञानेत्र है, प्रज्ञा ही उसकी प्रतिष्ठा है। प्रज्ञान ही ब्रह्म है।'

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो। (छान्दोग्य० ६।८।७)

'हे श्वेतकेतु ! एतद्रूप ही यह सब कुछ है, यह सत्य है, यह आत्मा है, वह तुम हो।'

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥
(बृहदारण्यक० ४।४।१७)

तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः। (बृहदारण्यक० २।५।१९)

'जिसमें पाँच पञ्चजन (गन्धर्व, पितर, देवता, असुर और राक्षस अथवा ब्राह्मणादि वर्ण और निषाद) तथा अव्याकृत प्रकाश प्रतिष्ठित है, उस आत्माको ही मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ। उस ब्रह्मको जाननेवाला मैं अमृत ही हूँ।' 'वह यह ब्रह्म पूर्व और अपर—कारण और कार्यसे रहित है, अन्तर-विजातीय द्रव्यसे शून्य है और अबाह्य है (बाह्य आदिके भेदसे रहित है), यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है।'

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥
(श्वेताश्वतर० ६।१९)

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
(श्वेताश्वतर० ६।१२)

'जो कला अर्थात् अवयवरहित है, निष्क्रिय है, शान्त, निर्दोष और निर्लेप है, जो अमृतका सर्वोत्तम सेतु है और जिसका ईंधन जल चुका है, उस धूमादिशून्य अग्निके समान दीप्तिमान् है।' 'उसको जो धीर अपने आत्मा (अन्तःकरण) में स्थित देखते हैं उन्हींको शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है, दूसरोंको नहीं।'

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं स त्वमेव त्वमेव तत्॥
(कैवल्य० १।१६)

'जो परब्रह्म सबका आत्मा, विश्वका महान् आयतन, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और नित्य है; वह तुम्हीं हो, तुम्हीं वह हो।'

यहाँ इन थोड़े-से वचनोंद्वारा दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। इन उपनिषदोंमें इस प्रकारके अर्थवाले सैकड़ों वचन हैं, जिनका परम तात्पर्यस्वरूप एक ही अर्थ है—'एकरस अखण्ड

आनन्दस्वरूप ब्रह्म और आत्माकी एकताका निरूपण करना।' उनमें ध्यानयोग उपासनादि तथा सृष्टिमें अनुप्रवेशादि अन्य विषय भी प्रतिपादित हुए हैं; परंतु उनका मुख्यतः प्रतिपादन नहीं हुआ है, प्रकृत अर्थको अभिव्यञ्जित करनेके लिये ही उनका प्रतिपादन हुआ है। इनका मुख्य प्रयोजन है—भेद-बुद्धिका निवारण करना।

यद्यपि लोकमें एक सौ आठ उपनिषदें प्रचलित हैं और मुक्तिकोपनिषद्‌में भी वे नाम ले-लेकर गिनी गयी हैं तथापि उनमें उपर्युक्त बारह उपनिषदोंकी ही प्रधानता तथा सर्वोपादेयता है। इनमें बतलाये हुए अर्थका ही बहुतेरी उपनिषदें अनुवाद करती हैं। दूसरी कुछ उपनिषदें ऐसी भी हैं जो देवता-विशेषका नाम लेकर उसके स्वरूप-माहात्म्यादिका निरूपण करती हैं; परंतु वे समयाचारके प्रतिपादक (साम्प्रदायिक) ग्रन्थोंकी कोटिमें आकर सर्वत्र तथा सर्वजनोंमें आदर नहीं प्राप्त करतीं; परंतु ये द्वादश उपनिषदें सम्प्रदायिक विषयोंमें तनिक भी न पड़कर सबके लिये उपादेय बनती हैं। केवल अखण्डैकरस, निर्गुण, क्रियाकारकसे शून्य, पर, एक, सर्वात्मा, सच्चिदानन्दघनमें परम तात्पर्य रखना ही इनकी सर्वोत्तमता और सर्वादरणीयताका मुख्य कारण है। वस्तुतः अखण्ड-आनन्दैकरसस्वरूप ब्रह्म ही उपनिषद्-प्रतिपादित तत्त्व है, ऐसा श्रुतिने ही कहा है। बृहदारण्यक-उपनिषद्‌में कथा है कि महाराज जनकने 'कौन सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता है' यह जाननेके लिये एक सहस्र गोदानकी शर्त की। उस समय भगवान् याज्ञवल्क्यने उन सहस्रों गौओंको अपने अधिकारमें कर लिया, इसपर राजसभामें बैठे हुए विद्वान् कुपित होकर उनसे अनेक प्रकारके प्रश्न करने लगे। उनमें एक शाकल्य भी था। उसके अनेक प्रश्नोंका उत्तर देनेके पश्चात् अन्तमें महर्षि याज्ञवल्क्यने भी उससे पूछा—

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति।' (बृहदारण्यक० ३। ९। २६)

'शाकल्य! मैं तुमसे उस उपनिषद्-प्रतिपादित पुरुषको पूछता हूँ, यदि मुझसे उसको नहीं बतलाओगे तो तुम्हारा सिर गिर जायगा।'

शाकल्य इसका उत्तर नहीं जानता था, अतः उससे उत्तर न बन पड़ा, इस कारण उसका सिर गिर गया। इस आख्यायिका-को कहकर अन्तमें औपनिषद-पदके अर्थको श्रुतिने स्वयं ही खोला है।

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम्।'
(बृहदारण्यक० ३। ९। २८)

'ब्रह्म विज्ञानानन्दस्वरूप है, वह धन देनेवाले यजमानकी परम गति है।' यहाँ भगवान् शङ्कराचार्यजी अपने भाष्यमें कहते हैं—

''अतिक्रान्तवानुपाधिधर्मं हृदयाद्यात्मत्वं स्वेनैवात्मना व्यवस्थितो य औपनिषदः पुरुषः अशनायादिवर्जितः उपनिषत्स्वेव विज्ञेयो नान्यप्रमाणगम्यः तं त्वां विद्याभिमानिनं पुरुषं पृच्छामि इति।''

''विज्ञानं विज्ञप्तिः विज्ञानं तच्चानन्दं न विषयविज्ञानवद् दुःखानुविद्धम्। किं तर्हि प्रसन्नं शिवमतुलमनायासं नित्यतृप्तमेकरसमित्यर्थः।''

'हृदयादिको ही आत्मा माननारूप जो उपाधि-धर्म है, उसको अतिक्रान्त करनेवाला अपने आत्मरूपसे ही व्यवस्थित, क्षुधा-पिपासा आदि धर्मोंसे वर्जित, उपनिषदोंमें ही जाननेयोग्य तथा दूसरे प्रमाणोंके द्वारा जाननेमें नहीं आ सकनेवाला जो औपनिषद पुरुष है, उस पुरुषके विषयमें मैं विद्याका अभिमान रखनेवाले तुमसे पूछता हूँ।'

'विज्ञप्ति (बोध) का ही नाम विज्ञान है, वही आनन्द भी है। ब्रह्म-विज्ञान विषय-विज्ञानकी भाँति दुःखसे व्याप्त नहीं है। तो फिर कैसा है? प्रसन्न, कल्याणमय, अनुपम, आयास-रहित, नित्यतृप्त और एकरस है। ऐसा इसका तात्पर्य है।'

इस सन्दर्भके द्वारा यह स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है कि पूर्वनिर्दिष्ट आत्मस्वरूप एकमात्र उपनिषदोंके द्वारा ही प्राप्त होने योग्य है। अतएव उसको औपनिषद पुरुष कहते हैं।

यहाँ 'शिव' शब्द सगुणब्रह्मका वाचक नहीं है, बल्कि माण्डूक्योपनिषद्‌में उल्लिखित **'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते'** इस वाक्यगत शिवका ही पुनः निर्देश यहाँ भाष्य-कारने किया है। वहाँ माण्डूक्योपनिषद्‌में 'शिवम्' पदके द्वारा सगुणब्रह्मके उपादानकी लेशमात्र भी गन्ध नहीं है, क्योंकि 'वह अद्वैत है' यह बात आगे स्पष्टरूपसे कही गयी है। इसका विवरणभाष्य करते हुए कहा गया है—**'शिवं परिशुद्धं परमानन्दबोधम्'** अर्थात् 'शिव'का अभिप्राय है 'परिशुद्ध परम आनन्दमय बोध।'

इस प्रकार इन मुख्य-मुख्य उपनिषदोंका स्वतः प्रतीत होनेवाला अभिप्राय नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्गुण, एकरस, निरतिशय अखण्ड-आनन्दस्वरूप, अद्वैत आत्माका बोध कराना ही है। कहीं-कहीं द्वैत-सगुण आदि तथा अन्यत्र भी जो इनकी प्रवृत्ति दीख पड़ती है, वह भी अद्वैततत्त्वके साधन-रूपमें ही है, न कि परम तात्पर्यरूपमें। अतएव किसी अग्रगण्य विद्वान्‌ने कहा है—

'तस्माद् बहून् पश्यन्त्या बहुभिर्भाषमाणाया अपि पतिव्रताया हृदयं स्वपताविव बहुभिर्वचनैरितस्ततो नीयमानानामपि भगवतीनामुपनिषदां नित्यनिरतिशयाखण्डानन्दचिद्घनरूपात्मैकत्व एव हृदयमवतिष्ठते' इति।

'जिस प्रकार बहुतसे पुरुषोंकी ओर देखती और बहुतोंसे बातें करती रहनेपर भी पतिव्रता स्त्रीका हृदय अपने पतिमें ही लीन रहता है, उसी प्रकार अनेकों वाक्योंद्वारा इधर-उधर लगायी जानेपर भी भगवती उपनिषद्-विद्याका हृदय नित्य, निरतिशय अखण्ड-आनन्द-चिद्घनरूप आत्मैकत्वमें ही स्थित रहता है।' उस प्रकारकी एकात्मरूपमें जो अवस्थिति है, वही मोक्ष है। उसीको ब्रह्मसाक्षात्कार कहते हैं। और वही अपुनरावृत्तिरूप परम पुरुषार्थ है। उसी स्थितिको लक्ष्य करके भगवान् वासुदेवने भी कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६। २९)

'सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाला योगयुक्त पुरुष सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखता है।' और उसी सर्वात्मभावमें स्थित होकर महर्षि वामदेव अपनेको सर्वरूप देखते हैं—'**अहं मनुरभवं सूर्यश्च**' मैं मनु हो गया और सूर्य हो गया। न केवल एक महर्षि वामदेवको ही ऐसा ज्ञान हुआ, बल्कि अन्य महर्षियों तथा साधारण मनुष्योंमें भी जिसको ऐसा ज्ञान हुआ है, उसने भी अपनी सर्वात्मताका ही दर्शन किया है। आज भी वैसा ज्ञानी पुरुष वैसी ही स्थितिमें आ सकता है। यह बात भगवती श्रुति ही आग्रहपूर्वक कह रही है—

तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं
ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति।

(बृहदारण्यक० १। ४। १०)

''इस समय भी जो इसको इस प्रकार जानता है अर्थात् **'मैं ही ब्रह्म हूँ'** ऐसा जो अनुभव करता है वह यह सर्वरूप हो जाता है।'' गीताके आचार्य भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

(गीता ४। १०)

'ज्ञान और तपस्यासे पवित्र हुए बहुतेरे महात्माजन मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं।' इस प्रकारके आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिसे ही पूर्वकालमें महर्षिलोग सब प्रकारकी आसक्तियोंका त्याग करके संन्यास ग्रहण करते थे। यह श्रुति ही कहती है—

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।

(बृहदारण्यक० ३। ५। १)

तमेतं वै आत्मानं स्वं तत्त्वं विदित्वा ज्ञात्वा अयमहमस्मि परं ब्रह्म सदा सर्वसंसारविनिर्मुक्तं नित्यतृप्तम्' इति।

(शाङ्करभाष्य)

''शोक-मोह-जरा-मृत्यु-भूख-प्यास आदिसे रहित उस इस आत्माको ही जानकर ब्राह्मणलोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणासे ऊपर उठकर भिक्षाचर्यासे विचरते हैं—भिक्षाजीवी संन्यासी हो जाते हैं उस इस आत्माको—अपने तात्त्विक स्वरूपको सदा संपूर्ण संसार-धर्मोंसे रहित नित्यतृप्त परब्रह्मके रूपमें जानकर 'यह मैं हूँ'—ऐसा समझकर—ऐसा '**तमात्मानं विदित्वा**' पर श्रीशङ्कर भगवत्पादका भाष्य है। भगवान् याज्ञवल्क्यने इसी आत्मतत्त्वका उपदेश अपनी पत्नी मैत्रेयीसे किया था—

स एष नेति नेत्यात्मा, अगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यते। असङ्गो न हि सज्यते।

तथा—

यत्र सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्—इत्यादि।

(बृहदारण्यक० ४। ५। १५)

'वह यह 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्देश किया जानेवाला आत्मा अगृह्य है—ग्रहण नहीं किया जा सकता। अविनाशी है—विनष्ट नहीं हो सकता। असङ्ग है—आसक्तिमें नहीं पड़ सकता।' तथा 'जहाँ सब कुछ आत्मा ही हो गया, वहाँ किससे किसको देखे।'

इसी आत्मतत्त्वका उपदेश भगवान् वैवस्वत धर्मराजने अपने प्रिय शिष्य नचिकेताको साग्रह आत्मतत्त्वकी जिज्ञासाके उत्तरमें दिया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(कठ० १। २। १५)

'सम्पूर्ण वेद जिस पदका प्रतिपादन करते हैं, सारी तपश्चर्याओंको जिसकी प्राप्तिका साधन बताया जाता है, जिसकी इच्छा करते हुए मुमुक्षुजन ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस पदको मैं तुमसे संक्षेपमें कहता हूँ, 'ओम्' यही वह पद है।'

अत्यन्त गहन, अत्यन्त दुर्लभ, अतिनिगूढ़ आत्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेसे ही इन उपनिषदोंको रहस्यात्मक माना गया है तथा उन-उन ग्रन्थोंमें वैसा कहा भी गया है। तात्पर्य यह है कि रहस्यके अर्थमें 'उपनिषद्' शब्दका प्रयोग प्रायः भिन्न-भिन्न उपनिषद्-ग्रन्थोंमें देखा गया है। उपनिषदोंमें नाना प्रकारकी जो अनेकों आख्यायिकाएँ गुरु-शिष्य-संवादरूप-

में, विद्वानोंके पारस्परिक प्रश्नोत्तरके रूपमें तथा उपदेशरूपमें प्राप्त होती हैं, उन सबका उद्देश्य है ब्रह्मविद्याकी सर्वश्रेष्ठता तथा सर्वापेक्षा अधिक उपादेयताका प्रतिपादन करना। अनित्य वस्तुओंकी ओरसे पुरुषोंमें वैराग्य उत्पादन कर ब्रह्मविद्याकी ओर स्वतः उन्हें उन्मुख करना उनका लक्ष्य है। अतएव वे आख्यायिकाएँ सत्य हैं या असत्य—इस बातका अधिक आग्रह नहीं करना चाहिये। इसीलिये भिन्न-भिन्न स्थलोंपर कहते हैं—

आख्यायिका तु विद्याग्रहणविधिप्रदर्शनार्था विधिस्तुत्यर्था च राजसेवितं पानीयमितिवत् ।

तथा—

विद्याप्राप्त्युपायप्रदर्शनार्थैवाख्यायिका ।

आख्यायिका तो विद्याग्रहणकी विधि प्रदर्शित करनेके लिये तथा विधिकी प्रशंसा करनेके लिये है। जैसे किसी जलको श्रेष्ठ बतानेके लिये यह कह दिया जाय कि यहाँका पानी तो राजा भी ग्रहण कर चुके हैं। इसके सिवा, विद्याकी प्राप्तिका उपाय क्या है यह दिखलानेके लिये भी आख्यायिका दी जाती है। इसी प्रकार उन उपनिषदोंमें पञ्चाग्नि-विद्या, दहर-विद्या, संवर्ग-विद्या, प्राणाग्निहोत्र-विद्या आदि विद्याओंमें तथा मनुष्यसे लेकर ब्रह्मातक आनन्दके तारतम्यका निर्देश, प्राण आदिकी श्रेष्ठता और कनिष्ठताका कथन, जीवकी विश्व तैजस प्राज्ञ इन तीन अवस्थाओंका निरूपण करना और गुरु-शिष्योंके वंश-वर्णन आदि विषयोंमें भी वही दृष्टि रखनी चाहिये। सर्वदा अनादि अविद्याके विलासमें विकसित तथा क्रिया, कारक और फलादिरूपसे भासित होनेवाले इस मिथ्या प्रपञ्चको विद्याके द्वारा तिरोहित करके नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्दैकरस अद्वैत ब्रह्मके रूपमें अवस्थित होना ही परम पुरुषार्थ है, उसकी प्राप्तिमें ही पुरुषकी कृतकृत्यता है—इसके प्रतिपादनके लिये ही उपनिषदें प्रवृत्त होती हैं, यही निगूढ़ रहस्य—तत्त्व उपनिषदोंमें वर्णित है। इस प्रकार उनमें सब कुछ उत्तम-ही-उत्तम है।

ब्रह्मविद्या

(ले०—श्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानुजसम्प्रदायाचार्य आचार्यपीठाधिपति श्रीराघवाचार्यजी स्वामी महाराज)

अनन्त अपौरुषेय वेदवाङ्मयका ज्ञानकाण्ड है वह उपनिषत्साहित्य, जिसके बलपर अध्यात्मवादियोंने घोषणा की थी—

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये ।

कर्म वह है जो बन्धनके लिये न हो और विद्या वह है जो बन्धनसे मुक्त कर दे। ऋषियोंने इसी विद्याके प्रकाशमें अनन्त सच्चिदानन्द परब्रह्मका साक्षात्कार किया, कराया और इस विद्याको ब्रह्मविद्या कहकर परमतत्त्व (ब्रह्म) के साथ रहनेवाले उसके सम्बन्धको भी स्पष्ट कर दिया। प्रतिपादनपद्धति, विशेष ज्ञातव्य, परम्परा, आदिके भेदसे उसके अनेक रूप स्वाभाविक थे, जो विविध उपनिषदोंमें तथा एक ही उपनिषद्के विविध भागोंमें परिगृहीत होकर साधकोंके लिये प्रत्यक्ष भी हुए; तथापि ब्रह्मविद्याके इन विविध रूपोंके अन्तस्तलमें रहनेवाली स्वरूपगत एकता मिट न सकी, प्रत्युत सुस्थिर बनी रही। इसका श्रेय था मीमांसाकी उस पद्धतिके लिये, जिसने इन सभी ब्रह्मविद्याओंका—ब्रह्मविद्याके विविध रूपोंका समन्वय किया था। इसी पद्धतिका आश्रय लेकर ब्रह्मसूत्रकारने प्रमुख मानी जानेवाली बत्तीसों ब्रह्मविद्याओंकी चर्चा की और उनके सामञ्जस्यका विवेचन किया। विहङ्गम दृष्टिसे अवलोकन करनेपर १—सद्विद्या (छा०), २—आनन्दविद्या (तै०), ३—अन्तरादित्यविद्या (छा०), ४—आकाशविद्या (छा०), ५—प्राणविद्या (छा०), ६—गायत्री—ज्योतिर्विद्या (छा०), ७—इन्द्रप्राणविद्या (छा० कौ०), ८—शाण्डिल्यविद्या (छा०, बृ० अग्निरहस्य), ९—नाचिकेतसविद्या (कठ०), १०—उपकोसलविद्या (छा०), ११—अन्तर्यामिविद्या (बृ०), १२—अक्षरविद्या (मु०), १३—वैश्वानरविद्या (छा०), १४—भूमविद्या (छा०), १५—गार्ग्यक्षरविद्या (बृ०), १६—प्रणवोपास्य परमपुरुषविद्या (प्र०), १७—दहरविद्या (छा०, बृ०, तै०), १८—अङ्गुष्ठप्रमित विद्या (क०, श्वे०), १९—देवोपास्यज्योतिर्विद्या (बृ०), २०—मधुविद्या (छा०), २१—संवर्गविद्या (छा०), २२—अजाशरीरकविद्या (श्वे०, तै०), २३—बालाकिविद्या (कौ०, बृ०), २४—मैत्रेयीविद्या (बृ०), २५—द्रुहिणरुद्रादिशरीरकविद्या, २६—पञ्चाग्निविद्या (छा०, बृ०), २७—आदित्यस्थाहर्नामक विद्या (बृ०), २८—अक्षिस्थाहन्नामक विद्या (बृ०), २९—पुरुषविद्या (छा०, तै०), ३०—ईशावास्यविद्या (ई०), ३१—उपस्तिकहोलविद्या (बृ०) और ३२—व्याहृतिशरीरकविद्या—ये बत्तीस विद्याएँ हैं।

ये विद्याएँ क्रमशः बताती हैं कि (१) परब्रह्म अपने

सङ्कल्पानुसार सबके कारण हैं, (२) वे कल्याणगुणाकर वैभवसम्पन्न आनन्दमय हैं, (३) उनका रूप दिव्य है, (४) उपाधिरहित होकर वे सबके प्रकाशक हैं, (५) वे चराचरके प्राण हैं, (६) वे प्रकाशमान हैं, (७) वे इन्द्र, प्राण आदि चेतनाचेतनोंके आत्मा हैं, (८) प्रत्येक पदार्थकी सत्ता, स्थिति एवं यत्न उनके ही अधीन हैं, (९) समस्त संसारको लीन कर लेनेकी सामर्थ्य उनमें है, (१०) उनकी नित्य स्थिति नेत्रमें है, (११) जगत् उनका शरीर है, (१२) उनके विराट् रूपकी कल्पनामें अग्नि आदि अङ्ग बनकर रहते हैं, (१३) स्वर्लोक, आदित्य आदिके अङ्गी बने हुए वे वैश्वानर हैं, (१४) वे अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न हैं, (१५) वे नियन्ता हैं, (१६) वे मुक्त पुरुषोंके भोग्य हैं, (१७) वे सबके आधार हैं, (१८) वे अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान हैं, (१९) वे सभी देवताओंके उपास्य हैं, (२०) वे वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्योंके आत्माके रूपमें उपास्य हैं, (२१) अधिकारानुसार वे सभीके उपासनीय हैं, (२२) वे प्रकृतितत्त्वके नियन्ता हैं, (२३) समस्त जगत् उनका कार्य है, (२४) उनका साक्षात्कार कर लेना मोक्षका साधन है, (२५) ब्रह्मा, रुद्र आदि-आदि देवताओंके अन्तर्यामी होनेके कारण उन-उन देवताओंकी उपासनाके द्वारा वे प्राप्त होते हैं, (२६) संसारके बन्धनसे मुक्ति उनके अधीन है, (२७) वे आदित्यमण्डलस्थ हैं, (२८) वे पुण्डरीकाक्ष हैं, (२९) वे परम पुरुष (पुरुषोत्तम) हैं, (३०) वे कर्मसहित उपासनात्मक ज्ञानके द्वारा प्राप्त होनेवाले हैं, (३१) उनके प्राप्त करनेमें अनिवार्य होते हैं अन्य भोजनादिविषयक नियम भी और (३२) व्याहृतियोंकी आत्मा बनकर वे मन्त्रमय हैं।

यह हृदयङ्गम कर लेनेपर परब्रह्मके स्वरूप, रूप, गुण, विभव आदिके सम्बन्धमें उठ सकनेवाली सभी शङ्काओंका समाधान हो जाता है। सगुण-निर्गुण, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत, नित्यविभूति-लीलाविभूतिकी उलझनें भी सुलझ जाती हैं; किंतु पृथक्-पृथक् ब्रह्मविद्याओंमें परब्रह्मके पृथक्-पृथक् नामकरण तथा ब्रह्मविद्याओंके मौलिक स्वरूप संदेहके कारण बन सकते थे, इसके लिये शेषावतार श्रीरामानुजमुनीन्द्रने ब्रह्मसूत्रके लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणमें तैत्तिरीयोपनिषद्के नारायणानुवाकको उपस्थित करते हुए लिखा है—

परविद्यासु अक्षरशिवशम्भुपरब्रह्मपरज्योतिपरतत्त्वपरमात्मादिशब्दनिर्दिष्टम् उपास्यं वस्तु इह तैः एव शब्दैः अनूद्य तस्य नारायणत्वं विधीयते। (श्रीभाष्य)

ब्रह्मविद्याओंमें जो अक्षर, शिव, शम्भु, परब्रह्म, परज्योति, परतत्त्व, परमात्मा आदि शब्द आये हैं, उन्हीं शब्दोंमें यहाँ (नारायणानुवाकमें) उपास्य परमतत्त्वका निर्देश करते हुए उनके नारायण होनेका विधान किया गया है। साथ ही—

अतो वाक्यार्थज्ञानादन्यदेव ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं ज्ञानं वेदान्तवाक्यैर्विधित्सितम्।

—लिखकर ब्रह्मविद्यासे होनेवाले ज्ञानको वाक्यार्थज्ञानतक सीमित न कर उसे ध्यान, उपासना आदि शब्दोंका वाच्य ठहराया है। इस प्रकार निर्णय करनेमें श्रीभाष्यकारको पाञ्चरात्र आगम और भगवद्गीताका समर्थन तथा सर्वश्रीबोधायन, टङ्क, द्रमिडाचार्यकी परम्पराका बल भी प्राप्त हुआ था। कहना न होगा कि जहाँ पाञ्चरात्र आगमने ज्ञानकाण्डको आराध्यपरक और कर्मकाण्डको आराधनपरक बताकर भगवदाराधनमें सम्पूर्ण वेदवाङ्मयका विनियोग किया तथा गीताचार्यने ज्ञान-कर्मानुगृहीत भक्तियोगका उपदेश देकर ज्ञानकाण्डके उपासनात्मक स्वरूपको जाग्रत् किया; वहाँ महर्षि बोधायनकी परम्पराने कर्ममीमांसा, दैवतमीमांसा और ब्रह्ममीमांसाका सम्मेलन कर सर्वकर्मसमाराध्य सर्वदेवान्तर्यामी परब्रह्मकी उपासनाको परमपुरुषार्थका साधन स्थिर करके ब्रह्ममीमांसाकी प्रधानता स्थापित की। इस प्रकार ब्रह्मविद्याओंका जो मौलिक उपासनात्मक स्वरूप सामने आता है, उसको साध्यभक्ति समझ लेनेपर यह भी कह देना आवश्यक हो जाता है कि ब्रह्मविद्याओंके मौलिक स्वरूपके अन्तर्भूत सिद्धभक्तिका संदेश भी श्रीरामानुजमुनीन्द्रने दिया है। शरण्य-परमतत्त्वके माहात्म्यके रूपमें यद्यपि प्रत्येक ब्रह्मविद्यामें इस सिद्ध-भक्तिकी झाँकी दिखायी देती है, तथापि पृथक् न्यासविद्या (तै० श्वे०) के रूपमें उसे वह स्वतन्त्र स्थान भी मिला है, जो बत्तीसों ब्रह्मविद्याओंसे समानता ही नहीं करता, अपितु विशेषता भी ग्रहण करता है। यही 'न्यासविद्या' है। परमगुह्यतम वह शरणागति-मार्ग, जिसमें परमपुरुषकी कृपाके सहारे साधक कृतार्थ और कृतकृत्य हो जाता है। अन्य विद्याओंके रूपमें ब्रह्मविद्या ब्रह्मको प्राप्त करानेवाली विद्या है; परंतु न्यासविद्याके रूपमें वह परब्रह्मकी अपनी दयामयी विद्या है, जो साधनकी सारी कठिनाइयोंको दूरकर और सारी बाधाओंको मिटाकर अकिञ्चन अनन्यगति साधकको स्वयं परब्रह्मतक पहुँचा देती है। उपनिषद्-अङ्कके लिये मङ्गलाशासन करते हुए हम शरण्य परमपुरुषसे प्रार्थना करते हैं कि वे अपनी करुणा-दृष्टिसे शरण देकर समस्त प्राणियोंका परम कल्याण करें।

उपनिषत्तत्त्व

(श्रीमहामण्डलके एक साधु-सेवकद्वारा लिखित)

सम्पूर्ण वेद तीन भागोंमें विभक्त हैं। यथा—उपनिषद्-भाग, मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग। उपनिषद्भाग वेदके ज्ञानकाण्डका प्रकाशक है। इस मन्वन्तरमें वेदकी ११८० शाखाएँ आविर्भूत हुईं। इतनी ही संख्यामें उपनिषद्, ब्राह्मण और मन्त्रभाग भी प्रकट हुए। पुराणों और उपनिषदोंमें वेदकी यह संख्या पायी जाती है। कलिकालके प्रभावसे इस संख्यामेंसे सहस्रांश भी इस समय नहीं मिलता है। उपनिषदोंके तुल्य ग्रन्थ पुराणोंमें भी मिलते हैं। जैसे कि महाभारतमें श्रीमद्भगवद्गीता, जो कि उपनिषदोंका सार कही जाती है।

वेद अनादि है। सृष्टिके प्रारम्भमें हमारे ब्रह्माण्डमें जितना वेद प्रकट हुआ है, उसकी स्थिति सदा हमारे ब्राह्मसर्गमें बनी रहती है। हमारे मृत्युलोकरूपी भारतवर्षमें वेदोंका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है। सृष्टिकी प्रारम्भिक दशामें महर्षियोंके अन्तःकरणोंमें वेद ज्यों-का-त्यों सुनायी देता है, जैसे रेडियो-यन्त्रद्वारा हजारों कोसोंके शब्द ज्यों-के-त्यों सुनायी देते हैं, उसी प्रकार महर्षियोंके अन्तःकरणोंमें श्रुतियाँ अपने स्वरूपमें यथावत् प्रकट होती हैं। जिन पूज्यपाद महापुरुषोंके हृदयोंमें वेद आविर्भूत होते हैं, वे ही महर्षि कहलाते हैं। कितना ही बड़ा ज्ञानी पुरुष क्यों न हो, वह मन्त्रद्रष्टा न होनेसे महर्षि नहीं कहला सकता। वेद-मन्त्रोंके द्रष्टा ही ऋषि अथवा महर्षिपद-वाच्य हो सकते हैं।

शास्त्रोंमें ऐसा प्रमाण मिलता है कि प्रत्येक सत्ययुगमें सम्पूर्ण वेदोंका आविर्भाव मोक्षभूमिरूप भारतखण्डमें हुआ करता है और प्रत्येक कलियुगमें वेदोंका ह्रास होते-होते इस मृत्युलोकसे वेद ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं। यही वेदके आविर्भाव और तिरोभावका रहस्य है। वेदका स्वरूप समझनेके लिये सबसे पहले देश-कालका ज्ञान अवश्य होना चाहिये। वेदके साथ अनादि-अनन्तकाल और ब्रह्माण्डरूपी देश तथा ब्रह्मके सदृश सत्, चित् और आनन्दभावका कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसके समझे बिना वेदका स्वरूप ठीक-ठीक समझमें नहीं आता। ब्रह्मका स्व-स्वरूप त्रिभावात्मक है। इस कारण मीमांसाशास्त्र कहता है कि वेद भी तीन भावोंसे पूर्ण हैं और ब्रह्मकी स्वभावरूपिणी प्रकृति जब त्रिगुणमयी हैं तो शब्दब्रह्मरूपी वेद भी तीन गुणोंसे पूर्ण हैं। वेद त्रिभावात्मक होनेके कारण वेदका मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग और उपनिषद्भाग भी प्रत्येक त्रिभावात्मक है और उनकी प्रत्येक श्रुतिका तीन प्रकारसे अर्थ होना निश्चित है। इसी कारण स्मृतिशास्त्र कहता है कि जैसे चावल, दुग्ध और शर्करा—तीनों मिलकर परम पवित्र सुमिष्ट परमान्न बनता है, वैसे ही प्रत्येक श्रुति त्रिभावात्मक होकर सब प्रकारके कल्याणका कारण होती है। अतः जबतक त्रिभाव-रहस्य और त्रिगुण-रहस्यका ज्ञान साधकको नहीं होता और जबतक शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये छः वेदाङ्ग तथा न्यायदर्शन और वैशेषिक-दर्शन—ये दोनों पदार्थवाददर्शन, योगदर्शन और सांख्यदर्शन—ये दोनों सांख्यप्रवचनदर्शन और वेदके कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डके तीन मीमांसादर्शन—इस प्रकारके सात वैदिक दर्शनोंका अच्छी तरहसे अनुशीलन साधक नहीं करता और साथ-ही-साथ भगवद्-उपासनाके द्वारा योगयुक्त अन्तर्मुखवृत्ति नहीं प्राप्त कर लेता, तबतक वेदार्थ समझनेमें साधक समर्थ नहीं होता।

उपनिषद्-ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सृष्टिज्ञान और देश-कालका ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। सृष्टिके साथ जो कालका सम्बन्ध है, उसके विषयमें जैसा सुन्दर, विस्तृत और अलौकिक वर्णन वेद और शास्त्रोंमें पाया जाता है, वैसा और कहीं देखने अथवा सुननेमें नहीं आता। हमारे इस मृत्युलोक भारतवर्षकी आयुके निर्णय करनेमें अनेक पदार्थ-विद्यासेवी (साइंटिस्ट) विद्वानोंने अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ की हैं। उन्होंने सृष्टिकी उत्पत्तिके विषयमें, मनुष्य-सृष्टिके विषयमें, वेदके आविर्भावके विषयमें और इसी प्रकारसे नाना देश और नाना पर्वत आदिकी सृष्टिके स्तरोंके विषयमें नाना कल्पनाएँ भी की हैं। किसीने इसकी दो-चार हजार वर्षोंकी ही गणना की है। अब वह गणना कुछ आगे अवश्य बढ़ी है; किंतु उसके साथ भारतवर्षके प्राचीन सिद्धान्तोंको मिलानेपर एक कौतुक-सा मालूम होता है। सनातन-धर्मके प्राचीन ग्रन्थोंमें एक ब्रह्माण्डकी आयुका निर्णय करनेमें इस प्रकारकी गणना पायी जाती है कि १०० त्रुटिका एक पर, ३० परका एक निमेष, १८ निमेषोंकी एक काष्ठा, ३०काष्ठाओंकी एक कला, ३० कलाओंकी एक घटिका, दो घटिकाओंका एक क्षण, ३०

क्षणोंका एक अहोरात्र अर्थात् मनुष्यका पूरा दिन-रात होता है। इसी संख्यासे मानववर्ष-गणना की जाती है। इस हिसाबसे १७२८००० मानववर्षोंका सत्ययुग, १२९६००० मानववर्षोंका त्रेतायुग, ८६४००० वर्षोंका द्वापरयुग और ४३२००० वर्षोंका कलियुग है और ४३२०००० मानववर्षोंका महायुग होता है। ७१ महायुगोंका अर्थात् ३०६७२०००० वर्षोंका एक मन्वन्तर होता है और ८६४०००००० वर्षोंका ब्रह्माका एक दिन-रात अर्थात् एक कल्प होता है।

३११०४००००००००० मानववर्षोंमें एक ब्रह्मापदधारी बदल जाते हैं। १८६६२४००००००००००००० मानववर्षोंमें एक विष्णुपदधारी बदल जाते हैं। इसी प्रकार ४४७८९७६०००००००००००००००००० मानववर्षोंकी भगवान् शिवकी आयु समझी जाती है, जो ब्रह्माण्डका प्रलय करके ब्रह्ममें लय हो जाते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरी ब्रह्मशक्ति जगदम्बाकी एक त्रुटिके शिवजीके पाँच करोड़ निमेष होते हैं। इससे एक ब्रह्माण्डके लय होनेका समय निर्धारित किया जा सकता है। इससे यह तात्पर्य है कि जगदम्बाकी एक त्रुटिमें एक ब्रह्माण्डका सम्पूर्ण प्रलय हो जाता है। जैसे ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूपी त्रिमूर्तिके प्रकट होनेसे पहले प्राकृतिक सृष्टि होती है और उसमें ब्रह्माण्डके उपादानरूपी परमाणु-पुञ्जोंको एकत्र करनेमें समय लगता है, उसी प्रकार भगवान् शिव जीवोंका प्रलय करके ब्रह्मीभूत हो जाते हैं। उसके बाद भी परमाणुपुञ्जोंके बिखरनेमें समय लगता है। सृष्टिके और प्रलयके सब कार्य जिस समयमें हों, उस समयको ब्रह्माण्डकी आयु कह सकते हैं और वह ब्रह्माण्डकी आयुका काल श्रीजगदम्बाकी एक त्रुटि समझी जा सकती है।*

श्रीमार्कण्डेय आदि पुराणोंमें १४ मन्वन्तरोंका संक्षिप्त वर्णन है और यह भी स्पष्ट वर्णन है कि ७१ महायुगोंका एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें देवराज इन्द्रपदधारी देवता भी कालराज मनुके साथ ही बदल जाते हैं। उस समय भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक—तीनोंके बड़े-बड़े पदधारी सब देवता बदल जाते हैं। कर्मके चालक देवता, ज्ञानके चालक ऋषि और स्थूल शरीर आदिके सञ्चालक पितृगण, जो तीनों ही तीन श्रेणीके देवता हैं, इनके जितने बड़े-बड़े पदधारी हैं, वे सब प्रत्येक मन्वन्तरमें बदल जाया करते हैं। इस कारण भूः, भुवः, स्वः—इन तीनों लोकोंकी शृङ्खला और सभ्यता आदिमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें जो परिवर्तन होता है, वह भूः, भुवः, स्वःरूपी त्रिलोकमें होता है। मन्वन्तरमें कभी पूरा प्रलय नहीं होता, खण्ड-प्रलय होता है और देवपदधारी तो अवश्य ही बदल जाते हैं। ये सब बातें प्राचीन आर्योंके वेद और शास्त्रोंसे भलीभाँति प्रमाणित हैं। इन सब कालके विभागोंकी संख्याके देखनेपर दैवीजगत्‌के माननेवाले विद्वान् तो आनन्दित होते ही हैं; किंतु जो दैवीजगत्‌पर आस्था न भी रखते हों, वे विद्वान् भी प्राचीन आर्योंके कालके सम्बन्धके इन हिसाबोंको देखकर चकित हुए बिना न रहेंगे। उपनिषदोंके देश-काल-ज्ञान प्राप्त करनेके लिये शास्त्रोक्त दो मतोंका जानना परमावश्यक है। एक 'योगी-मत' और दूसरा 'वैष्णव-मत।' योगी-मतमें—एक अद्वितीय ब्रह्मसे ब्रह्माण्डकी सृष्टि होती है और पुनः उसीमें ब्रह्माण्डका लय हो जाता है। यह मत अद्वैतवादका पोषक है। दूसरा मत वैष्णव-मत कहलाता है। उसके अनुसार सृष्टि प्रवाह-रूपसे अनादि अनन्तरूप है। ब्रह्माण्ड कितने हैं, इसकी गणना कोई नहीं कर सकता। ऐसे अगणित ब्रह्माण्डोंके बीचमें एक गोलोक-धामका होना यह मत मानता है। उस गोलोकधाममें अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक श्रीकृष्णचन्द्र विराजते हैं और वहाँ रास-महोत्सवका निरन्तर होना माना जाता है। वे यह भी मानते हैं कि पूर्णावतार श्रीकृष्णने भक्तोंके ऊपर कृपा करके इस महारास-महोत्सवका नमूना व्रजगोपिकाओंको दिखाया था। ऐसे दूसरे मतवाले जब अनादि अनन्त सृष्टि-प्रवाहको मानते हैं तो स्वतः ही अद्वैतवादियोंकी तरह वे मुक्ति नहीं मानते हैं। उपनिषदोंमें अधिकतर पहले मतका और कहीं-कहीं दूसरे मतका आभास मिलता है।

जब कोई ब्रह्माण्ड प्रथम उत्पन्न होता है, तब उस ब्रह्माण्डके परमाणुपुञ्ज प्रकृति माताकी आकर्षणशक्तिके अनुसार एकत्रित होकर जीववासोपयोगी स्थूल या सूक्ष्म लोकोंको उत्पन्न करते हैं। उस समय एक ब्रह्माण्डके अधिष्ठाता भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिवका आविर्भाव नहीं रहता है। उस समय चाहे देवलोकसमूह हों अथवा हमारा मृत्यु-लोक हो, इन सबका केवल गोलक बनता है। इसी दशाको प्राकृतिक सृष्टि कहते हैं। क्योंकि ये सब ब्रह्मप्रकृति त्रिगुण-मयी जगदम्बाके स्वाभाविक नियमके अनुसार ब्रह्माण्ड-गोलक

---

* (१) चतुर्युगसहस्राणि दिनं पैतामहं भवेत्।
पितामहसहस्राणि विष्णोश्च घटिका मता॥
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि कलार्धं रौद्रमुच्यते।
(दैवीमीमांसा भाष्य, उत्पत्तिपादसूत्र ४)

(२) चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
पितामहसहस्राणि विष्णोरेका घटी मता॥
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि निमेषार्धं महेशितुः।
दश कोट्यो महेशानां श्रीमातुस्त्रुटिरूपकाः॥
(शक्तिरहस्य)

बन जाते हैं। उस समय उनमें जीवोंका वास नहीं रहता। इस विषयमें पूज्यपाद प्राचीन ऋषिगण और आजकलके पदार्थविद्या (साइंस) के विद्वज्जन दोनों एकमत हैं। पदार्थ-विद्यासेवी (साइंटिस्ट) भी साधारणतः यही कहते हैं कि हमारी पृथिवी पहले जीववासोपयोगी नहीं थी। इसी जीववासोपयोगी बननेसे पहलेकी अवस्थाका नाम 'प्राकृतिक सृष्टि' है। उसके अनन्तर सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की इच्छासे जब ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूपी त्रिमूर्तिका आविर्भाव होता है और भगवान् ब्रह्मा अपनी इच्छाशक्तिसे जीव-सृष्टिका प्रारम्भ करते हैं और देवसृष्टि प्रारम्भ हो जाती है, उसीको 'ब्राह्मी-सृष्टि' कहते हैं। उसके अनन्तर प्रजापतिगण उत्पन्न होकर विस्तृत सृष्टि-को केवल अपनी मानसशक्तिसे उत्पन्न करते हैं, वही 'मानस-सृष्टि' कहाती है। यह सृष्टि भी देवताओंकी ओरसे ही होती है। उसके अनन्तर स्त्री-पुरुषके संयोगसे जो सृष्टि होती है, वह 'बैजी-सृष्टि' है। यही चार प्रकारका सृष्टिप्रकरण है, जो प्राचीन वेद और शास्त्रोंमें पाया जाता है।

वेदके मन्त्रभाग और ब्राह्मणभागके सब मन्त्रोंमें यद्यपि त्रिभावात्मक तीन प्रकारके प्रयोग हो सकते हैं; परंतु उपनिषदों-में, जो वेदके ज्ञानकाण्डके प्रकाशक हैं, इन तीन भावोंका अद्भुत रहस्य प्रकाशित है। बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंके पाठक इसको अच्छी तरह समझ सकते हैं। यद्यपि इस समय केवल १०८ के लगभग उपनिषद्-ग्रन्थ मिलते हैं। शेष सहस्राधिक लुप्त हो गये हैं; तो भी जो उपनिषद्-ग्रन्थ मिलते हैं, वे परमानन्दप्रद हैं। पञ्चम वेदरूपी महाभारतकी श्रीमद्भगवद्-गीताके पाठ करनेसे भावुक भक्त यह समझ सकते हैं कि वह जिन उपनिषदोंका सार कही जाती है, उनकी ज्ञान-गरिमा कैसी है। उपनिषदोंके द्वारा काल-ज्ञान, चतुर्दशभुवन-रूपी देश-ज्ञान, दैवी जगत्‌का विस्तृत ज्ञान, देवपदधारियोंका ज्ञान, सब वैदिक दर्शनोंका ज्ञान और कर्मका ज्ञान, जो कर्म ब्रह्मके सच्चिदानन्दभावके त्यागका कारण होता है, उसका रहस्य तथा अन्तिम वैदिक मीमांसाका सिद्धान्त, यथा— जगत् ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही जगत् है, जीव ही ब्रह्म है इत्यादि आध्यात्मिक रहस्यपूर्ण सभी सिद्धान्त मिलते हैं और वैदिक उपनिषदोंमें सब प्रकारके ज्ञानका बीज कैसे पाया जाता है। इसका दिग्दर्शन श्रीमद्भगवद्गीता कराती है, जिसके महत्त्व-के विषयमें सारा संसार एकमत है। यही उपनिषत्तत्त्व है।

औपनिषद-सिद्धान्त

(श्रीश्रीस्वामीजी श्रीविशुद्धानन्दजी परिव्राजक)

विश्वके समस्त मानव-समाजको नव चेतना देकर आत्यन्तिक शान्ति प्रदान करनेका श्रेय हमारे औपनिषद-सिद्धान्तको है। उपनिषदें साक्षात् कामधेनु हैं। ब्रह्मसूत्रोंकी रचना इन्हींके आधारपर हुई है तथा श्रीमद्भगवद्गीता भी गोपालनन्दनद्वारा दोहन किया हुआ इन्हींका परम मधुर दुग्धा-मृत है। भारतवर्षके जितने भी आस्तिक सम्प्रदाय हैं, सबके आधार ये ही तीन ग्रन्थरत्न हैं, जो 'प्रस्थानत्रयी'के नामसे प्रख्यात हैं। सभी सम्प्रदायों—अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शिवाद्वैतादिकी आधारभूता प्रस्थानत्रयी है। इस प्रस्थानत्रयीके आधारपर ही सभी सम्प्रदायाचार्योंने अपने-अपने विचारानुसार विवेचनात्मक व्याख्या करके परम सत्यका अन्वेषण किया है।

उपनिषदोंका प्रादुर्भाव वेदके अत्युच्च शीर्षस्थानीय भाग-से हुआ है, जिन्हें प्रायः वेदान्त, ब्रह्मविद्या या आम्नाय-मस्तक कहते हैं। वस्तुतः उपनिषद् ही ब्रह्मविद्याके आदि-स्रोत हैं। उनसे निकलकर ही विविध वाङ्मयके रूपमें विकसित हुई ज्ञान-गङ्गा जीवोंके पाप-तापको शमन करती है। जिनके मन्त्रोंके पाठमात्रसे ही हृदय एक अपूर्व मस्तीका अनुभव करने लगता है, उन उपनिषदोंकी महिमा वर्णन करना सूर्यको दीपक दिखानेके समान है। हमारा उपनिषत्-सिद्धान्त ब्रह्मविद्याके जिज्ञासुओंको आत्मज्ञ होनेका आदेश देता है, न कि अशेषविद्या-महार्णवसम्पन्न केवल शास्त्रज्ञ होनेका! क्योंकि केवल शास्त्रज्ञ होनेसे संसृतिचक्ररूप शोक-समुद्रको पार नहीं किया जा सकता; इसके लिये तो अनुभव-युक्त आत्मवेत्ता होनेकी ही आवश्यकता है। इसीलिये उपनिषदोंमें अनेक आख्यायिकाओंद्वारा सृष्टि-प्रपञ्चका निरसन करके जिज्ञासुओंकी बुद्धिमें अभेद-ज्ञान स्थिर करनेके लिये **'एकमेवाद्वितीयम्' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति'** आदि अनेक श्रुतियोंसे अभेददर्शीकी प्रशंसा और भेददर्शीकी भर्त्सना की गयी है।

अद्वैत वेदान्त-प्रक्रियानुसार जीव अविद्याकी तीन शक्तियों 'मल, विक्षेप और आवरण' से आवृत है। इनमें मल—

अन्तःकरणके मलिन संस्कारजनित दोषोंकी निवृत्ति निष्काम-कर्मसे होती है, विक्षेप (चित्तचाञ्चल्य) का नाश उपासनासे होता है और आवरण (स्वरूप-विस्मृति) का नाश तत्त्वज्ञान-से होता है, अर्थात् चित्तके इन त्रिविध दोषोंके लिये उपनिषदोंमें अलग-अलग ओषधियाँ बतायी गयी हैं; जिनसे तीन ही प्रकारकी गतियाँ होती हैं। सकामकर्मी लोग धूममार्ग-से स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः जन्म लेते हैं और निष्कामकर्मी उपासक अर्चिरादिमार्ग-से अपने उपास्यदेवके लोकमें जाकर अधिकारानुसार 'सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य या सायुज्य' मुक्तिविशेष प्राप्त करते हैं। इन दोनों सकाम और निष्कामकर्मियोंसे भिन्न जो तत्त्वज्ञानी होते हैं, उनके प्राणोंका उत्क्रमण—लोकान्तरगमन नहीं होता अर्थात् उनके शरीर अपने-अपने तत्त्वोंमें लीन हो जानेसे उन्हें कैवल्यपद प्राप्त हो जाता है।

अस्तु, इस प्रकार हमारे अनादि उपनिषद् उस परब्रह्म-के स्वरूपका विशद और स्फुट निरूपण कर हमारी हृदय-भूमिको इस योग्य बनाते हैं कि जिससे उसमें तत्त्वज्ञानरूप अङ्कुर शीघ्र ही प्रस्फुटित हो जाय एवं किसी भी कल्याण-कारिणी विद्याको ग्रहण करनेके लिये मनुष्यको कितने सत्य, तप, सेवा, त्याग, श्रद्धा और विनय आदिकी आवश्यकता है—यह बात उपनिषदोंकी कई आख्यायिकाओंद्वारा प्रदर्शित की गयी है। इतना ही नहीं, बल्कि ब्रह्मनिष्ठकी अभय-प्राप्ति-निरूपणके साथ-साथ ब्रह्मके सर्वान्तर्यामित्व और सर्वशासकत्व-का वर्णन करते हुए ब्रह्मवेत्ताके आनन्दकी सर्वोत्कृष्टता अनेक स्थलोंमें दिखलायी गयी है। तात्पर्य यह है कि प्रधानतया उपनिषदोंका लक्ष्य ब्रह्मविद्या-उपलब्धिकी ही ओर है, इसीलिये तत्त्वज्ञान एवं तदुपयोगी कर्म और उपासनाओंका विशद तथा विस्तृत वर्णन किया गया है।

ब्रह्मविद्याके प्रसादसे समत्वदर्शन होता है। अज्ञानकी ग्रन्थियोंका भेदन होकर समस्त संशयोंका विघात हो जाता है एवं कर्मचाञ्चल्य सुसंयत होकर चित्त अन्तर्मुखी हो जाता है। ब्रह्मविद्यासे ही मिथ्यानुभूतिका नाश होकर स्वयंप्रकाश अवाङ्मनसगोचर चेतनानन्दरसैकघन विज्ञानस्वरूप परब्रह्म-का साक्षात्कार होता है। ब्रह्मविद्यारूप अमृतपानका अकथनीय महत्त्व है, जिसने इस अमृततत्त्वका पान किया, वह निहाल हो गया; उसे फिर न कुछ कर्तव्य है, न प्राप्तव्य। ब्रह्मवेत्ता-की दृष्टिमें सारे प्रपञ्च-प्रसारका विलय होकर सच्चिदानन्द-स्वरूप हो जाता है, उसे असत् जड और दुःखरूप प्रतीत नहीं होता। उसकी दृष्टिमें तो द्रष्टा, दृश्य और दर्शन-रूप त्रिपुटीका भी विलय हो जाता है, वह एक निश्चल, निर्बाध, निष्कल और चिदानन्दघन-सत्तामात्र रह जाता है। उसके द्वारा जो भी आदर्श कार्य होते हैं, वे अन्य लोगोंकी दृष्टिमें ही होते हैं। ब्रह्मवेत्ताकी दृष्टिमें तो न कोई कार्य है और न कोई करनेवाला ही। क्योंकि तत्त्वदर्शी लोगोंको जल और वीचिमें अन्तर नहीं दीखता। वह भिन्नत्व तो बाह्यदर्शी लोगों-की दृष्टिमें ही प्रतीत होता है, जिससे प्रेरित होकर वे कहते हैं कि जलमें तरङ्गें उठती हैं; किंतु जलने उन तरङ्ग-वीचियोंको कब देखकर उनकी गणना की है? कहनेका तात्पर्य यह है कि 'एक अखण्ड चिद्घन वस्तुको छोड़कर उत्पत्ति, प्रलय, बद्ध, साधक, मुमुक्षु और मुक्त आदि किसी भी प्रकारका व्यवहार ही नहीं है।' ब्रह्मतत्त्व अत्यन्त ही दुर्दर्श है; क्योंकि निरन्तर व्यवहारमें ही रत रहनेवाले विषयी जीवोंकी दृष्टि इस व्यवहारातीत लक्ष्यतक पहुँचनी अत्यन्त कठिन है। जिन वेदके पारगामी मुनिजनोंके राग, द्वेष, लोभ, भय और क्रोधादि विकार श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुकी कृपासे सर्वथा निवृत्त हो गये हैं, उन्हींको इस प्रपञ्चातीत अद्वयपदका बोध होता है। इस विशुद्ध तत्त्वका बोध हो जानेपर वह महात्मा सर्वथा निर्द्वन्द्व और निर्भय हो जाता है एवं स्तुति, नमस्कार और स्वधाकारादि कर्मश्रेणीसे ऊपर उठकर यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्ट हो जाता है। फिर बाहर-भीतर—सर्वत्र एक आत्म-तत्त्वको ओतप्रोत देख उसीमें रमण करता हुआ कभी तत्त्व-च्युत नहीं होता। यही बोधस्थिति है, इसीके लिये जिज्ञासुओं-का सारा प्रयत्न होता है और इसी स्थितिको प्राप्त होनेपर प्राणी कृतकृत्य होता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि 'औपनिषद-दर्शन ही सम्यग्दर्शन है, जिसके प्रसादसे भव-भयका निरसन होकर आत्यन्तिक आनन्दकी प्राप्ति होती है।' इस विशुद्ध दृष्टिको प्राप्त कर लेना ही मनुष्य-जीवनका परम उद्देश्य है। एवं गहनतामें अनुप्रविष्ट हुए इस औपनिषद-सिद्धान्त-को प्राप्त किये बिना जीवन व्यर्थ है। इसे प्राप्त न करना ही सबसे बड़ी हानि है। अतः इस प्रस्तुत उपनिषद्-अङ्कसे इस दृष्टिको पानेके लिये प्रत्येक कल्याणकामी पाठकको प्राणपणसे प्रयत्न करना चाहिये, जिससे वह उपनिषद्के महान् और गूढ़तम सिद्धान्तको धारण करनेकी क्षमता प्राप्त कर सके।

उपनिषत्तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

सर्ववेदान्तप्रतिपाद्य परब्रह्म ही उपनिषदोंका चरम तत्त्व है; किंतु इस तत्त्वको हृदयङ्गम करना अत्यन्त दुरूह है। बिना अधिकारीके तत्त्वका साक्षात्कार भी नहीं होता। इसीलिये उपनिषदोंमें सर्वत्र ही अधिकारकी चर्चा आयी है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

'आचार्यवान् पुरुषो वेद', 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्', 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

—आदि उपनिषन्मन्त्रों एवं गीताके शब्दोंमें तत्त्वज्ञान-प्राप्तिके लिये अधिकारीके निमित्त गुरूपसदनादि कुछ विशिष्ट नियम भी बतलाये गये हैं। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है कि वेदान्तके श्रवण-मननादिसे तथा भगवान्‌के गुणोंके बार-बार श्रवण करनेसे भगवद्ध्यानादिके द्वारा कामादि दोषों-का शीघ्र ही उपशमन होता है। इस तरह इन अमङ्गल-जनक वस्तुओंके नष्टप्राय हो जानेपर श्रेष्ठ पुरुषोंकी नित्य सङ्गति प्राप्त करनेसे भगवान्‌में नैष्ठिकी भक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी परिस्थितिमें कामादि दोषोंके शान्त पड़ जानेपर निर्विघ्न चित्तमें केवल सत्त्वगुणकी स्थिति होती है, और चित्त प्रसन्नताको प्राप्त होता है। इस तरह मुक्तात्मा प्रसन्नमन पुरुषके हृदयमें भगवद्भक्तिके योगसे भगवत्तत्त्वका विज्ञान उदय होता है—

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

(श्रीमद्भा० १। २। १७–२०)

तत्त्वज्ञानकी फलश्रुतिमें कहा गया है कि आत्मामें ही ईश्वरके दर्शन होनेपर हृदयकी ग्रन्थि कट जाती है, सारे संशय विलीन हो जाते हैं और सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

(श्रीमद्भा० १। २। २१)

यही बात कुछ अन्तरसे मुण्डकोपनिषद्‌के द्वितीय खण्डमें कही गयी है।

'तत्त्वं किम्'—तत्त्व क्या है—इस जिज्ञासासे यदि उपनिषदों-का आलोडन या श्रवण-मनन किया जाय तो 'यहाँ ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है' 'यथार्थतः वह ब्रह्म ही सत्य है' और 'एकमात्र वही है' यही तत्त्व उपलब्ध होता है।

'ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्', 'यस्मि-न्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो', 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्या-ख्यानम्', 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति', 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः', 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'

—आदि श्रुतियाँ इस तत्त्वको स्पष्टतः प्रतिपादित करती हैं। और—

'वासुदेवः सर्वमिदम्', 'समं पश्यन्हि सर्वत्र', 'यो मां पश्यति सर्वत्र' 'सकलमिदमहं च वासुदेवः', 'एकः स आत्मा पुरुषः पुराणः', 'सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरम्'

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

—आदि वचनोंसे अन्यत्र भी यही कहा गया है। कुछ लोग—

'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ' 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः', 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्।'

—आदि श्रुतियोंको सिद्धान्त मान बैठते हैं; किंतु यों सिद्धान्ततः तत्त्वनिरूपणकी बात नहीं है। ऐसे तो उपनिषदोंमें नचिकेता, यमराज, जनक, याज्ञवल्क्य आदि कितनोंके नाम आये हैं, पर किसीका नाम आ जानेसे किन्हीं शब्दोंकी

पुनरुक्तियाँ मिल जानेसे उन्हें ही तत्त्व नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायाग्रणी भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यने भी श्रीसुरसुरानन्दजीके 'तत्त्वं किम्' इस प्रश्नके उत्तरमें—

विश्वं जातं यतोऽद्धा यदवितमखिलं लीनमप्यस्ति यस्मिन्
सूर्यो यत्तेजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतदेषः।
यद्भीत्या वाति वातोऽवनिरपि सुतलं याति नैवेश्वरो ज्ञः
साक्षी कूटस्थ एको बहुशुभगुणवानव्ययो विश्वभर्ता॥

इस प्रकार ही तत्त्वका निरूपण किया है। इस श्लोकमें स्पष्ट है कि—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।
(तैत्ति० ३।१।१)

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।
(श्वेता० ६।१४)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
(गीता १५।१२)

तथा—

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मा-दग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। (तैत्ति० २।८।१)

'एवं यः सर्वज्ञः स सर्ववित्'

—आदि मन्त्रोंका ही भाव व्यक्त किया गया है।

इसपर आजकलके कुछ उपनिषच्चिन्तन करनेवाले वेदान्तियोंका कथन है कि श्रीरामानन्दाचार्य आदि विद्वानोंने तो इन लक्षणोंको श्रीरामचन्द्रादिमें घटाया है; किंतु वह ब्रह्म तो अवतार नहीं लेता, क्योंकि वह आकाशकी भाँति सर्वत्र व्याप्त है, सर्वदेशीय है—

'ईश्वरो नावतरति व्यापकत्वाद् आकाशवत्'

इस अनुमानसे ईश्वरका अवतार बाधित होता है; किंतु न तो यह अनुमान ही सही है न इसका दृष्टान्त ही; क्योंकि आकाश भी वायुरूपमें अवतीर्ण होता है एवं पुनरपि उसका तेज, जल और पृथ्वीरूपमें अवतरण होता है। सर्वोपनिषद्रूपी गौओंके दोग्धा श्रीगोपालनन्दनका कथन है कि 'मैं अज, अव्ययात्मा एवं सभी भूतोंका ईश्वर होता हुआ भी आत्ममायासे अवतीर्ण होता हूँ'—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४।६)

यह बात अवश्य है कि भगवान्‌का आत्ममायामय शरीर तथा जन्म-कर्म साधारण देहधारियोंकी भाँति नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें तभी तो भगवान्‌के सभी स्वरूपोंको मायातीत, अनन्य सच्चिदानन्दरूप, अतुल माहात्म्ययुक्त तथा सर्वथा अस्पृष्ट कहा गया है—

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१३।५४)

तभी तो जब विदेहराज श्रीजनकने भगवान् श्रीरामचन्द्रके स्वरूपका प्रथम बार दर्शन किया तो इनका सारा ब्रह्मज्ञान एवं वैराग्य हवा हो गया—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सति भाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

—इत्यादि उद्गार उनके मुखसे हठात् निकल पड़े। यह दशा उनकी कई बार हुई। वनवासके समय भगवान् श्रीरामचन्द्रसे मिलकर तो इनकी दशा देखते ही बनती थी। गोस्वामीजी विभोर होकर लिखते हैं—

जासु ग्यान रबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥
तेहि कि मोह ममता निअराई। यह सिय राम सनेह बड़ाई॥
बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभाँ बड़ आदर तासू॥
सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥

यही बात भागवतमें भी—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
(श्रीमद्भा० १।५।१२

—आदि श्लोकोंमें दर्शायी गयी है।

इसपर कुछ लोग—

मायाख्यायाः कामधेनोर्जीवेशौ वत्सकावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि॥

(माया नामकी कामधेनुके जीव, ईश्वर दोनों बछड़े हैं। यथेच्छ द्वैतको दोनों ही पी लें; पर तत्त्व तो अद्वैत ही है।) इत्यादि वचनोंको पढ़कर भगवान्‌के सगुण स्वरूपसे घृणा करने लग जाते हैं; पर उन्हें समझ रखना चाहिये कि द्वैत तभीतक मोहजनक होता है, जबतक ज्ञान नहीं होता। जब विचारद्वारा बोधकी प्राप्ति हो जाती है, उस समय भक्तिके लिये कल्पना किया गया द्वैत तो अद्वैतकी अपेक्षा भी सुन्दर

है। यदि पारमार्थिक अद्वैत-बुद्धि रहते हुए भजनके लिये द्वैत-बुद्धि रक्खी जाय तो ऐसी भक्ति सैकड़ों मुक्तियोंसे भी बढ़कर है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग् जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत्सा तु मुक्तिशताधिका॥

कुछ लोगोंका कहना है कि मधुसूदन स्वामीने माना है कि अवतार नहीं होता; किंतु भक्तकी भावनासे विधुर-परिभावित कामिनी-साक्षात्कारके समान श्रीकृष्ण आदिका स्वरूप दिखलायी पड़ता है; किंतु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि गीता (४ । ६) की टीकामें उन्होंने भगवदवतारको बहुत प्रयत्नसे सिद्ध किया है और—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

—आदि भागवतके श्लोकोंको सादर प्रमाणरूपसे उपन्यस्त किया है। इतना ही क्यों ? तत्त्वविषयक प्रश्नपर तो वे स्पष्ट कहते हैं कि मैं श्रीकृष्णसे बढ़कर और किसी तत्त्वको नहीं जानता—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

अधिक क्या, अद्वैतसम्प्रदायाग्रगण्य भगवान् शङ्कर भी कहते हैं कि जिसने ब्रह्माको अद्भुत, अनन्त ब्रह्माण्ड दिखलाये, वत्सोंसहित सभी गोपोंको विष्णुरूपमें दिखलाया, भगवान् शङ्कर जिनके चरणावनेजन-जलको अपने मस्तकपर धारण करते हैं, वे श्रीकृष्ण तो ब्रह्मा, विष्णु, शिव—इन तीनोंसे परे कोई अविकृत चिदानन्दघन ही हैं—

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान्वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्-
कृष्णोऽयं पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा॥

आनन्दसे विभोर होकर एक गोपी अपनी सखीसे कहती है कि 'ऐ सखि ! सुन, मैंने श्रीनन्दके आँगनमें एक विचित्र कौतुक देखा है।' सखी पूछती है कि 'वह क्या ?' भगवद्दर्शनके आनन्दसे आह्लादित हुई गोपिका उत्तर देती है कि—'सकल-वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म वहाँ गोधूलिसे सना हुआ नृत्य कर रहा है—

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गने मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

इसी प्रकार एक अन्य प्रेममग्न भक्तके हृदयोद्गार हैं। वह कहता है—

वृन्दारण्यनिविष्टं विलुठितमाभीरधीरनारीभिः।
सत्यचिदानन्दघनं ब्रह्म नराकारमालम्बे॥

मैं वृन्दावनमें प्रविष्ट परम बुद्धिमती आभीर-नारियोंके सङ्गमें लुठित नराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अवलम्बन लेता हूँ—शरण ग्रहण करता हूँ। जब ऐसी बात है तभी तो श्रीब्रह्माजी भी कहते हैं कि व्रजमें कीटादि होकर भी जन्म ग्रहण करना बड़े भाग्यकी बात है; क्योंकि उस श्रीचरणकमलकी रज, जिसे सर्वदा श्रुतियाँ ढूँढ़ती हैं, यहाँ सहज ही उपलब्ध होती है—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३४)

यहाँ 'अद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव' यह पद ध्यान देने योग्य है। ब्रह्माजीका तात्पर्य है यहाँ श्रुतिरूपा गोपियोंसे। वे अब इस बातको समझ चुके हैं कि श्रुतिप्रतिपाद्य यह ब्रह्म ही यहाँ व्रजमें अवतीर्ण हुआ है, और इसकी प्रतिपादिका श्रुतियाँ भी यहाँ गोपिकारूपमें अवतरित हुई हैं। 'सर्वे वै देवताप्रायाः' यह प्रसिद्ध है। इस विषयमें उपनिषदोंका ही प्रमाण देखनेयोग्य है।

उपनिषदें कहती हैं कि 'एक बार श्रीरामचन्द्रजी ऋषि-मुनियोंके दर्शनार्थ जङ्गलमें गये। महाविष्णु, सच्चिदानन्द-लक्षण सर्वाङ्गसुन्दर भगवान् श्रीरामचन्द्रको देखकर सभी वनवासी मुनि विस्मित हो गये। उन ऋषियोंने उनके शरीर-स्पर्शकी कामना प्रकट की। भगवान्ने अन्यावतारमें उनकी इच्छा पूर्ण करनेका वचन दिया—

श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति॥

उन सभी देवताओं तथा ऋषियोंकी प्रार्थना स्वीकृत

हुई। वे सभी कृतकृत्य हो गये। कालान्तरमें भगवान्का प्राकट्य हुआ। भगवान्का स्वरूपभूत परमानन्द ही नन्द हुआ, ब्रह्मविद्या यशोदा हुईं। ब्रह्मपुत्रा गायत्री देवकी हुईं, स्वयं निगम ही वसुदेव हुए, वेदकी ऋचाएँ ही गोपियों तथा गौओंके रूपमें अवतीर्ण हुईं। भगवान्के मनोहर संस्पर्शके निमित्त ब्रह्मा भी मनोहर यष्टि हुए, भगवान् रुद्र सप्त-स्वरानुवादी वेणु होकर, इन्द्र गवयशृङ्ग होकर श्रीहस्तमें सुशोभित हुए और पाप ही असुर हुए—

यो नन्दः परमानन्दः यशोदा मुक्तिगेहिनी ।
गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः ॥
वंशस्तु भगवान् रुद्रो शृङ्गमिन्द्रस्त्वघोऽसुरः ।

इसके अतिरिक्त वैकुण्ठ गोकुलवनके रूपमें अवतरित हुआ, तपस्वीगण वृक्षोंके रूपमें अवतीर्ण हुए, क्रोध-लोभादि दैत्य हुए तथा मायासे विग्रह धारण करनेवाले साक्षात् श्रीहरि ही गोपरूपसे अवतीर्ण हुए। श्रीशेषनाग बलराम हुए और शाश्वत ब्रह्म ही श्रीकृष्ण हुआ। सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियोंके रूपमें ब्रह्मरूपा वेदोंकी ऋचाएँ तथा उपनिषदें प्रकट हुईं—

गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः ।
लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालतिरस्कृतः ॥
गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारणः ।
शेषनागोऽभवद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम् ॥
अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा ।
ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः ॥

यहाँतक कि द्वेष ही चाणूर मल्लरूपमें अवतीर्ण हुआ, मत्सर ही अजेय मुष्टिक हुआ, दर्प कुवलयापीड़ हाथी तथा गर्व बकासुर राक्षस हुआ। दया रोहिणी माताके रूपमें अवतीर्ण हुई, धरा सत्यभामा हुई, महाव्याधि अघासुर बना तथा कलि कंसरूपमें अवतीर्ण हुआ। शम मित्र सुदामा हुए, सत्य अक्रूर हुआ तथा दम उद्धव हुआ एवं सर्वदा संस्पर्श पानेके लिये साक्षात् भगवान् विष्णु ही शङ्खरूपमें अवतीर्ण हुए—

द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिकोऽजयः ।
दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो बकः ॥
दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै ।
अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः ॥
शमो मित्रः सुदामा च सत्याक्रूरोद्धवो दमः ।
यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः ॥

इसी प्रकार आगे चलकर कहा गया है कि जिस प्रकार भगवान् पहले आनन्दपूर्वक क्षीरसमुद्रमें क्रीडन करते थे, वैसा ही आनन्द लेनेके लिये उन्होंने क्षीरसमुद्रको दधि-दुग्धके भाण्डोंमें स्थापित किया एवं शकटभञ्जन आदि लीलाएँ रचीं। गणेशजी चक्ररूपमें अवतीर्ण हुए, स्वयं वायु ही चमर हुए एवं अग्निके समान प्रकाशवाले तलवाररूपमें स्वयं भगवान् महेश्वर आविर्भूत हुए। श्रीकश्यपजी उलूखल हुए, देवमाता अदिति रज्जु हुईं। इस प्रकार भगवान्के समस्त परिकरके रूपमें वे ही सब देवगण अवतीर्ण हुए जिन्हें सभी सादर नित्य नमस्कार करते हैं, इसमें किसी प्रकार भी संशय नहीं करना चाहिये। सर्वशत्रुनिबर्हिणी साक्षात् कालिका गदा-रूपमें अवतीर्ण हुईं और भगवान्की वैष्णवी माया शार्ङ्ग-धनुषरूपमें उनके करकमलमें आ विराजीं। शरद्-ऋतु भगवान्के सुन्दर भोजनोंके रूपमें प्रकट हुआ। श्रीगरुड़जी भाण्डीरवट हुए तथा नारद मुनि श्रीदामानामक उनके सहचर-गोपाल हुए। भक्ति वृन्दा हुईं।

दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डो दधिग्रहे ।
क्रीडते बालको भूत्वा पूर्ववत्सुमहोदधौ ॥
संहारार्थं च शत्रूणां रक्षणाय च संस्थितः ।
यत्स्वष्टुमीश्वरेणासीत्तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृक् ।
जयन्तीसम्भवो वायुश्चमरो धर्मसंज्ञितः ॥
यस्यासौ ज्वलनाभासः खड्गरूपी महेश्वरः ।
कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्मातादितिस्तथा ॥
यावन्ति देवरूपाणि वदन्ति विबुधा जनाः ।
नमन्ति देवरूपेभ्य एवमादि न संशयः ॥
गदा च कालिका साक्षात्सर्वशत्रुनिबर्हिणी ।
धनुः शार्ङ्गं स्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः ॥
गरुडो वटभाण्डीरः श्रीदामा नारदो मुनिः ।
वृन्दा भक्तिः क्रिया बुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी ॥

इस तरह—

'नन्दाद्या ये व्रजे गोपाः याश्चामीषां च योषितः ।
वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः ॥
सर्वे वै देवताप्रायाः'

यह श्रीनारदकी उक्ति सर्वथा सत्य सिद्ध हुई—

ऊपरके वर्णनसे यह सिद्ध हो गया कि परम पुरुष ही, जो उपनिषदोंका चरमतत्त्व है, श्रीकृष्ण तथा श्रीरामादि रूपोंसे विवक्षित है। वेदोंमें भी—

'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्', 'त्रीणि पदानि विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन्',

'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते,' 'नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः'

—आदि बहुतसे मन्त्र भगवान्‌के सगुण स्वरूपको सिद्ध करते हैं। श्रीनीलकण्ठ सूरिने तो श्रीहरिवंशपर्वके विष्णुपर्वके कई अध्यायोंकी टीकामें वेदोंमें व्रजलीलाको दर्शाया है एवं सर्वत्र यह स्पष्ट लिखा है कि यह लीला वेदके अमुक मन्त्रका उपबृंहण करती है। 'कल्याण' के गत वर्षके ४-५ अङ्कोंमें बहुत कुछ लिखा भी गया है। सच्ची बात तो यह है कि वेदोंका यथार्थ तात्पर्य इतिहास-पुराणोंके अध्ययनसे ही लगाया जा सकता है—अन्यथा वेदेतिहासोंसे अनभिज्ञ पुरुष तो उनका अनर्थ ही कर डालता है—

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।

इस तरह स्पष्ट है कि जो उपनिषदोंका तत्त्व है, वही पुराणेतिहासों तथा सभी सज्जनोंका भी परमाराध्य तत्त्व है। सभी योगी-मुनि उसकी ही वन्दना करते हैं। ब्रह्मादि सभी देवतागण सर्वदा उसीका ध्यान करते हैं। श्रुतियाँ 'नेति-नेति' कहकर सर्वदा उसीका यशोगान करती हैं। उससे संसार-में कोई भी वस्तु न तो भिन्न ही है और न अभिन्न ही।

तस्माद्भिन्नं न चाभिन्नमाभिर्भिन्नं न वै विभुः।

और यदि ध्यानसे देखा जाय तो उपनिषदोंमें ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद, सम्पूर्ण पुराण तथा रामायण एवं महाभारतके आदि, मध्य और अवसानमें सर्वत्र ही वह गीयमान है—वह सभीका चरम तत्त्व है—

वेदे रामायणे पुण्ये पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥

तैत्तिरीयोपनिषद् और ब्रह्मसूत्र

(लेखक—प्रो० पं० श्रीजीवनशङ्करजी याज्ञिक, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

पूज्यपाद भगवान् आद्य शङ्कराचार्यने संन्यास-आश्रमके दस सम्प्रदाय स्थापित किये प्रत्येक सम्प्रदायका अपना एक विशेष उपनिषद् कहा जाता है, जिसके अध्ययन और विचारसे ब्रह्मज्ञानप्राप्तिकी चेष्टा अनुयायी करते हैं। भगवान् वेदव्यास-ने ब्रह्मसूत्रमें यावत् उपनिषदोंकी मीमांसा की है, ऐसा माना जाता है। इसीसे उपनिषद् और गीताके साथ ब्रह्मसूत्रकी गणना प्रस्थानत्रयीमें होती है, सभी उपनिषदोंका पठन तथा मनन कदाचित् सम्भव न हो, इसीलिये सम्प्रदायोंके लिये विशेष-विशेष उपनिषदोंकी प्रधानता स्वीकार की गयी है। परंतु ब्रह्मसूत्रको समझनेके लिये सभी उपनिषदोंका यथावत् ज्ञान होना आवश्यक माना जाय तो वेदव्यासजीकी अमर-कृति बहुत अंशमें अगम्य हो जाय। किंतु बात ऐसी नहीं है। विचार-पूर्वक देखनेसे पता चलता है कि वेदव्यासजीने एक ही उपनिषद्‌को आधाररूप स्वीकार कर उसीपर अपने सूत्रोंकी रचना की है। वह आधार है कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद्, जिसमें वेदान्तसिद्धान्तोंका पूर्णरूपेण समावेश है। वेदव्यासजी-की दृष्टिमें इस उपनिषद्‌का कितना महत्त्व था, इसी बातसे स्पष्ट हो जाता कि उसको केवल आधार बनाकर ही सूत्रों-की रचना नहीं की, बल्कि आदिसे अन्ततक प्रत्येक सूत्रको इसी उपनिषद्‌पर अवलम्बित रक्खा।

इस उपनिषद्‌में तीन वल्लियाँ हैं जो शीक्षा, ब्रह्मानन्द और भृगु नामसे प्रसिद्ध हैं। प्रथम वल्लीमें उपासना और शिष्टाचारकी शिक्षा शिष्यको दी गयी है और अन्य दोनोंमें ब्रह्मविद्याका निरूपण और ब्रह्मप्राप्तिके उपाय वरुण और उनके जिज्ञासु पुत्र भृगुके संवादरूपसे बताये गये हैं।

भृगु अपने पिता वरुणसे विद्या प्राप्त कर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते हैं। गृहस्थोचित धर्मका पालनकर देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋणसे मनुष्य उऋण होता है और समाजमें एक उपयोगी व्यक्ति बना रहता है। अन्य धर्मकार्यों-के साथ शम-दमादिका साधन और स्वाध्याय-प्रवचनादिरूपी तप घरमें रहकर होते हैं। अन्तमें ये ही ब्रह्मको जाननेके साधन होंगे। प्रथम वल्लीके अन्तमें समावर्तनके समय शिष्यको गुरु जो उपदेश देकर विदा करते हैं, उससे बढ़कर उपदेश गृहस्थ-के लिये हो नहीं सकता। भारतीय सभ्यता और उसके आदर्शकी अपूर्व झाँकी उसमें मिलती है—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव……।

(तैत्ति० १। ११। १-२

और अन्तमें कहते हैं कि यह उपदेश है, वेदका रहस्य है और आज्ञा है। इसी प्रकार उपासना करनी चाहिये। ऐसा ही आचरण करना चाहिये।

वेदाध्ययन गुरुकुलमें समाप्त कर ऐसा जीवन व्यतीत करनेवाले गृहस्थाश्रमीके लिये तो घर ही साधन-धाम और तपोभूमि बन जाता है। संसारमें लिप्त होकर और उसीमें यावत् सुख माननेवालेकी गति दूसरी होती है। आदर्श गृहस्थके लिये ऐसी शङ्का नहीं रहती और यह भी एक भ्रामक कल्पना है कि हिंदू-धर्म अधिकारभेदका विचार किये बिना मनुष्यको सांसारिक कर्तव्यसे विमुख करता है। धर्मपरायण आदर्श गृहस्थको सुख अनित्य और दुःख अनिवार्यकी भावना बराबर दृढ़ होती जाती है। जो संसारमें निमग्न हैं, उनकी तो सतत यह निष्फल चेष्टा रहती है कि दुःखसे निवृत्ति हो तथा सुख स्थायी हो, और सच्चे ब्राह्मणको सुख-दुःखसे अतीत अवस्थाकी जिज्ञासा होती है। निर्वेद हुए बिना अक्षय सुख या आनन्दकी खोज आरम्भ नहीं होती। तीनों एषणाओंका त्याग और कर्म-संन्याससे अध्यात्म-जगत्में प्रवेश होता है। संन्यासकी शान्तिका वही अधिकारी बनता है, जिसकी विवेक-बुद्धि जागती है। क्योंकि 'अनित्यम् असुखं लोकम्'की भावना तभी दृढ़ होती है। इस प्रकार संसार-सुखसे अतृप्त रहकर एक अभावका अनुभव कर भृगु अपने पिताके पास जंगलमें जाता है और जिस ब्रह्मकी केवल चर्चामात्र वेदाध्ययनके समय सुनी थी, उसको भली प्रकार जाननेके लिये प्रश्न करता है। जबतक पूर्णरूपसे जिज्ञासा शान्त नहीं होती, भृगु बार-बार अरण्यको जाकर प्रश्न करते हैं। ब्रह्मनिरूपणके बाद घर लौटकर उनका जाना सूचित नहीं किया गया। इशारा है कि वे भी ब्रह्मप्राप्तिके पश्चात् अरण्यवासी, गृहत्यागी हो गये। सूत्रकारने पहले ही सूत्रमें बड़ा चमत्कार दिखाया है। तीनों वल्लियोंका ध्यान रखकर, भृगुके निर्वेदकी ओर सङ्केत कर अन्तिम ध्येयतककी बात कह डाली है और एक सूत्रमें रचना-चातुर्यसे अनुबन्धचतुष्टय भी दर्शा दिया है। केवल चार शब्दोंके छोटे सूत्रमें इतनी बातोंको समाविष्ट कर मानो गागरमें सागर भर दिया है। सूत्र है—

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'

वल्ली	सूत्रके पद	अनुबन्धचतुष्टय
१ शीक्षावल्ली	अथ	अधिकारी
२ ब्रह्मानन्दवल्ली	अतः	प्रयोजन
३ } भृगुवल्ली	ब्रह्म	विषय
४ } भृगुवल्ली	जिज्ञासा	सम्बन्ध

ब्रह्मविद्याका अधिकारी कौन होता है ? जो भृगुजीकी तरह वेदाध्ययनके पश्चात् गृहस्थाश्रमके धर्मोंका यथावत् पालन कर, घरमें ही रहकर स्वाध्याय-प्रवचनरूपी तप और शम-दमादि साधन-सम्पत्तिसे युक्त होकर सांसारिक सुखोंकी अनित्यताका अनुभव कर लेता है और किसी अक्षय वस्तुकी खोजमें घरसे निकलकर त्यागी ब्रह्मज्ञानीके पास जाता है और 'परिप्रश्नेन सेवया' ब्रह्मप्राप्ति करता है। सूत्रमें 'अथ' शब्द जिसका अर्थ 'अनन्तर' भी है। इन सब अवस्थाओंको और जिज्ञासुके अधिकारको सूचित करता है। प्रथम वल्ली 'अथ' में समा गयी।

ब्रह्मानन्दवल्लीमें प्रयोजनकी बात कही गयी है। भृगुको अरण्यमें जानेका प्रयोजन है अक्षय वस्तुकी खोज। जो पदार्थ सुख-दुःखसे भी परे है या विलक्षण है। **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'**। यदि संसारसुखको सब कुछ मानकर उसीसे तृप्ति हो जाती तो फिर घरसे बाहर जाकर किसी अन्य वस्तुकी खोजका कुछ प्रयोजन ही न रहता। अभावके अनुभवने 'परम्'की जिज्ञासा जाग्रत् की और उसकी उपलब्धिके लिये सचेष्ट किया। 'अतः' शब्द इन्हीं भावोंका सूचक होकर ब्रह्मानन्दवल्लीका साररूप है।

ब्रह्म 'विषय' है जिसका निरूपण किया गया है—

भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। (तैत्ति० ३।१।१)

इस प्रकार भृगु अपने पिता वरुणके पास जाकर ब्रह्मका बोध करानेकी प्रार्थना करते हैं। जिज्ञासाका विषय स्पष्ट ही ब्रह्म है। ब्रह्मको पूछा क्यों ? वेदाध्ययनके समय कुछ चर्चा सुन चुके हैं। शिष्यभावसे पिताके पास जाकर पूछना उचित ही है, साथ ही दो बातें भी लक्षित हैं कि केवल स्वाध्याय और प्रवचनसे यह वारुणी विद्या प्राप्त नहीं हो सकी। स्वाध्याय और प्रवचन सहायक अवश्य हैं और साधनरूपसे बराबर स्वीकार करने पड़े। भृगुको पिताके उपदेशसे बार-बार तपस्या करनी पड़ी। परंतु यह 'उपनिषद्'की बात है। गुरुके समीप जाकर प्रत्यक्ष उपदेशसे प्राप्त होती है, केवल तप और स्वाध्यायसे नहीं।

'सम्बन्ध' भी भृगुवल्लीमें स्पष्टतः दिया हुआ है और वह है पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्यका। उपदेश तीन भावोंसे दिया जाता है—कान्तभाव, सखिभाव और प्रभुभावसे। यहाँ प्रभुभावका उपदेश ग्राह्य है। सूत्रकारने 'जिज्ञासा' शब्द दिया है; क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति किसी कर्मका फल नहीं है। कर्मका

फल तो अनित्य होगा और यहाँ अक्षय पदार्थकी प्राप्तिकी बात है। ब्रह्मके विषयमें चिकीर्षाको स्थान नहीं, केवल जिज्ञासा चाहिये। श्रद्धापूर्वक प्रश्न-परिप्रश्न और श्रवण-मनन-निदिध्यासनकी ही आवश्यकता है। कर्म क्षेत्रमें—गृहस्थाश्रममें ही समाप्त हो चुका और ब्रह्म तो सुख-दुःख—अर्थात् कर्मफलसे अतीत या परे है, जीवन्मुक्तावस्थामें सुख-दुःख समान हो जाते हैं और विदेहमें दोनों नहीं रहते।

प्रथम सूत्रकी वाक्यपूर्तिमें 'भवति' शब्द जोड़ना चाहिये। भाव यह है कि जिज्ञासा उत्पन्न नहीं की जाती, स्वतः होती है यदि विधिवत् गृहस्थाश्रमका निर्वाह हो तो।

जिज्ञासा होनेपर प्रश्न होता है कि ब्रह्म क्या है? उपनिषद्का उत्तर है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति। (तैत्ति० ३।१।१)

इसपर वेदव्यासजीने दूसरा सूत्र बनाया—**'जन्माद्यस्य यतः'**। इसकी वाक्यपूर्ति करनेपर सूत्रका रूप होगा—

'यतः जन्मादि अस्य भवति तद्ब्रह्म सत्यं भवति'।

सृष्टि, स्थिति, प्रलय और मोक्ष जिससे होते हैं वह ब्रह्म है, **'जन्मादि'** का यह अर्थ हुआ। जगत्के साथ देहधारी या जीवका भी विचार इसमें ग्राह्य होना उचित है; क्योंकि यदि केवल **'यत्प्रयन्ति'** ही कहा होता तो लय ही अर्थ होता। जगत् ब्रह्ममें लीन होकर पुनः प्रकट होता रहता है और जीवोंका भी यही हाल है कि प्रलयके बाद फिर सृष्टिमें आते हैं। साथमें **'अभिसंविशन्ति'** शब्द भी दिया गया है। उपनिषद् इस शब्दको देकर मोक्षकी सूचना देता है। मुक्त जीव पूर्णरूपसे ब्रह्ममें सदाके लिये लीन हो जाते हैं, **'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'**। केवल लीन होना परम वस्तु नहीं है और चाहिये 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इसी बातको कहा है—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ (१८।५५)

और समुद्रमें नदियोंके समा जानेकी उपमा देकर **'प्रविशन्ति'** पद दिया है।

'अस्य' शब्दका अर्थ सूत्रकारके अनुसार है प्रत्यक्ष जगत्, जो इन्द्रियोंद्वारा अनुभवमें आता है अर्थात् जो अप्रत्यक्ष ब्रह्मसे विलक्षण है। सूचित यह कर दिया कि ब्रह्मके अस्तित्वमें इन्द्रियाँ साक्षी नहीं हो सकतीं।

'यतः' का भाव है कि ब्रह्म आप ही जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। वही सब कुछ बन गया है और वह भी अपने ही लिये। आप ही करनेवाला, आप ही बननेवाला, अपने ही लिये और अपनेसे ही—ये सब भाव 'यतः' शब्दमें व्याकरणकी दृष्टिसे भी आ जाते हैं। सृष्टि, स्थिति और प्रलय प्रकृतिमें निरन्तर होते रहते हैं; अतएव सत्य हैं; परंतु ये विकारी सत्य हैं और ब्रह्म अविकारी सत्य है। वास्तवमें सत्य तो वही है जो अविकारी हो और सदा-सर्वदा एकरस हो। वैचित्र्य यही है कि ब्रह्म सदा अविकारी होते हुए और रहते हुए भी इस विकारी जगत्का अधिष्ठान है; अतएव ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्मका तटस्थ लक्षण बताया सृष्टि आदि। उसका सम्बन्ध कहकर उपनिषद्ने स्वरूपलक्षण कहा है—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**। इस प्रकार व्यासजीने दूसरे सूत्रमें तटस्थ लक्षण और तीन स्वरूपलक्षणोंमेंसे **'सत्यम्'** को कह दिया। अब रह गये दो स्वरूपलक्षण **'ज्ञानम्'** और **'अनन्तम्'**। उनको अगले दो सूत्रोंमें क्रमसे कहते हैं।

तीसरा सूत्र है—**'शास्त्रयोनित्वात्'** जिसका रूप वाक्यपूर्तिपर होता है—

'शास्त्रयोनित्वात् तद्ब्रह्म ज्ञानं भवति।'

इस सूत्रका आधार उपनिषद्वाक्य है—

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। (तैत्ति० २।८।१)

'उस ब्रह्मके भयसे वायु चलता है। इसीके भयसे सूर्य उदय होता है तथा इसीके भयसे अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है अर्थात् ब्रह्म ही समस्त सृष्टिका शासनकर्ता है। वह सब तत्त्व और उनके देवताओंको जानता है। वह ज्ञानस्वरूप है, मनुष्य ज्ञानी है, परंतु वह ज्ञानस्वरूप या ज्ञान है। मनुष्यको तामस ज्ञान हुआ तो वह अज्ञानी कहा जाता है। इस प्रकार अज्ञानीको भी ज्ञान तो रहता ही है; परंतु ब्रह्म ज्ञानी नहीं, ज्ञानस्वरूप है। सृष्टिका कार्य उसके शासनसे होता है, वह स्वयं नहीं करता। सृष्टिमें जो नियमका पालन हो रहा है, उन सबका मूल कारण ब्रह्म ही है।

स्वरूपलक्षण 'अनन्तम्' भी उपनिषद्ने बताया है। उसके आधारपर व्यासजीने चौथा सूत्र बनाया—'तत्तु समन्वयात्।' जिसकी वाक्यपूर्ति करनेपर स्वरूप बना—

'समन्वयात् तत्तु ब्रह्म अनन्तं भवति'

अर्थात् वह ब्रह्म अनन्त है; क्योंकि सभी सृष्ट पदार्थोंमें

वह निश्चय ही भली प्रकार अनुस्यूत है। इस सूत्रका आधार उपनिषद्का निम्नाङ्कित वचन है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा।

(तैत्ति० २।१।१)

ब्रह्मसे आकाशादि सब क्रमसे निकले और सृष्टि हुई। और सृष्टि होनेके साथ ही ब्रह्म भी सृष्ट पदार्थोंमें प्रविष्ट होता गया। **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'**। और अन्तमें ब्रह्मसे ब्रह्ममें ही पहुँच गया। अर्थात् चक्रवत् व्यापार चला और जैसे चक्रका अन्त नहीं वैसे ही सृष्टिमें अनुस्यूत होनेसे आप ही चक्र पूरा कर प्रतिष्ठित रहा। अतएव वह अन्तरहित या अनन्त है। और आत्मा ही ब्रह्म है, यह भी उपनिषद्ने बता दिया। सूत्रमें **'सम्'** पद आया है, वह भली प्रकार या अच्छी तरहका भाव दर्शाता है। अर्थात् सृष्टिके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें ब्रह्म समाया हुआ है। कणमें अल्प और पर्वतमें विशेष नहीं। सर्वत्र समान रूपसे। और वही ब्रह्म आत्मा है। भृगुवल्लीकी शिक्षा दो सूत्रोंमें आ गयी।

इस प्रकार- तैत्तिरीयोपनिषद्की तीनों वल्लियोंको प्रथम चार सूत्रोंमें बाँधकर वेदव्यासजीने रख दिया। ब्रह्मजिज्ञासा क्यों और किसको होती है, उसका कौन अधिकारी है और ब्रह्मका तटस्थ और स्वरूपलक्षण बताकर उसका निरूपण कर दिया। जैसे उपनिषद्ने ब्रह्मप्राप्तिकी युक्ति बतायी है, उसीके आधारपर आगे भी सूत्र है।

केवल चतुःसूत्री ही नहीं; समस्त ब्रह्मसूत्रकी रचना तैत्तिरीयोपनिषद्पर अवलम्बित है और इस उपनिषद्में ब्रह्मज्ञानसम्बन्धी समस्त सिद्धान्तोंका समावेश होनेसे वेदव्यास भगवान्ने इसको इतना महत्त्व दिया है।

उपनिषदोंका सारसर्वस्व ब्रह्मसूत्र

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम्० ए०, आचार्य)

'उपनिषद्' शब्दका मुख्य अर्थ है उपासना। इस विश्वके उदय, विभव और लयकी लीलामें[1] लीन परमात्माके निरतिशय ऐश्वर्यसे विमुग्ध प्राचीन ऋषि-मुनियोंकी भक्तिभाव-भरित भावनाओंके शब्दचित्रोंके समुदायका नाम ही उपनिषद् है। प्रसङ्गतः अन्यान्य विषयोंका भी समावेश यद्यपि उपनिषद्-ग्रन्थोंमें है, तथापि मुख्य प्रतिपाद्य विषय उपासना ही है। ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाले ब्रह्मर्षियोंने उस परमतत्त्वका प्रतिपादन करना चाहा, वाणीसे अतीतका वाणीद्वारा वर्णन करना चाहा तो अपने उस अलौकिक देवताकी वाङ्मयी आराधनामें वे लौकिक पदावलीका ही प्रयोग कर सके। परमेश्वरकी ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दिव्यताको प्रकट करनेके लिये उन्हें अपने कोषमें प्राण[2], ज्योति[3] और आकाश[4] जैसे शब्दोंसे बढ़कर शब्द न मिल सके; अतएव उन्हीं पदोंके प्रयोगसे उन्हें सन्तोष करना पड़ा, किंतु साधारण जनताने प्राणादि शब्दोंका लौकिक अर्थ करना प्रारम्भ किया तो आवश्यकता इस बातकी हुई कि इस प्रकारके विरोधका परिहार किया जाय। ऐसे-ऐसे संशयास्पद स्थलोंका परमात्मपरक अर्थ दिखानेके लिये एवं ऐसी ही अन्यान्य पारमार्थिक शङ्काओंके निरासके साथ-साथ सत्सिद्धान्तके निरूपणके लिये कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजीने एक सूत्रमयी रचना की। उसीका नाम ब्रह्मसूत्र है। वेदान्तसूत्र और भिक्षुसूत्र भी इसके पर्याय हैं। गीताकी रचनासे पूर्व ही इन सूत्रोंका निर्माण हो चुका था।[5] इन सूत्रोंको उपनिषदोंका सार कहना युक्तियुक्त है। विभिन्न आचार्योंने अपने-अपने मतके अनुसार ब्रह्मसूत्रपर भाष्य किये हैं जो सभी अपने-अपने दृष्टिकोणोंसे उपादेय हैं। पुराणशिरोमणि श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्र-प्रतिपादित अर्थका ही समर्थक है; जैसी कि सूक्ति है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणाम्।

---

१. लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्। (ब्रह्मसूत्र २।१।३३)
२. अत एव प्राणः। (ब्रह्मसूत्र १।१।२४)
३. ज्योतिश्चरणाभिधानात्। (ब्रह्मसूत्र १।१।२५)
४. आकाशस्तल्लिङ्गात्। (ब्रह्मसूत्र १।१।२३)
५. ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः। (गीता १३।४)

उपनिषदोंमें भेद और अभेद-उपासना

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ (बृहदारण्यक० ५ । १ । १)

'वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने-आपसे परिपूर्ण है, यह संसार भी उस परमात्मासे परिपूर्ण है; क्योंकि उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण (संसार) प्रकट हुआ है; पूर्ण (संसार) के पूर्ण (पूरक परमात्मा) को स्वीकार करके उसमें स्थित होनेसे उस साधकके लिये एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है।'

हिंदू-शास्त्रोंका मूल वेद है, वेद अनन्त ज्ञानके भण्डार हैं, वेदोंका ज्ञानकाण्ड उसका शीर्षस्थानीय या अन्त है, वही उपनिषद् या वेदान्तके नामसे ख्यात है। उपनिषदोंमें ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ निर्णय किया गया है और साथ ही उसकी प्राप्तिके लिये विभिन्न रुचि और स्थितिके साधकोंके लिये विभिन्न उपासनाओंका प्रतिपादन किया गया है। उनमें जो प्रतीकोपासनाका वर्णन है, उसे भी एकदेशीय और सर्व-देशीय—दोनों ही प्रकारसे करनेको कहा गया है। ऐसी उपासना स्त्री, पुत्र, धन, अन्न, पशु आदि इस लोकके भोगोंकी तथा नन्दनवन, अप्सराएँ और अमृतपान आदि स्वर्गीय भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करनेका भी प्रतिपादन किया गया है एवं साथ ही परमात्माकी प्राप्तिके लिये भी अनेक प्रकारकी उपासनाएँ बतलायी गयी हैं। उनमेंसे इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनाओंके सम्बन्धमें यहाँ कुछ लिखनेका अवसर नहीं है। उपनिषदोंमें परमात्माकी प्राप्तिविषयक उपासनाओंके जो विस्तृत विवेचन हैं, उन्हींका यहाँ बहुत संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

उपनिषदोंमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये दृष्टान्त, उदाहरण, रूपक, संकेत तथा विधि-निषेधात्मक विविध वाक्योंके द्वारा विविध युक्तियोंसे विभिन्न साधन बतलाये गये हैं; उनमेंसे किसी भी एक साधनके अनुसार संलग्न होकर अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। उपनिषदुक्त सभी साधन १. भेदोपासना, और २. अभेदोपासना—इन दो उपासनाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। भेदोपासनाके भी दो प्रकार हैं। एक तो वह, जिसमें साधनमें भेदभावना रहती है और फलमें भी भेदरूप ही रहता है; और दूसरी वह, जिसमें साधनकालमें तो भेद रहता है, परंतु फलमें अभेद होता है। पहले क्रमशः हम भेदोपासनापर ही विचार करते हैं।

भेदोपासना

भेदोपासनामें तीन पदार्थ अनादि माने जाते हैं—१. माया (प्रकृति), २. जीव और ३. मायापति परमेश्वर। इनका वर्णन उपनिषदोंमें कई जगह आता है। प्रकृति जड है और उसका कार्यरूप दृश्यवर्ग क्षणिक, नाशवान् और परिणामी है। जीवात्मा और परमेश्वर—दोनों ही नित्य चेतन और आनन्दस्वरूप हैं; किंतु जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमेश्वर सर्वज्ञ हैं; जीव असमर्थ है और परमेश्वर सर्वसमर्थ हैं, जीव अंश है और परमेश्वर अंशी हैं; जीव भोक्ता है और परमेश्वर साक्षी हैं एवं जीव उपासक है और परमेश्वर उपास्य हैं। वे परमेश्वर समय-समयपर प्रकट होकर जीवोंके कल्याणके लिये उपदेश भी देते हैं।

इस विषयमें केनोपनिषद्में एक इतिहास आता है। एक समय परमेश्वरके प्रतापसे स्वर्गके देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्त की। पर देवता अज्ञानसे अभिमानवश यह मानने लगे कि हमारे ही प्रभावसे यह विजय हुई है। देवताओंके इस अज्ञानपूर्ण अभिमानको दूर कर उनका हित करनेके लिये स्वयं सच्चिदानन्दघन परमात्मा उन देवताओंके निकट सगुण-साकार यक्षरूपमें प्रकट हुए। यक्षका परिचय जाननेके लिये इन्द्रादि देवताओंने पहले अग्निको भेजा। यक्षने अग्निसे पूछा—'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं जातवेदा अग्नि हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको जला सकता हूँ।' यक्षने एक तिनका रक्खा और उसे जलानेको कहा; किंतु अग्नि उसको नहीं जला सके एवं लौटकर देवताओंसे बोले—'मैं यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।' तदनन्तर देवताओंके भेजे हुए वायुदेव गये। उनसे भी यक्षने यही पूछा कि 'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है?' उन्होंने कहा—'मैं मातरिश्वा वायु हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको उड़ा सकता हूँ।'

तब यक्षने उनके सामने भी एक तिनका रक्खा किंतु वे उसे उड़ा नहीं सके और लौटकर उन्होंने भी देवताओंसे यही कहा कि 'मैं इसको नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है ?' तत्पश्चात् स्वयं इन्द्रदेव गये, तब यक्ष अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर इन्द्रने उसी आकाशमें हैमवती उमादेवीको देखकर उनसे यक्षका परिचय पूछा। उमादेवीने बतलाया कि 'वह ब्रह्म था और उस ब्रह्मकी ही इस विजयमें तुम अपनी विजय मानने लगे थे।' इस उपदेशसे ही इन्द्रने समझ लिया कि 'यह ब्रह्म है।' फिर अग्नि और वायु भी उस ब्रह्मको जान गये। इन्होंने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना, इसलिये इन्द्र, अग्नि और वायुदेवता अन्य देवताओंसे श्रेष्ठ माने गये।

इस कथासे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्राणियोंमें जो कुछ भी बल, बुद्धि, तेज एवं विभूति है, सब परमेश्वरसे ही है। गीतामें भी श्रीभगवान्ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
(१०।४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

इस प्रकार उपनिषदोंमें कहीं साकाररूपसे और कहीं निराकाररूपसे, कहीं सगुणरूपसे और कहीं निर्गुणरूपसे भेद-उपासनाका वर्णन आता है। वहाँ यह भी बतलाया है कि उपासक अपने उपास्यदेवकी जिस भावसे उपासना करता है, उसके उद्देश्यके अनुसार ही उसकी कार्य-सिद्धि हो जाती है। कठोपनिषद्में सगुण-निर्गुणरूप ओंकारकी उपासनाका भेद-रूपसे वर्णन करते हुए यमराज नचिकेताके प्रति कहते हैं—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(१।२।१६-१७)

'यह अक्षर ही तो ब्रह्म है और अक्षर ही परब्रह्म है; इसी अक्षरको जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही उत्तम आलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय है। इस आलम्बनको भलीभाँति जानकर साधक ब्रह्म-लोकमें महिमान्वित होता है।'

इसलिये कल्याणकामी मनुष्योंको इस दुःखरूप संसार-सागरसे सदाके लिये पार होकर परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिये ही उनकी उपासना करनी चाहिये, सांसारिक पदार्थोंके लिये नहीं। वे परमेश्वर इस शरीरके अंदर सबके हृदयमें निराकार-रूपसे सदा-सर्वदा विराजमान हैं, परंतु उनको न जाननेके कारण ही लोग दुःखित हो रहे हैं। जो उन परमेश्वरकी उपासना करता है, वह उन्हें जान लेता है और इसलिये सम्पूर्ण दुःखों और शोकसमूहोंसे निवृत्त होकर परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है। मुण्डकोपनिषद्में भी बतलाया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥
(३।१।१-३)

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनोंमेंसे एक तो उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है; किंतु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है। इस शरीररूपी समान वृक्षपर रहनेवाला जीवात्मा शरीरकी गहरी आसक्तिमें डूबा हुआ है और असमर्थतारूप दीनताका अनुभव करता हुआ मोहित होकर शोक करता रहता है; किंतु जब कभी भगवान्की अहैतुकी दयासे भक्तोंद्वारा नित्यसेवित तथा अपनेसे भिन्न परमेश्वरको और उनकी महिमाको यह प्रत्यक्ष कर लेता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है तथा जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सबके शासक, ब्रह्माके भी आदिकारण, सम्पूर्ण जगत्के रचयिता, दिव्यप्रकाशस्वरूप परमपुरुषको प्रत्यक्ष कर लेता है, उस समय पुण्य-पाप—दोनोंसे रहित होकर निर्मल हुआ वह ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम समताको प्राप्त कर लेता है।'

वह सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वर सब इन्द्रियोंसे रहित होकर भी इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है। वह सबकी उत्पत्ति

और पालन करनेवाला होकर भी अकर्ता ही है। उस सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अकारण दयालु और परम प्रेमी हृदयस्थित निराकार परमेश्वरकी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। उस भजनेयोग्य परमात्माकी शरण लेनेसे मनुष्य सारे दुःख, क्लेश, पाप और विकारोंसे छूटकर परम शान्ति और परम गतिस्वरूप मुक्तिको प्राप्त करता है। इसलिये सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् उस सर्वसुहृद् परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर उसे प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे उसीकी शरण लेनी चाहिये।

श्वेताश्वतरोपनिषद्में परमेश्वरकी भेदरूपसे उपासना-का वर्णन विस्तारसहित आता है; उसमेंसे कुछ मन्त्र यहाँ दिये जाते हैं—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥
(३।१७)

'जो परमपुरुष परमेश्वर समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है तथा सबका स्वामी, सबका शासक और सबसे बड़ा आश्रय है, उसकी शरण जाना चाहिये।'

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥
(३।२०)

'वह सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म तथा बड़ेसे भी बहुत बड़ा परमात्मा इस जीवकी हृदयरूप गुफामें छिपा हुआ है, सब-की रचना करनेवाले परमेश्वरकी कृपासे जो मनुष्य उस संकल्प-रहित परमेश्वरको और उसकी महिमाको देख लेता है, वह सब प्रकारके दुःखोंसे रहित होकर आनन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है।'

और भी कहा है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥
(४।१०-११)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और महेश्वरको मायापति समझना चाहिये; उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अङ्गभूत कारण-कार्यसमुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है। जो अकेला ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता हो रहा है, जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकालमें विलीन हो जाता है, और सृष्टिकालमें विविध रूपोंमें प्रकट भी हो जाता है, उस सर्वनियन्ता, वरदायक, स्तुति करनेयोग्य परमदेव परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर मनुष्य निरन्तर बनी रहनेवाली इस मुक्तिरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥
(४।१४)

'जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, हृदयगुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित, अखिल विश्वकी रचना करनेवाला, अनेक रूप धारण करनेवाला तथा समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे रखने-वाला है, उस एक अद्वितीय कल्याणस्वरूप महेश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है।'

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
(६।११-१२)

'वह एक देव ही सब प्राणियोंमें छिपा हुआ सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमात्मा है, वही सबके कर्मोंका अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतोंका निवासस्थान, सबका साक्षी, चेतनस्वरूप, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है तथा जो अकेला ही बहुत-से वास्तवमें अक्रिय जीवोंका शासक है और एक प्रकृतिरूप बीजको अनेक रूपोंमें परिणत कर देता है, उस हृदयस्थित परमेश्वरका जो धीर पुरुष निरन्तर अनुभव करते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला परमानन्द प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।'

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(६।१८)

'जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो निश्चय ही उस ब्रह्माको समस्त वेदोंका ज्ञान प्रदान करता है, उस परमात्मविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले प्रसिद्ध देव परमेश्वरकी मैं मोक्षकी इच्छावाला साधक शरण लेता हूँ।'

जिसमें साधनमें भी भेद हो और फलमें भी भेद हो, ऐसी भेदोपासनाका वर्णन ऊपर किया गया; अब साधनमें तो भेद हो, किंतु फलमें अभेद ऐसी उपासनापर विचार किया जाता है।

शास्त्रोंमें भेदोपासनाके अनुसार चार प्रकारकी मुक्ति बतलायी गयी है—१. सालोक्य, २. सामीप्य, ३. सारूप्य और ४. सायुज्य। इनमेंसे पहली तीन तो साधनमें भी भेद और फलमें भी भेदवाली हैं; किंतु सायुज्य-मुक्तिमें साधनमें तो भेद है, पर फलमें भेद नहीं रहता। भगवान्‌के परम धाममें जाकर वहाँ निवास करनेको 'सालोक्य' मुक्ति कहते हैं; जो वात्सल्य आदि भावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सालोक्य' मुक्तिको पाते हैं। भगवान्‌के परम धाममें जाकर उनके समीप निवास करनेको 'सामीप्य' मुक्ति कहते हैं; जो दासभावसे या माधुर्यभावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सामीप्य' मुक्तिको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌के परम धाममें जाकर भगवान्‌के जैसे स्वरूपवाले होकर निवास करनेको 'सारूप्य' मुक्ति कहते हैं; जो सखाभावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सारूप्य' मुक्ति पाते हैं। इन सब भक्तोंमें सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और पालनरूप भगवत्सामर्थ्यके सिवा भगवान्‌के सब गुण आ जाते हैं। भगवान्‌के स्वरूपमें अभेदरूपसे विलीन हो जानेको 'सायुज्य' मुक्ति कहते हैं। जो शान्तभावसे (ज्ञानमिश्रित भक्तिसे) भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सायुज्य' मुक्तिको प्राप्त होते हैं तथा जो वैरसे, द्वेषसे अथवा भयसे भगवान्‌को भजते हैं, वे भी 'सायुज्य' मुक्तिको पाते हैं। जिस प्रकार नदियोंका जल अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें मिलकर समुद्र ही हो जाता है, इसी प्रकार ऐसे साधक भगवान्‌में लीन होकर भगवत्स्वरूप ही हो जाते हैं। इसके लिये उपनिषदोंमें तथा अन्य शास्त्रोंमें जगह-जगह अनेक प्रमाण मिलते हैं। कठोपनिषद्‌में यमराज नचिकेतासे कहते हैं—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥
(२।१।१५)

'जिस प्रकार निर्मल जलमें मेघोंद्वारा सब ओरसे बरसाया हुआ निर्मल जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार हे गौतमवंशीय नचिकेता! एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तम ही सब कुछ है—इस प्रकार जाननेवाले मुनिका आत्मा परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है अर्थात् परमेश्वरमें मिलकर तद्रूप हो जाता है।'

मुण्डकोपनिषद्‌में भी कहा है—

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥
(३।२।१)

'वह निष्काम-भाववाला पुरुष इस परम विशुद्ध (प्रकाशमान) ब्रह्मधामको जान लेता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है; जो भी कोई निष्काम साधक परम पुरुषकी उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् रजोवीर्यमय इस जगत्‌को अतिक्रमण कर जाते हैं।'

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। (३।२।८-९)

'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर उत्तम-से-उत्तम दिव्य परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है। निश्चय ही जो कोई भी उस परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह महात्मा ब्रह्म ही हो जाता है; उसके कुलमें ब्रह्मको न जाननेवाला नहीं होता; वह शोकसे पार हो जाता है, पाप-समुदायसे तर जाता है, हृदयकी गाँठोंसे सर्वथा छूटकर अमृत हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्युसे रहित होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।'

जो मनुष्य माया (प्रकृति), जीव और परमेश्वरको भिन्न-भिन्न समझकर उपासना करता है और यह समझता है कि ईश्वरकी यह प्रकृति ईश्वरसे अभिन्न है, क्योंकि शक्ति शक्तिमान्‌से अभिन्न होती है एवं जीव भिन्न होते हुए भी ईश्वरका अंश होनेके कारण अभिन्न ही हैं; इसलिये प्रकृति और जीव—दोनोंसे परमात्मा भिन्न होते हुए भी अभिन्न ही हैं। वह पुरुष भेदरूपसे साधन करता हुआ भी अन्तमें अभेदरूपसे ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यह बात भी शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें अनेक स्थानोंमें मिलती है। जैसे—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावा-
द्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
(श्वेताश्वतर० १ । ९-१०)

'सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, सर्वसमर्थ और असमर्थ—ये दोनों परमात्मा और जीवात्मा अजन्मा हैं तथा भोगनेवाले जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग्य-सामग्रीसे युक्त और अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति है; (इन तीनोंमें जो ईश्वर-तत्त्व है, वह शेष दोसे विलक्षण है) क्योंकि वह परमात्मा अनन्त, सम्पूर्ण रूपोंवाला और कर्तापनके अभिमानसे रहित है। जब मनुष्य इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनोंको ब्रह्मरूपमें प्राप्त कर लेता है (तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है)। तथा प्रकृति तो विनाशशील है, इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है; इन विनाशशील जड-तत्त्व और चेतन आत्मा—दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है, इस प्रकार जानकर उसका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उसमें लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे अन्तमें उसीको प्राप्त हो जाता है; फिर समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है।'

यहाँतक भेदोपासनाके दोनों प्रकारोंको उपनिषद्के अनुसार संक्षेपमें बतलाकर अब अभेदोपासनापर विचार करते हैं—

अभेदोपासना

अभेद-उपासनाके भी प्रधान चार भेद हैं। उनमेंसे पहले दो भेद 'तत्' पदको और बादके दो भेद 'त्वम्' पदको लक्ष्य करके संक्षेपमें नीचे बतलाये जाते हैं—

१. इस चराचर जगत्में जो कुछ प्रतीत होता है, सब ब्रह्म ही है; कोई भी वस्तु एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न नहीं है। इस प्रकार उपासना करे।

२. वह निर्गुण निराकार निष्क्रिय निर्विकार परमात्मा इस क्षणभङ्गुर नाशवान् जड दृश्यवर्ग मायासे सर्वथा अतीत है—इस प्रकार उपासना करे।

३. जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण चराचर जगत् एक ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ। इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार उपासना करे।

४. जो नाशवान् क्षणभङ्गुर मायामय दृश्यवर्गसे अतीत, निराकार, निर्विकार, नित्य विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरा ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार उपासना करे।

अब इनको अच्छी प्रकार समझनेके लिये उपनिषदोंके प्रमाण देकर कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है।

(१) सर्गके आदिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही थे। उन्होंने विचार किया कि 'मैं प्रकट होऊँ और अनेक नाम-रूप धारण करके बहुत हो जाऊँ' 'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति' (तैत्तिरीयोपनिषद् २ । ६) इस प्रकार वह ब्रह्म एक ही बहुत रूपोंमें हो गये। इसलिये यह जो कुछ भी जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम जगत् है, वह परमात्माका ही स्वरूप है। श्रुति कहती है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म
पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मै-
वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥
(मुण्डक० २ । २ । ११)

'यह अमृतस्वरूप परब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं ओर तथा बायीं ओर, नीचेकी ओर तथा ऊपरकी ओर भी फैला हुआ है; यह जो सम्पूर्ण जगत् है, यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।'

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥
(मुण्डक० ३ । २ । ५)

'सर्वथा आसक्तिरहित और विशुद्ध अन्तःकरणवाले ऋषिलोग इस परमात्माको पूर्णतया प्राप्त होकर ज्ञानसे तृप्त एवं परम शान्त हो जाते हैं, अपने-आपको परमात्मामें संयुक्त कर देनेवाले वे ज्ञानीजन सर्वव्यापी परमात्माको सब ओरसे प्राप्त करके सर्वरूप परमात्मामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं।'

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ।
(माण्डूक्य० २)

'क्योंकि यह सब-का-सब जगत् परब्रह्म परमात्मा है तथा जो यह चार चरणोंवाला आत्मा है, वह आत्मा भी परब्रह्म परमात्मा है।'

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।
(छान्दोग्योपनिषद् ३ । १४ । १)

'यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय—उस ब्रह्मसे ही है—इस प्रकार समझकर शान्तचित्त हुआ उपासना करे।'

(२) 'तत्' पदके लक्ष्य ब्रह्मके स्वरूपका, जो कुछ जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम चराचर संसार है, वह सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार निरूपण किया गया। अब उसी 'तत्' पदके लक्ष्यार्थ ब्रह्मके निर्विशेष स्वरूपका वर्णन किया जाता है। वह निर्गुण-निराकार अक्रिय निर्विकार परमात्मा इस क्षणभङ्गुर नाशवान् जड दृश्यवर्ग मायासे सर्वथा अतीत है। जो कुछ यह दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह सब अज्ञानमूलक है। वास्तवमें एक विज्ञानानन्दघन अनन्त निर्विशेष ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकारके अनुभवसे वह इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे मुक्त होकर अनन्त विज्ञान आनन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। यह बात शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें अनेक जगह बतलायी गयी है।

कठोपनिषद्में परब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥
(१। ३। १५)

'जो शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित है तथा जो अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त (असीम) महत्तत्त्वसे परे एवं सर्वथा सत्य तत्त्व है, उस परमात्माको जानकर मनुष्य मृत्युके मुखसे सदाके लिये छूट जाता है।'

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥
(२। १। ११)

'यह परमात्मतत्त्व शुद्ध मनसे ही प्राप्त किये जानेयोग्य है; इस जगत्में एक परमात्माके अतिरिक्त नाना—भिन्न-भिन्न भाव कुछ भी नहीं है; इसलिये जो इस जगत्में नानाकी भाँति देखता है, वह मनुष्य मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है।'

मुण्डकोपनिषद्में भी कहा है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥
(३। १। ८)

'वह निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्मा न तो नेत्रोंसे, न वाणीसे और न दूसरी इन्द्रियोंसे ही ग्रहण करनेमें आता है तथा तपसे अथवा कर्मोंसे भी वह ग्रहण नहीं किया जा सकता; उस अवयवरहित परमात्माको तो विशुद्ध अन्तःकरणवाला साधक उस विशुद्ध अन्तःकरणसे निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ही ज्ञानकी निर्मलतासे देख पाता है।'

तैत्तिरीयोपनिषद्में भी कहा है—

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (२। १। १)

'ब्रह्मज्ञानी परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है; उसी भावको व्यक्त करनेवाली यह श्रुति कही गयी है—ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।'

(३) 'तत्' पदकी उपासनाके प्रकारका वर्णन करके अब 'त्वम्' पदकी उपासनाका प्रकार बतलाया जाता है। जो कुछ जड-चेतन स्थावर-जङ्गम प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म है और जो ब्रह्म है, वह मैं हूँ। इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्माको अर्थात् अपने-आपको और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको ओतप्रोत देखना चाहिये। अभिप्राय यह है कि 'जो भी कुछ है, सब मेरा ही स्वरूप है' इस प्रकारका अभ्यास करनेवाला साधक शोक और मोहसे पार होकर विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। यह बात शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें जगह-जगह मिलती है। गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है।'

ईशावास्योपनिषद्में भी कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(६—७)

'परन्तु जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सारे भूतोंमें देखता है अर्थात् सम्पूर्ण भूतोंको अपना आत्मा ही समझता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता—सबको अपना आत्मा समझनेवाला किससे कैसे घृणा करे ?

इस प्रकारसे जब आत्मतत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये सब आत्मा ही हो जाता है, तब फिर एकत्वका अर्थात् सबमें एक आत्माका अनुभव करनेवाले उस मनुष्यको कहाँ मोह है और कहाँ शोक है अर्थात् सबमें एक विज्ञान आनन्दमय परब्रह्म परमात्माका अनुभव करनेवाले पुरुषके शोक-मोह आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है।'

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये छान्दोग्य-उपनिषद्‌में एक इतिहास आता है। अरुणका पौत्र और उद्दालकका पुत्र श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें गुरुके पास विद्यालाभके लिये गया और वहाँसे वह विद्या पढ़कर चौबीस वर्षकी अवस्था होनेपर घर लौटा। वह अपनेको बुद्धिमान् और व्याख्यानदाता मानता हुआ अनम्रभावसे ही घरपर आया तथा उसने बुद्धिके अभिमानवश पिताको प्रणाम नहीं किया। इसपर उसके पिताने उससे पूछा—

श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतꣳ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। (६।१।२-३)

'हे श्वेतकेतु ! हे सोम्य ! तू जो अपनेको ऐसा महामना और पण्डित मानकर अविनीत हो रहा है, सो क्या तूने वह आदेश आचार्यसे पूछा है, जिस आदेशसे अश्रुत श्रुत हो जाता है, बिना विचारा हुआ विचारमें आ जाता है अर्थात् बिना निश्चय किया हुआ निश्चित हो जाता है और बिना जाना हुआ ही विशेषरूपसे जाना हुआ हो जाता है।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा कि 'भगवन् ! वह आदेश कैसा है।' तब उद्दालक बोले—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

(६।१।४)

'सोम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिकाके पिण्डके द्वारा समस्त मृत्तिकामय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है।'

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्।

(६।१।५)

'सोम्य ! जिस प्रकार एक लोहमणि (सुवर्ण) का ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जान लिये जाते हैं; क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है।'

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवꣳ सोम्य स आदेशो भवतीति। (६।१।६)

'सोम्य ! जिस प्रकार एक नखनिकृन्तन (नहन्ना) अर्थात् लोहेके ज्ञानसे सम्पूर्ण लोहेके पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित केवल नाममात्र है, सत्य केवल लोहा ही है; हे सोम्य ! ऐसा ही वह आदेश है।'

यह सुनकर श्वेतकेतु बोला—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣳस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच। (६।१।७)

'निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे। यदि वे जानते तो मुझसे क्यों न कहते। अब आप ही मुझे अच्छी तरह बतलाइये।' तब पिताने कहा—'अच्छा सोम्य ! बतलाता हूँ।'

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

(६।२।१)

'हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'हे पिताजी ! मुझको यह विषय और स्पष्ट करके समझाइये।' उद्दालक आरुणि बोले—"हे सोम्य ! जैसे दही मथनेसे उसका सूक्ष्मसार तत्त्व नवनीत ऊपर तैर आता है, इसी प्रकार जो अन्न खाया जाता है, उसका सूक्ष्म सार अंश मन बनता है। जलका सूक्ष्म अंश प्राण और तेजका सूक्ष्म अंश वाक् बनता है। असलमें ये मन, प्राण और वाणी तथा इनके कारण अनादि कार्यकारणपरम्परासे मूलमें एक ही सत् वस्तु ठहरते हैं। सबका मूल कारण सत् है, वही परम आश्रय और अधिष्ठान है। सत्‌के कार्य नाना प्रकारकी आकृतियाँ सब वाणीके विकार हैं, नाममात्र हैं। यह सत् अणुकी भाँति सूक्ष्म है, समस्त जगत्‌का आत्मारूप है। हे श्वेतकेतु ! वह 'सत्' वस्तु तू ही है—'तत्त्वमसि।'"

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' पिता आरुणिने कहा—'अच्छा, एक वट-वृक्षका फल तोड़कर ला! फिर तुझे समझाऊँगा।' श्वेतकेतु फल ले आया। पिताने कहा—'इसे तोड़कर देख, इसमें क्या है?' श्वेतकेतुने फल तोड़कर कहा—'भगवन्! इसमें छोटे-छोटे बीज हैं।' ऋषि उद्दालक बोले—'अच्छा, एक बीजको तोड़कर देख, उसमें क्या है?' श्वेतकेतुने बीजको तोड़कर कहा—'इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता।' तब पिता आरुणि बोले—"हे सोम्य! तू इस वट-बीजके सूक्ष्म तत्त्वको नहीं देखता, इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वसे ही महान् वटका वृक्ष निकलता है। बस, जैसे यह अत्यन्त सूक्ष्म वट-बीज बड़े भारी वटके वृक्षका आधार है, इसी प्रकार सूक्ष्म सत् आत्मा इस समस्त स्थूल जगत्का आधार है। हे सोम्य! मैं सत्य कहता हूँ, तू मेरे वचनमें श्रद्धा रख। यह जो सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है, वह सत् है और यही आत्मा है। हे श्वेतकेतु! वह 'सत्' तू ही है—'तत्त्वमसि'" (६।१२।३)।

इस प्रकार उद्दालकने अनेक दृष्टान्त और युक्तियोंसे इस तत्त्वको विस्तारसे समझाया है, किंतु यहाँ उसका कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। पूरा वर्णन देखना हो तो छान्दोग्य-उपनिषद्में देखना चाहिये।

उपर्युक्त विषयके सम्बन्धमें बृहदारण्यक-उपनिषद्में भी इस प्रकार कहा है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳसूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाꣳ स भवति। (१।४।१०)

"पहले यह ब्रह्म ही था; उसने अपनेको ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। अतः वह सर्व हो गया। उसे देवोंमेंसे जिस-जिसने जाना वही तद्रूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमेंसे भी जिसने उसे जाना, वह तद्रूप हो गया। उसे आत्मरूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना—'मैं मनु हुआ और सूर्य भी'। उस इस ब्रह्मको इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', वह यह सर्व हो जाता है। उसके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है।"

उपर्युक्त विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यक-उपनिषद्में भी एक इतिहास मिलता है। महर्षि याज्ञवल्क्यके दो स्त्रियाँ थीं—एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी। महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीसे कहा—'मैं इस गृहस्थाश्रमसे ऊपर संन्यास-आश्रममें जानेवाला हूँ, अतः सम्पत्तिका बँटवारा करके तुमको और कात्यायनीको दे दूँ तो ठीक है।' मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! यदि यह धनसे सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमृतस्वरूप हो सकती हूँ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायगा। धनसे अमृतत्वकी तो आशा है नहीं।' मैत्रेयीने कहा—'जिससे मैं अमृतस्वरूप नहीं हो सकती, उसे लेकर क्या करूँगी? श्रीमान्! जो कुछ अमृतत्वका साधन हो, वही मुझे बतलायें।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'धन्य है! अरी मैत्रेयी! तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और अब भी तू प्रिय बात कह रही है। अच्छा, मैं तुझे उसकी व्याख्या करके समझाऊँगा। तू मेरे वाक्योंके अभिप्रायका चिन्तन करना।'

याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्।' (२।४।५)

'अरी मैत्रेयी! सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं। यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयी! इस आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञानसे इस सबका ज्ञान हो जाता है।'

तथा—

'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा।' (२।४।६)

हे मैत्रेयी! यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और यह सब जो कुछ भी है, सब आत्मा ही है।'

एवं—

'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ

शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।' (२।४।१४)

'जहाँ (अविद्यावस्थामें) द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यका अभिवादन करता है, अन्य अन्यका मनन करता है तथा अन्य अन्यको जानता है; किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसको किसके द्वारा जाने? हे मैत्रेयी! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने?'

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद्के दूसरे तथा चौथे अध्यायमें यह प्रसङ्ग विस्तारसे आया है, यहाँ तो उसका कुछ अंश ही दिया गया है।

(४) जो नाशवान्, क्षणभङ्गुर, मायामय दृश्यवर्गसे रहित निराकार, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरा ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है; इस प्रकार उस निराकार निर्विशेष विज्ञानानन्दघन परमात्माको एकीभावसे जानकर मनुष्य उसे प्राप्त हो जाता है। श्रुति कहती है—

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

(बृहदारण्यक० ४।४।६)

'जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये—

बृहदारण्यक उपनिषद्में एक इतिहास मिलता है। एक बार राजा जनकने एक बड़ी दक्षिणावाला यज्ञ किया। उसमें कुरु और पाञ्चाल देशोंके बहुत-से ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस समय राजा जनकने यह जाननेकी इच्छासे कि इन ब्राह्मणोंमें कौन सबसे बढ़कर प्रवचन करनेवाला है, अपनी गोशालामें ऐसी दस हजार गौएँ दान देनेके लिये रोक लीं, जिनमेंसे प्रत्येकके सींगोंमें दस-दस पाद सुवर्ण बँधा था और उन ब्राह्मणोंसे कहा—'पूजनीय ब्राह्मणो! आपमें जो ब्रह्मिष्ठ हों, वे इन गौओंको ले जायँ।' ब्राह्मणोंने राजाकी बात सुन ली; किंतु उनमें किसीका साहस नहीं हुआ। तब याज्ञवल्क्यने अपने ब्रह्मचारीसे उन गौओंको ले जानेके लिये कहा। वह उन्हें ले चला। इससे वे सब ब्राह्मण कुपित हो गये और जनकके होता अश्वलने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'याज्ञवल्क्य! हम सबमें क्या तुम ही ब्रह्मिष्ठ हो?' याज्ञवल्क्यने कहा—'ब्रह्मिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं, हम तो गौओंकी ही इच्छावाले हैं।' यह सुनकर क्रमशः अश्वल, आर्तभाग और भुज्युने उनसे अनेकों प्रश्न किये और महर्षि याज्ञवल्क्यने उनका भलीभाँति समाधान किया।

फिर चाक्रायण उषस्तने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'हे याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी मेरे प्रति व्याख्या करो।' याज्ञवल्क्यने कहा—

एष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः। (३।४।१)

'यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है।' उषस्तने पूछा—'वह सर्वान्तर कौन-सा है?' याज्ञवल्क्यने कहा—'जो प्राणसे प्राणक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो अपानसे अपानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो व्यानसे व्यानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो उदानसे उदानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।'

उषस्तने फिर पूछा कि वह सर्वान्तर कौन-सा है। तब याज्ञवल्क्य पुनः बोले—

'...सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारꣳ शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम।' (३।४।२)

'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। तू उस दृष्टिके द्रष्टाको नहीं देख सकता, श्रुतिके श्रोताको नहीं सुन सकता, मतिके मन्ताका मनन नहीं कर सकता, विज्ञातिके विज्ञाताको नहीं जान सकता। तेरा यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न आर्त (नाशवान्) है।' यह सुनकर चाक्रायण उषस्त चुप हो गया।

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे

व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः । कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति ।
(३ । ५ । १)

'इसके पश्चात् कौषीतकेय कहोलने 'हे याज्ञवल्क्य !' (इस प्रकार सम्बोधित करके) कहा—'जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मेरे प्रति व्याख्या करो ।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है ।' कहोलने पूछा—'याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है ।' तब याज्ञवल्क्यने कहा—'जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे परे है (वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है) ।'

फिर आरुणि उद्दालकने याज्ञवल्क्यसे कहा—'यदि तुम उस सूत्र और अन्तर्यामीको नहीं जानते हो और फिर भी ब्रह्मवेत्ताकी स्वभूत गौओंको ले जाओगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा ।' याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा—'मैं उस सूत्र और अन्तर्यामीको जानता हूँ ।

हे गौतम ! वायु ही वह सूत्र है, इस वायुरूप सूत्रके द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूतसमुदाय गुँथे हुए हैं ।' तब इसका समर्थन करते हुए उद्दालकने अन्तर्यामीका वर्णन करनेको कहा ।

याज्ञवल्क्यने कहा—

'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।' (३ । ७ । ३)

'जो पृथ्वीमें रहनेवाला पृथ्वीके भीतर है; जिसे पृथ्वी नहीं जानती, जिसका पृथ्वी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथ्वीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

तथा—

'अदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति · विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ।' (३ । ७ । २३)

'वह दिखायी न देनेवाला किंतु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला किंतु सुननेवाला है, मननका विषय न होनेवाला किंतु मनन करनेवाला है और विशेषतया ज्ञात न होनेवाला किंतु विशेषरूपसे जाननेवाला है । यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । इससे भिन्न सब नाशवान् है ।' यह सुनकर अरुणपुत्र उद्दालक प्रश्न करनेसे निवृत्त हो गया ।

तदनन्तर वाचक्नवी गार्गीने तथा शाकल्य विदग्धने अनेकों प्रश्न किये, जिनके उत्तर याज्ञवल्क्यजीने तुरंत दे दिये । अन्तमें उन्होंने शाकल्यसे कहा—'अब मैं तुमसे उस औपनिषद पुरुषको पूछता हूँ, यदि तुम मुझे उसे स्पष्टतया नहीं बतला सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा ।' किंतु शाकल्य उसे नहीं जानता था, इसलिये उसका मस्तक गिर गया ।

फिर याज्ञवल्क्यने कहा—'पूज्य ब्राह्मणगण ! आपमेंसे जिसकी इच्छा हो, वह मुझसे प्रश्न करे अथवा आपसे मैं प्रश्न करूँ ।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ ।

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यक-उपनिषद्में और भी कहा है—

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद । (४ । ४ । २५)

'वह यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमृत, अभय एवं ब्रह्म है, निश्चय ही ब्रह्म अभय है, जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य अभय ब्रह्म ही हो जाता है ।'

यह 'त्वम्' पदके लक्ष्यार्थ समस्त दृश्यवर्गसे अतीत आत्मस्वरूप निर्विशेष ब्रह्मकी उपासनापर संक्षिप्त विचार हुआ ।

ऊपर बतलायी हुई इन उपासनाओंमेंसे किसीका भी भलीभाँति अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । पहले साधक भेद या अभेद—जिस भावसे उपासना करता है, वह अपनी रुचि, समझ तथा किसीके द्वारा उपदिष्ट होकर साधन आरम्भ करता है, परन्तु यदि उसका लक्ष्य सचमुच भगवान्को प्राप्त करना है; तो वह चाहे जिस भावसे उपासना करे, अन्तमें उसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि सबका अन्तिम परिणाम एक ही है । गीतामें भी भगवान्ने बतलाया है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥
(५ । ५)

'ज्ञानयोगियोंके द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है । इसलिये

जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

और भी कहा है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
(१३।२४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

गीता, उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें जितने साधन बतलाये हैं, उन सबका फल—अन्तिम परिणाम एक ही है और वह अनिर्वचनीय है, जिसे कोई किसी प्रकार भी बतला नहीं सकता। जो कुछ भी बतलाया जाता है, उससे वह अत्यन्त विलक्षण है।

इस प्रकार यहाँ सगुण-निर्गुणरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माकी भेदोपासना एवं अभेदोपासनापर बहुत ही संक्षेपसे विचार किया गया है। उपनिषदुक्त उपासनाका विषय बहुत ही विस्तृत और अत्यन्त गहन है। स्थान-सङ्कोचसे यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। सुरुचि-सम्पन्न जिज्ञासु पाठक इस विषयको विशेषरूपसे जानना चाहें तो वे उपनिषदोंमें ही उसे देखें और उसका यथायोग्य मनन एवं धारण कर जीवनको सफल करें।

ईशोपनिषद्में 'शक्तिकारणवाद'

(लेखक—श्री १०८ स्वामीजी महाराज)

सृष्टिके आदिकालसे ही मनुष्य अक्षय सुख और शान्तिकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता रहा है। उसीका परिणाम धार्मिक जगत्में विस्तृत भिन्न-भिन्न सिद्धान्त एवं पन्थभेद हैं। प्रारम्भकालमें प्रत्येक पन्थमें अनेकता देखनेमें आती है। पर जब सतत अभ्याससे राग-द्वेष, आग्रह-अहङ्कार आदि अज्ञानजन्य दोष निवृत्त हो जाते हैं तथा वास्तविकता झलकने लगती है, तब भेदभावका मूल्य जाता रहता है और सर्वत्र एक तत्त्वका ही अनुगम होने लगता है। इस प्रसङ्गको वैदिक साहित्यके मूर्धन्य उपनिषद्-ग्रन्थोंमें जिस प्रकारसे उपस्थित किया गया है, वैसा अन्यत्र कहीं भी मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

सनातन कालसे ही तत्त्वज्ञानियोंने परमतत्त्वको भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंसे अनुभव किया है एवं उसीके अनुसार चलकर उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है; क्योंकि चरम लक्ष्यकी प्राप्ति उसी परम तत्त्वकी उपलब्धिमें है और उसीमें अक्षय सुख एवं शान्ति है। पिता, बन्धु, सखा आदि भावोंके आलम्बनसे जिस प्रकार सम्बन्ध जोड़कर हम उसे पहचानते हैं, वैसे ही मातृभावसे भी उसे प्राप्त करते हैं, इसीका परिणाम शक्तिकी उपासना है जो कि सनातन कालसे ही हमारे देशमें प्रचलित है और कृपा, दया, करुणा, स्नेह आदि भावोंकी अभिव्यक्तिके लिये उपासनामार्गमें अपना श्रेष्ठ स्थान रखती है। स्वामी श्रीरामतीर्थजीने अपने अमेरिकाके एक व्याख्यानमें इसे बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें यों कहा है—

"In this country you worship God as the Father—'My Father which art in Heaven'. But in India God is worshipped not only as the Father but as the Mother also. The Mother is the dearest word in the Indian language (Mātājī), the blessed God the dearest God."

"इस देशमें आप सब ईश्वरकी उपासना पिताके रूपमें करते हैं, जो कि स्वर्गमें रहता है; पर हिंदुस्थानमें पिताके ही रूपमें उसकी उपासना नहीं होती है, बल्कि उसे माताके रूपमें भी पूजते हैं। भारतीय भाषामें 'माताजी' यह अत्यन्त प्रिय शब्द है। यह परम कल्याणका करनेवाला परम प्रिय ईश्वरतत्त्व है!"

शक्तितत्त्व

नाम-रूपसे व्यक्त सभी पदार्थोंमें शक्तितत्त्व धर्म या गुणरूपसे व्यक्त हो रहा है, इसीसे पदार्थका परिचय होता है और उसका व्यवहार किया जाता है। यह तत्त्व परम सत्ता—ब्रह्ममें अपृथक् रूपसे विद्यमान है। उपनिषद्के ऋषियोंने बतलाया है—**'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'** वास्तवमें यह तत्त्व देवकी स्वरूपशक्ति है। देवको अचलरूपसे अपनी सत्तामें धारण किये हुए है। यह पदार्थ शक्तिके सिवा भिन्न नहीं हो सकता। इसीलिये आचार्यप्रवर श्रीशङ्करस्वामीने कहा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं

न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
(सौ० ल०)

शक्तियुक्त ब्रह्म ही कार्य करनेमें समर्थ होता है, अन्यथा वह कुछ भी नहीं कर सकता। ब्रह्मवाद निरीह, निष्क्रिय, निरञ्जन आदि लक्षणोंवाले परम तत्त्वको बतलाता है; परंतु ऐसे लक्षणोंवाले तत्त्वसे सृष्टि-कार्य नहीं हो सकता, न उससे सृष्टिका संकल्प ही बन सकता है, न उसमें आविर्भाव-तिरोभाव ही हो सकते हैं। अतएव शक्ति-पदार्थको ही जगत्का कारण मानना पड़ता है। इस मतमें ब्रह्म जीवको भी अन्ततोगत्वा धर्मी शक्तिके रूपमें अङ्गीकार कर लिया गया है। इस प्रकार सारा विश्व शक्तिमयके रूपमें ही दृष्टिगोचर होता है—

'सर्वं शाक्तमजीजनत्' (बह्वृच०)

इस श्रुतिका भाव ही सर्वत्र अनुभूत होता है। 'ईशावास्य-मिदम्' इसी अभिप्रायका द्योतक है। इसलिये शक्तिकारणवाद ही युक्तिसङ्गत सिद्धान्त है। 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादि मन्त्रका अर्थ ब्रह्मवादसे ठीक सङ्गत नहीं लग सकता, क्योंकि 'एजृ कम्पने'का अर्थ क्रियापरक ही है। निष्क्रिय ब्रह्मवाद-में यह असम्भव है। इसकी यथार्थ सङ्गति शक्तिकारणवादसे ही लग सकती है। इसी प्रकार अन्य मन्त्रोंका अर्थ भी समझना चाहिये। द्वैत-विशिष्टाद्वैतवादोंमें तो शक्तिपदार्थ माना ही जाता है। शक्तिवादके सर्वथा विपरीत मायावादमें भी इसे मानना ही पड़ा है। स्वामी श्रीविद्यारण्यने कहा है—

वस्तुधर्मा नियम्येरन् शक्त्या नैव यदा तदा।
अन्योन्यधर्मसाङ्कर्याद्विप्लवेत् जगत्खलु ॥
(पं० द० ३। ३९)

'वस्तुधर्मको नियमन करनेवाली यदि शक्ति न हो तो परस्पर अन्योन्य धर्मका संकर होकर जगत् नष्ट हो जायगा।' शक्तिपदार्थ स्वसत्ताशून्य मिथ्या होकर जगत्का नियामक कैसे हो सकता है, यह एक विचारणीय बात इस मतमें है। शाक्तसिद्धान्तमें शक्तिपदार्थ स्वतन्त्र सच्चिदानन्दस्वरूप माना गया है। इसीके अनुसार ईशोपनिषद्का अर्थ कैसे संगत होता है, इसे यहाँ बताते हैं।

उपनिषदर्थ-संगति

काण्व-माध्यन्दिनी दोनों शाखाओंके पाठानुसार इस उपनिषद्में एक ही तत्त्वका प्रतिपादन हुआ है। यद्यपि दोनों-के पाठोंमें शब्दकृत अनेक भेद हैं तथापि मौलिक अर्थमें भेद नहीं है। उपक्रमोपसंहारन्यायसे एक ही पराशक्तिसे आरम्भ करके उसीमें उपसंहार किया गया है। **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** इस मन्त्रमें **'ईशाया आवास्यम्'** ऐसा अर्थ लेनेसे 'ईशा' परा-शक्तिरूप परब्रह्मका अभिन्न रूप ही यहाँ अभिप्रेत होता है; इसी पराशक्तिका यह सारा संसार वासस्थान है। इसमें त्याग-रूपसे अर्थात् उसीका सब कुछ है, उसके प्रसादरूपसे ही भोग्य-वस्तुओंका ग्रहण कर मुमुक्षुको अपना निर्वाह करना चाहिये। 'ददाति प्रतिगृह्णाति'के अनुसार ही परम सिद्धि प्राप्त होती है। यह अर्थ उपक्रमसे कथन कर उपसंहारमें **'योऽसाव-सौ पुरुषः सोऽहमस्मि'** (१६) इस मन्त्रांशके द्वारा पराशक्तिमें ही उपसंहार किया गया है। 'सोऽहम्' यह पराशक्तिका वाचक है।

सकारः शक्तिरूपः स्याद्धकारः शिवरूपकः।
उभयोरैक्यमादाय पराशक्तिरुदीर्यते ॥

इस तन्त्रवचनसे यह स्फुट होता है। प्रथम मन्त्रमें जो तत्त्व कहा गया है उसे जान लेनेपर संसारमें कर्म करते हुए भी साधक निर्लिप्त रहता है, यह दूसरे मन्त्रका अर्थ है। तीसरे मन्त्रमें आत्मज्ञानकी आवश्यकता बतायी गयी है। चौथे-पाँचवें मन्त्रोंमें परमात्माका स्वरूपलक्षण बताया गया है, छठे-सातवेंमें आत्मज्ञानका फल शोक-मोहकी निवृत्तिरूप कहा गया है। आठवेंमें जगत्के सञ्चालक सगुण रूपको बताया गया है। इस प्रकार प्रथम वर्णक आठ मन्त्रोंका है। शक्तिका निर्देश प्रायः स्त्रीलिङ्ग शब्दोंसे ही होता है; परंतु यह नियम नहीं है कि पुँल्लिङ्ग, नपुंसकलिङ्गका प्रयोग उसके विषयमें वर्जित हो। कवि कालिदासने कहा है—

न त्वमम्ब पुरुषो न चाङ्गना चित्स्वरूपिणि न षण्ढतापि ते।
नापि भर्तुरपि ते त्रिलिङ्गिता त्वां विना न तदपि स्फुरेदयम् ॥

इसलिये इन उक्त आठों मन्त्रोंमें पुँल्लिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग शब्दोंका प्रयोग उक्त अर्थकी सिद्धिमें विरुद्धताका आपादक नहीं हो सकता।

दूसरे वर्णकमें विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूतिके रहस्य-का वर्णन छः मन्त्रोंमें किया गया है। निर्देश तथा अर्थके अनुसार यह अर्थ शक्तिपरक ही है। शेष तीन मन्त्रोंमें उक्त अर्थका उपसंहार करके शक्ति-तत्त्वमें पर्यवसान किया गया है; एवं अद्वैतकी सिद्धिके लिये जीव-तत्त्वका अभेद 'अस्मि' क्रियापदसे बताया गया है। अन्तिम मन्त्रमें क्रममुक्तिके प्रापक मार्ग (देवयान)को बताया है, जो मध्यमाधिकारियोंके लिये कहा गया है। ईशा, विद्या, अविद्या, सम्भूति, असम्भूति, सोऽहम् आदि शक्तिवाचक अनेकों पदोंका प्रयोग उक्त अर्थको

निःसन्दिग्धरूपसे सिद्ध करता है, जिससे ईशोपनिषद्का तात्पर्य 'शक्ति-कारणवादमें' स्पष्ट हो जाता है।

विद्या, अविद्या, सम्भूति, असम्भूति

'विद्या-अविद्या' आदि प्रतिपादन करनेवाले छः मन्त्रोंके अर्थ उपनिषद्के भाष्यकारोंने भिन्न-भिन्न रीतिसे परस्पर विलक्षण रूपसे किये हैं। कोई समुच्चयवादके अनुसार, कोई क्रमसमुच्चयके अनुसार, तो कोई कुछ, तो कोई कुछ। सम्भूति-असम्भूतिका भी अर्थ ऐसे ही किया गया है—कोई विज्ञानवादके खण्डनमें करते हैं, तो कोई प्रतिमा-पूजनके निषेधमें। इन अर्थोंपर दृष्टि डालते हैं तो इनका अभिप्राय समझना एक दुरूह कार्य प्रतीत होता है। 'ललितासहस्रनाम'के 'सौभाग्य-भास्कर' भाष्य करनेवाले स्वनामधन्य आचार्य भास्कररायने 'विद्याविद्यास्वरूपिणी' इस नामकी जो विलक्षण व्याख्या की है उसे यहाँ देते हैं, जिससे इसका यथार्थ अर्थ समझा जा सकता है—

> विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

इति श्रुतौ प्रसिद्धे विद्याविद्ये, विद्या स्वात्मरूपं ज्ञानम् अविद्या चरमवृत्तिरूपं ज्ञानं तदुभयं स्वरूपमस्याः। उक्तं च बृहन्नारदीये—

> तस्य शक्तिः परा विष्णोर्जगत्कार्यपरिक्षमा।
> भावाभावस्वरूपा सा विद्याविद्येति गीयते॥

इति देवीभागवतेऽपि ब्रह्मैव सातिदुष्प्रापा विद्या-विद्यास्वरूपिणीति। तत्रैव स्थलान्तरे 'विद्याविद्येति देव्या द्वे रूपे जानीहि पार्थिव। एकया मुच्यते जन्तुरन्यया बध्यते पुनरिति। यद्वा विद्यैव चरमवृत्तिरूपं ज्ञानम्, अविद्या भेदभ्रान्तिरूपं ज्ञानं स्वपरब्रह्मात्मकं ज्ञानम्। स्वपदस्यात्म-वाचित्वात् स्वं ज्ञातावात्मनीति कोशात्, एतत्त्रयं रूपमस्याः। उक्तं च लैङ्गे—

> भ्रान्तिर्विद्या परं चेति शिवरूपमिदं त्रयम्।
> अर्थेषु भिन्नरूपेषु विज्ञानं भ्रान्तिरुच्यते॥
> आत्माकारेण संवित्तिर्बुधैर्विद्येति कथ्यते।
> विकल्परहितं तत्त्वं परमित्यभिधीयते॥

इति।

अर्थात् 'विद्यां चाविद्यां च' इस मन्त्रमें विद्याविद्या प्रसिद्ध है। विद्या स्वात्मरूप ज्ञान और अविद्या चरमवृत्तिरूप 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञान—ये दोनों जिसके स्वरूप हैं, उसे विद्याविद्या कहते हैं। परोक्षापरोक्ष ज्ञान भी वेदान्तमें इसकी संज्ञा है। बृहन्नारदीयमें कहा है—'उस परमात्माकी पराशक्ति जगत्कार्य करनेमें समर्थ है। वह भाव-अभाव रूपवाली विद्या-विद्या शब्दसे कही जाती है।' देवीभागवतमें भी कहा है—'वह दुष्प्राप्य पराशक्ति ब्रह्म ही है। वह विद्याविद्यास्वरूपवाली है।' वहीं दूसरे स्थलपर कहा है—'हे राजन्! विद्याविद्या दो रूप देवीके हैं, एकसे प्राणी मुक्त होता है और दूसरेसे बँधता है। अथवा विद्या ही चरमवृत्तिरूप ज्ञान है। भेद-भ्रान्तिरूप ज्ञान अविद्या है, 'स्व' परब्रह्म ज्ञान—ये तीनों जिसके स्वरूप हैं 'स्व'पद आत्माका वाचक है।' लिङ्गपुराणमें कहा है—'भ्रान्ति, विद्या और पर—ये तीन रूप शिवके हैं। पदार्थोंमें भेदबुद्धिरूप जो ज्ञान है, वह 'भ्रान्ति' है। आत्माकार अनुभव 'विद्या' है, विकल्परहित तत्त्व 'पर' है।' इन पुराण-वचनोंसे विद्याविद्याका अर्थ व्यक्त हो जाता है, जिसे महर्षि व्यासने भिन्न-भिन्न प्रसङ्गोंपर पुराणोंमें व्याख्यान किया है—

सम्भूति-असम्भूति साकार-निराकार उपासनाके द्योतक हैं। उत्तरगीतामें इसी रूपमें माना गया है। जिस तरह परोक्षापरोक्ष ज्ञानका साहचर्य है, ऐसा ही सम्भूति-असम्भूतिका भी साहचर्य अभिप्रेत है। ऐसा अर्थ माननेपर स्वाभाविक अर्थसंगति लग जाती है। लिङ्गपुराणमें ज्ञानके जो तीन भेद कहे गये हैं, उनकी संगति इस उपनिषद्में बैठ जाती है। आठ मन्त्रतक तत्त्व-ज्ञान, छः मन्त्रोंमें विद्याविद्याका ज्ञान और शेष अविद्यामें ही पर्यवसित हैं।

उपसंहार

संक्षिप्त रूपमें पराशक्तिका ईशोपनिषत्प्रतिपादित जो क्रम यहाँ बताया गया है, उसका समन्वय वेदान्तवाक्योंमें भी है, जिसे देवीभागवत आदि शक्तिके पुराण-ग्रन्थ एवं तन्त्रोंमें माना गया है। उसके अध्ययन करनेवाले पाठक इससे भलीभाँति परिचित हैं। इस संकेतमात्रसे यद्यपि सर्वथा समाधान होना अशक्य है, तथापि विचारकोंके लिये एक मार्ग अवश्य निर्दिष्ट हो जाता है; जिसे कोई समानधर्मा पूर्ण कर सकेगा। ॐ शम्।

प्रेषक—पं० श्रीरेवाशंकरजी त्रिपाठी, श्रीपीताम्बरापीठ

ब्रह्म और ईश्वरसम्बन्धी औपनिषदिक विचार

(लेखक—दीवानबहादुर श्री के० एस० रामस्वामी शास्त्री)

आज दो ऐसी धारणाओंका अस्तित्व देखनेमें आ रहा है, जिनसे हिंदुत्वके अन्तःप्रासादमें भी दरारें पड़ गयी हैं। उनसे हिंदुत्वकी अखण्डता संत्रस्त हो रही है। यहाँ उन्हींकी समीक्षा करनेका विचार है। पहली धारणा यह है कि श्रीशङ्कराचार्यके अद्वैत-वेदान्तने हिंदूधर्ममें एक नये सम्प्रदाय-को जन्म दिया और यह प्रस्थानत्रयके तीनों अङ्ग उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीतामेंसे किसीके द्वारा भी अनुमोदित नहीं है। दूसरी धारणा यह है कि हिंदू-दर्शनके अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत—ये तीनों सम्प्रदाय परस्परविरोधी हैं, और हिंदूधर्मका कोई अविकल रूप नहीं है वरं कई बेमेल मान्यताओंका यह एक अदृढ समुदायमात्र है। शक्तिहीन और अब अस्तित्वहीन राष्ट्रसङ्घ (League of Nations) के ही समरूप यह एक दुर्बल धर्मसङ्घ है। पर यथार्थ तो कुछ और ही है। ये दोनों धारणाएँ बिल्कुल झूठी हैं। सम्प्रदाय और श्रुति दोनों अद्वैत-वेदान्तका पूर्णरूपसे अनुमोदन करते हैं और अद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं द्वैत—ये तीनों ही किसी अखण्ड और एक ही धर्मके विभिन्न अङ्ग हैं, ठीक उसी तरह, जैसे शिव, विष्णु और ब्रह्मा—ये त्रिमूर्तियाँ वास्तवमें तीन रूपोंवाली एक ही मूर्ति हैं (कालिदास कुमारसम्भवमें कहते हैं—**'एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा'**)। इस एक मूर्तिकी सबसे सुन्दर अभिव्यञ्जना शायद भगवान् दत्तात्रेयके सम्मिलित रूपमें हुई है।

पहले पहली धारणाको कसौटीपर रखते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि श्रीशङ्कराचार्यजीने स्वयं सम्प्रदायके अनुगमनमें विशेष गौरव माना है। वे कहते हैं—

असम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदुपेक्षणीयः।

'सम्प्रदायको न जाननेवाला सब शास्त्रोंका पण्डित भी मूर्खके समान उपेक्षणीय है।' अपने तैत्तिरीयोपनिषद्के भाष्यारम्भमें वे कहते हैं—

यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम्॥

पूर्वकालमें जिन गुरुजनोंने पद, वाक्य और प्रमाणोंके विवेचनपूर्वक इन सम्पूर्ण वेदान्तों (उपनिषदों) की व्याख्या की है, उन्हें मैं सर्वदा नमस्कार करता हूँ। उनके कथनानुसार सूत्रोंमें श्रुतिका सार है और उनके भाष्यमें प्रस्थानत्रयकी सम्प्रदायगत व्याख्याको ही प्रकट किया गया है।

'वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्।'

(सूत्रभाष्य)

'तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्'

(गीताभाष्य)

फिर श्रीशङ्कराचार्यने बार-बार इस बातको आग्रह-पूर्वक कहा है कि ईश्वरविषयक ज्ञानका एकमात्र एवं सर्वश्रेष्ठ साधन श्रुति है। इसका अनुकूल तर्कसे समर्थन प्राप्त होना चाहिये तथा जिज्ञासुको अनुभव, अवगति अथवा साक्षात्कार आदि नामोंसे वाच्य स्थितिको प्राप्त करा देनेकी इसमें शक्ति होनी चाहिये। वे वेदोंको स्वतःप्रकाश और स्वतःप्रमाण मानते थे और इसकी घोषणा भी करते थे।

'वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये।'

शङ्करके मतमें निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म एक ही वस्तु-के दो रूप हैं। स्वरूप-दृष्टिसे वे निर्गुण हैं और जगत्के सम्बन्धसे वे सगुण हैं। अपने स्वरूपलक्षण तथा तटस्थलक्षणके सिद्धान्तद्वारा वे एक अनन्त, सनातन आनन्दतत्त्वमें द्वैतकी उद्भावना किये बिना भी विभेदकी स्थापना करनेमें समर्थ हुए हैं। निम्नलिखित श्रुतिवाक्योंसे इस विषयका यथार्थ निर्णय हो जाता है। विशिष्टाद्वैती अथवा द्वैती इनकी किसी और प्रकारसे व्याख्या नहीं कर सकते।

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् ....केन कं विजानीयात्।

(बृहदारण्यक० ४। ५। १५)

'जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे देखे .... और किसके द्वारा किसे जाने।'

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

(छान्दोग्य० ६। १। ४)

'विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है।'

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति

स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।

(छान्दोग्य० ७ । २४ । १)

'जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता—वह भूमा है; किंतु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है । जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वही मर्त्य है ।'

इद॰ सर्वं यदयमात्मा ।

(बृहदारण्यक० २ । ४ । ६; ४ । ५ । ७)

'यह सब आत्मा ही है ।'

आत्मैवेदं सर्वम् । (छान्दोग्य० ७ । २५ । २)

'आत्मा ही यह सब है ।'

ब्रह्मैवेद॰ सर्वम् । (नृसिंह० ७ । ३)

'ब्रह्म ही यह सब है ।'

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।

(छान्दोग्य० ६ । २ । १)

'हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था ।'

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।

(केन० १ । ५ । ८)

'उसीको तू ब्रह्म जान । जिसकी लोक उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है ।'

प्रज्ञानं ब्रह्म । (शु० र० २ । १)

'प्रज्ञान ही ब्रह्म है ।'

तत्त्वमसि ।

(छान्दोग्य० ६ । ८ । ७; ६ । ९ । ४; ६ । १४ । ३)

'वही तू है ।'

अयमात्मा ब्रह्म । (बृहदारण्यक० २ । ५ । १९)

'यह आत्मा ही ब्रह्म है ।'

अहं ब्रह्मास्मि । (बृहदारण्यक० १ । ४ । १०)

'मैं ब्रह्म '

इसी प्रकार यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि बादरायणके ब्रह्मसूत्र इस बातपर जोर देते हैं कि परमात्मा ही जगत्का स्रष्टा, पालक और संहारकर्ता है और जीवात्मा परमात्मासे प्रेरित एवं नियन्त्रित हुआ गतागतके चक्रमें तबतक घूमा करता है जबतक कि ब्रह्मलोकमें पहुँचकर अनावृत्तिको नहीं प्राप्त हो जाता । पर वे आत्मा एवं परमात्माकी आत्यन्तिक, वास्तविक, आन्तरिक एवं नैसर्गिक एकतापर भी जोर देते हैं और इस बातकी घोषणा करते हैं कि जगत्की प्रातिभासिक सत्ता ब्रह्मकी पारमार्थिक सत्तापर अवलम्बित है तथा मूलतः दोनों एक ही हैं ।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । (ब्रह्म० २ । १ । १४)

—सूत्रकी व्याख्या करते हुए अपने भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं—

तस्माद् यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वम्, यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् स्वरूपेणानुपाख्यत्वात्, एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यम् । ········सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह ।··· ······ अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति ।

इसलिये जैसे घटाकाश, करकाकाश आदि महाकाशसे अभिन्न हैं, जैसे जल-सी भासनेवाली मृगतृष्णा ऊषरसे अभिन्न है, क्योंकि उनका स्वरूप दृष्टिगोचर होकर नष्ट हो जाता है और वे सत्तारहित हैं, उसी प्रकार यह भोक्तृ, भोग्य आदि प्रपञ्च ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, ऐसा समझना चाहिये । ··· सूत्रकार भी परमार्थके अभिप्रायसे 'तदनन्यत्वम्०' (कार्य-कारणका अनन्यत्व—अभेद है) ऐसा सूत्रमें कहते हैं ।······ और कार्य-प्रपञ्चका प्रत्याख्यान किये बिना परिणाम-प्रक्रियाका आश्रयण करते हैं ।

श्रीभगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । (१३ । २)

'हे अर्जुन ! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान ।'

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । (१० । २०)

'हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ ।'

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ (१३ । १२)

'वह अनादिवाला परमब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही ।'

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः । (१३ । ३१)

'हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है ।'

इस प्रकार निर्गुण ब्रह्मकी सत्ताको स्वीकार करते हुए भी जिसकी स्वीकृति हमें कांट, हेगेल, शोपेनहर, ब्रैडले, बोसैन्के प्रभृति पश्चिमी विचारकोंके दर्शनोंमें भी मिलती है, श्रीशङ्करको सगुण ब्रह्मकी भक्तिकी परम महिमाको स्वीकार करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई। वास्तवमें वे भगवान्‌के सबसे बड़े भक्त हैं। 'भज गोविन्दम्, हरिमीडे' आदि अपने भक्तिपूर्ण स्तोत्रोंमें ही नहीं, वरं अपने प्रकरण-ग्रन्थोंमें भी उन्होंने इस सत्यको निर्भ्रान्तरूपसे स्पष्ट कर दिया है। उनके प्रबोध-सुधाकरमें श्रीकृष्णका परमानन्दसे ओतप्रोत वर्णन और स्तवन है। उसी ग्रन्थमें वे आगे चलकर ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गका अन्तर बतलाते हुए कहते हैं कि दूसरेकी अपेक्षा पहला मार्ग दुर्गम और जटिल है, पर दोनोंसे जिस-जिस आनन्दकी प्राप्ति होती है वे दो प्रकारके होते हुए भी अनन्त, भेदरहित, परम और सनातन हैं। श्रीकृष्ण ही मूर्तब्रह्म भी हैं और अमूर्तब्रह्म भी। इसलिये हमारी इच्छा या योग्यताके अनुरूप वे हमें या तो सायुज्य प्रदान करते हैं, या कैवल्य।

मूर्तं चैवामूर्तं द्वे एव ब्रह्मणो रूपे ॥१६९॥
इत्युपनिषत्तयोर्वा द्वौ भक्तौ भगवदुपदिष्टौ।
क्लेशादक्लेशाद्वा मुक्तिः स्यादेतयोर्मध्ये ॥१७०॥
....

श्रुतिभिर्महापुराणैः सगुणगुणातीतयोरैक्यम्।
यत्प्रोक्तं गूढतया तदहं वक्ष्येऽतिविशदार्थम् ॥१९४॥
भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम् ॥१९५॥
....

यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशी विभाति यदुनाथः।
सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः ॥२००॥

'मूर्त (साकार) और अमूर्त (निराकार) दोनों ही ब्रह्मके रूप हैं—ऐसा उपनिषद् कहते हैं, और भगवान्‌ने भी उन दोनों रूपोंके (व्यक्तोपासक तथा अव्यक्तोपासकभेदसे) दो प्रकारके भक्त बताये हैं। इनमेंसे एक अव्यक्तोपासकको क्लेशसे और दूसरे व्यक्तोपासकको सुगमतासे मुक्ति मिलती है।'

'श्रुतियों और महापुराणोंने जो सगुण और निर्गुणकी एकता गूढभावसे कही है, उसीको मैं स्पष्ट करके बतलाता हूँ। जो ज्ञानस्वरूप, सच्चिदानन्द, प्रकृतिसे परे परमात्मा सब भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित है, ये यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण वही तो हैं।'

'यदुनाथ श्रीकृष्णचन्द्र यद्यपि साकार हैं और एकदेशी-से दिखायी देते हैं, तथापि सर्वव्यापी, सर्वात्मा और सच्चिदानन्द-स्वरूप ही हैं।'

इसको मैं गीताके इन दो प्रसिद्ध श्लोकोंकी सर्वोत्तम व्याख्या समझता हूँ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
(१२। ४-५)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं। किंतु उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्तचित्त-वाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है।'

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(१४। २७)

'उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य-धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं (श्रीकृष्ण) हूँ।'

इस छोटे-से लेखमें दूसरी भ्रामक धारणाका भी थोड़ेमें ही निराकरण करके सन्तोष करना है। जैसे त्रिमूर्तियाँ एक-दूसरेके प्रति विरुद्ध और संघर्षशील नहीं हैं, उसी प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं द्वैत भी परस्पर विरोधी अथवा एक-दूसरेके प्रति प्रहार करनेवाले सम्प्रदाय नहीं हैं। त्रिमूर्तियोंके पारस्परिक युद्ध-सम्बन्धी पुराणोंमें वर्णित कुछ कथाओंका प्रयोजन अन्धानुगमन और कट्टरताको प्रोत्साहन देना नहीं, वरं एक ही सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के विभिन्न रूपोंमेंसे अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार माने हुए रूपविशेषमें भक्तिको घनीभूत करना है। श्रीव्यासजीने इन कथाओंको इसलिये नहीं लिखा है कि लोग उन्हें पढ़कर आपसमें सरफोड़ी करें, या एक-दूसरेको बुरा-भला कहें और ललकारते फिरें। उन्होंने तो केवल उसी विचार-बीजको विभिन्न रूपोंमें विस्तारके साथ पल्लवित किया है, जिससे प्रेरित होकर उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंने केनोपनिषद्‌में यह कहा था कि इन्द्र तथा अन्य देवताओंको परब्रह्मका ज्ञान उमाने कराया था। ब्रह्मकी एकताको ऋग्वेद बहुत पहले ही घोषित कर चुका था—**'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** (एक ही सत्यको विद्वान् लोग अलग-अलग पुकारते हैं)। त्रिमूर्तियों-में व्यवहारको लेकर जो भेद है, वह उनकी तात्त्विक एकता-का बाध नहीं करता। यह बात वैसी ही है, जैसे वायसराय और गवर्नर-जनरलके कार्य अलग-अलग होते हुए भी वे इन

पदोंके अधिकारीकी एकताको नहीं मिटाते या जैसे जिला-न्यायाधीश और सेशन्स-जजके कार्य अलग-अलग होते हुए भी इन पदोंपर आसीन एक ही अधिकारीकी एकताको नहीं नष्ट करते।

मेरे विचारसे इसी प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं द्वैत सिद्धान्तोंकी एकता भी अक्षुण्ण है। यहाँ भी श्रीकृष्णकी वाणी सदाकी भाँति हमें समन्वयकी कुञ्जी प्रदान करती है—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥
(गीता ९। १५)

'दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं, और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकारसे स्थित मुझ विराट्रूप परमेश्वरकी पृथग्भावसे उपासना करते हैं।' सायुज्य और कैवल्यके स्वरूपमें कोई भेद नहीं है। विशिष्टाद्वैतीकी विदेह-मुक्ति अद्वैतीकी जीवन्मुक्तिका निराकरण नहीं करती। द्वैती तब भूल करता है, जब वह नित्यबद्ध और नित्य संसारी जीवोंकी बात कहता है। मोक्षके अधिकारी सभी हैं; परंतु इतना तो हम समझ सकते हैं कि जबतक प्राकृत शरीरका अध्यास बना है, तबतक श्रेणीविभाजन रहेगा ही और शुद्ध सात्त्विक अप्राकृत देहका अभिमान हो जानेपर श्रेणीविभाजन नहीं रहेगा, अपितु साम्यके रूपमें एकता हो जायगी (निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति)। किंतु इन अवस्थाओंका अनुभव असंप्रज्ञात समाधिमें निष्पन्न होनेवाली परमात्माके साथ आत्माकी अविकल एकाकारताके अनुभवका निराकरण नहीं करता। श्रीरामकृष्ण परमहंसके शब्दोंमें तालाबमें छोड़ देनेपर बिल्कुल भीग जानेपर भी कपड़ेकी गुड़िया अपनी आकृतिको बनाये रक्खेगी; परंतु चीनी अथवा नमककी गुड़िया अपने भिन्न आकारको तो खो ही देगी, वह तड़ागमें घुल-मिलकर उसीमें विलीन भी हो जायगी।

मेरी समझसे निम्नाङ्कित दो प्रसिद्ध श्लोक हमें उस धरातलपर पहुँचा देते हैं जहाँसे हम, जिन्हें आजकल लोग परस्पर प्रतिकूल, विरोधी और विनाशी समझते हैं, उनमें सामञ्जस्य, समता और एकताका अवलोकन कर सकते हैं।

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।
देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

'आँखोंमें ज्ञानाञ्जन लगाकर संसारको ब्रह्ममय देखना चाहिये।'

'देहबुद्धिसे तो मैं दास हूँ, जीवबुद्धिसे आपका अंश ही हूँ और आत्म-बुद्धिसे मैं वही हूँ जो आप हैं। यही मेरी निश्चित मति है।'

इसीलिये तो ब्रह्मसूत्रके अध्याय दो, पाद तीनमें आत्माकी परमात्मासे पृथक्ता और उसपर निर्भरता बताकर सूत्रकार कहते हैं—

'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।' (४। १। ३)

इस सूत्रपर भाष्य करते हुए श्रीशङ्कराचार्यजी अन्तमें कहते हैं—

'तस्मादात्मेत्येवेश्वरे मनो दधीत।'

इस कारण यह मेरा आत्मा ही है, इस प्रकार ईश्वरमें मन लगाना चाहिये।'

इस दृष्टिकोणके द्वारा सूत्रकारने बादरिकी इस मान्यताका कि, मोक्षकी अवस्थामें जीवात्माका मन और इन्द्रियोंसे सम्बन्ध छूट जाता है, जैमिनिके इस मतके साथ कि यह सम्बन्ध उस अवस्थामें भी बना रह सकता है, समन्वय किया है। बादरायण कहते हैं कि परमानन्द दो प्रकारका अर्थात् उभयविध होता है।

अभावं बादरिराह ह्येवम्॥ ४। ४। १०॥
भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥ ४। ४। ११॥
द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः॥ ४। ४। १२॥

श्रीशङ्कराचार्यजी इसपर अपने भाष्यमें स्पष्ट कहते हैं—

'बादरायणः पुनराचार्योऽत एवोभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयविधत्वं साधु मन्यते यदा सशरीरतां संकल्पयति, तदा सशरीरो भवति, यदा त्वशरीरतां तदाऽशरीर इति। सत्यसंकल्पत्वात्, संकल्पवैचित्र्याच्च।'

'परंतु बादरायण आचार्य इसीसे उभयलिङ्गकी श्रुति देखनेसे उभय प्रकारको साधु—उचित मानते हैं। जब सशरीरताका सङ्कल्प करता है, तब सशरीर होता है और जब अशरीरताका सङ्कल्प करता है तब अशरीर होता है, क्योंकि उसका सङ्कल्प सत्य है और सङ्कल्पका वैचित्र्य है।'

ऐसे प्रकरणोंके रहते हुए हमारे मध्यकालीन एवं अर्वाचीन सभी विवादोंका अन्त हो जाना चाहिये। हमें वास्तविक, अखण्ड, समग्र, प्रगतिशील महान् हिंदूधर्मका ज्ञान प्राप्त कर उसीका अनुगमन करना चाहिये।

पाश्चात्य विद्वानोंपर उपनिषदोंका प्रभाव

(लेखक—श्रीयुत बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०)

उपनिषदोंके सिद्धान्त इतने गूढ़ और सार्वभौम हैं कि उनका विद्वानोंपर, चाहे वे किसी देशके निवासी और किसी भी धर्मके अनुयायी क्यों न हों, गहरा प्रभाव पड़ा है। किसी दूसरे धर्मग्रन्थको इतर धर्मावलम्बियोंसे ऐसा हार्दिक और अकृत्रिम आदर नहीं प्राप्त हुआ है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि उपनिषद् हिंदुओंके सर्वश्रेष्ठ धार्मिक ग्रन्थ हैं। प्रत्येक हिंदू, चाहे वह वैष्णव, शैव, शाक्त आदि किसी सम्प्रदायका क्यों न हो, उपनिषदोंको सबसे प्रामाणिक ग्रन्थके रूपमें अवश्य स्वीकार करता है। प्रत्येक हिंदूके धार्मिक विश्वासका आधार वेद हैं। वे अपौरुषेय हैं; अतएव उनमें भ्रम एवं प्रमादकी तनिक भी सम्भावना नहीं की जा सकती। और उपनिषद् वेदोंके सारभाग हैं। वेदोंके 'संहिता' एवं 'ब्राह्मण' भागोंमें अधिकतर छोटे-मोटे देवताओंका और बहुत थोड़े स्थलोंमें परब्रह्मका उल्लेख है; परंतु उपनिषद् तो परब्रह्म, उनके स्वरूप, जीवात्माके स्वरूप, ब्रह्मसाक्षात्कारके उपाय तथा ब्रह्मसाक्षात्कारके बाद जीवात्माकी स्थिति आदिके वर्णनसे भरे पड़े हैं। विदेशी विद्वान् उपनिषदोंमें बहुत-से ऐसे प्रश्नोंका समाधान पाकर चकित रह गये हैं, जिनका उत्तर अन्य धर्मों तथा दर्शनोंमें या तो उन्हें मिला ही न था और यदि मिला भी तो बहुत असंतोषजनक रूपमें। उदाहरणार्थ—ब्रह्म अथवा ईश्वरका स्वरूप क्या है? जीवात्मा किस तत्त्वसे बना है? संसारकी रचना किस तत्त्वसे हुई है? जीवकी स्वर्ग या नरकमें स्थिति कितने कालतक रहती है? उसके बाद क्या होता है? देहकी रचनाके पूर्व भी देहीका अस्तित्व था क्या? कुछ लोग जन्मसे ही सुखी और कुछ जन्मसे ही दुखी क्यों होते हैं? ये तथा इसी ढंगके कई अन्य प्रश्न ऐसे हैं जो सूक्ष्मदृष्टिसे दर्शनशास्त्रका अध्ययन करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके मनमें अवश्य उठते हैं। वेदान्तदर्शनमें इनका इतना पूर्ण वैज्ञानिक एवं संतोषप्रद उत्तर है कि जिसका प्रत्येक जिज्ञासुके मनपर प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता।

वेदान्तदर्शनकी महिमापर मुग्ध होनेवाले विदेशी विद्वानोंमें सबसे पहले थे—अरबदेशीय विद्वान् अलबेरूनी। ये ग्यारहवीं शताब्दीमें भारतमें आये थे। यहाँ आकर इन्होंने संस्कृत-भाषाका अध्ययन किया और उपनिषदोंकी सारस्वरूपा गीतापर ये लट्टू हो गये। यह ज्ञात नहीं कि इन्होंने उपनिषदोंका अध्ययन किया था या नहीं, पर गीताकी जो प्रशंसा इन्होंने की है, उसे उपनिषदोंकी ही तो प्रशंसा समझनी चाहिये।

मुगल-सम्राट् शाहजहाँका ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अपने भाई औरंगजेबके समान कट्टर मुसलमान नहीं था। उपनिषदोंकी कीर्ति सुनकर वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने कई उपनिषदोंका फारसीमें अनुवाद करा डाला। इस फारसी अनुवादका फ्रांसीसी भाषामें पुनः अनुवाद हुआ। इस फ्रांसीसी अनुवादकी एक प्रति जर्मनीके प्रसिद्ध विद्वान् शोपेनहरके हाथ लगी। समस्त विदेशी विद्वानोंमें इन्होंने इन ग्रन्थोंकी सबसे अधिक प्रशंसा की है। वे कहते हैं—'सम्पूर्ण विश्वमें उपनिषदोंके समान जीवनको ऊँचा उठानेवाला कोई दूसरा अध्ययनका विषय नहीं है। उनसे मेरे जीवनको शान्ति मिली है। उन्हींसे मुझे मृत्युमें भी शान्ति मिलेगी[1]।' शोपेनहरके इन्हीं शब्दोंको उद्धृत करते हुए मैक्समूलरने कहा है—'शोपेनहरके इन शब्दोंके लिये यदि किसी समर्थनकी आवश्यकता हो तो अपने जीवनभरके अध्ययनके आधारपर मैं उनका प्रसन्नतापूर्वक समर्थन करूँगा[2]।' उपनिषदोंमें पाये जानेवाले अद्भुत सिद्धान्तोंका उल्लेख करते हुए शोपेनहरने फिर कहा है—'वे सिद्धान्त ऐसे हैं जो एक प्रकारसे अपौरुषेय ही हैं। ये जिनके मस्तिष्ककी उपज हैं, उन्हें निरे मनुष्य कहना कठिन है[3]।' वेद मनुष्यरचित नहीं हैं—अपितु अपौरुषेय हैं—इस मान्यताका कैसा अनूठा अनुमोदन है। पाल डायसन (Paul Deussen) नामक जर्मनीके एक अन्य विद्वान्ने उपनिषदोंका मूल संस्कृतमें अध्ययन करके उपनिषद्-दर्शन (Philosophy of the Upaniṣads) नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तकका निर्माण किया। उन्होंने लिखा है कि उपनिषदोंके भीतर, जो दार्शनिक कल्पना है, वह भारतमें तो अद्वितीय है ही,

---

1. "In the whole world, there is no study so elevating as that of the Upaniṣads. It has been the solace of my life. It will be the solace of my death."

2. "If these words of Schopenhauer required any confirmation I would willingly give it as a result of my life-long study."

3. "Almost superhuman conceptions whose originators can hardly be said to be mere men."

सम्भवतः सम्पूर्ण विश्वमें अतुलनीय है।[1] डायसनने यह भी कहा कि कांट और शोपेनहरके विचारोंकी उपनिषदोंने बहुत पहले ही कल्पना कर ली थी तथा सनातन दार्शनिक सत्यकी अभिव्यञ्जना मुक्तिदायिनी आत्मविद्याके सिद्धान्तोंसे बढ़कर निश्चयात्मक और प्रभावपूर्ण रूपमें कदाचित् ही कही हुई हों[2]।—(उपनिषद्-दर्शन Philosophy of the Upaniṣads) मैक्डानेलने लिखा है—'मानवीय चिन्तनाके इतिहासमें पहले-पहल बृहदारण्यक उपनिषद्में ही ब्रह्म अथवा पूर्ण तत्त्वको ग्रहण करके उसकी यथार्थ व्यञ्जना हुई है[3]।' फ्रांसीसी दार्शनिक विक्टर कजिन्स् लिखते हैं, जब हम पूर्वकी और उनमें भी शिरोमणिस्वरूपा भारतीय साहित्यिक एवं दार्शनिक महान् कृतियोंका अवलोकन करते हैं, तब हमें ऐसे अनेक गम्भीर सत्योंका पता चलता है, जिनकी उन निष्कर्षों-से तुलना करनेपर, जहाँ पहुँचकर यूरोपीय प्रतिमा कभी-कभी रुक गयी है, हमें पूर्वके तत्त्वज्ञानके आगे घुटना टेक देना पड़ता है[4]।

जर्मनीके एक दूसरे लेखक और विद्वान् फ्रेडरिक श्लेगेल लिखते हैं—'पूर्वीय आदर्शवादके प्रचुर प्रकाशपुञ्जकी तुलनामें यूरोपवासियोंका उच्चतम तत्त्वज्ञान ऐसा ही लगता है, जैसे मध्याह्न-सूर्यके व्योमव्यापी प्रतापकी पूर्ण प्रखरतामें टिमटिमाती हुई अनलशिखाकी कोई आदि किरण, जिसकी अस्थिर और निस्तेज ज्योति ऐसी हो रही हो मानो अब बुझी कि तब।[5]'

उपनिषदोंके उदात्त विचारोंसे प्रभावित होनेवाले यूरोपके अत्यन्त अर्वाचीन लेखकोंमें ऐल्डूज़ हक्स्लेका नाम उल्लेखनीय है। उनका शाश्वत दर्शन (Perennial Philosophy) उनकी स्वीय अवगतिके अनुसार सनातन-धर्मकी ही एक व्याख्या है। उपनिषदोंके 'तत्त्वमसि'—इन शब्दोंने उन्हें अत्यन्त प्रभावित किया है। इनमें उन्हें जो विचार और जो आदर्श मिला है, वह किसी अन्य दर्शनशास्त्रमें नहीं प्राप्त हुआ।

पाश्चात्त्य विद्वानोंद्वारा उपनिषदोंकी प्रशंसाके विषयमें इस एक बातको समझ लेना आवश्यक है। यद्यपि उन्होंने आत्माकी सार्वभौम सत्ता आदि सत्य-सिद्धान्तोंकी सराहना की है पर कुछ विद्वानोंने उपनिषदोंके कई अंश तथा उपनिषदों-के अङ्गी वेदोंके भी कितने भागोंको नहीं समझ पाया है। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि वेदोंके सम्यक् ज्ञानके लिये केवल बुद्धि और विद्वत्ताकी (जो यूरोपीय विद्वानों-को प्राप्त है) ही आवश्यकता नहीं है, वरं आध्यात्मिक साधना एवं वेदाध्ययनकी परम्परा भी (जिनका यूरोपीय विद्वानोंके पास अभाव है) अपेक्षित है। उन्हें वैदिक-संस्कृतिकी परम्परा-का परिचय नहीं है, और उनके अपने कुछ ऐसे प्राक्कल्पित विचार हैं, जिनके बन्धनसे वे मुक्त नहीं हो पाते। कुछकी तो कर्मकाण्डोंके प्रति बड़ी अपधारणा है तथा यज्ञोंके प्रति तो और भी। वैदिक देवताओंकी सत्तामें उन्हें स्वाभाविक ही विश्वास नहीं हो सकता। वैदिक देवताओं एवं यज्ञोंके प्रति अपनी अपधारणाका आरोप उन्होंने उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंमें भी कर डाला है। यद्यपि उपनिषदोंमें वैदिक देवताओंका उल्लेख भरा हुआ है तथा यह स्पष्ट लिखा है कि यज्ञोंके अनुष्ठानसे स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है और उनका निष्काम आचरण करके मनको शुद्ध एवं भगवत्साक्षात्कारके योग्य भी बनाया जा सकता है। फिर भी, अनेक यूरोपीय विद्वानोंका कथन है कि उपनिषदोंके ऋषियोंको वैदिक देवताओंकी सत्ता अथवा वैदिक यज्ञोंकी फलवत्तामें कोई विश्वास नहीं था। ऐसी उक्तियोंसे वेदोंकी निर्भ्रान्त सत्यताके सिद्धान्तको धक्का लगता है, जहाँसे वैदिक तत्त्वज्ञान और हिंदू-धर्मका प्रारम्भ होता है। शोक इस बातका है कि आधुनिक भारतीय विद्वानोंने भी, पाश्चात्त्यों-के इन विचारोंकी बिना यथार्थताकी उचित परीक्षा किये ही पुनरावृत्ति की है। अतएव अपने उपनिषदोंका ज्ञान प्राप्त

1. "Philosophical conceptions unequalled in India, or perhaps anywhere else in the world."

2. "Eternal Philosophical truth has seldom found more decisive and striking expression than in the doctrine of the emancipating knowledge of the Âtmâ."

3. "Brahman or Absolute is grasped and definitely expressed for the first time in the history of human thought in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad.*"

4. "When we read the poetical and philosophical monuments of the East, above all those of India, we discover there many truths so profound and which make such a contrast with the results at which the European genius has sometimes stopped that we are constrained to bend the knee before the Philosophy of the East."

5. "Even the loftiest philosophy of the Europeans appears in comparison with the abundant light of iorental idealism like a feeble Promethean spark in the full flood of the heavenly glory of the noonday sun—faltering and feeble and ever ready to be extinguished."

करनेके लिये हमें पाश्चात्त्य विद्वानोंके पास नहीं जाना चाहिये। इस कामके लिये हमें श्रीशंकर एवं श्रीरामानुज आदि महान् आचार्योंके ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये और किसी ऐसे गुरुकी सहायता लेनी चाहिये, जिसने विदेशी पद्धतिपर स्थापित विश्वविद्यालयोंमें नहीं, वरं प्राचीन परिपाटीके अनुसार शिक्षा देनेवाली भारतीय संस्थाओंमें उपनिषदोंका ज्ञान प्राप्त किया हो।

उपनिषदोंमें औदार्य

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० पी० के० आचार्य एम्० ए० (कलकत्ता), पी-एच्० डी० (लीडेन), डी-लिट्० (लंदन))

'ब्राह्मण' नामक कर्मकाण्डविषयक धार्मिक ग्रन्थ हैं। कर्मकाण्डकी पवित्रता व्यक्त करना ही उनका मुख्य उद्देश्य है। उनमें यज्ञोंके अनुष्ठानकी विधियाँ तथा वस्तुतत्त्वकी शास्त्रीय, पौराणिक धार्मिक अथवा दार्शनिक व्याख्या दी गयी है। इनमेंसे ब्राह्मणोंका पहला विषय कर्मकाण्ड है और दूसरा ज्ञानकाण्ड। पिछला भाग ब्राह्मणोंके अन्तमें आरण्यक नामसे जोड़ा गया है। आरण्यकोंका अध्ययन वानप्रस्थाश्रममें वनमें जाकर करनेका है, गाँवोंमें नहीं—जहाँ ब्रह्मचारी अपनी शिक्षा आरम्भ करता है तथा गृहस्थ अपने सांसारिक कर्तव्योंका पालन करता है। वास्तविक ब्राह्मणग्रन्थोंके प्रतिपाद्य विषयसे इन आरण्यकोंका मुख्य विषय भिन्न है। आरण्यकोंमें यज्ञानुष्ठानकी विधि और कर्मकाण्डकी व्याख्या नहीं है। इनमें तो यज्ञों और उनके करानेवाले ऋषियोंके दार्शनिक सिद्धान्तका आधिदैविक एवं आध्यात्मिक निरूपण है। प्राचीनतम उपनिषदोंमेंसे कुछ तो इन्हीं आरण्यकोंके अन्तर्गत हैं और कुछ उनके परिशिष्ट स्वरूप हैं। और बहुधा आरण्यकों और उपनिषदोंके बीचकी सीमा निर्धारित करना बड़ा कठिन है।

ये ही ग्रन्थ वेदान्त अर्थात् वेदोंके अन्तिम भागके नामसे प्रसिद्ध हुए। यह नाम पड़नेका एक कारण यह है कि इनमेंसे अधिकांशकी रचना पीछेकी है और समयकी दृष्टिसे उनका स्थान वैदिक कालके अन्तमें पड़ता है। दूसरे, जिन गूढतम रहस्यों तथा आधिदैविक एवं दार्शनिक सिद्धान्तोंका आरण्यकों और उपनिषदोंमें प्रतिपादन हुआ है, उनका अध्ययन-अध्यापन स्वाभाविक ही शिक्षा-कालके अन्तिम भागमें होता था। तीसरे, वेदपाठके अन्तमें इनके पाठको एक पवित्र और धार्मिक कर्तव्य माना गया है। चौथे, पीछेके दार्शनिकोंको उपनिषदोंके सिद्धान्तोंमें वेदोंका अन्त नहीं, वरं उनका चरम तात्पर्य दिखायी दिया।

आरण्यकों और उपनिषदोंकी भाषा प्राचीन लौकिक संस्कृतसे बहुत मिलती-जुलती है। वेदों और ब्राह्मणोंकी भाँति इन्हें स्वरसहित पढ़नेका विधान नहीं है। भाषाकी दृष्टिसे प्राचीनतम उपनिषदोंका स्थान ब्राह्मणों एवं सूत्रग्रन्थोंके मध्यमें आता है।

कालकी दृष्टिसे उपनिषदोंको चार वर्गोंमें विभक्त किया गया है। जो इनमें सबसे पुराने हैं, उनको तो ईस्वी सन्से ६०० वर्ष पहलेका माना जाता है, क्योंकि बौद्धधर्मने उनके कुछ मुख्य सिद्धान्तोंको आधाररूपमें मान लिया है। कालकी दृष्टिसे सबसे प्राचीन वर्गमें आनेवाले उपनिषद् हैं,—बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकि—ये गद्यमें हैं, जिसकी शैली ब्राह्मणोंकी शैलीकी भाँति ही अपरिष्कृत है। दूसरी श्रेणीमें कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक और महानारायणको गिना जाता है। ये सब पद्यमय हैं। केन—जिसका कुछ अंश गद्यमय है और कुछ पद्यमय—इन दोनों श्रेणियोंके बीचका है। इनमें उपनिषदोंका सिद्धान्त विकासोन्मुख अवस्थामें नहीं है वरं विकसित होकर स्थिर हो गया है। तीसरी श्रेणीके प्रश्न, मैत्रायणीय और माण्डूक्य उपनिषदोंकी भाषा फिर गद्यमय हो गयी है; पर पहली श्रेणीके उपनिषदों-जैसी अपरिष्कृत नहीं है और प्राचीन लौकिक संस्कृतके अधिक निकट है। चौथी श्रेणीमें परकालीन अथर्ववेदीय उपनिषदोंकी गणना है। इनमेंसे कुछ गद्यमें हैं और कुछ पद्यमें।

सबसे पीछेके उपनिषदोंका, जिनकी संख्या दो सौसे अधिक है, वर्गीकरण उनके प्रयोजन और विषयके अनुसार किया गया है—(१) सामान्य वेदान्त-उपनिषद्, जिनमें वेदान्तके सिद्धान्तोंका वर्णन है, (२) योगकी शिक्षा देनेवाले योग-उपनिषद्, (३) संन्यासकी प्रशंसा करनेवाले संन्यास-उपनिषद्, (४) विष्णुके महत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले वैष्णव-उपनिषद्, (५) शिवके महत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले शैव-उपनिषद्, (६) शाक्तोंके शाक्त-उपनिषद् तथा

इतर सम्प्रदायोंके अन्यान्य उपनिषद्, इनमें सर्वसमन्वयता है। योग तथा अन्य उपायोंसे ये सभी ब्रह्मविद्याका ही उपदेश करते हैं, इस दृष्टिसे इनकी उदारता अस्फुट रूपसे वर्तमान है ही। इन उपनिषदोंमेंसे कुछ गद्यमय हैं, कुछमें गद्य-पद्य दोनोंका मिश्रण है और कुछमें पुराणोंकी शैलीके श्लोक हैं।

प्रथम श्रेणीके ऐतरेयोपनिषद्में तीन छोटे-छोटे अध्यायोंमें उपनिषदोंकी शिक्षाका सारांश दिया गया है। पहले अध्याय-में संसारकी उत्पत्ति आत्मासे (जिसे ब्रह्म भी कहा है) मानी गयी है। और मनुष्योंको आत्माकी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति बताया है। यह वर्णन ऋग्वेदके पुरुषसूक्तके आधारपर है, पर उपनिषद्में विराट् पुरुषका जन्म उस जलसे होना बताया गया है, जिसकी सृष्टि आत्माके द्वारा हुई है। मानव-शरीरमें आत्माके तीन आवसथ अर्थात् निवासस्थल बताये गये हैं—इन्द्रिय, मन और हृदय; जिनमें वह आत्मा क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिनामक अवस्थाओंमें वर्तमान रहता है। दूसरे अध्यायमें आत्माके त्रिविध जन्मका वर्णन है। आवा-गमनका अन्त मोक्षमें होता है। परमधाममें शाश्वत निवासका नाम मोक्ष है। आत्मस्वरूपका निरूपण करनेवाले अन्तिम अध्यायमें 'प्रज्ञान' को ब्रह्म कहा है।

उपनिषदोंके सिद्धान्तोंमें जो नये-से-नया विकास हुआ है, प्रायः उस सबका सारांश गौड़पादकी कारिकाने अपने चार प्रकरणोंमें प्रस्तुत कर दिया है।

'जैसे यूनानी दार्शनिक प्लेटोने पार्मेनिडीजकी शिक्षाओं-को एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया, उसी प्रकार गौड़पादके सिद्धान्तोंको एक निश्चित मतवादका रूप प्रदान करनेका श्रेय यदि किसीको दिया जा सकता है तो श्रीशङ्कराचार्यको। श्रीशङ्कराचार्य (८०० ई०), जिन्होंने वेदान्तपर प्रसिद्ध भाष्यकी रचना की है, गोविन्दभगवत्पादके शिष्य थे, जिनके आचार्य ये ही गौड़पाद प्रतीत होते हैं। शङ्करका मत मुख्य रूपसे वही है, जो गौड़पादका है और बहुतसे विचार तथा रूपक, जिनकी झलक गौड़पादके ग्रन्थमें मिलती है, शङ्करके भाष्योंमें बार-बार आये हैं।

गौड़पादकी कारिकाके चारों प्रकरण उपनिषदोंकी चारों श्रेणियोंके रूपमें गिने जाते हैं। पहला प्रकरण तो एक प्रकार-से माण्डूक्योपनिषद्का ही छन्दोबद्ध अनुवाद है। उसमें जो विलक्षण बात कही गयी है, यह है कि जगत् न तो माया है, न किसी प्रकारका परिणाम ही है, अपितु यह ब्रह्मका स्वभाव ही है—ठीक उसी प्रकार, जैसे ज्योतिःस्वरूप सूर्यकी किरणें सूर्यसे भिन्न नहीं होतीं। दूसरे प्रकरणका नाम वैतथ्य-प्रकरण है, उसमें जगत्को सत्य माननेवाले सिद्धान्तके मिथ्यात्वका प्रतिपादन है। जैसे अन्धकार रहनेपर रज्जुमें सर्पका भ्रम होता है, उसी प्रकार अज्ञानरूप अन्धकारसे आवृत आत्माको भ्रमसे जगत् मान लिया जाता है। तीसरा अद्वैत-प्रकरण है। घटाकाश और महाकाशके दृष्टान्तसे जीवात्मा-के साथ परमात्माकी एकताको समझाया गया है। ग्रन्थकारने सृष्टिकी उत्पत्ति और नानात्मवादके सिद्धान्तका खण्डन किया है। 'सतो जन्म' सम्भव नहीं; क्योंकि ऐसा होनेसे जो पहलेसे वर्तमान है उसीका जन्म मानना पड़ेगा, और 'असतो जन्म' भी सम्भव नहीं, क्योंकि जो वन्ध्यापुत्रकी भाँति है ही नहीं, उसका जन्म कहाँसे होगा। अन्तिम प्रकरणका नाम 'अलातशान्ति' है। इसमें सृष्टिकी उत्पत्ति और नानात्व-की संसारमें कैसे प्रतीति होती है, इसको समझानेके लिये एक नये ढंगकी उपमाका प्रयोग किया गया है, यदि एक छड़ीको, जिसका एक छोर जल रहा हो, इधर-उधर घुमाया जाय तो उस जलते हुए छोरमें बिना किसी वस्तुका संयोग किये अथवा उसमेंसे कोई नयी वस्तु प्रकट हुए बिना ही अनलरेखा अथवा अनल-वृत्त बन जायगा। उस अनलरेखा या वृत्त-का अस्तित्व केवल विज्ञानमें है। इसी प्रकार जगत्के असंख्य रूप विज्ञानके स्पन्दनमात्र हैं और वह विज्ञान एक है।

आत्माके स्वरूपका निरूपण ही उपनिषदोंका मुख्य विषय है। ऋग्वेदके पुरुषसे आत्मातक तथा स्रष्टा पुरुष प्रजापतिसे सम्पूर्ण जगत्के निर्विशेष कारणतक जो विकासकी परम्परा दृष्टिगोचर होती है, उपनिषदोंका आत्मा उसकी अन्तिम सीमा है।

उपनिषदोंके सिद्धान्तोंका उपदेश करनेका अधिकारी किन्हें समझा गया, इसपर विचार करनेसे भी उनकी उदारता-का सङ्केत मिलता है। कतिपय अपवादोंको छोड़कर यज्ञोंके ऋत्विज् तथा वैदिक मन्त्रोंके ऋषि प्रायः ब्राह्मण ही होते थे; किंतु उपनिषदोंके अनेक स्थलोंसे यह सिद्ध होता है कि वैदिक कालके बौद्धिक जीवन एवं साहित्यिक क्षेत्रसे क्षत्रिय जातिका घनिष्ठ सम्बन्ध था। कौषीतकिब्राह्मण (२६। ५) में प्रतर्दन नामके राजाका यज्ञोंके विषयमें ऋत्विजोंके साथ प्रश्नोत्तर होता है। शतपथब्राह्मणमें राजा जनकका बार-बार उल्लेख आया है, वे अपने शास्त्रीय ज्ञानसे सारे ऋत्विजोंको चकित कर देते हैं। वह स्थल, जहाँ जनक ऋत्विज् बने हुए श्वेतकेतु, सोमशुष्म एवं याज्ञवल्क्यसे अग्निहोत्र-विधिके विषयमें प्रश्न करते हैं, सुप्रसिद्ध एवं उपदेशपूर्ण है। तीनोंमेंसे कोई संतोष-जनक उत्तर नहीं दे पाता। फिर भी याज्ञवल्क्यको जनकसे

सौ गौएँ प्राप्त होती हैं, क्योंकि उन्होंने यज्ञके अर्थपर सबसे गहरा विचार किया है, यद्यपि जनकके कथनानुसार अग्निहोत्रका वास्तविक अर्थ अभी याज्ञवल्क्यको भी नहीं खुल पाया था।

उपनिषद्के अनुसार राजा ही नहीं, वरं स्त्रियाँ भी, यहाँतक कि सन्दिग्ध वर्णके लोग भी साहित्यिक एवं दार्शनिक प्रतिद्वन्द्विताओंमें भाग लेते थे और बहुधा ज्ञानकी पराकाष्ठाको पहुँचे रहते थे। उदाहरणार्थ—बृहदारण्यकोपनिषद्में गार्गी विस्तारपूर्वक याज्ञवल्क्यसे समस्त जगत्के कारणके विषयमें प्रश्न करती है। यहाँतक कि याज्ञवल्क्यको कहना पड़ता है—'गार्गी! अतिप्रश्न मत करो, प्रश्नकी सीमाको मत लाँघो; कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारा सिर फट जाय। सचमुच परमात्मतत्त्वके विषयमें किसीको अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये।' जबालाके पुत्र सत्यकामकी कथा और भी तत्त्वपूर्ण है। उसने अपनी मासे पूछा—'मैं एक ब्राह्मण आचार्यके यहाँ ब्रह्मचारी होकर रहना चाहता हूँ, परंतु वे निम्न जातिके शिष्योंको ग्रहण नहीं करते। मा! मैं किस गोत्रका हूँ?' माताने उत्तर दिया—'वत्स! मुझे तो गोत्रका पता नहीं। युवावस्थामें जब मैं परिचारिकावृत्तिका अवलम्बन करके इधर-उधर रहा करती थी, तभी तुम मेरे गर्भमें आ गये थे। अपने गुरुसे कहो कि तुम सत्यकाम जाबाल (जबालाके पुत्र) हो।' आचार्य गौतम हारिद्रुमत अपने भावी शिष्यकी इस स्पष्टवादितापर प्रसन्न हुए और बोले—एक सच्चे ब्राह्मणके सिवा कोई दूसरा इस प्रकार नहीं कह सकता। सोम्य! जाओ, समिधा ले आओ। मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा। तुम सत्यसे विचलित नहीं हुए हो।' उपनिषदोंमें यह बार-बार आया है कि पराविद्याकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मणलोग क्षत्रियोंके उपसन्न हुए हैं। उदाहरणार्थ—श्वेतकेतुके पिता गौतम ब्राह्मण परतत्त्वविषयक उपदेशके लिये राजा प्रवाहणके समीप जाते हैं।

इस प्रकार जब कि, ब्राह्मणलोग अन्धश्रद्धासे प्रेरित होकर यज्ञके अनुष्ठानमें लगे थे, इतरवर्गोंके लोग उन महत्तम प्रश्नोंपर विचार करने लगे थे, जिनका उपनिषदोंमें जाकर बड़ी सुन्दरतासे समाधान हुआ है। मानव-चिन्तनाके इतिहासमें उपनिषदोंका बड़ा महत्त्व है। उपनिषदोंके गूढ़ सिद्धान्तोंसे लेकर ईरानके सूफी मततक, नवप्लैटानिकों तथा अलैक्जैंड्रियन क्रिश्चियनके रहस्यमय थियोसाफिकल 'लोगोस'के सिद्धान्ततक और ईसाई रहस्यवादी एरवार्ट एवं टालरके उपदेशोंतक और अन्ततोगत्वा १९वीं शताब्दीके महान् रहस्यवादी जर्मन विचारक शोपेनहरके दर्शनतक चिन्तनकी एक ही धारा अनुस्यूत है।

उपनिषद् और अद्वैतवाद

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री)

'वेदान्तसार'में सदानन्द योगीन्द्रने लिखा है—

वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।

अर्थात् मुख्य और गौणके भेदसे 'वेदान्त' शब्दके दो अर्थ हैं—'वेदका अन्त वेदान्त है', इस व्युत्पत्तिके अनुसार वेदान्त शब्दका मुख्य अर्थ उपनिषद् है और उपनिषद्के अर्थबोधके अनुकूल अथवा उसमें सहायक शारीरकसूत्र आदि तथा उपनिषदर्थ-संग्राहक भागवत-गीता आदि गौण अर्थ है। अतः प्रमुख वेदान्त उपनिषद्को ही जानना चाहिये।

वेद-भाष्यमें आपस्तम्ब ऋषिका यह वचन उद्धृत है—

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।'

अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण—इन दो भागोंमें वेद विभक्त है। इन दोनोंका अन्त उपनिषद् है। कोई उपनिषद् मन्त्रभागके अन्तर्गत है और कोई ब्राह्मणभागके। शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिन-संहिताका अन्तिम अंश ईशावास्योपनिषद् है और कृष्ण यजुर्वेदीय श्वेताश्वतर-संहिता (जो अप्राप्य है) का शेष भाग श्वेताश्वतरोपनिषद् है। सामवेदीय कौथुम शाखाके ताण्ड्य वा पञ्चविंश ब्राह्मणके अन्तिम आठ भाग छान्दोग्योपनिषद् हैं और शुक्ल यजुर्वेदीय काण्वसंहिताके शतपथब्राह्मणके शेष छः अध्याय बृहदारण्यकोपनिषद् हैं। इसी प्रकार सभी उपनिषदें वेदके अन्तिम भाग हैं। यहाँ अब यह भी सन्देह नहीं रह जाता कि उपनिषदें वेद हैं। वस्तुतः उपनिषदें वेद और वेदान्त दोनों हैं। इसीसे उपनिषदोंका इतना महत्त्व है।

मन्त्रभागीय उपनिषदोंमें मन्त्र-स्वर और ब्राह्मणभागीय उपनिषदोंमें ब्राह्मण-स्वर रहते हैं और इसीके अनुसार इनका अध्ययन भी किया जाता है। स्वर-विशेषके अनुसार ही अर्थ-विशेष किया जाता है। आचार्य शङ्करने ऐसा ही किया है। यही शिष्ट-प्रणाली भी है। प्रायः सारे वैदिक-साहित्यका अर्थ स्वराधीन ही होता है। स्वरमुक्तिवादी एक वैदिक सम्प्रदाय भी है।

वेदान्ताचार्योंने आगे चलकर वेदान्तशास्त्रको तीन प्रस्थानोंमें विभक्त किया है—श्रुति, स्मृति और न्याय। उपनिषद्भाग श्रुति-प्रस्थान है, भागवत, गीता, सनत्सुजात-संहिता आदि स्मृति-प्रस्थान हैं और ब्रह्मसूत्र आदि न्याय-प्रस्थान हैं।

वेदका ज्ञानकाण्ड होनेसे उपनिषद्को ब्रह्मविद्या कहा जाता है। ब्रह्मविद्या ही पराविद्या वा श्रेष्ठविद्या है। उपनिषदोंमें जो ब्रह्मविषयक विज्ञान प्रतिपादित किया गया है, वही पराविद्या है। शेष कर्मविषयक विज्ञान अपराविद्या है। इसे कर्म-विद्या भी कहते हैं। कर्मविद्या तत्काल फल नहीं देती, कालान्तरमें उसका फल मिलता है। कर्मफल विनाशी भी होता है। इसके विपरीत ब्रह्मविद्या तत्काल फल देती है और यह फल अविनाशी होता है। इसीलिये ब्रह्मविद्या श्रेष्ठ है। यही ब्रह्मविद्या मुक्तिका एकमात्र कारण है। कर्मविद्या मुक्तिका कारण नहीं है; हाँ, ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें हेतु अवश्य है। इसीलिये कहा गया है कि, 'जो ब्रह्मविद्या अथवा आत्मतत्त्वज्ञान नहीं जानता, वह परमात्माको नहीं जान सकता'—

'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्।'

'जो वेदका ज्ञाता नहीं है, वह उस ब्रह्मको नहीं समझ सकता।' उपनिषद् वेद है, यह पहले ही कहा गया है।

श्रीशङ्कराचार्यके मतसे अद्वैतवाद ही सारी उपनिषदोंका तात्पर्य है। एक ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। दृश्यमान जगत् परमार्थ सत्य नहीं है, सपनेमें देखे गये पदार्थकी तरह मिथ्या है, जीवात्मा और ब्रह्म एक ही हैं, दो नहीं। यही उपनिषत्सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्तको एक श्लोकार्द्धमें कहा गया है—

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

परंतु शङ्कराचार्यसे विरुद्ध मत रखनेवाले वैष्णवाचार्य कहते हैं कि 'द्वैतवाद ही प्राचीन सिद्धान्त है, अद्वैतवाद तो नवीन सिद्धान्त है, जिसके जन्मदाता शङ्कराचार्य हैं। इनके पहले अद्वैतवाद था ही नहीं।' परंतु बात ऐसी नहीं है। अद्वैतवाद प्राचीन ही नहीं, प्राचीनतम वाद है। ऋग्वेदके प्रसिद्ध 'नासदीय सूक्त'में अद्वैतवादका ही उल्लेख है, वहाँ द्वैतवादका तो कहीं नाम-लेश भी नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् (६।२।१) और बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।१९) में स्पष्ट ही अद्वैतवादका वर्णन है। सांख्यसूत्रों (१।२१–२४ और ३।२।८ और १९) में अद्वैतवाद ही वेदान्तमत माना गया है। 'न्यायसूत्र'के **'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'** सूत्रके भाष्यमें भी अद्वैतवाद ही वेदान्त-सिद्धान्त स्वीकृत हुआ है। कविवर भवभूतिकी भी—

'एको रसः करुण एव विवर्तभेदात्।'

तथा—

'ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि विप्रलयः कृतः॥'

—अनेक उक्तियोंमें अद्वैतवादका सिद्धान्त ही उपलब्ध होता है। पुराणोंमें तो जहाँ-कहीं भी वेदान्तका उल्लेख है, वहाँ अद्वैतवादके सिद्धान्तका ही प्रतिपादन है। 'सूत-संहिता' और 'योगवासिष्ठ'—जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें अद्वैतवाद भरा पड़ा है। 'नैषधचरित' (२१।८८) में तो बुद्धको भी 'अद्वयवादी' कहा गया है। शान्तरक्षितके 'तत्त्व-संग्रह' (३२८।१२९) में अद्वैतवादका उल्लेख है। दिगम्बराचार्य सामन्तभद्रने 'आप्तमीमांसा' (२४ श्लोक) में अद्वैतवादकी चर्चा की है। स्थानसंकोचके कारण इस प्रकारकी उक्तियोंका यहाँ अधिक उल्लेख नहीं किया जा सकता। मुख्य बात यह समझिये कि अद्वैतवाद अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है और अनेक आचार्योंके मतसे तो यह अनादि सिद्धान्त है।

परंतु अद्वैतवादके विरोधी अपने पक्षके समर्थनमें कठोपनिषद्का यह मन्त्र उपस्थित करते हैं—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥

'इस शरीरमें एक अपने कर्मका फल भोग करता है और दूसरा भोग कराता है। दोनों ही हृदयाकाश और बुद्धिमें प्रविष्ट हैं। इनमें एक (जीवात्मा) संसारी है, दूसरा (परमात्मा) असंसारी है। इसीलिये ब्रह्मज्ञाता और गृहस्थ इन दोनोंको छाया और आतप (धूप) के समान विलक्षण कहते हैं।'

अद्वैतवादके खण्डनमें दूसरा प्रमाण यह दिया जाता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डक० ३।१।१)

अर्थात् 'सहचर और सखा दो पक्षी एक वृक्षका आश्रय

करके रहते हैं। इनमेंसे एक नानाविध फलका भक्षण करता है और दूसरा कुछ नहीं खाता, केवल देखता है।'

इस मन्त्रसे स्पष्ट जाना जाता है कि यह शरीर वृक्ष है और जीवात्मा तथा परमात्मा पक्षी हैं। सुख-दुःख-भोग ही फल-भक्षण है।

द्वैतवादी कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा एक नहीं हैं, परस्पर भिन्न हैं—इस विषयमें उक्त दोनों मन्त्र अकाट्य प्रमाण हैं। द्वैतवादके समर्थनमें इन मन्त्रोंसे बढ़कर उत्कृष्ट प्रमाण नहीं मिल सकता—किसी भी उपनिषद्में इन मन्त्रोंके समान द्वैतवादका स्पष्ट समर्थन नहीं है। अवश्य ही ऊपरसे देखने-सुननेमें ऐसा ही विदित होता है; परंतु जरा गहराईमें उतरकर विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इन मन्त्रोंमें न तो द्वैतवादका समर्थन ही है, न अद्वैतवादका खण्डन ही है। क्यों और कैसे ? नीचेकी पङ्क्तियाँ पढ़कर पाठक ही निर्णय करें।

अद्वैतवादी भी द्वैत-प्रपञ्चका सर्वाशतः अपलाप नहीं करते। वे भी शास्त्र मानते हैं, गुरु-शिष्यरूपसे आत्मविद्याका अनुशीलन करते हैं, सत्त्व-शुद्धिके लिये कर्म करते हैं और चित्तकी एकाग्रताके लिये उपासना करते हैं। वे उपास्य-उपासकरूपसे जीव-ब्रह्मका औपाधिक भेद स्वीकार करते हैं और आत्मसाक्षात्कारके लिये योगमार्गका आश्रय ग्रहण करते हैं। वे केवल द्वैत-प्रपञ्चकी सत्यता और पारमार्थिकताको स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं—'यह द्वैत-प्रपञ्च व्यावहारिक और मायामय है तथा अद्वैत ही पारमार्थिक सत्य है।' इसलिये अद्वैतवादियोंके मतसे भी उपनिषदोंमें द्वैत-प्रपञ्चका उल्लेख हो सकता है, परंतु 'द्वैत-प्रपञ्च सत्य है' ऐसा उपदेश किसी भी उपनिषद्का नहीं है। हाँ, द्वैत-प्रपञ्चका मायामयत्व उपनिषदोंमें ही अवश्य ही उपदिष्ट है। उपनिषद्का स्पष्ट ही आदेश है—'मायाद्वारा परमेश्वर अनेक रूपोंमें दृष्ट होते हैं—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।'

कठोपनिषद्के 'ऋतं पिबन्तौ' मन्त्रमें आत्माका, उपाधि-भेदसे, जीवात्मा और परमात्माके रूपमें, भेद प्रतिपादित किया गया है—जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः भिन्न हैं, यह नहीं कहा गया है। इस मन्त्रमें भेदका सत्यताबोधक कोई भी शब्द नहीं है। इस मन्त्रका प्रसङ्ग देखनेसे बात स्पष्ट हो जायगी।

मृत्युने नचिकेताको तीन वर देनेका वचन दिया था। इसके अनुसार नचिकेताने प्रथम वरमें पिताकी अनुकूलता माँगी और द्वितीय वरमें अग्निविद्याके लिये प्रार्थना की। दोनों वरोंके मिल जानेपर नचिकेताने पुनः प्रार्थना की, 'कृपया मुझे यह समझा दीजिये कि आत्मा देहेन्द्रियोंसे भिन्न है कि नहीं।' मृत्युने अनेक प्रलोभन दिखाकर नचिकेताको इस वर-प्रार्थनासे निवृत्त होनेका अनुरोध किया; परंतु नचिकेता किसी भी प्रलोभनमें नहीं आये—उन्होंने एक भी नहीं सुनी। नचिकेताकी निःस्पृहता देखकर मृत्युने उनकी बड़ी प्रशंसा की और 'आत्मज्ञान होनेपर परमपुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है', यह भी कहा। नचिकेताने कहा—'आत्माका यथार्थ स्वरूप क्या है ?' इसके उत्तरमें मृत्युने आत्माकी देहेन्द्रियभिन्नता बतायी और आत्माके यथार्थ स्वरूपकी व्याख्या की। 'आत्मा क्योंकर अपने यथार्थ स्वरूपको जान सकता है', यह भी मृत्युने बताया। नचिकेताके प्रश्नके उत्तरमें 'ऋतं पिबन्तौ' मन्त्र मृत्युकी उक्ति है।

नचिकेताने पूछा था जीवात्माका विषय। तब मृत्यु परमात्माका विषय कैसे कहने लगते ? यह तो अप्रासङ्गिक होता। जीवात्माका यथार्थ स्वरूप परमात्माके यथार्थ स्वरूपसे भिन्न नहीं है, जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं, केवल उपाधिभेदसे, घटाकाश, मठाकाश आदिकी तरह दोनोंका भेद मालूम पड़ता है। जीवात्माका संसारीपन अविद्याकृत है, अविद्याके अभावके कारण परमात्मामें संसारीपन नहीं है—इन्हीं अभिप्रायोंसे नचिकेताके जीवात्मविषयक प्रश्नके उत्तरमें मृत्युने जीवात्मा और परमात्माकी बात कही। नचिकेताका प्रश्न यह है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः॥

(कठ० १।१।२०)

'कोई कहता है, मृत्युके अनन्तर भी देहातिरिक्त आत्माका अस्तित्व रहता है और कोई कहता है, नहीं। यह भारी संशय है। तुम्हारे उपदेशसे मैं इसे जानना चाहता हूँ। यह मेरा तीसरा वर है।'

इसका उत्तर पानेके पहले ही नचिकेता परमात्मविषयक एक और असङ्गत प्रश्न कैसे कर बैठते ? मृत्यु तो इसी प्रश्नको जटिल समझते थे। इसी बीच परमात्मसम्बन्धी एक अन्य महान् विकट प्रश्न कैसे किया जा सकता था ? मृत्युने

उक्त प्रश्नको ही सुनकर उत्तर देनेमें बड़ी आनाकानी की। मृत्युने स्पष्ट ही कहा—'यह दुर्विज्ञेय है, देवोंको भी इस विषयमें सन्देह हो जाता है। इसलिये इसके उत्तरके लिये आग्रह मत करो—दूसरा वर माँगो।' इस तरह मृत्युने उत्तर देनेमें बड़ी आपत्ति की, प्रलोभनतक दिखाकर अन्य वर माँगनेका बहुत तरहसे अनुरोध किया। परंतु नचिकेता जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने स्पष्ट ही कहा—'जिस विषयमें देवता भी सन्दिहान हैं और जो दुर्विज्ञेय है, उस विषयमें तुम्हारे समान न तो कोई उत्तरदाता ही मिलेगा, न इसके बराबर कोई दूसरा वर ही होगा। इसलिये चाहे यह वर कितना भी दुर्विज्ञेय हो, इसके सिवा मैं अन्य वर नहीं माँग सकता।'

मृत्युने नचिकेताकी दृढता और लोभशून्यता देखकर उनकी, उनके प्रश्नकी और आत्मतत्त्वज्ञानकी प्रशंसा की। अनन्तर नचिकेताने आत्माका परमार्थ-स्वरूप जानना चाहा। आत्माके यथार्थ रूपको जाननेका अनुरोध करना, प्रकारान्तरसे, पूर्व प्रश्नका व्याख्यानमात्र है। वह इस प्रकार कि आत्माके देहादि स्वरूप होनेपर मृत्युके पश्चात् आत्माका अस्तित्व नहीं रह सकता और देहादिसे भिन्न होनेपर मरणानन्तर भी आत्माका अस्तित्व रह सकता है। परंतु नचिकेताकी यथार्थ आत्मस्वरूपकी जिज्ञासा परमात्मविषयक प्रश्न है, यह कल्पना नितान्त अलीक है। कारण, मृत्यु प्रार्थित वरको दुर्विज्ञेय कहकर उत्तर-प्रदान करनेमें ही जब कि आपत्ति करते हैं, तब नचिकेताका एक अन्य दुर्विज्ञेय प्रश्न कर बैठना असम्भव है—यह बात पहले ही लिखी जा चुकी है। मृत्युने जिस प्रकार नचिकेताको उत्तर दिया है, उसकी सूक्ष्मतया परीक्षा करनेपर स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि, जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं, भिन्न नहीं, मृत्युको यही अभिप्रेत है। आगे दिये जानेवाले उत्तरके आरम्भमें मृत्युने कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(कठ० १।२।१५)

'जिस पदका प्रतिपादन सारे वेद करते हैं, जिस पद-प्राप्तिका साधन सारी तपस्याएँ हैं और जिस स्थानकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया जाता है, मैं संक्षेपसे वही पद कहता हूँ। वह है ओंकार।'

ओंकार ईश्वरका नाम और प्रतीक है। श्रुतिका यही मत है। योगी याज्ञवल्क्यने कहा है—

'वाच्यः स ईश्वरः प्रोक्तो वाचकः प्रणवः स्मृतः॥'

'प्रणव वा ओंकार परमात्माका प्रतिपादक है।' ठीक ऐसा ही योगदर्शनमें पतञ्जलि ऋषिने भी कहा है—**'तस्य वाचकः प्रणवः।'** आगे चलकर मृत्युने जीवात्मा और परमात्माकी अभिन्नता दिखायी है। यही उचित उत्तरका क्रम है।

यदि नचिकेताने जीवात्मविषयक प्रश्नका उत्तर पानेके पहले ही परमात्मविषयक असङ्गत प्रश्न किया होता, तो मृत्युने जीवात्मविषयक उत्तर देनेके बाद परमात्मविषयक उत्तर दिया होता। तब यह कैसे सम्भव था कि पहले ही परमात्मसम्बन्धी बातें कह दी जातीं और पृथक् रूपसे जीवात्माका उल्लेखतक नहीं होता?

आगे चलकर तो इसी उपनिषद्में द्वैत-वादका खण्डन भी है—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥

(२।१।११)

'शास्त्र और आचार्यके द्वारा सुसंस्कृत मनसे ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। इस ब्रह्ममें अणुमात्र भी भेद नहीं है। जो ब्रह्ममें भेद या नानापन देखता है, वह बार-बार मृत्युको प्राप्त होता है।'

कठवल्लीको द्वैतवाद अभीष्ट रहता, तो यहाँ उसका खण्डन क्यों किया जाता? परस्पर-विरोध कैसे उपस्थित होता? इसलिये यह निष्कर्ष निकला कि कठोपनिषद्का प्रतिपाद्य अद्वैतवाद है, द्वैतवाद नहीं।

मुण्डकोपनिषद्का 'द्वा सुपर्णा' मन्त्र भी द्वैतवादका प्रतिपादक नहीं है। यह भी 'ऋतं पिबन्तौ' की तरह ही है। 'द्वा सुपर्णा' मन्त्र जीवात्मा और परमात्माके भेदका 'अकाट्य' प्रमाण तो क्या होगा, साधारण प्रमाण-कोटिमें भी नहीं आता। आश्चर्य है कि द्वैतवादी धीर-गम्भीर शैलीसे इसपर विचार नहीं करते।

वस्तुतः यह मन्त्र अन्तःकरण (सत्त्व) और जीवात्माका प्रतिपादक है। 'पैङ्गि-रहस्यब्राह्मण'में इसकी व्याख्या इस तरह की गयी है—

'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम् अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीत्यनश्नन्नन्योऽभिपश्यति क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञाविति।'

अर्थात् **'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति'** से सत्त्व वा अन्तःकरणका फल-भोक्तृत्व कहा गया है। **'अनश्नन्नन्योऽभिचाक-**

शीति' से जीवात्माको द्रष्टा कहा गया है। इसलिये यह मन्त्र जीवात्मा और परमात्माका नहीं—अन्तःकरण और जीवात्माका प्रतिपादक है।

इसी ब्राह्मणमें आगे चलकर कहा गया है—

'तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति । अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञाविति ।'

'जिसके द्वारा स्वप्न देखा जाता है उसका नाम सत्त्व वा अन्तःकरण है। जो 'शारीर' वा जीवात्मा द्रष्टा है, उसका नाम क्षेत्रज्ञ है।' अचेतन अन्तःकरणका भोक्तृत्व कैसे सम्भव है। इसका उत्तर शङ्कराचार्यने यों दिया है—

'नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्त्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता किन्तर्हि ? चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मस्वभावतां च वक्ष्यामीति। तदर्थं सुखादिविक्रियावति सत्त्वे भोक्तृत्व-मध्यारोपयति ।'

अर्थात् अचेतन अन्तःकरणका भोक्तृत्व बताना मन्त्रका उद्देश्य नहीं है। चेतन क्षेत्रज्ञका अभोक्तृत्व और ब्रह्म-स्वभावत्वका प्रतिपादन करना ही मन्त्रका लक्ष्य है। इसी अभोक्तापन और ब्रह्मकी स्वभावताको समझानेके लिये क्षेत्रज्ञके उपाधिभूत और सुखादिके विकारसे युक्त अन्तःकरणमें भोक्तृत्वका आरोप किया गया है, क्योंकि अन्तःकरण और क्षेत्रज्ञके अविवेकके कारण क्षेत्रज्ञमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी कल्पना की जाती है। सुखादि विकारोंसे युक्त सत्त्व (अन्तःकरण) में चित्प्रतिबिम्ब पतित होनेपर चित्का भोक्तृत्व मालूम पड़ता है। फलतः वह अविद्याजन्य है, पारमार्थिक नहीं।

कदाचित् यहाँ यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि वेदमन्त्रोंका यथार्थ अर्थ समझनेके लिये कितनी धीरता, सावधानता और बहुदर्शिताकी आवश्यकता होती है और इस दिशामें जरा-सी भी त्रुटि कितना बड़ा अनर्थ कर सकती है। वेदवेत्ताओंके मतसे जो वाक्य जीवके ब्रह्मभावका बोधक है वही वाक्य जीव और ब्रह्मके भेदका बोधक मालूम पड़ जाता है—अर्थका अनर्थ उपस्थित कर देता है। इसीलिये वेदमन्त्रोंका रहस्य समझनेवालोंने कहा है—

'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।'

अल्पविद्य (नीम हकीम) से वेद इसलिये डरता है कि वह मुझे मार डालेगा। वेदज्ञोंने और भी कहा है—

'पौर्वापर्यापरामृष्टः शब्दोऽन्यां कुरुते मतिम् ।'

'पूर्वापरकी आलोचना नहीं करनेसे शब्द विपरीत अर्थ-बोधका कारण होता है।'

एक बात और। वन्ध्यापुत्र, कूर्मरोम, शशशृङ्ग वा गगन-कमलिनीके समान द्वैत-प्रपञ्चको अद्वैतवादी तुच्छ वा अलीक नहीं कहते। वे केवल इतना ही कहते हैं कि 'जैसे मनुष्यके निद्रादोषके कारण स्वप्नमें देखा गया पदार्थ मिथ्या है, वैसे ही अविद्यारूप दोषके कारण जाग्रद-वस्थामें देखा गया पदार्थ भी मिथ्या है। एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। ब्रह्मके अतिरिक्त कोई भी पदार्थ 'परमार्थ सत्य' नहीं है; परंतु पारमार्थिक सत्ता नहीं होनेपर भी संसारी पदार्थोंकी व्यावहारिक सत्ता और स्वप्नमें देखे पदार्थों-की प्रातीतिक वा प्रातिभासिक सत्ता है। सपनेमें देखे पदार्थ जैसे स्वप्नकालमें यथार्थ मालूम पड़ते हैं, वैसे ही जागतिक पदार्थ व्यवहार-दशामें यथार्थ ज्ञात होते हैं। ब्रह्मवादियोंने कहा भी है—

देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ॥

अर्थात् शरीरमें आत्मबुद्धि वस्तुतः मिथ्या है तो भी देह-भिन्न आत्माके ज्ञानके पहले सत्य विदित होती है। इसी तरह सारी लौकिक वस्तुओंके मिथ्या होनेपर भी आत्म-निश्चयतक वे सच्ची मालूम पड़ती हैं। **'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते'**—आत्मतत्त्वज्ञान होनेपर द्वैत नहीं रहता।

निष्कर्ष यह है कि व्यवहार-दशामें अद्वैतवादी भी जीवेश्वर-भेद, द्वैत-प्रपञ्च तथा परमात्मा और जीवात्माका उपास्य-उपासक भाव स्वीकार करते हैं। वेदान्तवेत्ताओंने ठीक ही कहा है—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ॥

'माया नामकी कामधेनुके दो बछड़े हैं—जीव और ईश्वर। ये दोनों इच्छानुसार द्वैतरूप दुग्धका पान करें, परन्तु परमार्थ-तत्त्व तो अद्वैत ही है।'

पारमार्थिक और व्यावहारिक भावोंके उदाहरण संसारमें भी देखे जाते हैं। जिसके साथ वास्तविक आत्मीयता नहीं है, उसके साथ भी लोग बाध्य होकर आत्मीयके समान व्यवहार करते हैं। यह केवल व्यावहारिक आत्मीयता है, पारमार्थिक नहीं। अगले मन्त्रमें इस बातको बड़ी स्पष्टतासे कहा गया है—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् ॥

'जबतक द्वैत रहता है, तबतक एक दूसरेको देखता

है और जब कि सारे पदार्थ आत्मरूप हो जाते हैं तब कौन किसको देख सकता है ?'

मुख्य बात यह है कि अद्वैतवाद और व्यावहारिक द्वैतवाद—दोनों ही वेदसम्मत हैं। इसलिये उपनिषदोंमें उपास्य-उपासक-भावसे परमात्मा और जीवात्माका निर्देश रहना कुछ विचित्र बात नहीं है। इससे अद्वैतवादकी कोई हानि भी नहीं है। व्यावहारिक द्वैतावस्था माननेके कारण उपनिषदोंके द्वैतवादी वाक्योंके द्वारा अद्वैतवादका खण्डन नहीं हो सकता। व्यावहारिक द्वैतावस्था अद्वैतावस्थाकी विरोधिनी हो ही नहीं सकती।

फलतः अद्वैतवादके सम्बन्धमें द्वैतवादियोंकी आपत्तियाँ निर्मूल हैं और उपनिषदोंके अनुसार अद्वैतवाद ही परमार्थ सत्य है। किसी भी उपनिषद्के किसी भी मन्त्रसे द्वैतवाद परमार्थ सत्य सिद्ध नहीं होता।

उपनिषदोंका नवीन वैज्ञानिक तथ्य

(लेखक—पण्डित श्रीरामनिवासजी शर्मा)

वस्तुका तत्त्वतः नाश (Annihilation) नहीं होता, अपितु उसका रूपान्तर होता है—यह एक आधुनिक सत्य है, किंतु वैदिक ऋषियोंको आजसे बहुत पहले इसका पता था। वे इस बातको अच्छी तरह समझते थे कि वस्तुका आविर्भाव और तिरोभाव ही होता है, न कि नाश (Annihilation)। उनकी भाषाकी 'जनी' और 'णश्' धातुएँ इस सत्यकी प्रतिपादक हैं; क्योंकि इनका अर्थ क्रमशः आविर्भाव और तिरोभाव ही है। किंतु इसमें एक विशेष और विलक्षण बात भी है, वह यह कि वैदिक ऋषि न केवल तत्त्वतः अपितु स्वरूपतः भी प्राकृतिक वस्तुओंका नाश नहीं मानते थे। न केवल व्यष्टि-समूहका प्रत्युत समष्टि-समूहका भी। यह सत्य 'नारायण और महानारायण उपनिषद्'के निम्नलिखित प्रवचनसे पूर्णतः स्पष्ट होता है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

अर्थात् विधाताने सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्षकी रचना पूर्व-सृष्टि-क्रमके अनुसार ही की है।

उपनिषत्प्राण श्रीमद्भगवद्गीता इस सत्यका समधिक स्पष्टीकरण है। उससे पूर्णतः यह सिद्ध हो जाता है कि वस्तुतः सृष्टि नयी नहीं बनती और न नष्ट ही होती है, प्रत्युत अव्यक्तसे व्यक्त होती है और व्यक्तसे अव्यक्त। उसके अपने शब्द इस प्रकार हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता २। २८)

१. पृथिवीजलतेजोवायुगगनरूपेषु गन्धादिविशेषवस्तुषु जन्तुषु प्राणिषु च। श० म०

छान्दोग्य-उपनिषद् भी इसी सत्यको प्रकारान्तरसे इस तरह स्पष्ट करता है—

प्राकृतिक शक्तियाँ द्युलोकस्थ अग्निमें परमाणुरूप साहित्यका हवन करती रहती हैं, जिससे इस निःसीम आकाश-प्राङ्गणमें नित्य ही आह्लादजनक विश्व-ब्रह्माण्डों और वस्तुओंका प्राकट्य होता रहता है। प्रत्येक वस्तु अपने अव्यक्तरूपसे व्यक्तरूपमें आती रहती है। यह बृहद् यज्ञ परमात्माकी ओरसे प्रकृति-प्रवाहमें सदैव होता रहता है।[१]

यह सृष्टि किन-किन तत्त्वों और साधनोंसे अव्यक्तसे व्यक्त-दशामें आती है—इसकी रूपकालङ्कार-सम्मत संक्षिप्त उपनिषत्तालिका इस प्रकार है—

संक्षिप्त तालिका

१. द्युलोक	... ...	अग्नि-कुण्ड
२. द्युलोकस्थ शक्ति	... ...	प्रथमाग्नि
३. आदित्य	... ...	समिधा
४. हवनीय द्रव्य	... ...	परमाणु
५. हवन-कर्ता देवता	... ...	प्राकृतिक शक्तियाँ
६. अध्वर्यु	... ...	परमात्म-तत्त्व
७. वसन्त-ऋतु	... ...	घृत-स्थानीय
८. ग्रीष्म-ऋतु	... ...	समित्स्थानीय
९. शरद्-ऋतु	... ...	हवि
१०. यज्ञ-नाम	... ...	प्राकृतिक

यहाँ यह कहते हुए आश्चर्य होता है कि यह उपनिषदात्मक किंतु व्यक्ताव्यक्तविषयक विश्व-दुर्लभ सत्य इस समय भी भारतीय घर-आँगनकी वस्तु बना हुआ है। आज भी सन्ध्या-वन्दनके समय कोटि-कोटि कण्ठोंसे अघमर्षणमें इस प्रकार दुहराया जाता है—

१. छा० खण्ड ४। महामहोपाध्याय श्रीआर्यमुनिकृत-भाष्य।

ॐ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

इस तरह हम देखते हैं कि उपलब्ध उपनिषद्वाङ्मय आज भी वैज्ञानिक संसारको यह बता रहा है कि व्यष्टि और समष्टि विश्व न केवल तत्त्वतः अपितु स्वरूपतः भी नाश-रहित है ।

परंतु यह कहते हुए भी दुःख होता है कि आजके वैदिक विद्वानोंकी दृष्टिमें यह सत्य पूर्णतः स्पष्ट नहीं है; किंतु यह जानकर थोड़ा सन्तोष होता है कि इस सत्यके सक्रिय मर्मको जाननेवाले व्यक्ति अभी सर्वथा नाम-शेष नहीं हुए हैं । आज भी गिरि-गुहाओंमें ऐसे लोग मौजूद हैं जो इस सत्यके क्रियात्मक पक्षको स्वयं भी समझते और दूसरोंको भी समझा सकते हैं; ऐसे ही महात्माओंके एक स्वर्गीय शिष्य श्रीस्वामी विशुद्धानन्दजी परमहंस भी थे । उनका भी यह विश्वास था कि वस्तु स्वरूपतः भी विनश्वर नहीं है । न केवल विश्वास, अपितु वे प्रायः एक प्रकारके फूलको दूसरे प्रकारके फूलोंमें परिणत कर दिखाया भी करते थे । वैज्ञानिक शब्दोंमें इसी-को इस तरह भी कहा जा सकता है कि—

उनमें एक प्रकारके फूलको तिरोहित कर उसमेंसे अव्यक्त नवीन फूलको व्यक्त कर दिखानेका सामर्थ्य था । यही नहीं, प्रत्युत वे प्राकृतिक विकारों (वस्तुओं) के अनुलोमज और विलोमज दोनों प्रकारोंकी क्रमशः विकासात्मक और लयात्मक प्रक्रियाओंको भी अच्छी तरह समझते थे । साथ ही वे अनुलोमज क्रियात्मक परीक्षणके साथ-साथ विलोमज परीक्षण-को भी दिखा सकते थे । इस विषयपर उनके अपने शब्द इस प्रकार हैं—

'वत्स ! वस्तुके अनुलोमज और विलोमज दोनों प्रकार-का विकास और लय सत्य है । उदाहरणार्थ दूधसे दही, दहीसे नवनीत और नवनीतसे घृत उत्पन्न होता है; परंतु घृतमें नवनीत, नवनीतमें दही और दहीमें दूधके उपादान अव्यक्त रूपसे रहते हैं । वास्तविक योगी या वैदिक विज्ञान-वेत्ता इन अदृष्ट उपादानोंको विलोम प्रक्रियासे घृतको नवनीत-में, नवनीतको दहीमें और दहीको दूधमें परिणत कर सकता है । इतना ही नहीं; अपितु योगी दुग्धको भी विलोम क्रिया-के द्वारा तृण-राशिमें भी परिवर्तित कर सकता है[1] ।'

स्वामीजी ऐसा कहते ही न थे, प्रत्युत वे योग्य अधि-कारियोंको कभी-कभी इस विलोम प्रक्रियाके प्रयोग भी दिखा दिया करते थे ।

यह सत्य केवल वैदिक ही नहीं है, अपितु दार्शनिक भी है । इसका प्रमाण यह है कि इस सत्यको आजसे बहुत पहले हमारे दर्शनकारोंने भी प्रकारान्तरसे समझने-समझानेकी कोशिश की थी । महर्षि पतञ्जलिने भी अपने पातञ्जल-दर्शनके कैवल्य-पादमें इस विषयको इस तरह स्पष्ट किया है—

'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ।'

अर्थात् प्रकृतिके आपूरणसे जात्यन्तर-परिणाम होता है, किंतु वह क्यों और कैसे होता है ? इस विषयको उन्होंने निम्नलिखित सूत्रद्वारा समझाया है—

'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ।'

तात्पर्य यह है कि धर्मादि निमित्त प्रयोजक कारण उपादान-स्वरूप प्रकृतिको प्रेरित नहीं करते, वे तो केवल प्रकृतिस्थ आवरणको ही दूर कर सकते हैं, परंतु प्रकृति आवरणसे उन्मुक्त होकर स्वतः अपने विकारों—विभिन्न रूपोंमें परिणत होने लगती है । उदाहरणके लिये रजतमें जो स्वर्ण-प्रकृति है, वह आवरणसे आवृत है और रजत-प्रकृति आवरणसे मुक्त है; किंतु यदि स्वर्ण-प्रकृतिका यह आवरण किसी उपायसे हटा दिया जाय तो रजत-प्रकृति तिरोहित हो जायगी और स्वर्ण-प्रकृति-धारामें विकार उत्पन्न करेगी[1] । इस तरह रजत-प्रकृति अव्यक्त स्वर्ण-प्रकृतिमें व्यक्त हो जायगी अर्थात् रजत स्वर्णमें बदल जायगा । इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि धर्मादि प्रयोजक कारणसे ही ऐसा होता है, अपितु प्रकृति स्वयं भी अपनी लयोन्मुखता और विकासोन्मुखताके कारण क्रमशः अनन्त विकारों और वस्तुओं-में विकासोन्मुख और लयोन्मुख होती रहती है । इसी सत्यको महर्षि व्यासने अपने भाष्यमें इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । न हि धर्मादिनिमित्तं तत्प्रयोजकं भवति प्रकृतीनाम् । न कार्येण कारणं प्रावर्त्यत इति । कथं तर्हि ? वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । यथा क्षेत्रिकः केदारादपां पूर्णात्केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं निम्नतरं वा नापः पाणिनापकर्ष-त्यावरणं त्वासां भिनत्ति तस्मिन्भिन्ने स्वयमेवापः केदारान्तर-माप्लावयन्ति तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणधर्मं भिनत्ति तस्मिन्भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति ।'

महाभारत भी इस सत्यका इस प्रकार समर्थन करता है—

---

१. श्रीश्रीविशुद्धानन्दप्रसङ्ग । महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराजकृत ।

१. म. म. गो. ना. द्वारा समर्थित और उदाहृत ।

'अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः ।'

अर्थात् सभी कुछ अदर्शन (अव्यक्त) से दर्शन (व्यक्त) और दर्शन (व्यक्त) से अदर्शन (अव्यक्त) अवस्थाओंमें परिवर्तित होते रहते हैं । अभावसे भाव और भावसे अभावकी उत्पत्ति कदापि नहीं होती ।

इस उपनिषदात्मक सत्यका संस्कृत काव्योंसे भी समर्थन होता है । निम्न पद्य-खण्ड इसके दिग्दर्शन हैं ।

'स्पर्शानुकूला अपि सूर्यकान्ताः
स्वकीयतेजोऽभिभवाद् दहन्ति ।'

'शमप्रधानेषु तपोवनेषु
गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः ॥'

अर्थात् सूर्यकान्त-मणिमें अव्यक्त तेज सूर्य-किरणके स्पर्शसे व्यक्त होता है, वैसे ही शान्ति-प्रधान तपोवनमें दाहात्मक तेज अव्यक्त-अवस्थामें रहता है ।

हमारा पुराण-साहित्य भी इस सत्यका साक्षी है । उसमें न केवल प्राकृतिक विकारोंके व्यक्ताव्यक्त भावोंपर ही प्रकाश डाला गया है, प्रत्युत यह भी बताया गया है कि योग-बल-रूप निमित्तको प्राप्तकर बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था भी एक दूसरीमें परिणत हो जाती हैं । साथ ही आकार-प्रकार और रूप-रंग भी एक दूसरेमें परिणत किये जा सकते हैं । कहा जाता है, चीनके लामा लोग इस समय भी ऐसे परीक्षण किया करते हैं । श्रीमती नील अपने यात्रा-वृत्तान्तमें लिखती हैं—

'मैं चुपचाप बैठी हुई लामाको देखती रही । उनमें किसी तरहकी हरकत नहीं थी और वह जडवत् प्रतीत होते थे । मैंने देखा कि धीरे-धीरे उनकी आकृति बदल रही है, उनके चेहरेपर झुर्रियाँ पैदा हो रही हैं और चेहरेपर ऐसा भाव प्रकट हो रहा है, जो मैंने उनमें कभी नहीं देखा था । उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और प्रिंस आश्चर्यसे काँप उठे ।'

'हमलोग जिस आदमीको देख रहे थे, वह डालिंगके गोमचेन नहीं थे । यह कोई दूसरा ही आदमी था, जिसे हम नहीं जानते थे । बड़ी कठिनाईसे इस व्यक्तिने अपना मुँह खोला और डालिंगसे भिन्न वाणीमें बोला ।'

'इसके बाद उसने धीरे-धीरे अपनी आँखें बंद कर लीं, फिर उसकी आकृति बदलने लगी और डालिंग लामाके रूपमें आ गयी ।'

हमारी प्रान्तीय भाषाओंमें भी हमें इस सत्यके प्रकारान्तरसे दर्शन होते हैं, प्रायः लोग कहा करते हैं—

१. पिण्डे सो ब्रह्माण्डे ।
२. ब्रह्माण्डे सो पिण्डे ।
३. सबमें सो हममें और हममें सो सबमें ।

इन वाक्योंका यही अभिप्राय है कि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तुमें मौजूद है । अन्तर केवल इतना ही है कि एक वस्तु व्यक्त है किंतु उसीमें अनन्त अव्यक्त वस्तुएँ (प्राकृतिक विकार-भेद) विद्यमान हैं; परंतु वे नैमित्तिक (Incidental) उपायोंसे स्वप्रकृतिवश व्यक्त हो उठती हैं; किंतु इसका यह भाव कदापि नहीं है कि नैमित्तिक उपाय स्वयं अव्यक्त वस्तुओंका रूप धारण कर लेते हैं । इसलिये कि वस्तु-प्रकृतिमें स्वतः व्यक्त होनेकी सत्ता विद्यमान है; किंतु है वह पुरुष-साध्य । फिर पुरुष ब्रह्म हो या व्यक्तिविशेष वैज्ञानिक । इसी रहस्यको आँग्ल-भाषामें एक भाष्यकारने इस तरह समझाया है—

The creative-causes are not moved into-action by any incidental causes; but that pierces the obstacles from it like the husband man.

साधुका स्वभाव

नान्तर्विचिन्तयति किञ्चिदपि प्रतीप-
माकोपितोऽपि सुजनः पिशुनेन पापम् ।
अर्कद्विषोऽपि हि मुखे पतिताग्रभागा-
स्तारापतेरमृतमेव कराः किरन्ति ॥

चुगली खानेवाले दुष्ट मनुष्यके द्वारा क्रोध दिलानेपर भी साधुपुरुष उसके विरुद्ध अमङ्गलमय प्रतिशोधकी बात अपने मनमें नहीं लाते । राहु चन्द्रमाका सहज विद्वेषी है; किंतु चन्द्रमाकी सुधामयी किरणें उसके मुखमें पड़कर भी अमृतकी ही वर्षा करती हैं ।

उपनिषद् और रामानुज-वेदान्तदर्शन

(लेखक—वेदान्ताचार्य पं० श्रीरामकृष्णजी शास्त्री, बी० ए०)

उपनिषदोंको ही वेदान्त कहा जाता है; क्योंकि प्रथम तो ये वेदके संहिता आदि भागोंके अन्तिम अध्याय हैं, जैसे माध्यन्दिनीय संहिताका अन्तिम अध्याय ईशावास्योपनिषद् है; दूसरे वे वेदका अन्त अर्थात् सार हैं, वेदका वास्तविक प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मज्ञान इनमें प्रत्यक्ष रूपसे निहित है। वेदके अवशिष्ट भागमें तो कर्मकाण्ड, यज्ञ, देवप्रशंसा आदिके रूपमें अप्रत्यक्ष रूपसे ही ब्रह्मज्ञान कराया गया है।

उपनिषदोंके अर्थको भलीभाँति समझानेके लिये और उपनिषदोंके वर्णनीय विषयको एक तर्कपूर्ण तथा वैज्ञानिक रीतिसे क्रमबद्ध करनेके लिये महर्षि वेदव्यासजीने ब्रह्मसूत्रोंका प्रणयन किया। इन ब्रह्मसूत्रोंको वेदान्तदर्शन कहते हैं और वेदके उत्तर भागकी मीमांसा होनेके कारण इनको उत्तर-मीमांसा भी कहते हैं। साथ ही ब्रह्मकी मीमांसा होनेके कारण इन्हें ब्रह्ममीमांसा भी कहा जाता है।

ब्रह्मसूत्रोंके अर्थको स्पष्ट करनेके लिये और ब्रह्मसूत्रों तथा उनके विषय उपनिषद् या श्रुतियोंका परस्पर सामञ्जस्य दिखलानेके लिये विभिन्न आचार्यपादोंने ब्रह्मसूत्रोंपर भाष्योंकी रचना की है, जिनके द्वारा उपनिषदोंके प्रतिपाद्य विषयको अवगत कराया गया है और ब्रह्मसूत्र उन अर्थोंके साक्षी हो जाते हैं, उपनिषदोंका वास्तविक अर्थ ब्रह्मसूत्रोंमें निहित है; किंतु संक्षिप्तरूपसे है। उस अर्थको विस्तृत कर देना मात्र भाष्योंका कार्य है। इस परम्परासे भाष्य उपनिषदोंके ही अर्थको दार्शनिक रीतिसे क्रमबद्धरूपमें अवगत कराते हैं। इन भाष्योंका निर्माण करनेसे पूर्व आचार्योंने उपनिषत्प्रतिपादित तत्त्वको विभिन्न रूपसे देखा है, जैसे श्रीशङ्कराचार्यजीने अद्वैतरूपसे, श्रीरामानुजाचार्यजीने विशिष्टाद्वैतरूपसे और श्रीवल्लभाचार्यजीने शुद्धाद्वैतरूपसे आदि।

उसी तत्त्वको अपने दृष्टिकोणमें रखते हुए उसे विस्तृत रूपसे अपने-अपने भाष्योंमें प्रतिपादित किया है और उस तत्त्वका ब्रह्म-सूत्रोंसे सामञ्जस्य दिखलाया है। इस प्रकार श्रुति, सूत्र और भाष्य—ये तीनों एक पूर्ण दर्शन हो जाते हैं और भाष्योंके अनुसार ही उनके नाम निर्देश किये जाते हैं—जैसे शाङ्कर-वेदान्त, रामानुज-वेदान्त, माध्व-वेदान्त और वल्लभ-वेदान्त। इन्हींको क्रमशः अद्वैत-वेदान्त, विशिष्टाद्वैत-वेदान्त, द्वैत-वेदान्त और शुद्धाद्वैत-वेदान्त कहा जाता है। इन्हींमें 'दर्शन' शब्द जोड़कर इनको शाङ्कर-वेदान्तदर्शन या शाङ्कर-दर्शन आदि कहा जाता है। इन्हीं दर्शनोंमेंसे एक रामानुज-वेदान्त-दर्शन है।

यहाँपर हमें केवल यह दिखाना है कि उपनिषदोंमें और रामानुज-वेदान्तदर्शनमें सामञ्जस्य किस प्रकार है अर्थात् उपनिषदोंको रामानुज-वेदान्तदर्शनमें किस प्रकार लगाया गया है।

उपनिषदोंमें सामान्य रूपसे चार प्रकारकी श्रुतियाँ मिलती हैं—निर्गुणका प्रतिपादन करनेवाली, सगुणका प्रतिपादन करने-वाली, अभेदवादिनी तथा भेदवादिनी। निर्गुणप्रतिपादक तथा सगुणप्रतिपादक श्रुतियोंमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। इसी प्रकार अभेदवादिनी और भेदवादिनी श्रुतियोंमें भी परस्पर विरोध दीखता है। इनका परस्पर सामञ्जस्य ही रामानुज-वेदान्तदर्शन है।

जो निर्गुणप्रतिपादक श्रुतियाँ हैं। जैसे—

'निष्कलम्' 'निरञ्जनम्' 'निर्गुणम्' 'अप्रतर्क्यम्' 'अविज्ञेयम्' 'एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु-र्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः।'

—आदि। इनका यह तात्पर्य है कि परब्रह्ममें काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, राग, शोक, बुभुक्षा, पिपासा, जरा, मृत्यु आदि हेय या त्याज्य गुण या विशेषण नहीं हैं, (गुण शब्द विशेषणमात्रका द्योतक है चाहे विशेषण सत् हो या असत्) अतः वह निर्गुण या निर्विशेष है। जो सगुणप्रतिपादक श्रुतियाँ हैं, जैसे—

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'

'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' 'कविर्मनीषी' 'सोऽकामयत' 'सर्वगन्धः सर्वरसः'

—आदि। इनका यह तात्पर्य है कि परब्रह्ममें ज्ञानबलैश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज, सौशील्य, मार्दव, आर्जव, दया, क्षमा, औदार्य, करुणा, प्रेम, वात्सल्य, सर्वलोकशरण्यत्व, सत्य-कामत्व, सत्यसङ्कल्पत्व आदि असंख्येय, अनन्त कल्याण-गुण हैं। इस प्रकार परस्पर सामञ्जस्य करनेपर रामानुजदर्शनमें ब्रह्मका स्वरूप निर्धारित किया गया है कि ब्रह्म एकमात्र अनन्त

ज्ञानानन्दस्वरूप, समस्त त्याज्य दोषोंसे सर्वथा शून्य एवं अनन्त कल्याणमय गुणोंसे युक्त है।

जो अद्वैत या अभेदका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ हैं, जैसे—

'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'शान्तं शिवमद्वैतम्'

—आदि। उनका तात्पर्य है कि चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मको छोड़कर और कुछ भी नहीं है। चित् अर्थात् जीव, अचित् अर्थात् प्रकृति आदि अचेतन पदार्थ ब्रह्मके शरीर हैं और ब्रह्म इनका आत्मा है। चेतन तथा अचेतन नित्य हैं, उनसे ब्रह्म सर्वदा विशिष्ट रहता है, क्योंकि चिदचित्पदार्थोंके नित्य होनेके कारण उनकी सत्ता अवश्य कहीं-न-कहीं रहेगी और जहाँ उनकी सत्ता रहेगी, वहाँ ब्रह्म भी अवश्य रहेगा; क्योंकि वह अनन्त है, सर्वदा सर्वत्र विराजमान है। इसके साथ ब्रह्म उनमें आत्मरूपसे प्रविष्ट रहता है और चेतन-अचेतनका उसी प्रकार नियन्त्रण करता है, जिस प्रकार जीव अपने शरीरका करता है। जीव कर्मवश होनेके कारण स्वेच्छापूर्वक अपने शरीरका प्रयोग किसी कालमें न भी कर सके, किंतु ब्रह्म स्वतन्त्र और अनन्त ज्ञान तथा शक्तिसे युक्त होनेके कारण यथेच्छ प्रयोग कर सकता है। जिस प्रकार शरीरविशिष्ट आत्माको देवदत्त आदि नामोंसे पुकारते हैं और 'पुण्यवान् देवदत्त स्वर्गको जायगा' आदि-आदि प्रकारसे आत्माका निर्देश करते हैं, और शरीर आत्माका विशेषण होनेके कारण आत्माके साथ ही एकताके व्यवहारमें आता है। उसी प्रकार चेतनाचेतनशरीरक ब्रह्म एक ही हुआ। विशेष्यसे विशेषण पृथक् नहीं गिना जा सकता। यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि गुण ही विशेषण होता है, चेतनाचेतन तो द्रव्य हैं, वे विशेषण कैसे हुए, क्योंकि विशेषण उसीको कहते हैं जो विशेष्यसे पृथक् रहनेमें असमर्थ हो। न यही शङ्का करनी चाहिये कि शरीर भोगायतन होता है; क्योंकि वस्तुतः शरीर उस द्रव्यका नाम है जो अपने शरीरीसे अपृथक् रहते हुए उसके द्वारा धारित, नियन्त्रित किये जाते हुए शरीरीका सर्वतोभावेन शेष हो।

चेतनाचेतनको ब्रह्मका शरीर श्रुतियाँ ही कहती हैं, जैसे— **'यस्यात्मा शरीरम्' 'यस्य पृथिवी शरीरम्' 'यस्याक्षरं शरीरम्'** —आदि। इस प्रकार सकल विश्व ब्रह्मका शरीर होनेके कारण ब्रह्म ही कहा जाता है, इसीलिये भगवती श्रुति कहती है कि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** अर्थात् सर्वको पृथक् मत समझो; किंतु यह ब्रह्म है। यही भाव **'सोऽहमस्मि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि'** आदि श्रुतियोंका है कि जिस प्रकार शरीरको शरीरीके द्वारा निर्दिष्ट होना पड़ता है, उसी प्रकार चेतन या अचेतन ब्रह्मका शरीर होनेके कारण अपनी पृथक् सत्ता स्थापित नहीं रख सकता; किंतु उसे यही कहना पड़ेगा कि मैं ब्रह्म हूँ। इस प्रकार अभेदवादिनी श्रुतियोंका अर्थ है कि चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मसे व्यतिरिक्त कुछ नहीं है। एकमात्र वही है।

भेदवादिनी श्रुतियाँ, जैसे—

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा'

'नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'

—आदि हैं। वे चेतन, अचेतन और ब्रह्म—इन तीनों तत्त्वोंका पृथक्-पृथक् निरूपणमात्र कर देती हैं, जिससे ब्रह्म और उसका शरीर सुविधासे समझा जा सके। इन तीनोंके सम्बन्धको 'यस्यात्मा शरीरम्' आदि घटक श्रुतियाँ बतलाती हैं और अभेदवादिनी श्रुतियाँ चेतनाचेतनसे विशिष्ट ब्रह्मको बतलाती हैं। अतः तीनों प्रकारकी श्रुतियों (—द्वैतपरक, घटक, अद्वैतपरक) का सामञ्जस्य हो जाता है। और पूर्वोक्त चारों प्रकारकी श्रुतियाँ भी इस प्रकार रामानुज-दर्शनमें समञ्जस हो जाती हैं। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** श्रुति ब्रह्मस्वरूपको उपस्थापित करती है। सगुण-निर्गुण, भेद-अभेद बतलानेवाली श्रुतियोंका सामञ्जस्य भी वहीं हो जाता है, तब यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्य, अनन्तज्ञानानन्दैकस्वरूप, अखिलहेयप्रत्यनीक, सकलकल्याणगुणसागर, चिदचिच्छरीरक एक परब्रह्म ही वस्तु-तत्त्व है। इससे अतिरिक्त सब मिथ्या है। पूर्वोक्त गुणविशिष्ट सूक्ष्मचिदचिच्छरीरक ब्रह्म कारण है और पूर्वोक्त गुणविशिष्ट स्थूलचिदचिच्छरीरक ब्रह्म कार्य है। कारण और कार्यमें अभेद ही इस प्रकार हुआ। अतएव दोनों विशिष्टों—सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्ममें अद्वैत होनेके कारण ब्रह्मको विशिष्टाद्वैत और तत्प्रतिपादक सिद्धान्तको विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त कहते हैं।

जो चेतन अपनी इस स्थितिको समझ लेता है, उसे 'ज्ञानी' कहते हैं। जो समझकर अपने अन्तर्यामीकी ओर आकृष्ट होता है, उसे 'भक्त' कहते हैं। वही अपना उपाय समझनेवाला 'शरणागत या प्रपन्न' कहलाता है। शरणागति ही प्रभुको समझनेके लिये, उसे प्राप्त करनेके लिये एकमात्र उपाय है। शरणागतिका यह तात्पर्य है कि शरणागतिको भी उपाय न समझकर केवल प्रभुके चरणारविन्दोंको प्रभुपदकमल-सेवाकी प्राप्तिका उपाय समझना। प्रभुचरणकैङ्कर्य ही प्राप्य

है। यहाँ किञ्चित् दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है, स्थानाभावसे अधिक विस्तार नहीं किया जा सका। अब हम उपनिषद् और श्रीरामानुज-वेदान्तदर्शनका सामञ्जस्य बतलानेवाले एक श्लोकको उद्धृत कर विराम लेते हैं—

नित्यं हेयगुणावधूननपरा नैर्गुण्यवादाः श्रुतौ
मुख्यार्थाः सगुणोक्तयः शुभगुणप्रख्यापनाद् ब्रह्मणः।
अद्वैतश्रुतयो विशिष्टविषया निष्कृष्टरूपाश्रया
भेदोक्तिस्तदिहाखिलश्रुतिहितं रामानुजीयं मतम्॥

श्रुतिमें जो निर्गुण स्वरूपके प्रतिपादक वचन हैं, उनका तात्पर्य परमात्मामें हेय (त्याज्य) गुणोंका नित्य निराकरणमात्र है। सगुण स्वरूपके प्रतिपादक वचन अपने मुख्य अर्थमें ही तात्पर्य रखते हैं; क्योंकि वे ब्रह्मके नित्य कल्याणमय गुणोंका ही बखान करनेवाले हैं। अद्वैत-श्रुतियाँ चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मसे सम्बन्ध रखती हैं अर्थात् चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है, यह बताती हैं। तथा भेद-प्रतिपादक श्रुति ब्रह्मके ही चित्-अचित् आदि स्वरूपोंका पृथक्-पृथक् निरूपणमात्र करनेवाली है। इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्यका मत सर्वश्रुति-सम्मत है।

उपनिषद् गुरु-वाक्य हैं

(लेखक—श्रीदशरथजी श्रोत्रिय एम्० ए०, साहित्याचार्य, विद्याभूषण)

१—हमारे यहाँ सम्पूर्ण वाङ्मयको साधारण रीतिसे तीन विभागोंमें बाँट दिया गया है। सम्पूर्ण वाङ्मय वाक्यमय है। अतः इन विभागोंको भी वाक्य कहा गया है। वे तीन विभाग ये हैं—प्रभु-वाक्य, मित्र-वाक्य, कान्ता-वाक्य।

२—वेदोंका तथा पाठकोंका सम्बन्ध प्रभु-भृत्यका सम्बन्ध है। जिस प्रकार भृत्यका कर्तव्य प्रभुके वाक्योंका शब्दशः-अक्षरशः पालन करना है। प्रभुके वाक्य उसके लिये आदेश-मात्र हैं। उसे उनमें हेर-फेर ननु-नच करनेका अधिकार नहीं। इसी तरह वेद-वाक्यों (मन्त्रों) में भी पाठकों या श्रोताओंको ननु-नच नहीं करना चाहिये। इसी कारण वेद-वाङ्मयको 'प्रभु-वाक्य' कहा गया है। वे 'स्वतःप्रमाण' हैं।

३—पुराणों तथा स्मृतियोंके साथ पाठकोंका मित्र-मित्रका सम्बन्ध है। जिस प्रकार मित्रके वाक्यों (उपदेशों, परामर्शों) की सर्वथा परीक्षा करना योग्य है तथा हित-वाक्योंका अनुगमन और अहित-वाक्योंकी उपेक्षा करना सर्वथा उचित है; उसी प्रकार पुराण-वाक्यों (इन्हींमें इतिहासोंका भी अन्तर्भाव है) एवं स्मृति-वाक्योंकी भी सुतर्कोंसे आलोचना करके उचितानुचित ग्राह्याग्राह्यका विवेक करना चाहिये। इस आलोचनाकी कसौटी वेद माने गये हैं। अतः पुराण-स्मृति-वाङ्मयको 'मित्र-वाक्य' कहा गया है। वे 'परतः प्रमाण' हैं।

४—वेद-स्मृति-पुराण-वाङ्मयके अतिरिक्त जो उपयोगी वाङ्मय (वाक्यसमूह) अवशिष्ट रह जाता है, उसको साहित्य कहा जाता है। साहित्यका तथा पाठकोंका परस्पर सम्बन्ध कान्ता-कान्त-सम्बन्ध रहता है। साहित्यकी निस्सृति हृदय-प्रधान बुद्धिसे होती है। अतः साहित्यानुशीलनके समय पाठककी बुद्धि कुण्ठित-सी हो जाती है। कान्ता (प्रिया-सुन्दरी) के मधुर, वक्र तथा हाव-विलसित वाक्योंसे जिस प्रकार प्रेमी तत्क्षण अभिभूत हो जाता है, उसी प्रकार साहित्यका भी पाठकोंपर वाञ्छनीय मनोमोहक प्रभाव अवश्यम्भावी है। इसी कारण साहित्य-वाङ्मयको 'कान्ता-वाक्य' कहा गया है। वहाँ प्रमाणाप्रमाणका प्रश्न ही नहीं उठता।

५—इन तीनों वाङ्मय-विभागोंको यथावत् समझते और अनुगमन करते हुए हम संसारमें सब प्रकारके अभ्युदयके भागी हो सकते हैं। अतः इन तीनों वाक्यों (विभागों) को अर्थात् सांसारिक सम्पूर्ण वाङ्मयको हम एक नाम 'अभ्युदय-वाक्य' भी दे सकते हैं। अभ्युदय-वाक्य (वाङ्मय) को ही शास्त्रोंमें 'अपरा विद्या' कहा गया है। इसकी उपयोगिता मायामय जगत्‌तक ही सीमित है। मायातीत लोकमें (उस स्थितिको सुबोधताकी दृष्टिसे ही हमने लोक कहा है) इसकी कोई उपयोगिता नहीं। इसीको लक्ष्य करके भगवान् श्रीकृष्ण अपने अनन्य भक्तको उपदेश करते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

(गीता २। ४५)

अर्थात् अर्जुन! संसारके हेतु उपयोगी सम्पूर्ण ज्ञान (यहाँतक कि वेद भी) मायाविषयक है। तुझे तो इससे परे मायातीत अवस्थामें पहुँचनेके लिये मायातीत ज्ञानका उपार्जन करना चाहिये।

६—मायातीत ज्ञानके स्रोत उपनिषद् हैं। उपनिषदोंको ही वेदान्त कहा गया है। वेदान्त-ज्ञानसे परे कोई ज्ञान नहीं तथा वेदान्त-वाङ्मयसे परे कोई वाङ्मय नहीं। तो फिर इस वाङ्मयका भी कुछ नाम होना चाहिये। इसको हम 'गुरु-वाक्य' कह सकते हैं। यह नाम सर्वथा उचित एवं युक्ति-

सङ्गत है। गुरुकी स्थिति प्रभुसे, मित्रसे सर्वथा भिन्न है। एक अर्थमें गुरु प्रभुसे भी बड़ा है। कबीरजी तो स्पष्ट कहते हैं—

गुरु साहब दोनों खड़े, काके लागूँ पाइ।
बलिहारी गुरुदेवकी, जिन साहब दियो दिखाइ॥

७–फिर तत्त्वातत्त्वदर्शी गुरुकी कृपासे ही तो हम तत्त्वको और अतत्त्वको देख सकेंगे—जान सकेंगे; अतः गुरुकी कक्षा इस संसारमें सबसे ऊँची है। गुरुसे ही हमें 'उपनयन' द्वारा माया-विषयक (संसारोपयोगी) ज्ञान प्राप्त होता है और गुरुसे ही हमें 'उपनिषद्' द्वारा मायातीत ज्ञान प्राप्त होता है। कहा भी है—'बिन गुरु होइ न ज्ञान।' उपनिषद् भी कहती है—'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादि। इसीको लक्ष्य करके भगवान् श्रीकृष्ण भी अर्जुनको लोक-शिक्षार्थ उपदेश करते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'अर्जुन! तू उस तत्त्वज्ञानको तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरुओंके समीप जाकर प्रणामपूर्वक युक्त प्रश्नद्वारा तथा उनकी सेवा करते हुए प्राप्त कर।' इस प्रकार वे अवश्य तुझे तत्त्व-ज्ञानका उपदेश करेंगे। वस्तुतः गुरु-कृपासे सब कुछ सुलभ है। प्रभु परमेश्वरकी कृपाका आधार भी गुरु-कृपा ही है। बिना गुरुकी कृपाके परम प्रभुकी कृपा नहीं होती, और बिना प्रभुकी कृपा तत्त्वज्ञान नहीं मिलता। उपनिषद्का स्पष्ट प्रवचन है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥

(कठ० १। २। २३)

अर्थात् यह परमात्मा जिसके ऊपर कृपा करता है, वही इसे प्राप्त कर पाता है। उसीके लिये यह अपने यथार्थस्वरूप-को प्रकाशित कर देता है।

८–इस प्रकार हमने देखा कि गुरुकी महिमा अनन्त है। उपनिषद्-वाङ्मय अनेक तत्त्वदर्शी गुरुओंके वाक्य ही तो हैं जो कि भिन्न-भिन्न कालोंमें भिन्न-भिन्न रीतियोंसे उसी एक तत्त्वज्ञानका उपदेश कर रहे हैं। हमें गुरूपदेशके समान श्रद्धापूर्वक औपनिषदिक वाक्योंका अनुशीलन करना चाहिये। इतस्ततः उठी हुई शङ्काओंके उत्तर भी श्रद्धापूर्वक उन्हींमें इतस्ततः खोजने चाहिये। अथवा किसी ज्ञानी गुरुसे उन शङ्काओंका निवारण करना चाहिये। यदि श्रद्धा है तो अवश्य ही शङ्काओंका समाधान होता जायगा—यह मेरा दृढ़ विश्वास है। भगवान् श्रीकृष्णजीके द्वारा कितना दृढ़ आश्वासन दिया गया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'ज्ञान-परायण, जितेन्द्रिय पुरुष, यदि श्रद्धावान् है, तो अवश्य तत्त्वज्ञानको प्राप्त करता है। ज्ञानको प्राप्त करके वह शीघ्र ही परम शान्तिको भी पाता है।'

९–सारांश यह कि उपनिषद्-वाङ्मयसे पाठकोंका सम्बन्ध गुरु-शिष्य-सम्बन्ध होना चाहिये। शङ्काएँ उठें, कोई चिन्ता नहीं! धैर्यपूर्वक श्रद्धा-समन्वित होकर उनका समाधान प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा रक्खे, समाधान अवश्य प्राप्त होगा—शीघ्र ही प्राप्त होगा। श्रद्धाकी महिमा अपार है। अतः उपनिषद् (वेदान्त) के वाक्य साक्षात् गुरुवाक्य हैं। इसी-को निःश्रेयस-वाक्य भी कह सकते हैं। यही परा विद्या है। यह आत्मानुभव प्रमाण है। इसको जानकर फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता। यही जानना परम-प्रयोजनरूप मोक्षका साधन है।

त्वमेव सर्वम्

(रचयिता—श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी, विशारद, काव्यतीर्थ, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

यात्री तुम्हीं भवसागर केवट पोत तुम्हीं पतवार तुम्हीं हो।
दर्शक दृश्य तुम्हीं नटनागर नायक नाटककार तुम्हीं हो॥
व्यष्टि समष्टि अहंकृति हो मन बुद्धि तुम्हीं हो, विचार तुम्हीं हो।
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तुरीय अकार उकार मकार तुम्हीं हो॥१॥
विष्णु पुकारते कोई तुम्हें शिव कोई हैं शक्ति महा बतलाते।
ईश्वर कोई परंरस कारण ब्रह्म हैं कोई तुम्हें ठहराते॥
शंकर एक ही राम कभी घनश्याम स्वरूप तुम्हीं बन जाते।
बुद्बुद वीचि प्रवाह यथा जल एक अनेक स्वरूपमें पाते॥२॥

गीतोपनिषद्

(लेखक—स्वामी श्रीराजेश्वरानन्दजी)

भगवान् श्रीकृष्णने भारतवर्षके कुरुक्षेत्र नामक रण-प्राङ्गणमें अर्जुनको अपनी भगवद्गीता सुनायी और यों अर्जुनको निमित्त बनाकर सारे संसारको वह दिव्य उपदेश प्रदान किया।

गीताका मूल स्रोत महाभारत नामक महाकाव्य है, जो एक प्रकारका विश्वकोश है ।

गीता महाभारतकी मुकुट-मणि है। गीता विश्वसंस्कृतिकी कुंजी है, और गीताके प्रकाशक स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं । यह समूची मानव-जातिका धर्मग्रन्थ है । यह एक उपनिषद् है; ज्ञानका उज्ज्वल प्रदीप है । यही ब्रह्मविद्या है, योगशास्त्र है एवं आध्यात्मिक जीवनका दिव्य संदेश है । यह श्रीकृष्ण और अर्जुन (नारायण और नर) का संवाद है । गीता मनुष्यको भगवान्का साक्षात्कार कराती है तथा जीवनमें सरसता एवं सरलता प्रवाहित करती है । अर्जुनके व्यष्टि चैतन्यका परिच्छिन्न भवन तोड़ देनेपर स्वयं श्रीकृष्ण ही सामने उपस्थित हो जाते हैं । समस्त जीवात्माओंके सामान्य केन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं । श्रीकृष्ण पृथिवीके लिये स्वर्गका द्वार खोल देते हैं और बिना जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, देश या स्त्री-पुरुषके भेदके जीवमात्रको अपने राज्यमें प्रवेश करनेकी अनुमति प्रदान करते हैं । गीताकी सर्वतोमुखी शिक्षा, जीवनके प्रत्येक क्षेत्रसे लोगोंको उन्नतिकी ओर ले जानेवाली ज्योति है । श्रीकृष्ण जगद्गुरु हैं । वे विश्वात्मा हैं, दिव्य प्रेरणा तथा आध्यात्मिक प्रकाशके केन्द्र हैं ।

यद्यपि गीता ऊपरसे जगत्कल्याणकी भावनाको लेकर लोकसंग्रहका निष्काम सेवाके सिद्धान्तके रूपमें उपदेश देती है, तथापि उसका हृद्गत ध्येय भगवत्प्राप्ति है । अतएव गीता मानवताको भगवत्तासे ऊपर स्थान नहीं देती, और न उसे भगवान्के स्थानपर ही बिठाती है । गीताकी दृष्टिमें मानव-सेवा माधव-सेवा नहीं है, वरं वह माधव-सेवामें ही मानव-सेवा मानती है । भगवत्प्राप्त पुरुष ही मनुष्योंकी यथार्थ सेवा कर सकता है । मन, वाणी और कर्मसे दिव्य तत्त्वका अनुभव एवं अभिव्यञ्जन ही जीवनका लक्ष्य है, वही जीवात्माका गन्तव्य स्थान है ।

कर्तव्यके लिये कर्तव्यका अनुष्ठान, केवल समाज-सेवा, लोकहितके कार्य, शाब्दिक सहानुभूति तथा इसी प्रकारके अन्य सिद्धान्त गीताकी सार्वभौम-शिक्षाको विकृत और सीमाबद्ध कर देते हैं । भगवत्-स्वरूपकी अभिव्यक्ति ही इसका मूल मन्त्र है, समाज-पूजा नहीं ।

व्यावहारिक दृष्टिसे जीवनको साधनके द्वारा सुव्यवस्थित बनाने और अपने स्वधर्मका ज्ञान प्राप्त करनेमें, अपने अधिक-से-अधिक अनुकूल पद्धतिके द्वारा अग्रसर होनेमें एवं अपने स्वधर्मका निर्णय करके उसका तदनुसार अनुष्ठान करनेमें गीताके उपदेशोंसे बड़ी सहायता मिलती है । अपने स्वरूपके अनुकूल होनेके कारण स्वधर्म स्वभावरूप होता है और अपने वास्तविक स्वरूपका अभिव्यञ्जक होनेके कारण वह सहज होता है । स्वधर्ममें सर्वश्रेष्ठ भगवत्ता है और उसीमें भगवदीय श्रेष्ठता रहती है । उसमें नित्य-पूर्णता विद्यमान रहती है । वह भगवान्की मुरलीके स्वर-में-स्वर मिलाकर जीवनके उद्देश्यको पूरा करता है और इस प्रकार मर्त्यलोकमें दिव्यताको उतार देता है । वह व्यक्तिके समग्र जीवनको भगवान्के एक दिव्य मधुर सङ्गीतमें परिणत कर देता है, क्योंकि वह विश्वात्मा सभी देशों और सभी जातियोंके मनुष्योंमें समान रूपसे व्याप्त है ।

गीता मनुष्यकी इन्द्रियोंको उसके अधीन करके उसे उनका स्वामी बनाती है । उसका यह स्वामित्व नष्ट न होने पाये, इसके लिये गीता चाहती है कि वह भगवान्के बनाये हुए नियमोंका दृढ़तासे निरन्तर पालन करे । इस प्रकार चलनेवाले मनुष्यमें एक उज्ज्वल सौम्यता एवं सौम्य कान्ति झलकती है । उसके कर्मोंमें योगियोंका-सा, उपासनामें देवताओंका-सा एवं ज्ञानमें ऋषियोंका-सा तेज तथा गौरव दिखायी पड़ता है । गीता बाह्य उपरामताको धार्मिकताके रूपमें नहीं सजाती । प्रकृतिमें अचलता नहीं है । मनुष्य अचानक अथवा एकाएक बादलोंसे नहीं टपक पड़ता । वह यन्त्र भी नहीं है । प्रत्येकका जन्म किसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये होता है, जिसके लिये उसे भगवदीय शक्तिका साहाय्य मिलता रहता है । जिन प्रश्नोंको हल करनेमें मानवीय बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, उनपर गीता प्रचुर प्रकाश डालती है । वह विश्वका नियमन करनेवाले आध्यात्मिक, नैतिक, मानसिक एवं भौतिक नियमोंका निर्देश करती है । गीता अपना निराला तेज एवं प्रभाव रखनेवाली जीवन-सुधा है ।

इस सार्वभौम शास्त्रके विचारपूर्ण अध्ययनसे अहिंसाका मूल तत्त्व प्रकट होता है । श्रीकृष्णने अर्जुनके अज्ञानजनित मोहका नाश करके उसके संकुचित स्वजन-अभिमानको दूर कर दिया । युद्धारम्भ-जैसे अवसरपर अपनेको भगवदीय न्यायकी प्रतिष्ठामें निमित्त न मानना ही उनका अज्ञान था । श्रीकृष्ण अर्जुनके भय, शोक, अमर्ष, द्वेष, कामना और राग आदि उन दोषोंको हर लेते हैं, जो हिंसाके दुष्ट सहचर हैं। बाहरसे देखनेमें हिंसाका स्थूल आवरण अक्षुण्ण बनाये रखकर भगवान्ने अर्जुनके आध्यात्मिक आधारको सर्वथा परिवर्तित कर उन्हें अहिंसाकी प्रतिमूर्ति बना दिया। इस प्रकार केवल भगवान्के आश्रित होकर, बिना किसी पुरस्कारकी आशाके तथा उनके प्रति आत्मसमर्पणकी भावनामें स्थिर हुआ अर्जुन कर्म करता हुआ भी नहीं करता, मारता हुआ भी नहीं मारता; क्योंकि गीतामें उसकी क्रियाएँ अब अहङ्कारके विषैले दंशसे मुक्त हो गयी हैं । अहिंसा और अमरता गीतामें साथ-साथ चलती हैं । कूटस्थ साक्षीके रूपमें रहना अर्थात् संसारमें रहता हुआ प्रतीत होनेपर भी उससे बिल्कुल निर्लिप्त रहना ही वह अमर जीवन है । इसी स्थितिमें अकर्ममें कर्म और कर्ममें अकर्मका विज्ञान प्रकट होता है ।

श्रीकृष्ण साक्षात् वह आत्मतत्त्व हैं, जो समस्त ज्ञानका केन्द्र एवं परिधि दोनों है। जगत्की लौकिकताके मोहक स्वरूपके परे दृष्टि डालना; अपने स्वरूपके, अपनी स्वाभाविक चरित्रगत विशेषताओंके, सहज प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें विचार करना; नैसर्गिक प्रेरणाओंका तथा एकता एवं सामञ्जस्य उत्पन्न करनेवाले रचनात्मक गुणोंका अध्ययन कर उनपर सार्वभौम दृष्टिसे विचार करना; विशाल मानवताके धरातलपर खड़े होकर सुख-दुःखका अनुभव करना और अपने अंदर भगवत्तत्त्वको अभिव्यक्त करना सीखो । यही मानव-जातिके प्रति श्रीकृष्णका सनातन सन्देश है । इस प्रकार गीता धर्म और अध्यात्मको हमारे दैनन्दिन जीवनसे वियुक्त नहीं करती।

संसारमें आज एक धार्मिक भूकम्प हो रहा है। भौतिकवादपर अवलम्बित वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे उत्पन्न हुई कृत्रिम जीवनचर्याका अनुगमन धर्मके उच्चतर आदर्शोंको पीछे ढकेल देना और सुखकी मृगतृष्णाके पीछे दौड़ना है । धर्म व्यापारकी वस्तु नहीं है । धर्म विनिमयका सिद्धान्त नहीं है, सट्टे-बजारमें होनेवाला मानवीय सौदा नहीं है । धर्म तो जीवनको दिव्य बनानेका एक शक्तिशाली साधन है । धर्म ही वह शक्ति है जो दिनके प्रकाशमें भी तनकर चलती है, जब कि अन्य समस्त विज्ञान रात्रिके अन्धकारमें भी आँखें बचाते हुए टेढ़े-मेढ़े मार्गोंसे छिपकर चलते हैं । धर्मकी अधिदेवता ही मनुष्यकी भगवत्ताका दावेके साथ प्रतिपादन करके मानव-जातिकी समस्याओंका निश्चयात्मक समाधान करती है । वही अलौकिक जगत्से परेका तत्त्व है और वही मनुष्यके भीतर रहनेवाली वस्तु है । धर्मका बाह्य रूप केवल छिलका और भूसी है । यथार्थ आध्यात्मिक जीवन सनातन तत्त्वमें स्थित और अनन्तमें प्रतिष्ठित है । वह सदा अमर और नित्य वर्तमान है। वह सर्वदा पूर्ण है, जब कि अनित्य एवं क्षणभङ्गुर प्रातिभासिक जीवनकी स्थिति इस परिवर्तनशील जगत्में है, वह प्रकृति एवं मनतक पङ्कमें डूबा हुआ है । अतएव यह जीवन प्रतिक्षण होनेवाली मृत्यु है । मृत्युमें ही जीना है । धर्म ही संतोंका संतपना है, ज्ञानियोंका ज्ञान है और बलवानोंका बल है । यही परात्पर शान्ति है; यही व्यक्तियों एवं राष्ट्रोंकी पीड़ा-यन्त्रणाकी महौषध है । यह संसारको, सारे राष्ट्रों एवं समस्त जातियोंको मनुष्योंके परस्पर भ्रातृत्व तथा भगवान्के पितृत्वसे भी आगे एकमात्र आत्मभावनाकी ओर ले जाता है । संक्षेपमें आजके विच्छिन्न एवं भ्रान्त जगत्के लिये यही एक ध्रुव आशा है । संसारके घावोंको केवल यही निश्चितरूपसे भर सकता है ।

कहा जाता है कि गायत्री-मन्त्रके प्रत्येक अक्षरके पीछे एक-एकके हिसाबसे श्रीकृष्णने चौबीस गीताएँ कही हैं; परंतु उनमेंसे केवल भगवद्गीता तथा उत्तरगीता ही संसारमें प्रसिद्ध हो पायीं। भगवद्गीताका संसारकी प्रायः सभी भाषाओंमें अनुवाद और व्याख्या हो चुकी है ।

गीताके आध्यात्मिक अर्थ बाह्याचरणोंके आडम्बरपूर्ण त्याग नहीं हैं । संसारका चरम तत्त्व मानव है । मनुष्यके चरम तत्त्व भगवान् हैं । और भगवान्का चरम तत्त्व है— 'मैं' एवं 'मेरा' के त्यागद्वारा, सदसद्विवेकके द्वारा तथा एक अद्वितीय निर्गुण सत्ताके अपरोक्षानुभवके द्वारा उनकी प्राप्ति। आत्मतत्त्व (ब्रह्मतत्त्व) का ज्ञान, जिसकी भूख मनुष्यको सदा बनी रहती है, उसके क्षुद्र अहङ्कारकी सीमामें नहीं ठहरता । अहङ्कारी जीव उसको ग्रहण ही नहीं कर सकता । वह अहङ्कारके परे है । सभी साधनों और फलोंके अन्तर्गत भी है तथा उन सबका चरम फल भी यही है । इसकी प्रतीति होती है एकत्वकी अनुभूतिमें, उस नैसर्गिक एवं विशुद्ध ज्ञानकी अवस्थामें, जो अन्तरतम एवं अपरोक्ष है, जहाँ जाननेका अर्थ है वही बन जाना और वही बन जाना ही जानना है ।

प्रतिदिन प्रातःकाल एवं सायंकाल गीताके एक या दो ही श्लोकोंके भावका मनन, चिन्तन एवं ध्यान मनुष्यके जीवनमें दिव्य सुधाधाराका सञ्चार करानेमें बहुत बड़ा निमित्त बन जाता है।

यदि इन पंक्तियोंको पढ़कर किसीके मनमें भगवान्‌के लिये तीव्र लालसा जाग उठे और वह सच्चाईके साथ विस्तार-पूर्वक भगवद्गीताके गम्भीर अध्ययनमें लग जाय तो इस क्षुद्र लेखकके उद्देश्यकी उचित रीतिसे पूर्ति हो जायगी।

भगवान् श्रीकृष्ण सबके सखा, तत्त्वोपदेशक और मार्ग-दर्शक बनें।

जीवात्मा और परमात्माकी एकता

(लेखक—पं० श्रीहरिकृष्णजी झा, व्याकरण-वेदान्ताचार्य, वेद-शास्त्री, साहित्यालङ्कार)

[तत्त्वमसि]

'उपनिषद्' शब्दका अर्थ है—उप समीपं निषीदति प्राप्नोति—इति उपनिषद् अर्थात् जिसके द्वारा परम समीप-भूत ब्रह्मका साक्षात्कार हो, वह हुआ उपनिषद्। 'तत्त्वमसि' इस उपनिषद्-महावाक्यमें 'तत्, त्वम्, असि' शब्दत्रयका सम्मिश्रण है। 'तत्' अर्थात् वह परवाचक शब्द है, 'त्वम्' (तू) यह स्वबोधार्थक है, 'असि' (हो)—यह शब्द 'तत्' और 'त्वम्' दोनोंकी एकताका प्रतिपादक है। जहत्-अजहत्-भागत्यागके भेदसे लक्षणा तीन प्रकारकी होती है। जिसमें कहे हुएको छोड़कर तथा उससे सम्बन्धित दूसरोंका ग्रहण किया जाय उसे जहल्लक्षणा कहते हैं। यथा 'गङ्गायां यज्ञदत्तस्तिष्ठति' यहाँपर गङ्गाको छोड़कर तत्रस्थ गृहका बोध होता है। जिसमें कहे हुए और उससे सम्बन्ध रखनेवालेका भी ग्रहण हो, उसे अजहल्लक्षणा कहते हैं। यथा—'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'—अर्थात् कौओंसे दहीकी रक्षा कीजिये। यहाँ काकातिरिक्त जीवमात्रका भी बोध होता है। भागत्यागलक्षणा उसे कहते हैं, जिसमें उपाधि छोड़कर सत्यांशका ग्रहण हो। यथा 'अयं मनुष्यः स एव'—यह मनुष्य वही है। इसमें मनुष्यमात्रका ग्रहण होता है। भूत और वर्तमानकालिक उपाधि त्याज्य हैं।

अब 'तत्', 'त्वम्' 'असि'में 'सोऽयं देवदत्तः'के समान भागत्यागलक्षणाकी ही प्राप्ति होती है, क्योंकि शुद्ध सत्त्वगुण, और मलिन सत्त्वगुण, इन्हीं उपाधियोंसे जीवात्मा और परमात्माके भेद कल्पित हैं। अर्थात् शुद्ध सत्त्वगुणमें पड़ा हुआ बिम्ब मायाको स्वाधीन करनेसे हिरण्यगर्भताको प्राप्त होकर जगत्‌का उपादान कारण है। इसी निमित्त-उपादानात्मकको 'तत् ब्रह्म' कहते हैं। फिर वही बिम्ब जो कि मलिन सत्त्वगुणमें पड़ता है, अविद्याके वशीभूत होकर विविध कामनाओं तथा कर्मोंसे दूषित होनेसे 'त्वम्' जीव शब्दसे व्यवहृत होता है। इन परस्परविरोधिनी शुद्ध सत्त्व और मलिन सत्त्वरूप उपाधियोंको छोड़ देनेसे 'त्वम्' (जीव) तथा तत् (ईश्वर) की एकता होती है। पुनः शुद्ध सत्त्वगुण उपाधिरहित ईश्वर और मलिन सत्त्वगुण उपाधिरहित जीवका अद्वितीय सच्चिदानन्द परब्रह्ममें ही समावेश होता है। इस प्रकार माया और अविद्या-रूपी उपाधिको त्याग करके ही अखण्ड सच्चिदानन्द 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्त-महावाक्यसे लक्षित होता है; इस प्रकार जीवात्मा और परमात्माकी एकता होती है।

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते॥

इस एकताकी प्रक्रिया यों है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः आत्मसाक्षात्कारः कर्तव्यः।

अर्थात् अध्यात्मनिष्ठ गुरुदेवके पास जाकर उक्त तत्त्वमस्यादि वाक्योंका अर्थाध्ययन कर चित्तमें स्थिर रखना 'श्रवण' शब्दसे कथित है। श्रुत पदार्थका सयुक्तिक पुनः-पुनः विचार करना 'मनन' है। मनन और श्रवणद्वारा निस्सन्देह हुई चित्तकी एकाकार वृत्तिको 'निदिध्यासन' कहते हैं—

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते॥

जब पवनरहित दीपकके तुल्य ध्येयमें ही चित्त हो, ध्याता और ध्यानका ज्ञान न रह जाय, उसे समाधि कहते हैं।

समाधिका दूसरा नाम

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते॥

समाधिका अन्य नाम धर्ममेघ भी है, क्योंकि इससे धर्म-

की सैकड़ों धाराएँ निकली हैं। समाधिसे सञ्चित कर्म नष्ट होते हैं तथा निर्मल धर्मकी वृद्धि होती है। प्रथम समाधिद्वारा परोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है, तदनन्तर अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है। सद्गुरुओंकी कृपासे महावाक्योंद्वारा प्राप्त परोक्ष ज्ञान अग्निसदृश सम्पूर्ण पातकोंको जलाकर भस्म करता है। अपरोक्ष ज्ञान तो इस संसारसे उत्पन्न अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाला सूर्य ही है। इस रीतिसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों-द्वारा जीवात्मैक्यकी अपूर्वानुभूति होती है।

पाश्चात्त्य पण्डितोंपर उपनिषद्का प्रभाव

(लेखक—श्रीरासमोहन चक्रवर्ती पी-एच्० बी०, पुराणरत्न, विद्याविनोद)

वैदिक साहित्यके साथ पाश्चात्त्य जातिका प्रथम परिचय होता है उपनिषदोंके द्वारा। सम्राट् शाहजहाँके ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अपनी धर्मसम्बन्धी उदारताके लिये भारतके इतिहासमें प्रसिद्ध हैं। उन्होंने हिंदू तथा मुसलमान-धर्मके समन्वयके लिये विशेष चेष्टा की थी और इसलिये उन्होंने फारसीमें 'मज़मा-उल-बहरैन'* नामक एक ग्रन्थका भी निर्माण किया था। सन् १६४० ईस्वीमें, जब दारा काश्मीर-में थे तब उन्हें सर्वप्रथम उपनिषदोंकी महिमाका पता लगा। उन्होंने काशीसे कुछ पण्डितोंको बुलाया और उनकी सहायतासे पचास उपनिषदोंका फारसीमें अनुवाद किया। १६५७ ईस्वीमें यह अनुवाद पूरा हुआ। इसके प्रायः तीन वर्षके बाद सन् १६५९ ईस्वीमें औरंगजेबके द्वारा दाराशिकोह मारे गये।

अकबरके राजत्वकालमें भी (१५५६—१५८५) कुछ उपनिषदोंका अनुवाद हुआ था; परंतु अकबर अथवा दारा-के द्वारा सम्पादित इन अनुवादोंके प्रति सन् १७७५ ईस्वीसे पहलेतक किसी भी पाश्चात्त्य विद्वान्की दृष्टि आकर्षित नहीं हुई। अयोध्याके नवाब सुजाउद्दौलाकी राजसभाके फरासी रेजिडेंट श्री एम० गेंटिल (M. Gentil) ने सन् १७७५में प्रसिद्ध यात्री और जिन्दावस्ताके आविष्कारक एंक्वेटिल डुपेर्रन (Anquetil Duperron) को दाराशिकोहके द्वारा सम्पादित उक्त फारसी अनुवादकी एक पाण्डुलिपि भेजी। एंक्वेटिल डुपेर्रनने कहींसे एक दूसरी पाण्डुलिपि प्राप्त की और दोनोंको मिलाकर फ्रेंच तथा लैटिन भाषामें उस फारसी अनुवादका पुनः अनुवाद किया। लैटिन अनुवाद सन् १८०१-२ में 'औपनेखत' (Oupnekhat). नाम-से प्रकाशित हुआ। फ्रेंच अनुवाद नहीं छपा।

उक्त लैटिन अनुवादके प्रकाशित होनेपर पाश्चात्त्य पण्डितोंकी दृष्टि इधर कुछ आकर्षित तो हुई, किंतु अनुवाद-का अनुवाद होनेके कारण वह इतना अस्पष्ट और दुर्बोध हो गया था कि उसका मर्म समझकर रसास्वादन करना सहज नहीं था। इसी समय सारस्वत क्षेत्रके अक्लान्तकर्मी एक सूक्ष्मदर्शी दार्शनिक 'औपनेखत'की आलोचनामें लगे और गम्भीर अध्यवसायके साथ दुर्बोध्य भाषाके कठिन पर्देको फाड़कर उन्होंने अन्तर्वाहिनी पीयूषधाराका आविष्कार किया। ये महाशय थे—जर्मनीके सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्रीअर्थर शोपेनहर (Aurther Schopenhauer)। (सन् १७८८—१८६०) शोपेनहरने बहुत कठिन परिश्रम करके उक्त अनुवादका अध्ययन किया और मुक्तकण्ठसे यह घोषणा की कि, 'मेरा अपना दार्शनिक मत उपनिषद्के मूल तत्त्वोंके द्वारा विशेषरूपसे प्रभावित है।' इस प्रसङ्गमें मनीषी शोपेन-हरने उपनिषद्के महत्त्व और प्रभावके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, वह विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है—

'मैं समझता हूँ कि उपनिषद्के द्वारा वैदिक साहित्यके साथ परिचय लाभ होना वर्तमान शताब्दी (१८१८) का सबसे अधिक परम लाभ है जो इसके पहले किन्हीं भी शताब्दियोंको नहीं मिला। मुझे आशा है, चौदहवीं शताब्दी-में ग्रीक-साहित्यके पुनरभ्युदयसे यूरोपीय साहित्यकी जो उन्नति हुई थी, संस्कृत-साहित्यका प्रभाव उसकी अपेक्षा कम फल उत्पन्न करनेवाला नहीं होगा। यदि पाठक प्राचीन भारतीय विद्यामें दीक्षित हो सकें और गम्भीर उदारताके साथ उसे ग्रहण कर सकें तो मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसे वे अच्छी तरह समझ सकेंगे। उपनिषद्में सर्वत्र कितनी सुन्दरता-के साथ वेदोंके भाव प्रकाशित हैं। जो कोई भी उक्त फारसी-लैटिन (Persian-Latin) अनुवादका ध्यान देकर अध्ययन करके उपनिषद्की अनुपम भावधारासे परिचित होगा, उसीकी आत्माके गम्भीरतम प्रदेशतकमें एक हलचल मच जायगी। एक-एक पंक्ति कितना दृढ़, सुनिर्दिष्ट और

* 'Majma-ul-Bahrain'—(एसियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ताके द्वारा प्रकाशित १९२९)

सुसमञ्जस अर्थ प्रकट कर रही है। प्रत्येक वाक्यसे कितना गभीर, मौलिक और गम्भीरतापूर्ण विचारसमूह प्रकट हो रहा है, सम्पूर्ण ग्रन्थ कैसे उच्च, पवित्र और ऐकान्तिक भावोंसे ओतप्रोत है। × × × सारे पृथ्वीमण्डलमें मूल उपनिषद्के समान इतना फलोत्पादक और उच्च भावोद्दीपक ग्रन्थ कहीं भी नहीं है। इसने मुझको जीवनमें शान्ति प्रदान की है और मरणमें भी यह शान्ति देगा[1]।'

जिस देशमें उपनिषद्के गम्भीर सत्यसमूहका प्रचार था, उस देशमें ईसाई-धर्मके प्रचारका प्रयत्न व्यर्थ होगा और निकट भविष्यमें यूरोपीय विचारधारा उक्त उपनिषद्के द्वारा पूर्णरूपसे प्रभावित हो जायगी—इस सम्बन्धमें शोपेनहरने कहा था—

'भारतमें हमारे धर्मकी जड़ कभी नहीं गड़ेगी। मानवजातिकी 'पुराणी प्रज्ञा' गैलिलिकी घटनाओंसे कभी निराकृत नहीं होगी। वरं भारतीय प्रज्ञाकी धारा यूरोपमें प्रवाहित होगी एवं हमारे ज्ञान और विचारमें आमूल परिवर्तन ला देगी[2]।'

उनकी यह भविष्य-वाणी सफल हुई। स्वामी विवेकानन्दकी अमेरिकन शिष्या 'सारा बुल' (Sarra Bull) ने अपने एक पत्रमें लिखा था कि 'जर्मनीका दार्शनिक सम्प्रदाय, इंग्लैंडके प्राच्य पण्डित और हमारे अपने देशके एमरसन आदि साक्षी दे रहे हैं कि पाश्चात्त्य विचार आजकल सचमुच ही वेदान्तके द्वारा अनुप्राणित हैं।'[3]

सन् १८४४ में बर्लिनमें श्री शेलिंग (Schelling) महोदयकी उपनिषत्संम्बन्धी व्याख्यान-मालाको सुनकर प्रसिद्ध पाश्चात्त्य पण्डित श्रीमैक्समूलर (Max Muller) का ध्यान सबसे पहले संस्कृत साहित्यकी ओर आकृष्ट हुआ। उपनिषदोंके सम्बन्धमें विचार आरम्भ करते ही उन्होंने अनुभव किया कि उपनिषदोंका यथार्थ मर्म समझनेके लिये पहले उनसे पूर्वरचित वेद-मन्त्र और ब्राह्मणभागपर विचार करना आवश्यक है। इस प्रकार उपनिषदोंसे उन्होंने वेद-चर्चाके लिये प्रेरणा प्राप्त की। शोपेनहरके बाद अनेकों पाश्चात्त्य विद्वानोंने उपनिषद्पर विचार करके विभिन्न प्रकारसे उसकी महिमा गायी है। किसी-किसीने तो उपनिषद्को 'मानव-चेतनाका सर्वोच्च फल' बतलाया है।[1]

उपनिषत्-प्रतिपादित वैदान्तिक धर्म ही देर-सबेर सम्पूर्ण पृथ्वीका धर्म होगा—बहुतसे मनीषियोंने ऐसी भविष्य-वाणी की है। शोपेनहरने 'उन्नीसवीं शताब्दी'के प्रथम भागमें लिखा है—"It is destined sooner or later to become the faith of the people." विश्वकवि रवीन्द्रनाथने कहा है—'चक्षुसम्पन्न व्यक्ति देखेंगे कि भारतका ब्रह्मज्ञान समस्त पृथिवीका धर्म बनने लगा है। प्रातःकालीन सूर्यकी अरुण किरणोंसे पूर्वदिशा आलोकित होने लगी है, परंतु जब वह सूर्य मध्याह्न-गगनमें प्रकाशित होगा, उस समय उसकी दीप्तिसे समग्र भूमण्डल दीप्तिमय हो उठेगा।'

स्वामी विवेकानन्दने वर्तमान भारतके जीवनमें उपनिषद्की कार्यकारिताकी मुक्तकण्ठसे घोषणा की है। गत सहस्रों वर्षोंसे हमारे जातीय जीवनमें जो दोष-दौर्बल्य आ गया है, जिसने हमको नितान्त निर्वीर्य बना डाला है, उसको हटानेमें एकमात्र उपनिषद्के महान् वीर्यप्रद सत्य ही समर्थ हैं। 'भारतीय जीवनमें वेदान्तकी कार्यकारिता' नामक व्याख्यानमें स्वामीजीने कहा है—

'बन्धुओ! स्वदेशवासियो! मैं जितना ही उपनिषदोंको पढ़ता हूँ, उतना ही तुमलोगोंके लिये आँसू बहाता हूँ। हमारे लिये यह आवश्यक हो गया है कि उपनिषदुक्त तेजस्विताको ही हम अपने जीवनमें विशेषरूपसे परिणत करें। शक्ति,—बस, शक्ति ही हमें चाहिये, हमें शक्तिकी विशेष आवश्यकता आ पड़ी है। हमें कौन शक्ति देगा ?। × × × उपनिषदें शक्तिकी महान् खानें हैं। उपनिषद् जिस शक्तिका सञ्चार करनेमें समर्थ है, वह ऐसी है कि सम्पूर्ण

1. From every sentence deep, original and sublime thoughts arise, and the whole is pervaded by a high and holy and earnest spirit......In the whole world there is no study, except that of the originals, so beneficial and so elevating as that of the Oupnekhat. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death.

2. In India our religion will now and never strike root. The primitive wisdom of the human race will never be pushed aside by the events of Galilee. On the contrary, Indian wisdom will flow back upon Europe, and produce a thorough change in our knowing and thinking.

3. The German schools, the English Orientalists and our own Emerson testify the fact that it is literally true that Vedantic thoughts pervade the Western thought of today.

1. 'Personally I regard the Upanisads as the highest product of the human mind, the crystallized wisdom of divinely illumined men.'

Dr. Annie Besant.

जगत्को पुनर्जीवन, शक्ति और शौर्य-वीर्य प्रदान करनेमें समर्थ है। जगत्की समस्त जातियों, समस्त मतों और सभी सम्प्रदायोंके दीन, दुर्बल, दुखी और पददलित प्राणियोंको पुकार-पुकारकर कह रही है कि 'सभी अपने पैरोंपर खड़े होकर मुक्त हो जाओ।' मुक्ति या स्वाधीनता—दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता और आध्यात्मिक स्वाधीनता—यही उपनिषद्का मूल मन्त्र है। जगत्भरमें यही एकमात्र शास्त्र है जो उद्धार (Salvation) की बात नहीं कहता, मुक्तिकी बात कहता है। यथार्थ बन्धनसे मुक्त होओ, दुर्बलतासे मुक्त होओ।'

उपनिषदोंमें वाक्का स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीरामसुरेशजी त्रिपाठी, एम्० ए०)

वाणी चेतनाकी अमर देन है। वाणीके बिना जगत् सूना है, जीवन पङ्गु है। संसारके प्रायः सारे व्यवहार वाणी-व्यापार-पर ही निर्भर हैं। सभ्यता और संस्कृति इसकी गोदमें फूलती-फलती हैं। वाणी केवल विचारोंके विनिमयका ही माध्यम नहीं, अपितु विश्वमें जो कुछ सत्य है, शिव है, सुन्दर है, उन सबका भी व्यञ्जक है। इस वाणीकी दूसरी प्राचीन संज्ञा वाक् है। वाक्के विषयमें उपनिषदोंमें मधुर उद्गार तथा युक्तिपूर्ण विचार भरे पड़े हैं; साथ ही इसके भौतिक, दैविक तथा आध्यात्मिक रूपकी रेखा भी खींची गयी है, जिसे देख आजका भाषा-विज्ञानका विद्यार्थी भी एक बार चकित रह जाता है।

उपनिषत्-कालीन वाक्के स्वरूपकी पीठिका वेदोंमें ही तैयार हो गयी थी और उसी समय इसे रहस्यकी कोटिमें डाल दिया गया था। जलमें, थलमें, ओषधियोंमें—सबमें दैवी सत्ताको परखनेवाले वैदिक ऋषि वाक्को अनुकरणमूलक (Onomatopoeic) या मनोराग-व्यञ्जक (Interjectional) कैसे मान सकते थे। ऋग्वेदके अनुसार वाक्को देवोंने पैदा किया—

'देवीं वाचमजनयन्त देवाः।'

(ऋक्संहिता, निरुक्त ११। २९ में उद्धृत)

इस वाक्के चार विभाग हैं—

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि।'

(ऋक्संहिता १। १६४। ४५)

महाभाष्यकार पतञ्जलिने इन चारसे नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातका ग्रहण किया है। वाक्के परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूपका संकेत भी इसी मन्त्रमें माना जाता है। ब्राह्मणग्रन्थोंमें चार प्रकारके विभागको दूसरे रूपोंमें भी व्यक्त किया है (देखिये निरुक्त १३। ९)। ऋग्वेदके दसवें मण्डलके १२५वें सूक्तकी द्रष्टा 'वाक्' नामकी एक विदुषी है। वह अम्भृण महर्षिकी पुत्री थी। उसने स्वयं अपनी (वाक्की) स्तुति परमात्माके रूपमें की है। इस सूक्तमें वाक्के अलौकिक रूपकी झलक है। पर साथ ही वैदिक ऋषियोंने वाक्के लौकिक रूपकी भी उपेक्षा नहीं की है। वाक्में निष्णात व्यक्तियोंकी प्रचुर महिमा गायी गयी है। 'वाक्को कोई देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता। पर कुछ लोग वाक्को निकटसे जानते हैं और उनके सामने वाक् अपना रहस्य वैसे ही खोल देती है जैसे कोई सुसज्जित, उत्कण्ठित पत्नी अपने-आपको अपने पतिके सामने डाल देती है।' (ऋक्संहिता १०। ६१। ४) विशुद्ध वाक्के व्यवहार करनेवालोंके बारेमें निम्नलिखित मन्त्र प्रसिद्ध है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥

(ऋक्संहिता १०। ६१। २)

'जिस तरह चलनीसे सत्तूको शुद्ध करते हैं, उसी तरह जो विद्वान् ज्ञानसे वाणीको शुद्ध कर उसका प्रयोग करते हैं, वे लोकमें मित्र होते हैं, मित्रताका सुख पाते हैं, उनकी वाणीमें कल्याणमयी रमणीयता रहती है।' (इस मन्त्रके तृतीय पादकी व्याख्या पतञ्जलि, दुर्गाचार्य, सायण और नागेशने भिन्न-भिन्न रूपसे की है, जिसे उनके ग्रन्थोंमें देखना चाहिये।)

वेदोंमें वाक्के जो स्वरूप मिलते हैं, वे उपनिषदोंमें विकसित रूपमें देख पड़ते हैं। वैदिक कवियोंके हृदयमें जो भावना उठी, वह शब्दोंके रूपमें बाहर आ गयी। वहाँ बनावट नहीं, अतः किसी वस्तुके परीक्षणकी इच्छाका भी अभाव है। उनकी अधिकांश समस्याएँ द्वन्द्वमय जीवनके बाह्यरूपसे सम्बन्ध रखती हैं, जीवनसे परेकी केवल उनमें जिज्ञासा है। सत्यकी

और उनकी पहुँच बहुत कुछ प्रातिभज्ञानके द्वारा है। उपनिषद्के ऋषियोंके सामने बाह्य-जीवनकी समस्याएँ नहीं थीं। उनका मुख्य उद्देश्य सत्यकी खोज था। अतः उनकी विचारपरम्परामें तारतम्यका सौष्ठव है। उनकी रहस्यानुभूति-तकमें तर्ककी छाया देख पड़ती है। उन्होंने जीवनको गति देनेवाले अन्न, प्राण, मन आदि जो कुछ हैं, उन सबके याथार्थ्यकी बारी-बारीसे समीक्षा की है। उपनिषदोंमें वाक्के स्वरूपका निर्देश भी इसी समीक्षाका फल है। मोटेरूपमें उपनिषत्-कालीन वाक् शब्दकी व्युत्पत्ति वही है, जो वेदोंमें देख पड़ती है अर्थात् वाक् वह है, जो बोली जाय (वाक् कस्माद्, वचेः—निरुक्त २।२२।२)। जिस-किसी भी शब्द-को वाक् कहते हैं (यः कश्च शब्दः वागेव सा—बृहदारण्यक उपनिषद् १।५।३) (तैत्तिरीय उपनिषद् १।३।५) के 'वाक् सन्धिः, जिह्वा सन्धानम्' यह वाक्य वाक् और जिह्वा-के सम्बन्धका स्पष्ट संकेत कर रहा है। उपनिषद्के ऋषियों-ने इस जिह्वा-व्यापारके पीछे छिपी हुई प्राणशक्ति और मानसिक शक्तिका भी सङ्केत किया है, जिनका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन बादके उपनिषदों और तान्त्रिक ग्रन्थोंमें बीज, बिन्दु, नाद, आदिके रूपमें और व्याकरण-दर्शनमें स्फोटके रूपमें किया गया है।

यह वाक् लोक-यात्रामें अद्वितीय सहायक है। जनकने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्रमाकी चाँदनी भी नहीं रहती, जब आग भी बुझी रहती है, उस समय मानवको प्रकाश देनेवाली कौन-सी वस्तु है?' उत्तर मिला 'वह वाक् है। वाक् ही पुरुषका प्रकाशक है' (बृहदा-रण्यक उपनिषद् ४।३।५)। 'यदि वाक्की सृष्टि न होती तो धर्म-अधर्मका ज्ञान न होता, साँच-झूठका पता न चलता; कौन साधु है और कौन असाधु है, कौन सहृदय है और कौन अनुभूति-शून्य है—इसकी जानकारी न होती। वाक् ही इन सबको सूचित करती है। वाक्की उपासना करो' (छान्दोग्य उपनिषद् ७।२)। 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदका ज्ञान वाक्से ही होता है। इतिहास, पुराण और अनेक विद्याएँ वाक्से ही जानी जाती हैं। उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान वाक्के ही विषय हैं। जो कुछ हवन किया गया, खाया गया, पीया गया—ये सभी वाक्से ही ज्ञात होते हैं। इस लोकका, परलोकका, सम्पूर्ण भूतोंका ज्ञान वाक्से ही होता है।' (बृहदारण्यक उपनिषद् ४।१।२)। ज्ञानका एकमात्र अधिष्ठान वाक् है (सर्वेषां वेदानां वागेवायतनम्—बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।११)।

उपनिषदोंमें वाक् और विचारके परस्पर सम्बन्धकी भी व्यञ्जना है। बिना भाषाके विचार सम्भव है कि नहीं, यह एक विवादात्मक प्रश्न है। भाषाविज्ञानके भाषाकी उत्पत्ति-विषयक कुछ मत भाषा और विचारके परस्पर सम्बन्धपर ही आश्रित हैं। हेस (Heyse) और मैक्समूलर (Max Muller) इसी मतके समर्थक हैं। प्राचीन आचार्योंमें भर्तृहरिका भी यही मत है। 'संसारमें ऐसा कोई ज्ञान (प्रत्यय) नहीं जो शब्दके बिना जाना जा सके' (वाक्यपदीय १।१२४)। पतञ्जलिके 'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे' और कालिदासके 'वागर्थाविव संपृक्तौ' में भी वाक् और विचारके नित्य सम्बन्धकी अभिव्यक्ति है। उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर यदि उपनिषदोंमें ढूँढ़ा जाय तो समाधानके दो पहलू दिखायी देंगे। पहला यह कि विचार अथवा ज्ञान वाक्की सहायताके बिना भी सम्भव है। ज्ञान इस कोटिका भी हो सकता है जो वाक्से परे हो। जब उपनिषद्के ऋषि यह उद्घोषित करते हैं कि **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'** मैं उस परम पुरुषको जानता हूँ और दूसरे क्षण यह कहते हैं कि **'नैव वाचा न मनसा'** (कठोपनिषद् ६।१३) वह न तो वाणीसे न मनसे जाना जा सकता है तो इससे स्पष्ट है कि ज्ञानकी गहराईतक वाणी-की पहुँच नहीं। यह भी कहा गया है—

वाग्वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः। परिमिततरेव वाक्। (शतपथब्राह्मण १।३।६)

अर्थात् वाक् विचारसे हलकी है। विचार असीम-सा है, जब कि वाक् सीमित-सी है। समाधानका दूसरा पहलू यह है कि वाक् और विचारका घना सम्बन्ध है। सृष्टिक्रममें मन और वाक्के, विचार और वाणीके परस्पर संक्रमणका उल्लेख उपनिषदोंमें मिलता है (स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्—बृहदारण्यक उपनिषद् १।२।४)। एक स्थानपर कहा गया है कि वाक् धेनु है, प्राण इसका ऋषभ (साँड़) है और मन (विचार) इसका वत्स है (बृहदा-रण्यक उपनिषद् ५।८।१)। वाक् और विचारके परस्पर सहयोगकी अनिवार्यता देखकर ही कहा गया था—

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।
(ऐतरेय उपनिषद्, अन्तिम अंश)

अस्तु, उपनिषद् वाक् और विचारके सम्बन्धको, उनके असम्बन्धको और वाक्के मूलमें स्थित मानसिक क्रियाको अच्छी तरह प्रकट करते हैं।

उपनिषदोंमें वाक्‌के कलापक्षकी भी अभिव्यञ्जना है। वाक् स्वयं एक प्रकारकी अभिव्यक्ति है। प्रभावान्वित अभिव्यक्तिका नाम कला है। अतः जब वाक्‌की अभिव्यक्ति संवेदनशील हो उठती है, जब वाक् आह्लादकता, माधुर्यभाव या सत्त्वोद्रेकको जगानेमें समर्थ होती है, उसका कलात्मक रूप निखर उठता है, जिसके भीतर रस और बाहर सौन्दर्य लहराता रहता है। वाक्‌की सौन्दर्य-मीमांसामें कहा गया—

वाच ऋग्‌रसः, ऋचः साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः।
(छान्दोग्य उपनिषद् १। १। २)

वाक्‌का रस (सौन्दर्य) ऋक् (कविता) है। ऋक्‌का रस साम (लय-नाद-सौन्दर्य या समरसता) है। सामका रस उद्गीथ है। (उद्गीथ सामवेदका द्वितीय भाग, छान्दोग्य उपनिषद्‌में उद्गीथसे प्रणवका ग्रहण किया गया है।)

भाव यह है कि वाक्‌का सौन्दर्य छन्दका परिधान पाकर चमक उठता है। तब वाक् ऋक्, छन्द, श्लोक अथवा कविताके नामसे पुकारी जाती है। कविता वाक्‌का निष्पन्द है। गीतोंमें एक समरसता (एक संतुलन) देख पड़ती है, जिससे उनका सौन्दर्य कविताके क्षेत्रमें बढ़ जाता है। सामगानमें केवल स्वरोंका ही सामञ्जस्य नहीं लाना पड़ता, अपितु बाहरके नाद-सौन्दर्यका भीतरकी प्राण-शक्तिके साथ ऐक्य स्थापित करना पड़ता है। कविताके बाह्य और आभ्यन्तरिक गुणोंका गीतोंमें स्वभावतः समन्वय हो जाया करता है। गीत कविताके शृङ्गार हैं। उद्गीथ गीतोंका परिपाक है। यह गीत (साम) के आह्लादक स्वरूपका द्योतक है। आह्लादकतामें माधुर्य और माधुर्यमें रस है। रसका ही नाम आनन्द है। अतः वाक्‌के कला-पक्षकी विश्रान्ति आनन्दमें ही होती है।

उपर्युक्त बातें वाक्‌के भौतिक स्वरूपको सामने रखकर कही गयी हैं। उपनिषदोंमें वाक्‌की अधिदैवत व्याख्या भी मिलती है। 'वाक् ही यज्ञका होता है, वही अग्नि है, वही मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है' (बृहदारण्यक ३। १। ३)। 'वह दैवी वाक् है, जिससे जो कहा जाय, हो जाता है' (बृहदारण्यक उपनिषद् १। ५। १८)। 'वाक् ब्रह्मका चतुर्थ पाद है' (छान्दोग्य-उपनिषद् ३। १८)।

इससे कुछ और गहराईमें उतरकर उपनिषद्‌के ऋषियोंने वाक्‌के उस स्वरूपके भी दर्शन किये हैं, जिसे हम रहस्यात्मक कह सकते हैं। यहाँ वाक् न तो एक साधारण बोलचालकी वस्तु है और न ज्ञानका असाधारण साधन है। वह साधारण-असाधारण दोनोंसे परे है। वह सूक्ष्म है। नित्य है। अनन्त है। सम्पूर्ण विश्वका विकास वाक्‌से हुआ है। बृहदारण्यक-उपनिषद्‌में उल्लेख है कि वाक्‌के द्वारा सृष्टि की गयी।

स तया वाचा तेनात्मना इदं सर्वमसृजत्।

वाक्‌से सृष्टि हुई इसकी पोषक श्रुति भी है—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे। आचार्य शङ्कर-जैसे दार्शनिक भी इस मतका अनुमोदन करते हैं। 'हम सभी इस बातको जानते हैं कि मनुष्य जो कुछ करता है, उसके वाचक शब्द उसके मनमें पहले आते हैं, बादमें वह उस कामको करता है। इसी तरह सृष्टि रचनेके पूर्व प्रजापतिके मनमें भी वैदिक शब्दोंका आभास हुआ, पीछे उन शब्दोंके अनुरूप वस्तुओंकी उन्होंने रचना की'—(वेदान्तसूत्र १। ३। २८ पर शाङ्करभाष्य)। वाक्‌के रहस्यात्मक स्वरूपका निर्देशक प्रणव है। प्रणव वाक्‌का मूल तत्त्व है। वाक्‌का सम्पूर्ण वैभव प्रणवका विलास है। जो उद्गीथ है, वही प्रणव है। जो प्रणव है, वही ओम् है। 'यह ओ३म् अक्षर है। यह सब कुछ—भूत, भविष्य और वर्तमान—ओंकार ही है और जो इन तीन कालोंसे परे है वह भी ओम् ही है (माण्डूक्य-उपनिषद् १। १)। इतनी दूर आ जानेपर उपनिषद्‌के ऋषियोंको यह कहनेमें कोई उलझन न रही कि 'वाक् ही परम ब्रह्म है' ('वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म' बृहदारण्यक उपनिषद् ४। १। २)।

वाक्‌का यह रहस्यात्मक रूप अवश्य ही दैनिक व्यवहारके वाक्‌से दूरका जान पड़ेगा। परंतु विचार करनेपर ऐसा लगता है कि वाक्‌को जो यह उच्चतम आसन दिया गया है, वह साधार है। इस गतिशील संसारमें किसी भी पदार्थका सत्य जगत्‌के किसी दूसरे पदार्थद्वारा ठीक-ठीक जाना नहीं जा सकता, क्योंकि वह मापक पदार्थ स्वयं गतिशील है। अन्तमें हमें वहाँतक जाना पड़ेगा, जहाँसे सभी गतिशील पदार्थोंको—जगत्‌को गति मिलती है। वह, जहाँसे सभी गति पाते हैं, अवश्य ही जगत्‌से तटस्थ होगा, साथ ही स्थिर भी होगा। पर गति देनेके कारण जगत्‌से उसका एक सम्बन्ध हो जाता है। और इस सम्बन्धके सहारे प्रत्येक गतिशील पदार्थ उस स्थिर विन्दुसे अपना नाता जोड़ सकता है। जगत्‌से तटस्थ होनेका अभिप्राय यह नहीं कि जगत्‌की कोई सीमा है और स्थिर-विन्दु उससे कहीं परे है। गतिशीलता ही जगत् है और उसमें जो तटस्थ है, वही स्थिर-विन्दु है। दूसरे शब्दोंमें प्रत्येक परिवर्तनशील पदार्थमें कुछ ऐसा है जो अपरिवर्तनशील है। यही अपरिवर्तनशीलता उसका स्थिर-विन्दु है। चाहे कोई इसे शक्ति, एनर्जी, चिति या ब्रह्म कहे, इससे उसके रूपमें कोई अन्तर नहीं आता। पर बात यहीं

समाप्त नहीं होती। हम यह भी देख सकते हैं कि उस परिवर्तनशील वस्तु और उस स्थिर-विन्दुमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। केवल इतना ही है कि एक अपने शुद्ध रूपमें है और दूसरा विकृत रूपमें। यदि उसकी विकृतिको परिशुद्ध कर दिया जाय तो केवल एक ही शुद्ध रूप रह जाता है। अभी कलतक इस चिर-प्रतिपादित सिद्धान्तको केवल दार्शनिकोंकी कल्पना समझा जाता था। परंतु आजका भौतिक-विज्ञान यह सिद्ध कर रहा है कि भौतिक पदार्थ (मैटर) को शक्ति (फोर्स) के रूपमें परिणत किया जा सकता है। 'अणु बम' इस परिवर्तनका प्रत्यक्ष प्रमाण है। साथ ही यह भी ध्यान देनेकी बात है कि वह स्थिर-विन्दु या यों कहिये कि वह शक्ति जो प्रत्येक पदार्थमें अपरिवर्तनीय और अविनाशी है, दो नहीं हो सकती। दो पदार्थोंकी शक्तियोंमें मात्राका (डिग्रीका) अन्तर हो सकता है, पर स्वभावका (नेचरका) भेद नहीं हो सकता। अस्तु, 'यह सब ब्रह्म है' के पीछे एक दृढ़ सिद्धान्त है और इसी दृष्टिसे वाक् भी ब्रह्म है। वाक् सूक्ष्म ब्रह्मसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु हो ही नहीं सकता। स्थूल जगत् ब्रह्मका विवर्त है। स्थूल-जगत् वाक्का विकार है; क्योंकि रूप और नाम एकहींके दो पहलू हैं। उनमें कोई भेद नहीं। अतः वाक् और ब्रह्ममें भी कोई भेद नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदोंमें जहाँ जीव और जगत्-सम्बन्धी अनेक गूढ़ तथ्योंका विवेचन है, वहाँ वाक्पर भी प्रकाश डाला ही गया है। अवश्य ही विचार-शैली भिन्न होनेके कारण और वाक्का मुख्य विषय न होनेके कारण किसी एक स्थानपर वाक्पर क्रम-बद्ध गवेषणा नहीं मिलती। फिर भी जहाँ-तहाँ जो विचार बिखरे पड़े हैं, उन्हींके सहारे हम देख रहे हैं कि उपनिषदोंमें वाक्के प्रायः प्रत्येक अङ्गपर दृष्टि डाली गयी है। लोक-जीवनमें वाक्का जितना महत्त्व उपनिषद्के ऋषियोंने दिखाया है, उससे अधिक कोई क्या कह सकता है! उनके लिये वाक् केवल जिह्वा-व्यापार न होकर अन्तरात्माकी पुकार है। वह दैवी है। आजका भौतिक-विज्ञान ध्वनि (साउंड) के अनेकानेक व्यापक रहस्योंका उद्‌घाटन-कर हमारे जीवनमें प्रतिदिन नया रूप-रङ्ग डाल रहा है। भाषाविज्ञान वाक्के नित्य-नवीन विश्लेषणमें निरत है। पर उपनिषदोंमें जो वाक्का स्वरूप है, उसकी महत्ता ज्यों-की-त्यों है। वाक्की उपासना होती आ रही है और होती रहेगी।

'विन्देय देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्'। (भवभूति)

हम आत्माकी कलास्वरूप शाश्वत दैवी वाक्को पावें।

वैष्णव-उपनिषद्

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

भारतीय धर्म तथा दर्शनके विकासका अनुशीलन हमें इसी सिद्धान्तपर पहुँचाता है कि उनके बीज उपनिषदोंमें संकेतरूपसे निहित हैं। वैष्णव-धर्मके मूलरूपके अध्ययनकी सामग्री इन उपादेय उपनिषदोंमें ही बिखरी हुई है, परंतु कतिपय उपनिषद् तो सर्वथा विष्णु तथा उनके विभिन्न अवतारोंके रहस्योंके प्रतिपादनमें ही व्यस्त दीख पड़ते हैं। इन्हीं उपनिषदोंका संक्षिप्त परिचय कराना इस छोटे लेखका उद्देश्य है।

वैष्णव-उपनिषद् संख्यामें चौदह हैं और इन सबका एक सम्पुटमें प्रकाशन थियासोफिकल सोसाइटीने अड्यार (मद्रास) से किया है। अक्षर-क्रमसे इनका सामान्य निर्देश इस प्रकार है—

१. अव्यक्तोपनिषद्—इस उपनिषद्‌में सात खण्ड हैं। विषय है अव्यक्त पुरुषको व्यक्तरूपकी प्राप्ति। इसमें 'आनुष्टुभी-विद्या' के स्वरूप तथा फलका पर्याप्त निर्णय किया गया है। इसीके बलपर परमेष्ठीको नृसिंहका दर्शन होता है और वे जगत्की सृष्टिमें समर्थ तथा सफल होते हैं।

२. कलिसन्तरणोपनिषद्—इस उपनिषद्‌में नारदजी-के प्रार्थना करनेपर हिरण्यगर्भने कलिके प्रपञ्चोंको पार करनेवाला उपाय बतलाया है। यह उपाय है भगवान्का षोडश नामवाला मन्त्र—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस मन्त्रका एक रहस्य है। जीव षोडश कलाओंसे आवृत रहता है। इसीलिये उसकी प्रत्येक कलाको दूर करनेके लिये सोलह नामवाला मन्त्र अतीव समर्थ बतलाया गया है।

इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्।
नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते॥
इति षोडशकलावृतस्य जीवस्यावरणविनाशनम्।
ततः प्रकाशते परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमण्डलीवेति॥

३. कृष्णोपनिषद्—यह उपनिषद् बहुत ही छोटा है। इसमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताका परम प्रामाणिक वर्णन किया गया है। भगवान् श्रीकृष्णने भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेके

लिये ही समग्र वैकुण्ठको ही अपने साथ इस भूतलपर अवतीर्ण किया था; इसका रोचक वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। श्रीकृष्णके जीवनके आध्यात्मिक रूप जाननेके लिये इस उपनिषद्की महती उपयोगिता है। श्रीकृष्ण तो स्वयं शाश्वत ब्रह्म ही हैं और उनकी सेविका गोपिकाएँ तथा सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ उपनिषद्की ऋचाएँ ही हैं—

अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा।
ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः॥

४. गरुडोपनिषद्—इस स्वल्पकाय उपनिषद्में गारुडी विद्याके रहस्यका उद्घाटन है। गरुडके स्वरूपका आध्यात्मिक रीतिसे विवेचन इस ग्रन्थकी विशिष्टता है।

५. गोपालतापिनी-उपनिषद्—इस ग्रन्थके दो भाग हैं—(क) पूर्व, (ख) उत्तर। पूर्वतापिनीके छः अध्याय हैं जिनमें गोपाल कृष्णके अष्टादश अक्षरवाले मन्त्रके रूप, फल तथा जपविधानका पूर्णतया विस्तृत वर्णन है। उत्तर-तापिनीमें अनेक आध्यात्मिक रहस्योंका वर्णन है। मथुराके आध्यात्मिक रूपका निर्णय बड़ा ही मार्मिक है। इस उपनिषद्में गोविन्दकी बड़ी ही सुन्दर स्तुति उपलब्ध होती है—

नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे।
कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः॥
श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो॥

६. तारसारोपनिषद्—इसमें तारक मन्त्रके स्वरूपका निर्णय किया गया है। भगवान् नारायणके अष्टाक्षर मन्त्रका विस्तारके साथ उपदेश-कथन है।

७. त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्—यह उपनिषद् वैष्णव उपनिषदोंमें सबसे बड़ा है। महत्त्व तथा विस्तार दोनोंकी दृष्टिमें इस उपनिषद्को गौरव प्राप्त है। इसमें आठ अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें परमेष्ठीने भगवान् नारायणसे ब्रह्मस्वरूपकी जिज्ञासा की और इसी जिज्ञासाकी पूर्तिके लिये इस उपनिषद्का उपदेश है। ब्रह्मके चार पाद बतलाये गये हैं—(क) अविद्यापाद, (ख) विद्यापाद, (ग) आनन्दपाद और (घ) तुर्यपाद। प्रथम पादमें अविद्याका संसर्ग रहता है। अन्तिम पाद इससे नितान्त विशुद्ध रहते हैं। विद्यापाद तथा आनन्दपादमें अमित तेजः-प्रवाहके रूपमें नित्य वैकुण्ठ विराजता है और यहीं तुरीय ब्रह्म अपने समग्र तेज तथा वैभवके साथ स्थित रहते हैं। अन्य अध्यायोंमें साकार तथा निराकार शब्दोंकी व्याख्या है। ब्रह्म स्वतः अपरिच्छिन्न है। अतः वह साकार होते हुए भी निराकार रहता है और इन दोनोंसे भी परे वर्तमान रहता है। महामायाका ही यह जगत् विलास है और अन्तमें यह जगत् महाविष्णुमें लीन हो जाता है। पञ्चम अध्यायमें मोक्षके उपायका कथन है। मुक्ति तत्त्वज्ञानके लाभसे ही होती है और उस ज्ञानका परिपाक भक्ति तथा वैराग्यके कारण सम्पन्न होता है। षष्ठ अध्यायमें ब्रह्माण्डके स्वरूपका परिचय कराया गया है तथा विष्णुके विभिन्न रूपोंकी उपासनासे भिन्न-भिन्न लोकोंकी प्राप्तिका निर्देश किया गया है। सप्तम अध्यायमें नारायणके यन्त्रका वर्णन है। अन्तिम अध्यायमें आदि नारायण ही गुरुरूपसे निर्दिष्ट किये गये हैं जिनकी एकमात्र निष्ठा करनेसे ही प्रपञ्चका उपशम होता है। इस उपनिषद्के मूल सिद्धान्त पुरुषसूक्तमें उल्लिखित हैं। रामानुजदर्शन तथा अन्य वैष्णवदर्शनोंपर इस उपनिषद्का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। रामानुजके अनुसार अचित् तत्त्वके तीन प्रकारोंमें प्रथम भेद है—शुद्धसत्त्व और यही शुद्धसत्त्व त्रिपाद्विभूति, परमपद, परमव्योम, अयोध्या आदि शब्दोंके द्वारा व्यवहृत होता है। (द्रष्टव्य मेरा भारतीय दर्शन पृ० ४७२–४७३)

८. दत्तात्रेयोपनिषद्—इसमें दत्तात्रेयकी उपासनाका वर्णन है तथा तत्सम्बद्ध नाना मन्त्रोंके वर्णन तथा विधान-का कथन है। दत्तात्रेयके मन्त्रके बीजकी भी विशिष्ट व्याख्या है। उपनिषद् छोटा ही है।

९. नारायणोपनिषद्—यह उपनिषद् परिमाणमें बहुत छोटा है। इसमें चार खण्ड हैं जिनमें नारायणके अष्टाक्षर मन्त्रका उद्धार तथा माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है।

१०. नृसिंहतापिनी-उपनिषद्—इस उपनिषद्के दो खण्ड हैं—पूर्व और उत्तर। इसमें नृसिंहके रूप तथा मन्त्रका विस्तृत वर्णन है। नृसिंहकी तान्त्रिकी पूजाका रहस्य इसमें विस्तारसे उद्घाटित किया है। इस प्रकार तान्त्रिक उपनिषदोंमें यह उपनिषद् महत्त्वपूर्ण तथा महनीय है। इसके ऊपर शङ्कराचार्यकी भी टीका मिलती है, जिसे अनेक आलोचक आद्य शङ्कराचार्यकी रचना माननेमें संकोच करते हैं। नृसिंह-के महाचक्रका वर्णन पूर्वतापिनीके पञ्चम उपनिषद्में विस्तारके साथ किया गया है। उत्तरतापिनीमें नव खण्ड हैं जिनमें

निर्विशेष ब्रह्मके स्वरूपका प्रामाणिक विवेचन है। अष्टम खण्ड तुर्य ब्रह्मकी महनीयता तथा व्यापकताके वर्णनमें समाप्त हुआ है। नवम खण्डमें जीव तथा मायाके साथ ब्रह्मके सम्बन्धका प्रतिपादन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अद्वैततत्त्वके सिद्धान्तोंकी जानकारीके लिये नितान्त प्रौढ तथा उपादेय है।

११. रामतापिनी-उपनिषद्—इसके भी दो खण्ड हैं जिनमें रामकी तान्त्रिक उपासनाका विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। राम तथा सीताके मन्त्र तथा मन्त्रके क्रमशः उद्धार तथा लेखनप्रकारका वर्णन है। रामका षडक्षर मन्त्र यन्त्रमें किस प्रकार निविष्ट किया जा सकता है तथा उसका पूजन किस विधिसे किया जाता है, इसी विषयका यहाँ प्रामाणिक प्रतिपादन है। योगीलोग जिस परमात्मामें रमण करते हैं वही 'राम' शब्दके द्वारा अभिहित किया जाता है—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥

राम-मन्त्रका बीज है—रां और इसीके भीतर देवत्रय तथा उनकी शक्तियोंका समुच्चय विद्यमान रहता है। रेफसे ब्रह्माका, तदनन्तर आकारसे विष्णुका तथा मकारसे शिवका तात्पर्य माना जाता है और इस प्रकार इन तीनों देवताओंकी शक्तियाँ—सरस्वती, लक्ष्मी तथा गौरी इस बीजमें विद्यमान रहती हैं—

तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।
रेफारूढा मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च॥

तदनन्तर राममन्त्रके उद्धारका विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। उत्तरतापिनीमें राम-मन्त्रके तारकत्व तथा जपके फलका निर्देश है। प्रणवका अर्थ 'राम'में बड़ी युक्तिसे सिद्ध किया गया है। रामके साक्षात्कार करा देनेवाले मन्त्रोंका भी यहाँ निर्देश मिलता है। राम-मन्त्रके माहात्म्यका प्रतिपादन कर यह उपनिषद् समाप्त होता है। 'उपनिषद् ब्रह्मयोगी'की व्याख्याके अतिरिक्त 'आनन्दवन' नामक ग्रन्थकारने भी बड़ी सुबोध टीका इस ग्रन्थपर लिखी है। यह टीका मूल ग्रन्थके साथ सरस्वती-भवन ग्रन्थमाला (नं० २४) में काशीसे १९२७ ई० में प्रकाशित हुई है।

१२. रामरहस्य-उपनिषद्—इस उपनिषद्का विषय है रामकी पूजाका प्रतिपादन तथा तदुपयोगी मन्त्रों तथा विधानोंका विवेचन। राम-मन्त्र एक अक्षरसे आरम्भ होकर इकतीस अक्षरोंतकका होता है। इसका पर्याप्त वर्णन यहाँ मिलता है। इसके अतिरिक्त सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न तथा हनुमान्के मन्त्रोंका भी वर्णन है। राम-मन्त्रके पुरश्चरण-का भी विधान यहाँ किया गया है।

१३. वासुदेवोपनिषद्—इसमें वासुदेवकी महिमा बतलाकर गोपीचन्दनके धारण करनेका विशिष्ट वर्णन है। वैष्णवजनोंके मस्तकपर विराजमान त्रिपुण्ड्र, ब्रह्मादि देवतात्रय, तीन व्याहृति, तीन छन्द, तीन अग्नि, तीन काल, तीन अवस्था, प्रणवके तीनों अक्षरोंका प्रतीक बतलाया गया है। वासुदेव जगत्के आत्मस्वरूप हैं। उनका ध्यान प्रत्येक भक्तको करना चाहिये।

१४. हयग्रीवोपनिषद्—हयग्रीव भगवान्के नाना मन्त्रोंके उद्धारका प्रकार इस छोटे उपनिषद्में विशेषरूपसे किया गया है।

वैष्णव-उपनिषदोंका यही संक्षिप्त वर्णन है। इसके अनुशीलनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैष्णवमतके नाना सम्प्रदायोंमें जो उपासना-विधि इस समय प्रचलित है, उसका मूलरूप हमें यहाँ उपलब्ध होता है। इन्हीं उपनिषदोंके आधारपर ही पिछले मतोंका विकास सम्पन्न हुआ है। अतः वैष्णवमतके रहस्योंको भलीभाँति जाननेके लिये इन ग्रन्थ-रत्नोंका अनुशीलन नितान्त आवश्यक है।

ब्रह्मका स्मरण करो और आसक्तिका त्याग करो

अहो नु चित्रं यत्सत्यं ब्रह्म तद् विस्मृतं नृणाम्। तिष्ठतस्तव कार्येषु मास्तु रागानुरञ्जना॥

अहो! यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो परब्रह्म परमात्मा नितान्त सत्य हैं, उन्हींको मनुष्योंने भुला दिया है। भाई! कर्मोंमें लगे रहनेपर भी तुम्हारे मनमें रागानुरञ्जना—उन कर्मोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

औपनिषद आत्मतत्त्व

(लेखक—याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, वेदरत्न)

(१) वाङ्मय, मानवकी विशेषताओंका (आदर्श) पुञ्ज है। आहार-विहारपर्यन्त ही अपनी चर्याको सीमित न करते हुए, भावीकी ओर अग्रसर रहना, उसके लिये सतत प्रयत्न करना, मानव-जीवनकी एक विशेषता है। यह उसकी जन्म-जात कला है। वाङ्मयमें इसी कलाका सङ्कलन रहता है। जिसका आकलन कर अन्य मानव अपने लिये गतिपथ पाते हैं। वह कला साहित्यिक हो, आलङ्कारिक हो, भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक हो, मानवके जीवन-विकासमें पर्यायेण आवश्यक हैं। प्रत्येक कलाका अपना वाङ्मय अपने विषयमें अवश्य सराहनीय है, तथापि अध्यात्मविवेक-कलापूर्ण वाङ्मय-का स्थान सर्वोच्च है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु जो कि विश्वकी रङ्गभूमिपर प्रस्तुत हुई हो अथवा होनेवाली हो, दीप-ज्योतिके समान इस अध्यात्मसे ही, आत्मसत्त्व किंवा आत्मप्रकाश प्राप्त करती है। यह बात स्पष्ट ही है कि जगत्का कोई भी व्यवहार 'मैं' इस आत्मतत्त्वके बिना नहीं चल सकता। जगत्के किसी भी देश एवं कालका उच्चकोटिका दार्शनिक हो, चाहे **'आत्मानं सततं रक्षेत्'** कहनेवाला कोई महास्वार्थी व्यवहारी पुरुष हो, दोनों आत्मसापेक्ष हैं। इसीलिये अध्यात्म—वाङ्मय किसी भी देश-कालका हो, प्रशंसनीय है, सबके लिये आदरणीय है, संग्राह्य है, ज्ञेय है। उपनिषद्-वाङ्मय यह एक ऐसा अद्भुत वाङ्मय है जो अध्यात्मका प्रकाश देनेवाला है। इस दिशामें विश्वकी यह अद्वितीय वस्तु है। इस बातको सभी विद्वान् मानते हैं। बस, हम यहाँ उपनिषद्के उसी अध्यात्म-तत्त्वका दिग्दर्शन उपस्थित करना चाहते हैं।

(२) उपनिषदोंका क्या विषय है या होना चाहिये, इसमें कोई विवाद नहीं; क्योंकि इस बातको सभी जानते हैं तथा मानते हैं कि उपनिषद्का मुख्य विषय 'ब्रह्म' है। और मुख्य प्रयोजन 'ब्रह्मज्ञान' है, जिससे कि ब्रह्म-प्राप्तिरूप मोक्ष मिलता है। उपनिषद् शब्द—उप-उपसर्गपूर्वक तथा नि उपसर्गपूर्वक 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातुसे निष्पन्न है, यही अर्थ बतलाता है। निःशेषतया आत्मतत्त्वके समीप पहुँचा देनेवाली विद्या, इस अर्थमें उपनिषद् शब्द यथार्थ है।

विवाद यदि है तो केवल इस विषयमें ही कि—वह ब्रह्म क्या है, ब्रह्म शब्दका अर्थ क्या लिया जाय अथवा उसका लक्षण क्या किया जाय ? इसका कारण यह है कि—'ब्रह्म' शब्द जिस प्रकार उलझी हुई वर्णमालासे बना है, उसी प्रकार वह अर्थके सम्बन्धमें भी गुथा हुआ है।

'ब्रह्म' शब्द निम्नलिखित अर्थोंमें व्यवहृत है—परमात्मा, जीव, जगत्कारण, जड-प्रकृति, परमाणु, शब्द और विद्या।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' 'जन्माद्यस्य यतः' 'तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः'—

यहाँ 'ब्रह्म' शब्द परमेश्वरवाचक है।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

(गीता १४ । ३)

यहाँपर जड-प्रकृति तथा परमाणु अर्थमें 'ब्रह्म' शब्द मतभेदसे माना जाता है। **'ब्रह्म एवेदमग्र आसीत्'** यहाँपर जगत्कारण (उपादान) ब्रह्म-शब्दार्थ है।

'सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।'

यहाँ विद्या, शब्द (वेद) आदि अर्थ है। उपनिषदोंमें 'जगत्कारण' इस अर्थमें ब्रह्म शब्द लेना उचित है (यह वाक्य-शेष आदि प्रमाणसे सङ्गत है)।

इसपर भी शङ्का अवश्य है कि 'जगत्-कारण जड प्रकृत्यादि लिये जायँ अथवा चेतन आत्मा ?' इसका समाधान भी अति सरल है। उसी ब्रह्मके बारेमें वहीं मिलता है—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' अर्थात् उस ब्रह्मने इच्छा की कि 'मैं सृष्टि करूँ' इस प्रकारकी इच्छा किंवा मनन जड-प्रकृतिमें सम्भव नहीं है, अतः 'ब्रह्म' शब्दसे चेतन आत्मा लेना ही उचित है। **'अयमात्मा ब्रह्म'** इन समानाधिकरण शब्दोंका भी यही स्वारस्य है।

यही चेतन आत्मा स्वयंप्रकाश है। इसे ही ब्रह्म, औपनिषद पुरुष किंवा उपनिषत्प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व कहते हैं। इस उपनिषत्प्रतिपाद्य आत्मतत्त्वके स्वरूपके विषयमें उपनिषदों-के आधारपर ही वादियोंके अनेक मत हैं। उनपर सप्रमाण समालोचना करते हुए हम कुछ लिखना उचित समझते हैं, जिससे उपनिषत्प्रतिपाद्य आत्मतत्त्वका वास्तविक स्वरूप स्फुट हो सके।

(३) औपनिषद आत्मतत्त्वसम्बन्धी निम्न प्रकारकी विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं—

१—औपनिषद आत्मतत्त्व शरीरादि (भौतिक तत्त्व) से विलक्षण है या नहीं ?

२— ,, विभु किंवा अणु ?

३— ,, परिणामी सावयव किं वा नहीं ?

४— ,, ज्ञानादि का आश्रय किं वा तत्स्वरूप ?

५— ,, जगत्‌का उपादानकारण किं वा निमित्त ?

६— ,, अद्वितीय ही कारण, किं वा अनेक अन्य भी ?

७— ,, का जीवसे भेद किं वा अभेद ?

१. आत्मतत्त्व शरीरादिसे विलक्षण

पूर्वपक्ष—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।'

(ईश० २)

कर्म करते हुए ही सैकड़ों वर्ष जीवनेच्छाका आदेश देते हुए यह श्रुति बतलाती है कि 'जीवन ही सब कुछ है और मरनेके बाद कुछ नहीं है ।' इसलिये इस प्रकारके कर्म करो जिससे तुम्हारा जीवन, जो कि पृथिव्यादि जड़तत्त्वोंके समुदायमें **'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्'** है, बहुत समयतक रहे। यदि शरीरादिसे विलक्षण आत्मा हो और मरनेपर भी वह विद्यमान हो, तो फिर सैकड़ों वर्ष जीवित रहनेकी इच्छाका क्या महत्त्व ? जब कि वृद्धावस्था भी सन्निकट ही रहती है। शरीरमें कष्ट होनेपर उसके रक्षणका भी क्यों उपाय करें, यदि आत्माका कुछ बिगड़ता न हो ।

'यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः तेजः सम्भूतम्,··· स्त्रियां सिञ्चति सास्यैतमात्मानम् अत्रगतं भावयति ।'

(ऐतरेय०)

'वीर्यस्वरूप आत्मा स्त्रीमें सिञ्चित होता है और स्त्री उसे (पतिकी) आत्मा मानकर पालती है ।'

'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते' (कठोपनिषद्)

'अथ चैनं नित्यजातम्' (गीता २ । २६)

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म' (गीता २ । २७)

उपर्युक्त वचनोंसे भी यही ज्ञात होता है कि आत्मा भौतिक तत्त्व है, शरीरादिसे विलक्षण नहीं है ।

उत्तरपक्ष—**'कुर्वन्नेवेह'** इस श्रुतिका पूर्वोक्त तात्पर्य नहीं है ।·आत्मतत्त्वको समझकर पुत्रैषणादिको छोड़कर संसारसे परे जो निरतिशय सुख प्राप्त नहीं कर सकता, वह अनात्मज्ञ पुरुष यज्ञादि शुभ कर्म करते हुए ही अपना आयुष्य पूर्ण करे। यही तात्पर्य है । रेतःसिञ्चनको प्रथम जन्म एवं उत्पत्तिको द्वितीय जन्म जो कहा है, वह आत्माके प्राकट्यके अवच्छेदक शरीरके सम्बन्धमें है, आत्मामें औपचारिक कथन है ।

इसी शरीरात्माका निराकरण यमराजने नचिकेताके प्रश्नोत्तरमें किया है—

'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।'

(कठोपनिषद् १ । १ । २०)

'मनुष्य मरनेके बाद रहता है या नहीं ?' इस प्रश्नका उत्तर यमराजने यही दिया कि—

'तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥'

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(कठोपनिषद् १ । २ । १५, १८)

यहाँ यही आत्माका लक्षण बतलाते हुए सिद्ध कर दिया कि शरीरादि भौतिक तत्त्व सब विनाशी हैं। वे आत्मा नहीं हैं; क्योंकि आत्मा अजर-अमर है । अर्थात् वह **'जायते'** आदि षड्भावोंसे रहित है ।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

(कठोपनिषद् १ । ३ । १०)

वह आत्मा इन्द्रिय, पृथिव्यादि विषय, अन्तःकरणादि सबसे भिन्न है। शरीरसे सुतरां विलक्षण है ।

२. औ० आत्मतत्त्व विभु

पूर्वपक्ष—शरीरादि विलक्षण आत्मा अणु है, ऐसा सम्प्रदायाचार्यादि मानते हैं। उनका आशय है कि—

'अणोरणीयान्' (कठोपनिषद् १ । २ । २०)

यह आत्माका स्वरूप है ।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽनन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।

(कठोपनिषद् २ । ३ । १७)

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा···तमात्मस्थम् ॥

(कठोपनिषद् २ । २ । १२)

इन श्रुतियोंसे आत्माका परिमाण अङ्गुष्ठमात्र ही मालूम होता है ।

'वालाग्रशतभागस्य' (श्वेताश्वतर० ५ । ९) इस मन्त्रमें आत्माका अणु परिमाण स्पष्ट ही बतलाया है, एवं अणु परिमाण आत्माका तत्तल्लोकगमन भी सम्भव है । अतः आत्माका परिमाण अणु है—

उत्तरपक्ष—**'अणोरणीयान्'** इस मन्त्रवर्णसे जो 'अणुसे भी अणु' ऐसा आत्माका स्वरूप कहा है, यह उसकी स्तुतिमात्र है, परिमाण-निर्णय नहीं ।

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥

ये अष्टसिद्धियाँ आत्मामें बतलायी गयी हैं । इसीलिये आगे **'महतो महीयान्'** (बड़े-से-बड़ा) यह वाक्य-शेष भी संगत होगा, अन्यथा परस्पर व्याघात उपस्थित होगा । जो अणु है वह महान् कैसे ? यदि माना जाय तो परिमाणभेदसे आत्मामें भी भेद माना जायगा, जिससे कि आत्माको अनित्य मानना अनिवार्य हो जायगा । अस्तु, अङ्गुष्ठादिमात्रस्वरूपका जो कथन है वह लिङ्ग-शरीरादिके तात्पर्यसे है । आत्मामें औपचारिक है । इस प्रकार विपक्षका बाधन करके स्वपक्ष-(विभुत्व) साधनार्थ श्रुतियोंको प्रमाणरूपेण देते हैं—

'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा' (कठोपनिषद् १ । ३ । १२)

यहाँ बतलाया गया है कि प्रच्छन्नतया सर्वभूतोंमें आत्मा स्थित है । यह बात बिना आत्माके विभु माने नहीं घटित हो सकती है । इसलिये आत्मा विभु है ।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
(ईशोपनिषद् १)

सारा जगत् परमेश्वरेण (ईशा) व्याप्त है—आच्छादित है (वास्यम्) ।

'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ।'

आत्मासे विभु आकाश प्रकट हुआ । अणु आत्मासे विभु आकाशका होना सम्भव नहीं है ।

'अयमात्मा ब्रह्म' **'एकमेवाद्वितीयम्'**

ब्रह्म शब्दका ही अर्थ व्यापक है । ब्रह्मपदाभिधेय आत्मा अणु कैसा ? अद्वितीयता तथा एकताके बिना विभुताका सम्भव नहीं है ।

'तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्' (श्वेताश्वतरोपनिषद्)

उस पुरुषको अनादि और महान् कहा है ।

'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' (बृहदारण्यक०)

यहाँ अणुताका शब्दशः प्रतिषेध भी मिलता है । अतः औपनिषद आत्मा अणु नहीं, प्रत्युत विभु है, सर्वान्तर्यामी है ।

३. आत्मा परिणामी तथा सावयव नहीं

पूर्वपक्ष—कायाकार परिणामी आत्मा है । यह सावयव होनेपर भी कथञ्चित् नित्य ही है । उनका कहना है कि जिस पदार्थके गुण जहाँ उपलब्ध हों, उस परिधिमें ही वह पदार्थ मानना उचित है । आत्माके ज्ञानादि गुणोंकी उपलब्धि यदि शरीरावच्छेदेन ही है तो शरीरव्यापी ही आत्मा मानना चाहिये । न अणु और न विभु । अवयवोंमें संकोच-विकास होता है, अतः चींटीकी आत्मा हस्ति-शरीरमें व्याप्त हो सकती है और हस्तीकी आत्मा चींटीमें भी । ये उपनिषद्को प्रमाण न माननेवाले कुतार्किकोंमेंसे हैं । (जैन)

उत्तरपक्ष—यह सिद्धान्त युक्त्या और श्रुत्या दोनोंके विरुद्ध है । संकोच-विकास ये परिमाणभेद एक वस्तुमें सम्भव नहीं । यदि माना जाय तो आत्माको उत्पाद-विनाशशाली मानना पड़ेगा । जिससे कृतहानि और अकृताभ्यागमरूप दोष आ सकेंगे ।

अवस्थान्तरापत्तिको परिणाम कहते हैं । नित्य आत्माका अवस्थान्तर प्राप्त करना भी संगत नहीं है । उपनिषदोंमें कूटस्थता बतायी है ।

'ध्रुवं तत्' (कठोपनिषद्)
'न जायते म्रियते वा०' (कठोपनिषद् १ । २ । १८)
'अविकार्योऽयमुच्यते' (गीता २ । २५)

इस प्रकार औपनिषद आत्मतत्त्व आत्मा परिणामी किंवा सावयव भी नहीं है, यही ठीक है ।

४. आत्मा ज्ञानस्वरूप, ज्ञानाश्रय नहीं

पूर्वपक्ष—न्यायादि दर्शनोंमें आत्माका यही मुख्य लक्षण माना गया है कि आत्मा वही है जो ज्ञानाधार है । आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, उसमें समवायसे ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि चतुर्दश गुण उत्पन्न होते हैं और कार्यकारणभावके पौर्वापर्य नियमके (Theory of Causation) अनुसार युक्ति भी सङ्गत है । प्रमाण, प्रमिति, प्रमेय, प्रमाता—इनमें भेद आवश्यक है । इसी प्रकार यदि ज्ञान ही आत्मा है तो घटविषयक ज्ञान आत्मा है या पटविषयक ? यह प्रश्न निरुत्तर रहेगा ।

'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस श्रुतिमें **'सर्वज्ञ'** शब्दका यही अर्थ है कि **'सर्वपदार्थविषयक ज्ञानवान्'** । यहाँ आधारका

बोध अनिवार्य है। इसी प्रकार **'असुखम्'** इस श्रुतिका भी 'आत्मा सुखभिन्न है' यह अर्थ मानना चाहिये।

उत्तरपक्ष—आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञानभिन्न सभी पदार्थ जड़ होते हैं और आत्माको जड़ मानना महामूर्खताका लक्षण है। उपनिषदोंमें कहा है—

'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' (बृहदारण्यकोपनिषद्)
'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीयोपनिषद्)
'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृहदारण्यकोपनिषद्)
'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (")

इन वाक्योंमें आत्माको ज्ञानस्वरूप कहा है। **'विज्ञानम्'** इस वाक्यमें विशेषेण ज्ञान जिसका है, इत्यादि रीतिसे व्याख्यान स्वरशास्त्रके विपरीत होनेके कारण नहीं माना जा सकता। इसलिये औपनिषद आत्मा ज्ञानस्वरूप है यह मानना उचित है। घटविषयक विज्ञान आत्मा है किंवा पटविषयक ? इस प्रश्नका यही उत्तर है कि—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तैत्तिरीय०) यहाँपर सभी पद लक्षणवृत्तिसे स्वार्थेतर-व्यावृत्त वस्तुस्वरूपके बोधक हैं।

ज्ञान शब्द ज्ञानेतरव्यावृत्त ब्रह्मका बोधक है। अर्थात् ब्रह्म अज्ञानरूप नहीं है अथवा सर्वविषयक ज्ञानको आत्मा कहा जाय तो कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि प्रत्येक सर्वज्ञ इसलिये नहीं हो सकेगा कि वह उपाधिपरिच्छिन्न है। एवं ज्ञानके साधन जो कि अन्तःकरणवृत्त्यादिक हैं, वे सन्निहित नहीं होते, जिस विषयके लिये सामग्री होती है उस विषयमें ज्ञान अवश्य ही होता है।

५. आत्मा उपादान-कारण और निमित्त-कारण

पूर्वपक्ष—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म।'**

—इत्यादि श्रुतियोंसे जगत्का कारण 'ब्रह्मात्मतत्त्व' है, यह अवगत हुआ। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि घटकी मृत्तिकाके समान उपादान-कारण है किं वा घटके प्रति कुलालके समान निमित्तकारण है ? उचित यही होगा कि उसे 'निमित्त-कारण' माना जाय। क्योंकि उस ब्रह्मके विषयमें उपनिषद्में कहा गया है कि—**'स ऐक्षत ईक्षाञ्चक्रे'** (प्रश्नोपनिषद्) (सृष्टिकी उसने इच्छा की)। इच्छा तथा मननपूर्वक कार्य करना यह निमित्त-कारणका ही लक्षण है। आदान कारणके गुणधर्मोंके कार्यमें अनुवृत्ति पायी जाती है। यदि चेतन आत्माको जगत्का उपादान कहा जाय तो जगत्में कुछ भी जड़ न होकर सब चेतनस्वरूप ही होना चाहिये।

उत्तरपक्ष—यह ठीक है कि ईक्षण करनेवाला ब्रह्म जगत्का कारण है, किंतु उपादान भी मानना चाहिये। जो गुणधर्मके अनुवर्तनका प्रश्न है वह विवर्त माननेसे समाहित हो सकता है। जगत् अविद्याका परिणाम है और ब्रह्मात्मतत्त्वका विवर्त्त है। किसी निश्चयात्मक वस्तुका यदि अन्य रूपसे भान होने लगे तो उसे 'विवर्त्त' कहते हैं। जिस प्रकार रज्जुका सर्पाकार भान होता है। उपादानके ज्ञानसे कार्यका भी ज्ञान सरल होता है, यह विषय आत्माके सम्बन्धमें भी उपपन्न है।

उपनिषद्में प्रश्न किया गया है कि—

'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'

'किसके ज्ञानसे यह सब जाना जा सकता है।'

इस प्रश्नका उत्तर यही है कि—

आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इद९ सर्वं विदितं भवतीति।

आत्मतत्त्वके श्रवण-मननादिसे यह सर्व जगत् ज्ञात हो सकता है। यह भान बिना आत्मानुवृत्ति (आत्माव्यतिरेकिता) के नहीं हो सकता, और अव्यतिरेकिता आत्माको उपादान माने बिना नहीं आ सकती। अतः आत्माको उपादान मानना भी आवश्यक है।

६. औपनिषद आत्मा ही केवल जगत्कारण

जो भी यह कार्यजाल दिखायी दे रहा है इस सबका कारण वह एक आत्मा ही है और कोई अन्य उसे अपेक्षित नहीं है। ऐतरेयोपनिषद्में कहा गया है कि—

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।

(१।१।१)

'यह सारा जगत् पूर्वमें आत्मा ही था, अन्य कोई और तत्त्व नहीं था, उस आत्माने अपनी इच्छासे लोकका सर्जन किया।'

इससे यह सिद्ध है कि सृष्टिके मूलमें एक ब्रह्म-तत्त्व ही रहा है। सर्व जगत् उसका विवर्त्त है, इसलिये उससे विरूप है।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(कठोपनिषद्)

यह एक कारणवाद युक्तिसङ्गत भी है, दर्शनशास्त्रका उद्देश्य मूलतत्त्वका परिचय कराना ही है; क्योंकि मानव-

की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अनेकोंमें एकता देखना चाहता है। अनेक वस्तुओंका भी किसी रूपसे एकीकरण चाहता है। उदाहरणके रूपमें देखिये—

राम, शिव, यज्ञदत्त, देवदत्त नामक व्यक्ति जब हमारे सम्मुख आते हैं तो हमारे अन्तस्तलमें प्रश्न उपस्थित होता है कि 'ये भिन्न ही हैं किं वा किसी रूपसे एक भी हैं?' उत्तर मिलेगा—'ये सब पुरुष हैं।' इसी प्रकार सीता, सावित्री, गोमती, रम्भा आदिमें भी शङ्का होगी। फलतः स्त्रीरूपसे उन्हें एक मान सकते हैं। इन स्त्री-पुरुषसमुदायमें भी मनुष्यत्वेन एकता मिलती है। यह मनुष्यसमूह, दूसरी ओर पशुसमूह, अन्य पक्षिसमूह और कुक्कुरसमूह—इनमें यदि भेद-शङ्का हो तो उसका समाधान है—'ये सब सजीव हैं', अर्थात् प्राणित्वेन (आत्मत्वेन) सबको एक कहेंगे।

इस ओर आत्मा हैं, कुछ जड़ पदार्थ भी हैं, इनमें भेदाभेद-विचारमें ही समस्त दार्शनिकोंका मस्तिष्क स्फोट है। कोई भी इनका एकीकरण नहीं कर पाते तथा जडोंके लिये एक प्रकृति-तत्त्व पृथक् भी मानते हैं, किंतु उपनिषद्की विचारधारामें—इसमें सन्तोष करना उचित नहीं माना गया तथा जड और आत्मा—इनमें भी एकताका अनुभव चाहा और सकल जडको भी **'आत्मैवेदमग्र आसीत्'** कहकर आत्मामें समाविष्ट किया गया। इस प्रकार आत्मा एक ही मूल कारण सिद्ध हुआ, यह श्रुति-सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि युक्तियुक्त भी है। जैसा कि पूर्वमें आत्माको कारण सिद्ध किया जा चुका है। लोक-व्यवहारमें भी यह 'न्यूनतम कारणवाद' (Law of parsimony of causes) तथा सृष्टिकी मितव्ययिता (Law of economy of nature) प्रसिद्ध ही है। हम किसी कार्यकी उत्पत्ति यदि स्वल्प कारणोंसे कर सकें तो अधिक एकत्रित (सामग्री) करना उचित नहीं मानते। प्रत्युत ऐसा करनेवालेको 'अविद्वान्' कहते हैं।

इस प्रकार आत्मतत्त्व ही केवल जगत्का उपादान माना जाय, यह श्रुतिसम्मत ही नहीं, प्रत्युत युक्तिसम्मत भी है।

७. आत्मा और जीवमें अद्वैत

उपनिषत्प्रतिपाद्य आत्मतत्त्वका उसके कार्यभूत जगत्से तथा जीवसे भेद है अथवा अभेद? इस दिशामें उपनिषत्-सिद्धान्त तो यही है कि आत्मतत्त्व और जीवतत्त्व—इनमें भेद नहीं है और जगत् भी उससे वस्तुतः भिन्न नहीं है। इस विषयमें महान् मतभेद हैं—

पूर्वपक्ष—कुछ दार्शनिक प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न आत्मा हैं और ईश्वर नहीं है, ऐसा मानते हैं। उनका कहना है कि यदि आत्मा एक हो तो एक ही आत्मामें एक काल-में भिन्न-भिन्न विरोधी गुण कैसे आ सकते हैं।

कुछ अन्य दार्शनिक ईश्वरको मानते हुए भी आत्माओंसे उसी प्रकार भिन्न मानते हैं, जिस प्रकार आत्माएँ सब परस्पर भिन्न हैं। मुण्डकोपनिषद्में कहा है कि—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (३। १। १)

यहाँपर ईश्वर और जीवके अभिप्रायसे ही 'द्वि' शब्दका प्रयोग किया गया है।

'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'

आत्मा निरञ्जन होकर परमेश्वरकी समानता प्राप्त करता है। वह समानता दो भिन्न तत्त्वोंके ही व्यवहारमें आ सकती है।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥
(कठोपनिषद् १। ३। १)

संसारमें सुकृतके फलका पान करते हुए यद्यपि जीव और ईश्वर—ये दोनों ही फल पान नहीं करते, तथापि जीवसे सम्बन्ध होनेके कारण **'पिबन्तौ'** कहा है।

छाया तथा आतपके समान विलक्षण अर्थात् जीव संसारी और ईश्वर असंसारी है—ऐसा ब्रह्मज्ञजन कहते हैं। इस अर्थमें जीवेश्वर-भेद स्फुट बतलाया है।

× × ×

इसी प्रकार अन्य उपनिषदोंमें भी अनेक प्रकारसे आत्मतत्त्वका निर्देश है।

१. कर्ता-भोक्ता संसारी पुरुष है।
२. साक्षी जीव कर्मफलदाता ईश्वर है।
३. **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, नेति नेति'** आदि वचनोंसे बोध्य असंसारी आत्मा। (ऐतरेयोपनिषद्-शाङ्करभाष्यके अनुसार)

× × ×

१. **विश्व**—जागरितावस्थामें जिसको बाह्यका ज्ञान होता है। (माण्डूक्योपनिषद्)
२. **तैजस**—स्वप्नावस्थामें जिसको आभ्यन्तरका ज्ञान होता है। (माण्डूक्योपनिषद्)

३. प्राज्ञ–सुषुप्तावस्थामें जिसे कुछ भी भान नहीं होता है। (माण्डूक्योपनिषद्)

४. तुरीय–सर्वथा ईश्वर सर्वज्ञ अन्तर्यामी चतुर्थ है। (माण्डूक्योपनिषद्)

जब कि आत्माके ये भेद उपलब्ध हैं, तो एकात्मवाद (अद्वैत) कैसे समझा जाय ? यदि कहा जाय कि—

'तत्सत्यम्'''''स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'

इस छान्दोग्योपनिषद्में तत्=ब्रह्मके साथ 'त्वम्' पदार्थ जीवका अभेद बताया है, तो द्वैत कैसे माना जाय ? ठीक है, किंतु यह अर्थ ठीक नहीं है। तत् शब्द सत्यका परामर्श करता है और 'तत्त्वमसि'का प्रसङ्गसे यही अर्थ होगा कि—'हे श्वेतकेतो! तू सत्य है, तेरे बिना यह शरीर आदि सब शून्य हैं। अब अद्वैत कैसे माना जाय ?'

यदि कहा जाय कि—**'एकमेवाद्वितीयम्'** यहाँ अद्वितीय तत्त्वका उल्लेख है, तो फिर जीव भिन्न कहाँसे रहेंगे ? यह भी ठीक नहीं। यहाँ 'एक' शब्दसे एक जातीय भी ले सकते हैं, जैसे समस्त घट एकजातीय मृत्तिकासे जायमान हैं न कि एक ही मृत्तिकासे समस्त घट बनें। यह अनुचित भी है, क्योंकि एक ही मृत्तिकासे नाना घट कैसे बन सकते हैं ?

उत्तरपक्ष—पूर्वोक्त विषय उपनिषत्-सिद्धान्तके प्रतिकूल है तथा आपातरमणीय भी है। जो हमें प्रति शरीरमें आत्मभेदका अनुभव होता है वह शरीरके भेदसे ही है, जैसा कि एक ही आकाशके घट, मठ आदि उपाधि-भेदसे भेद व्यवहारमें आता है, वस्तुतः भेद नहीं होता है।

जो यह कहा गया कि विपरीत गुणोंका समावेश कैसे ? उसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि आत्मा निर्गुण है। सभी गुण अन्तःकरणके ही आत्मामें प्रतिफलित होते हैं। आत्माके लिये कहा गया है कि **'असङ्गो हि सः'** (वह असङ्ग=गुणादि धर्मरहित है।) बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा है कि—

'कामो विचिकित्सा ह्रीर्धीरित्येतत्सर्वं मन एव।'

इससे यह सिद्ध है कि—आत्मामें ये सब धर्म नहीं हैं, सुख-दुःखादि सब गुण अन्तःकरणमें ही हैं।

'द्वा सुपर्णा' आदि वाक्योंमें जो जीवेश्वर-भेदकी कल्पना बतलायी है, वह भी औपचारिक है, वास्तविक नहीं है।

कर्ता, ईश्वर, असंसारी, प्राज्ञ, विश्व, तैजस, तुरीय आदि एक ही आत्माकी औपाधिक दशाएँ हैं, न कि इन नामवाले कोई भिन्न आत्मा हैं।

तत्सत्यम्''''''''''स आत्मा'''''''''' तत्त्वमसि।'

—का जो आधुनिक आर्यजन अर्थ करते हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि उससे प्रकरणसङ्गति नहीं बैठती।

तत् सत्यम्=वह ब्रह्म सत्य है (असत्यव्यावृत्त है)। **स आत्मा**=वही ब्रह्म आत्मा है। **तत्त्वम्**=तुम भी वही ब्रह्म हो, तत् शब्दसे विशेषणवाचक सत्यका परामर्श करना अनुचित है। इससे जीवब्रह्मैक्य सिद्ध है।

'एकमेवाद्वितीयम्' यहाँ 'एक' शब्दका अर्थ 'कैवल्य' है, जो कि 'सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदशून्य' अर्थमें आता है। यदि पूर्वोक्त ही अर्थ माना जाय तो **'नेह नानास्ति किञ्चन'** इत्यादि वचन भी असङ्गत होंगे। निम्नलिखित वाक्योंसे भी अद्वैत कथित है—

'यथाग्नेः क्षुद्राः स्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे आत्मानो व्युच्चरन्ति।'

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

प्रथमावस्थामें एक ही आत्मतत्त्व है और उसीके समस्त अग्निकणके समान भेद हैं।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।' (छान्दोग्योपनिषद्)

'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्।' (,,)

'अहं ब्रह्मास्मि।' (,,)

'अयमात्मा ब्रह्म।' (,,)

इन वाक्योंसे जीव और ब्रह्मकी वास्तविक एकता स्फुट ही है।

× × ×

'नेति' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' आदि वाक्योंसे भी पूर्वोक्त अद्वितीय आत्मतत्त्व ही प्रतिपाद्य है। जैसे—एक अपराधी मुग्ध-पुरुषसे उसका स्वामी कह दे कि 'तुझे धिक्कार है, तू मनुष्य नहीं है।' यह सुनकर मुग्ध पुरुष सन्दिग्ध होकर अन्य किसी विज्ञके पास जाकर अपने स्वरूपके सम्बन्धमें पूछने लगे कि 'कृपया मुझे बतलाइये मैं कौन हूँ।' वह विज्ञ पुरुष उसकी मुग्धतापर मन-ही-मन हँसकर उससे कहेगा कि—'मैं क्रमशः तुझे समझा दूँगा।' इतना कहकर वह विज्ञ पुरुष मुक्त पुरुषको समझावेगा कि 'तू घट, पट, पृथिवी, शरीर आदि नहीं है, न पाषाण है, न जल है और

न तेज है अर्थात् तू अमनुष्य नहीं है।' इस प्रकार विज्ञ पुरुषद्वारा अमनुष्य प्रतिषेधरूपसे 'तू मनुष्य है' यह समझाया जा सकता है; किंतु वह मुग्ध पुरुष यदि समझदार होगा तभी समझ सकेगा न कि मुग्धावस्थामें।

इसी प्रकार 'नेति' शास्त्र संसारकी दृश्य सकल वस्तुओं-का प्रतिषेध करते हुए ब्रह्मस्वरूपका परिचय कराते हैं। किंतु इन वाक्योंसे आत्मावबोध अन्तःशुद्धि होनेपर ही होगा, न कि उस मुग्ध पुरुषकी तरह जिसे 'तू अमनुष्य नहीं' यह कहनेपर तो क्या, किंतु 'तू मनुष्य है' यह कहनेपर भी बोध नहीं हो पाता, अपवित्र रहनेपर।

इस प्रकार पूर्व शङ्का-समाधानोंसे औपनिषद आत्मतत्त्वका संक्षिप्त परिचय कराया जा सकता है। वस्तुतः वह असंसारी, अनिर्वचनीय अद्वितीय है। लेखकके कलेवरवृद्धिके भयसे इस विषयको यहीं समाप्त किया जाता है। यदि इस लेखके द्वारा पाठकोंका किञ्चिन्मात्र भी लाभ होगा तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

उपनिषदोंका महत्त्व और उद्देश्य

(लेखक—श्रीताराचन्द्रजी पाण्ड्या, बी० ए०)

वेदोंके कर्मकाण्ड-भागकी तो गीताने अप्रशंसा-सी ही की है (श्रीमद्भगवद्गीता २। ४२–४५; ९। २०-२१), परंतु उपनिषदोंसे ही तो गीताकी उत्पत्ति हुई है—वह उपनिषद्-रूपी गायोंका दूध है और जैसा कि गीताके प्रत्येक अध्यायको समाप्त करनेवाले शब्दोंसे सूचित है, गीता स्वयं भी एक उपनिषद् है। उपनिषदोंके अनेक मन्त्र प्रायः ज्यों-के-त्यों गीतामें गुम्फित हैं।

अशाश्वत, जड, परस्वरूप सांसारिक पदार्थोंको छोड़कर शाश्वत, विज्ञानघन, आनन्दमय, निजस्वरूप आत्माको पहचाननेका और उससे तन्मय हो जानेका जो दिव्य और सनातन ज्ञान आदिम कालमें उद्भूत—अवतरित—हुआ था, वह उपनिषदोंमें निहित है। उपनिषदोंका लक्ष्य है—**'आत्मानं विद्धि'**—आत्माको–अपने आपको जानो–पहचानो। जो इस आत्माको नहीं जानते और उसके स्वरूपसे विमुख रहते हैं। वे आत्मघाती हैं, उनकी अधोगति होती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(ईशावास्योपनिषद् ३)

आत्मज्ञानको ही विद्या माना है और शेषको अविद्या। अविद्यासे मोहजनक विनश्वर लौकिक सुख भले ही प्राप्त हो जायँ, परंतु अनन्त और वास्तविक आनन्द (अमृतत्व) तो विद्यासे ही उपलब्ध हो सकता है। जो विद्यासे रहित है, वह न तो स्वयं कल्याण-पथपर चल सकता है और न दूसरोंका ही मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
(कठोपनिषद् १। २। ५)

किंतु विद्या वही सुफल दे सकती है जो सच्ची और हार्दिक हो; मिथ्या या कपटपूर्ण (Hypocritical) होने-पर तो वह विद्या (या विद्याभास) अविद्यासे भी अधिक अनर्थकारिणी हो जाती है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
(ईशावास्योपनिषद् ९)

विद्या श्रेय है और अविद्या प्रेय है। प्रेयसे श्रेय अधिक उपादेय है। जो विद्या और अविद्याकी भिन्न-भिन्न सिद्धियोंको समझता है और अपने उच्चतर एवं एकमात्र लक्ष्य आत्मो-पलब्धिसे च्युत नहीं होता, वह दोनोंका सदुपयोग करके लाभ उठा सकता है अर्थात् अविद्यासे मृत्यु अर्थात् लौकिक कष्टोंको दूर करके और इस प्रकार अपेक्षाकृत सुखपूर्वक विद्याका साधन करके अमृतत्वको प्राप्त कर सकता है—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।
(ईशावास्य० १४)

परंतु यथार्थ और एकमात्र उद्देश्य तो अमृतत्वकी प्राप्ति ही रखना चाहिये और अन्य सब कामनाओंको हेय ही समझना चाहिये।

पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥
(कठोपनिषद् २। १। २)

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(कठोपनिषद् २ । ३ । १४)

आत्माके लिये शरीर है, न कि शरीरके लिये आत्मा । शरीर तो आत्माकी गति (ऊर्ध्वगति या अधोगति) के लिये एक साधन है । इसका उपयोग करनेवाला इससे भिन्न है ।

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

नचिकेता, जाबाल आदिकी अनेक कथाओंसे उपनिषदोंकी प्रभावकता और भी अधिक बढ़ी हुई है । ये सुन्दर, सरल और हृदयस्पर्शी कथाएँ जिस सात्त्विक प्राचीन कालकी घटनाओंका वर्णन करती हैं, उसे मानो हजारों और लाखों वर्षोंके व्यवधानको दूर करती हुई आँखोंके सामने ले आती हैं और उसकी पवित्रताकी सुगन्ध हृदयमें भर देती हैं ।

उच्च आध्यात्मिक ज्ञानके विषयवाले होनेपर भी उपनिषदोंके अनेक वाक्य निम्नस्तरके दैनिक जीवनके लिये भी अत्युपयोगी हैं । **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' 'मा विद्विषावहै'** आदि वचनोंके अनुसरणकी वर्तमान जगत्के हित, सुख तथा रक्षाके लिये कितनी आवश्यकता है, यह सूर्य-प्रकाशवत् इतना सुस्पष्ट है कि इसको बतानेकी आवश्यकता नहीं है ।

उपनिषद्-ग्रन्थोंका रचनाकाल

(लेखक—ज्यो० भू० पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी)

संस्कृत साहित्यमें उपनिषद्-ग्रन्थोंका स्थान बहुत ऊँचा है । यहाँतक कि वेदोंके शिरोभागके नामसे उपनिषदोंका परिचय दिया जाता है और अध्यात्मज्ञानके लिये उपनिषद्-ग्रन्थ ही एकमात्र साधन हैं । वेदान्तसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता आदि समस्त गीताएँ उपनिषदोंके ही ज्ञानरत्नोंसे परिपूर्ण हैं । अवश्य ही हमारे उपनिषद्-ग्रन्थोंमें सबसे अधिक मान उन उपनिषदोंका है, जो संहिता अथवा ब्राह्मणरूप वेदोंके अन्तर्गत हैं; किंतु उन उपनिषदोंका भी मान है, जिनके मूल वेद और ब्राह्मणके उपलब्ध भागोंमें हमको वर्तमान समयमें नहीं मिलते और वेदानुयायी पौराणिक साहित्यमें जिनके प्रमाण मिलते हैं । ये सब उपनिषद्-ग्रन्थ, संस्कृत-साहित्यमें हम भारतीयोंके ज्ञानकाण्डके भण्डार माने जाते हैं ।

हमारे उपनिषद्-ग्रन्थोंका इस प्रकार मान देखकर किसी चाटुकारने अकबरके समयमें 'अल्लोपनिषद्' नामकी एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी थी, जिसमें अर्बी और संस्कृतकी मिश्रित भाषामें दस गद्य हैं और रसूल, महम्मद, अकबर आदि शब्द आये हैं; किंतु इतने स्पष्ट प्रमाणोंके होते हुए भी इस समयके एक इतिहासके विद्वान्के मुखसे उसकी गणना वैदिक साहित्यमें कराके मुसल्मानोंके पुष्टीकरणकी नीतिसे चाटुकारी दोहरायी गयी है—यह कितने आश्चर्यकी बात है । इतना ही नहीं; हमारे उपनिषद्-ग्रन्थोंकी ओरसे श्रद्धा हटानेके अभिप्रायसे प्रो० मैक्समूलर-जैसे विद्वान्ने एक 'मक्स्योपनिषद्' नामकी पुस्तिका रची थी और लोगोंके आपत्ति करनेपर प्रोफेसर साहबने लिखा था कि हमने मज़ाकके तौरपर इसकी रचना की है । प्रोफेसर साहबका वह पत्र 'सरस्वती' मासिक-पत्रिका (प्रयाग) में छपा था । सम्भवतः इसी प्रकार दूसरे चाटुकार, मज़ाकी अथवा अपने धार्मिक मतके समर्थनमें उपनिषद्नामसे कुछ पुस्तकें लिखनेकी चेष्टा करनेवाले और भी हुए हों अथवा भविष्यमें हों, जिनकी रचनासे लोगोंको उपनिषद्-ग्रन्थोंके विषयमें सन्देह हो । अतएव केवल उपनिषद् नामपर नहीं—उसके आधार और ज्ञानोपदेशपर विचार करके हमको निश्चय करना चाहिये कि ये ग्रन्थ वस्तुतः उपनिषद्-ग्रन्थ हैं अथवा चाटुकारों और धूर्तोंकी कपोल-कल्पना है ।

जिन उपनिषद्-ग्रन्थोंका हमारे संस्कृत-साहित्यमें सर्वोच्च स्थान है और जिनका अस्तित्व हमारे वैदिक साहित्यमें उपलब्ध है, आज हम उन्हीं उपनिषद्-ग्रन्थोंके रचना-कालपर विचार करना चाहते हैं । मैत्रायणीशाखामें अपाणिनीय शब्दोंको देखकर कुछ लोगोंका मत है कि वह शाखा पाणिनिके पूर्वकी है । अतएव मैत्र्युपनिषद् भी पाणिनिके पूर्वकालकी है, किंतु भाषातत्त्वके विद्वानोंके इस मतसे हम सहमत नहीं कि किसी ग्रन्थमें अपाणिनीय शब्दके प्रयोगसे उसको हम पाणिनिसे पूर्वका ग्रन्थ मान लें, अथवा उसके आधारपर पाणिनिके समयको हम पीछे हटानेकी चेष्टा करें; क्योंकि संस्कृत-साहित्यमें न जाने कितने आधुनिक ग्रन्थ भी ऐसे हैं, जिनमें अपाणिनीय शब्दोंके प्रयोग अधिकतासे मिलते हैं ।

अवश्य ही मैत्र्युपनिषद् (६ । १४) में ज्यौतिष-सम्बन्धी 'मघाद्यं श्रविष्ठार्द्धम्'के रूपमें दक्षिणायनका वर्णन आया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उस समय आधे धनिष्ठासे उत्तरायण (मकरका आरम्भ) होता था । स्व० बा० लोकमान्यतिलकने गीतारहस्य (पृ० ५५२) में लिखा है कि 'मैत्र्युपनिषद् ईसाके पहले १८८० से १६८० वर्षके बीच कभी-न-कभी बना होगा । क्योंकि लोकमान्यके मतसे वेदाङ्ग ज्यौतिष-कालका उदगयन, मैत्र्युपनिषद्-कालीन उदगयनकी अपेक्षा लगभग आधे नक्षत्रसे पीछे हट आया था । ज्योतिर्गणितसे यह सिद्ध होता है कि वेदाङ्ग-ज्योतिषमें कही गयी उदगयन-स्थिति ईसाई सन्‌के लगभग १२०० या १४०० वर्ष पहलेकी है' (गीतारहस्य पृ० ५५२) । सारांश यह कि लोकमान्यके मतसे मैत्र्युपनिषद् ग्रन्थका रचनाकाल, ईसासे पूर्व कम-से-कम १२०० वर्ष सिद्ध होता है ।

मैत्र्युपनिषद्-ग्रन्थमें अनेक स्थलोंमें छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कठ और ईशावास्य-उपनिषदोंके वाक्य तथा श्लोक प्रमाणार्थ उद्धृत किये गये हैं । अतएव यह स्वयंसिद्ध है कि छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कठ और ईशावास्य उपनिषद्ग्रन्थ ईसाके पूर्व १२००-१४०० वर्ष (मैत्र्युपनिषद्-ग्रन्थ रचनाकाल) के भी बहुत पहलेके हैं । अवश्य ही ज्यौतिषगणितके अनुसार लोकमान्यतिलकने जो समय निश्चित किये हैं, वे समय वस्तुतः निश्चित ही हैं—यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि आधुनिक गणितज्ञोंके मतसे ज्योतिषकी वही स्थिति जो मैत्र्युपनिषद्-ग्रन्थमें कही गयी है—आधे धनिष्ठासे उत्तरायणका आरम्भ, ईसासे पूर्व जिस प्रकार १८८०-१६८० वर्ष पूर्व हुई होगी, ठीक उसी प्रकारकी स्थिति ईसासे २७८८०-२७१६८० वर्ष पूर्व भी थी और उसके पूर्व भी २६०००-२६००० वर्ष पूर्व होती रही है । अतएव हम इस बातको माननेके लिये बाध्य नहीं कि हमारे वैदिक साहित्यके शिरोभाग उपनिषद्-ग्रन्थ ईसासे पूर्व १८८०-१६८० वर्षमें ही रचे गये हैं । अवश्य ही जिन पाश्चात्त्य विद्वानोंके धर्म-ग्रन्थानुसार मानव-सृष्टिका आरम्भ ही ईसासे पूर्व लगभग ४००० वर्षसे माना जाता है, वे उपनिषद्-ग्रन्थोंके उत्तरायण-वर्णनसे अन्तिम काल ईसासे पूर्व १८८०-१६८० उपनिषद्-ग्रन्थोंका रचनाकाल मानें तो इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है; किंतु वैदिकधर्मके माननेवाले भारतवासी हम जिनके सृष्टिका आरम्भकाल इस समय विक्रम संवत् २००५ के १९५५८८५०४९ वर्ष पूर्व माना गया है; और जिनके सिद्धान्त ज्यौतिषके गणित सहस्र चतुर्युगीय कल्पके आधारपर किये गये हैं; अपने उपनिषद्-ग्रन्थोंका रचनाकाल नहीं, आविर्भावकाल उस समयको मानेंगे जो मघा-नक्षत्रसे दक्षिणायन और आधे धनिष्ठा नक्षत्रसे उत्तरायणका समय वर्तमान सृष्टिमें (जिसके छः मन्वन्तर बीत चुके हैं और सातवें मन्वन्तरके अट्ठाईसवें कलियुगके ५०४९ वर्ष भी बीत चुके हैं) सबसे प्रथम आया होगा ।

सारांश यह कि हमारे उपनिषद्-ग्रन्थोंका रचनाकाल, आधुनिक गणितज्ञोंके गणितसे ही अतिप्राचीन सिद्ध होता है और यदि पुरातत्त्वज्ञानके प्रचारसे पाश्चात्त्य विद्वानोंको अपने मानव-सृष्टिकालके आरम्भकालकी त्रुटि विदित हो गयी और वैदिक सृष्टिकी ओरसे अविश्वास हट गया तो वे भी यह बात मान लेंगे कि हमारे वैदिक साहित्यके शिरोभाग-उपनिषद्-ग्रन्थों-का रचनाकाल शताब्दियोंमें नहीं गिना जा सकता । हम आशा करेंगे कि पक्षपात और धर्मविरोधी भावनाको त्यागकर ऐतिहासिक जन हमारे इस विचारकी ओर अवश्य ध्यान देंगे कि उपनिषद्ग्रन्थोंके समय-निरूपणमें सबसे प्रथम धनिष्ठार्द्धके उत्तरायणको न मानकर सबसे अन्तके धनिष्ठार्द्धके उत्तरायण-को माननेके लिये क्या कोई प्रमाण है ? और यदि नहीं तो, हमारा मत अवश्य सर्वमान्य होना चाहिये ।

औपनिषद सिद्धान्त

ब्रह्म, सगुण, निर्गुण तथा निराकार, साकार । परमात्मा, परमेश, विभु, विश्व, विश्व-आधार ॥
प्रणव, यज्ञ, यज्ञेश, सब प्रकृति, पुरुष, पर, वेद । भेदरहित, नित भेदमय, संयुत भेदाभेद ॥
सर्वरूप, शुचि, सर्वमय, शाश्वत, सर्वातीत । शुद्ध सत्त्व; पुनि त्रिगुणमय, यद्यपि त्रिगुणातीत ॥
नारायण, नरसिंह, श्रीकृष्ण, राम, गोपाल । सूर्य, शक्ति, गणनाथ, शिव, रुद्र, स्वयम्भू, काल ॥
नाम-रूप-लीला विविध तत्त्व एक वेदान्त । वाणी-मन-मतिसे परे औपनिषद सिद्धान्त ॥

वेदों और उपनिषदोंमें मांस-भक्षण और अश्लीलता नहीं है

(लेखक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

वेद अपौरुषेय हैं—परमात्माके निःश्वासरूप हैं। वे ज्ञानके अक्षय एवं अगाध भण्डार हैं। वेदवेद्य परमात्मा और वेद दोनों ही 'ब्रह्म' नामसे प्रतिपादित होते हैं। वेद ज्ञानमय हैं और ज्ञान ही ब्रह्मका स्वरूप है। अतः वेद ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं। ब्रह्मके लिये विज्ञान, आनन्द, सत्य एवं अनन्त आदि विशेषण प्रयुक्त होते हैं; ये सभी वेदमें भी गतार्थ हो जाते हैं। यद्यपि ब्रह्म निर्विशेष है—अनिर्वचनीय है, तथापि जब हम वाणीद्वारा उसके स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ कहनेको प्रस्तुत होते हैं, तब हम उसे सविशेष कर ही देते हैं। यह ब्रह्मकी न्यूनता नहीं, हमारी अपनी असमर्थता है। जैसे ब्रह्म अनवद्य और अनामय है, वैसे ही वेद भी हैं; अतः वेदमें कोई ऐसी बात नहीं हो सकती जो मनुष्यके लिये परम कल्याणमयी न हो। जब ब्रह्म ही शान्त और शिवरूप है तब उसीका ज्ञान वेद अशिवरूप कैसे हो सकता है ? वेदका शिरोभाग है उपनिषद्, जो केवल ज्ञानप्रधान होनेसे 'ज्ञानकाण्ड' कहलाती है। वेदोंका अन्त अथवा वेदोंका चरम सिद्धान्तरूप होनेसे उपनिषद्को वेदान्त-शास्त्र भी कहते हैं। जीवमात्रके अकारण सुहृद् परमात्माने अपने स्वरूपभूत वैदिक ज्ञानका आलोक इसीलिये प्रकाशित किया कि सब लोग इस तमोमय जगत्से निकलकर प्रकाशमय परमात्मपदकी ओर बढ़ें। असत्से सत्की ओर और मृत्युसे अमृतपदकी ओर प्रगति कर सकें।

इतनेपर भी कुछ लोगोंने वेदोंपर लाञ्छन लगानेकी चेष्टाएँ की हैं, उनपर दोषारोपणका दुःसाहस किया है। उनकी समझमें वेदोंसे मांस-भक्षणकी प्रवृत्तिको प्रोत्साहन मिलता है और वेदोंमें उन्हें अश्लीलता भी दिखायी देती है। यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि प्रकाशमें तम नहीं रह सकता। फिर भी, जब हम प्रकाशमें खड़े होते हैं तो हमें वहाँ अपनी ही छाया दीख पड़ती है। निर्मल जल या स्वच्छ दर्पणमें निकटसे देखनेपर हमें अपने ही प्रतिबिम्बका दर्शन होता है। यदि हम उस काली छायाको भी प्रकाशका अङ्ग तथा प्रतिबिम्बको भी जल और दर्पणका अवयवविशेष मान लें तो इससे हमारे ही अज्ञानका परिचय मिलेगा; इससे उन प्रकाशादि वस्तुओंकी निर्मलतामें दोष नहीं आ सकता। यही दशा उपर्युक्त आरोपोंकी भी है। वेदोंमें न मांसकी विधि है, न अश्लीलताका नग्न चित्रण ही। यह सब हमें अपने परिवर्तित दृष्टिकोणके कारण दृष्टिगोचर होता है। जैसे सब प्रकारकी आसक्तियोंके त्यागपूर्वक भगवान्के अनन्यशरण होनेसे ही श्रद्धालु भक्तको उनके यथार्थ तत्त्वका बोध या साक्षात् उनके स्वरूपकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार मत-मतान्तरोंके आग्रहसे रहित हो भक्तिभावसे वेद भगवान्‌की शरणमें जानेसे ही वेदके यथार्थ तत्त्वकी उपलब्धि हो सकती है। **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'**—'वेद अथवा भगवान् स्वयं ही दया करके जिसे अपना लें, उसीको वे प्राप्त होते हैं।' अतः केवल मेधावी पण्डित होनेसे या बहुतसे शास्त्रोंका अध्ययन कर लेनेमात्रसे अहङ्कारवश कोई वेदके यथार्थ तत्त्वको पूर्णतया नहीं जान सकता—**'न मेधया न बहुना श्रुतेन।'**

मनुष्योंमें अनेक प्रकृतिके लोग होते हैं; गीतामें उनको दो भागोंमें विभक्त किया गया है—एक दैवी प्रकृति और दूसरी आसुरी प्रकृति—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।

भयका अभाव, अन्तःकरणकी स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर स्थिति, दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोधका अभाव, त्याग, शान्ति, चुगली न खाना, समस्त प्राणियोंपर दया, अलोलुपता, मृदुता, लज्जा, अचञ्चलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, कहीं भी वैरभाव न होना तथा अभिमानका अभाव—ये सब दैवी प्रकृतिके लोगोंमें विकसित होनेवाले सद्गुण हैं।

आसुरी प्रकृतिके लोग इनसे सर्वथा विपरीत होते हैं। कौन-सा काम करना चाहिये और कौन-सा नहीं—हम किसमें लगें और किस कार्यसे अलग रहें—इन सब बातोंको वे बिल्कुल नहीं समझते। शौच, सदाचार और सत्य तो उनमें रहता ही नहीं। वे जगत्को बिना ईश्वरके ही उत्पन्न हुआ मानते हैं। इसके मूलमें कोई सत्य है, इसका कोई नित्य चेतन आधार है—इन सब बातोंको वे नहीं स्वीकार करते। उनकी समझमें केवल काम ही इस जगत्का हेतु है और यह स्त्री-पुरुषोंके संयोगसे ही सतत उत्पन्न होता है। इस मिथ्या ज्ञानका आश्रय लेनेसे उनका सत्स्वरूप आत्मा तिरोहित-सा हो जाता है; वे अल्पबुद्धि होनेके कारण सबका अहित करनेवाले

क्रूरकर्मी बन जाते हैं और जगत्के विनाशमें ही कारण बनते हैं। वे अपने मनमें ऐसी-ऐसी कामनाएँ पालते हैं, जो कभी पूर्ण न हो सकें। वे दम्भ, मान और मदसे उन्मत्त होते हैं और मोहवश मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके भ्रष्टाचारसे संयुक्त हो स्वेच्छाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। मरण-पर्यन्त अनन्त चिन्ताओंमें डूबे रहते हैं। सदा कामोपभोगमें संलग्न होकर—इतना ही सुख है—ऐसा मानते रहते हैं। सैकड़ों आशाके बन्धनोंमें बँधकर, काम-क्रोधपरायण हो, काम-भोगके लिये ही वे अन्यायपूर्वक धनसंचय करना चाहते हैं। आज यह पा लिया, कलको अमुक मनोरथ सिद्ध करूँगा, इतना धन तो मेरे पास है ही, फिर यह भी मेरा ही हो जायगा। अमुक शत्रुको तो मार डाला और दूसरे जो बचे हैं, उनका भी सफाया करके छोड़ूँगा। मेरी शक्ति किसीसे कम नहीं है—मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ। धनी और जनताका नेता हूँ; संसारमें दूसरा कौन है जो मेरी बराबरी कर सके। मैं इच्छानुसार यज्ञ, दान और आनन्दोपभोग करूँगा। ये ही सब उनके मुखसे निकले हुए उद्गार हैं। वे अपने ही बड़प्पनकी डींग मारनेवाले, घमंडी तथा धन और मानके मदसे उन्मत्त होते हैं; और पाखण्डपूर्ण नाममात्रके यज्ञोंद्वारा अविधिपूर्वक यजन करते हैं। अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधका आश्रय ले अपने और दूसरेके शरीरमें स्थित अन्तर्यामी परमेश्वरसे द्वेष करते और उनकी नित्य निन्दा करते हैं। तथा इसीलिये वे अन्ततोगत्वा बार-बार आसुरी योनि और नरकमें पड़ते हैं। (गीता अध्याय १६)

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रायः ऐसे आसुरी प्रकृतिके लोग ही मांस और अश्लील सेवनकी रुचि रखते हैं और अधिकांशमें ऐसे ही लोगोंने अर्थका अनर्थ करके सर्वत्र मद्य, मांस और मैथुनकी प्रवृत्तियोंको प्रसारित करनेकी चेष्टाएँ की हैं।* कहा जाता है, वेदोंमें यज्ञके लिये पशुहिंसाकी विधि है। अतः वेदोंका मान रखनेके लिये कुछ लोग **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।'** वेदविहित हिंसाका नाम हिंसा ही नहीं है, ऐसा कहा करते हैं। परंतु हिंसा हिंसा ही है, फिर वह चाहे कैसी ही हो। वेदोंकी तो यह स्पष्ट आज्ञा है—**'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।'** (किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे।) फिर वैदिकी हिंसा क्या वस्तु है। जगत्के प्राणियोंको कष्ट देनेवाले दस्युओं, आततायियों तथा पापियोंके लिये जो प्राणदण्डका आदेश मिलता है; वह हिंसा नहीं, दण्ड है। दण्ड अपराधीको ही दिया जाता है, निरपराधको नहीं। 'दस्युता', 'आततायीपन' अपराध है; अतः इनके लिये दण्डका औचित्य है; किंतु उन भेड़-बकरे आदि पशुओंका क्या अपराध है, जिनको दण्ड दिया जाय। वह भी यज्ञके नामपर। यज्ञ परमेश्वरकी आराधना है। परमेश्वर विश्वके पालक और शिवरूप हैं। अतः विश्वके संरक्षण और कल्याणमें योग देना ही परमेश्वरकी यथार्थ पूजा अथवा यज्ञ है। किसी निरपराध पशुके रक्त-मांससे परमेश्वरको तृप्त करनेकी कल्पना कितनी बीभत्स है! यह तो—

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।

—के अनुसार स्पष्टतः ईश्वरद्रोह है। यह ईश्वरद्रोह ही जिनकी प्रकृति है, उन असुरोंने ही समय-समयपर वेदोंके अर्थोंको बदलनेकी चेष्टा की है। बृहदारण्यकोपनिषद्में प्रथम अध्यायके तृतीय ब्राह्मणमें कथा आती है कि प्रजापतिके ज्येष्ठ पुत्रों—देवताओंने 'वाक्' आदि प्राणोंसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' उन्होंने वैसा ही किया। तब असुरोंने समझा कि इस प्रकार तो ये देवता हमें पराजित ही कर देंगे, अतः उन्होंने उन वाक् आदिको पापसे विद्ध कर दिया—**'पाप्मना-विध्यन्।'** इससे उनमें असत्य-भाषण आदिका दोष आ गया। जो असुर हमारी इन्द्रियोंपर भी अपने संस्कार डाल सकते हैं; उन्होंने ग्रन्थोंमें कुछ मिलानेकी चेष्टा की हो तो क्या आश्चर्य। इसीलिये कहा जाता है कि मांस खानेकी प्रवृत्ति मनुष्यमें स्वाभाविक नहीं; यह तो निशाचरोंके प्रयत्नसे हुई है—

मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्।

महाभारत अनुशासनपर्वमें कहा गया है कि प्राचीन कालमें मनुष्योंके यज्ञ-यागादि केवल अन्नसे ही हुआ करते थे। मद्य-मांस आदिकी प्रथा तो पीछेसे धूर्त असुरोंने चला

* यह सत्य है कि इधरके कुछ परम आदरणीय आचार्यों और महानुभावोंने भी किन्हीं-किन्हीं शब्दोंका मांसपरक अर्थ किया है। इसका प्रधान कारण यह है कि उनमेंसे अधिकांश परमार्थवादी महापुरुष थे। गूढ़ आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयोंपर विशेष दृष्टि रखकर उनका विशद अर्थ करनेपर उनका जितना ध्यान था, उतना लौकिक विषयोंपर नहीं था। इसीसे उन्होंने ऐसे विषयोंका वही अर्थ लिख दिया जो देशकी परिस्थितिविशेषके कारण उस समय अधिकांशमें प्रचलित था।

दी। वेदमें इन वस्तुओंका विधान नहीं है।* असुर शब्दका अर्थ है—प्राणका पोषण करनेवाला। जो अपने सुखके लिये दूसरे प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, वे सभी असुर हैं। आसुरी प्रकृतिके मनुष्य पढ़-लिखकर विद्वान् हो जानेपर भी देहासक्ति और देहाभिमान नहीं छोड़ पाते। वे शास्त्र इसीलिये पढ़ते हैं कि शास्त्रका मनमाना अर्थ करके अपने मतकी पुष्टि कर सकें। अतः शास्त्रसे वे यथार्थ ज्ञानको नहीं ग्रहण कर पाते। केवल शब्दोंकी व्युत्पत्ति करके खींचतानसे चाहे जो अर्थ निकाल लेना अपनेको और दूसरोंको भी धोखा देना है। वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं। महर्षियों तथा मेधावी महात्माओंने वेदार्थको समझनेके लिये भी कुछ पद्धतियाँ निश्चित की हैं; उन्हींके अनुसार चलकर हमें श्रद्धापूर्वक वेदार्थको समझनेका यत्न करना चाहिये। भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि वे अन्तःकरणमें स्थित होकर कृपापूर्वक वेदोंके सत्य अर्थको प्रकट कर दें। भगवान्का आश्रय लेकर यदि वेदार्थका विचार किया जाय तो भगवत्कृपासे निश्चय ही सत्य अर्थका साक्षात्कार हो सकता है।

ऋग्वेदमें लिखा है—**'यज्ञेन वाचं पदवीयमानम्'** अर्थात् समस्त वेदवाणी यज्ञके द्वारा ही स्थान पाती है। अतः वेदका जो भी अर्थ किया जाय, वह यज्ञमें कहीं-न-कहीं अवश्य उपयुक्त होता हो—यह ध्यान रखना आवश्यक है। वेदार्थके औचित्यकी दूसरी कसौटी यह है—

बुद्धिपूर्वा वाक्प्रकृतिर्वेदे । (वैशेषिकदर्शन)

अर्थात् वेदवाणीकी प्रकृति बुद्धिपूर्वक है। अतः वेदमन्त्रका अपना किया हुआ अर्थ बुद्धिके विपरीत न हो—बुद्धिमें बैठने योग्य हो, इस बातपर भी ध्यान रखनेकी आवश्यकता है। साथ ही यह भी देखना उचित है कि हमने जो अर्थ किया है, वह तर्कसे सिद्ध तो होता है न? हमारा अर्थ तर्कसे असङ्गत तो नहीं ठहरता? निरुक्तकार कहते हैं—ऋषियोंके उत्क्रमण करनेपर मनुष्योंने देवताओंसे पूछा—'अब हमारा ऋषि कौन होगा? कौन हमें वेदका अर्थ निश्चित करके बतावेगा? तब देवताओंने उन्हें तर्क नामक ऋषि प्रदान किया।'* अतः तर्कसे गवेषणापूर्वक निश्चित किया हुआ अर्थ ऋषियोंके अनुकूल ही होगा। स्मृतिकार भी कहते हैं—

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नापरः ।

'जो तर्कसे वेदार्थका अनुसन्धान करता है, वही धर्मको जानता है, दूसरा नहीं।' अतः समुचित तर्कसे समीक्षा करना वेदार्थके परीक्षणका तीसरा मार्ग है। चौथी रीति यह है कि इस बातपर दृष्टि रक्खी जाय कि हमारा किया हुआ अर्थ शब्दके मूलधातुके विपरीत तो नहीं है; क्योंकि निरुक्तकारने धातुज अर्थको ही ग्रहण किया है। पतञ्जलिने भी अपने महाभाष्यमें इसकी चर्चा की है—**'नाम च धातुजमाह निरुक्ते।'** इन चारों हेतुओंको सामने रखकर यदि वेदार्थपर विचार किया जाय तो भ्रमकी सम्भावना नहीं रहेगी।

प्रकृति स्वभावतः निम्नगामिनी होती है; अतः प्रकृतिके वशमें रहनेवाले मनुष्यकी प्रवृत्ति स्वभावतः विषयभोगकी ओर होती है। शास्त्र ईश्वरीय ज्ञान हैं; वे मनुष्यकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिको रोकने और उसे धर्म एवं सदाचारमें प्रतिष्ठित करनेके लिये ही अवतीर्ण हुए हैं। वेद तो साक्षात् भगवान्की वाणी हैं; अतः उनमें कोई ऐसी बात हो ही नहीं सकती, जो मनुष्यको अनर्गल विषयभोग एवं हिंसाकी ओर जानेके लिये प्रोत्साहन देती हो। वह तो असत्से सत्की ओर जानेकी ही प्रेरणा देती है। अतः तर्क और बुद्धिसे यही ठीक जान पड़ता है कि वेद हिंसात्मक या अनाचारात्मक कार्योंके लिये आदेश नहीं दे सकते। यदि कहीं कोई ऐसी बात मिलती है तो वह अर्थ करनेवालोंकी ही भूल है। प्रायः यज्ञमें पशु-वधकी बात बतायी जाती है। परंतु यज्ञके ही जो प्राचीन नाम मिलते हैं, उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि यज्ञ सर्वथा अहिंसात्मक होते आये हैं। 'ध्वर' शब्दका अर्थ है हिंसा। जहाँ ध्वर अर्थात् हिंसा न हो, उसीका नाम 'अध्वर' है। यह 'अध्वर' शब्द यज्ञका ही पर्याय है। अतः हिंसात्मक कृत्य कभी यज्ञ नहीं माना जा सकता। 'यज' धातुसे 'यज्ञ' बनता है। इसका अर्थ है—देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान। इनमेंसे किसीके द्वारा भी हिंसाका समर्थन नहीं प्राप्त होता। गोयज्ञमें गायोंकी पूजा ही होती है, जहाँ असुर सदासे गाय आदि पशुओंको मारकर अपनी रक्त-पिपासा शान्त करते आये हैं, वहीं देवयज्ञमें गौओंको 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) बताकर पूज्य ठहराया गया है। आज भी देवताओंके वंशज गोपूजक हैं।

---

* श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः॥
(महा० अनु० ११५।५६)

सुरां मत्स्यान् मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥
(महा० शान्ति० २६५।९)

* मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भवतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्……… (निरुक्त २।१२)

वैदिक यज्ञोंमें तो मांसका इतना विरोध है कि मांस जलानेवाली आगको सर्वथा त्याज्य निश्चित कर दिया गया है। प्रायः चिताग्नि ही मांस जलानेवाली होती है। जहाँ अपनी मृत्युसे मरे हुए मनुष्योंके अन्त्येष्टि-संस्कारमें उपयोग की हुई आगका भी बहिष्कार है, वहाँ पावन वेदीपर प्रतिष्ठापित विशुद्ध अग्निमें अपने मारे हुए पशुके होमका विधान कैसे हो सकता है ? आज भी जब वेदीपर अग्निकी स्थापना होती है, तो उसमेंसे थोड़ी-सी आग निकालकर बाहर कर दी जाती है। इसलिये कि कहीं उसमें क्रव्याद (मांस-भक्षी या मांस जलानेवाली आग) के परमाणु न मिल गये हों। अतएव **'क्रव्यादांशं त्यक्त्वा'** (क्रव्यादका अंश निकालकर ही) होमकी विधि है। ऋग्वेदका वचन है—

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥
(ऋ० ७। ६। २१। ९)

'मैं मांस खाने या जलानेवाली आगको दूर हटाता हूँ, यह पापका भार ढोनेवाली है; अतः यमराजके घरमें जाय। इससे भिन्न जो ये दूसरे पवित्र और सर्वज्ञ अग्निदेव हैं, इनको ही यहाँ स्थापित करता हूँ। ये इस हविष्यको देवताओंके समीप पहुँचायें; क्योंकि ये सब देवताओंको जाननेवाले हैं।'

यजुर्वेदके अनेक मन्त्रोंमें भगवान्‌से प्रार्थना की गयी है कि वे हमारे पुत्रों, पशुओं—गाय और घोड़ोंको हिंसाजनित मृत्युसे बचावें—

'मा नस्तनये मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।'

कुछ मन्त्रोंके वाक्यांश इस प्रकार हैं—

पशून् पाहि, गां मा हिंसीः, अजां मा हिंसीः, अविं मा हिंसीः। इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्, मा हिंसीरेकशफं पशुम्, मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।

'पशुओंकी रक्षा करो।' 'गायको न मारो।' बकरीको न मारो।' 'भेड़को न मारो।' 'इन दो पैरवाले प्राणियोंको न मारो।' 'एक खुरवाले घोड़े-गधे आदि पशुओंको न मारो।' 'किसी भी प्राणीकी हिंसा न करो।'

ऋग्वेदमें तो यहाँतक कहा गया है कि जो राक्षस मनुष्य, घोड़े और गायका मांस खाता हो तथा गायके दूधको चुरा लेता हो, उसका मस्तक काट डालो—

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥
(८। ४। ८। १६)

अब प्रश्न होता है कि वेदमें यदि मांसका वाचक या पशुहिंसाका बोधक कोई शब्द ही प्रयुक्त न हुआ होता तो कोई भी कैसे उस तरहका अर्थ निकाल सकता था ? इसके उत्तरमें हम महाभारतसे एक प्रसङ्ग उद्धृत कर देना चाहते हैं। एक बार ऋषियों तथा दूसरे लोगोंमें 'अज' शब्दके अर्थपर विवाद हुआ। एक पक्ष कहता था **'अजेन यष्टव्यम्'** का अर्थ है "अन्नसे यज्ञ करना चाहिये। अजका अर्थ है—उत्पत्तिरहित; अन्नका बीज ही अनादि-परम्परासे चला आ रहा है; अतः वही 'अज' का मुख्य अर्थ है; इसकी उत्पत्तिका समय किसीको ज्ञात नहीं है; अतः वही अज है।" दूसरा पक्ष अजका अर्थ बकरा करता था। पहला पक्ष ऋषियोंका था। दोनों राजा वसुके पास निर्णय करानेके लिये गये। वसु अनेक यज्ञ कर चुका था। उसके किसी भी यज्ञमें मांसका उपयोग नहीं हुआ था। वह सदा अन्नमय यज्ञ ही करता था, परंतु म्लेच्छोंके संसर्गसे पीछे चलकर वह ऋषियोंका द्वेषी बन गया था। ऋषि उसकी बदली हुई मनोवृत्तिसे परिचित न थे। वे विश्वास करके गये। राजा सहसा निर्णय न दे सका। उसने पूछा 'किसका क्या पक्ष है ?' जब उसे मालूम हुआ कि ऋषिलोग 'अज'का अर्थ अन्न करते हैं, तो उसने उनके विरोधी पक्षका ही समर्थन करते हुए कहा **'छागेनाजेन यष्टव्यम्।'** असुर तो यह चाहते ही थे। वे उसके प्रचारक बन गये; परंतु ऋषियोंने उस मतको ग्रहण नहीं किया; क्योंकि वह पूर्वोक्त चारों हेतुओंसे असङ्गत ठहरता है।

संस्कृत-वाङ्मयमें अनेकार्थक शब्द बहुत हैं। **'शब्दाः कामधेनवः'** यह प्रसिद्ध है। उनसे अनन्त अर्थोंका दोहन होता है। परंतु कौन-सा अर्थ कहाँ लेना ठीक है; इसका निश्चय विवेकशील विद्वान् ही कर सकते हैं। कोई यात्रापर जा रहा हो और सवारीके लिये 'सैन्धव' लानेका आदेश दे तो, उस समय नमक लानेवाला मनुष्य मूर्ख समझा जाता है, वहाँ सिन्धुदेशीय अश्व ही लाना उचित होगा। इसी प्रकार भोजनमें सैन्धव डालनेका आदेश देनेपर नमक ही डाला जायगा, अश्व नहीं। इसी प्रकार वेदके यज्ञ-प्रकरणमें आये हुए शब्दका वहाँके सात्त्विक वातावरणके अनुरूप ही अर्थ ठीक हो सकता है। जहाँ दवा बनानेके लिये **'प्रस्थं कुमारिकामांसम्'** की आज्ञा है; वहाँ सेरभर घीकुआँरका गूदा ही डाला जायगा। कुमारी-कन्याका एक सेर मांस डालनेकी बात तो कोई पिशाच ही सोच सकता है।

यज्ञमें पशु बाँधनेकी बात आती है। प्रश्न होता है, वह

पशु क्या है ? इसका उत्तर शतपथ-ब्राह्मणके एक प्रश्नोत्तरसे स्पष्ट हो जाता है—**'कतमः प्रजापतिः ?'** प्रजापति अर्थात् प्रजाका पालन करनेवाला कौन है ? उत्तर मिलता है—**'पशुरिति'**—पशु ही प्रजापालक है । तात्पर्य यह कि जो पदार्थ या शक्तियाँ प्रजाका पोषण करनेवाली हैं; उन्हें पशु कहा गया है । इसीलिये भिन्न-भिन्न प्रकारके पशुओंकी यज्ञमें चर्चा की गयी है । **'नृणां व्रीहिमयः पशुः'**—मनुष्योंके यज्ञमें अन्नमय पशुका उपयोग होता आया है । **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'** देवताओंने यज्ञसे ही यज्ञ किया था; उनका यज्ञमय पशु था । निरुक्तमें इस मन्त्रका अर्थ करते हुए यास्काचार्य-ने लिखा है—**'अग्निः पशुरासीत्तं देवा अलभन्त'** 'अग्नि ही पशु था, उसीको देवता प्राप्त हुए ।' इतना ही नहीं, अग्नि, वायु और सूर्यको भी 'पशु' नाम दिया गया है—

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त । वायुः पशुरासीत्तेनाय-जन्त । सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त ।

'अबध्नन् पुरुषं पशुम्' इस मन्त्रमें पुरुषको ही पशु कहा गया है। वहाँ सात परिधि और इक्कीस समिधाओंकी भी चर्चा है—

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः ।

इसके दो अर्थ किये जाते हैं—शरीरगत सात धातु ही सात परिधि हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, दस प्राण और एक मन—ये ही इक्कीस समिधाएँ हैं; इनको लेकर 'आत्मा' रूपी पुरुषसे देवताओंने 'शरीर-यज्ञ' किया। इन सबके सहयोगसे ही मानव-शरीरकी सम्यक् सृष्टि हुई । दूसरा अर्थ सङ्गीत-यज्ञपरक होता है । उसमें सात स्वर ही सात परिधि और इक्कीस मूर्छनाएँ ही समिधाएँ हैं । नाद ही वहाँ पशु है । इनसे 'सङ्गीत-यज्ञ' सम्पन्न होता है ।

इसी प्रकार यदि विवेकको साथ रखते हुए वेदार्थपर विचार किया जायगा तो वेद भगवान् ही ऐसी सामग्री प्रस्तुत कर देंगे, जिससे सत्य अर्थका भान हो जाय। जहाँ द्व्यर्थक शब्दोंके कारण भ्रम होनेकी सम्भावना हो सकती है, वहाँ बहुतेरे स्थलोंपर स्वयं वेदने ही अर्थका स्पष्टीकरण कर दिया है—

'धाता धेनुरभवद्, वत्सोऽस्यास्तिलः ।'

(अथर्ववेद १८ । ४ । ३२)

अर्थात् धान ही धेनु है और तिल ही उसका बछड़ा हुआ है । अथर्ववेदके ११ । ३ । ५ तथा ११ । ३ । ७ मन्त्र-में कहा है—चावलके कण ही अश्व हैं । चावल ही गौ हैं । भूसी ही मशक है । चावलोंका जो श्यामभाग है, वह मांस है और लालभाग ही रुधिर है* । यहाँ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है ।

इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध है कि हवन-प्रकरणमें जहाँ कहीं भी अश्व, गौ, अजा, मांस, अस्थि और मज्जा आदि शब्द आते हैं, उनसे अन्नका ही ग्रहण होता है; पशुओं और उनके अवयवोंका नहीं । 'शतपथ ब्राह्मण' आदिमें भी ऐसे स्थलोंका स्पष्टीकरण किया गया है—केवल पीसा हुआ सूखा आटा 'लोम' है । पानी मिलानेपर वह 'चर्म' कहलाता है । गूँधनेपर उसकी 'मांस' संज्ञा होती है । तपानेपर उसीको 'अस्थि' कहते हैं । घी डालनेपर उसीका 'मज्जा' नाम होता है । इस प्रकार पककर जो पदार्थ बनता है, उसका नाम 'पाक्तपशु' होता है।† अथर्ववेदके अनुसार व्रीहि और यव क्रमशः प्राण और अपान हैं‡ । 'अनड्वान्' भी प्राणका नाम है। अतः अनड्वान् शब्दसे भी जौको ग्रहण किया जा सकता है । मीमांसासूत्रमें तो पशु-हिंसा और मांस-पाकका स्पष्टतः निषेध मिलता है—

मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत् । (१२ । २ । २)

'यज्ञमें जैसे पशुहिंसाका निषेध है, उसी प्रकार मांस-पाकका भी निषेध है।' **'धेनुवच्च अश्वदक्षिणा'** (मीमांसा० १० । ३ । ६५) 'गौकी भाँति घोड़ा भी यज्ञमें दक्षिणाके लिये ही उपयोगमें लाया जाता है ।'

अपि वा दानमात्रं स्याद् भक्षशब्दानभिसम्बन्धनात् ।

(मीमांसा० १० । ७ । १५)

'अथवा वह केवल दानमात्रके लिये ही है; क्योंकि गौकी

---

* अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः ।
श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ॥

† 'यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति । यदाप आनयत्यथ त्वग् भवति । यदा स यौत्यथ मांसं भवति । संतत इव हि तर्हि भवति संततमिव हि मांसम् । यदा शृतोऽथास्थि भवति । दारुण इव तर्हि भवति । दारुणमित्यस्थि । अथ यदुद्वासयन्नभिघारयति तं मज्जानं ददाति । एषा सा संपद् यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति ।' ऐतरेय ब्राह्मणमें भी इसी तरहका स्पष्टीकरण देखा जाता है—'स वा एष पशुरेवालभ्यते यत्पुरोडाशस्तस्य । यानि किंशारूपाणि तानि रोमाणि । ये तुषाः सा त्वक् । ये फलीकरणास्तद् असृग् यत्पिष्टं तन्मांसम् । एष पशूनां मेधेन यजते ।' इस मन्त्रमें पुरोडाशके अन्तर्गत जो अन्नके दाने हैं, उन्हें अन्नमय पशुका रोम, भूसीको त्वचा, टुकड़ोंको सींग और आटेको मांस नाम दिया गया है ।

‡ प्राणापानौ व्रीहियवौ अनड्वान् प्राण उच्यते ।
(अथर्ववेद ११ । ४ । १३)

ही भाँति अश्वके लिये भी कहीं 'भक्षण' शब्द नहीं आया है।' (तात्पर्य यह कि मनुष्यके भोजनमें केवल अन्नका ही उपयोग होता है, गौ और अश्व आदिका नहीं ।) आश्वलायन-सूत्रमें स्पष्ट कहा गया है कि हवन-सामग्री मांससे वर्जित होती है—**'होमियं च मांसवर्जम्।'** कात्यायनका भी यही मत है—**'आहवनीये मांसप्रतिषेधः।'**

उपर्युक्त प्रमाणोंसे सिद्ध है कि यज्ञमें मांसका उपयोग कभी शिष्टपुरुषोंद्वारा स्वीकृत नहीं हुआ । कुछ लोग बलि, आलम्भ, मधुपर्क और गोघ्न आदि शब्दोंसे पशु-हिंसाका अर्थ निकालते हैं; परंतु प्राचीन साहित्य या मध्यकालीन साहित्यमें भी इन शब्दोंका कभी हिंसापरक अर्थ नहीं स्वीकृत किया गया है । बलिवैश्वदेवमें जो बलि दी जाती है; वहाँ किसीकी हिंसा नहीं की जाती, अपितु सम्पूर्ण विश्वके प्राणियोंको तृप्त करनेकी भावनासे उन्हें अन्न और जल अर्पण किया जाता है । बलिका अर्थ किरण और कर (टैक्स या लगान) भी होता है । जीव-हिंसाके अर्थमें 'बलि' शब्दका प्रयोग तो पीछे हुआ है और वह भी मांसभक्षी लोगोंके अपने व्यवहारसे । बलिका अर्थ त्याग ही शिष्टसम्मत है । इसी प्रकार 'आलभन' शब्द भी स्पर्श और प्राप्ति-अर्थमें आता है । मीमांसासूत्र (२ । ३ । १७) की सुबोधिनी टीकामें लिखा है **'आलम्भः स्पर्शो भवति'** अर्थात् स्पर्शका नाम आलम्भ है । यज्ञोपवीत और विवाह-संस्कारमें **'हृदयमालभते'** का प्रयोग आता है । वहाँ गुरु शिष्यके और वर वधूके हृदयका स्पर्शमात्र ही करता है—छातीमें छुरा नहीं भोंकता । 'स्पर्श'शब्द दानके अर्थमें भी आता है । महाकवि कालिदासने **'गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः'** इस पद्यमें 'स्पर्शयता'का प्रयोग 'ददता'के अर्थमें ही किया है । महाभारत अनुशासनपर्वमें स्पर्श-यज्ञकी चर्चा देखी जाती है । पहले जब अवर्षण होता था तो लोग पशु-स्पर्श-यज्ञ करते थे * । यही 'पशुका आलम्भन' या 'स्पर्श' कहलाता था । आजकल भी लोग अन्न और पशु आदि छूकर ब्राह्मणोंको देते हैं । यह उसी आलम्भन या स्पर्शयज्ञका एक रूप है । पशुका ही आलम्भन (छूकर छोड़ देना या दान देना) अधिक प्रचलित था; अतः जहाँ अन्नका स्पर्श, दान या हवन होता है; उस यज्ञमें अन्न ही पशु है, यह रूपक दिया गया है । इसीलिये महाभारत अनुशासनपर्वमें कहा गया है—

'श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः ।'

इसी प्रकार मधुपर्क भी सर्वथा हिंसारहित और निर्दोष है । तीन भाग दही, एक भाग शहद और एक भाग घीको काँसेके पात्रमें रखनेपर उसकी 'मधुपर्क' संज्ञा होती है । 'मधुपर्क' नाम ही मधुर पदार्थोंका सम्पर्क सूचित करता है । अब रही **'गोघ्नोऽतिथिः'** की बात । इसका अर्थ लोग भ्रमवश ऐसा मानने लगे हैं कि अतिथिके लिये गाय मारी जाती थी; परंतु बात ऐसी नहीं है । हन् धातुका प्रयोग हिंसा और गति अर्थमें होता है । गतिके भी ज्ञान, गमन और प्राप्ति आदि अनेक अर्थ हैं । इनमेंसे प्राप्ति अर्थको लेकर ही यहाँ 'गोघ्न'का प्रयोग होता है । वह अतिथि जिसे गौकी प्राप्ति हो—जिसे गाय दी जाय वह 'गोघ्न' कहलाता है । व्याकरणके आदि आचार्य महर्षि पाणिनिने अपने एक सूत्रद्वारा इसी अभिप्रायकी पुष्टि की है । वह सूत्र है—**'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने'** (३ । ४ । ७३) इसके द्वारा सम्प्रदान अर्थमें 'दाश' और 'गोघ्न' शब्द सिद्ध होते हैं । यदि यहाँ चतुर्थीमात्र ही अभीष्ट होता—अर्थात् अतिथिके उद्देश्यसे गायको मारना ही सूचित करना होता तो **'सम्प्रदाने'** न कहकर **'तस्मै'** इस विभक्तिप्रतिरूपक अव्ययका ही प्रयोग कर देते; परंतु ऐसा न करके **'सम्प्रदाने'** लिखा है; इससे यहाँ दानार्थकी अभिव्यक्ति सूचित होती है । अतः जिसे गाय दी जाय, उस अतिथिको ही 'गोघ्न' कह सकते हैं । पूर्वकालमें अतिथिको गौ देनेकी साधारण परिपाटी थी । आज भी प्राचीन प्रथाके अनुसार विवाहमें घरपर पधारे हुए वरको आतिथ्यके लिये गोदान किया जाता है । आयुर्वेदमें जो मांसप्रधान ओषधियाँ हैं, उन्हें भी द्विजोंने कभी नहीं स्वीकृत किया था; अतएव चरकने लिखा है—द्विजोंकी पुष्टिके लिये तो मिश्रीयुक्त घी और दूध ही औषध है* । मांस तो **'यक्षरक्षःपिशाचान्नम्'**—(यक्ष, राक्षस और पिशाचोंका भोजन है) । यज्ञके नामपर की जानेवाली हिंसाको लक्ष्य करके विष्णुशर्माने पञ्चतन्त्रमें लिखा है कि 'यदि यही स्वर्गका मार्ग है तो नरकमें कौन जायगा ?'† अतः यही मानना

* यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ।
स्पर्शयज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः ॥

* द्विजानामोषधीसिद्धं घृतं मांसविवृद्धये ।
सितायुक्तं प्रदातव्यं गव्येन पयसा भृशम् ॥
(चरक चि० ८ । १४९)

† वृक्षांश्छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येवं गम्यते स्वर्गं नरके केन गम्यते ॥

चाहिये कि वेदों और उपनिषदोंमें यज्ञ अथवा भोजनके प्रसंग-में जहाँ कहीं भी 'पशु'वाचक शब्द आये हैं, उन सबका अर्थ अन्न अथवा औषध है।

उदाहरणके लिये बृहदारण्यक उपनिषद्के (६।४।१८ वें) मन्त्रपर दृष्टिपात कीजिये। वहाँ सुयोग्य और विद्वान् पुत्र उत्पन्न करनेके लिये दम्पतिको औक्ष अथवा आर्षभके साथ पकायी हुई खिचड़ी खानेका आदेश किया गया है। प्रायः मूँग या उड़दकी दाल मिलाकर ही खिचड़ी बनती है। मूँगकी खिचड़ीको 'मुद्गौदन' और उड़दमिश्रित खिचड़ीको 'माषौदन' कहते हैं। इस 'माषौदन' को संभवतः किन्हीं मांस-प्रेमियोंने 'मांसौदन' कर दिया है। यदि किसीका यही आग्रह हो कि वहाँ 'मांसौदन' ही पाठ है, तो भी उसका अर्थ वहाँ औषध या अन्न ही है। यह बात पहलेके विवेचनके अनुसार माननी ही होगी। औक्ष या आर्षभ-मिश्रित ओदनके लिये 'माषौदन' या 'मांसौदन' नाम आया है; यही मानना प्रकरणसङ्गत है। अब औक्ष या आर्षभका तात्पर्य क्या है, यह जान लेना आवश्यक है। 'उक्षा' और 'ऋषभ' नामक औषध ही यहाँ 'औक्ष' और 'आर्षभ' नामसे प्रतिपादित हुआ है, उक्षा ऋषभका पर्याय है और सोमको भी उक्ष कहते हैं। 'ऋषभ' एक प्रकारका कन्द है; इसकी जड़ लहसुनसे मिलती-जुलती है। सुश्रुत और भावप्रकाश आदिमें इसके नाम, रूप, गुण और पर्यायोंका विशेष विवरण दिया गया है। इस अङ्कके बृहदारण्यकमें, जहाँ वह प्रसङ्ग है; कुछ प्रमाण भी उद्धृत कर दिये गये हैं। ऋषभके* वृषभ, वीर, विषाणी, गोपति, वृष, शृङ्गी, ककुद्मान् आदि जितने भी नाम आये हैं, सब वृषभ या बैलका अर्थ रखते हैं। इसी भ्रमसे कुछ लोगोंने वहाँ 'वृषभ-मांस' की बीभत्स कल्पना की है, जो **'प्रस्थं कुमारिकामांसम्'** के अनुसार 'एक सेर कुमारीकन्याके मांस' की कल्पनासे ही मेल खाती है। वैद्यक-ग्रन्थोंमें बहुतसे पशु-पक्षियोंके-से नामवाले औषध देखे जाते हैं। उदाहरणके लिये वृषभ (ऋषभकन्द), श्वान (ग्रन्थिपर्ण या कुत्ता-घास), मार्जार (चित्ता), अश्व (अश्वगन्धा), अज (आजमोदा), सर्प (सर्पगन्धा), मयूरक (अपामार्ग), मयूरी (अजमोदा), कुक्कुटी (शाल्मली), मेष (जीवशाक), नकुल (नाकुली बूटी), गौ (गौलोमी), खर (खरपर्णिनी), काक (काकमाची), वाराह (वाराहीकन्द), महिष (गुग्गुल) आदि शब्द द्रष्टव्य हैं। यह भी सबको जानना चाहिये कि फलोंके गूदेको 'मांस', छालको 'चर्म', गुठलीको 'अस्थि', मेदाको 'मेद' और रेशाको 'स्नायु' कहते हैं।*

वेदों और उपनिषदोंपर अश्लीलताका भी आरोप लगाया जाता है; परंतु पशुवध और मांससम्बन्धी आरोपोंकी भाँति यह आरोप भी निराधार है। पहले अश्लीलता क्या है, यह समझ लेनेकी आवश्यकता है। एक आदमी जब सभ्य-समाजमें कहीं अपने गुप्ताङ्गों या इन्द्रियोंको दिखाता या निर्लज्जतावश कुत्सित चर्चाएँ करता है तो यह सब अश्लील समझा जाता है। परंतु एक रोगी मनुष्य जब डाक्टरके सामने नंगा खड़ा होता है, तो उसकी यह क्रिया अश्लील नहीं समझी जाती। वैद्यक या डाक्टरीके ग्रन्थोंमें, जहाँ प्रत्येक अवयवका—गुप्त अङ्गका भी स्पष्ट वर्णन होता है, वह अश्लील नहीं माना जाता। एक व्याख्याता समाज-सुधारके लिये बुराइयोंका नग्न चित्र उपस्थित करता है, उस समय उसकी वह बात अश्लील नहीं समझी जाती। क्रिया एक ही है, पर कहीं वह दोषरूप है और कहीं गुणरूप। अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि स्वरूपतः अश्लील कार्य भी भाव और दृष्टिकोणकी शुद्धिसे शुद्ध बन जाता है और स्वरूपसे अच्छा कार्य भी भावदोषसे दूषित हो जाता है। शल्यचिकित्सादिके लिये विद्यार्थीको स्त्री तथा पुरुषके प्रत्येक अवयवका ही नहीं, उसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विभागका भी वर्णन पढ़ना पड़ता है, पर वह कभी अश्लील नहीं माना जाता। इसी प्रकार वेद इस विषयकी पूर्ण शिक्षाके लिये ही ऐसी बातें प्रस्तुत करते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद्में छठे अध्यायके चतुर्थ ब्राह्मणमें स्त्रियोंके गुप्ताङ्गोंकी और मैथुन-कर्मकी चर्चा आयी है; परंतु वह गर्भाधानका प्रकरण है। मनुष्यकी उत्पत्तिका प्रारम्भिक कृत्य वही है। यदि वही ठीक तरहसे न हो तो अच्छी सन्तान कैसे हो सकती है? प्रकरणके अनुसार वहाँ लिखी हुई सभी बातोंका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। मनुष्य

---

* ऋषभो गोपतिर्वीरो विषाणी धूर्धरो वृषः।
ककुद्मान् पुङ्गवो वोढा शृङ्गी धुर्यश्च भूपतिः॥
(राजनिघण्टु)

* सुश्रुतमें आमके प्रसङ्गमें आया है—
अपक्वे चूतफले स्नाय्वस्थिमज्जानः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते पक्वे त्वाविर्भूता उपलभ्यन्ते॥
'आमके कच्चे फलमें सूक्ष्म होनेके कारण स्नायु, हड्डी और मज्जा नहीं दिखायी देतीं; परंतु पकनेपर ये सब प्रकट हो जाती हैं।'

कामान्ध होकर विवेक खो बैठते और मर्यादाका त्याग करके पशुवत् आचरण करने लगते हैं। इससे जो सन्तान उत्पन्न होती हैं, उनमें भी वैसे ही दुर्गुण भर जाते हैं। अतः वैदिक रीतिसे गर्भाधान आदि सभी संस्कारोंको करना चाहिये; इसीसे श्रेष्ठ मानवकी, जो अपने बल, पौरुष, ज्ञान और विज्ञानसे स्वयं अपने जीवनको सफल करता है और संसारकी बड़ी भारी सेवा करता है, उत्पत्ति हो सकती है। वेदोंमें जो कुछ कहा गया है, वह सब जगत्‌के कल्याणके लिये ही है। वेदोंके तात्पर्यपर विचार करनेवाले विद्वानोंको उचित है कि वे मनमाना अर्थ न करके वेद-वेदाङ्गोंके अनुशीलनपूर्वक महर्षियोंद्वारा निर्धारित शैलीके अनुसार वेदरूपी कामधेनुसे कल्याणमय अर्थका ही दोहन करें। वेदके कितने ही मन्त्र काव्यमय हैं। वहाँ रसोद्रेकके लिये सरस रूपकोंका आश्रय लिया गया है। ऐसे स्थलोंपर अश्लीलताका आरोप न करके यथार्थ मर्मको समझनेका प्रयास करना चाहिये।

उपनिषद्‌में युगल स्वरूप

भारतके आर्य-सनातनधर्ममें जितने भी उपासक-सम्प्रदाय हैं, सभी विभिन्न नाम-रूपों तथा विभिन्न उपासना-पद्धतियोंके द्वारा वस्तुतः एक ही शक्तिसमन्वित भगवान्‌की उपासना करते हैं। अवश्य ही कोई तो शक्तिको स्वीकार करते हैं और कोई नहीं करते। भगवान्‌के इस शक्तिसमन्वित रूपको ही युगल-स्वरूप कहा जाता है। निराकारवादी उपासक भगवान्‌को सर्वशक्तिमान् बताते हैं और साकारवादी भक्त उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि मङ्गलमय स्वरूपोंमें उनका भजन करते हैं। महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, दुर्गा, तारा, उमा, अन्नपूर्णा, सीता, राधा आदि स्वरूप एक ही भगवत्स्वरूपा शक्तिके हैं, जो लीलावैचित्र्यकी सिद्धिके लिये विभिन्न रूपोंमें अपने-अपने धामविशेषमें नित्य विराजित हैं। यह शक्ति नित्य शक्तिमान्‌के साथ है और शक्ति है इसीसे वह शक्तिमान् है। और इसलिये वह नित्य युगलस्वरूप है। पर यह युगलस्वरूप वैसा नहीं है, जैसे दो परस्पर-निरपेक्ष सम्पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति या पदार्थ किसी एक स्थानपर स्थित हों। ये वस्तुतः एक होकर ही पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। इनमेंसे एकका त्याग कर देनेपर दूसरेके अस्तित्वका परिचय नहीं मिलता। वस्तु और उसकी शक्ति, तत्त्व और उसका प्रकाश, विशेष्य और उसके विशेषणसमूह, पद और उसका अर्थ, सूर्य और उसका तेज, अग्नि और उसका दाहकत्व—इनमें जैसे नित्य युगलभाव विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्ममें भी युगलभाव है। जो नित्य दो होकर भी नित्य एक हैं और नित्य एक होकर भी नित्य दो हैं; जो नित्य भिन्न होकर भी नित्य अभिन्न हैं और नित्य अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न हैं। जो एकमें ही सदा दो हैं और दोमें ही सदा एक हैं। जो स्वरूपतः एक होकर भी द्विधभावके पारस्परिक सम्बन्धके द्वारा ही अपना परिचय देते और अपनेको प्रकट करते हैं। यह एक ऐसा रहस्यमय परम विलक्षण तत्त्व है कि दो अयुतसिद्ध रूपोंमें ही जिसके स्वरूपका प्रकाश होता है, जिसका परिचय प्राप्त होता है और जिसकी उपलब्धि होती है।

वेदमूलक उपनिषद्‌में ही इस युगल स्वरूपका प्रथम और स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। उपनिषद् जिस परम तत्त्वका वर्णन करते हैं, उसके मुख्यतया दो स्वरूप हैं—एक 'सर्वातीत' और दूसरा 'सर्वकारणात्मक'। सर्वकारणात्मक स्वरूपके द्वारा ही सर्वातीतका सन्धान प्राप्त होता है और सर्वातीत स्वरूप ही सर्वकारणात्मक स्वरूपका आश्रय है। सर्वातीत स्वरूपको छोड़ दिया जाय तो जगत्‌की कार्य-कारण-शृङ्खला ही टूट जाय; उसमें अप्रतिष्ठा और अनवस्थाका दोष आ जाय। फिर जगत्‌के किसी मूलका ही पता न लगे। और सर्वकारणात्मक स्वरूपको न माना जाय तो सर्वातीतकी सत्ता कहीं नहीं मिले। वस्तुतः ब्रह्मकी अद्वैतपूर्ण सत्ता इन दोनों स्वरूपोंको लेकर ही है। उपनिषद्‌के दिव्य-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंने जहाँ विश्वके चरम और परम तत्त्व एक, अद्वितीय, देशकाल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा अनवच्छिन्न सच्चिदानन्द-स्वरूपको देखा, वहीं उन्होंने उस अद्वैत परब्रह्मको ही उसकी अपनी ही विचित्र अचिन्त्य शक्तिके द्वारा अपनेको अनन्त विचित्र रूपोंमें प्रकट भी देखा और यह भी देखा कि वही समस्त देशों, समस्त कालों, समस्त अवस्थाओं और समस्त परिणामोंके अंदर छिपा हुआ अपने स्वतन्त्र सच्चिदानन्दमय स्वरूपकी, अपनी नित्य सत्ता, चेतना और आनन्दकी मनोहर झाँकी करा रहा है। ऋषियोंने जहाँ देशकाल-अवस्था-परिणामसे परिच्छिन्न अपूर्ण पदार्थोंको 'यह वह नहीं है, यह

वह नहीं है' (नेति-नेति) कहकर और उनसे विरागी होकर यह अनुभव किया कि—'वह परमतत्त्व ऐसा है जो न कभी देखा जा सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न उसका कोई गोत्र है, न उसका कोई वर्ण है, न उसके चक्षु-कर्ण और हाथ-पैर आदि हैं।' 'वह न भीतर प्रज्ञावाला है, न बाहर प्रज्ञावाला है, न दोनों प्रकारकी प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञान-घन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है; वह न देखनेमें आता है, न उससे कोई व्यवहार किया जा सकता है, न वह पकड़में आता है, न उसका कोई लक्षण (चिह्न) है; जिसके सम्बन्ध-में न चित्तसे कुछ सोचा जा सकता है और न वाणीसे कुछ कहा ही जा सकता है। जो आत्मप्रत्ययका सार है, प्रपञ्चसे रहित है; शान्त, शिव और अद्वैत है'—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणि-पादम्। (मुण्डक० १।१।६)

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्य-मव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिव-मद्वैतम्।······

(माण्डूक्य० ७)

किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करनेयोग्य, चिन्तन करने-योग्य और धारणामें लानेयोग्य पदार्थके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य नहीं है। इसीके साथ, वहीं, उसी क्षण उन्होंने उसी देश-कालातीत, अवस्था-परिणाम-शून्य, इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगोचर शान्त शिव अनन्त एकमात्र सत्तास्वरूप अक्षर परमात्माको ही सर्वकालमें और समस्त देशोंमें नित्य विराजित देखा और कहा कि—'धीर साधक पुरुष उस नित्य पूर्ण, सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म, अविनाशी और समस्त भूतों-के कारण परमात्माको देखते हैं'—

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

(मुण्डक० १।१।६)

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि 'जब वह द्रष्टा उस सबके ईश्वर, ब्रह्माके भी आदिकारण सम्पूर्ण विश्वके स्रष्टा, दिव्य प्रकाशस्वरूप परम पुरुषको देख लेता है, तब वह निर्मल हृदय महात्मा पाप-पुण्यसे छूटकर परम साम्यको प्राप्त हो जाता है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

(मुण्डक० ३।१।३)

यहाँतक कि उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परमदेव परमात्माकी उस दिव्य अचिन्त्य स्वरूपभूत शक्तिका भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जो अपने ही गुणोंसे छिपी हुई है। तब उन्होंने यह निर्णय किया कि कालसे लेकर आत्मातक (काल, स्वभाव, नियति, अकस्मात्, पञ्चमहाभूत, योनि और जीवात्मा) सम्पूर्ण कारणोंका स्वामी प्रेरक सबका परम कारण एकमात्र परमात्मा ही है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

(श्वेताश्वतर० १।३)

ऋषियोंने यह अनुभव किया कि वह सर्वातीत परमात्मा ही सर्वकारण-कारण, सर्वगत, सबमें अनुस्यूत और सबका अन्तर्यामी है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म, भेदरहित, परिणामशून्य, अद्वय परमतत्त्व ही चराचर भूतमात्रकी योनि है, एवं अनन्त विचित्र पदार्थोंका वही एकमात्र अभिन्न निमित्तोपादान-कारण है। उन्होंने अपनी निर्भ्रान्त निर्मल दृष्टिसे यह देखा कि जो विश्वातीत तत्त्व है, वही विश्वकृत् है, वही विश्ववित् है और वही विश्व है। विश्वमें उसीकी अनन्त सत्ताका; अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्तिका प्रकाश है। विश्व-सृजनकी लीला करके विश्वके समस्त वैचित्र्यको, विश्वमें विकसित अखिल ऐश्वर्य, ज्ञान और शक्तिको आलिङ्गन किये हुए ही वह नित्य विश्वके ऊर्ध्वमें विराजित है। उपनिषद्के मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने अपनी सर्वकालव्यापिनी दिव्य दृष्टिसे देखकर कहा—'सोम्य! इस नामरूपात्मक विश्वकी सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था'—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'

(छान्दोग्य० ६।२।१)

परंतु इसीके साथ तुरंत ही मुक्तकण्ठसे यह भी कह दिया कि 'उस सत् परमात्माने ईक्षण किया—इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ'—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति' (छान्दोग्य० ६।२।३)

यहाँ बहुतोंको यह बात समझमें नहीं आती कि जो 'सबसे अतीत' है, वही 'सर्वरूप' कैसे हो सकता है, परंतु

औपनिषद-दृष्टिसे इसमें कोई भी विरोध या असामञ्जस्य नहीं है। भगवान्‌का नित्य एक रहना, नित्य बहुत-से रूपोंमें अपने आस्वादनकी कामना करना और नित्य बहुत-से रूपोंमें अपनेको आप ही प्रकट करना एवं सम्भोग करना—यह सब उनके एक नित्यस्वरूपके ही अन्तर्गत है। कामना, ईक्षण और आस्वादन—ये सभी उनकी निरवच्छिन्न पूर्ण चेतनाके क्षेत्रमें समान अर्थ ही रखते हैं। भगवान् वस्तुतः न तो एक अवस्थासे किसी दूसरी अवस्थाविशेषमें जानेकी कामना ही करते हैं और न उनकी सहज नित्य स्वरूप-स्थितिमें कभी कोई परिवर्तन ही होता है। उनके बहुत रूपोंमें प्रकट होनेका यह अर्थ नहीं है कि वे एकत्वकी अवस्थासे बहुत्वकी अवस्थामें, अथवा अद्वैत-स्थितिसे द्वैतस्थितिमें चलकर जाते हैं। उनकी सत्ता तथा स्वरूपपर कालका कोई भी प्रभाव नहीं है और इसीलिये विश्वके प्रकट होनेसे पूर्वकी या पीछेकी अवस्थामें जो भेद दिखायी देता है, वह उनकी सत्ता और स्वरूपका स्पर्श भी नहीं कर पाता। अवस्था-भेदकी कल्पना तो जड जगत्‌में हैं। स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निवृत्ति और प्रवृत्ति, विरति और भोग, साधन और सिद्धि, कामना और परिणाम, भूत और भविष्य, दूर और समीप एवं एक और बहुत—ये सभी भेद वस्तुतः जड-जगत्‌के संकीर्ण धरातलमें ही हैं। विशुद्ध पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता तो सर्वथा भेदशून्य है। वह विशुद्ध अभेद भूमि है। वहाँ स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निष्क्रियता और सक्रियतामें अभेद है। इसी प्रकार एक और बहुत, साधना और सिद्धि, कामना और भोग, भूत-भविष्य-वर्तमान तथा दूर और निकट भी अभेदरूप ही हैं। इस अभेदभूमिमें चैतन्यघन पूर्ण परमात्मा परस्परविरोधी धर्मोंको आलिङ्गन किये नित्य विराजित हैं। वे चलते हैं और नहीं चलते; वे दूर भी हैं, समीप भी हैं; वे सबके भीतर भी हैं और सबके बाहर भी हैं—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(ईशावास्योपनिषद् ५)

वे अपने विश्वातीत रूपमें स्थित रहते हुए ही अपनी वैचित्र्यप्रसविनी कर्मशीला अचिन्त्य शक्तिके द्वारा विश्वका सृजन करके अनादि अनन्तकाल उसीके द्वारा अपने विश्वातीत स्वरूपकी उपलब्धि और उसका सम्भोग करते रहते हैं। उपनिषद्‌में जो यह आया है कि वह ब्रह्म पहले अकेला था, वह रमण नहीं करता था। इसी कारण आज भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरेकी इच्छा की···उसने अपनेको ही एकसे दो कर दिया···वे पति-पत्नी हो गये। ······

'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् ······स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।······' (बृहदारण्यक० १।४।३)

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इससे पूर्व वे अकेले थे और अकेलेपनमें रमणका अभाव प्रतीत होनेके कारण वे मिथुन (युगल) हो गये। क्योंकि कालपरम्पराके क्रमसे अवस्थाभेदको प्राप्त हो जाना ब्रह्मके लिये सम्भव नहीं है। वे नित्य मिथुन (युगल) हैं और इस नित्य युगलत्वमें ही उनका पूर्ण एकत्व है। उनका अपने स्वरूपमें ही नित्य अपने ही साथ नित्य रमण—अपनी अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त माधुर्यका अनवरत आस्वादन चल रहा है। उनके इस स्वरूपगत आत्ममैथुन, आत्मरमण और आत्मास्वादनसे ही अनादि-अनन्तकाल अनादि-अनन्त देशोंमें अनन्त विचित्रतामण्डित, अनन्त रससमन्वित विश्वके सृजन, पालन और संहारका लीला-प्रवाह चल रहा है। इस युगल रूपमें ही ब्रह्मके अद्वैतस्वरूपका परमोत्कृष्ट परिचय प्राप्त होता है। अतएव श्रीउमा-महेश्वर, श्रीलक्ष्मी-नारायण, श्रीसीता-राम, श्रीराधा-कृष्ण, श्रीकाली-रुद्र आदि सभी युगल स्वरूप नित्य सत्य और प्रकारान्तरसे उपनिषत्-प्रतिपादित हैं। उपनिषद्‌ने एक ही साथ सर्वातीत और सर्वकारणरूपमें, स्थितिशील और गतिशीलरूपमें, निष्क्रिय और सक्रियरूपमें, अव्यक्त और व्यक्तरूपमें एवं सच्चिदानन्दघन पुरुष और विश्वजननी नारीरूपमें इसी युगल स्वरूपका विवरण किया है। परंतु यह विषय है बहुत ही गहन। यह वस्तुतः अनुभवगम्य रहस्य है। प्रगाढ़ अनुभूति जब तार्किकी बुद्धिकी द्वन्द्वमयी सीमाका सर्वथा अतिक्रमण कर जाती है—तभी सक्रियत्व और निष्क्रियत्व, साकारत्व और निराकारत्व, परिणामत्व और अपरिणामत्व एवं बहुरूपत्व और एकरूपत्वके एक ही समय एक ही साथ सर्वाङ्गीण मिलनका रहस्य खुलता है—तभी इसका यथार्थ अनुभव प्राप्त होता है।

यद्यपि विशुद्ध तत्त्वमय चैतन्य-राज्यमें प्राकृत पुरुष और नारीके सदृश देहेन्द्रियादिगत भेद एवं तदनुकूल किसी लौकिक या जडीय सम्बन्धकी सम्भावना नहीं है, तथापि—जब अप्राकृत तत्त्वकी प्राकृत मन-बुद्धि एवं इन्द्रियोंके द्वारा

उपासना करनी पड़ती है, तब प्राकृत उपमा और प्राकृत संज्ञा देनी ही पड़ती है। प्राकृत पुरुष और प्राकृत नारी एवं उनके प्रगाढ़ सम्बन्धका सहारा लेकर ही परम चित्तत्त्वके स्वरूपगत युगल-भावको समझनेका प्रयत्न करना पड़ता है। वस्तुतः पुरुषरूपमें ब्रह्मका सर्वातीत निर्विकार निष्क्रिय भाव है, और नारीरूपमें उन्हींकी सर्वकारणात्मिका अनन्त लीला वैचित्र्यमयी स्वरूपा शक्तिका सक्रिय भाव है। पुरुषमूर्तिमें भगवान् विश्वातीत हैं, एक हैं और सर्वथा निष्क्रिय हैं, एवं नारीमूर्तिमें वे ही विश्वजननी, बहुप्रसविनी, लीलाविलासिनी रूपमें प्रकाशित हैं। पुरुष-विग्रहमें वे सच्चिदानन्दस्वरूप हैं और नारी-विग्रहमें उन्हींकी सत्ताका विचित्र प्रकाश, उन्हींके चैतन्यकी विचित्र उपलब्धि तथा उन्हींके आनन्दका विचित्र आस्वादन है। अपने इस नारी-भावके संयोगसे ही वे परम पुरुष ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता हैं,—सृजनकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता हैं। नारीभावके सहयोगसे ही उनके स्वरूपगत, स्वभावगत अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका प्रकाश है; इसीमें उनकी भगवत्ताका परिचय है। पुरुषरूपसे वे नित्य-निरन्तर अपने अभिन्न नारीरूपका आस्वादन करते हैं और नारी (शक्ति) रूपसे अपनेको ही आप अनन्त आकार-प्रकारोंमें लीलारूपमें प्रकट करके नित्य चिद्रूपमें उसकी उपलब्धि और सम्भोग करते हैं—इसीलिये ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हैं। सच्चिदानन्दमयी अनन्त-वैचित्र्यप्रसविनी लीला-विलासिनी महाशक्ति ब्रह्मकी स्वरूपभूता हैं; ब्रह्मके विश्वातीत, देशकालातीत अपरिणामी सच्चिदानन्दस्वरूपके साथ नित्य मिथुनीभूता हैं। ब्रह्मकी सर्वपरिच्छेदरहित सत्ता, चेतनता और आनन्दको अगणित स्तरोंके सत्-पदार्थरूपमें, असंख्य प्रकारकी चेतना तथा ज्ञानके रूपमें एवं असंख्य प्रकारके रस—आनन्दके रूपमें विलसित करके उनको आस्वादनके योग्य बना देना इस महाशक्तिका कार्य है। स्वरूपगत महाशक्ति इस प्रकार अनादि-अनन्तकाल ब्रह्मके स्वरूपगत चित्‌की सेवा करती रहती हैं। उनका यह शक्तिरूप तथा शक्तिके समस्त परिणाम (लीला) और कार्य स्वरूपतः उस चित्तत्त्वसे अभिन्न हैं। यह नारीभाव उस पुरुषभावसे अभिन्न है, यह परिणामशील दिखायी देनेवाला अनन्त विचित्र लीलाविलास उनके कूटस्थ नित्यभावसे अभिन्न है। इस प्रकार उभयभाव अभिन्न होकर ही भिन्नरूपमें परस्पर आलिङ्गन किये हुए एक दूसरेका प्रकाश, सेवा और आस्वादन करते हुए एक दूसरेको आनन्द-रसमें आप्लावित करते हुए नित्य-निरन्तर ब्रह्मके पूर्ण स्वरूपका परिचय दे रहे हैं। परम पुरुष और उनकी महाशक्ति—भगवान् और उनकी प्रियतमा भगवती भिन्नाभिन्नरूपसे एक ही ब्रह्मस्वरूपमें स्वरूपतः प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये ब्रह्म पूर्ण सच्चिदानन्द हैं और साथ ही नित्य आस्वादनमय हैं। यही विचित्र महारास है जो अनादि, अनन्तकाल विना विराम चल रहा है। उपनिषदोंने ब्रह्मके इसी स्वरूपका और उनकी इसी नित्य लीलाका विविध दार्शनिक शब्दोंमें परिचय दिया है और इसी स्वरूपको जानने, समझने, उपलब्ध करने और सम्भोग करनेकी विविध प्रक्रियाएँ, विद्याएँ और साधनाएँ अनुभवी ऋषियोंकी दिव्य वाणीके द्वारा उनमें प्रकट हुई हैं।*

जाऊँ कैसे ?

(रचयिता—श्रीप्रबोध, बी० ए० (आनर्स), साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार)

इंगित पानी दूर क्षितिज से, जाऊँ कैसे ?—हूँ निःसम्बल !
पथ में झंझावात, शत-शत विद्युत् के कटु घात
क्षुद्र क्रोड़ में जिनके खिलते उल्का के उत्पात
और अति भीषण कोलाहल !
अगणित हैं इस कठिन मार्ग   -सरित, गिरि, वन, दल-दल,
इन सरिताओं में कूल कहाँ ?—केवल हैं आवर्त्त
और ये निठुर प्रखरतर धार, जो बहती हैं खल-खल !!
किसी भाँति चल गिरूँ उपल-सी छू लूँ प्रिय पद पिघल-पिघल !
और छू, जन्म-मरण से परे उसी क्षण हो जाऊँ निश्चल !!

* आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्यायके एक निबन्धके आधारपर।

उपनिषदोंसे मैंने क्या सीखा ?

(लेखक—पं० श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय)

उपनिषदोंसे मैंने यह सीखा कि सबमें एक ही आत्मा समाया हुआ है। अतः मुझे सबके साथ समान भावसे बर्तना चाहिये; परंतु यह भूमिका सहजसाध्य नहीं। यह आत्म-विकासकी अपेक्षा रखती है और सतत साधनासे ही प्राप्त हो सकती है। इसकी पहली सीढ़ीके रूपमें मुझे अपने प्रति कठोर और दूसरोंके प्रति उदार और सहनशील रहना आवश्यक मालूम होता है। अपने प्रति कठोर रहना तप है और दूसरेके प्रति उदार रहना अहिंसा है। इस तरह आत्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये तप और अहिंसा अनिवार्य हो जाते हैं।

आत्मसिद्धि या आत्मस्थितिके बाद क्या हो ? आत्मस्थ कैसा व्यवहार करे ? इसका सही उत्तर आत्मस्थ ही दे सकता है। साधक इस चर्चासे उदासीन रहे तो अच्छा ही है। उस स्थितिमें पहुँचनेपर उसे अपने-आप सूझता जायगा कि उसे क्या करना चाहिये और कैसे रहना चाहिये। इतना अवश्य है कि वह मनुष्य-समाजके बनाये नियमोंसे परे हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह उन नियमोंका पालन नहीं करेगा। बल्कि यह कि वह उन्हें अपने लिये बन्धनकारक नहीं समझेगा। वह उसके लिये नियम नहीं रहेगा, स्वभाव हो जायगा। वह शासन और नियमसे ऊपर उठकर सहज जीवनमें ओतप्रोत रहेगा।

उपनिषदोंने जो हमें दिया है वह संसारके किसी ग्रन्थने शायद उससे पहले नहीं दिया था। उसी आत्मतत्त्वका हम सदैव स्मरण करें, मनन करें, ध्यान करें और उसीकी साधनामें जीवनके प्रत्येक कर्मकी आहुति दें।

उपनिषद्की व्युत्पत्ति और अर्थ

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा, बी० ए०)

'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातुके पहले 'उप' और 'नि' ये दो उपसर्ग और अन्तमें 'क्विप्' प्रत्यय लगानेसे उपनिषद् शब्द बनता है।

'उपनिषद्यते—प्राप्यते ब्रह्मात्मभावोऽनया इति उपनिषद् ।'

इसका अर्थ है—जिससे ब्रह्मका साक्षात्कार किया जा सके, वह उपनिषद् कहाती है। उपनिषदोंमें ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मविद्याका ही प्रधानतासे विवेचन तथा वर्णन किया हुआ है जिससे उपनिषद्को अध्यात्मविद्या भी कहते हैं। ब्रह्मके प्रतिपादक वेदके शिरोभाग अथवा अन्तमें होनेसे ये वेदान्त या उत्तरमीमांसा भी कही जाती हैं। ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान और ब्रह्मविद्या—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। वेदके अङ्गभूत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यकमेंसे ही ब्रह्मज्ञानप्रतिपादक भागोंको पृथक् कर उनको 'उपनिषद्' नाम दिया गया है। अकेले अथर्ववेदमें ५२ उपनिषद् हैं। मुक्तिकोपनिषद्में १०८ उपनिषदोंकी गणना हुई है।

अमरकोषकार उपनिषद् शब्दका अर्थ—**'धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्'** लिखते हैं, इसके अनुसार 'उपनिषत्' शब्द गूढ़ धर्म एवं रहस्यके अर्थमें प्रयुक्त होता है।

कल्याण-मार्ग

(लेखक—श्रीयोगेन्द्रनाथजी बी० एस्-सी०)

कठोपनिषद्में कहा है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
स्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु-
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥

(१ । २ । १)

'प्रेय और श्रेय दो पृथक्-पृथक् मार्ग हैं, ये दोनों विभिन्न फल देनेवाले साधन मनुष्यको बन्धनमें डालते हैं। प्रेय लोकोन्नतिका मार्ग है और श्रेय परलोकोन्नतिका मार्ग है। इनमेंसे श्रेयके ग्रहण करनेवालेका कल्याण होता है; प्रेयको ग्रहण करनेवाला पतित हो जाता है।

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥
न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

(कठ० १ । २ ।४–६)

'ये दोनों मार्ग एक-दूसरेसे विपरीत, विरुद्धार्थसूचक और दूर हैं। ये अविद्या और विद्या इस नामसे जाने गये हैं। तुम नचिकेताको मैं विद्याका चाहनेवाला मानता हूँ। तुमको बहुत-सी कामनाएँ प्रलोभित नहीं करती हैं। अविद्यामें पड़े हुए अपनेको धीर और विद्वान् माननेवाले लोग उल्टे रास्तोंपर चलते हैं और वे मूढ़ अन्धेके द्वारा ले जाये जानेवाले अन्धेकी भाँति भटकते रहते हैं। धनके मोहसे मूढ़, प्रमादपूर्ण, विवेकरहित पुरुषको परलोककी बात पसंद नहीं आती। यही लोक है, परलोक कुछ नहीं। ऐसा माननेवाला बार-बार मृत्युके वशमें आता है।'

ईशोपनिषद्के ११ वें मन्त्रमें कहा है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

'जो विद्या और अविद्या इन दोनोंको साथ-साथ जानता है, वह अविद्यासे मृत्युको तरकर ज्ञानसे अमरताको प्राप्त कर लेता है।'

प्रत्येक कल्याणपथके पथिकका उद्देश्य श्रेय होना चाहिये, और प्रेयका इस प्रकार उपयोग करना चाहिये कि वह श्रेयका साधन बन जाय। जिस मनुष्यको हरद्वार जाना है, उसे अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिये इतना-सा धन चाहिये, जिससे उसका मार्ग-व्यय आदि सध जाय और यदि वह अपने समस्त धनको साथ लेकर हरद्वार जाना चाहेगा, तो वह उसके उद्देश्यकी पूर्तिका बाधक ही होगा। उसे अपने सारे आरामके प्रलोभनोंको त्यागकर उद्देश्यकी ओर अग्रसर होना पड़ेगा। इसी प्रकार जीवको श्रेयमार्गके अनुसरणमें धन-संग्रह इत्यादि लोकोन्नतिके मार्गको केवल साधन समझना चाहिये। ये प्रेय वस्तुएँ जहाँ साध्य हुईं कि मनुष्य अपने मार्गसे च्युत हुआ। अतः धन आदिको केवल अपने आत्मकल्याणका ही साधन बनाना चाहिये। जो लोग विषयभोगकी दृष्टिसे केवल लोकोन्नतिको अपना लक्ष्य बना लेते हैं और श्रेयकी कुछ भी चिन्ता नहीं करते, वे दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्तिरूप मानव-जीवनके यथार्थ ध्येयसे च्युत हो जाते हैं।

इस सम्बन्धमें एक बड़ी शिक्षाप्रद आख्यायिका प्रसिद्ध है। एक युवक भावावेशमें आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे गुरुके पास आया। गुरुने उसको अनधिकारी समझकर उपदेश नहीं दिया, परंतु वह आग्रह करता ही रहा। एक दिन उसे साथ लेकर गुरु घूमने गये। रास्तेसे कुछ ही दूरीपर एक गाँव दिखायी दिया। गुरुजीको प्यास लगी। युवक गाँवसे पानी लाने गया। कुएँपर एक सुन्दरी युवती पानी भर रही थी। युवकको उसने पानी दे दिया; परंतु युवक उसके रूपपर मोहित होकर गुरुके प्यासकी बात भूल गया और उस युवतीके पीछे-पीछे उसके घर पहुँचा। वह अविवाहिता थी, अतः उसके पिताने युवकको योग्य समझकर उसका विवाह युवकके साथ कर दिया। विवाहके बाद वह गृहस्थ बनकर वहीं रहने लगा। क्रमशः उसके तीन पुत्र हुए। युवतीका पिता मर चुका था। कुछ समय बाद नदीमें बाढ़ आनेसे ग्राममें

पानी आ गया। चारों ओर तो जल-ही-जल था। उसने अपनी स्त्री और तीनों बच्चोंको लेकर प्राण बचानेके लिये गाँवसे बाहर निकलनेका प्रयत्न किया। पानीका वेग बढ़ता ही जाता था। बड़ी भारी सावधानी करनेपर भी एक-एक करके उसके तीनों पुत्र और स्त्री पानीमें बह गये। वह बड़ा दुखी हुआ और कठिनतासे प्राण बचाकर उस स्थानपर पहुँचा, जहाँसे गुरुजीके लिये जल लेने चला था। वहाँ पहुँचनेपर उसको यह स्मरण आया 'मैं अपने उद्देश्यसे पतित होकर किस प्रकार 'प्रेयके मार्गपर' चल दिया था।'

प्रेयको साध्य समझकर महमूद गजनवी रोता हुआ संसारसे गया। जीवनभर लूट-खसोटसे एकत्रित धनके कोषको मृत्युके समय अपने सामने जमा कराकर लालसापूर्ण दृष्टि डालता हुआ वह निराश होकर संसारसे चला गया। मृत्युने बलपूर्वक प्रिय वस्तुओंसे उसको अलग कर दिया। इधर कणाद ऋषि कटे हुए खेतसे कण-कण अन्न बीनकर जीवन-निर्वाह करते थे। जब राजा धनकी भेंट लेकर जाते तो कहते थे कि इसे दरिद्रोंको बाँट दो। प्रेयको त्यागकर श्रेयका इससे अनुपम उदाहरण क्या होगा। यही कणाद ऋषि वैशेषिक-दर्शनके रचयिता थे।

यमाचार्यने उपर्युक्त मन्त्रोंमें नचिकेताको तपका स्वरूप बतलाया। तपका जीवन प्रलोभनोंसे बचकर चलनेका है, प्रेयसे लगातार युद्ध करनेका है। प्रेयसे युद्ध करके ही मनुष्यकी गति ऊपरको हो सकती है। नचिकेताके तीसरे वरके उत्तरमें यमराजने प्रलोभन देते हुए उसे पुत्र, पौत्र, घोड़े, हाथी, सुवर्ण, चक्रवर्ती राज्य माँगनेको कहा, संसारमें दुर्लभ-से-दुर्लभ कामनाओंकी पूर्ति करनेका वचन दिया; परंतु नचिकेताने 'भोगोंसे मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता और भोग विनाशी हैं'—यह समझकर तुरंत सबको ठुकरा दिया। उस समय यमने मरनेके पश्चात् जीवकी क्या गति होती है, इसका उपदेश दिया। परंतु इस उपदेशसे पूर्व यमने नचिकेताके तपस्वी—अधिकारी होनेकी पूरी परीक्षा कर ली।

अनन्त नित्य और पूर्ण सुखकी प्राप्ति ही श्रेय है। प्रत्येक मनुष्यकी स्वाभाविक इच्छा सुखप्राप्तिकी होती है; परंतु सुख क्या है? नारदजीने सनत्कुमारसे यही प्रश्न (छान्दोग्य उपनिषद्में) किया—

'सुखं भगवो विजिज्ञासे' इति।

(७। २२। १)

'भगवन्! मैं सुखका स्वरूप जानना चाहता हूँ।' बहुत ही टेढ़ा प्रश्न है। बच्चा खिलौना देखकर रोता है। जब खिलौना मिल जाता है तो समझता है कि मैं सुखी हो गया परंतु कुछ देर खेलनेके पश्चात् उसका जी ऊब जाता है और वह खिलौनेको फेंककर रोने लगता है। अब उसे उस खिलौनेमें सुख नहीं मिलता। वस्तुतः खिलौनेमें सुख समझना उसका बालपन ही था। खिलौनेमें असली सुख नहीं था। इसी प्रकार धन आदि संसारके पदार्थोंका हाल है। फिर प्रश्न होता है कि तो फिर 'सुख क्या है?' सनत्कुमारने उत्तर दिया—

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।

(छान्दोग्य० ७। २३। १)

'भूमा ही सुख है, अल्पमें सुख नहीं है। भूमाको ही समझना चाहिये।' नारदने फिर पूछा, 'महाराज! भूमा क्या है।' सनत्कुमारने उत्तर दिया—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।

(छान्दोग्य० ७। २४। १)

'भूमा वह है, जिसमें अन्यको नहीं देखता, अन्यको नहीं सुनता, अन्यको नहीं जानता। वह अल्प है जहाँ अन्यको देखता है, अन्यको सुनता है, अन्यको जानता है। भूमा ही अमृत है। अल्प ही दुःख है।' संसारमें दो प्रकारकी मनोवृत्तियोंके मनुष्य हैं—एक तो वे जो अस्थिर वस्तुओंमें सुख देखते हैं। दूसरे वे जो विवेकके द्वारा अनित्य पदार्थोंकी निःसारता और दुःख-परिणामताको देखकर नित्य अखण्ड सुखरूप भूमाको चाहते हैं। जो लोग अनित्य पदार्थोंमें सुख मानते हैं, उनको कभी स्थायी सुख नहीं मिलता। क्षणिक सुखके बाद दुःख आ जाता है। संसारमें प्राकृतिक पदार्थोंसे सुख-प्राप्तिकी आशा इसी प्रकार है। इसमें एकके बाद दूसरी, दूसरीके बाद तीसरी—इस तरह सुख प्राप्त करनेवाली वस्तुओंकी खोज होती रहती है। अभी एक पुरुष हजार रुपयोंकी प्राप्तिमें सुख समझता है। उसकी प्राप्तिपर दस हजारमें सुख समझता है। होते-होते उसको लाखों-करोड़ोंकी प्राप्तिके पश्चात् भी सुख नहीं होता। एक मनुष्य सुस्वादु भोजनका आनन्द ले रहा है इतनेमें ही उसे अपने युवक पुत्रकी मृत्युका समाचार मिलता है। अब उसे भोजनमें कोई आनन्द

नहीं रहता। यही अल्प है। भूमामें पहुँचकर सुख क्षणिक नहीं होता। वहाँ किसी भी अन्य वस्तुकी प्राप्तिका मनोरथ सुखका हेतु नहीं रह जाता। वह सुख किसी अन्य वस्तुसे बाधित नहीं होता। भूमामें ही सतत शान्ति है। भूमा ही श्रेय है। अल्प ही प्रेय है।

नारदजीने प्रश्न किया, 'भूमा किसके सहारे है ?' सनत्कुमारने उत्तर दिया, 'भूमा अपनी महिमामें ठहरा हुआ है।' यों भी कह सकते हैं, वह किसीके आश्रय नहीं है। संसारमें गौ, घोड़े, हाथी, सोना, नौकर आदिके अर्थहीमें महिमाको लेते हैं, परंतु ये एक दूसरेके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। यह महिमा कैसी ? भूमा अपनेमें ही प्रतिष्ठित है। भूमा ही अमृत है।

सनत्कुमारजी कहते हैं—भूमा स्वयं अपना आधार है। वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है। वही दायें-बायें है। वही सब कुछ है। अब यदि इस भूमाको 'मैं' कहकर पुकारो तो ऐसा कहेंगे कि 'मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे, मैं ही आगे, मैं ही दायें, मैं ही बायें हूँ। मैं ही सब कुछ हूँ।' (छान्दोग्य० ७। २५। १)

अर्थात्—

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति।

(छान्दोग्य० ७। २५। २)

"अब यदि उसको 'आत्मा' कहकर पुकारें तो कहेंगे कि आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है। आत्मा ही दायें है, आत्मा ही बायें है। आत्मा ही सब कुछ है। जो इस प्रकार जानता है, वह अपनेहीमें रमण करता है, अपनेहीमें खेलता है, अपने ही साथ आप रहता है। अपनेमें ही आनन्द लेता है। वही स्वराट् है। सब लोकोंमें उसकी कामना पूरी होती है; परंतु जो लोग उसके विपरीत भावना रखते हैं, उनका किया-कराया नाशको प्राप्त होता है। उनकी भावनाएँ कहीं पूरी नहीं होतीं। उनको कहीं सुख प्राप्त नहीं होता।"

यहाँ भूमा, श्रेय, आत्मा शब्दोंसे एक ही तात्पर्य है। प्राकृतिक जगत्को अपने कार्यका ध्येय बनाना 'अल्पता' है, प्रेय है और आत्माको ध्येय बनाना भूमापन है। इन दोनोंका समन्वय करते हुए आत्मोन्नति करनेका उदाहरण विदेहराज महाराज जनकका जीवन है।

बृहदारण्यक उपनिषद्में याज्ञवल्क्य ऋषि मैत्रेयीको उपदेश देते हुए कहते हैं—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति। आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति। आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।

× × × × ×

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदꣳ सर्वं विदितम्।

'अरी मैत्रेयी ! पतिके लिये पति प्यारा नहीं होता, आत्माके लिये पति प्यारा होता है। स्त्रीके लिये स्त्री प्यारी नहीं होती, आत्माके लिये स्त्री प्यारी होती है।

× × × × ×

सबके लिये सब प्यारा नहीं होता, आत्माके लिये सब प्यारा होता है। इसलिये हे मैत्रेयी ! आत्माको ही देखने, सुनने, सोचने और जाननेसे सब कुछ समझमें आ जाता है।'

मनुष्यको अपने जीवनके सब विभागोंमें कार्य करते हुए आत्माको ही ध्येय बनाये रखना चाहिये। परंतु यह ध्येय बने कैसे ? मनकी प्रवृत्ति श्रेय-मार्गकी ओर हो कैसे ?

(२)

प्रश्न यह होता है कि क्या कारण है कि इतने उपदेशोंके होते हुए भी मनुष्यकी आत्मोन्नतिकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती। जिनका इधर ध्यान जाता भी है, वे भी सफल नहीं होते हैं। साधकको परमपदकी प्राप्तिके लिये सबसे प्रथम आरम्भ कहाँसे करना चाहिये। सनत्कुमार बतलाते हैं—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तꣳस्कन्द इत्याचक्षते तꣳस्कन्द इत्याचक्षते। (छान्दोग्य० ७। २६। २)

'आहारके शुद्ध होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर स्मृति दृढ़ हो जाती है और स्मृति-प्राप्तिपर हृदयकी समस्त गाँठें खुल जाती हैं। भगवान् सनत्कुमार-ने (राग-द्वेषरूप) दोष मल दिये (विनष्ट कर दिये)। नारद-

को अन्धकारका परला किनारा दिखा दिया । उस सनत्कुमार-को लोग स्कन्द कहते हैं ।'

सनत्कुमारने उपर्युक्त प्रश्नका मूल कारण आहार बताया है । शरीरकी सबसे पहली आवश्यकता 'आहार' अर्थात् भोजन है । जैसा भोजन मिलेगा, वैसा ही शरीर बनेगा, वैसा ही मन बनेगा, वैसी ही बुद्धि होगी । यदि भोजन शुद्ध होगा तो बुद्धि शुद्ध होगी । बुद्धिके शुद्ध होनेपर शङ्कारूपी गाँठें खुल जाती हैं । सत्यपर विश्वास और श्रद्धा दृढ़ होती है और मोक्ष-की प्राप्ति हो जाती है ।

भोजनसे ही मन बनता है । जैसा भोजन होगा वैसा ही मन होगा, वैसा ही स्वभाव होगा । डारविनका कथन है कि 'मुझे किसी भी प्राणीका भोजन बताओ, और मैं उसका स्वभाव बता दूँगा ।' इसी सिद्धान्तको उन्होंने खद्योत (जुगनू) आदि कीड़ोंका उनके भोज्य-पदार्थोंद्वारा स्वभाव बताकर पुष्ट किया है । यदि हमारा भोजन मनको चञ्चल करनेवाला होगा तो हमारी गति आत्मदर्शनकी ओर नहीं हो सकेगी । मांस-मद्य तथा अन्य मादक द्रव्योंके सेवनसे तमोगुण बढ़ता है, और विचार भी मलिन होते हैं । मन भी अशान्त रहता है । अनेक प्रकार-के शारीरिक और मानसिक रोग पीछे लग जाते हैं । अण्डे, प्याज इत्यादि सेवन करनेवाला मनुष्य ब्रह्मचर्यका साधन कभी नहीं कर सकता । मांस इत्यादि हिंसासे प्राप्त पदार्थोंका सेवन करनेवाला घोर स्वार्थी कामी और क्रोधी (Passionate) हो जाता है । वास्तवमें जिस भोजनसे ब्रह्मचर्यकी सिद्धि हो, वही भोजन हितकर है । वेद कहते हैं—

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।'

'ब्रह्मचर्यके तपसे देवता मृत्युको जीत लेते हैं ।' ब्रह्मचारी-को मरनेके समय कष्ट नहीं होता । जिस प्रकार एक मनुष्य पुराने कपड़ेको छोड़ देता है, इसी प्रकार ब्रह्मचारी अपने शरीरको छोड़ देता है । परंतु साधारण लोगोंकी अवस्था एक बोझसे लदी गाड़ीके समान है जो चूँ-चूँ करती हुई बड़े कष्टसे धीरे-धीरे बढ़ती है । उनका आत्मा बड़े कष्टसे शरीरसे निकलता है ।

भोजन-शुद्धिमें ईमानदारीसे कमाये हुए अर्थसे प्राप्त भोजन भी सम्मिलित है । वह भोजन जिसमें एक मनुष्यने केवल अपना ही भाग ग्रहण किया है अर्थात् आजीविका भी शुद्ध हो और अपनी आजीविकामेंसे यथायोग्य भाग अपने परिवारके व्यक्तियों अथवा आश्रितोंको देकर तत्पश्चात् शेष भागको स्वयं ग्रहण करे । यही यज्ञशिष्ट अमृतभोजन है । गीता-में कहा है कि 'जो केवल अपने लिये ही कमाते-खाते हैं, वे तो पाप खाते हैं ।' ईशोपनिषद्में कहा है—

'मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।'

'किसीके धन और भोगको लोभवश मत लो ।'

किसीके भागको छलसे स्वयं ग्रहण कर लेना ही चोरी है । योगदर्शनमें बताया है कि चोरी न करनेवाली प्रवृत्ति—अस्तेय-की प्रवृत्तिको सिद्ध कर लेनेसे सब रत्नोंकी प्राप्ति होती है । अतः कहा है कि उत्तम वस्तु खाओ और धर्मपूर्वक उपार्जित की हुई वस्तु ही खाओ ।

शुद्ध आहारके सेवनसे अन्तःकरण शुद्ध होता है । जब अन्तःकरण शुद्ध होगा तो भगवत्-कथा कहने-सुनने और उसके अनुकूल आचरण करनेमें भी मन लगेगा । चालाक मनुष्य, जो धर्मपर नहीं चलता है और जिसका मन विषयोंमें लगा रहता है, अपने अन्तःकरणको बिगाड़ लेता है । ऐसे मनुष्यको भगवत्-चर्चामें कोई आनन्द नहीं आता । परमपदकी प्राप्ति एक ऊँचे पर्वतके उच्च शिखरपर चढ़नेके समान है, जो शनैः-शनैः सदाचरण करनेसे हो सकती है ।

(३)

बृहदारण्यक उपनिषद्के पञ्चम अध्यायमें एक सुन्दर कथा आयी है । प्रजापतिकी तीन संतान 'देव', 'मनुष्य' और 'असुर' उनके पास उपदेश ग्रहण करने गये । प्रजापतिने तीनों-को एक अक्षर 'द'का उपदेश दिया और उनसे पूछा कि 'इसका अभिप्राय समझ लिया ?' देवताओंने उत्तर दिया 'हमने यह समझा है कि—

दाम्यत इति न आत्थ इति ।

(बृहदारण्यक० ५ । २ । १)

दम—इन्द्रियोंको दमन करो ।' प्रजापतिने उत्तर दिया कि 'ठीक समझ गये ।' मनुष्योंने उत्तर दिया—'हमने समझा है—

दत्त इति न आत्थ इति ।

(बृहदारण्यक० ५ । २ । २)

—दान करो ।' प्रजापतिने कहा 'हाँ, तुम भी समझ गये ।' फिर असुरोंसे पूछनेपर उन्होंने उत्तर दिया—"हमने यह समझा है कि—'दयध्वम् इति' दया करो ।' प्रजापतिने उनको भी सही बतलाया । इस प्रकार तीन शिक्षाएँ मिलीं । 'दम, दान और दया' अर्थात् इन्द्रियोंका दमन करो, दान करो और दया करो ।

संसारमें तीन प्रकारके मनुष्य हैं । देव, मनुष्य और

असुर। तीनों प्रजापतिकी संतान हैं। परंतु अपने संस्कारोंसे (कर्मोंके द्वारा स्वभाव बन जानेसे) देव श्रेष्ठ हैं; मनुष्य साधारण हैं, और असुर निकृष्ट हैं। जैसे संस्कार पूर्वजन्ममें होते हैं, वैसा ही स्वभाव इस जन्ममें होता है। परंतु जो ईश्वरके उपदेशको सुनते हैं, उसपर ध्यान देते हैं, उनकी उन्नति हो जाया करती है। असुर इसी उपदेशके प्रभावसे मनुष्य बनता है और मनुष्य देवता बन जाता है।

असुर वे हैं जो अपने लाभके सामने किसी दूसरेके लाभकी परवा ही नहीं करते। स्वार्थसिद्धि ही उनका परम ध्येय है। अपने लाभके लिये वे दूसरोंको मारने-लूटने अथवा अन्य प्रकारसे हानि पहुँचानेमें जरा भी सङ्कोच नहीं करते। वे प्रकृतिमेंसे अपने लाभके लिये हिंसक पशुओंके उदाहरण इकट्ठे कर रखते हैं, जो दूसरोंकी हानि करके अपना पेट भरते हैं। एक कसाई चार पैसेके लिये बकरे या गायको मार डालता है और उसके मांसको प्रसन्न होकर बाजारमें बेचता है। यह है कसाईका असुरपन। एक मनुष्य जीभके स्वादके लिये एक पक्षीकी गर्दन मरोड़ देता है। यह है उस मनुष्यका असुरपन। रावणने सीताहरणके समय कब सीताजीके कष्टोंकी परवा की थी। भरी सभामें द्रौपदीको अपमानित करके दुर्योधनने असुरपनका ही परिचय दिया था। इन क्रूर-हृदय प्राणियोंके लिये 'दया'से बढ़कर उत्तम और कौन उपदेश हो सकता है? इनका मानसिक रोग ही निर्दयता है। ये दूसरे प्राणीको अपने-जैसा नहीं समझते। इसका उपचार दया है। जब 'दया' का भाव उदय होगा तो कसाईकी छुरी कुण्ठित हो जायगी। डाकूका पैर दया-भाव उदय होनेपर आगे ही न बढ़ सकेगा। इसके उदाहरण महात्मा बुद्धके जीवनमें मिलते हैं। महान् घातकों और डाकुओंका भगवान् बुद्धसे सम्पर्क हुआ और महात्मा बुद्धने प्रजापतिके इस 'द'का उच्चारण किया और उनका जीवन शुद्ध हो गया।

साधारण मनुष्य निर्दयी नहीं होते; परंतु वे दूसरेके कष्टोंको दूर करनेके लिये त्याग नहीं करते। उनका मत है 'प्रत्येक मनुष्य अपने लिये है और परमात्मा सबके लिये।' उनकी मनोवृत्ति बहुत संकुचित रहती है। यदि उनमें थोड़ा-सा कष्ट उठाकर दूसरोंके कष्ट दूर करनेका स्वभाव आ जाय, तो दयाका भाव सार्थक हो जाय। दूसरोंके कष्ट दूर करनेके भावसे हमारा आत्मा उच्च हो जाता है और हममें विशालताके भाव आ जाते हैं। यही यज्ञ है। इसीके प्रभावसे मनुष्य देवता बन जाते हैं।

शतपथ ब्राह्मणमें कहा है—

देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततोऽसुरा अतिमानेन एव 'कस्मिन् नु वयं जुहुयाम' इति स्वेषु एव आस्येषु जुह्वतः चेरुः। ते अतिमानेन एव पराबभूवुः तस्मात् न अतिमन्येत। पराभवस्य ह एतत् मुखं यत् अतिमानः। अथ देवाः अन्योन्यस्मिन् एव जुह्वतः चेरुः। देवेभ्यः प्रजापतिः आत्मानं प्रददौ। यज्ञो ह एषाम् आस, यज्ञो ह देवानामन्नम्॥

(शतपथकाण्ड ५ ब्राह्मण १। १-२)

प्रजापतिके दोनों पुत्र देव और असुर आपसमें लड़ पड़े। उनमें असुर अति अभिमानी थे। वे कहने लगे हमें औरोंकी क्या परवा है। इसलिये वे अपने ही मुँहमें आहुतियाँ डालने लगे। इस अभिमानके कारण वे परास्त हो गये। अभिमान नहीं करना चाहिये। यह पराजयका मूल है। देवता अपने मुँहमें न डालकर प्रत्येक दूसरेके मुँहमें आहुतियाँ डालने लगे। प्रजापति उनसे प्रसन्न हो गये, और अपने-आपको उनके भेंट कर दिया। उनका यज्ञ हो गया। यज्ञ ही देवोंका अन्न है। अर्थात् जो यज्ञ करता है वह देव हो जाता है। अपने स्वार्थको छोड़कर दूसरेका उपकार करना ही यज्ञ है।

दया जब एक कक्षा और आगे बढ़ जाती है तो वह दानके रूपमें परिवर्तित हो जाती है। दान वही है जिससे हम अन्य प्राणियोंके कष्टोंको दूर कर सकें। कहीं धनका देना दान है, कहीं विद्याका देना दान है। कहीं अन्य शारीरिक सहायता देना दान है। रोगीको ओषधि देना दान है। भूखेको अन्न देना दान है। परंतु दान वह है जिसमें अन्य लोगोंके कल्याणकी भावना हो। दान इस प्रकारसे दे कि लेनेवाला भी ऊपर उठे, पतित न हो जाय। यही भावना उस दानकी है, जो देवोंने किया। इस दानसे देवोंमें पारस्परिक त्रुटियाँ दूर हुईं, लोगोंके व्यक्तिगत कष्ट और विपत्तियाँ कम हुईं। क्रमशः उनका संघटन दृढ़ हुआ और समाज बलवान् हो गया। असुर इस कामको न कर सके। उनमेंसे प्रत्येकने यही चाहा कि 'सारे भोग मैं ही भोगूँ, सबका स्वामी मैं ही बनूँ।' वे ऐसा ही करने लगे। प्रत्येक असुर सब भोगोंको स्वयं ही भोगकर दूसरोंको वञ्चित करने लगे। असुर परास्त हो गये। असुरोंका यह काण्ड इस समय यूरोपके अंदर घटित हो रहा है। प्रत्येक राष्ट्र सारी वस्तुएँ स्वयं ही हड़प लेना चाहता है। प्रजापति उनसे विमुख हो जायगा और वे पराभवको प्राप्त होंगे।

[सच कहा जाय तो एक यूरोप ही क्यों, आजका प्राय

सारा मानव-समाज बड़े वेगसे इसी असुरभावकी ओर दौड़ रहा है। व्यक्तिगत संकुचित स्वार्थने उसको महान् लक्ष्यसे च्युत कर दिया है। पता नहीं इसका क्या परिणाम होगा! गीताके १६वें अध्यायमें वर्णित असुर-मानवके लक्षणोंका मिलान करनेसे आजका मानव-समाज उसमें प्रायः पूरा उतरता है।]

दया और दानके पश्चात् एक त्रुटि शेष रह जाती है। वह है इन्द्रियनिग्रह। देवता अपने देवत्वके पदसे इसीके अभावमें गिर जाता है। एक कामी पुरुषका कहीं मान नहीं होगा। जब इन्द्रियाँ अपने विषयसे पृथक् होने लगती हैं तो उनकी अन्तर्वृत्ति हो जाती है। गीताके १६ वें अध्यायमें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(२१)

'काम, क्रोध और लोभ तीनों आत्माके नाशक और नरकके द्वार हैं। इसलिये इनको त्यागना ही चाहिये।'

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६। २३)

'जो वेद-शास्त्रविहित विधिको छोड़कर (कामनासे प्रेरित होकर) मनमाना काम करते हैं, उनको न तो फलकी सिद्धि होती है, न सुख मिलता है, न मोक्षकी ही प्राप्ति होती है।'

(४)

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः। अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। (छान्दोग्य० २। २३। १)

धर्मके तीन भाग हैं। यज्ञ, स्वाध्याय और दान मिलकर प्रथम स्कन्ध या भाग होता है। तपस्या ही दूसरा भाग है। आचार्यकुलमें रहता हुआ अपनेको जो तपस्वी बनाता, है यह तीसरा भाग है। वे सभी पुण्यलोकवाले होते हैं; परंतु इनमेंसे ब्रह्मनिष्ठ मुक्तिको पाता है।

यज्ञ

यज्ञके सम्बन्धमें मुण्डकोपनिषद्में उपदेश है—

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत्॥

'जब अग्नि भलीभाँति जलायी जा चुके और उसमें लौ उठने लगे तब उसमें घी, सामग्री आदिकी आहुतियाँ श्रद्धापूर्वक देनी चाहिये।' क्योंकि हवनको जलानेवाली अग्नि 'हव्यवाहन' है। अर्थात् हविको सूक्ष्म करके वायुमण्डलमें फैला देती है। इससे वायु शुद्ध होकर रोगके कीटाणु नष्ट हो जाते हैं, और स्वास्थ्यको लाभ पहुँचता है। यज्ञके रसायनशास्त्र (Chemistry) के अनुसार Aldehydes नामक वायु (Gas) पैदा होती है, जो रोगोंको दूर करनेवाली तथा स्वास्थ्यवर्द्धक होती है।

आश्वलायन-गृह्यसूत्रमें यज्ञके ये लाभ बतलाये हैं—

ॐ अयंत इध्म आत्मा जातवेदस्तेन इध्यस्व वर्धस्व च इद्धय वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन अन्नाद्येन समेधय स्वाहा। (१। १०। १२)

'हे अग्नि! तू प्रज्वलित होकर हमको प्रज्वलित कर। तू बढ़ और हमको भी बढ़ा प्रजया अर्थात् संतानसे, पशुओंसे, आत्मज्ञानसे तथा अन्नसे। यज्ञसे इन चारों पदार्थोंकी प्राप्ति हो जाती है।'

यज्ञसे हव्य पदार्थ सूक्ष्म होकर रोगोंको नाश करते हुए, पुष्टिदायक पदार्थोंसे शरीरको पुष्ट करते हैं। पहले हलवाई कभी भी दुबले नहीं देखे जाते थे। क्योंकि वे कढ़ाईके पास बैठकर असली घीकी वाष्पको बराबर ग्रहण करते रहनेसे पुष्ट हो जाते थे। यह है घीके वाष्पका प्रभाव। जब यह वाष्प अन्य ओषधियों तथा सौम्य पदार्थोंके वाष्पसे युक्त होकर शरीरमें प्रवेश करेगी तो उसके लाभसे शरीर तथा मस्तिष्क पुष्ट होगा और मन शान्त होगा। इनके शान्त होनेपर उपर्युक्त लाभ अर्थात् सन्तान, पशु आदि ऐश्वर्यशाली पदार्थोंकी प्राप्ति होती ही है।

मुण्डकोपनिषद्में कहते हैं—

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमास-
मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत-
मासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति॥
काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥
एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥
(१ । २ । ३-६)

'यज्ञ कई प्रकारके हैं । अग्निहोत्र जिसका नित्य सायं और प्रातः करनेका विधान है । दूसरी दर्श-इष्टि, जो अमावस्याको की जाती है, और पौर्णमास-इष्टि जो पूर्णिमाको की जाती है । तीसरी चातुर्मास्य-इष्टि जो वर्षाऋतुमें की जाती है । चौथी आग्रयण-इष्टि, पाँचवाँ अतिथि-यज्ञ, छठा वैश्वदेवयज्ञ है । जो गृहस्थ इन यज्ञोंको नहीं करता, उसके सात लोक नष्ट हो जाते हैं । काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी, विश्वरुची—ये अग्निकी सात जिह्वाएँ हैं । जो लोग इस प्रकार प्रदीप्त अग्निमें आहुतियाँ देते हैं, उनकी आहुतियोंको सूर्यकी किरणें उस स्थानपर पहुँचा देती हैं, जहाँ देवोंके पति अर्थात् ब्रह्मका निवास है । ये आहुतियाँ सूर्यकी किरणोंके साथ चलती हुई मानो यजमानको बड़ी मीठी बोलीमें पुण्यलोककी ओर बुलाती हैं । तात्पर्य यह है कि नित्य श्रद्धाके साथ यज्ञ करनेसे जीवन पवित्र होता है और परलोक बनता है ।'

अध्ययन

तैत्तिरीय उपनिषद्में शिक्षाका विषय मुख्यतया प्रतिपादित किया है । उसमें स्वाध्यायके विषयमें लिखा है—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥
(१ । ९ । १)

'ऋत अर्थात् सृष्टिके नियमोंको यानी विज्ञान (Science) को पढ़ो-पढ़ाओ । स्वाध्याय कहते हैं स्वयं पढ़नेको एवं प्रवचन कहते हैं दूसरोंके पढ़ानेको । तपके साथ पढ़ो-पढ़ाओ । तप कहते हैं सात्त्विक श्रमको । इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए पढ़ो-पढ़ाओ । शान्तिपूर्वक पढ़ो-पढ़ाओ । अग्नि (शक्ति 'Power' अर्थात् भौतिक विज्ञान एवं इंजिनियरिंग) को पढ़ो-पढ़ाओ । अग्निहोत्रको करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ । अतिथिकी सेवा करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ । मनुष्यमात्रके कल्याणपर विचार करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ । प्रजा अर्थात् सर्वसाधारणके हितका ध्यान करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ । प्रजन अर्थात् सन्तानवृद्धिकी समस्याओंपर विचार करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ । इसके अन्तर्गत केवल मनुष्यकी नहीं वरं पशु-पक्षी तथा वृक्षादिकी उत्पत्ति तथा वृद्धिके नियम भी आ जाते हैं । अपनी जातिके हितकी कामनासे पढ़े । राथीतर आचार्यका मत है कि सत्यभाषण सबसे बड़ी चीज है । सत्यभाषण कभी न छोड़ना चाहिये । पौरुशिष्टि आचार्यका कथन है कि तप मुख्य है, तपपर बल देना चाहिये । मुद्गल आचार्यके शिष्य नाक स्वाध्याय और प्रवचनपर बहुत बल देते हैं ।'

स्वाध्यायसे मस्तिष्कवृद्धिके साथ-साथ आत्मिक उन्नति भी होती है । जैसा मन सोचता है, वैसा बोलता है । जैसा बोलता है, वैसा करता है । दूसरे, पुराना अनुभव बराबर प्राप्त होता रहता है और हमें क्षेत्र मिलता है कि उन अनुभवोंमें हम वृद्धि कर सकें । जहाँ पठन-पाठनकी क्रिया नहीं है, वहाँ पैतृक अनुभव न प्राप्त होनेसे क्रमशः ज्ञान-वृद्धि रुक जाती है । यही ऋषि-ऋण है, जो तीन ऋणोंमेंसे एक है; जिसके पालनार्थ हम यज्ञोपवीत धारण करते हैं । गृहस्थियोंको प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा स्वाध्याय करते रहना चाहिये । कभी छोड़ना नहीं चाहिये ।

दान

धर्मकी तीसरी शाखा दान है । उपनिषदोंमें कहा है—

श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ।

'श्रद्धासे देना चाहिये, अश्रद्धासे देना चाहिये । सौन्दर्यसे देना चाहिये । लोक-लज्जासे देना चाहिये । भय अर्थात् पाप-पुण्यके विचारसे देना चाहिये । संविदा अर्थात् ज्ञानपूर्वक दो ।' अर्थात् जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्यमात्रके कल्याणको समझकर देना चाहिये । दान पापोंकी वृद्धि करनेवाला न हो ।

धर्मका दूसरा स्कन्ध तप है । अर्थात् इन्द्रियदमनके साथ-साथ आत्मोन्नतिके लिये घोर परिश्रम करना तप है । तीसरा स्कन्ध है कि नियमके साथ आचार्यकुलमें नियमित समयके लिये निवास करना । गृहस्थ अपनी सन्तान तथा अन्य बालकोंको शिक्षा-दान कराकर इस नियमका पालन कर सकते हैं ।

आध्यात्मिक मार्गमें अग्रसर होनेके लिये आहारशुद्धिसे चलना चाहिये। और अपने अंदर दया, दान और इन्द्रियदमनकी भावनाको बढ़ाना चाहिये। निरन्तर यज्ञ करते हुए अध्ययनको भी बराबर करते रहना चाहिये। आहारशुद्धि, यज्ञ और दान कर्म हैं, जिनको प्रयत्नसे कर सकते हैं। दया स्वयं आहारशुद्धिसे पैदा होने लगती है। आहारका प्रभाव इन्द्रियदमनपर पड़ता है। दूसरे, अध्ययन मनोविचारोंको भी शुद्ध करता है। स्वामी दयानन्दसे जब बंगालके प्रसिद्ध नेता अश्विनीकुमार-ने ब्रह्मचर्यके साधनोंपर प्रश्न करते हुए पूछा कि 'महाराज! आपने यह ऊँची स्थिति किस साधना और किस उपायसे प्राप्त की है।' तो उन्होंने बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया कि 'इसका उपाय बड़ा सरल है। मैं कभी अपने मनको खाली नहीं रहने देता। मैं हर समय किसी-न-किसी काममें लगा रहता हूँ। कभी वेदभाष्य, कभी वेदाङ्गप्रकाश लिखना, कभी दर्शकोंके प्रश्नोंका समाधान, कभी शास्त्रार्थ और कभी पत्रोत्तर लिखवाता हूँ। जब कोई और काम नहीं होता तो ओंकारका (भगवन्नामका) जाप कर रहा होता हूँ। काम आता होगा तो मेरे मनकी ड्योढ़ीको बंद पाकर लौट जाता होगा।' अतः मनको खाली न रखना सबसे उत्तम ब्रह्मचर्यका साधन है।

इन साधनोंको अपनानेसे मनुष्यका कल्याण होता है, और राष्ट्रका भी कल्याण होता है। एक विद्वान् धर्मात्मा योगी राष्ट्रकी गतिविधिको बदल देता है। ऐसे पुरुष देवता हो जाते हैं। जिनमें दिव्य गुण हो, वह देवता हैं। धन्य है वह राष्ट्र जहाँ ऐसा देव-समाज प्रमुख हो। जहाँ असुर अर्थात् स्वार्थी, क्रूरकर्मा तथा दुराचारी व्यक्तियोंका प्राधान्य है, वहीं कष्ट है, दुःख है और निश्चित पराभव है। हमारे राष्ट्रके नेता, हमारे राज्यके सूत्रधार इसी उपनिषद्-धर्मको पालन करते हुए राष्ट्रको परमोन्नत दशामें पहुँचा सकते हैं। **'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति'**। वेद कहता है कि 'ब्रह्मचर्य और तपसे राजा राष्ट्रकी रक्षा करता है।' धर्मके इन नियमोंपर चलना ही ब्रह्मचर्य है, तप है। ये ही नियम महाराज जनककी तरह व्यक्तिको विदेह बना सकते हैं।

उपनिषत्सार

(रचयिता—श्रीभवदेवजी झा)

यही सब उपनिषदोंका सार।
सार-रूप केवल ईश्वर है, यह संसार असार॥ १॥
क्षणभङ्गुर दुर्लभ मानव-तन, विषय सभी निस्सार।
बरबस इस मनको वशमें कर, करो आत्म-उद्धार॥ २॥
भू मण्डलके कण-कणमें है, विभुका ही विस्तार।
सबमें जीव समान जानकर, करो तुल्य-व्यवहार॥ ३॥
अनासक्त होकर करना है, निज आहार-विहार।
अहंकार-परिहार न जबतक, नहीं कर्म-निस्तार॥ ४॥
सत्य-शोध ही भव-रोगोंका, एक मात्र उपचार।
आत्म-बोध ही पहुँचाता है, जगन्मुक्तिके द्वार॥ ५॥
देही अजर-अमर-अक्षर है, देह विकारागार।
यही देह-देही-विवेक ही, देता पार उतार॥ ६॥
है स्वरूप-विस्मृति ही माया, और ब्रह्म ओंकार।
निर्गुण-सगुण एक ईश्वर है, निराकार-साकार॥ ७॥
'मैं' हूँ निर्व्यापार न मेरा, नाम-रूप-आकार।
'मैं' भी वही ब्रह्म हूँ, सत्-चित्-सुखका पारावार॥ ८॥

भगवान् श्रीरामचन्द्र और औपनिषद ब्रह्म

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

गिरिराज हिमालयके सर्वोच्च शिखरका नाम है—कैलास (आनन्दका निवास-स्थान)। सचमुच आनन्द यहाँ मूर्तिमान् होकर निवास करता है। यह है भगवान् भूतभावन शिवकी क्रीडास्थली। इस शिखरके ही एकान्त-शान्त प्रदेशमें एक है विशाल वट-वृक्ष, जिसे भगवान् शिवका विश्रामस्थल कहा जाता है। पर यह विश्राम शब्द भी है सांकेतिक ही—

सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥

—मानकर शम्भु विश्रामके मिस यहाँ आकर प्रभु-प्रेममें तन्मय हो उनके नाम-रूपका स्मरण करते रहते हैं।

एक दिन शशाङ्कशेखर अपने गणोंसे बिना कुछ कहे ही वटकी सुशीतल छायामें व्याघ्रचर्म बिछा सहज ही जा विराजे। गिरिराज-नन्दिनी भवानी सुअवसर देख अनिमन्त्रित होनेपर भी भगवान् शिवके चरणोंमें जाकर प्रणत हुईं। परम कृपालु महेशने उनके मानरहित प्रेमको देखकर उनका सत्कार करते हुए बैठनेको आसन दिया। शैलजाके हृदयमें पूर्वजन्मसे ही एक संदेह गूँज रहा था। उसको पूर्ण रीतिसे निवृत्त कर लेना ही उन्हें उचित जान पड़ा। प्रमथेशकी आज्ञा पाकर उन्होंने प्रश्न किया—'प्रभु! मैंने वेदवक्ता मुनियोंके मुखसे ब्रह्मका जो वर्णन सुना है, उसमें उन्हें व्यापक, विरज, अज, अकल, अनीह और अभेद आदि नामोंसे सम्बोधित किया गया है। क्या ऐसे ब्रह्मका अवतार सम्भव है?'

ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥

हाँ, त्रैलोक्य-पालक भगवान् विष्णुका अवतार राम-रूपमें होता है। यह मैंने ऋषियोंके मुखसे सुना है। परंतु ब्रह्मका अवतार तो बुद्धिमें न आनेवाली बात है। उपनिषदोंमें भी विशेषरूपसे निर्गुण-निर्विशेषका वर्णन आता है, यह भी मैंने सुना है। क्या उपनिषत्-कथित निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्म और रघुवंशशिरोमणि राममें कोई भेद नहीं? आस्तिकोंके लिये तो श्रुति ही परम प्रमाण है। और जब वह निर्गुण ब्रह्मके वर्णनको ही विशेषरूपसे अपना लक्ष्य बनाती है, तब सगुण-साकार रामके प्रति आपका यह प्रेममय भाव कुछ समझमें नहीं आता। राम ही ब्रह्म है, क्या यह आपका स्वतन्त्र मत है? आपसे बढ़कर वेदार्थका ज्ञाता और कौन है?

तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना। आन जीव पाँवर का जाना॥

अस्तु।

प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥
रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥
जौं अनीह ब्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥

अपर्णाकी छलविहीन वाणी सुनकर कामारि परम प्रसन्न हुए; क्योंकि इसी मिससे उन्हें प्रभुके गुणानुवाद गानेका एक सुअवसर प्राप्त हो गया। प्रभुके रूप-गुणका स्मरण होते ही गङ्गाधरके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु छलक पड़े। हृदयसे भक्तिकी एक नव-मन्दाकिनी निकलकर भगवती भवानीको आप्लावित और शीतल करने लगी—

मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह॥

उत्तर देते हुए भगवान् शिवने कहा—उमा! प्रभु-विषयक प्रश्न तो सदा ही परम कल्याणकारी है। पर तुम्हारा यह कहना मुझे रुचिकर नहीं लगा कि क्या 'वेद-प्रतिपादित ब्रह्म ही राम हैं?' ऐसा संदेह तो वेदार्थका ठीक ज्ञान न रखनेवाले ही करते हैं।

कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाषंडी हरि-पद-बिमुख जानहिं झूठ न साँच॥

शिवे! वास्तवमें 'ब्रह्म-तत्त्व' अचिन्त्य ही है। इसीलिये वेदोंने भी उसका वर्णन 'नेति, नेति' रूपसे ही किया है।

नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥

तुमने कहा कि 'राम ही ब्रह्म हैं। क्या यह आपका स्वतन्त्र मत है?' पर तुम्हारा यह कथन समीचीन नहीं। श्रुति-विरुद्ध तो भगवत्-कथन भी आस्तिकोंको मान्य नहीं। इसीसे तो बुद्ध भगवान्के प्रति श्रद्धाका भाव रखते हुए भी उनकी वेद-विरुद्ध कथित बातोंको कोई भी आस्तिक स्वीकार नहीं करता—

अतुलित महिमा बेद की तुलसी कीन्ह बिचार।
बेदनिन्द निन्दित भयो बिदित बुद्ध अवतार॥

इसलिये मैं जो कुछ कहूँगा, वह श्रुति-सम्मत ही कहूँगा। जैसा मैंने पूर्वमें ही कहा कि वेद भी उस ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ निर्देश करनेमें मौन ही रहते हैं। तुम्हारा यह कथन किसी अंशमें यद्यपि ठीक ही है कि उपनिषदोंमें निर्गुण अचिन्त्यरूपका

ही विशेषरूपसे निर्देश किया गया है। पर यह तो असमर्थताके कारण ही; क्योंकि निर्गुण व्यापक रूपसे तो उसका समझाना कुछ सरल भी है। पर उसके दिव्य चिदानन्दमय सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-समुद्र सगुण-साकार मंगल-विग्रहके असमोर्ध्व अचिन्त्यानन्त कल्याण-गुणगण और उसकी मुनि-मन-हारिणी कमनीय रूप-माधुरीका न तो यथार्थतः वर्णन ही किया जा सकता है, न उसे समझाया ही जा सकता है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानइ कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

निर्गुण रूप तो विचारगम्य है और विचारका उत्पादन साधनोंसे संभव है। पर सगुण स्वरूप तो बिना प्रेमके समझा ही नहीं जा सकता। और प्रेम साधनसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता। वह तो प्रभु-कृपासे ही सम्भव है। इसलिये जहाँ-तक साधन-बल है, वहाँतकके स्वरूपका निर्देश कर सगुण-स्वरूपका केवल संकेत करते हुए ही उपनिषद् मौन हो जाते हैं। वेद तो स्वयं श्रीभगवान्के दर्शन एवं उनके प्रेमकी सदा आकाङ्क्षा करते रहते हैं। इसीलिये तो भूपालचूडामणि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराघवेन्द्रके राज्याभिषेकके अवसर-पर चारों वेद 'बंदी बेष' में प्रभुके स्वरूपका विशद विवेचन करते हुए अन्तमें कहते हैं—

जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन-पर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
करुनायतन प्रभु सद्गुनाकर देव यह बर मागहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥

वास्तवमें प्राकृतगुणरहित सगुण ब्रह्म वर्ण्य हैं ही नहीं। वे तो प्रेम ही करनेयोग्य हैं। वर्णन तो निर्गुणका ही सम्भव है। इसीसे अगस्त्यजीने प्रभुके चिन्मय स्वरूपका विवेचन करते हुए अन्तमें कहा—

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥

जबतक प्रभु-कृपा किंवा संत-कृपासे हृदयमें प्रेमका प्राकट्य न हो जाय, तबतक प्रभुकी मङ्गलमयी लीलाका वर्णन सार्थक नहीं। गिरिजे! मैं स्वयं भी अनधिकारीके प्रति इसका उपदेश नहीं करता। तुम्हें मैं अपनी एक चोरी बता रहा हूँ। बात उस समयकी है, जब तुम दक्ष-तनया सतीके रूपमें मेरे निकट थीं, उस समय तुम्हारा चित्त बड़ा ही संशय-ग्रस्त था। इसीसे जब मैंने सुना कि प्रभु अपनी दिव्य लीलाका प्राकट्य करनेके लिये अयोध्यामें अवतरित हो गये हैं, तब मैंने इस सुसंवादका सुनाना तुमसे उचित न समझा। क्योंकि रसका प्रसङ्ग सच्चा रसिक ही समझ सकता है। हाँ, मैंने परमप्रभु-प्रेमी काकभुशुण्डिको अवश्य ही साथ ले लिया।

औरउ एकु कहउँ निज चोरी। सुनि गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी॥
कागभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ॥
परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥

पर अयोध्याकी बीथियोंमें विहरण करनेपर भी बिना प्रभु-दर्शनके हमारी तृप्ति न हुई। तब हम दोनोंने गुरु-शिष्य-रूपसे ज्योतिषीका बाना बनाया और अपने गुणका ख्यापन करनेके लिये अयोध्याके राजप्रासादकी दासियोंके पुत्रोंके हाथ देखने प्रारम्भ किये। अन्तमें दासियोंने जाकर कौसल्या अम्बासे इसकी सूचना दी—

अवध आजु आगमि एक आयो।
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो॥

अन्तमें हम दोनोंकी मनोकामना पूर्ण हुई और कौसल्या अम्बाने अपने लालका भविष्य जाननेकी इच्छासे हमें भीतर बुलवा लिया। गिरिजे! शिशु-ब्रह्मके इस नव-नील-नीरद दिव्य वपुषको निहारकर नेत्रोंको जो आनन्द हुआ, वह वर्णनातीत है। वह उपनिषत्-कथित व्यापक ब्रह्म कौसल्या अम्बाकी नन्ही-सी गोदीमें पड़ा मन्द-मन्द मुसकरा रहा था। सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रकी यह प्रेमपराधीनता देख मेरे मुखसे बरबस ही निकल पड़ा कि—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम-भगति-बस कौसल्या कें गोद॥

प्रिये! शिशु-ब्रह्मकी यह अद्भुत झाँकी, वाणीका नहीं, नेत्रका विषय है।

रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहिं देखा॥
प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना। कहि किमि सकहिं तिन्हहि नहिं बयना॥

मङ्गलमय प्रभुके श्रीकरारविन्दोंको अपने हाथमें ले मैंने कालातीत प्रभुका भविष्य-कथन भी कर डाला। इस सौभाग्य-सुखसे मैं कुछ कालमें वञ्चित कर दिया गया। क्यों, उन-अनीह प्रभु लीला-प्रेम-विहारीको बुभुक्षा सता रही थी और वह पूर्णकाम वात्सल्य-सुधापरिपूर्ण पवित्र मातृ-स्तनोंका पान करनेके लिये अत्यन्त लालायित हो रहा था। प्रभुकी इस परम कौतूहलमयी लीलाका बार-बार स्मरण करता हुआ मैं कैलास-शिखरपर लौट आया। पर लौटनेपर भी यह रहस्य मैंने उस समय तुम (सती)से छिपा ही रक्खा और आज उसे तब व्यक्त कर रहा हूँ, जब तुम्हारे हृदयमें प्रभुको पहचाननेकी सच्ची जिज्ञासा जाग्रत् हो गयी है।

निर्गुण निराकार ब्रह्मकी उपनिषत्-कथित पद्धतिसे उपासनाके पश्चात् ही प्रभुके पुनीत पाद-पद्मोंमें प्रेम उत्पन्न होता है। उपनिषद्-ज्ञानकी परिसमाप्तिपर ही प्रभु-प्रेमका पावन प्रारम्भ होता है—

जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥
सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। रामकृपा काहू इक पाई॥

ज्ञान-वैराग्यके द्वारा जिन्होंने अपने सच्चे नेत्रोंको प्राप्त कर लिया है, उपनिषद् केवल उन्हींको रघुवंशमणिके इस स्वरूपका संकेत करते हैं।

अब मैं तुम्हारे प्रश्नोंकी ओर आता हूँ। तुम्हारा यह कथन 'अगुण सगुण कैसे हो सकता है?' इसके लिये केवल जलका उदाहरण देना पर्याप्त है। जैसे जल बर्फ रूपमें परिणत होकर भी जल ही रहता है—उसमें कोई विकृति नहीं आती, उसी तरह निर्गुणका सगुण रूपमें परिणत होना है—

जो गुनरहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥

तुम्हारा यह कथन भी सर्वथा भ्रान्त ही है—'व्यापक एकदेशीय हुए बिना अवतरित कैसे हो सकता है?' वास्तवमें अवतरित होनेपर भी सर्व देश उनमें ही निवास करते हैं। एक देशमें उनका दर्शन तो हमारे नेत्रकी सीमित शक्तिके कारण ही प्रतीत होता है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सर्वव्यापकताकी सच्ची सिद्धि तो प्रभुके प्राकट्यकालमें ही सम्भव है; क्योंकि निर्गुण-निराकार रूपसे वह सर्वत्र है ही, इसका क्या प्रमाण? उसका होना तो केवल माना हुआ ही है; क्योंकि वह रूपवान् तो है नहीं। अवतारकालमें एक देशमें प्रतीत होते हुए भी 'सर्वदेश उसमें है और वह सर्व-देशमें है' यह स्पष्ट रूपसे सिद्ध हो जाता है। एक बार परम भक्त कागजीको ऐसा ही संदेह हो गया था।

श्रीदशरथजीके मणिमय प्राङ्गणमें शिशु-ब्रह्म बाल-क्रीड़ामें निमग्न था। महाभाग काग भी कौसल्यानन्दनकी इस मङ्गलमय लीलाका आनन्द लेनेके लिये 'लघु बायस बपु' धारण कर उनके निकट ही विचरण कर रहा था। अचानक प्रभुको एक विनोद सूझा। कागको और भी निकट बुलानेके लिये अपने हाथका मालपुआ उसकी ओर बढ़ा दिया। पर ज्यों ही प्रसादके लोभसे भुशुण्डि नि[illegible] आया, त्यों ही प्रभुने अपने श्रीकरारविन्दोंको खींच लिया। इस प्रकारका विनोद कुछ क्षणोंतक चलता रहा। कागके हृदयमें एक नवीन प्रश्न उठ खड़ा हुआ, प्रभुको न पकड़ सकनेकी इस असमर्थता-को देखकर—

प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद-संदोह॥

फिर क्या था। प्रभुने अपनी भुजाएँ फैला दीं पकड़नेके लिये और काग भी अपनी सम्पूर्ण शक्तिके साथ उड़ चला। अपनी इस अवस्थाका वर्णन उसने इन शब्दोंमें किया है—

ससावरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि।
गयउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भयउँ बहोरि॥

लौटकर आना पड़ा प्रभुके उन्हीं अभयद चरणोंमें। पर प्रभुने सोचा सर्वव्यापकताके दर्शनको अधूरा ही क्यों छोड़ा जाय।

मुसकराकर राघवेन्द्रने मुँह खोला और तुरंत कागको उदरस्थ कर लिया। तब दिखायी पड़ा कागको वह आश्चर्यमय कौतुक, जिसका वर्णन उसने इन शब्दोंमें किया है—

उदर माझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रबि रजनीसा॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किंनर। चारि प्रकार जीव सचराचर॥

जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥
एक एक ब्रह्मांड महुँ रहउँ बरष सत एक।
एहि बिधि देखत फिरउँ मैं अंड कटाह अनेक॥

इस प्रकार रामने भक्त कागको अपनी सर्वकारणता और सर्वाश्रयता दिखला दी।

× × × ×

वास्तवमें अवतार-कालमें भी ब्रह्म एक देशमें सीमित नहीं हो जाता। जैसे सूर्यमण्डल उतना लघु नहीं, जितना हमारे लघु नेत्रोंसे दीखता है, वह तो अकेला ही समग्र ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता रहता है। उसी तरह ब्रह्मका एक देशमें प्रतीत होनेमें भी अपना भ्रम ही मानना चाहिये। वहाँ भी वह सर्व-देशीय ही है, एकदेशीय नहीं।

रबिमंडल देखत लघु लागा। उदयँ तासु तिभुवन तम भागा॥

तुम्हारा यह कथन कि वह देह कैसे धारण कर सकता है? यह भी ब्रह्म रामके देहका ठीक स्वरूप न जाननेके कारण ही है। क्या उसका शरीर साधारण प्राणियोंका-सा पञ्चतत्त्वोंसे निर्मित है? वास्तवमें प्रभुमें तो देह-देहीका कोई भेद है ही नहीं, इसीलिये उनके देहको भी सच्चिदानन्दघन-विग्रह कहा जाता है।

चिदानंदमय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी ॥

सच्चिदानन्दमय होनेसे उनको इन मायिक नेत्रोंसे देखा भी नहीं जा सकता । प्रभुका स्वरूप इन्द्रियोंका विषय है ही नहीं, इसीसे वाल्मीकिजीने प्रभुकी वन्दना करते हुए कहा—

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर ।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह ॥

गिरिजे ! सृष्टिकी एक भी वस्तुका समग्र रूपसे वर्णन नहीं किया जा सकता; फिर सर्वमय और सर्वकारण एवं साथ ही सर्वपर तथा सब कार्यकारणातीत ब्रह्म रामका विवेचन बुद्धि या वाणीसे कैसे सम्भव है। प्रकाश्य प्रकाशकको प्रकाशित करे, क्या यह कभी देखा-सुना गया है ? राम तो इन्द्रिय, मन, देवता—सभीके प्रकाशक; जीवके भी परम प्रकाशक हैं। फिर अपनी उस बुद्धिसे हम उनके ठीक स्वरूप समझने या समझानेकी चेष्टा करें, यह कितनी हास्यास्पद बात है ?

बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तें एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥

इसीलिये कहना पड़ता है—

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी । मत हमार अस सुनहु भवानी ॥

वे अवतार ही क्यों लेते हैं ? इसका भी ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता ? यह है भी उनके स्वरूपके अनुरूप ही। यदि ठीक बताया जा सकता तो वे भी ज्ञात विषयोंकी श्रेणीमें आ जाते । उनके अवतरित होनेके विषयमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी भावनाके अनुरूप ही अर्थ लेता है। देवता समझते हैं—हमारी रक्षाके लिये, धार्मिक मुनि समझते हैं धर्मरक्षाके लिये और राक्षसोंको भी यह सोचनेका अधिकार है कि वे उन्हें गति देनेके लिये आते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो प्रभुके अवतार लेनेसे सभी जीवोंको कुछ-न-कुछ प्राप्त होता है। वे तो कारणातीत होनेसे सहज ही अवतरित होते हैं, पर उनके इस सहज कारुण्यसे असंख्य जीवोंको सन्मार्ग और कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जिन अमलात्मा परमहंसोंने निर्गुणोपासनासे अपने कर्म-बन्धनोंका सर्वथा उच्छेद कर डाला है और ज्ञाननिष्ठामें सर्वथा परिनिष्ठित हैं, उनके ऊपर प्रसन्न होकर उनको अपने इस सच्चिदानन्द-विग्रहका प्रत्यक्ष दर्शन और भक्तियोगमें प्रवृत्त करानेके लिये ही प्रभु अवतरित होते हैं।

शुभे ! सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमारोंको तो तुम जानती ही हो, उनका दिव्य-देह भौतिक नहीं; जिनकी सदा एकही-सी बाल्यावस्था बनी रहती है और नित्य-निरन्तर ब्रह्मानन्दमें सर्वथा परिनिष्ठ हैं, जिन्हें मूर्तिमान् वेद कहना भी अत्युक्ति न होगी—

ब्रह्मानंद सदा लयलीना । देखत बालक बहुकालीना ॥
रूप धरें जनु चारिउ बेदा । समदरसी मुनि बिगत बिभेदा ॥

उन्होंने भी जिस समय आनन्दकन्द प्रभुका श्रीअवध-धाममें दर्शन किया, सारी ज्ञाननिष्ठाको बहा दिया । करते भी क्या, प्रभुके कोटि-कन्दर्प-कमनीय श्रीअङ्गके दर्शनका प्रभाव ही ऐसा है । उन्होंने मनको निष्ठायुक्त बनाये रखनेकी बड़ी चेष्टा की; पर—

मुनि रघुबर छबि अतुल बिलोकी ।
भए मगन मन सके न रोकी ॥

नेत्र स्थिर हो गये, पलकें भी नहीं गिरतीं, प्रेमसे प्रभुके श्रीचरणोंमें बार-बार प्रणाम करते हैं और फिर तो उन्हें इस स्वरूपमें इतना अधिक आनन्द आया कि उन्होंने सदा-सर्वदाके लिये प्रभुसे प्रेमभक्तिकी ही कामना की ।

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम ।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम ॥

क्या ब्रह्मविद्वरिष्ठ सनकादि-जैसे परम तत्त्वज्ञ और वेदार्थके यथार्थ ज्ञाता किसी साधारण राजकुमारको किंवा किसी लौकिक रूपको देखकर इस प्रकार विह्वल हो सकते हैं ? इससे तुम समझ सकती हो कि मैं ही नहीं, अपितु अन्य सभी वेदान्तपरिनिष्ठ महापुरुष रघुवंशशिरोमणि सच्चिदानन्दविग्रह भगवान् श्रीराघवेन्द्रको ब्रह्मसे अभिन्न ही नहीं—उनसे बढ़कर मानते हैं और ब्रह्मानन्दको भुलाकर उनकी भक्तिमें संलग्न हो जाते हैं ।

भेद तो उनको ही जान पड़ता है जो वासनामलिन और ज्ञाननेत्रविहीन हैं । यदि ऐसे लोग वेदका नाम लेकर भी वेदका प्रतिपादन करें तो उन्हें नास्तिक और वेदज्ञानशून्य ही समझना चाहिये । उनकी बातपर ध्यान न देना ही उचित है ।

अग्य अकोबिद अंध अभागी । काई बिषय मुकुर मन लागी ॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी । सपनेहु संत सभा नहिं देखी ॥
कहहिं ते बेद असंमत बानी । जिन्ह कें सूझ न लाभु न हानी ॥

और तब भगवान् पञ्चमुख शङ्करने अपना दृढ़ मत व्यक्त करते हुए पाँचों मुखोंसे कहा कि 'जिन्हें वेद ऐसा

कहते हैं, वे ही रघुवंश-शिरोमणि राम मेरे स्वामी हैं'—

(१) पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ॥

(२) बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

(३) जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई॥
जासु कृपाँ अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई॥

(४) बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आननरहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। गहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥
जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥

(५) कासीं मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥

और अन्तमें उपसंहार करते हुए भगवान् शङ्करने कहा—

अस निज हृदय बिचारि तज संसय भजु राम पद।
सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम-तम रबिकर बचन मम॥

कल्याणमय शिवकी भ्रमभञ्जक वचनावलीको सुनकर गिरिराजनन्दिनीका सारा संदेह जाता रहा और राघवेन्द्र श्रीरामके श्रीचरणोंमें उन्हें अनुपम अनुराग हो गया। भगवान् शङ्करके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए वे बोलीं—

ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥
तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ॥
नाथ कृपाँ अब गयउ बिषादा। सुखी भयउँ प्रभु चरन प्रसादा॥

श्रीपार्वतीजी ही नहीं, भूतभावन भगवान् शिवके इस पवित्र भाषणसे वहाँका कण-कण अपनेको कृतकृत्य अनुभव करने लगा।

उपर्युक्त विवेचनसे अवधेशशिरोमणि भगवान् श्रीरामका औपनिषद ब्रह्मसे अभेद ही नहीं सिद्ध होता, बल्कि उनके विशेषत्वका भी प्रतिपादन होता है। श्रीरामचरितमानसमें ऐसे प्रसंग और भी हैं, उनमेंसे एक प्रसंगको संक्षेपमें लिखकर लेख समाप्त किया जाता है।

भगवान् श्रीराघवेन्द्र तथा उनके अनुज श्रीलक्ष्मणजी महामुनि गुरु विश्वामित्रजीके साथ मिथिला पधारते हैं। विश्वामित्रजीकी आज्ञासे नगरसे बाहर सभी एक सुन्दर आम्र-वाटिकामें ठहरते हैं। यह समाचार जब श्रीमिथिलेशको मिलता है तो वे परम प्रसन्न होकर पवित्र मन्त्री, सैनिक, ब्राह्मण, श्रेष्ठ गुरु और जातिके सरदारोंको साथ लेकर मुनिराजके दर्शनार्थ पधारते हैं। उस समय श्रीराघवेन्द्र अनुज श्रीलक्ष्मणजीके साथ पुष्पवाटिका देखने गये हुए थे। उनके पीछेसे सौभाग्यशाली महाराज जनक मुनिराजको साष्टाङ्ग प्रणाम करके और उनका आशीर्वाद प्राप्त करके एवं अन्यान्य ब्राह्मणोंको सादर नमस्कार करके मुनिकी आज्ञासे वहाँ बैठ जाते हैं। इतनेमें ही मृदु-वयस किशोर, नेत्रानन्द-दाता, विश्वचित्त-चौर श्याम-गौर दोनों भ्राता वहाँ आ पहुँचते हैं। उनके वहाँ पहुँचते ही इतना सहज प्रभाव पड़ता है कि सभी तेज-ज्ञान-वयोवृद्ध, योगीन्द्र, मुनीन्द्र, वीरेन्द्र, विप्रेन्द्र आदिके सहित जीवन्मुक्त-शिरोमणि तथा सच्चे जिज्ञासुओंको ब्रह्म-तत्त्वका उपदेश देनेवाले विदेहराज जनक सहसा उठ खड़े होते हैं और अपने-आप बैठना भूल जाते हैं। मुनि विश्वामित्रके बैठानेपर बैठते हैं। उस समय सबकी क्या दशा होती है और प्रेम-सुधा-सागर-निमग्न विदेहराज मुनिराजसे क्या पूछते हैं, इसको रामचरितमानसकी भाषामें ही सुनिये—

भए सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥
मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥
प्रेममगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥
कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद-चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

जिनके दिव्य मधुर सौन्दर्यके दर्शनमात्रसे सहज वैराग्य-मय चित्तवाले जनक चकोर बनकर श्रीराघवेन्द्रके मुखचन्द्रको निर्निमेष देखते रह जाते हैं, इतना आत्यन्तिक प्रेमानन्द उत्पन्न होता है कि उनका ब्रह्मानन्दमें नित्य-निमग्न मन उसे छोड़ देनेको बाध्य होता है और आँखोंसे आँसू बहाते हुए गद्गद होकर वे बड़ी गम्भीरताके साथ जिन सौन्दर्य-सुधा-निधिका सच्चा परिचय जानना चाहते हैं, वे रामचरितमानसके श्रीराघवेन्द्र साक्षात् औपनिषद ब्रह्म हैं या ब्रह्मसे भी बढ़कर कोई परम तत्त्वविशेष हैं, इसका विचार विज्ञ और रसिक पाठक ही करें।

जैन उपनिषदोंका सार

(रचयिता—श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

आनन्द शान्तिमय हम, मंगल-स्वरूप पायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें ॥ध्रु०॥

कल्याणमय शरण है परमात्म-भाव अपना।
जगका ममत्व सारा, समझा अनित्य सपना ॥
हम हैं सदा अकेले, क्यों मुग्ध मन बनायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें ॥ १ ॥

अपवित्र देहमें अब आसक्ति छोड़ देंगे।
मिथ्यात्व अव्रतोंसे निज वृत्ति मोड़ देंगे ॥
सम्यक्त्व धर्म संयम तपमें हृदय रमायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें ॥ २ ॥

परदेश लोक सारा, निज देश सिद्धि-थल है।
लोकाग्र स्थित हमारा प्यारा अनन्त बल है ॥
निर्ग्रन्थ गुरु मिले जब सत्पन्थ क्यों भुलायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें ॥ ३ ॥

अर्हन्त देवका जब रूपस्थ ध्यान ध्याया।
पद और पिंडको भी उस रूपमें मिलाया ॥
सब नाम रूप तज कर फिर लोकमें न आयें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें ॥ ४ ॥

निश्चय अवाच्य ही है, व्यवहार सब कथन है।
पर्य्याय दृष्टिसे ही, यह आगमन गमन है ॥
द्रव्यार्थ नय अपेक्षा हम मुक्त ही कहायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें ॥ ५ ॥

जब तक सदेहमें हम, तब तक न ध्येय पूरा।
आलस्य भावसे क्यों, कर्तव्य हो अधूरा ॥
पर तुच्छ वासनाका बन्धन नहीं लगायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें ॥ ६ ॥

क्या सूर्य-चन्द्रने भी कुछ अंधकार जाना।
अज्ञान तम हटाया, यह लोक शब्द माना ॥
निजमें अकर्म बनकर, भव कर्म भय मिटायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें ॥ ७ ॥

आनन्द शान्तिमय हम, मंगल-स्वरूप पायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें ॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और औपनिषद ब्रह्म

पद्मयोनि, प्रपञ्चनिर्माता पितामहके नेत्रोंसे अश्रुके निर्झर झर रहे थे। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके नवजलधर श्याम अङ्ग, अङ्गोंमें विद्युत्प्रभ पीताम्बर, कर्णयुगलमें गुञ्जानिर्मित अवतंस, चूडापर राजित मयूरपिच्छ, वक्षःस्थलपर वनमाला, हस्तपुटमें दधिमिश्रित ग्रास, काँखमें दबे हुए वेत्र एवं शृङ्ग, कटिफेंटमें खोंसी हुई मुरली, सुकोमल चरण-सरोज—इनकी शोभा, इनके आलोकमें वेद-उपनिषद् ज्ञानके प्रथम अनुभवी उन आदि-ऋषि ब्रह्माका समस्त सञ्चित ज्ञान हतप्रभ हो चुका था। जिनके स्वरूपका साक्षात् वर्णन करनेमें श्रुतियाँ सर्वथा असमर्थ हैं, केवलमात्र स्वरूपसे अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध-मात्र करती हैं—

अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्।

(बृहदारण्यक० ३। ८। ८)

'वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न अन्तर है, न बाहर है।'

—इस प्रकार निरसन करते-करते जहाँ जाकर वे परिसमाप्त हो जाती हैं; जिनमें अपने आपको खो बैठती हैं, जिनमें अपना अस्तित्व विलीन कर सफल हो जाती हैं—

यच्छ्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः।

(श्रीमद्भागवत वेदस्तुति १०। ८७। ४१)

—वे आज स्वयं ब्रह्माके सामने दृष्टिके विषय होकर खड़े थे। इतना ही नहीं; क्षणभर-पूर्व उनके अपने निर्निमेष नयनोंने देखा था—व्रजेन्द्रतनयके पार्श्ववर्ती वे समस्त गोवत्स, गोपशिशु, नव-नील-नीरद-वर्ण, पीतपट्टाम्बर-परिशोभित शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-करधारी, मणिमुकुटधारी, मणिकुण्डल-मुक्ताहारशोभित, वनमाली चतुर्भुजके रूपमें परिणत हो गये थे। उनमेंसे प्रत्येक मूर्तिके वक्षःस्थलमें श्रीवत्स, भुजाओंमें अङ्गद, हाथोंमें रत्नमय वलय एवं कङ्कण, चरणोंमें नुपूर एवं कड़े, कटिदेशमें करधनी, अङ्गुलियोंमें अङ्गुरीयक (अँगूठी) विराजित थी। अतिशय भाग्यशाली भक्तोंके द्वारा समर्पित नव-तुलसीकी मालाएँ नख-से-सिखपर्यन्त समस्त अङ्गोंमें आभरण बनी थीं; चन्द्रज्योत्स्ना-सी मन्द मुसकान अधरोंपर नृत्य कर रही थी। अरुणिम नेत्रोंकी चितवनसे मधु झर रहा था। अरुण नेत्र मानो रजके प्रतीक थे, भक्तोंके अन्तस्तलमें, क्षण-क्षणमें नव-नव मनोरथ (सेवा-वासना) का सृजन कर रहे थे और वह उज्ज्वल हास मानो सत्त्वका प्रतीक था, जो अधरोंपर नाच-नाचकर भक्तोंके मनोरथका पालन कर रहा था। फिर अगणित असंख्य ब्रह्मा वहाँ उपस्थित थे; ब्रह्मा ही नहीं, उनसे लेकर तृणपर्यन्त समस्त चराचर जीव मूर्तिमान् होकर उपस्थित थे और नृत्य-गीत-सहित यथायोग्य विविध उपहार समर्पित करते हुए उन अनन्त चतुर्भुज मूर्तियोंकी उपासना कर रहे थे। अणिमादि सिद्धियाँ, माया विद्या आदि विविध शक्तियाँ, महत्तत्त्व आदि चौबीस तत्त्वोंके अधिष्ठातृदेवता—सभी सेवाकी प्रतीक्षामें उन्हें घेरे खड़े थे। प्रकृति-क्षोभमें हेतु काल, प्रकृति-परिणाममें हेतु स्वभाव, वासनाका उद्बोधक संस्कार, काम, कर्म, गुण आदि—इन सबके अधिष्ठातृदेवता उन प्रत्येक भगवद्रूपकी अर्चना कर रहे थे। भगवत्-प्रभावके समक्ष उन देवोंकी सत्ता-महत्ता नगण्य बन चुकी थी। ब्रह्माने देखा—वे अगणित भगवत्रूप—ओह! सब-के-सब त्रिकालाबाधित सत्य हैं। ज्ञान-स्वरूप—स्वप्रकाश हैं। अनन्त हैं। आनन्दस्वरूप हैं। एक-रस हैं। इनके अचिन्त्य, अनन्त, माहात्म्यकी उपलब्धि तो उपनिषद्—आत्मज्ञानकी दृष्टि रखनेवाले पुरुषोंके लिये भी सम्भव नहीं—

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ५४)

आज ब्रह्मा **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** * परब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप है, अनन्तस्वरूप है, **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**† परब्रह्म विज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, इन श्रुतियोंसे प्रतिपाद्य तत्त्वको प्रत्यक्ष देख चुके थे। जिन परब्रह्मात्मक गोपेशतनय श्रीकृष्णचन्द्रकी स्वप्रकाश-शक्तिसे यह परिदृश्यमान सचराचर विश्व प्रकाशित होता है, उनके नित्य पार्षद—गोपशिशुओं-को, गोवत्सोंको ब्रह्माने आज उपर्युक्त रूपमें एक साथ एक समय देखा था—

* तैत्तिरीय० २। १। १

† बृहदारण्यक० ३। ९। २८

एवं सकृद्ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान् ।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ५५)

यह देखकर उनकी क्या दशा हुई थी, यह वे ही जानते थे। फिर तो उनकी दशासे करुणार्द्र हुए श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी योग-मायाकी यवनिका हटा दी थी और तब उन्होंने देखा था—वही वृन्दावन है, वहाँ ठीक पहलेकी भाँति अद्वय, अनन्त, ज्ञानस्वरूप परब्रह्म अपने प्रिय गोप-शिशुओंको, गोवत्सोंको ढूँढ़ता फिर रहा है, लीलारस-पानमें प्रमत्त है, दधिमिश्रित ग्रास भी कर-कमलोंमें ठीक वैसे ही सुशोभित है—

तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं
ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम् ।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्व-
देकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ६१)

पितामह देखकर विह्वल हो गये । श्रीकृष्णचन्द्रको असंख्य प्रणाम कर चुकनेपर उन्हें कहीं धैर्य आया था । फिर भी आँखोंसे अनर्गल अश्रु-प्रवाह बह रहा था तथा अश्रुपूरित कण्ठसे वे व्रजेन्द्रनन्दन—नराकृति परब्रह्मका स्तवन कर रहे थे।

अन्तस्तलमें पश्चात्तापकी ज्वाला जल रही थी—'आह! कहाँ इतना क्षुद्र मैं, और कहाँ इतने महान् नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र! मैं अपनी क्षुद्र मायासे इतने महान्‌को मोहित करने चला था। इस गुरु अपराधके लिये क्षमा कैसे मिलेगी?' पर नहीं!—आशाकी एक किरण परमेष्ठीके अन्तस्तलमें सञ्चित एक श्रुतिने जगा दी।

'यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितम्।'*

इस परब्रह्मका जो कुछ भी यहाँ है और जो कुछ भी नहीं है, वह सब सम्यक् प्रकारसे इसीमें स्थित है । वेदगर्भ आनन्दप्लुत होकर स्तुतिमें पुकार उठे—"अधोक्षज! शिशु अपनी जननीके गर्भमें रहता है, अज्ञानवश न जाने कितनी बार चरणोंसे प्रहार करता है; किंतु माता क्या इससे रुष्ट होती है? फिर तुम्हीं बताओ श्रीकृष्णचन्द्र! 'है' और 'नहीं है' इन शब्दोंसे लक्षित कोई भी वस्तु तुम्हारी कुक्षि—उदरसे बाहर है क्या? अनन्त ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्डगत समस्त जीव-समुदाय, समस्त वस्तुएँ—सब कुछ तो तुम्हारे भीतर अवस्थित है। तुम्हारे किसी एक क्षुद्रतम देशमें अवस्थित प्राणीको तुम्हारी अनन्त महिमा, अनन्त स्वरूपका ज्ञान हो, यह भी कभी सम्भव है? तुम्हें न जानकर तुम्हारे प्रति जो कोई भी कुछ सोच लेगा, कर लेगा—वह अनुचित, अयथार्थ होनेपर तुम क्या रुष्ट हो जाओगे? नहीं, कदापि नहीं। अबोध शिशुकी भाँति ही, तुम्हारी महिमासे अनभिज्ञ रहकर मैंने यह अपराध किया है, तुम मुझे निश्चय क्षमा करोगे"—

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः
किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे ।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । १२)

विधाताने सारा वेदज्ञान लगा दिया था इस प्रयासमें कि कदाचित् किसी अंशमें व्रजेन्द्रनन्दनकी महिमाके क्षुद्रतम अंशको भी वे स्पर्श कर सकें । कहते-कहते वे श्रान्त नहीं होते थे; किंतु सहसा अब उनके चित्तमें व्रजवासियोंका स्फुरण हो आया। वे व्रजवासियोंकी महिमाका कीर्तन करने लगे—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३२)

'अहो! व्रजराज, व्रजवासी गोपोंका ही भाग्य धन्य है। वस्तुतः उनका ही अहोभाग्य है। परमानन्दस्वरूप सनातन परिपूर्ण ब्रह्म जिनका सुहृद्, मित्र, पुत्र, कलत्र, प्रियजन होकर रहे, उनके अनन्त असीम सौभाग्यका क्या कहना?'

फिर तो पितामहमें एक ही चाह बची थी और उसे पूर्ण करनेके लिये वे प्रार्थना कर रहे थे—

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३४)

'गोपेन्द्रतनय! अनादिकालसे अबतक श्रुतियाँ तुम्हारी चरणधूलिकी खोज कर रही हैं, किंतु पा नहीं रही हैं । फिर साक्षात् तुम्हें कैसे पा सकेंगी? पर इन व्रजवासियोंने तुम्हें पा लिया। पाकर एकमात्र तुम्हें ही अपना जीवनसर्वस्व बनाया। अतः प्रभो! मेरे लिये परम सौभाग्यकी बात एक ही है। वह यह कि मनुष्यलोकमें और फिर वृन्दावनमें, और वहाँ भी नन्दगोकुलमें कीट, पतङ्ग, तृण, गुल्म आदिमें-

* छान्दोग्योपनिषद् ८ । १ । ३

से कुछ भी होकर—किसी योनिका कुछ भी बनकर मेरा जन्म हो जाय तथा इन व्रजवासियोंमेंसे किसी एककी भी चरणधूलि-कणका स्पर्श पाकर मैं कृतार्थ हो जाऊँ, ब्रह्मपद मुझे नहीं चाहिये नाथ !'—

काहु मोहिं ब्रज-रेनु देहु बृंदाबन बासा।
माँगौं यहै प्रसाद और मेरैं नहिं आसा॥
जोइ भावै सोइ करहु तुम, लता सिला द्रुम, गेहु।
ग्वाल गाइ कौ भृत करौ, मानि सत्य व्रत एहु॥
जो दरसन नर नाग अमर सुरपतिहुँ न पायौ।
खोजत जुग गए बीति अंत मोहूँ न लखायौ॥
इहिं ब्रज यह रस नित्य है, मैं अब समुझ्यौ आइ।
बृंदावन-रज ह्वै रहौं, ब्रह्म लोक न सुहाइ॥

जगद्विधाताने उन परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रकी तीन परिक्रमा की और वे अपने धामकी ओर चल पड़े। यह है उपनिषत्-प्रतिपादित परब्रह्मकी एक झाँकी, जो एक बार वेदज्ञानके आदि-आचार्य, आदि-ऋषि ब्रह्माको हुई थी।

एक बार देवर्षि नारदको भी परब्रह्मकी विचित्र ही झाँकी हुई थी। नन्दप्राङ्गणकी धूलिमें परब्रह्म लोट रहा था, एवं समीपमें खड़ी यशोदारानी हँस रही थीं। वीणाकी झंकार करते, हरिगुण गाते देवर्षि सौभाग्यसे वहीं जा पहुँचे। वहाँ जो कुछ देखा, उसपर न्यौछावर हो गये। बोल उठे—

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं
गत्वा कीदृग्विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।
नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं
तत् पूर्णं ब्रह्म भूमौ विलुठति विलपत् क्रोडमारोढुकामम्॥

'यशोदे! व्रजेश्वरि! तुम्हें क्या कहूँ, न जाने तुमने किन-किन पुण्यक्षेत्रोंमें जाकर किन-किन विधि-विधानोंसे कितने-कितने पुण्य सञ्चय किये हैं, जिसके फलस्वरूप तुम्हें यह अनुपम सौभाग्य प्राप्त हुआ। सुरेन्द्रने जिसके कृपाकटाक्षके दर्शन नहीं पाये, कमलयोनिने जिसकी कृपा नहीं पायी, मदनारि महादेवने जिसकी अनुभूति नहीं की, वह कृपा, वह प्रसाद तुम्हें मिला। ओह! वह पूर्णब्रह्म तुम्हारी गोदमें चढ़नेके लिये रो-रोकर पृथिवीपर लोट रहा है और तुम उसे उठा नहीं रही हो। तुम्हारे सौभाग्यकी यही तो चरम सीमा है व्रजरानी!'

अस्तु, ब्रह्मको क्रन्दन करते देखकर देवर्षिका रोम-रोम खिल उठा, हरिगुणके स्थानपर वे यशोदारानीका सुयश गाते चल पड़े।

लीलाशुकको भी एक झाँकी मिली। उन्होंने देखा—आगे-आगे परब्रह्म भागा जा रहा है, पीछे-पीछे गोपमहिषी श्रीयशोदा उसे पकड़नेके लिये, हाथमें छड़ी लेकर दौड़ी जा रही हैं। शुकने एक दृष्टि परब्रह्मकी ओर डाली और फिर परब्रह्मकी जननीकी ओर। परब्रह्म एवं जननीकी चालमें अन्तर अवश्य था; वह उस दौड़में आगे बढ़ रहा था, जननी श्रीअङ्गोंकी स्थूलताके कारण अस्त-व्यस्त होकर पीछे होती जा रही थीं—

जसु पै तैसें जाइ न जाइ, श्रोनी-भर अरु कोमल पाइ।
खसत जु सिर तैं सुमन सुदेस, जनु चानन पर रीझे केस।
आगे फूल की बरषा करैं, तिन पर ब्रजरानी पग धरैं।

पर इससे क्या हुआ। जननीने परब्रह्मके हाथ पकड़ ही लिये—

जोगीजन-मन जहाँ न जाहीं, इत सब बेद परे बिललाहीं॥
ताहि जसोमति पकरति भई, रहपट एक बदन पर दई॥

तथा फिर? उसे पकड़कर ऊखलसे बाँध दिया—

जद्यपि अस ईश्वर जगदीस, जाके बस बिधि, बिष्नु, गिरीस।
ताहि जसोमति बाँधति भई, रसना प्रेममई दिढ़ नई॥

× × × ×

जिन बाँध्यो सुर असुर नाग मुनि प्रबल कर्मकी डोरी।
सोइ अबिच्छिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥

× × × ×

निगम सार देखौ गोकुल हरि।
जाकौ दूरि दरस देवनिकौं, सो बाँध्यौ जसुमति ऊखल धरि॥

लीलाशुक इस झाँकीपर न्यौछावर हो गये। पुकार उठे—

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीना-
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

'अरे, ओ ब्रह्मको ढूँढ़नेवालो! इधर सुनो, वेदान्त-वन-में परब्रह्मको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते तुम उसे न पाकर दुःखसे अतिशय खिन्न हो रहे हो। इधर आ जाओ, मैं तुम्हें परम उपदेश दे रहा हूँ, उसका आदर करो। सुनो। गोपसुन्दरियोंके भवनोंमें उसे ढूँढ़ो। यह देखो—यहाँ उपनिषद्का अर्थ उलूखलमें बँधा पड़ा है! इसे ढूँढ़ लो, पा लो।'

शुकका यह उपदेश अनन्त आकाशमें विलीन हो गया। पर नष्ट नहीं हो गया। उसके अक्षर-अक्षर वर्तमान हैं। इसलिये

किसी श्रान्त पथिकने, परब्रह्मके अन्वेषणमें निराश हुए किसी मनीषीने इसे हठात् सुन लिया। इस ओर आया और उसे परब्रह्म मिल गये। आनन्दोन्मत्त हुए उसके प्राण गाने लगे—

निगमतरोः प्रतिशाखं मृगितं
मिलितं न तत्परं ब्रह्म।
मिलितं मिलितमिदानीं
गोपवधूटीपटाञ्चले नद्धम्॥

'ओह! कितना परिश्रम किया था, वेदान्त-वृक्षकी प्रत्येक शाखा ढूँढ़ ली थी, पर वह परब्रह्म तो नहीं ही मिला। पर देखो! देखो! मिल गया! मिल गया! अब मिला है, वह रहा, गोपसुन्दरीके अञ्चलसे संनद्ध होकर वह परब्रह्म अवस्थित है!'

एकने परब्रह्मकी अनुभूति ऐसे की थी—वह चित्सरोवरमें निमग्न हो चुका था। सहसा अनुभूति हुई—मैं हूँ, मेरी एक देह भी है, मन भी है, बुद्धि भी है, प्राण भी है। ये देह आदि तत्त्वतः क्या हैं? चिदानन्दसरोवरकी लहरें हैं, इतना ही कहना सम्भव है, वस्तुतः अचिन्त्य हैं, अतर्क्य हैं, अनिर्वचनीय हैं। अस्तु, उसने अनुभव किया—'हैं! मैं तो एक गोपसुन्दरी हूँ! ठीक, ये कौन हैं? मेरी सखियाँ हैं। और यह क्या है? उस गोपसुन्दरीने उस ओर देखा। देखते ही वह दृश्य नेत्रोंमें, प्राणोंमें समा गया। विक्षिप्त-सी हुई वह दौड़ चली। उसकी सखियाँ उससे पूछ रही थीं, पर उसे बाह्यज्ञान नहीं था। बड़ी देरके पश्चात् बाह्यचेतनाका सञ्चार हुआ और वह बोली—

शृणु सखि! कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गने मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

'री सखि! सुन! मैंने एक कौतुक देखा है। नन्दप्रासादके प्राङ्गणमें चली गयी थी। वहाँ देखा—अरे! यहाँ तो वेदान्तका सिद्धान्त नृत्य कर रहा है! आह बहिन! और क्या बताऊँ! नृत्यशील उस परब्रह्मके नवमेघश्यामल अङ्ग गोधूलिसे सन रहे थे, समस्त अङ्ग धूलिधूसरित थे। उस छविको कैसे बताऊँ!'

एक और भाग्यवान्‌ने नन्दभवनमें परब्रह्मको देखा था। वह तो लौटा नहीं। उसके प्राकृत शरीरके मन, प्राण, इन्द्रियोंमें उस अनुभूतिकी छाया पड़ी और वाणी बोल उठी—

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमपरे भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म॥

'जो संसारके भयसे डरे हुए हों, वे भले ही कोई तो श्रुतिका, कोई स्मृतिका, कोई महाभारतका भजन करें। मैं तो नन्दबाबाका भजन करता हूँ, उन्हें प्रणाम करता हूँ जिनके अलिन्ददेश (बाहरके चबूतरे) पर साक्षात् परब्रह्म विराजित हैं।'

उसीकी चित्तभूमिपर परब्रह्मकी एक और अभिनव झाँकीकी छाया पड़ी और वह गाने लगा—

कं प्रति कथयितुमीशे सम्प्रति को वा प्रतीतिमायातु।
गोपतितनयाकुञ्जे गोपवधूटीविटं ब्रह्म॥

'किससे जाकर कहूँ? और कह देनेपर भी मेरी इस विचित्र अनुभूतिपर विश्वास ही कौन करने लगा; किंतु मत करें, सत्य तो सत्य ही रहेगा। ओह! मैंने देखा है—रविनन्दिनी श्रीयमुनाके पुलिनपर एक निकुञ्जमें एक गोपसुन्दरीके विशुद्ध प्रेमामृतके पानसे मत्त हुआ, रसलम्पट हुआ, परब्रह्म क्रीड़ामें संलग्न है।'

भक्त रसखानने भी परब्रह्मका अनुभव किया। आत्मविस्मृत हो गये। उस अनुभूतिका रस इतना मादक था कि वाणी नियन्त्रणमें न रही। बुद्धि विशुद्ध हो, इन्द्रियाँ संयमित हों, दिनचर्या परम सात्त्विक हो, विषय छूट गये हों, राग-द्वेषका अभाव हो गया हो, ब्रह्मकी ओर वृत्ति सदा एकतान लगी हो, उत्कट वैराग्य हो; अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह, ममतासे मन सर्वथा अलग हो गया हो, नित्य शान्तिकी धारा अन्तःकरणको प्लावित करती हो*—उसके सामने यह अनुभूति प्रकाशित करनेमें आपत्ति नहीं; किंतु इससे पूर्व तो इस अनुभूतिको सुनकर कोई समझेगा ही नहीं, सुनना भी नहीं चाहेगा और कदाचित् सुनकर, दुर्बलतावश दुरुपयोग भी कर लेगा। पर 'रसखान' स्वयं तो कहते समय, मन-इन्द्रियोंसे सदाके लिये सम्बन्ध तोड़ चुके थे, अवश्य ही लोकदृष्टिमें ज्यों-के-त्यों थे। किसीने पूछा उनसे परब्रह्मका पता और ब्रह्मरसमें निमग्न रसखानकी वाणी सरलतावश सङ्केत कर बैठी—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गानन, बेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितू, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‌यो रसखानि, बतायो न लोग लुगायन।
देखो, दुर्‌यो वह कुंज-कुटीरमें, बैठो पलोटत राधिका पायन॥

---

* बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(गीता १८। ५१—५३)

भक्त सूरदासकी ज्योतिहीन आँखोंमें भी परब्रह्मकी ज्योति जाग उठी और उन्होंने भी—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मुण्डक० ३।२।८)

'जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम-रूपसे मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है।'

—ऐसा ही वर्णन अपने एक गीतमें सुनाया। वे गाने लगे—

जैसे सरिता मिली सिंधुसों उलटि प्रवाह न आवे हो।
तैसे सूर कमल-मुख निरखत चित इत उत न डुलावे हो॥
× × × ×
सरिता निकट तड़ागके हो दीनों कूरु बिदारि।
नाम मिट्यौ सरिता भई अब कौन निबेरे बारि॥
× × × ×
विधि भाजन ओछो रच्यो हो लीलासिंधु अपार।
उलटि मगन तामें भयौ अब कौन निकासनहार॥

परब्रह्मका वास्तविक पूर्ण अनुभव तो वहाँ ही है, जहाँ हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ मरें नहीं, अपितु उस चिदानन्द-रसका स्पर्श पाकर अमर हो जायँ। परब्रह्म रसस्वरूप है, उस रसको पाकर ही पुरुष आनन्दका अनुभव करता है—

रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।
(तैत्तिरीय० २।७)

फिर वह किसीको मारे, यह सम्भव नहीं। यह सत्य है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'*

इन्द्रियोंके सहित मन परब्रह्मको न पाकर लौट आता है; किंतु यदि वह स्वयं मन-इन्द्रियोंमें उतर आवे तो उसे कौन रोक सकता है? क्या उसपर भी कोई बन्धन है? और वास्तवमें तो वह मिलता ही है उसे, जिसे वह स्वयं वरण करता है, वरण करके अपने स्वरूपको उसके प्रति अभिव्यक्त कर देता है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम्॥
(कठ० १।२।२३)

अतः यह तो वरण करनेवालेकी इच्छा है कि वह अपने किस स्वरूपमें किसका वरण करे। वह तो सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है, श्रुतियोंकी सीमामें नहीं है। इसीलिये कभी-कभी वह मन-इन्द्रियोंमें भी अपना चिदानन्दमय रस भरकर वहाँ क्रीड़ा करने लग जाता है। नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रने तो यही किया। चाहनेवालेके मन-इन्द्रियोंमें भी वे अपना स्वरूपभूत रस देकर स्वयं उसका रस लेने लगे—

परम रस पायो ब्रजकी नारि।
जो रस ब्रह्मादिकको दुर्लभ सो रस दियो मुरारि॥
दरसन सुख नयननको दीनों रसनाको गुन गान।
बचन सुनन श्रवननको दीनों बदन अधर-रस पान॥
आलिंगन दीनो सब अंगन भुजन दियो भुजबंध।
दीनी चरन बिबिध गति रसकी नासाको सुख गंध॥
दियो काम सुख भोग परमफल त्वचा रोम आनंद।
ढिंग बैठिबो दियो नितंबन लै उछंग नँदनंद॥
मनको दियो सदा रस-भावन सुख-समूहकी खान।
रसिक-चरन-रज ब्रजयुवतिनकी अति दुर्लभ जिय जान॥

ऐसे रसमय परब्रह्म नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रसे चित्तवृत्तिका जुड़ जाना ही उपनिषद्के स्वाध्यायका फल है।

यही उपनिषद्-ज्ञानका मधुर परिणाम है। सच्ची बात तो यह है कि उपनिषद्की ज्ञानसरिताएँ जब प्रेम-समुद्रमें जाकर—उसमें घुल-मिलकर अपने पृथक् अस्तित्वको सर्वथा छिपा लेती हैं, तभी नित्य-नवीन, सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-रस-सिन्धु योगीन्द्र-मुनीन्द्र-परिसेवित-पादारविन्द परब्रह्म मदनमोहन ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके दिव्य नित्य चिदानन्दरसमय स्वरूप-साम्राज्यमें प्रवेशका पथ मिलता है। इस रस-साम्राज्यमें किञ्चित् प्रवेश पाकर किन्हीं एक परम विद्वान् महात्माने मुक्तकण्ठसे कहा था—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति॥
वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥*

'यदि योगीजन ध्यानके अभ्याससे वशमें किये हुए मनके द्वारा उस निर्गुण, निष्क्रिय एवं अनिर्वचनीय परम ज्योतिका दर्शन करते हैं तो वे करते रहें, हमारे नेत्रोंमें तो वह एकमात्र श्याममय प्रकाश ही चिरन्तन कालतक चमत्कार उत्पन्न करता

* तैत्तिरीय० २।४

* देखिये गीता मधुसूदनी टीका अध्याय १३ और १५ की टीका

रहे, जो कि श्रीयमुनाजीके उभय तटोंके भीतर इधर-उधर दौड़ता फिरता है।'

'जिसके दोनों हाथ बाँसुरी बजाते हुए शोभा पा रहे हैं, श्रीअङ्गोंकी कान्ति नूतन जलधरके समान श्याम है, शरीरपर पीताम्बर सुशोभित है, ओष्ठ पके हुए बिम्बाफलके समान लाल-लाल हैं, परम सुन्दर मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान आनन्ददायक है और नेत्र विकसित कमलकी-सी शोभा धारण करते हैं, उस श्रीकृष्णसे बढ़कर या उससे परे किसी श्रेष्ठ तत्त्वको मैं नहीं जानता।'

यही नहीं; श्रीकृष्णके प्रेम-साम्राज्यमें अन्तमें क्या दशा हो जाती है, एक अनुभवीकी वाणी सुनिये—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

'अद्वैतकी वीथियोंमें विचरनेवाले पथिक (साधक) जिनको अपना उपास्य गुरुदेव मानते हैं तथा आत्मराज्यके सिंहासनपर जिनका अभिषेक हो चुका है; ऐसे होते हुए भी हमें गोपाङ्गनाओंसे प्रेम रखनेवाले किसी छलियेने हठपूर्वक अपना दास बना लिया है'—

यह तो बड़ोंकी बातें हैं। हमारे-जैसे लोगोंकी तो एकमात्र यही आकाङ्क्षा होनी चाहिये कि हमारी चित्त-चकई भवसागरके तटसे उड़कर अनन्त पारावाररहित श्रीकृष्ण-रस-सिन्धुके तटपर अपना नित्य निवास बना ले, बस—

चकई री चलु चरन-सरोवर जहँ नहिं प्रेम-बियोग।
जहँ भ्रम-निसा होत नहिं कबहूँ सो सायर सुख-जोग॥
सनक-से हंस, मीन सिव-मुनिजन, नख रबिप्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि डर गुंजत निगम सुबास॥
जेहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल बिमल सुकृत-जल पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम इहाँ रहे कहा कीजै॥
जहँ श्री सहस सहित हरि क्रीड़त सोभित सूरजदास।
अब न सुहाय बिषय-रस छीलर वह समुद्रकी आस॥

उपनिषत्

उप—समीप, निषत्—निषीदति—बैठनेवाला। जो उस परमतत्त्वके समीप पहुँचाकर चुपचाप बैठ जाता है, वह उपनिषद् है। परमतत्त्व अवर्णनीय है, नाना प्रकारके वर्णनोंका अभिप्राय 'नेति-नेति' में है। वर्णन और बोध—ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी त्रिपुटीसे परे अनुभूति-स्वरूप परमतत्त्व है। उपनिषद्-ज्ञानकी परिसमाप्ति अनुभूतिके क्षेत्रमें होती है।

भगवान् आद्य शङ्कराचार्यके दो वाक्य स्मरण आ रहे हैं—

'ईश्वरानुग्रहादेव पुमानद्वैतवासना'

और—

'कथं त्वत्कटाक्षं विना तत्त्वबोधः'

अनुभूति—आवरणका विनाश—त्रिपुटीकी परिसमाप्ति तो भगवदनुग्रहसे ही सम्भव है।

जहाँ उपनिषद्की समाप्ति होती है, वहींसे अनुग्रहकी प्रतीक्षा—उपासनाका प्रारम्भ होता है। अनुग्रहकी प्रतीक्षारूप उपासना भगवान्‌को अत्यन्त समीप ला देती है।

वेदत्रयी कर्मकाण्ड है। कर्मके द्वारा मलकी निवृत्ति होनेपर एकाग्रताकी प्राप्तिके लिये ज्ञानकाण्ड—उपनिषद्का विधान है। यह विक्षेप-चाञ्चल्यकी निवृत्ति करेगा। जहाँ विविधता, अनेकता है ही नहीं, वहाँ चञ्चलता क्यों? किसलिये? कहाँ? स्थैर्यकी प्रतिष्ठा होनेपर भावका उद्रेक होता है। उपासना आरम्भ होती है। उसका रूप है—भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा। कृपाके बिना आवरण निवृत्त जो नहीं होता। यों तो प्रत्येक साधन अपनेमें पूर्ण है निष्ठाका आधार मिलनेपर; किंतु क्रम भी होता ही है।

उपनिषद्का लक्ष्य?—परनिर्वाणकी प्राप्ति, अभेद! सायुज्य कहें तो भी बाधा नहीं। अन्तर इतना ही है कि उपनिषद् परनिर्वाणकी प्राप्ति श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे कराता है और असुर द्वेषसे सायुज्य प्राप्त करते हैं—अभेद; दूरी है उसमें। —नित्य सान्निध्य—भागवतीय ज्ञान, वह तो उपनिषद्की समाप्तिसे प्रारम्भ होता है। वहाँ तो—

'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥'

'मुकुति निरादरि भगति लुभाने' है। —सुदर्शन

उपलब्ध उपनिषद्-ग्रन्थोंकी सूची

उपनिषदोंकी बड़ी महिमा है। ज्ञानकी चरम सीमा ही उपनिषद्के नामसे प्रसिद्ध हुई है। वैदिक वाङ्मयका शीर्ष-स्थान उपनिषद् है—इस कथनमात्रसे ही उपनिषदोंकी लोकोत्तर महत्ता स्पष्ट हो जाती है। प्राचीन कालमें औपनिषद ज्ञानका बड़ा महत्त्व था। ऊँचे-से-ऊँचे अधिकारी ही इस विद्यामें पारङ्गत होते थे। वैदिक कालसे ही उपनिषदोंके स्वाध्याय-की परम्परा प्रचलित हुई है। अतः कुछ उपनिषद् तो वेदके ही अंशविशेष हैं। कुछ ब्राह्मणभाग और आरण्यकोंके अन्तर्गत हैं। कुछ इनकी अपेक्षा अर्वाचीन होनेपर भी आजसे बहुत प्राचीन कालके हैं तथा कुछ उपनिषद्-ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जिनपर विशेष देश, काल, परिस्थिति तथा मतका प्रभाव पड़ा जान पड़ता है। उपनिषद्-ग्रन्थ प्राचीन हों या अर्वाचीन—सभी ज्ञानप्रधान हैं। सबका आविर्भाव किसी-न-किसी गूढ तत्त्व या रहस्यका प्रकाशन करनेके लिये ही हुआ है। अतः इनके स्वाध्यायसे ज्ञानकी वृद्धि ही होती है—यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है। मुक्तिकोपनिषद्में एक सौ आठ उपनिषदोंके नाम आते हैं। वे सभी 'निर्णयसागर प्रेस' बम्बईसे मूल गुटका-के रूपमें प्रकाशित हैं। इसके सिवा, 'अडियार लाइब्रेरी' मद्राससे भी उपनिषदोंका एक संग्रह प्रकाशित हुआ है, जो अनेक भागोंमें विभक्त है। उस संग्रहमें लगभग १७९ उपनिषदोंका प्रकाशन हो गया है। इसके अतिरिक्त 'गुजराती प्रिंटिंग प्रेस' बम्बईसे मुद्रित उपनिषद्-वाक्य-महाकोषमें २२३ उपनिषदों-की नामावली दी गयी है। इनमें दो उपनिषद्—१ उपनिष-त्स्तुति तथा २ देव्युपनिषद् नं० २ की चर्चा शिवरहस्यनामक ग्रन्थमें की गयी है। ये दोनों अभीतक उपलब्ध न हो सकी हैं। शेष २२१ उपनिषदोंके वाक्यांश इस महाकोषमें संकलित हुए हैं। इनमें भी माण्डूक्यकारिकाके चार प्रकरण चार जगह गिने गये हैं; इन सबकी एक संख्या मानें तो २१८ ही संख्या होती है। कई उपनिषदें एक ही नामकी दो-तीन जगह आयी हैं; पर वे स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इस प्रकार सबपर दृष्टिपात करनेसे यह निश्चित होता है कि अबतक लगभग २२० उपनिषदें प्रकाशमें आ चुकी हैं। और भी प्रकाशित हुई होंगी तथा कितनी ही अब भी अप्रकाशित रूपमें उपलब्ध हो सकती हैं। प्राचीन कालसे ही अद्वितीय ज्ञान-विज्ञानशाली भारतवर्षमें ज्ञान-विज्ञानकी अपरिमित ग्रन्थ-राशिका होना आश्चर्यकी बात नहीं है। भारतपर एक-एक करके अनेक बार विदेशी दस्युओंके आक्रमण हुए और उनके द्वारा हमारी प्राचीन हस्तलिखित कितनी ही पुस्तकों तथा पुस्तकालयोंको भस्मावशेष कर दिया गया। इतनेपर भी जो कुछ शेष है, उसका भी यदि भारतीय जन आदरपूर्वक अनुशीलन करें तो पूर्वजोंकी ज्ञान-ज्योति अब भी इस देशमें प्रकाशित हो सकती है। यहाँ उपर्युक्त २२० उपनिषदोंकी नामावली अकारादि क्रमसे दी जा रही है—

१. अक्षमालोपनिषद्
२. अक्षि-उपनिषद्
३. अथर्वशिखोपनिषद्
४. अथर्वशिर उपनिषद्
५. अद्वयतारकोपनिषद्
६. अद्वैतोपनिषद्
७. अद्वैतभावनोपनिषद्
८. अध्यात्मोपनिषद्
९. अनुभवसारोपनिषद्
१०. अन्नपूर्णोपनिषद्
११. अमनस्कोपनिषद्
१२. अमृतनादोपनिषद्
१३. अमृतबिन्दूपनिषद् (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्)
१४. अरुणोपनिषद्
१५. अल्लोपनिषद्
१६. अवधूतोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
१७. अवधूतोपनिषद् (पद्यात्मक)
१८. अव्यक्तोपनिषद्
१९. आचमनोपनिषद्
२०. आत्मपूजोपनिषद्
२१. आत्मप्रबोधोपनिषद् (आत्मबोधोपनिषद्)
२२. आत्मोपनिषद् (वाक्यात्मक)
२३. आत्मोपनिषद् (पद्यात्मक)
२४. आथर्वणद्वितीयोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)
२५. आयुर्वेदोपनिषद्
२६. आरुणिकोपनिषद् (आरुणेय्युपनिषद्)
२७. आर्षेयोपनिषद्
२८. आश्रमोपनिषद्
२९. इतिहासोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
३०. ईशावास्योपनिषद्
उपनिषत्स्तुति (शिवरहस्यान्तर्गत, अभीतक अनु-पलब्ध)
३१. ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
३२. एकाक्षरोपनिषद्

३३. ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)
३४. ऐतरेयोपनिषद् (खण्डात्मक)
३५. ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)
३६. कठरुद्रोपनिषद् (कण्ठोपनिषद्)
३७. कठोपनिषद्
३८. कठश्रुत्युपनिषद्
३९. कलिसंतरणोपनिषद् (हरिनामोपनिषद्)
४०. कात्यायनोपनिषद्
४१. कामराजकीलितोद्धारोपनिषद्
४२. कालाग्निरुद्रोपनिषद्
४३. कालिकोपनिषद्
४४. कालीमेधादीक्षितोपनिषद्
४५. कुण्डिकोपनिषद्
४६. कृष्णोपनिषद्
४७. केनोपनिषद्
४८. कैवल्योपनिषद्
४९. कौलोपनिषद्
५०. कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्
५१. क्षुरिकोपनिषद्
५२. गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्
५३. गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् (वरदपूर्वतापिन्युपनिषद्)
५४. गणेशोत्तरतापिन्युपनिषद् (वरदोत्तरतापिन्युपनिषद्)
५५. गर्भोपनिषद्
५६. गान्धर्वोपनिषद्
५७. गायत्र्युपनिषद्
५८. गायत्रीरहस्योपनिषद्
५९. गारुडोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)
६०. गुह्यकाल्युपनिषद्
६१. गुह्यषोढान्यासोपनिषद्
६२. गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
६३. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्
६४. गोपीचन्दनोपनिषद्
६५. चतुर्वेदोपनिषद्
६६. चाक्षुषोपनिषद (चक्षुरुपनिषद्, चक्षूरोगोपनिषद्, नेत्रोपनिषद्)
६७. चित्त्युपनिषद्
६८. छागलेयोपनिषद्
६९. छान्दोग्योपनिषद्
७०. जाबालदर्शनोपनिषद्
७१. जाबालोपनिषद्
७२. जाबाल्युपनिषद्
७३. तारसारोपनिषद्
७४. तारोपनिषद्
७५. तुरीयातीतोपनिषद् (तीतावधूतो०)
७६. तुरीयोपनिषद्
७७. तुलस्युपनिषद्
७८. तेजोबिन्दूपनिषद्
७९. तैत्तिरीयोपनिषद्
८०. त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्
८१. त्रिपुरातापिन्युपनिषद्
८२. त्रिपुरोपनिषद्
८३. त्रिपुरामहोपनिषद्
८४. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्
८५. त्रिसुपर्णोपनिषद्
८६. दक्षिणामूर्त्युपनिषद्
८७. दत्तात्रेयोपनिषद्
८८. दत्तोपनिषद्
८९. दुर्वासोपनिषद्
९०. (१) देव्युपनिषद् (पद्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)
(२) देव्युपनिषद् (शिवरहस्यान्तर्गत—अनुपलब्ध)
९१. द्वयोपनिषद्
९२. ध्यानबिन्दूपनिषद्
९३. नादबिन्दूपनिषद्
९४. नारदपरिव्राजकोपनिषद्
९५. नारदोपनिषद्
९६. नारायणपूर्वतापिन्युपनिषद्
९७. नारायणोत्तरतापिन्युपनिषद्
९८. नारायणोपनिषद् (नारायणाथर्वशीर्ष)
९९. निरालम्बोपनिषद्
१००. निरुक्तोपनिषद्
१०१. निर्वाणोपनिषद्
१०२. नीलरुद्रोपनिषद्
१०३. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्
१०४. नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्
१०५. नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्
१०६. पञ्चब्रह्मोपनिषद्
१०७. परब्रह्मोपनिषद्
१०८. परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्
१०९. परमहंसोपनिषद्
११०. पारमात्मिकोपनिषद्
१११. पारायणोपनिषद्
११२. पाशुपतब्रह्मोपनिषद्
११३. पिण्डोपनिषद्
११४. पीताम्बरोपनिषद्

११५. पुरुषसूक्तोपनिषद्
११६. पैङ्गलोपनिषद्
११७. प्रणवोपनिषद् (पद्यात्मक)
११८. प्रणवोपनिषद् (वाक्यात्मक)
११९. प्रश्नोपनिषद्
१२०. प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्
१२१. बटुकोपनिषद् (वटुकोपनिषद्)
१२२. बह्वृचोपनिषद्
१२३. बाष्कलमन्त्रोपनिषद्
१२४. बिल्वोपनिषद् (पद्यात्मक)
१२५. ,, (वाक्यात्मक)
१२६. बृहज्जाबालोपनिषद्
१२७. बृहदारण्यकोपनिषद्
१२८. ब्रह्मविद्योपनिषद्
१२९. ब्रह्मोपनिषद्
१३०. भगवद्गीतोपनिषद्
१३१. भस्मसंतरणोपनिषद्
१३२. भस्मजाबालोपनिषद्
१३३. भावनोपनिषद् (कापिलोपनिषद्)
१३४. भिक्षुकोपनिषद्
१३५. मठाम्नायोपनिषद्
१३६. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
१३७. मन्त्रिकोपनिषद् (चूलिकोपनिषद्)
१३८. मल्लायुपनिषद्
१३९. महानारायणोपनिषद् (बृहन्नारायणोपनिषद्, उत्तर-नारायणोपनिषद्)
१४०. महावाक्योपनिषद्
१४१. महोपनिषद्
१४२. माण्डूक्योपनिषद्
१४३. माण्डूक्योपनिषत्कारिका
(क) आगम
(ख) अलातशान्ति
(ग) वैतथ्य
(घ) अद्वैत
१४४. मुक्तिकोपनिषद्
१४५. मुण्डकोपनिषद्
१४६. मुद्गलोपनिषद्
१४७. मृत्युलाङ्गूलोपनिषद्
१४८. मैत्रायण्युपनिषद्
१४९. मैत्रेय्युपनिषद्
१५०. यज्ञोपवीतोपनिषद्
१५१. याज्ञवल्क्योपनिषद्
१५२. योगकुण्डल्युपनिषद्
१५३. योगचूडामण्युपनिषद्
१५४. (१) योगतत्त्वोपनिषद्
१५५. (२) योगतत्त्वोपनिषद्
१५६. योगराजोपनिषद्
१५७. योगशिखोपनिषद्
१५८. योगोपनिषद्
१५९. राजश्यामलारहस्योपनिषद्
१६०. राधिकोपनिषद् (वाक्यात्मक)
१६१. राधोपनिषद् (प्रपाठात्मक)
१६२. रामपूर्वतापिन्युपनिषद्
१६३. रामरहस्योपनिषद्
१६४. रामोत्तरतापिन्युपनिषद्
१६५. रुद्रहृदयोपनिषद्
१६६. रुद्राक्षजाबालोपनिषद्
१६७. रुद्रोपनिषद्
१६८. लक्ष्म्युपनिषद्
१६९. लाङ्गूलोपनिषद्
१७०. लिङ्गोपनिषद्
१७१. वज्रपञ्जरोपनिषद्
१७२. वज्रसूचिकोपनिषद्
१७३. वनदुर्गोपनिषद्
१७४. वराहोपनिषद्
१७५. वासुदेवोपनिषद्
१७६. विश्रामोपनिषद्
१७७. विष्णुहृदयोपनिषद्
१७८. शरभोपनिषद्
१७९. शाट्यायनीयोपनिषद्
१८०. शाण्डिल्योपनिषद्
१८१. शारीरकोपनिषद्
१८२. (१) शिवसङ्कल्पोपनिषद्
१८३. (२) शिवसङ्कल्पोपनिषद्
१८४. शिवोपनिषद्
१८५. शुकरहस्योपनिषद्
१८६. शौनकोपनिषद्
१८७. श्यामोपनिषद्
१८८. श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद्
१८९. श्रीचक्रोपनिषद्
१९०. श्रीविद्यातारकोपनिषद्
१९१. श्रीसूक्तम्
१९२. श्वेताश्वतरोपनिषद्

उपनिषद् हिंदू-जातिके प्राण हैं

(लेखक—भक्त रामशरणदासजी)

उपनिषद् हिंदू-जातिके प्राण हैं। यदि हिंदू-जाति जीवित रह सकती है तो वह उपनिषदोंके द्वारा ही रह सकती है। जिस समय भारतकी प्रत्येक सन्तान उपनिषदोंकी इस शिक्षाको कि, आत्मा अमर है—कभी मरता नहीं, याद रखता था और आत्माकी अमरतामें विश्वास रखता था; उस समय वह धर्म, गौ, स्वजाति, स्वधर्म और सभ्यता-संस्कृतिकी रक्षाके लिये उल्लासके साथ मृत्युका आलिङ्गन करता था और प्राण देकर उन्हें बचाता था। इस प्रकार वह हिंदूधर्मकी पताकाको शानसे फहराता था, कभी झुकने नहीं देता था। यवनकालमें हजारों-लाखों क्षत्रियोंने धर्मरक्षा, चोटी-जनेऊकी रक्षाके लिये सिर दे दिये। श्रीगुरुगोविन्दसिंहजीके लाल दीवारोंमें हँसते-हँसते चुने गये। मतीराम आरेसे चीरे जानेपर भी हँसते रहे। बंदाबीरका मांस नोचवाया गया, पर उसने उफ् तक नहीं की। यह सब क्या था? यह था उपनिषदोंकी शिक्षाका चमत्कार, जिससे आत्माकी अमरतामें विश्वास कर भारतीयोंने धर्म-देशके लिये मर-मिटना सीखा था। जिस दिनसे हमने उपनिषदोंसे मुख मोड़ा और गंदे साहित्यको अपनाया, तभीसे हमारा घोर पतन हो गया। अतः यदि फिरसे भारतका और हिंदू-जातिका उत्थान करना है तो उपनिषदोंकी शरणमें आना होगा और आत्माकी अमरतामें और विश्वमें एक ही परमात्माकी व्यापकतापर विश्वास कर शरीरका मोह दूर करना होगा। महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेवने भी हिंदू-जातिका घोर पतन होते देख कलि-संतरणोपनिषद्का सहारा ले उसके बताये हुए महामन्त्र—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—का जप और इसीका कीर्तन कराकर लोगोंको जगाया। श्रीहरिनामके बलपर हिंदू-जातिका कल्याण कर दिखाया। कलिपावनावतार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने श्रीरामनाम-महिमाको जान स्वयं तो प्रभु श्रीरामका साक्षात्कार किया ही, लाखोंको श्रीरामनाम-मन्त्र देकर सन्मार्गपर लगाया और देश-धर्मकी डूबती नैयाको बचाया। इस प्रकार हिंदू-जाति जिस समय उपनिषदोंके बताये मार्गपर चलती थी, उन्नतिके शिखरपर थी और जिस दिन इसने इनसे मुख मोड़ा, इसका पतन हो गया। आज भी यदि हिंदू-जाति अपनी भूलको समझ ले और उपनिषदोंके मार्गपर चले तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यह पुनः सच्ची उन्नतिके शिखरपर पहुँच जायगी।

अध्यात्मवाद

(रचयिता—पं० श्रीरघुनाथप्रसादजी शास्त्री 'साधक')

जागो पुनः अमर भारतमें, ओ अजेय अध्यात्मवाद !
देश-जाति-जनता-उर-नभमें, आज घिरे घन-सघन-विषाद ।

अनाचार, अतिचार, पाप, पर-पीडनकी रणभेरी है ।
अपना स्वत्व सुरक्षित करने, पर-विनाशकी ढेरी है ।

सर्व-स्वत्व-संरक्षित करने, हरने आततायी अतिवाद ,
निर्भय रण-प्रांगणमें आकर, गाओ ब्राह्मी-विजयनिनाद ।
ओ अजेय अध्यात्मवाद !

भेद-भाव बहु भाँति भरे हैं, बन्धु-भावना लुप्त हुई ।
सहयोगिता, सुसेवा, समता, प्रेम-भावना सुप्त हुई ।

अन्तर्दाह कलह-कायरता, कलुषित काम-क्रोध दुर्वाद ।
आकर शीघ्र समाज जातिके, दूर करो सब निंद्य विवाद ।
ओ अजेय अध्यात्मवाद !

विविध मतोंके पन्थ-प्रवर्तन, गतिमय बहु विध अग जगमें ।
व्यापक, शास्त्र, समर्थन करते स्वयं सिद्ध बन प्रति पगमें ।

किन्तु मानवोंको कर पाये वे गत-संशय तनिक न आज ।
ओ वेदान्तकेसरी ! गर्जन करो, मिटा दो गीदड़-गाज ।
ओ अजेय अध्यात्मवाद !

वर्गवाद, श्रमवाद अनेकों, वर्तमान जगतीतलमें ।
हैं संघर्ष-भूमिका रचते, नित उत्पाती प्रतिपलमें ।

शान्त, महाप्रभु शंकरके ओ ! चिरपरिचित अद्वैतवाद ।
करो समन्वय सभी वर्गके, करके यावत् शान्त विवाद ।
ओ अजेय अध्यात्मवाद !

व्यापक आत्म-तत्त्व चेतनका, मानवको दे करके ज्ञान ।
ऐक्य-भावना-निष्ठ, इष्ट हो, 'साधक' विश्व-जगत् उत्थान ।

आदिस्रोत कल्याण ! ध्यानमय श्रवण समुत्सुक शुभ संवाद ।
सरस-सुधा-सम-वरद प्राप्त कर सरसित, सागर-सम आह्लाद ।
जागो पुनः अमर भारतमें—ओ अजेय अध्यात्मवाद !
ओ अजेय अध्यात्मवाद !

बृहदारण्यकोपनिषद्में ऐतिहासिक अध्ययनकी सामग्री

(लेखक—आचार्य बी० आर० श्रीरामचन्द्र दीक्षितार एम्० ए०)

भारतवर्षकी वास्तविक प्रतिभा यहाँके प्राचीन ऋषि-मुनियोंमें पायी जाती है। उनकी दृष्टि बड़ी दूरदर्शिनी थी। वे वस्तुओंको उनके वास्तविक रूपमें देखते थे। इन्हीं ऋषि-मुनियोंकी कृपासे वह वैदिक एवं वैदान्तिक वाङ्मय उपलब्ध हुआ है, जिसे आज हम बड़ी रुचिके साथ एक निधिके रूपमें सँजोते हैं। इस वाङ्मयमें उपनिषद्-साहित्यका बहुत ऊँचा स्थान है और उसका यह गौरव न्याय्य भी है। उपनिषदोंमें बृहदारण्यकोपनिषद् एक विशेष स्थान रखता है।

उपनिषदोंकी महत्ताका पार पाना दुष्कर है। उनकी गणना उस श्रेणीके साहित्यमें की जा सकती है, जिसका सृजन तब होता था, जब देशके गण्यमान्य व्यक्ति—प्रधानतया राजा तथा ऊँची श्रेणीके राजनीतिज्ञ अपने कठिन कर्मठ जीवनके बाद वन्य आश्रमोंमें चले जाते थे और मोक्षकी आकाङ्क्षासे अपने जीवनके सन्ध्याकालको भजन-ध्यानमें व्यतीत करते थे। उन आश्रमोंमें उन शिष्ट नरेशों एवं विद्वान् ब्राह्मणोंके बीच जो वार्तालाप होता था, उसे भावी सन्ततिके हितार्थ लिपिबद्ध कर लिया जाता था। उपनिषद् शब्दके वाच्यार्थ निकट उपवेशनसे ही उपनिषदोंके उद्भवकी उपर्युक्त सम्भावनाका सङ्केत मिल जाता है। उपनिषदोंके नामोंसे ही उनको जन्म देनेवाले भौगोलिक प्रदेशोंका भी सङ्केत मिलता है और यह भी पता चलता है कि सबका लक्ष्य उसी एक दुरधिगम महान् तत्त्व अर्थात् आत्म-साक्षात्कारका ही विवेचन और निर्णय करना है। उपनिषदोंमें मुख्यतया पुनर्जन्मके सिद्धान्तका प्रतिपादन हुआ है। इस सिद्धान्तका धर्म अथवा इतिहासकी अपेक्षा हिंदू-दर्शनसे अधिक सम्बन्ध है। संक्षेपमें यह सिद्धान्त हमें बतलाता है कि सभी प्राणियोंके हृदयमें एक ही परमात्माका निवास है, जो अमर और अविनाशी है। शरीरके शान्त हो जानेपर उसमें रहनेवाला देही उसको त्यागकर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है। इसलिये वास्तवमें मृत्यु शरीरकी होती है, आत्माकी नहीं। इस तथ्यका अर्थात् आत्माकी अमरताका जिसको ज्ञान हो जाता है, वह जीवन-मरणके चक्करसे छूटकर ब्रह्मसे एकत्व प्राप्त कर लेता है।

बृहदारण्यकका शाब्दिक अर्थ है एक विशाल वनसे सम्बन्धित। ऐसा अनुमान होता है कि किसी आत्मदर्शनाभिलाषी विद्वत्समाजने इस ग्रन्थरत्नको किसी बृहद्वनमें जन्म दिया होगा, जो प्राचीन भारतमें पर्याप्त प्रसिद्ध था। आज यह कहना सम्भव नहीं है कि वह वन कौन-सा था तथा किस युगमें यह ग्रन्थ लिखा गया था। यह प्रमाणभूत वैदिक ग्रन्थ माध्यन्दिन और काण्व नामक दो शाखाओंमें प्राप्त है, पर श्रीशङ्कराचार्यजीने अपनी भाष्यरचनाके लिये काण्व शाखाके पाठको ही ग्रहण किया है। यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण उपनिषदोंकी कोटिमें आता है। मधु, याज्ञवल्क्य और खिल नामसे इसके तीन खण्ड हैं। पर हम इस उपनिषद्में यत्र-तत्र प्राप्य ऐतिहासिक सामग्रीपर ही विचार करेंगे।

अश्वमेध

प्रथम अध्यायके आरम्भमें ही अश्वमेध यज्ञका उल्लेख है। वास्तवमें प्रथम अध्यायके अन्तर्गत प्रथम खण्डका नाम ही अश्वब्राह्मण है। इसमें यज्ञीय अश्वके शरीरको यज्ञके अधिष्ठातृ देवता प्रजापतिका विराट् देह मानकर वर्णन किया गया है। अश्वमेध एक वैदिक यज्ञ है। ऊर्ध्वलोकोंमें सबसे ऊँचे ब्रह्मलोककी प्राप्ति ही इसके अनुष्ठानका उद्देश्य होता है। पर यह स्थिति नित्य नहीं है। यज्ञ करनेवालेको फिर जन्म लेना पड़ता है और आवागमनसे उसे तबतक मुक्ति नहीं मिलती, जबतक कि वह अज्ञानपर विजय पाकर ब्रह्मके साथ एकाकार नहीं हो जाता।

वैदिक संहिताओंमें उल्लिखित तीन कर्म ऐसे हैं, जिनका स्वरूप राजनीतिक है। इन कर्मोंका राज्याभिषेक-संस्कारसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजसूय-यज्ञके अनुष्ठानसे मनुष्य राजा बनता है। इसलिये जैसा कि मैंने अपने 'Hindu Administrative Institutions' नामक ग्रन्थमें कहा है, यह यज्ञ राजाके लिये राज्याधिकार-ग्रहण-संस्कार है। वाजपेय-यज्ञका करनेवाला सम्राट्की पदवी प्राप्त करता है। स्मृतिकार[1] कात्यायनने राजसूयसे वाजपेय-यज्ञकी श्रेष्ठता बतायी है। शतपथ-ब्राह्मणमें[2] राजसूय-यज्ञका विस्तृत वर्णन मिलता है। वाजपेयकी महत्ताका वर्णन भी इस ग्रन्थमें[3] पाया जाता है।

अश्वमेधका उद्देश्य भी राजनीतिक होता था। प्रत्येक प्रतापी नरेशसे यह आशा की जाती थी कि वह इस इन्द्रपद

---

(१) १५. १. १. २; (२) ५. २; (३) ५. १. १. ८;

प्रदान करनेवाले यज्ञका अनुष्ठान करे। यद्यपि इस यज्ञका स्वरूप बड़ा जटिल है, फिर भी एग्गेलिंग (Eggeling) के शब्दोंमें यह एक राजकीय महोत्सव था। इस यज्ञके मूलका हमें कोई पता नहीं है। पर ऋग्वेदमें, यहाँतक कि पहले ही मण्डल (१। १६२-१६३) में इसका उल्लेख मिलता है। अश्वमेधका, जिसका शतपथब्राह्मणके १३ वें खण्डमें निरूपण किया गया है, महाभारतमें भी रोचक वर्णन मिलता है। वहाँ पाण्डवोंने बड़े समारोहसे इसे किया है। उक्त इतिहास-ग्रन्थमें इस प्रसङ्गके अन्तमें लिखा है 'अश्वमेध यजमानको समस्त पाप-कर्मों और दुष्कृतोंसे मुक्त कर देता है।' पर प्रायः इसका अनुष्ठान विश्व-विजय कर लेनेके उपरान्त ही होता था। दूसरे शब्दोंमें इसका यह अर्थ है कि प्राचीन हिन्दू राजा भारतवर्ष-को अपने शासनाधीन भूमण्डलका एक प्रदेश तथा अपनेको अखिल पृथ्वीका अधिपति मानते थे।[१]

उपनिषदोंका प्रधान विषय ब्रह्मज्ञान है और इसको प्राप्त करनेके लिये उन विधियों और साधनोंका उल्लेख किया गया है, जिनसे हम आत्म-सम्बन्धी अपने अज्ञानको मिटाकर ब्रह्मत्व लाभ करें। प्रथम अध्यायके दूसरे खण्डका नाम अग्नि-ब्राह्मण है। इसमें अश्वमेधमें प्रयुक्त होनेवाली अग्निकी उत्पत्ति और स्वरूपका वर्णन है। यहाँ ध्यानपर भी जोर दिया गया है। जैसे यज्ञीय अश्वका प्रजापतिके रूपमें ध्यान किया जाता है, वैसे ही अग्निका भी उसी रूपमें ध्यान करना चाहिये। बृहदारण्यकोपनिषद्ने इस वैदिक अनुष्ठानको प्रत्येक सच्चे क्षत्रियके लिये विधेय बताया है। ऐतिहासिक कालमें भी पुष्यमित्र, शुङ्ग और समुद्रगुप्त आदि राजाओंने इस महान् यज्ञको किया था और इस प्रकार विजित प्रदेशोंपर अपने चक्रवर्तित्वकी प्रतिष्ठा की थी। इसका अनुष्ठान ईस्वी सन्की दसवीं शताब्दीके आसपास बंद हुआ प्रतीत होता है।

धर्म

'धर्म' शब्द बड़ा व्यापक और विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। इससे सदाचारके विविध स्वरूपोंका बोध होता है। प्रत्येक मत एवं सम्प्रदायका एक विशिष्ट धर्म होता है। इसीको हम हिंदू-धर्म, बौद्ध-धर्म या जैन-धर्म आदि नामोंसे पुकारते हैं। परंतु एक हिंदूके लिये सभी कुछ धर्म है; क्योंकि उसका सत्यमें विश्वास है। संसारकी सृष्टिके समय केवल मात्र एक विराट् था। इस विराट्ने अपनेको एकाकी पाया और अपने हितके लिये एवं परिणामतः जगत्के हितार्थ उसने न केवल स्त्री-पुरुषोंकी वरं इतर जीवों तथा अन्य पदार्थोंकी सृष्टि की। फिर भी उसको संतोष नहीं हुआ, तब उसने ब्राह्मण जातिकी रचना की। तत्पश्चात् क्षत्रियोंकी उत्पत्ति हुई, जिन्हें रक्षाका भार सौंपा गया। क्षत्रियोंको ऐसे विशेष गुणोंसे विभूषित किया गया, जिनकी ब्राह्मण भी प्रशंसा करते हैं। राजसूय यज्ञमें ब्राह्मणका आसन सदैव नीचे रहता है, यद्यपि क्षत्रियोंको प्रकट उन्होंने ही किया है। यज्ञके समाप्त हो जानेपर क्षत्रिय यजमान ब्राह्मणको प्रणाम करता था। ऐसा किये बिना वह अपने मूलको ही नष्ट करनेवाला हो जायगा। क्षत्रियकी राजाके रूपमें प्रतिष्ठा होती थी। इस वर्णकी भी सृष्टिके बाद धनका अभाव प्रतीत हुआ, जिसके बिना यज्ञादिका संपूर्ण होना असंभव था। अतः वैश्योंकी उत्पत्ति हुई। किंतु विराट्को जीवनमें ऐश्वर्यसम्पन्न होनेके लिये एक भृत्यकी भी आवश्यकताका अनुभव हुआ। अतएव शूद्र जातिका आविर्भाव हुआ। इस वर्णके अधिष्ठातृ देवता पूषण हैं। इसका वाच्यार्थ है 'पोषण करनेवाला।'[१]

यह वर्णधर्मका ही वर्णन है। इससे हमें यह मान लेना चाहिये कि समाजका चार वर्णोंमें विभाजन एक वैदिक व्यवस्था है; और हिंदू होनेके नाते हमें यह भी मानना चाहिये कि यह मनुष्यकृत नहीं, भगवत्कृत है। ऋग्वेदके पुरुषसूक्तसे ही इस बातका प्रमाण मिल जाता है। वैदिक कालके बादके साहित्यमें एतद्विषयक प्रचुर प्रमाणोंका तो कहना ही क्या है। इसीलिये श्रीकृष्ण महाराज भगवद्गीतामें कहते हैं—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।'

आधुनिक विद्वान् 'सृष्टम्' शब्दके वास्तविक तात्पर्यको बिना समझे ही इसकी इस प्रकारसे असदालोचना करते हैं—मानो यह व्यवस्था भगवान्की नहीं, बल्कि भारतीय प्राचीन पूर्वजोंकी बनायी हुई हो। यदि और कुछ नहीं तब भी यह एक दृढ़ आर्थिक व्यवस्था थी, जिसमें आधुनिक सभ्यताके प्रतियोगिता, योग्यतमावशेष आदि कई निकृष्ट दोषोंका सर्वथा अभाव था। दुःखकी बात है कि यह व्यवस्था धीरे-धीरे मिट रही है और अव्यवस्थाग्रस्त जगत्की दुरवस्था और भी बढ़ती जा रही है। जबतक हम ऐसी ही किसी व्यवस्थाका, जिसको संसार स्वीकार कर ले, पुनर्निर्माण नहीं कर लेंगे तबतक विश्वके अनेक आर्थिक और सामाजिक दोषोंका, जो आज हमारे सामने उपस्थित है, सन्तोषजनक परिहार नहीं होगा, चाहे हम कितने ही सभा-सम्मेलन कर लें।

---

(१) शतपथब्राह्मण १२. ७. १.

(१) १. ४. १०. १.

बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र आदि चारों वर्णोंकी सृष्टि कर लेनेके बाद भी विराट्को पूर्ण संतोष नहीं प्राप्त हुआ। उसके मनमें यह आशङ्का छिपी हुई थी कि क्षत्रिय लोग उच्छृङ्खल हो जायँगे। उनको नियन्त्रणमें तथा अपने उचित स्थानपर स्थिर रखनेके लिये धर्मकी उत्पत्ति हुई और सच्चे क्षत्रियको बताया गया कि धर्म ही राजाओंका भी राजा है। दूसरे शब्दोंमें धर्मसे बड़ा और कुछ नहीं था। चाहे कोई राजा कितना भी शक्तिशाली हो, धर्मका अनुशासन मानना उसके लिये अनिवार्य था। दुर्बल व्यक्ति भी धर्मकी शरणमें जाकर त्राण पा सकते थे। उपनिषदोंके अनुसार धर्म ही सत्य है और सत्य ही धर्म है। किसी वस्तुके सैद्धान्तिक ज्ञानका नाम सत्य है; पर आचरणमें लानेपर वही धर्म कहा जाता है। किसी विशेष धर्मका आचरण करनेके लिये मनुष्यको पहले चारों वर्णोंमेंसे किसी एकसे सम्बन्ध स्थिर करना चाहिये; क्योंकि प्रत्येक वर्णका अपना विशेष धर्म है।

यह कहा जा चुका है कि धर्मसे बढ़कर कुछ नहीं है और धर्म ही राजाओंका भी राजा है। इसका यह अर्थ हुआ कि राजाओंका कर्तव्य नयी धाराओंको बनाना नहीं है, वरं पूर्वनिश्चित नियमोंको ही शासनव्यवहारमें लाना है। अतः राजाका कर्तव्य धर्मकी व्याख्या करके निर्णय देना है। इससे यह प्रकट होता है कि हिंदू-कालके भारतवर्षमें कोई धारासभा नहीं थी। वास्तवमें उल्लेखके योग्य कोई धारा-निर्माण-विभाग नहीं था। राजाको अनीति-मार्गपर जानेसे रोकनेके कई उपायोंमेंसे एक यह भी था कि उसे देशके विधानोंके अनुसार ही शासन करनेको बाध्य किया जाता था। इन विधानोंके निर्माणका कार्य आर्थिक बुद्धिवाले व्यक्तियोंके (ब्राह्मणोंके) हाथमें था।

उपनिषद्में आये हुए कुछ नाम

बृहदारण्यकोपनिषद्में आये हुए कई नामोंमेंसे याज्ञवल्क्य एवं जनक वैदेहका नाम मुख्यरूपसे उल्लेखनीय है। गर्ग कुलके भी एक वंशजका उल्लेख है, जिसने काशीके किन्हीं राजा अजातशत्रुसे मिलकर उन्हें ब्रह्मसम्बन्धी वास्तविक सत्यका उपदेश किया था (अध्याय २-१)। कुछ अन्य व्यक्तियोंके नाम भी हैं जैसे विश्वामित्र और जमदग्नि, गौतम और भरद्वाज, वसिष्ठ और कश्यप, अत्रि और मैत्रेयी। यह मैत्रेयी याज्ञवल्क्य ऋषिकी पत्नी थी। उपनिषद्के दूसरे अध्यायके चौथे ब्राह्मणमें जो कथा है, उसका समावेश आत्म-विद्याकी प्राप्तिके लिये त्यागकी आवश्यकता बतानेके लिये किया गया है, याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीका संवाद है। इस संलापका निष्कर्ष यह है कि केवल आत्मा ही ध्यानीय है। एक इतिहासका विद्यार्थी इससे इस निश्चयपर पहुँचता है कि ये व्यक्ति बृहदारण्यकोपनिषद्की रचनाके पूर्वके एक युगमें विद्यमान थे। उनमेंसे कुछ प्रसिद्ध वैदिक ऋषि हैं। मैत्रेयी इस बातके उदाहरणके रूपमें उपस्थित की जा सकती हैं कि वैदिक कालमें भारतवर्षमें स्त्रियाँ न केवल शिक्षित और संस्कृत ही होती थीं, परंतु वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें भी स्वतन्त्र थीं। यह कहना भूल है कि वे अशिक्षित, अज्ञ और पराधीन थीं। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि क्या याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी रचना करनेवाले ही वे ऋषि हैं, जिनका उल्लेख उपनिषद्में हुआ है। याज्ञवल्क्य-स्मृतिको ध्यानसे देखनेपर यह पता चलता है कि इसका आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त नामक तीन खण्डोंमें विभाजन एक ऐसी प्रणाली है जो पीछेकी अपेक्षा प्राचीन धर्म-शास्त्रोंमें ही अधिक पायी जाती है। मेरी सम्मतिमें यह स्मृति जिस रूपमें प्राप्त है, वह पर्याप्त पहलेकी रचना है, सम्भवतः कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे भी पूर्वकी। यद्यपि अपने वर्तमान स्वरूपमें यह ग्रन्थ आदिसे अन्त-तक ऋषि याज्ञवल्क्यकी ही रचना न भी हो, पर यह बिल्कुल सम्भव है कि यह याज्ञवल्क्यके सम्प्रदायकी वस्तु हो और सम्भवतः उनके किसी उत्साही शिष्यद्वारा लिपिबद्ध हुई हो।

बृहदारण्यकके स्वरूप, इसके विषय तथा शतपथ ब्राह्मणका अन्तिम भाग होनेके कारण आधुनिक विद्वानोंकी सम्मतिमें इसके रचना-कालको आठवीं और सातवीं शताब्दी ईसापूर्व माना जाता है। परंतु इसका रचनाकाल चाहे जो भी हो, यह ग्रन्थ है अत्यन्त प्राचीन। विश्वमें व्याप्त मायापर विजय पानेका सर्वोत्तम साधन क्या है--यही इसका प्रतिपाद्य विषय है और अन्तमें यह इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि परमात्माका ज्ञान हुए बिना मायापर विजय सम्भव नहीं।

---

(१) उसी ग्रन्थमें १. ४. १४--१५

प्रार्थना

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥
(ईशा० १६)

|| ॐ श्रीपरमात्मने नमः ||

ईशावास्योपनिषद्

यह ईशावास्योपनिषद् शुक्लयजुर्वेदसंहिताका चालीसवाँ अध्याय है। मन्त्र-भागका अंश होनेसे इसका विशेष महत्त्व है। इसीको सबसे पहली उपनिषद् माना जाता है। शुक्लयजुर्वेदके प्रथम उनतालीस अध्यायोंमें कर्मकाण्डका निरूपण हुआ है। यह उस काण्डका अन्तिम अध्याय है और इसमें भगवत्तत्त्वरूप ज्ञानकाण्डका निरूपण किया गया है। इसके पहले मन्त्रमें 'ईशा वास्यम्' वाक्य आनेसे इसका नाम 'ईशावास्य' माना गया है।

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥*

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ=सच्चिदानन्दघन; **अदः**=वह परब्रह्म; **पूर्णम्**=सब प्रकारसे पूर्ण है; **इदम्**=यह (जगत् भी); **पूर्णम्**=पूर्ण (ही) है; (क्योंकि) **पूर्णात्**=उस पूर्ण (परब्रह्म)से ही; **पूर्णम्**=यह पूर्ण; **उदच्यते**=उत्पन्न हुआ है; **पूर्णस्य**=पूर्णके; **पूर्णम्**=पूर्णको; **आदाय**=निकाल लेनेपर (भी); **पूर्णम्**=पूर्ण; **एव**=ही; **अवशिष्यते**=बच रहता है।

व्याख्या—वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकारसे सदा-सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत् भी उस परब्रह्मसे पूर्ण ही है; क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तमसे ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्मकी पूर्णतासे जगत् पूर्ण होनेपर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्णमेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर भी वह पूर्ण ही बच रहता है।

त्रिविध तापकी शान्ति हो।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥ १ ॥

जगत्याम्=अखिल ब्रह्माण्डमें; **यत् किं च**=जो कुछ भी; **जगत्**=जड-चेतनस्वरूप जगत् है; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=समस्त; **ईशा**=ईश्वरसे; **वास्यम्**=व्याप्त है; **तेन**=उस ईश्वरको साथ रखते हुए; **त्यक्तेन**=त्यागपूर्वक; **भुञ्जीथाः**=(इसे) भोगते रहो; **मा गृधः**=(इसमें) आसक्त मत होओ; (क्योंकि) **धनम्**=धन—भोग्य-पदार्थ; **कस्य स्वित्**=किसका है अर्थात् किसीका भी नहीं है ॥ १ ॥

व्याख्या—मनुष्योंके प्रति वेद भगवान्‌का पवित्र आदेश है कि अखिल विश्व-ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी यह चराचरात्मक जगत् तुम्हारे देखने-सुननेमें आ रहा है, सब-का-सब सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वाधिपति, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वकल्याण-गुणस्वरूप परमेश्वरसे व्याप्त है; सदा सर्वत्र उन्हींसे परिपूर्ण है (गीता ९ । ४)। इसका कोई भी अंश उनसे रहित नहीं है (गीता १० । ३९,४२)। ऐसा समझकर उन ईश्वरको निरन्तर अपने साथ रखते हुए—सदा-सर्वदा उनका स्मरण करते हुए ही तुम इस जगत्‌में त्यागभावसे केवल कर्तव्यपालनके लिये ही विषयोंका यथाविधि उपभोग करो अर्थात् यज्ञार्थ—विश्वरूप ईश्वरकी पूजाके लिये ही कर्मोंका आचरण करो। विषयोंमें मनको मत फँसने दो, इसीमें तुम्हारा निश्चित कल्याण है (गीता २ । ६४; ३ । ९; १८ । ४६)। वस्तुतः ये भोग्य-पदार्थ किसीके भी नहीं हैं। मनुष्य भूलसे ही इनमें

* यह मन्त्र बृहदारण्यक उपनिषद्के पाँचवें अध्यायके प्रथम ब्राह्मणकी प्रथम कण्डिकाका पूर्वार्द्धरूप है।

ममता और आसक्ति कर बैठता है। ये सब परमेश्वरके हैं और उन्हींके लिये इनका उपयोग होना चाहिये * ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

कर्माणि=शास्त्रनियत कर्मोंको; **कुर्वन्**=(ईश्वरपूजार्थ) करते हुए; **एव**=ही; **इह**=इस जगत्‌में; **शतम् समाः**=सौ वर्षोंतक; **जिजीविषेत्**=जीनेकी इच्छा करनी चाहिये; **एवम्**=इस प्रकार (त्यागभावसे, परमेश्वरके लिये); **कर्म**=किये जानेवाले कर्म; **त्वयि**=तुझ; **नरे**=मनुष्यमें; **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होंगे; **इतः**=इससे (भिन्न); **अन्यथा**=अन्य कोई प्रकार अर्थात् मार्ग; **न अस्ति**=नहीं है (जिससे कि मनुष्य कर्मसे मुक्त हो सके) ॥ २ ॥

व्याख्या—अतएव समस्त जगत्‌के एकमात्र कर्ता, धर्ता, हर्ता, सर्वशक्तिमान् सर्वमय परमेश्वरका सतत स्मरण रखते हुए सब कुछ उन्हींका समझकर उन्हींकी पूजाके लिये शास्त्रनियत कर्तव्यकर्मोंका आचरण करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करो—इस प्रकार अपने पूरे जीवनको परमेश्वरके प्रति समर्पण कर दो। ऐसा समझो कि शास्त्रोक्त स्वकर्मका आचरण करते हुए जीवन-निर्वाह करना केवल यज्ञार्थ—परमेश्वरकी पूजाके लिये ही है; अपने लिये नहीं—भोग भोगनेके लिये नहीं। कर्म करते हुए कर्मोंमें लिप्त न होनेका यही एकमात्र मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका नहीं है (गीता २ । ५०, ५१; ५ । १०) ॥ २ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मफलरूप जन्मबन्धनसे मुक्त होनेके निश्चित मार्गका निर्देश करके अब इसके विपरीत मार्गपर चलनेवाले मनुष्योंकी गतिका वर्णन करते हैं—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

असुर्याः=असुरोंके; (जो) **नाम**=प्रसिद्ध; **लोकाः**=नाना प्रकारकी योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं; **ते**=वे सभी; **अन्धेन तमसा**=अज्ञान तथा दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे; **आवृताः**=आच्छादित हैं; **ये के च**=जो कोई भी; **आत्महनः**=आत्माकी हत्या करनेवाले; **जनाः**=मनुष्य हों; **ते**=वे; **प्रेत्य**=मरकर; **तान्**=उन्हीं भयङ्कर लोकोंको; **अभिगच्छन्ति**=बार-बार प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—मानव-शरीर अन्य सभी शरीरोंसे श्रेष्ठ और परम दुर्लभ है एवं वह जीवको भगवान्‌की विशेष कृपासे जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे तरनेके लिये ही मिलता है। ऐसे शरीरको पाकर भी जो मनुष्य अपने कर्मसमूहको ईश्वर-पूजाके लिये समर्पण नहीं करते और कामोपभोगको ही जीवनका परम ध्येय मानकर विषयोंकी आसक्ति और कामनावश जिस किसी प्रकारसे भी केवल विषयोंकी प्राप्ति और उनके यथेच्छ उपभोगमें ही लगे रहते हैं, वे वस्तुतः आत्माकी हत्या करनेवाले ही हैं; क्योंकि इस प्रकार अपना पतन करनेवाले वे लोग अपने जीवनको केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहे हैं वरं अपनेको और भी अधिक कर्मबन्धनमें जकड़ रहे हैं। इन काम-भोग-परायण लोगोंको,—चाहे वे कोई भी क्यों न हों, उन्हें चाहे संसारमें कितने ही विशाल नाम, यश, वैभव या अधिकार प्राप्त हों,—मरनेके बाद उन कर्मोंके फलस्वरूप बार-बार कूकर-शूकर, कीट-पतंगादि विभिन्न शोक-सन्तापपूर्ण आसुरी योनियोंमें और भयानक नरकोंमें भटकना पड़ता है। (गीता १६ । १६, १९, २०) इसीलिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि मनुष्यको अपनेद्वारा अपना उद्धार करना चाहिये, अपना पतन नहीं करना चाहिये (गीता ६ । ५) ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—जो परमेश्वर सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त हैं, जिनका सतत स्मरण करते हुए तथा जिनकी पूजाके लिये ही समस्त कर्म करने चाहिये, वे कैसे हैं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

---

* कुछ आदरणीय विद्वानोंने इसका भावार्थ ऐसा माना है—

इस ब्रह्माण्डमें जो कुछ यह जगत् है, सब ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरके द्वारा तुम्हारे लिये जो त्याग किया गया है अर्थात् प्रदान किया गया है, उसीको अनासक्तरूपसे भोगो। किसीके भी धनकी इच्छा मत करो।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

(**तत्**)=वे परमेश्वर; **अनेजत्**=अचल; **एकम्**=एक; (और) **मनसः**=मनसे (भी); **जवीयः**=अधिक तीव्र गतियुक्त हैं; **पूर्वम्**=सबके आदि; **अर्षत्**=ज्ञानस्वरूप या सबके जाननेवाले हैं; **एनत्**=इन परमेश्वरको; **देवाः**=इन्द्रादि देवता भी; **न आप्नुवन्**=नहीं पा सके या जान सके हैं; **तत्**=वे (परब्रह्म पुरुषोत्तम); **अन्यान्**=दूसरे, **धावतः**=दौड़नेवालोंको; **तिष्ठत्**=(स्वयं) स्थित रहते हुए ही; **अत्येति**=अतिक्रमण कर जाते हैं; **तस्मिन्**=उनके होनेपर ही—उन्हींकी सत्ता-शक्तिसे; **मातरिश्वा**=वायु आदि देवता; **अपः**=जलवर्षा, जीवकी प्राणधारणादि क्रिया प्रभृति कर्म; **दधाति**=सम्पादन करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—वे सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अचल और एक हैं, तथापि मनसे भी अधिक तीव्र वेगयुक्त हैं। जहाँतक मनकी गति है, वे उससे भी कहीं आगे पहलेसे ही विद्यमान हैं। मन तो वहाँतक पहुँच ही नहीं पाता। वे सबके आदि और ज्ञानस्वरूप हैं अथवा सबके आदि होनेके कारण सबको पहलेसे ही जानते हैं। पर उनको देवता तथा महर्षिगण भी पूर्णरूपसे नहीं जान सकते (गीता १० । २)। जितने भी तीव्र वेगयुक्त बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ अथवा वायु आदि देवता हैं, अपनी शक्तिभर परमेश्वरके अनुसंधानमें सदा दौड़ लगाते रहते हैं; परंतु परमेश्वर नित्य अचल रहते हुए ही उन सबको पार करके आगे निकल जाते हैं। वे सब वहाँतक पहुँच ही नहीं पाते। असीमकी सीमाका पता ससीमको कैसे लग सकता है ? बल्कि वायु आदि देवताओंमें जो शक्ति है, जिसके द्वारा वे जलवर्षण, प्रकाशन, प्राणि-प्राणधारण आदि कर्म करनेमें समर्थ होते हैं, वह इन अचिन्त्यशक्ति परमेश्वरकी शक्तिका एक अंशमात्र ही है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्तिमत्ता तथा व्यापकताका प्रकारान्तरसे पुनः वर्णन करते हैं—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

तत्=वे; **एजति**=चलते हैं; **तत्**=वे; **न एजति**=नहीं चलते; **तत्**=वे; **दूरे**=दूरसे भी दूर हैं; **तत्**=वे; **उ अन्तिके**=अत्यन्त समीप हैं; **तत्**=वे; **अस्य**=इस; **सर्वस्य**=समस्त जगत्के; **अन्तः**=भीतर परिपूर्ण हैं; (और) **तत्**=वे; **अस्य**=इस; **सर्वस्य**=समस्त जगत्के; **उ बाह्यतः**=बाहर भी हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—वे परमेश्वर चलते भी हैं और नहीं भी चलते; एक ही कालमें परस्परविरोधी भाव, गुण तथा क्रिया जिनमें रह सकती हैं, वे ही तो परमेश्वर हैं। यह उनकी अचिन्त्य शक्तिकी महिमा है। दूसरे प्रकारसे यह भी कहा जा सकता है कि भगवान् जो अपने दिव्य परम धाममें और लीलाधाममें अपने प्रिय भक्तोंको सुख पहुँचानेके लिये अप्राकृत सगुण-साकार रूपमें प्रकट रहकर लीला किया करते हैं, यह उनका चलना है; और निर्गुणरूपसे जो सदा-सर्वथा अचल स्थित हैं, यह उनका न चलना है। इसी प्रकार वे श्रद्धा-प्रेमसे रहित मनुष्योंको कभी दर्शन ही नहीं देते, अतः उनके लिये दूर-से-दूर हैं; और प्रेमकी पुकार सुनते ही जिन प्रेमीजनोंके सामने चाहे जहाँ उसी क्षण प्रकट हो जाते हैं, उनके लिये वे समीप-से-समीप हैं। इसके अतिरिक्त वे सदा-सर्वत्र परिपूर्ण हैं, इसलिये दूर-से-दूर भी वही हैं और समीप-से-समीप भी वही हैं; क्योंकि ऐसा कोई स्थान ही नहीं है, जहाँ वे न हों। सबके अन्तर्यामी होनेके कारण भी वे अत्यन्त समीप हैं; पर जो अज्ञानी लोग उन्हें इस रूपमें नहीं पहचानते, उनके लिये वे बहुत दूर हैं। वस्तुतः वे इस समस्त जगत्के परम आधार हैं और परम कारण हैं; इसलिये बाहर-भीतर सभी जगह वे ही परिपूर्ण हैं। * (गीता ७ । ७) ॥ ५ ॥

* कुछ आदरणीय विद्वानोंने इसका भावार्थ इस प्रकार माना है—

यह आत्मतत्त्व अचल रहकर ही चलता हुआ-सा जान पड़ता है, अज्ञानियोंके लिये अप्राप्य होनेसे बहुत दूर है और ज्ञानियोंका आत्मा होनेसे समीप है। महाकाशमें घटाकाशकी भाँति भीतर और बाहर भी वही है।

एक दूसरे विद्वान् यह अर्थ करते हैं—

सम्बन्ध—अब अगले दो मन्त्रोंमें इन परब्रह्म परमेश्वरको जाननेवाले महापुरुषकी स्थितिका वर्णन किया जाता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

तु=परंतु; **यः**=जो मनुष्य; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **भूतानि**=प्राणियोंको; **आत्मनि**=परमात्मामें; **एव**=ही; **अनुपश्यति**=निरन्तर देखता है; **च**=और; **सर्वभूतेषु**=सम्पूर्ण प्राणियोंमें; **आत्मानम्**=परमात्माको (देखता है); **ततः**= उसके पश्चात् (वह कभी भी); **न विजुगुप्सते**=किसीसे घृणा नहीं करता ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जो मनुष्य प्राणिमात्रको सर्वाधार परब्रह्म पुरुषोत्तम परमात्मामें देखता है और सर्वान्तर्यामी परम प्रभु परमात्माको प्राणिमात्रमें देखता है, वह कैसे किससे घृणा या द्वेष कर सकता है ? वह तो सदा सर्वत्र अपने परम प्रभुके ही दर्शन करता हुआ (गीता ६ । २९-३०) मन-ही-मन सबको प्रणाम करता रहता है तथा सबकी सब प्रकार सेवा करना और उन्हें सुख पहुँचाना चाहता है *॥ ६ ॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

यस्मिन्=जिस स्थितिमें; **विजानतः**=परब्रह्म परमेश्वरको भलीभाँति जाननेवाले महापुरुषके (अनुभवमें); **सर्वाणि**= सम्पूर्ण; **भूतानि**=प्राणी; **आत्मा**=एकमात्र परमात्मस्वरूप; **एव**=ही; **अभूत्**=हो चुकते हैं; **तत्र**=उस अवस्थामें; (उस) **एकत्वम्**=एकताका—एकमात्र परमेश्वरका; **अनुपश्यतः**=निरन्तर साक्षात् करनेवाले पुरुषके लिये; **कः**=कौन-सा; **मोहः**= मोह (रह जाता है और); **कः**=कौन-सा; **शोकः**=शोक ! (वह शोक-मोहसे सर्वथा रहित, आनन्दपरिपूर्ण हो जाता है) ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब मनुष्य परमात्माको भलीभाँति पहचान लेता है, तब उसकी सर्वत्र भगवद्दृष्टि हो जाती है—तब वह प्राणिमात्रमें एकमात्र तत्त्व श्रीपरमात्माको ही देखता है । उसे सदा-सर्वत्र परमात्माके दर्शन होते रहते हैं और इस कारण वह इतना आनन्दमग्न हो जाता है कि शोक-मोहादि विकारोंकी छाया भी कहीं उसके चित्तप्रदेशमें नहीं रह जाती । लोगोंके देखनेमें वह सब कुछ करता हुआ भी वस्तुतः अपने प्रभुमें ही क्रीड़ा करता है (गीता ६ । ३१) । उसके लिये प्रभु और प्रभुकी लीलाके अतिरिक्त अन्य कुछ रह ही नहीं जाता † ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब इस प्रकार परमप्रभु परमेश्वरको तत्त्वसे जाननेका तथा सर्वत्र देखनेका फल बतलाते हैं—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

सः=वह महापुरुष; **शुक्रम्**=(उन) परम तेजोमय; **अकायम्**=सूक्ष्मशरीरसे रहित; **अव्रणम्**=छिद्ररहित या क्षत-रहित; **अस्नाविरम्**=शिराओंसे रहित—स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरसे रहित; **शुद्धम्**=अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्दस्वरूप; **अपाप-**

दूसरे सब उससे भय-प्रकम्पित रहते हैं, पर वे किसीके भयसे नहीं काँपते । वे दूर भी हैं, समीप भी हैं, सबके भीतर भी हैं और बाहर भी ।

* कुछ आदरणीय विद्वान् इस मन्त्रका भावार्थ इस प्रकार करते हैं—

(१) जो मुमुक्षु सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने आत्मासे पृथक् नहीं देखता और उन प्राणियोंके आत्माको अपना ही आत्मा जानता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने आत्मस्वरूपको देखनेवाला पुरुष किसीसे भी घृणा नहीं करता ।

(२) जो पुरुष सब प्राणियोंको परमात्मामें और सब प्राणियोंमें परमात्माको देखता है, वह निर्भय हो जाता है । फिर वह अपनी रक्षाकी कोई-चिन्ता नहीं करता ।

† कुछ आदरणीय विद्वान् इसका ऐसा भावार्थ मानते हैं—

जिस समय आत्मस्वरूपमें परमार्थतत्त्वको जाननेवालेकी दृष्टिमें समस्त प्राणी आत्मभावको ही प्राप्त हो गये होते हैं, उस समय अथवा उस आत्मामें कहाँ मोह रह सकता है और कहाँ शोक ?

विद्धम्=शुभाशुभकर्म-सम्पर्कशून्य परमेश्वरको; **पर्यगात्**=प्राप्त हो जाता है; (जो) **कविः**=सर्वद्रष्टा; **मनीषी**=सर्वज्ञ एवं ज्ञानस्वरूप; **परिभूः**=सर्वोपरि विद्यमान एवं सर्वनियन्ता; **स्वयम्भूः**=स्वेच्छासे प्रकट होनेवाले हैं (और); **शाश्वतीभ्यः**=अनादि; **समाभ्यः**=कालसे; **याथातथ्यतः**=सब प्राणियोंके कर्मानुसार यथायोग्य; **अर्थान्**=सम्पूर्ण पदार्थोंकी; **व्यदधात्**=रचना करते आये हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त वर्णनके अनुसार परमेश्वरको सर्वत्र जानने-देखनेवाला महापुरुष उन परब्रह्म पुरुषोत्तम सर्वेश्वरको प्राप्त होता है, जो शुभाशुभ कर्मजनित प्राकृत सूक्ष्म देह तथा पाञ्चभौतिक अस्थि-शिरा-मांसादिमय षड्विकारयुक्त स्थूल देहसे रहित, छिद्ररहित, दिव्य शुद्ध सच्चिदानन्दघन हैं; एवं जो क्रान्तदर्शी—सर्वद्रष्टा हैं, सबके ज्ञाता, सबको अपने नियन्त्रणमें रखनेवाले सर्वाधिपति और कर्मपरवश नहीं, वरं स्वेच्छासे प्रकट होनेवाले हैं। तथा जो सनातन कालसे सब प्राणियोंके लिये उनके कर्मानुसार समस्त पदार्थोंकी यथायोग्य रचना और विभाग-व्यवस्था करते आये हैं * ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—अब अगले तीन मन्त्रोंमें विद्या और अविद्याका तत्त्व समझाया जायगा। इस प्रकरणमें परब्रह्म परमेश्वरकी प्राप्तिके साधन 'ज्ञान'को विद्याके नामसे कहा गया है और स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति अथवा इस लोकके विविध भोगैश्वर्यकी प्राप्तिके साधन 'कर्म'को अविद्याके नामसे। इन ज्ञान और कर्म—दोनोंके तत्त्वको भलीभाँति समझकर उनका अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य ही इन दोनों साधनोंके द्वारा सर्वोत्तम तथा वास्तविक फल प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं—इस रहस्यको समझानेके लिये पहले उन दोनोंके यथार्थ स्वरूपको न समझकर अनुष्ठान करनेवालोंकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬ रताः ॥ ९ ॥

ये=जो मनुष्य; **अविद्याम्**=अविद्याकी; **उपासते**=उपासना करते हैं; **ते**=वे; **अन्धम्**=अज्ञानस्वरूप; **तमः**=घोर अन्धकारमें; **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं; (और) **ये**=जो मनुष्य; **विद्यायाम्**=विद्यामें; **रताः**=रत हैं अर्थात् ज्ञानके मिथ्याभिमानमें मत्त हैं; **ते**=वे; **ततः**=उससे; **उ**=भी; **भूयः इव**=मानो अधिकतर; **तमः**=अन्धकारमें (प्रवेश करते हैं) ॥ ९ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य भोगोंमें आसक्त होकर उनकी प्राप्तिके साधनरूप अविद्याका—विविध प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे उन कर्मोंके फलस्वरूप अज्ञानान्धकारसे परिपूर्ण विविध योनियों और भोगोंको ही प्राप्त होते हैं। वे मनुष्य-जन्मके चरम और परम लक्ष्य श्रीपरमेश्वरको न पाकर निरन्तर जन्म-मृत्युरूप संसारके प्रवाहमें पड़े हुए विविध तापोंसे संतप्त होते रहते हैं।

दूसरे जो मनुष्य न तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्तापनके अभिमानसे रहित कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और न विवेक-वैराग्यादि ज्ञानके प्राथमिक साधनोंका ही सेवन करते हैं, परंतु केवल शास्त्रोंको पढ़-सुनकर अपनेमें विद्याका—ज्ञानका मिथ्या आरोप करके ज्ञानाभिमानी बन बैठते हैं, ऐसे मिथ्याज्ञानी मनुष्य अपनेको ज्ञानी मानकर, 'हमारे लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है' इस प्रकार कहते हुए कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर देते हैं और इन्द्रियोंके वशमें होकर शास्त्रविधिसे विपरीत मनमाना आचरण करने लगते हैं। इससे वे लोग सकामभावसे कर्म करनेवाले विषयासक्त मनुष्योंकी अपेक्षा भी अधिकतर अन्धकारको—पशु-पक्षी, शूकर-कूकर आदि नीच योनियोंको और रौरव-कुम्भीपाकादि घोर नरकोंको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यको समझकर ज्ञान तथा कर्मका अनुष्ठान करनेसे जो सर्वोत्तम परिणाम होता है, उसका संकेतसे वर्णन करते हैं—

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

---

* इस मन्त्रका भावार्थ कुछ आदरणीय महानुभावोंने इस प्रकार भी किया है—

वह पूर्वोक्त निर्विशेष आत्मा आकाशके सदृश सर्वव्यापक, दीप्तिमान्, अशरीरी, अक्षत, स्नायुरहित (स्थूलशरीरसे रहित) तथा धर्माधर्मरूप पापसे रहित है। वह सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सबके ऊपर और स्वयं ही सब कुछ है। उस नित्यमुक्त ईश्वरने संवत्सर नामक प्रजापतियोंको उनकी योग्यताके अनुसार अर्थोंका—कर्तव्य-पदार्थोंका—यथायोग्य विभाग कर दिया है।

विद्यया=ज्ञानके यथार्थ अनुष्ठानसे; **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल; **आहुः**=बतलाते हैं; (और) **अविद्यया**=कर्मोंके यथार्थ अनुष्ठानसे; **अन्यत्**=दूसरा (ही) फल; **आहुः**=बतलाते हैं; **इति**=इस प्रकार; (हमने) **धीराणाम्**=(उन) धीर पुरुषोंके; **शुश्रुम**=वचन सुने हैं; **ये**=जिन्होंने; **नः**=हमें; **तत्**=उस विषयको; **विचचक्षिरे**=व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १० ॥

व्याख्या—सर्वोत्तम फल प्राप्त करानेवाले ज्ञानका यथार्थ स्वरूप है—नित्यानित्यवस्तुका विवेक, क्षणभङ्गुर विनाशशील अनित्य इहलौकिक और पारलौकिक भोगसामग्रियों और उनके साधनोंसे पूर्ण विरक्ति, संयमित पवित्र जीवन और एकमात्र सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्मके चिन्तनमें अखण्ड संलग्नता। इसके अनुष्ठानसे परब्रह्म पुरुषोत्तमका यथार्थ ज्ञान होता है और उसके अनन्तर उनकी प्राप्ति होती है (गीता १८ । ४९—५५) । ज्ञानाभिमानमें रत स्वेच्छाचारी मनुष्योंको जो दुर्गतिरूप फल मिलता है, यथार्थ ज्ञानका यह सर्वोत्तम फल उससे सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इसी प्रकार सर्वोत्तम फल प्राप्त करानेवाले कर्मका स्वरूप है—कर्ममें कर्तापनके अभिमानका अभाव, राग-द्वेष और फलकामनाका अभाव एवं अपने वर्णाश्रम तथा परिस्थितिके अनुरूप केवल भगवत्-सेवाके भावसे श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका यथायोग्य सेवन । इसके अनुष्ठानसे समस्त दुर्गुण और दुराचारोंका अशेष रूपसे नाश हो जाता है और हर्ष-शोकादि समस्त विकारोंसे रहित होकर साधक मृत्युमय संसार-सागरसे तर जाता है । सकामभावसे किये जानेवाले कर्मोंका जो फल उन कर्ताओंको मिलता है, उससे इस यथार्थ कर्म-सेवनका यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इस प्रकार हमने उन परम ज्ञानी महापुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक्-पृथक् रूपसे व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १० ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे ज्ञान और कर्म—दोनोंके तत्त्वको एक साथ भलीभाँति समझनेका फल स्पष्ट शब्दोंमें बतलाते हैं—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

यः=जो मनुष्य; **तत् उभयम्**=उन दोनोंको; (अर्थात्) **विद्याम्**=ज्ञानके तत्त्वको; **च**=और; **अविद्याम्**=कर्मके तत्त्वको; **च**=भी; **सह**=साथ-साथ; **वेद**=यथार्थतः जान लेता है; **अविद्यया**=(वह) कर्मोंके अनुष्ठानसे; **मृत्युम्**=मृत्युको; **तीर्त्वा**=पार करके; **विद्यया**=ज्ञानके अनुष्ठानसे; **अमृतम्**=अमृतको; **अश्नुते**=भोगता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—कर्म और अकर्मका वास्तविक रहस्य समझनेमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी भूल कर बैठते हैं (गीता ४ । १६) । इसी कारण कर्म-रहस्यसे अनभिज्ञ ज्ञानाभिमानी मनुष्य कर्मको ब्रह्मज्ञानमें बाधक समझ लेते हैं और अपने वर्णाश्रमोचित अवश्यकर्तव्य कर्मोंका त्याग कर देते हैं; परंतु इस प्रकारके त्यागसे उन्हें त्यागका यथार्थ फल—कर्मबन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता (गीता १८ । ८) । इसी प्रकार ज्ञान (अकर्मावस्था—नैष्कर्म्य) का तत्त्व न समझनेके कारण मनुष्य अपनेको ज्ञानी तथा संसारसे ऊपर उठे हुए मान लेते हैं । अतः वे या तो अपनेको पुण्य-पापसे अलिप्त मानकर मनमाने कर्माचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं, या कर्मोंको भाररूप समझकर उन्हें छोड़ देते हैं और आलस्य, निद्रा तथा प्रमादमें अपने दुर्लभ मानव-जीवनके अमूल्य समयको नष्ट कर देते हैं ।

इन दोनों प्रकारके अनर्थोंसे बचनेका एकमात्र उपाय कर्म और ज्ञानके रहस्यको साथ-साथ समझकर उनका यथायोग्य अनुष्ठान करना ही है । इसीलिये इस मन्त्रमें यह कहा गया है कि जो मनुष्य इन दोनोंके तत्त्वको एक ही साथ भलीभाँति समझ लेता है, वह अपने वर्णाश्रम और परिस्थितिके अनुरूप शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपतः त्याग नहीं करता, बल्कि उनमें कर्तापनके अभिमानसे तथा राग-द्वेष और फलकामनासे रहित होकर उनका यथायोग्य आचरण करता है । इससे उसकी जीवनयात्रा भी सुखपूर्वक चलती है और इस भावसे कर्मानुष्ठान करनेके फलस्वरूप उसका अन्तःकरण समस्त

दुर्गुणों एवं विकारोंसे रहित होकर अत्यन्त निर्मल हो जाता है और भगवत्कृपासे वह मृत्युमय संसारसे सहज ही तर जाता है। इस कर्मसाधनके साथ-ही-साथ विवेक-वैराग्यसम्पन्न होकर निरन्तर ब्रह्मविचाररूप ज्ञानाभ्यास करते रहनेसे श्रीपरमेश्वरके यथार्थ ज्ञानका उदय होनेपर वह शीघ्र ही परब्रह्म परमेश्वरको साक्षात् प्राप्त कर लेता है * ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—अब अगले तीन मन्त्रोंमें असम्भूति और सम्भूतिका तत्त्व बतलाया जायगा। इस प्रकरणमें 'असम्भूति' शब्दका अर्थ है—जिनकी पूर्णरूपसे सत्ता न हो, ऐसी विनाशशील देव, पितर और मनुष्यादि योनियाँ एवं उनकी भोगसामग्रियाँ। इसीलिये चौदहवें मन्त्रमें 'असम्भूति'के स्थानपर स्पष्टतया 'विनाश' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'सम्भूति' शब्दका अर्थ है—सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाला अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तम (गीता ७। ६-७)।

देव, पितर और मनुष्यादिकी उपासना किस प्रकार करनी चाहिये और अविनाशी परब्रह्मकी किस प्रकार—इस तत्त्वको समझकर उनका अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य ही उनके सर्वोत्तम फलोंको प्राप्त हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस भावको समझानेके लिये, पहले, उन दोनोंके यथार्थ स्वरूपको न समझकर अनुष्ठान करनेवालोंकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳶरताः ॥ १२ ॥

ये=जो मनुष्य; **असम्भूतिम्**=विनाशशील देव-पितरादिकी; **उपासते**=उपासना करते हैं; **(ते)**=वे; **अन्धम्**=अज्ञानरूप; **तमः**=घोर अन्धकारमें; **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं; (और) **ये**=जो; **सम्भूत्याम्**=अविनाशी परमेश्वरमें; **रताः**=रत हैं अर्थात् उनकी उपासनाके मिथ्याभिमानमें मत्त हैं; **ते**=वे; **ततः**=उनसे; **उ**=भी; **भूयः इव**=मानो अधिकतर; **तमः**=अन्धकारमें (प्रवेश करते हैं) ॥ १२ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य विनाशशील स्त्री, पुत्र, धन, मान, कीर्ति, अधिकार आदि इस लोक और परलोककी भोग-सामग्रियोंमें आसक्त होकर उन्हींको सुखका हेतु समझते हैं तथा उन्हींके अर्जन-सेवनमें सदा संलग्न रहते हैं एवं इन भोग-सामग्रियोंकी प्राप्ति, संरक्षण तथा वृद्धिके लिये उन विभिन्न देवता, पितर और मनुष्यादिकी उपासना करते हैं जो स्वयं जन्म-मरणके चक्रमें पड़े हुए होनेके कारण शरीरकी दृष्टिसे विनाशशील हैं। ऐसे वे भोगासक्त मनुष्य अपनी उपासनाके फलस्वरूप विभिन्न देवताओंके लोकोंको और विभिन्न भोगयोनियोंको प्राप्त होते हैं। यही उनका अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करना है।

दूसरे जो मनुष्य शास्त्रके तात्पर्यको तथा भगवान्के दिव्य गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको न समझनेके कारण न तो भगवान्का भजन-ध्यान ही करते हैं और न श्रद्धाके अभाव तथा भोगासक्तिके कारण लोकसेवा और शास्त्रविहित देवोपासनामें ही प्रवृत्त होते हैं, ऐसे वे विषयासक्त मनुष्य झूठ-मूठ ही अपनेको ईश्वरोपासक बतलाकर सरलहृदय जनतासे अपनी पूजा कराने लगते हैं। ये लोग मिथ्या अभिमानके कारण देवताओंको तुच्छ बतलाते हैं और शास्त्रानुसार अवश्यकर्तव्य देवपूजा तथा गुरुजनोंका सम्मान-सत्कार करना भी छोड़ देते हैं। इतना ही नहीं, दूसरोंको भी अपने वाग्-जालमें फँसाकर उनके मनोंमें भी देवोपासना आदिमें अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। ये लोग अपनेको ही ईश्वरके समकक्ष मानते-मनवाते हुए मनमाने दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं। ऐसे दम्भी मनुष्योंको अपने दुष्कर्मोंका कुफल भोगनेके लिये बाध्य होकर कूकर-शूकर आदि नीच योनियोंमें और रौरव-कुम्भीपाकादि नरकोंमें जाकर भीषण यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं। यही उनका विनाशशील देवताओंकी उपासना करनेवालोंकी अपेक्षा भी अधिकतर घोर अन्धकारमें प्रवेश करना है ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यको समझकर सम्भूति और असम्भूतिकी उपासना करनेसे जो सर्वोत्तम परिणाम होता है, अब संकेतसे उसका वर्णन करते हैं—

---

* कुछ महानुभावोंने इसका यह भावार्थ माना है—

अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म यानी 'मृत्यु' शब्दवाच्य स्वाभाविक कर्म और ज्ञान—इन दोनोंको तरकर, विद्या अर्थात् देवताज्ञानसे अमृत यानी देवात्मभावको प्राप्त हो जाता है। इस देवात्मभावकी प्राप्तिको ही अमृत कहा जाता है।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

सम्भवात्=अविनाशी ब्रह्मकी उपासनासे; **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल; **आहुः**=बतलाते हैं; (और) **असम्भवात्**=विनाशशील देव-पितरादिकी उपासनासे; **अन्यत्**=दूसरा (ही) फल; **आहुः**=बतलाते हैं; **इति**=इस प्रकार; (हमने) **धीराणाम्**=(उन) धीर पुरुषोंके; **शुश्रुम**=वचन सुने हैं; **ये**=जिन्होंने; **नः**=हमें; **तत्**=उस विषयको; **विचचक्षिरे**=व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १३ ॥

व्याख्या—अविनाशी ब्रह्मकी उपासनाका यथार्थ स्वरूप है—परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वाधार, सर्वमय, सम्पूर्ण संसारके कर्ता, धर्ता, हर्ता, नित्य अविनाशी समझना और भक्ति-श्रद्धा तथा प्रेमपरिपूरित हृदयसे नित्य-निरन्तर उनके दिव्य परम मधुर नाम, रूप, लीला, धाम तथा प्राकृत गुणरहित एवं दिव्य गुणगणमय सच्चिदानन्दघन स्वरूपका श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करते रहना । इस प्रकारकी सच्ची उपासनासे उपासकको शीघ्र ही अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्राप्ति हो जाती है (गीता ९ । ३४) । ईश्वरोपासनाका मिथ्या स्वाँग भरनेवाले दम्भियोंको जो फल मिलता है, उससे इन सच्चे उपासकोंको मिलनेवाला यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इसी प्रकार विनाशी देवता आदिकी उपासनाका यथार्थ स्वरूप है—शास्त्रोंके एवं श्रीभगवान्‌के आज्ञानुसार (गीता १७ । १४) देवता, पितर, ब्राह्मण, माता-पिता, आचार्य और ज्ञानी महापुरुषोंकी अवश्यकर्तव्य समझकर सेवा-पूजादि करना और उसको भगवान्‌की आज्ञाका पालन एवं उनकी परम सेवा समझना । इस प्रकार निष्कामभावसे अन्य देवताओंकी सेवा-पूजा करनेवालोंके अन्तःकरणकी शुद्धि होती है तथा श्रीभगवान्‌की कृपा एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है, जिससे वे मृत्युमय संसारसागरसे तर जाते हैं । विनाशशील देवता आदिकी सकाम उपासनासे जो फल मिलता है, उससे यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इस प्रकार हमने उन धीर तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक्-पृथक् रूपसे व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे सम्भूति और असम्भूति दोनोंके तत्त्वको एक साथ भलीभाँति समझनेका फल स्पष्ट बतलाते हैं—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

यः=जो मनुष्य; **तत् उभयम्**=उन दोनोंको; (अर्थात्) **सम्भूतिम्**=अविनाशी परमेश्वरको; **च**=और; **विनाशम्**=विनाशशील देवादिको; **च**=भी; **सह**=साथ-साथ; **वेद**=यथार्थतः जान लेता है; **विनाशेन**=(वह) विनाशशील देवादिकी उपासनासे; **मृत्युम्**=मृत्युको; **तीर्त्वा**=पार करके; **सम्भूत्या**=अविनाशी परमेश्वरकी उपासनासे; **अमृतम्**=अमृतको; **अश्नुते**=भोग करता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य यह समझ लेता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम नित्य अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वाधिपति, सर्वात्मा और सर्वश्रेष्ठ हैं, वे परमेश्वर नित्य निर्गुण (प्राकृत गुणोंसे सर्वथा रहित) और नित्य सगुण (स्वरूपभूत दिव्यकल्याणगुणगणविभूषित) हैं । और इसीके साथ जो यह भी समझ लेता है कि देवता, पितर, मनुष्य आदि जितनी भी योनियाँ तथा भोगसामग्रियाँ हैं, सभी विनाशशील, क्षणभङ्गुर और जन्म-मृत्युशील होनेके कारण महान् दुःखकी कारण हैं; तथापि इनमें जो सत्ता-स्फूर्ति तथा शक्ति है, वह सभी भगवान्‌की है और भगवान्‌के जगच्चक्रके सुचारुरूपसे चलते रहनेके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ ही इनकी यथास्थान यथायोग्य सेवा-पूजा आदि करनेकी शास्त्रोंने आज्ञा दी है और शास्त्र भगवान्‌की ही वाणी हैं । वह मनुष्य इहलौकिक तथा पारलौकिक देव-पितरादि लोकोंके भोगोंमें आसक्त न होकर कामना-ममता आदिको हृदयसे निकालकर इन सबकी यथायोग्य शास्त्रविहित सेवा-पूजादि करता है । इससे उसकी जीवन-

यात्रा सुखपूर्वक चलती है;* और उसके आभ्यन्तरिक विकारोंका नाश होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है एवं भगवत्कृपासे वह सहज ही मृत्युमय संसार-सागरको तर जाता है। विनाशशील देवता आदिकी निष्काम उपासनाके साथ-ही-साथ अविनाशी परात्पर प्रभुकी उपासनासे वह शीघ्र ही अमृतरूप परमेश्वरको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है † ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—श्रीपरमेश्वरकी उपासना करनेवालेको परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, यह कहा गया है। अतः भगवानके भक्तको अन्तकालमें परमेश्वरसे उनकी प्राप्तिके लिये किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पूषन्=हे सबका भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर; **सत्यस्य**=सत्यस्वरूप आप सर्वेश्वरका; **मुखम्**=श्रीमुख; **हिरण्मयेन**=ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप; **पात्रेण**=पात्रसे; **अपिहितम्**=ढका हुआ है; **सत्यधर्माय**=आपकी भक्तिरूप सत्य-धर्मका अनुष्ठान करनेवाले मुझको; **दृष्टये**=अपने दर्शन करानेके लिये; **तत्**=उस आवरणको; **त्वम्**=आप; **अपावृणु**=हटा लीजिये ॥ १५ ॥

व्याख्या—भक्त इस प्रकार प्रार्थना करे कि हे भगवन् ! आप अखिल ब्रह्माण्डके पोषक हैं, आपसे ही सबको पुष्टि प्राप्त होती है। आपकी भक्ति ही सत्य धर्म है और मैं उसमें लगा हुआ हूँ; अतएव मेरी पुष्टि—मेरे मनोरथकी पूर्ति तो आप अवश्य ही करेंगे। आपका दिव्य श्रीमुख—सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकाशमय सूर्यमण्डलसे चमचमाती हुई ज्योतिर्मयी यवनिकासे आवृत है। मैं आपका निरावरण प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता हूँ, अतएव आपके पास पहुँचकर आपका निरावरण दर्शन करनेमें बाधा देनेवाले जितने भी, जो भी आवरण—प्रतिबन्धक हों, उन सबको मेरे लिये आप हटा लीजिये ! अपने सच्चिदानन्दस्वरूपको प्रत्यक्ष प्रकट कीजिये ‡ ॥ १५ ॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

पूषन्=हे भक्तोंका पोषण करनेवाले; **एकर्षे**=हे मुख्य ज्ञानस्वरूप; **यम**=हे सबके नियन्ता; **सूर्य**=हे भक्तों या ज्ञानियों (सूरियों) के परम लक्ष्यरूप; **प्राजापत्य**=हे प्रजापतिके प्रिय; **रश्मीन्**=इन रश्मियोंको; **व्यूह**=एकत्र कीजिये या हटा लीजिये; **तेजः**=इस तेजको; **समूह**=समेट लीजिये या अपने तेजमें मिला लीजिये; **यत्**=जो; **ते**=आपका; **कल्याणतमम्**=अतिशय कल्याणमय; **रूपम्**=दिव्य स्वरूप है; **तत्**=उस; **ते**=आपके दिव्य स्वरूपको; **पश्यामि**=मैं आपकी कृपासे ध्यानके द्वारा देख रहा हूँ; **यः**=जो; **असौ**=वह (सूर्यका आत्मा) है; **असौ**=वह; **पुरुषः**=परम पुरुष (आपका ही स्वरूप है); **अहम्**=मैं (भी); **सः अस्मि**=वही हूँ ॥ १६ ॥

व्याख्या—भगवन् ! आप अपनी सहज कृपासे भक्तोंके भक्ति-साधनमें पुष्टि प्रदान करके उनका पोषण करनेवाले हैं; आप समस्त ज्ञानियोंमें अग्रगण्य, परम ज्ञानस्वरूप तथा अपने भक्तोंको अपने स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्रदान करनेवाले हैं (गीता १० । १२); आप सबका यथायोग्य नियमन, नियन्त्रण और शासन करनेवाले हैं; आप ही भक्तों या ज्ञानी महापुरुषोंके लक्ष्य हैं और अविज्ञेय होनेपर भी अपने भक्तवत्सल स्वभावके कारण भक्तिके द्वारा उनके जाननेमें आ

* कई आदरणीय महानुभावोंने असम्भूतिका अर्थ 'अव्याकृत प्रकृति' और सम्भूतिका अर्थ 'कार्यब्रह्म' किया है। एवं कहा है कि कार्यब्रह्मकी उपासनासे अधर्म तथा कामनादि दोषजनित अनैश्वर्यरूप मृत्युको पार करके, हिरण्यगर्भकी उपासनासे अणिमादि ऐश्वर्यकी प्राप्तिरूप फल मिलता है। अतएव उससे अनैश्वर्य आदि मृत्युको पार करके इस अव्यक्तोपासनासे प्रकृतिलयरूप अमृत प्राप्त कर लेता है।

† कुछ अन्य महानुभावोंने असम्भूतिका अर्थ 'संहारकर्त्ता' और सम्भूतिका 'सृष्टिकर्त्ता' माना है।

‡ एक महानुभावने इस मन्त्रका यह अर्थ किया है—

हे पूर्ण परमात्मन् ! सोनेके ढकनेसे (सोनेके समान मन-लुभावने विषयरूपी मायाके परदेसे) तुझ सत्यका मुख ढका हुआ है अर्थात् हम विषयोंमें फँसे हुए हैं। हे सबके पोषक ! उस ढकनेको मुझ सत्य-परायण साधकके लिये तू उठा दे, जिससे मैं दर्शन कर सकूँ।

जाते हैं; आप प्रजापतिके भी प्रिय हैं। हे प्रभो! इस सूर्यमण्डलकी तप्त रश्मियोंको एकत्र करके अपनेमें लुप्त कर लीजिये। इसके उग्र तेजको समेटकर अपनेमें मिला लीजिये और मुझे अपने दिव्यरूपके प्रत्यक्ष दर्शन कराइये। अभी तो मैं आपकी कृपासे आपके सौन्दर्य-माधुर्य-निधि दिव्य परम कल्याणरूप सच्चिदानन्दस्वरूपका ध्यान-दृष्टिसे दर्शन कर रहा हूँ, साथ ही बुद्धिके द्वारा समझ भी रहा हूँ कि वही आप परम पुरुष इस सूर्यके और समस्त विश्वके आत्मा हैं। अतः आपके लिये जो वह सूर्यमण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं भी हूँ। उस पुरुषमें और मुझमें किसी प्रकारका भेद नहीं है *॥ १६ ॥

सम्बन्ध—ध्यानके द्वारा भगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपके दर्शन करता हुआ साधक अब भगवान्‌की साक्षात् सेवामें पहुँचनेके लिये व्यग्र हो रहा है और शरीरका त्याग करते समय सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरके सर्वथा विघटनकी भावना करता हुआ भगवान्‌से प्रार्थना करता है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर॥ १७॥

अथ=अब; **वायुः**=ये प्राण और इन्द्रियाँ; **अमृतम्**=अविनाशी; **अनिलम्**=समष्टि वायु-तत्त्वमें; (**प्रविशतु**=प्रविष्ट हो जायँ;) **इदम्**=यह; **शरीरम्**=स्थूल शरीर; **भस्मान्तम्**=अग्निमें जलकर भस्मरूप; (**भूयात्**=हो जाय;) **ॐ**=हे सच्चिदानन्दघन; **क्रतो**=यज्ञमय भगवन्; **स्मर**=(आप मुझ भक्तको) स्मरण करें; **कृतम्**=मेरे द्वारा किये हुए कर्मोंका; **स्मर**=स्मरण करें; **क्रतो**=हे यज्ञमय भगवन्; **स्मर**=(आप मुझ भक्तको) स्मरण करें; **कृतम्**=(मेरे) कर्मोंको; **स्मर**=स्मरण करें॥ १७॥

व्याख्या—परमधामका यात्री वह साधक अपने प्राण, इन्द्रिय और शरीरको अपनेसे सर्वथा भिन्न समझकर उन सबको उनके अपने-अपने उपादान तत्त्वोंमें सदाके लिये विलीन करना एवं सूक्ष्म और स्थूल-शरीरका सर्वथा विघटन करना चाहता है। इसलिये कहता है कि प्राणादि समष्टिवायु आदिमें प्रविष्ट हो जायँ और स्थूल शरीर जलकर भस्म हो जाय। फिर वह अपने आराध्य देव परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीभगवान्‌से प्रार्थना करता है कि हे यज्ञमय विष्णु—सच्चिदानन्द विज्ञानस्वरूप परमेश्वर! आप अपने निजजन मुझको और मेरे कर्मोंको स्मरण कीजिये। आप स्वभावसे ही मेरा और मेरे द्वारा बने हुए भक्तिरूप कार्योंका स्मरण करेंगे; क्योंकि आपने कहा है, 'अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्'—मैं अपने भक्तका स्मरण करता हूँ और उसे परम गतिमें पहुँचा देता हूँ, अपनी सेवामें स्वीकार कर लेता हूँ; क्योंकि यही सर्वश्रेष्ठ गति है।

इसी अभिप्रायसे भक्त यहाँ दूसरी बार फिर कहता है कि भगवन्! आप मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण कीजिये। अन्तकालमें मैं आपकी स्मृतिमें आ गया तो फिर निश्चय ही आपकी सेवामें शीघ्र पहुँच जाऊँगा †॥ १७॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपने आराध्यदेव परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌से प्रार्थना करके अब साधक अपुनरावर्ती अर्चि आदि मार्गके द्वारा परम धाममें जाते समय उस मार्गके अग्नि-अभिमानी देवतासे प्रार्थना करता है—

* एक आदरणीय विद्वान्‌ने १६ वें मन्त्रका यह अर्थ किया है—

हे जगत्‌का पोषण करनेवाले पूषन्! अकेले विचरण करनेवाले एकर्षे! सबका नियमन करनेवाले यम! प्राण और रसोंका शोषण करनेवाले सूर्य! प्रजापति-पुत्र प्राजापत्य! अपनी किरणोंको हटा लो, अपने तेजको समेट लो। तुम्हारा जो परम कल्याणमय और अत्यन्त शोभन स्वरूप है, उसे तुम आत्माकी कृपासे मैं देखता हूँ। तथा यह मैं तुमसे सेवककी भाँति याचना नहीं करता; क्योंकि यह जो व्याहृतिरूप अङ्गोंवाला आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है—जो पुरुषाकार होनेसे अथवा जो प्राण और बुद्धिरूपसे सम्पूर्ण जगत्‌को पूर्ण किये हुए है या जो शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण पुरुष है—वह मैं ही हूँ॥ १६॥

अनुसार सत्यात्मक अग्निनामक ब्रह्म ही अभेदरूपसे कहा गया है; क्योंकि ॐ उसका प्रतीक है। हे क्रतो—संकल्पात्मक मन! तू इस समय जो मेरा स्मरणीय है, उसका स्मरण कर; अब यह उसका समय उपस्थित हो गया है, अतः तू स्मरण कर। 'क्रतो स्मर कृतं स्मर'की पुनरुक्ति यहाँ आदरके लिये है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

अग्ने=हे अग्निके अधिष्ठातृ देवता !; **अस्मान्**=हमें; **राये**=परम धनरूप परमेश्वरकी सेवामें पहुँचानेके लिये; **सुपथा**=सुन्दर शुभ (उत्तरायण) मार्गसे; **नय**=(आप) ले चलिये; **देव**=हे देव; (आप हमारे) **विश्वानि**=सम्पूर्ण; **वयुनानि**=कर्मोंको; **विद्वान्**=जाननेवाले हैं; (अतः) **अस्मत्**=हमारे; **जुहुराणम्**=इस मार्गके प्रतिबन्धक; **एनः**=(यदि कोई) पाप हैं (तो उन सबको); **युयोधि**=(आप) दूर कर दीजिये; **ते**=आपको; **भूयिष्ठाम्**=बार-बार; **नमउक्तिम्**=नमस्कारके वचन; **विधेम**=(हम) कहते हैं—बार-बार नमस्कार करते हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या—साधक कहता है—हे अग्निदेवता ! मैं अब अपने परम प्रभु भगवान्‌की सेवामें पहुँचना और सदाके लिये उन्हींकी सेवामें रहना चाहता हूँ । आप शीघ्र ही मुझे परम सुन्दर मङ्गलमय उत्तरायणमार्गसे भगवान्‌के परमधाममें पहुँचा दीजिये । आप मेरे कर्मोंको जानते हैं । मैंने जीवनमें भगवान्‌की भक्ति की है और उनकी कृपासे इस समय भी मैं ध्याननेत्रोंसे उनके दिव्य स्वरूपके दर्शन और उनके नामोंका उच्चारण कर रहा हूँ । मेरा अधिकार है कि मैं इसी मार्गसे जाऊँ । तथापि यदि आपके ध्यानमें मेरा कोई ऐसा कर्म शेष हो, जो इस मार्गमें प्रतिबन्धकरूप हो, तो आप कृपा करके उसे नष्ट कर दीजिये । मैं आपको बार-बार विनयपूर्वक नमस्कार करता हूँ *† ॥ १८ ॥

॥ यजुर्वेदीय ईशावास्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

इसका अर्थ ईशावास्योपनिषद्‌के प्रारम्भमें दिया जा चुका है ।

---

* इस मन्त्रका भावार्थ एक सज्जन इस प्रकार करते हैं—

हे सबके अग्रणी (जगद्गुरो) ! तू हमें धनके लिये—लोक और परलोकके सुखके लिये नेकीके रास्तेसे चला । हे सबके अन्तर्यामी प्रकाशमान ! तू हमारे सब ज्ञानोंको जाननेवाला है । हमसे अच्छे मार्गमें बाधा देनेवाले कुटिल पापको दूर कर । हम तुझे बार-बार नमस्कार करते हैं ।

† इस उपनिषद्‌का पंद्रहवाँ और सोलहवाँ मन्त्र सबके लिये मननीय है । उन मन्त्रोंके भावके अनुसार सबको भगवान्‌से दर्शन देनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये । 'सत्यधर्माय दृष्टये' का यह भाव भी समझना चाहिये कि 'भगवन् ! आप अपने स्वरूपका वह आवरण—वह परदा हटा दीजिये, जिससे सत्यधर्मरूप आप परमेश्वरकी प्राप्ति तथा आपके मङ्गलमय श्रीविग्रहका दर्शन हो सके । इसी प्रकार सत्रहवें और अठारहवें मन्त्रके भावका भी प्रत्येक मनुष्यको विशेषतः मुमूर्षु अवस्थामें अवश्य स्मरण करना चाहिये । इन मन्त्रोंके अनुसार अन्तकालमें भगवान्‌की प्रार्थना करनेसे मनुष्यमात्रका कल्याण हो सकता है । भगवान्‌ने स्वयं भी गीतामें कहा है—'अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् । यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥' मुमूर्षुमात्रके लाभके लिये इन दो मन्त्रोंका भावार्थ इस प्रकार है—'हे परमात्मन् ! मेरे ये इन्द्रिय और प्राण आदि अपने-अपने कारण-तत्त्वोंमें लीन हो जायँ और मेरा यह स्थूल शरीर भी भस्म हो जाय । इनके प्रति मेरे मनमें किञ्चित् भी आसक्ति न रहे । हे यज्ञमय विष्णो ! आप कृपा करके मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण करें । आपके स्मरण कर लेनेसे मैं और मेरे कर्म सब पवित्र हो जायँगे । फिर तो मैं अवश्य ही आपके चरणोंकी सेवामें पहुँच जाऊँगा ॥ १७ ॥ हे अग्निस्वरूप परमेश्वर ! आप ही मेरे धन हैं—सर्वस्व हैं, अतः आपकी ही प्राप्तिके लिये आप मुझे उत्तम मार्गसे अपने चरणोंके समीप पहुँचाइये । मेरे जितने भी शुभाशुभ कर्म हैं, वे आपसे छिपे नहीं हैं, आप सबको जानते हैं, मैं उन कर्मोंके बलपर आपको नहीं पा सकता; आप स्वयं ही दया करके मुझे अपना लीजिये । आपकी प्राप्तिमें जो भी प्रतिबन्धक पाप हों उन सबको आप दूर कर दें; मैं बारंबार आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥'

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

केनोपनिषद्

यह उपनिषद् सामवेदके 'तलवकार ब्राह्मण'के अन्तर्गत है। तलवकारको जैमिनीय उपनिषद् भी कहते हैं। 'तलवकार ब्राह्मण' के अस्तित्वके सम्बन्धमें कुछ पाश्चात्य विद्वानोंको सन्देह हो गया था, परन्तु डा० बर्नेलको कहींसे एक प्राचीन प्रति मिल गयी, तबसे वह सन्देह जाता रहा। इस उपनिषद्में सबसे पहले 'केन' शब्द आया है, इसीसे इसका 'केनोपनिषद्' नाम पड़ गया। इसे 'तलवकार उपनिषद्' और 'ब्राह्मणोपनिषद्' भी कहते हैं। तलवकार ब्राह्मणका यह नवम अध्याय है। इसके पूर्वके आठ अध्यायोंमें अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये विभिन्न कर्म और उपासनाओंका वर्णन है। इस उपनिषद्का प्रतिपाद्य विषय परब्रह्म-तत्त्व बहुत ही गहन है, अतएव उसको भलीभाँति समझानेके लिये गुरु-शिष्य-संवादके रूपमें तत्त्वका विवेचन किया गया है।

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ=हे परब्रह्म परमात्मन्; **मम**=मेरे; **अङ्गानि**=सम्पूर्ण अङ्ग; **वाक्**=वाणी; **प्राणः**=प्राण; **चक्षुः**=नेत्र; **श्रोत्रम्**=कान; **च**=और; **सर्वाणि**=सब; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ; **अथो**=तथा; **बलम्**=शक्ति; **आप्यायन्तु**=परिपुष्ट हों; **सर्वम्**=(यह जो) सर्वरूप; **औपनिषदम्**=उपनिषद्-प्रतिपादित; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **अहम्**=मैं; **ब्रह्म**=इस ब्रह्मको; **मा निराकुर्याम्**=अस्वीकार न करूँ; (और) **ब्रह्म**=ब्रह्म; **मा**=मुझको; **मा निराकरोत्**=परित्याग न करे; **अनिराकरणम्**=(उसके साथ मेरा) अटूट सम्बन्ध; **अस्तु**=हो; **मे**=मेरे साथ; **अनिराकरणम्**=(उसका) अटूट सम्बन्ध; **अस्तु**=हो; **उपनिषत्सु**=उपनिषदोंमें प्रतिपादित; **ये**=जो; **धर्माः**=धर्मसमूह हैं; **ते**=वे सब; **तदात्मनि**=उस परमात्मामें; **निरते**=लगे हुए; **मयि**=मुझमें; **सन्तु**=हों; **ते**=वे सब; **मयि**=मुझमें; **सन्तु**=हों। ॐ=हे परमात्मन्; **शान्तिः शान्तिः शान्तिः**=त्रिविध तापोंकी निवृत्ति हो।

व्याख्या—हे परमात्मन्! मेरे सारे अङ्ग, वाणी, नेत्र-श्रोत्र आदि सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणसमूह, शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा ओज—सब पुष्टि एवं वृद्धिको प्राप्त हों। उपनिषदोंमें सर्वरूप ब्रह्मका जो स्वरूप वर्णित है, उसे मैं कभी अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म भी मेरा कभी प्रत्याख्यान न करे। मुझे सदा अपनाये रक्खे। मेरे साथ ब्रह्मका और ब्रह्मके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध बना रहे। उपनिषदोंमें जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है, वे सारे धर्म, उपनिषदोंके एकमात्र लक्ष्य परब्रह्म परमात्मामें निरन्तर लगे हुए मुझ साधकमें सदा प्रकाशित रहें, मुझमें नित्य-निरन्तर बने रहें। और मेरे त्रिविध तापोंकी निवृत्ति हो।

सम्बन्ध—शिष्य गुरुदेवसे पूछता है—

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

केन=किसके द्वारा; **इषितम्**=सत्ता-स्फूर्ति पाकर; (और) **प्रेषितम्**=प्रेरित—सञ्चालित होकर (यह); **मनः**=मन (अन्तःकरण); **पतति**=अपने विषयोंमें गिरता है—उनतक पहुँचता है; **केन**=किसके द्वारा; **युक्तः**=नियुक्त होकर; **प्रथमः**=अन्य सबसे श्रेष्ठ; **प्राणः**=प्राण; **प्रैति**=चलता है; **केन**=किसके द्वारा; **इषिताम्**=क्रियाशील की हुई; **इमाम्**=इस;

वाचम्=वाणीको; **वदन्ति**=लोग बोलते हैं; **कः**=(और) कौन; **उ**=प्रसिद्ध; **देवः**=देव; **चक्षुः**=नेत्रेन्द्रिय (और); **श्रोत्रम्**=कर्णेन्द्रियको; **युनक्ति**=नियुक्त करता है (अपने-अपने विषयोंके अनुभवमें लगाता है) ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें चार प्रश्न हैं। इनमें प्रकारान्तरसे यह पूछा गया है कि जडरूप अन्तःकरण, प्राण, वाणी आदि कर्मेन्द्रिय और चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियोंको अपना-अपना कार्य करनेकी योग्यता प्रदान करनेवाला और उन्हें अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त करनेवाला जो कोई एक सर्वशक्तिमान् चेतन है, वह कौन है ? और कैसा है ? ॥ १ ॥

सम्बन्ध—इसके उत्तरमें गुरु कहते हैं—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

यत्=जो; **मनसः**=मनका; **मनः**=मन अर्थात् कारण है; **प्राणस्य**=प्राणका; **प्राणः**=प्राण है; **वाचः**=वाक्-इन्द्रियका; **वाचम्**=वाक् है; **श्रोत्रस्य**=श्रोत्रेन्द्रियका; **श्रोत्रम्**=श्रोत्र है; **उ**=और; **चक्षुषः**=चक्षु-इन्द्रियका; **चक्षुः**=चक्षु है; **सः**=वह; **ह**=ही (इन सबका प्रेरक परमात्मा है); **धीराः**=ज्ञानीजन (उसे जानकर); **अतिमुच्य**=जीवन्मुक्त होकर; **अस्मात्**=इस; **लोकात्**=लोकसे; **प्रेत्य**=जानेके बाद (मृत्युके अनन्तर); **अमृताः**=अमर (जन्म-मृत्युसे रहित); **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें गुरु शिष्यके प्रश्नोंका स्पष्ट उत्तर न देकर 'जो श्रोत्रका भी श्रोत्र है' इत्यादि शब्दोंके द्वारा संकेतसे समझा रहे हैं कि जो इन मन, प्राण और सम्पूर्ण इन्द्रियोंका—समस्त जगत्का परम कारण है, जिससे ये सब उत्पन्न हुए हैं, जिसकी शक्तिको पाकर ये सब अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ हो रहे हैं और जो इन सबको जाननेवाला है, वह परब्रह्म पुरुषोत्तम ही इन सबका प्रेरक है। उसे जानकर ज्ञानीजन जीवन्मुक्त होकर इस लोकसे प्रयाण करनेके अनन्तर अमृतस्वरूप—विदेहमुक्त हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मृत्युसे सदाके लिये छूट जाते हैं ॥ २ ॥

सम्बन्ध—वह मन, प्राण और इन्द्रियोंका प्रेरक ब्रह्म 'ऐसा' है, इस प्रकार स्पष्ट न कहकर संकेतसे ही क्यों समझाया ?— इस जिज्ञासापर पुनः गुरु कहते हैं—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥ ३ ॥

तत्र=वहाँ (उस ब्रह्मतक); **न**=न तो; **चक्षुः**=चक्षु-इन्द्रिय (आदि सब ज्ञानेन्द्रियाँ); **गच्छति**=पहुँच सकती हैं; **न**=न; **वाक्**=वाक्-इन्द्रिय (आदि कर्मेन्द्रियाँ); **गच्छति**=पहुँच सकती हैं (और); **नो**=न; **मनः**=मन (अन्तःकरण) ही; (अतः) **यथा**=जिस प्रकार; **एतत्**=इस (ब्रह्मके स्वरूप) को; **अनुशिष्यात्**=बतलाया जाय कि वह ऐसा है; **न विद्मः**=(इस बातको) न तो हम स्वयं अपनी बुद्धिसे जानते हैं (और); **न विजानीमः**=न दूसरोंसे सुनकर ही जानते हैं; (क्योंकि) **तत्**=वह; **विदितात्**=जाने हुए (जाननेमें आनेवाले) पदार्थसमुदायसे; **अन्यत् एव**=भिन्न ही है; **अथो**=और; **अविदितात्**=(मन-इन्द्रियोंद्वारा) न जाने हुए (जाननेमें न आनेवाले) से (भी); **अधि**=ऊपर है; **इति**=यह; **पूर्वेषाम्**=अपने पूर्वाचार्योंके मुखसे; **शुश्रुम**=सुना है; **ये**=जिन्होंने; **नः**=हमें; **तत्**=उस ब्रह्मका तत्त्व; **व्याचचक्षिरे**=भलीभाँति व्याख्या करके समझाया था ॥ ३ ॥

व्याख्या—उन सच्चिदानन्दघन परब्रह्मको प्राकृत अन्तःकरण और इन्द्रियाँ नहीं जान सकतीं। ये वहाँतक पहुँच ही नहीं पातीं। उस अलौकिक दिव्य तत्त्वमें इनका प्रवेश ही नहीं हो सकता। बल्कि इनमें जो चेतना और क्रिया प्रतीत होती है, यह उसी ब्रह्मकी प्रेरणासे और उसीकी शक्तिसे होती है। ऐसी अवस्थामें मन-इन्द्रियोंके द्वारा कोई कैसे बतलाये कि वह ब्रह्म 'ऐसा है'। इस प्रकार ब्रह्मतत्त्वके उपदेशका कोई तरीका न तो हमने किसीके भी द्वारा सुनकर समझा है और न हम स्वयं अपनी बुद्धिसे ही विचारके द्वारा समझ रहे हैं। हमने तो जिन महापुरुषोंसे इस गूढ़ तत्त्वका उपदेश प्राप्त किया है,

उनसे यही सुना है कि वह परब्रह्म परमेश्वर जड-चेतन दोनोंसे ही भिन्न है—जाननेमें आनेवाले सम्पूर्ण दृश्य जड-वर्ग (क्षर) से तो वह सर्वथा भिन्न है और इस जड-वर्गको जाननेवाले परंतु स्वयं जाननेमें न आनेवाले जीवात्मा (अक्षर) से भी उत्तम है। ऐसी स्थितिमें उसके स्वरूपतत्त्वको वाणीके द्वारा व्यक्त करना कदापि सम्भव नहीं है। इसीसे उसको समझानेके लिये संकेतका ही आश्रय लेना पड़ता है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—अब उसी ब्रह्मको प्रश्नोंके अनुसार पुनः पाँच मन्त्रोंमें समझाते हैं—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥

यत्=जो; **वाचा**=वाणीके द्वारा; **अनभ्युदितम्**=नहीं बतलाया गया है; [**अपि तु**=बल्कि;] **येन**=जिससे; **वाक्**=वाणी; **अभ्युद्यते**=बोली जाती है अर्थात् जिसकी शक्तिसे वक्ता बोलनेमें समर्थ होता है; **तत्**=उसको; **एव**=ही; **त्वम्**=तू; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **विद्धि**=जान; **इदम् यत्**=वाणीके द्वारा बतानेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी; **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं; **इदम्**=यह; **न**=ब्रह्म नहीं है ४

व्याख्या—वाणीके द्वारा जो कुछ भी व्यक्त किया जा सकता है तथा प्राकृत वाणीसे बतलाये हुए जिस तत्त्वकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है। ब्रह्मतत्त्व वाणीसे सर्वथा अतीत है। उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिसकी शक्तिके किसी अंशसे वाणीमें प्रकाशित होनेकी—बोलनेकी शक्ति आयी है, जो वाणीका भी ज्ञाता, प्रेरक और प्रवर्तक है, वह ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी प्रेरणासे वाणी बोली जाती है, वह कौन है?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ४ ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥

यत्=जिसको; (कोई भी) **मनसा**=मनसे (अन्तःकरणके द्वारा); **न**=नहीं; **मनुते**=समझ सकता; [**अपि तु**=बल्कि;] **येन**=जिससे; **मनः**=मन; **मतम्**=(मनुष्यका) जाना हुआ हो जाता है; **आहुः**=ऐसा कहते हैं; **तत्**=उसको; **एव**=ही; **त्वम्**=तू; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **विद्धि**=जान; **इदम् यत्**=मन और बुद्धिके द्वारा जाननेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी; **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं; **इदम्**=यह; **न**=ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥

व्याख्या—बुद्धि और मनका जो कुछ भी विषय है, जो इनके द्वारा जाननेमें आ सकता है तथा प्राकृत मन-बुद्धिसे जाने हुए जिस तत्त्वकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर मन और बुद्धिसे सर्वथा अतीत है। उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो मन-बुद्धिका ज्ञाता, उनमें मनन और निश्चय करनेकी शक्ति देनेवाला तथा मनन और निश्चय करनेमें नियुक्त करनेवाला है तथा जिसकी शक्तिके किसी अंशसे बुद्धिमें निश्चय करनेकी सामर्थ्य और मनमें मनन करनेकी सामर्थ्य आयी है, वह ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी शक्ति और प्रेरणाको पाकर मन अपने ज्ञेय पदार्थोंको जानता है, वह कौन है?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ५ ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूꣳषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥

यत्=जिसको (कोई भी); **चक्षुषा**=चक्षुके द्वारा; **न**=नहीं; **पश्यति**=देख सकता; [**अपि तु**=बल्कि;] **येन**=जिससे; **चक्षूंषि**=चक्षु; (अपने विषयोंको) **पश्यति**=देखता है; **तत्**=उसको; **एव**=ही; **त्वम्**=तू; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **विद्धि**=जान; **इदम् यत्**=चक्षुके द्वारा देखनेमें आनेवाले जिस दृश्यवर्गकी; **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं; **इदम्**=यह; **न**=ब्रह्म नहीं है ॥ ६ ॥

व्याख्या—चक्षुका जो कुछ भी विषय है, जो इसके द्वारा देखने-जाननेमें आ सकता है तथा प्राकृत आँखोंसे देखे जानेवाले जिस पदार्थसमूहकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक रूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर चक्षु आदि इन्द्रियोंसे सर्वथा अतीत है। उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिसकी शक्ति और प्रेरणासे चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ होती हैं, जो इनको जाननेवाला और इन्हें अपने विषयोंको जाननेमें प्रवृत्त करनेवाला

है तथा जिसकी शक्तिके किसी अंशका यह प्रभाव है, वह ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी शक्ति और प्रेरणासे चक्षु अपने विषयोंको देखता है, वह कौन है?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ६ ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳ श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥

यत्=जिसको (कोई भी); **श्रोत्रेण**=श्रोत्रके द्वारा; **न**=नहीं; **शृणोति**=सुन सकता; [**अपि तु**=बल्कि;] **येन**=जिससे; **इदम्**=यह; **श्रोत्रम्**=श्रोत्र-इन्द्रिय; **श्रुतम्**=सुनी हुई है; **तत्**=उसको; **एव**=ही; **त्वम्**=तू; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **विद्धि**=जान; **इदम् यत्**=श्रोत्र-इन्द्रियके द्वारा जाननेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी; **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं; **इदम्**=यह; **न**=ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो कुछ भी सुननेमें आनेवाला पदार्थ है तथा प्राकृत कानोंसे सुने जानेवाले जिस वस्तु-समुदायकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर श्रोत्रेन्द्रियसे सर्वथा अतीत है। उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो श्रोत्र-इन्द्रियका ज्ञाता, प्रेरक और उसमें सुननेकी शक्ति देनेवाला है तथा जिसकी शक्तिके किसी अंशसे श्रोत्र-इन्द्रियमें शब्दको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य आयी है, वह ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी शक्ति और प्रेरणासे श्रोत्र अपने विषयोंको सुननेमें प्रवृत्त होता है, वह कौन है?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ७ ॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

यत्=जो; **प्राणेन**=प्राणके द्वारा; **न प्राणिति**=चेष्टायुक्त नहीं होता; [**अपि तु**=बल्कि;] **येन**=जिससे; **प्राणः**=प्राण; **प्रणीयते**=चेष्टायुक्त होता है; **तत्**=उसको; **एव**=ही; **त्वम्**=तू; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **विद्धि**=जान; **इदम् यत्**=प्राणोंकी शक्तिसे चेष्टायुक्त दीखनेवाले जिन तत्त्वोंकी; **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं; **इदम्**=ये; **न**=ब्रह्म नहीं हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—प्राणके द्वारा जो कुछ भी चेष्टायुक्त की जानेवाली वस्तु है, तथा प्राकृत प्राणोंसे अनुप्राणित जिस तत्त्वकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर उनसे सर्वथा अतीत है। उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो प्राणका ज्ञाता, प्रेरक और उसमें शक्ति देनेवाला है, जिसकी शक्तिके किसी अंशको प्राप्त करके और जिसकी प्रेरणासे यह प्रधान प्राण सबको चेष्टायुक्त करनेमें समर्थ होता है, वही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी प्रेरणासे प्राण विचरता है, वह कौन है?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है।

सारांश यह कि प्राकृत मन, प्राण तथा इन्द्रियोंसे जिन विषयोंकी उपलब्धि होती है, वे सभी प्राकृत होते हैं; अतएव उनको परब्रह्म परमेश्वर परात्पर पुरुषोत्तमका वास्तविक स्वरूप नहीं माना जा सकता। इसलिये उनकी उपासना भी परब्रह्म परमेश्वरकी उपासना नहीं है। परब्रह्म परमेश्वरके मन-बुद्धि आदिसे अतीत स्वरूपको सांकेतिक भाषामें समझानेके लिये ही यहाँ गुरुने इन सबके ज्ञाता, शक्तिप्रदाता, स्वामी, प्रेरक, प्रवर्तक, सर्वशक्तिमान्, नित्य, अप्राकृत परम तत्त्वको ब्रह्म बतलाया है ॥ ८ ॥

प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांꣳस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ १ ॥

यदि=यदि; **त्वम्**=तू; **इति**=यह; **मन्यसे**=मानता है (कि); **सुवेद**=(मैं ब्रह्मको) भलीभाँति जान गया हूँ; **अपि**=तो; **नूनम्**=निश्चय ही; **ब्रह्मणः**=ब्रह्मका; **रूपम्**=स्वरूप; **दभ्रम्**=थोड़ा-सा; **एव**=ही; (तू) **वेत्थ**=जानता है; (क्योंकि) **अस्य**=इस (परब्रह्म परमेश्वर) का; **यत्**=जो (आंशिक) स्वरूप; **त्वम्**=तू है; (और) **अस्य**=इसका; **यत्**=जो (आंशिक) स्वरूप; **देवेषु**=देवताओंमें है; [**तत् अल्पम् एव**=वह सब मिलकर भी अल्प ही है;] **अथ नु**=इसीलिये; **मन्ये**=मैं मानता हूँ कि; **ते विदितम्**=तेरा जाना हुआ; (स्वरूप) **मीमांस्यम् एव**=निस्सन्देह विचारणीय है ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें गुरु अपने शिष्यको सावधान करते हुए कहते हैं कि 'हमारे द्वारा संकेतसे बतलाये हुए ब्रह्मतत्त्वको सुनकर यदि तू ऐसा मानता है कि मैं उस ब्रह्मको भलीभाँति जान गया हूँ तो यह निश्चित है कि तूने ब्रह्मके स्वरूपको बहुत थोड़ा जाना है; क्योंकि उस परब्रह्मका अंशभूत जो जीवात्मा है, उसीको, अथवा समस्त देवताओंमें—यानी मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदिमें जो ब्रह्मका अंश है, जिससे वे अपना काम करनेमें समर्थ हो रहे हैं, उसको यदि तू ब्रह्म समझता है तो तेरा यह समझना यथार्थ नहीं है। ब्रह्म इतना ही नहीं है। इस जीवात्माको और समस्त विश्व-ब्रह्माण्डमें व्याप्त जो ब्रह्मकी शक्ति है, उस सबको मिलाकर भी देखा जाय तो वह ब्रह्मका एक अंश ही है। अतएव तेरा समझा हुआ यह ब्रह्मतत्त्व तेरे लिये पुनः विचारणीय है, ऐसा मैं मानता हूँ'॥ १॥

सम्बन्ध—गुरुदेवके उपदेशपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेके अनन्तर शिष्य उनके सामने अपना विचार प्रकट करता है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ २॥

अहम्=मैं; **सुवेद**=ब्रह्मको भलीभाँति जान गया हूँ; **इति न मन्ये**=यों नहीं मानता; (और) **नो**=न; **इति**=ऐसा (ही मानता हूँ कि); **न वेद**=नहीं जानता; (क्योंकि) **वेद च**=जानता भी हूँ; (किन्तु यह जानना विलक्षण है) **नः**=हम शिष्योंमेंसे; **यः**=जो कोई भी; **तत्**=उस ब्रह्मको; **वेद**=जानता है; **तत्**=(वही) मेरे उक्त वचनके अभिप्रायको; **च**=भी; **वेद**=जानता है; (कि) **वेद**=मैं जानता हूँ; (और) **न वेद**=नहीं जानता; **इति**=ये दोनों ही; **नो**=नहीं हैं॥ २॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें शिष्यने अपने गुरुदेवके प्रति संकेतसे अपना अनुभव इस प्रकार प्रकट किया है कि "उस ब्रह्मको मैं भलीभाँति जानता हूँ, यह मैं नहीं मानता और न यह ही मानता हूँ कि मैं उसे नहीं जानता। क्योंकि मैं जानता भी हूँ। तथापि मेरा यह जानना वैसा नहीं है, जैसा कि किसी ज्ञाताका किसी ज्ञेय वस्तुको जानना है। यह उससे सर्वथा विलक्षण और अलौकिक है। इसलिये मैं जो यह कह रहा हूँ कि 'मैं उसे नहीं जानता ऐसा भी नहीं, और जानता हूँ ऐसा भी नहीं; तो भी मैं उसे जानता हूँ।' मेरे इस कथनके रहस्यको हम शिष्योंमेंसे वही ठीक समझ सकता है, जो उस ब्रह्मको जानता है"॥२॥

सम्बन्ध—अब श्रुति स्वयं उपर्युक्त गुरु-शिष्य-संवादका निष्कर्ष कहती है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ ३॥

यस्य अमतम्=जिसका यह मानना है कि ब्रह्म जाननेमें नहीं आता; **तस्य**=उसका; **मतम्**=(तो वह) जाना हुआ है; (और) **यस्य**=जिसका; **मतम्**=यह मानना है कि ब्रह्म मेरा जाना हुआ है; **सः**=वह; **न**=नहीं; **वेद**=जानता; (क्योंकि) **विजानताम्**=जाननेका अभिमान रखनेवालोंके लिये; **अविज्ञातम्**=(वह ब्रह्मतत्त्व) बिना जाना हुआ है; (और) **अविजानताम्**=जिनमें ज्ञातापनका अभिमान नहीं है, उनका; **विज्ञातम्**=(वह ब्रह्मतत्त्व) जाना हुआ है अर्थात् उनके लिये वह अपरोक्ष है॥ ३॥

व्याख्या—जो महापुरुष परब्रह्म परमेश्वरका साक्षात् कर लेते हैं, उनमें किञ्चिन्मात्र भी ऐसा अभिमान नहीं रह जाता कि हमने परमेश्वरको जान लिया है। वे परमात्माके अनन्त असीम महिमा-महार्णवमें निमग्न हुए यही समझते हैं कि परमात्मा स्वयं ही अपनेको जानते हैं। दूसरा कोई भी ऐसा नहीं है, जो उनका पार पा सके। भला, असीमकी सीमा ससीम कहाँ पा सकता है? अतएव जो यह मानता है कि मैंने ब्रह्मको जान लिया है, मैं ज्ञानी हूँ; परमेश्वर मेरे ज्ञेय हैं, वह वस्तुतः सर्वथा भ्रममें है। क्योंकि ब्रह्म इस प्रकार ज्ञानका विषय नहीं है। जितने भी ज्ञानके साधन हैं, उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं जो ब्रह्मतक पहुँच सके। अतएव इस प्रकारके जाननेवालोंके लिये परमात्मा सदा अज्ञात हैं; जबतक जाननेका अभिमान रहता है, तबतक परमेश्वरका साक्षात्कार नहीं होता। परमेश्वरका साक्षात्कार उन्हीं भाग्यवान् महापुरुषोंको होता है, जिनमें जाननेका अभिमान किञ्चित् भी नहीं रह गया है॥ ३॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥ ४॥

प्रतिबोधविदितम्=उपर्युक्त प्रतिबोध (संकेत) से उत्पन्न ज्ञान ही; **मतम्**=वास्तविक ज्ञान है; **हि**=क्योंकि इससे; **अमृतत्वम्**=अमृतस्वरूप परमात्माको; **विन्दते**=मनुष्य प्राप्त करता है; **आत्मना**=अन्तर्यामी परमात्मासे; **वीर्यम्**=परमात्माको जाननेकी शक्ति (ज्ञान); **विन्दते**=प्राप्त करता है; (और उस) **विद्यया**=विद्या—ज्ञानसे; **अमृतम्**=अमृतरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको; **विन्दते**=प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त वर्णनमें परमात्माके जिस स्वरूपका लक्ष्य कराया गया था, उसको भलीभाँति समझ लेना ही वास्तविक ज्ञान है और इसी ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। परमात्माका ज्ञान करानेकी यह जो ज्ञानरूपा शक्ति है, यह मनुष्यको अन्तर्यामी परमात्मासे ही मिलती है। मन्त्रमें 'विद्यासे अमृतरूप परब्रह्मकी प्राप्ति होती है' यह इसीलिये कहा गया है कि जिससे मनुष्यमें परब्रह्म पुरुषोत्तमके यथार्थ स्वरूपको जाननेके लिये रुचि और उत्साहकी वृद्धि हो ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब उस ब्रह्मतत्त्वको इसी जन्ममें जान लेना अत्यन्त प्रयोजनीय है, यह बतलाकर इस प्रकरणका उपसंहार किया जाता है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ ५ ॥

चेत्=यदि; **इह**=इस मनुष्यशरीरमें; **अवेदीत्**=(परब्रह्मको) जान लिया; **अथ**=तब तो; **सत्यम्**=बहुत कुशल; **अस्ति**=है; **चेत्**=यदि; **इह**=इस शरीरके रहते-रहते; **न अवेदीत्**=(उसे) नहीं जान पाया (तो); **महती**=महान्; **विनष्टिः**=विनाश है; (यही सोचकर) **धीराः**=बुद्धिमान् पुरुष; **भूतेषु भूतेषु**=प्राणी-प्राणीमें (प्राणिमात्रमें); **विचित्य**=(परब्रह्म पुरुषोत्तमको) समझकर; **अस्मात्**=इस; **लोकात्**=लोकसे; **प्रेत्य**=प्रयाण करके; **अमृताः**=अमर (परमेश्वरको प्राप्त); **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—मानव-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। इसे पाकर जो मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें तत्परताके साथ नहीं लग जाता, वह बहुत बड़ी भूल करता है। अतएव श्रुति कहती है कि 'जबतक यह दुर्लभ मानवशरीर विद्यमान है, भगवत्कृपासे प्राप्त साधनसामग्री उपलब्ध है, तभीतक शीघ्र-से-शीघ्र परमात्माको जान लिया जाय तो सब प्रकारसे कुशल है—मानव-जन्मकी परम सार्थकता है। यदि यह अवसर हाथसे निकल गया तो फिर महान् विनाश हो जायगा—बार-बार मृत्युरूप संसारके प्रवाहमें बहना पड़ेगा। फिर, रो-रोकर पश्चात्ताप करनेके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रह जायगा। संसारके त्रिविध तापों और विविध शूलोंसे बचनेका यही एक परम साधन है कि जीव मानव-जन्ममें दक्षताके साथ साधनपरायण होकर अपने जीवनको सदाके लिये सार्थक कर ले। मनुष्यजन्मके सिवा जितनी और योनियाँ हैं, सभी केवल कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही मिलती हैं। उनमें जीव परमात्माको प्राप्त करनेका कोई साधन नहीं कर सकता। बुद्धिमान् पुरुष इस बातको समझ लेते हैं और इसीसे वे प्रत्येक जातिके प्रत्येक प्राणीमें परमात्माका साक्षात्कार करते हुए सदाके लिये जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटकर अमर हो जाते हैं ॥ ५ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

सम्बन्ध—प्रथम प्रकरणमें ब्रह्मका स्वरूप-तत्त्व समझानेके लिये उसकी शक्तिका सांकेतिक भाषामें विभिन्न प्रकारसे दिग्दर्शन कराया गया। द्वितीय प्रकरणमें ब्रह्मज्ञानकी विलक्षणता बतलानेके लिये यह कहा गया कि प्रथम प्रकरणके वर्णनसे आपाततः ब्रह्मका जैसा स्वरूप समझमें आता है, वस्तुतः उसका पूर्णस्वरूप वही नहीं है। वह तो उसकी महिमाका अंशमात्र है। जीवात्मा, मन, प्राण, इन्द्रियादि तथा उनके देवता—सभी उसीसे अनुप्राणित, प्रेरित और शक्तिमान् होकर कार्यक्षम होते हैं। अब इस तीसरे प्रकरणमें दृष्टान्तके द्वारा यह समझाया जाता है कि विश्वमें जो कोई भी प्राणी या पदार्थ शक्तिमान्, सुन्दर और प्रिय-प्रतीत होते हैं, उनके जीवनमें जो सफलता दीखती है, वह सभी उस परब्रह्म परमेश्वरके एक अंशकी ही महिमा है (गीता १० । ४१)। इसपर यदि कोई अभिमान करता है तो वह बहुत बड़ी भूल करता है—

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥ १ ॥

ब्रह्म=परब्रह्म परमेश्वरने; **ह**=ही; **देवेभ्यः**=देवताओंके लिये (उनको निमित्त बनाकर); **विजिग्ये**=(असुरोंपर) विजय प्राप्त की; **ह**=किन्तु; **तस्य**=उस; **ब्रह्मणः**=परब्रह्म पुरुषोत्तमकी; **विजये**=विजयमें; **देवाः**=इन्द्रादि देवताओंने; **अमहीयन्त**= अपनेमें महत्त्वका अभिमान कर लिया; **ते**=वे; **इति**=ऐसा; **ऐक्षन्त**=समझने लगे (कि); **अयम्**=यह; **अस्माकम् एव**= हमारी ही; **विजयः**=विजय है; (और) **अयम्**=यह; **अस्माकम् एव**=हमारी ही; **महिमा**=महिमा है ॥ १ ॥

व्याख्या—परब्रह्म पुरुषोत्तमने देवोंपर कृपा करके उन्हें शक्ति प्रदान की, जिससे उन्होंने असुरोंपर विजय प्राप्त कर ली। यह विजय वस्तुतः भगवान्‌की ही थी, देवता तो केवल निमित्तमात्र थे; परंतु इस ओर देवताओंका ध्यान नहीं गया और वे भगवान्‌की कृपाकी ओर लक्ष्य न करके भगवान्‌की महिमाको अपनी महिमा समझ बैठे और अभिमानवश यह मानने लगे कि हम बड़े भारी शक्तिशाली हैं एवं हमने अपने ही बल-पौरुषसे असुरोंको पराजित किया है ॥ १ ॥

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥

ह तत्=प्रसिद्ध है कि उस परब्रह्मने; **एषाम्**=इन देवताओंके; (अभिमानको) **विजज्ञौ**=जान लिया (और कृपा-पूर्वक उनका अभिमान नष्ट करनेके लिये वह); **तेभ्यः**=उनके सामने; **ह**=ही; **प्रादुर्बभूव**=साकाररूपमें प्रकट हो गया; **तत्**=उसको (यक्षरूपमें प्रकट हुआ देखकर भी); **इदम्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **किम् इति**=कौन है, इस बातको; **न व्यजानत**=(देवताओंने) नहीं जाना ॥ २ ॥

व्याख्या—देवताओंके मिथ्याभिमानको करुणावरुणालय भगवान् समझ गये। भक्त-कल्याणकारी भगवान्‌ने सोचा कि यह अभिमान बना रहा तो इनका पतन हो जायगा। भक्त-सुहृद् भगवान् भक्तोंका पतन कैसे सह सकते थे। अतः देवताओं-पर कृपा करके उनका दर्प चूर्ण करनेके लिये वे उनके सामने दिव्य साकार यक्षरूपमें प्रकट हो गये। देवता आश्चर्यचकित होकर उस अत्यन्त अद्भुत विशाल रूपको देखने और विचार करने लगे कि यह दिव्य यक्ष कौन है; पर वे उसको पहचान नहीं सके ॥ २ ॥

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति ॥ ३ ॥

ते=उन इन्द्रादि देवताओंने; **अग्निम्**=अग्निदेवसे; **इति**=इस प्रकार; **अब्रुवन्**=कहा; **जातवेदः**=हे जातवेदा; (आप जाकर) **एतत्**=इस बातको; **विजानीहि**=जानिये—इसका भलीभाँति पता लगाइये (कि); **इदम् यक्षम्**=यह दिव्य यक्ष; **किम् इति**=कौन है; (अग्निने कहा) **तथा इति**=बहुत अच्छा ॥ ३ ॥

व्याख्या—देवता उस अति विचित्र महाकाय दिव्य यक्षको देखकर मन-ही-मन सहम-से गये और उसका परिचय जाननेके लिये व्यग्र हो उठे। अग्निदेवता परम तेजस्वी हैं, वेदार्थके ज्ञाता हैं, समस्त जातपदार्थोंका पता रखते हैं और सर्वज्ञ-से हैं। इसीसे उनका गौरवयुक्त नाम 'जातवेदा' है। देवताओंने इस कार्यके लिये अग्निको ही उपयुक्त समझा और उन्होंने कहा—'हे जातवेदा! आप जाकर इस यक्षका पूरा पता लगाइये कि यह कौन है।' अग्निदेवताको अपनी बुद्धि-शक्तिका गर्व था। अतः उन्होंने कहा—'अच्छी बात है, अभी पता लगाता हूँ' ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥ ४ ॥

तत्=उसके समीप; (अग्निदेव) **अभ्यद्रवत्**=दौड़कर गया; **तम्**=उस अग्निदेवसे; **अभ्यवदत्**=(उस दिव्य यक्षने) पूछा; **कः असि इति**=(कि तुम) कौन हो; **अब्रवीत्**=(अग्निने) यह कहा (कि); **अहम्**=मैं; **वै अग्निः**=प्रसिद्ध अग्निदेव; **अस्मि इति**=हूँ; (और यह कि) **अहम् वै**=मैं ही; **जातवेदाः**=जातवेदाके नामसे; **अस्मि इति**=प्रसिद्ध हूँ ॥ ४ ॥

व्याख्या—अग्निदेवताने सोचा, इसमें कौन बड़ी बात है; और इसलिये वे तुरंत यक्षके समीप जा पहुँचे। उन्हें अपने समीप खड़ा देखकर यक्षने पूछा—आप कौन हैं? अग्निने सोचा—मेरे तेजःपुञ्ज स्वरूपको सभी पहचानते हैं, इसने कैसे नहीं जाना; अतः उन्होंने तमककर उत्तर दिया—'मैं प्रसिद्ध अग्नि हूँ, मेरा ही गौरवमय और रहस्यपूर्ण नाम जातवेदा है' ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—तब यक्षरूपी ब्रह्मने अग्निसे पूछा—

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमिति । अपीदं सर्वं दहेयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥
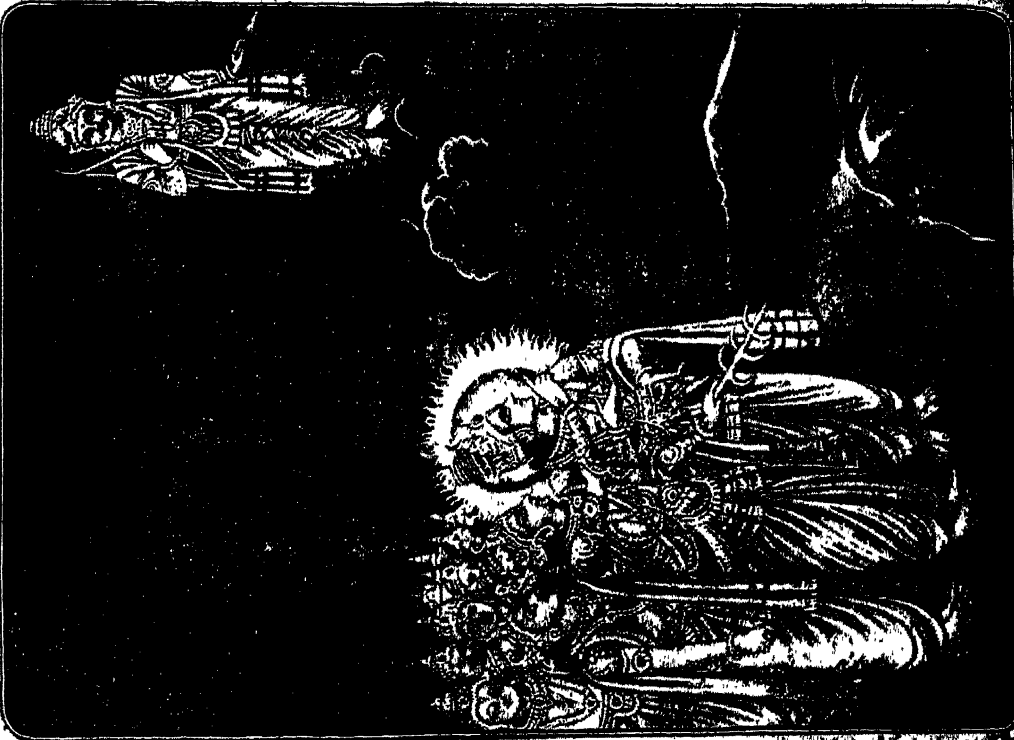
देवताओंके सामने यक्षका प्राकट्य
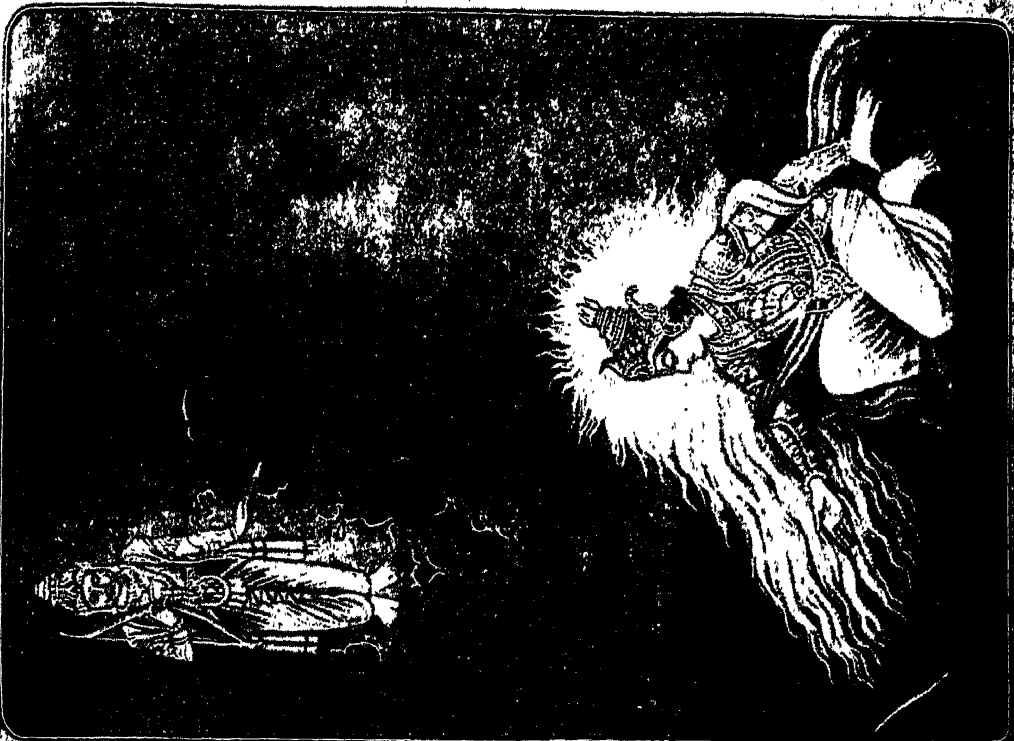
अग्निकी असमर्थता

तस्मिन् त्वयि=उक्त नामोंवाले तुझ अग्निमें; **किं वीर्यम्**=क्या सामर्थ्य है; **इति**=यह बता; (तब अग्निने यह उत्तर दिया कि) **अपि**=यदि (मैं चाहूँ तो); **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **यत् इदम्**=यह जो कुछ भी है; **इदम् सर्वम्**=इस सबको; **दहेयम् इति**=जलाकर भस्म कर दूँ ॥ ५ ॥

व्याख्या—अग्निकी गर्वोक्ति सुनकर ब्रह्मने अनजानकी भाँति कहा—'अच्छा ! आप अग्निदेवता हैं और जातवेदा—सबका ज्ञान रखनेवाले भी आप ही हैं ? बड़ी अच्छी बात है; पर यह तो बताइये कि आपमें क्या शक्ति है, आप क्या कर सकते हैं ।' इसपर अग्निने पुनः सगर्व उत्तर दिया—'मैं क्या कर सकता हूँ, इसे आप जानना चाहते हैं ? अरे, मैं चाहूँ तो इस सारे भूमण्डलमें जो कुछ भी देखनेमें आ रहा है, सबको जलाकर अभी राखका ढेर कर दूँ' ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥

(तब उस दिव्य यक्षने); **तस्मै**=उस अग्निदेवके सामने; **तृणम्**=एक तिनका; **निदधौ**=रख दिया; (और यह कहा कि) **एतत्**=इस तिनकेको; **दह इति**=जला दो; **सः**=वह (अग्नि); **सर्वजवेन**=पूर्ण शक्ति लगाकर; **तत् उपप्रेयाय**=उस तिनकेपर टूट पड़ा (परंतु); **तत्**=उसको; **दग्धुम्**=जलानेमें; **न एव शशाक**=किसी प्रकार समर्थ नहीं हुआ; **ततः**=(तब लज्जित होकर) वहाँसे; **निववृते**=लौट गया (और देवताओंसे बोला); **एतत्**=यह; **विज्ञातुम्**=जाननेमें; **न अशकम्**=मैं समर्थ नहीं हो सका (कि वस्तुतः); **एतत्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **यत् इति**=कौन है ॥ ६ ॥

व्याख्या—अग्निदेवताकी पुनः गर्वोक्ति सुनकर सबको सत्ता-शक्ति देनेवाले यक्षरूपी परब्रह्म परमेश्वरने उनके आगे एक सूखा तिनका डालकर कहा—'आप तो सभीको जला सकते हैं, तनिक-सा बल लगाकर इस सूखे तृणको जला दीजिये ।' अग्निदेवताने मानो इसको अपना अपमान समझा और वे सहज ही उस तृणके पास पहुँचे । जलाना चाहा; जब नहीं जला तो उन्होंने उसे जलानेके लिये अपनी पूरी शक्ति लगा दी । पर उसको तनिक-सी आँच भी नहीं लगी । आँच लगती कैसे । अग्निमें जो अग्नित्व है—दाहिका शक्ति है, वह तो शक्तिके मूल भंडार परमात्मासे ही मिली हुई है । वे यदि उस शक्ति-स्रोतको रोक दें तो फिर शक्ति कहाँसे आयेगी । अग्निदेव इस बातको न समझकर ही डींग हाँक रहे थे । पर जब ब्रह्मने अपनी शक्तिको रोक लिया, सूखा तिनका नहीं जल सका, तब तो उनका सिर लज्जासे झुक गया और वे हतप्रतिज्ञ और हतप्रभ होकर चुपचाप देवताओंके पास लौट आये और बोले कि 'मैं तो भलीभाँति नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है' ॥ ६ ॥

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति ॥ ७ ॥

अथ=तब; **वायुम्**=वायुदेवतासे; **अब्रुवन्**=(देवताओंने) कहा; **वायो**=हे वायुदेव ! (जाकर); **एतत्**=इस बातको; **विजानीहि**=आप जानिये—इसका भलीभाँति पता लगाइये (कि); **एतत्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **किम् इति**=कौन है; (वायुने कहा) **तथा इति**=बहुत अच्छा ! ॥ ७ ॥

व्याख्या—जब अग्निदेव असफल होकर लौट आये, तब देवताओंने इस कार्यके लिये अप्रतिमशक्ति वायुदेवको चुना और उनसे कहा कि 'वायुदेव ! आप जाकर इस यक्षका पूरा पता लगाइये कि यह कौन है ।' वायुदेवको भी अपनी बुद्धि-शक्तिका गर्व था; अतः उन्होंने भी कहा—'अच्छी बात है, अभी पता लगाता हूँ' ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति । वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ ८ ॥

तत्=उसके समीप; **अभ्यद्रवत्**=(वायुदेवता) दौड़कर गया; **तम्**=उससे (भी); **अभ्यवदत्**=(उस दिव्य यक्षने) पूछा; **कः असि इति**=(कि तुम) कौन हो; **अब्रवीत्**=(तब वायुने) यह कहा (कि); **अहम्**=मैं; **वै वायुः**=प्रसिद्ध वायुदेव; **अस्मि इति**=हूँ; (और यह कि) **अहम् वै**=मैं ही; **मातरिश्वा**=मातरिश्वाके नामसे; **अस्मि इति**=प्रसिद्ध हूँ ॥ ८ ॥

व्याख्या—वायुदेवताने सोचा, 'अग्नि कहीं भूल कर गये होंगे; नहीं तो यक्षका परिचय जानना कौन बड़ी बात थी । अस्तु, इस सफलताका श्रेय मुझको ही मिलेगा ।' यह सोचकर वे तुरंत यक्षके समीप जा पहुँचे । उन्हें अपने समीप

खड़ा देखकर यक्षने पूछा—'आप कौन हैं?' वायुने भी अपने गुण-गौरवके गर्वसे तमककर उत्तर दिया 'मैं प्रसिद्ध वायु हूँ, मेरा ही गौरवमय और रहस्यपूर्ण नाम मातरिश्वा है' ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—यक्षरूपी ब्रह्मने वायुसे पूछा—

तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमिति ? अपीदꣳ सर्वमाददीयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥

तस्मिन् त्वयि=उक्त नामोंवाले तुझ वायुमें; **किं वीर्यम्**=क्या सामर्थ्य है; **इति**=यह बता; (तब वायुने यह उत्तर दिया कि) **अपि**=यदि (मैं चाहूँ तो); **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **यत् इदम्**=यह जो कुछ भी है; **इदम् सर्वम्**=इस सबको; **आददीयम् इति**=उठा लूँ—आकाशमें उड़ा दूँ ॥ ९ ॥

व्याख्या—वायुकी भी वैसी ही गर्वोक्ति सुनकर ब्रह्मने इनसे भी वैसे ही अनजानकी भाँति कहा—'अच्छा ! आप वायुदेवता हैं और मातरिश्वा—अन्तरिक्षमें बिना ही आधारके विचरण करनेवाले भी आप ही हैं ? बड़ी अच्छी बात है ! पर यह तो बताइये कि आपमें क्या शक्ति है—आप क्या कर सकते हैं ?' इसपर वायुने भी अग्निकी भाँति ही पुनः सगर्व उत्तर दिया कि 'मैं चाहूँ तो इस सारे भूमण्डलमें जो कुछ भी देखनेमें आ रहा है, सबको बिना आधारके उठा लूँ—उड़ा दूँ' ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ॥ १० ॥

तस्मै=(तब उस दिव्य यक्षने) उस वायुदेवके सामने; **तृणम्**=एक तिनका; **निदधौ**=रख दिया; (और यह कहा कि) **एतत्**=इस तिनकेको; **आदत्स्व इति**=उठा लो—उड़ा दो; **सः**=वह (वायु); **सर्वजवेन**=पूर्ण शक्ति लगाकर; **तत् उपप्रेयाय**=उस तिनकेपर झपटा (परंतु); **तत्**=उसको; **आदातुम्**=उड़ानेमें; **न एव शशाक**=किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हुआ; **ततः**=(तब लज्जित होकर) वहाँसे; **निववृते**=लौट गया (और देवताओंसे बोला); **एतत्**=यह; **विज्ञातुम्**=जाननेमें; **न अशकम्**=मैं समर्थ नहीं हो सका (कि वस्तुतः); **एतत्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **यत् इति**=कौन है ॥ १० ॥

व्याख्या—वायुदेवताकी भी पुनः वैसी ही गर्वोक्ति सुनकर सबको सत्ता-शक्ति देनेवाले परब्रह्म परमेश्वरने उनके आगे भी एक सूखा तिनका डालकर कहा—'आप तो सभीको उड़ा सकते हैं, तनिक-सा बल लगाकर इस सूखे तृणको उड़ा दीजिये ।' वायुदेवताने भी मानो इसको अपना अपमान समझा और वे सहज ही उस तृणके पास पहुँचे, उसे उड़ाना चाहा; जब नहीं उड़ा तो उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी । परंतु शक्तिमान् परमात्माके द्वारा शक्ति रोक लिये जानेके कारण वे उसे तनिक-सा हिला भी नहीं सके और अग्निकी ही भाँति हतप्रतिज्ञ और हतप्रभ होकर लज्जासे सिर झुकाये वहाँसे लौट आये एवं देवताओंसे बोले कि 'मैं तो भलीभाँति नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है ।' ॥ १० ॥

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति । तथेति । तदभ्यद्रवत् । तस्मात् तिरोदधे ॥ ११ ॥

अथ=तदनन्तर; **इन्द्रम्**=इन्द्रसे; **अब्रुवन्**=(देवताओंने) यह कहा; **मघवन्**=हे इन्द्रदेव; **एतत्**=इस बातको; **विजानीहि**=आप जानिये—भलीभाँति पता लगाइये (कि); **एतत्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **किम् इति**=कौन है; (तब इन्द्रने यह कहा) **तथा इति**=बहुत अच्छा; **तत् अभ्यद्रवत्**=(और वे) उस यक्षकी ओर दौड़कर गये (परंतु वह दिव्य यक्ष); **तस्मात्**=उनके सामनेसे; **तिरोदधे**=अन्तर्धान हो गया ॥ ११ ॥

व्याख्या—जब अग्नि और वायु-सरीखे अप्रतिम शक्ति और बुद्धिसम्पन्न देवता असफल होकर लौट आये और उन्होंने कोई कारण भी नहीं बताया, तब देवताओंने विचार करके स्वयं देवराज इन्द्रको इस कार्यके लिये चुना और उन्होंने कहा—'हे महान् बलशाली देवराज ! अब आप ही जाकर पूरा पता लगाइये कि यह यक्ष कौन है । आपके सिवा अन्य किसीसे इस काममें सफल होनेकी सम्भावना नहीं है ।' इन्द्र 'बहुत अच्छा' कहकर तुरंत यक्षके पास गये, पर उनके वहाँ पहुँचते ही वह उनके सामनेसे अन्तर्धान हो गया । इन्द्रमें इन देवताओंसे अधिक अभिमान था; इसलिये ब्रह्मने उनको

भगवती उमा और इन्द्र

वार्तालापका तो अवसर नहीं दिया । परन्तु इस एक दोषके अतिरिक्त अन्य सब प्रकारसे इन्द्र अधिकारी थे, अतः उन्हें ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान कराना आवश्यक समझकर इसीकी व्यवस्थाके लिये वे स्वयं अन्तर्धान हो गये ॥ ११ ॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाꣳ हैमवतीं ताꣳहोवाच किमेतद् यक्षमिति ॥१२॥

सः=वे इन्द्र; **तस्मिन् एव**=उसी; **आकाशे**=आकाशप्रदेशमें (यक्षके स्थानपर ही); **बहुशोभमानाम्**=अतिशय सुन्दरी; **स्त्रियम्**=देवी; **हैमवतीम्**=हिमाचलकुमारी; **उमाम्**=उमाके पास; **आजगाम**=आ पहुँचे (और); **ताम्**=उनसे; **ह उवाच**=(सादर) यह बोले (देवि !); **एतत्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **किम् इति**=कौन था ॥ १२ ॥

व्याख्या—यक्षके अन्तर्धान हो जानेपर इन्द्र वहीं खड़े रहे, अग्नि-वायुकी भाँति वहाँसे लौटे नहीं। इतनेमें ही उन्होंने देखा कि जहाँ दिव्य यक्ष था, ठीक उसी जगह अत्यन्त शोभामयी हिमाचलकुमारी उमादेवी प्रकट हो गयी हैं। उन्हें देखकर इन्द्र उनके पास चले गये। इन्द्रपर कृपा करके करुणामय परब्रह्म पुरुषोत्तमने ही उमारूपा साक्षात् ब्रह्मविद्याको प्रकट किया था। इन्द्रने भक्तिपूर्वक उनसे कहा—'भगवती ! आप सर्वज्ञशिरोमणि ईश्वर श्रीशङ्करकी स्वरूपा-शक्ति हैं। अतः आपको अवश्य ही सब बातोंका पता है। कृपापूर्वक मुझे बतलाइये कि यह दिव्य यक्ष, जो दर्शन देकर तुरंत ही छिप गया, वस्तुतः कौन है और किस हेतुसे यहाँ प्रकट हुआ था' ॥ १२ ॥

॥ **तृतीय खण्ड समाप्त** ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति, ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥१॥

सा=उस (भगवती उमा देवी) ने; **ह उवाच**=स्पष्ट उत्तर दिया कि; **ब्रह्म इति**=(वे तो) परब्रह्म परमात्मा हैं; **ब्रह्मणः वै**=उन परमात्माकी ही; **एतद्विजये**=इस विजयमें; **महीयध्वम् इति**=तुम अपनी महिमा मानने लगे थे; **ततः एव**=उमाके इस कथनसे ही; **ह**=निश्चयपूर्वक; **विदाञ्चकार**=(इन्द्रने) समझ लिया (कि); **ब्रह्म इति**=(यह) ब्रह्म है ॥ १ ॥

व्याख्या—देवराज इन्द्रके पूछनेपर भगवती उमादेवीने इन्द्रसे कहा कि तुम जिन दिव्य यक्षको देख रहे थे और जो इस समय अन्तर्धान हो गये हैं, वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं। तुमलोगोंने जो असुरोंपर विजय प्राप्त की है, वह उन ब्रह्मकी शक्तिसे ही की है; अतएव वस्तुतः यह उन परब्रह्मकी ही विजय है। तुम तो इसमें निमित्तमात्र थे। परंतु तुमलोगोंने ब्रह्मकी इस विजयको अपनी विजय मान लिया और उनकी महिमाको अपनी महिमा समझने लगे। यह तुम्हारा मिथ्याभिमान था और जिन परम कारुणिक परमात्माने तुमलोगोंपर कृपा करके असुरोंपर तुम्हें विजय प्रदान करायी, उन्हीं परमात्माने तुम्हारे मिथ्याभिमानका नाश करके तुम्हारा कल्याण करनेके लिये यक्षके रूपमें प्रकट होकर अग्नि और वायुका गर्व चूर्ण किया एवं तुम्हें वास्तविक ज्ञान देनेके लिये मुझे प्रेरित किया। अतएव तुम अपनी स्वतन्त्र शक्तिके सारे अभिमानका त्याग करके, जिन ब्रह्मकी महिमासे महिमान्वित और शक्तिमान् बने हो, उन्हींकी महिमा समझो। स्वप्नमें भी यह भावना मत करो कि ब्रह्मकी शक्तिके बिना अपनी स्वतन्त्र शक्तिसे कोई भी कुछ कर सकता है। उमाके इस उत्तरसे देवताओंमें सबसे पहले इन्द्रको यह निश्चय हुआ कि यक्षके रूपमें स्वयं ब्रह्म ही उन लोगोंके सामने प्रकट हुए थे ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २ ॥

तस्मात् वै=इसीलिये; **एते देवाः**=ये तीनों देवता; **यत्**=जो कि; **अग्निः**=अग्नि; **वायुः**=वायु (और); **इन्द्रः**=इन्द्रके नामसे प्रसिद्ध हैं; **अन्यान्**=दूसरे (चन्द्रमा आदि); **देवान्**=देवोंकी अपेक्षा; **अतितराम् इव**=मानो अतिशय श्रेष्ठ हैं; **हि**=क्योंकि; **ते**=उन्होंने ही; **एनत् नेदिष्ठम्**=इन अत्यन्त प्रिय और समीपस्थ परमेश्वरको; **पस्पृशुः**=(दर्शनद्वारा) स्पर्श किया है; **ते हि**=(और) उन्होंने ही; **एनत्**=इनको; **प्रथमः**=सबसे पहले; **विदाञ्चकार**=जाना है (कि); **ब्रह्म इति**=ये साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—समस्त देवताओंमें अग्नि, वायु और इन्द्रको ही परम श्रेष्ठ मानना चाहिये; क्योंकि उन्हीं तीनोंने ब्रह्मका संस्पर्श प्राप्त किया है। परब्रह्म परमात्माके दर्शनका, उनका परिचय प्राप्त करनेके प्रय में प्रवृत्त होनेका और उनके साथ वार्तालापका परम सौभाग्य उन्हींको प्राप्त हुआ और उन्होंने ही सबसे पहले इस सत्यको समझा कि हमलोगोंने जिनका दर्शन प्राप्त किया है, जिनसे वार्तालाप किया है और जिनकी शक्तिसे असुरोंपर विजय प्राप्त की है, वे ही साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं।

सारांश यह कि जिन सौभाग्यशाली महापुरुषको किसी भी कारणसे भगवान्‌के दिव्य संस्पर्शका सौभाग्य प्राप्त हो गया है, जो उनके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ सदालाप करनेका सुअवसर पा चुके हैं, उनकी महिमा इस मन्त्रमें इन्द्रादि देवताओंका उदाहरण देकर की गयी है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—अब यह कहते हैं कि इन तीनों देवताओंमें भी अग्नि और वायुकी अपेक्षा देवराज इन्द्र श्रेष्ठ हैं—

तस्माद् वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श, स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

तस्मात् वै=इसीलिये; **इन्द्रः**=इन्द्र; **अन्यान् देवान्**=दूसरे देवताओंकी अपेक्षा; **अतितराम् इव**=मानो अतिशय श्रेष्ठ है; **हि**=क्योंकि; **सः**=उसने; **एनत् नेदिष्ठम्**=इन अत्यन्त प्रिय और समीपस्थ परमेश्वरको; **पस्पर्श**=(उमादेवीसे सुनकर सबसे पहले) मनके द्वारा स्पर्श किया; **स हि**=(और) उसीने; **एनत्**=इनको; **प्रथमः**=अन्यान्य देवताओंसे पहले; **विदाञ्चकार**=भलीभाँति जाना है (कि); **ब्रह्म इति**=ये साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—अग्नि तथा वायुने दिव्य यक्षके रूपमें ब्रह्मका दर्शन और उसके साथ वार्तालापका सौभाग्य तो प्राप्त किया था; परंतु उन्हें उसके स्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ था। भगवती उमाके द्वारा सबसे पहले देवराज इन्द्रको सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तमके तत्त्वका ज्ञान हुआ। तदनन्तर इन्द्रके बतलानेपर अग्नि और वायुको उनके स्वरूपका पता लगा और उसके बाद इनके द्वारा अन्य सब देवताओंने यह जाना कि हमें जो दिव्य यक्ष दिखलायी दे रहे थे, वे साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम ही हैं। इस प्रकार अन्यान्य देवताओंने केवल सुनकर जाना; परंतु उन्हें परमब्रह्म पुरुषोत्तमके साथ न तो वार्तालाप करनेका सौभाग्य मिला और न उनके तत्त्वको समझनेका ही। अतएव उन सब देवताओंसे तो अग्नि, वायु और इन्द्र श्रेष्ठ हैं; क्योंकि इन तीनोंको ब्रह्मका दर्शन और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई। परंतु इन्द्रने सबसे पहले उनके तत्त्वको समझा, इसलिये इन्द्र सबसे श्रेष्ठ माने गये ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त ब्रह्मतत्त्वको आधिदैविक दृष्टान्तके द्वारा सङ्केतसे समझाते हैं—

तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा इतीन्न्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम् ॥ ४ ॥

तस्य=उस ब्रह्मका; **एषः**=यह; **आदेशः**=साङ्केतिक उपदेश है; **यत्**=जो कि; **एतत्**=यह; **विद्युतः**=बिजलीका; **व्यद्युतत् आ**=चमकना-सा है; **इति**=इस प्रकार (क्षणस्थायी है); **इत्**=तथा जो; **न्यमीमिषत् आ**=नेत्रोंका झपकना-सा है; **इति**=इस प्रकार; **अधिदैवतम्**=यह आधिदैविक उपदेश है ॥ ४ ॥

व्याख्या—जब साधकके हृदयमें ब्रह्मको साक्षात् करनेकी तीव्र अभिलाषा जाग उठती है, तब भगवान् उसकी उत्कण्ठाको और भी तीव्रतम तथा उत्कट बनानेके लिये बिजलीके चमकने और आँखोंके झपकनेकी भाँति अपने स्वरूपकी क्षणिक झाँकी दिखलाकर छिप जाया करते हैं। पूर्वोक्त आख्यायिकामें इसी प्रकार इन्द्रके सामनेसे दिव्य यक्षके अन्तर्धान हो जानेकी बात आयी है। देवर्षि नारदको भी उनके पूर्वजन्ममें क्षणभरके लिये अपनी दिव्य झाँकी दिखलाकर भगवान् अन्तर्धान हो गये थे। यह कथा श्रीमद्भागवत (स्कं० १। ६। १९-२०)में आती है। जब साधकके नेत्रोंके सामने या उसके हृदय-देशमें पहले-पहल भगवान्‌के साकार या निराकार स्वरूपका दर्शन या अनुभव होता है, तब वह आनन्दाश्चर्यसे चकित-सा हो जाता है। इससे उसके हृदयमें अपने आराध्यदेवको नित्य-निरन्तर देखते रहने या अनुभव करते रहनेकी अनिवार्य और परम उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। फिर उसे क्षणभरके लिये भी इष्ट-साक्षात्कारके बिना शान्ति नहीं मिलती। यही बात इस मन्त्रमें आधिदैविक उदाहरणसे समझायी गयी है—ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः यहाँ बड़ी ही

गोपनीय रीतिसे ऐसे शब्दोंमें ब्रह्मतत्त्वका संकेत किया गया है कि जिसे कोई अनुभवी संत-महात्मा ही बतला सकते हैं। शब्दोंका अर्थ तो अपनी-अपनी भावनाके अनुसार विभिन्न प्रकारसे लगाया जा सकता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब इसी बातको आध्यात्मिक भावसे समझाते हैं—

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णꣳ सङ्कल्पः ॥ ५ ॥

अथ=अब; **अध्यात्मम्**=आध्यात्मिक (उदाहरण दिया जाता है); **यत्**=जो कि; **मनः**=(हमारा) मन; **एतत्**=इस (ब्रह्म) के समीप; **गच्छति इव**=जाता हुआ-सा प्रतीत होता है; **च**=तथा; **एतत्**=इस ब्रह्मको; **अभीक्ष्णम्**=निरन्तर; **उपस्मरति**=अतिशय प्रेमपूर्वक स्मरण करता है; **अनेन**=इस मनके द्वारा (ही); **संकल्पः च**=संकल्प अर्थात् उस ब्रह्मके साक्षात्कारकी उत्कट अभिलाषा भी (होती है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जब साधकको अपना मन आराध्यदेव श्रीभगवान्‌के समीपतक पहुँचता हुआ-सा दीखता है, वह अपने मनसे भगवान्‌के निर्गुण या सगुण—जिस स्वरूपका भी चिन्तन करता है, उसकी जब प्रत्यक्ष अनुभूति-सी होती है, तब स्वाभाविक ही उसका अपने उस इष्टमें अत्यन्त प्रेम हो जाता है। फिर वह क्षणभरके लिये भी अपने इष्टदेवकी विस्मृतिको सहन नहीं कर सकता। उस समय वह अतिशय व्याकुल हो जाता है ('तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'—नारदभक्तिसूत्र १९)। वह नित्य-निरन्तर प्रेमपूर्वक उसका स्मरण करता रहता है और उसके मनमें अपने इष्टको प्राप्त करनेकी अनिवार्य और परम उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। पिछले मन्त्रमें जो बात आधिदैविक दृष्टिसे कही गयी थी, वही इसमें आध्यात्मिक दृष्टिसे कही गयी है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब उस ब्रह्मकी उपासनाका प्रकार और उसका फल बतलाते हैं—

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनꣳ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥ ६ ॥

तत्=वह परब्रह्म परमात्मा; **तद्वनम्**=(प्राणिमात्रका प्रापणीय होनेके कारण) 'तद्वन'; **नाम ह**=नामसे प्रसिद्ध है; (अतः) **तद्वनम्**=वह आनन्दघन परमात्मा प्राणिमात्रकी अभिलाषाका विषय और सबका परम प्रिय है; **इति**=इस भावसे; **उपासितव्यम्**=उसकी उपासना करनी चाहिये; **सः यः**=वह जो भी साधक; **एतत्**=उस ब्रह्मको; **एवम्**=इस प्रकार (उपासनाके द्वारा); **वेद**=जान लेता है; **एनम् ह**=उसको निस्सन्देह; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **भूतानि**=प्राणी; **अभि**=सब ओरसे; **संवाञ्छन्ति**=हृदयसे चाहते हैं अर्थात् वह प्राणिमात्रका प्रिय हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—वह आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर सभीका अत्यन्त प्रिय है। सभी प्राणी किसी-न-किसी प्रकारसे उसीको चाहते हैं, परंतु पहचानते नहीं; इसीलिये वे सुखके रूपमें उसे खोजते हुए दुःखरूप विषयोंमें भटकते रहते हैं, उसे पा नहीं सकते। इस रहस्यको समझकर साधकको चाहिये कि उस परब्रह्म परमात्माको प्राणिमात्रका प्रिय समझकर उसके नित्य अचल अमल अनन्त परम आनन्दस्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करता रहे। ऐसा करते-करते जब वह आनन्दस्वरूप सर्वप्रिय परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब वह स्वयं भी आनन्दमय हो जाता है। अतः जगत्‌के सभी प्राणी उसे अपना परम आत्मीय समझकर उसके साथ हृदयसे प्रेम करने लगते हैं ॥ ६ ॥

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७ ॥

भोः=हे गुरुदेव; **उपनिषदम्**=ब्रह्मसम्बन्धी रहस्यमयी विद्याका; **ब्रूहि**=उपदेश कीजिये; **इति**=इस प्रकार (शिष्यके प्रार्थना करनेपर गुरुदेव कहते हैं कि); **ते**=तुझको (हमने); **उपनिषत्**=रहस्यमयी ब्रह्मविद्या; **उक्ता**=बतला दी; **ते**=तुझको (हम); **वाव**=निश्चय ही; **ब्राह्मीम्**=ब्रह्मविषयक; **उपनिषदम्**=रहस्यमयी विद्या; **अब्रूम**=बतला चुके हैं। **इति**=इस प्रकार (तुम्हें समझना चाहिये) ॥ ७ ॥

व्याख्या—गुरुदेवसे सांकेतिक भाषामें ब्रह्मविद्याका श्रेष्ठ उपदेश सुनकर शिष्य उसको पूर्णरूपसे हृदयङ्गम नहीं कर सका; इसलिये उसने प्रार्थना की कि 'भगवन्! मुझे उपनिषद्—रहस्यमयी ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये।' इसपर गुरुदेवने कहा—'वत्स! हम तुम्हें ब्रह्मविद्याका उपदेश कर चुके हैं। तुम्हारे प्रश्नके उत्तरमें 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' से लेकर उपर्युक्त मन्त्रतक

जो कुछ उपदेश किया है, तुम यह दृढ़रूपसे समझ लो कि यह सुनिश्चित रहस्यमयी ब्रह्मविद्याका ही उपदेश है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—ब्रह्मविद्याके सुननेमात्रसे ही ब्रह्मके स्वरूपका रहस्य समझमें नहीं आता, इसके लिये विशेष साधनोंकी आवश्यकता होती है; इसलिये अब उन प्रधान साधनोंका वर्णन करते हैं—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ८ ॥

तस्यै=उस रहस्यमयी ब्रह्मविद्याके; **तपः**=तपस्या; **दमः**=मन-इन्द्रियोंका नियन्त्रण; **कर्म**=निष्काम कर्म; **इति**=ये तीनों; **प्रतिष्ठाः**=आधार हैं; **वेदाः**=वेद; **सर्वाङ्गानि**=उस विद्याके सम्पूर्ण अङ्ग हैं अर्थात् वेदमें उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका सविस्तर वर्णन है; **सत्यम्**=सत्यस्वरूप परमेश्वर; **आयतनम्**=उसका अधिष्ठान—प्राप्तव्य है ॥ ८ ॥

व्याख्या—सुन-पढ़कर रट लिया और ब्रह्मज्ञानी हो गये। यह तो ब्रह्मविद्याका उपहास है और अपने-आपको धोखा देना है। ब्रह्मविद्यारूपी प्रासादकी नींव है—तप, दम और कर्म आदि साधन। इन्हींपर वह रहस्यमयी ब्रह्मविद्या स्थिर हो सकती है। जो साधक साधन-सम्पत्तिकी रक्षा, वृद्धि तथा स्वधर्मपालनके लिये कठिन-से-कठिन कष्टको सहर्ष स्वीकार नहीं करते, जो मन और इन्द्रियोंको भलीभाँति वशमें नहीं कर लेते और जो निष्कामभावसे अनासक्त होकर वर्णाश्रमोचित अवश्यकर्तव्य कर्मका अनुष्ठान नहीं करते, वे ब्रह्मविद्याका यथार्थ रहस्य नहीं जान पाते; क्योंकि ये ही उसे जाननेके प्रधान आधार हैं। साथ ही यह भी जानना चाहिये कि वेद उस ब्रह्मविद्याके समस्त अङ्ग हैं। वेदमें ही ब्रह्मविद्याके समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी विशद व्याख्या है, अतएव वेदोंका उसके अङ्गोंसहित अध्ययन करना चाहिये। और सत्यस्वरूप परमेश्वर अर्थात् त्रिकालाबाधित सच्चिदानन्दघन परमेश्वर ही उस ब्रह्मविद्याका परम अधिष्ठान, आश्रयस्थल और परम लक्ष्य है। अतएव उस ब्रह्मको लक्ष्य करके जो वेदानुसार उसके तत्त्वका अनुशीलन करते हुए तप, दम और निष्काम कर्म आदिका आचरण करते हुए साधन करते हैं, वे ही ब्रह्मविद्याके सार रहस्य परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त कर सकते हैं ॥ ८ ॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ ९ ॥

यः=जो कोई भी; **एताम् वै**=इस प्रसिद्ध ब्रह्मविद्याको; **एवम्**=पूर्वोक्त प्रकारसे भलीभाँति; **वेद**=जान लेता है; [**सः**=वह;] **पाप्मानम्**=समस्त पापसमूहको; **अपहत्य**=नष्ट करके; **अनन्ते**=अविनाशी, असीम; **ज्येये**=सर्वश्रेष्ठ; **स्वर्गे लोके**=परम धाममें; **प्रतितिष्ठति**=प्रतिष्ठित हो जाता है; **प्रतितिष्ठति**=सदाके लिये स्थित हो जाता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे जो उपनिषद्रूपा ब्रह्मविद्याके रहस्यको जान लेता है अर्थात् तदनुसार साधनमें प्रवृत्त हो जाता है, वह समस्त पापोंका—परमात्म-साक्षात्कारमें प्रतिबन्धकरूप समस्त शुभाशुभ कर्मोंका अशेषरूपसे नाश करके नित्य-सत्य सर्वश्रेष्ठ परमधाममें स्थित हो जाता है, कभी वहाँसे लौटता नहीं; सदाके लिये वहाँ प्रतिष्ठित हो जाता है। यहाँ 'प्रतितिष्ठति'पदका पुनः उच्चारण ग्रन्थ-समाप्तिका सूचक तो है ही, साथ ही उपदेशकी निश्चितताका प्रतिपादक भी है ॥ ९ ॥

॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥ ४ ॥

॥ सामवेदीय केनोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

इसका अर्थ केनोपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कठोपनिषद्

कठोपनिषद् उपनिषदोंमें बहुत प्रसिद्ध है। यह कृष्णयजुर्वेदकी कठ-शाखाके अन्तर्गत है। इसमें नचिकेता और यमके संवादरूपमें परमात्माके रहस्यमय तत्त्वका बड़ा ही उपयोगी और विशद वर्णन है। इसमें दो अध्याय हैं और प्रत्येक अध्यायमें तीन-तीन वल्लियाँ हैं।

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ=पूर्णब्रह्म परमात्मन्; (आप) **नौ**=हम दोनों (गुरु-शिष्य) की; **सह**=साथ-साथ; **अवतु**=रक्षा करें; **नौ**=हम दोनोंका; **सह**=साथ-साथ; **भुनक्तु**=पालन करें; **सह**=(हम दोनों) साथ-साथ ही; **वीर्यम्**=शक्ति; **करवावहै**=प्राप्त करें; **नौ**=हम दोनोंकी; **अधीतम्**=पढ़ी हुई विद्या; **तेजस्वि**=तेजोमयी; **अस्तु**=हो; **मा विद्विषावहै**=हम दोनों परस्पर द्वेष न करें।

व्याख्या—हे परमात्मन्! आप हम गुरु-शिष्य दोनोंकी साथ-साथ सब प्रकारसे रक्षा करें, हम दोनोंका आप साथ-साथ समुचितरूपसे पालन-पोषण करें, हम दोनों साथ-ही-साथ सब प्रकारसे बल प्राप्त करें, हम दोनोंकी अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो—कहीं किसीसे हम विद्यामें परास्त न हों और हम दोनों जीवनभर परस्पर स्नेह-सूत्रसे बँधे रहें, हमारे अंदर परस्पर कभी द्वेष न हो। हे परमात्मन्! तीनों तापोंकी निवृत्ति हो।

प्रथम अध्याय

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

ॐ=सच्चिदानन्दघन परमात्माका एक नाम; **ह वै**=प्रसिद्ध है कि; **उशन्**=यज्ञका फल चाहनेवाले; **वाजश्रवसः**=वाजश्रवाके पुत्र (उद्दालक) ने; **सर्ववेदसम्**=(विश्वजित् यज्ञमें) अपना सारा धन; **ददौ**=(ब्राह्मणोंको) दे दिया; **तस्य**=उसका; **नचिकेता**=नचिकेता; **नाम ह**=नामसे प्रसिद्ध; **पुत्रः**=एक पुत्र; **आस**=था ॥ १ ॥

व्याख्या—ग्रन्थके आरम्भमें परमात्माका स्मरण मङ्गलकारक है, इसलिये यहाँ सर्वप्रथम 'ॐ' कारका उच्चारण करके उपनिषद्का आरम्भ हुआ है। जिस समय भारतवर्षका पवित्र आकाश यज्ञधूम और उसके पवित्र सौरभसे परिपूर्ण रहता था, त्यागमूर्ति ऋषि-महर्षियोंके द्वारा गाये हुए वेद-मन्त्रोंकी दिव्य ध्वनिसे सभी दिशाएँ गूँजती रहती थीं, उसी समयका यह प्रसिद्ध इतिहास है। गौतमवंशीय वाजश्रवात्मज महर्षि अरुणके पुत्र अथवा अन्नके प्रचुर दानसे महान् कीर्ति पाये हुए (वाज=अन्न, श्रव=उसके दानसे प्राप्त यश) महर्षि अरुणके पुत्र उद्दालक ऋषिने फलकी कामनासे विश्वजित् नामक एक महान् यज्ञ किया। इस यज्ञमें सर्वस्व दान करना पड़ता है। अतएव उद्दालकने भी अपना सारा धन ऋत्विजों और सदस्योंको दक्षिणामें दे दिया। उद्दालकजीके नचिकेता नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र था ॥ १ ॥

तꣳह कुमारꣳसन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

दक्षिणासु नीयमानासु=(जिस समय ब्राह्मणोंको) दक्षिणाके रूपमें देनेके लिये (गौएँ) लायी जा रही थीं, उस समय; **कुमारम्**=छोटा बालक; **सन्तम्**=होनेपर भी; **तम् ह**=उस (नचिकेता) में; **श्रद्धा**=श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि) का; **आविवेश**=आवेश हो गया (और); **सः**=(उन जराजीर्ण गायोंको देखकर) वह; **अमन्यत**=विचार करने लगा ॥ २ ॥

व्याख्या—उस समय गो-धन ही प्रधान धन था और वाजश्रवस उद्दालकके घरमें इस धनकी प्रचुरता थी। ऐसा माना गया है कि होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता—ये चार प्रधान ऋत्विज होते हैं, इनको सबसे अधिक गौएँ दी जाती हैं; प्रशास्ता,

प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी और प्रस्तोता—इन चार गौण ऋत्विजोंको मुख्य ऋत्विजोंकी अपेक्षा आधी; अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र और प्रतिहर्ता—इन चार गौण ऋत्विजोंको मुख्य ऋत्विजोंकी अपेक्षा तिहाई एवं ग्रावस्तुत्, नेता, होता और सुब्रह्मण्य—इन चार गौण ऋत्विजोंको मुख्य ऋत्विजोंकी अपेक्षा चौथाई गौएँ दी जाती हैं। नियमानुसार जब इन सबको दक्षिणाके रूपमें देनेके लिये गौएँ लायी जा रही थीं, उस समय बालक नचिकेताने उनको देख लिया। उनकी दयनीय दशा देखते ही उसके निर्मल अन्तःकरणमें श्रद्धा—आस्तिकताने प्रवेश किया और वह सोचने लगा—॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

पीतोदकाः=जो (अन्तिम बार) जल पी चुकी हैं; **जग्धतृणाः**=जिनका घास खाना समाप्त हो गया है; **दुग्धदोहाः**=जिनका दूध (अन्तिम बार) दुह लिया गया है; **निरिन्द्रियाः**=जिनकी इन्द्रियाँ नष्ट हो चुकी हैं; **ताः**=ऐसी (निरर्थक मरणासन्न) गौओंको; **ददत्**=देनेवाला; **सः**=वह दाता (तो); **ते लोकाः**=वे (शूकर-कूकरादि नीच योनियाँ और नरकादि) लोक; **अनन्दाः**=जो सब प्रकारके सुखोंसे शून्य; **नाम**=प्रसिद्ध हैं; **तान्**=उनको; **गच्छति**=प्राप्त होता है (अतः पिताजीको सावधान करना चाहिये) ॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयं तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

सः ह=यह सोचकर वह; **पितरम्**=अपने पितासे; **उवाच**=बोला कि; **तत (तात)**=हे प्यारे पिताजी !; **माम्**=मुझे; **कस्मै**=(आप) किसको; **दास्यसि इति**=देंगे ?; (उत्तर न मिलनेपर उसने वही बात) **द्वितीयम्**=दुबारा; **तृतीयम्**=तिबारा (कही); **तम् ह**=(तब पिताने) उससे; **उवाच**=(इस प्रकार क्रोधपूर्वक) कहा; **त्वा**=तुझे (मैं); **मृत्यवे**=मृत्युको; **ददामि इति**=देता हूँ ॥ ४ ॥

व्याख्या—पिताजी ये कैसी गौएँ दक्षिणामें दे रहे हैं ! अब इनमें न तो झुककर जल पीनेकी शक्ति रही है, न इनके मुखमें घास चबानेके लिये दाँत ही रह गये हैं और न इनके स्तनोंमें तनिक-सा दूध ही बचा है। अधिक क्या, इनकी तो इन्द्रियाँ भी निश्चेष्ट हो चुकी हैं—इनमें गर्भधारण करनेतककी भी सामर्थ्य नहीं है ! भला, ऐसी निरर्थक और मृत्युके समीप पहुँची हुई गौएँ जिन ब्राह्मणोंके घर जायँगी, उनको दुःखके सिवा ये और क्या देंगी ? दान तो उसी वस्तुका करना चाहिये, जो अपनेको सुख देनेवाली हो, प्रिय हो और उपयोगी हो तथा वह जिनको दी जाय उन्हें भी सुख और लाभ पहुँचानेवाली हो। दुःखदायिनी अनुपयोगी वस्तुओंको दानके नामपर देना तो दानके व्याजसे अपनी विपद् टालना है और दान ग्रहण करनेवालोंको धोखा देना है। इस प्रकारके दानसे दाताको वे नीच योनियाँ और नरकादि लोक मिलते हैं, जिनमें सुखका कहीं लेश भी नहीं है। पिताजी इस दानसे क्या सुख पायेंगे ? यह तो यज्ञमें वैगुण्य है, जो इन्होंने सर्वस्व-दानरूपी यज्ञ करके भी उपयोगी गौओंको मेरे नामपर रख लिया है; और सर्वस्वमें तो मैं भी हूँ, मुझको तो इन्होंने दानमें दिया नहीं। पर मैं इनका पुत्र हूँ, अतएव मैं पिताजीको इस अनिष्टकारी परिणामसे बचानेके लिये अपना बलिदान कर दूँगा। यही मेरा धर्म है। यह निश्चय करके उसने अपने पितासे कहा—'पिताजी ! मैं भी तो आपका धन हूँ, आप मुझे किसको देते हैं ?' पिताने कोई उत्तर नहीं दिया, तब नचिकेताने फिर कहा—'पिताजी ! मुझे किसको देते हैं ?' पिताने इस बार भी उपेक्षा की। पर धर्मभीरु और पुत्रका कर्तव्य जाननेवाले नचिकेतासे नहीं रहा गया। उसने तीसरी बार फिर वही कहा—'पिताजी ! आप मुझे किसको देते हैं ?' अब ऋषिको क्रोध आ गया और उन्होंने आवेशमें आकर कहा—'तुझे देता हूँ मृत्युको !' ॥ ३-४ ॥

सम्बन्ध—यह सुनकर नचिकेता मन-ही-मन विचारने लगा कि—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किꣳस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

बहूनाम्=मैं बहुत-से शिष्योंमें तो; **प्रथमः**=प्रथम श्रेणीके आचरणपर; **एमि**=चलता आया हूँ (और); **बहूनाम्**=बहुतोंमें; **मध्यमः**=मध्यम श्रेणीके आचारपर; **एमि**=चलता हूँ (कभी भी नीची श्रेणीके आचरणको मैंने नहीं अपनाया, फिर

पिताजीने ऐसा क्यों कहा !); **यमस्य**=यमका; **किम् स्वित् कर्तव्यम्**=ऐसा कौन-सा कार्य हो सकता है; **यत् अद्य**=जिसे आज; **मया**=मेरेद्वारा (मुझे देकर); **करिष्यति**=(पिताजी) पूरा करेंगे ॥ ५ ॥

व्याख्या—शिष्यों और पुत्रोंकी तीन श्रेणियाँ होती हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। जो गुरु या पिताका मनोरथ समझकर उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा किये बिना ही उनकी रुचिके अनुसार कार्य करने लगते हैं, वे उत्तम हैं। जो आज्ञा पानेपर कार्य करते हैं, वे मध्यम हैं और जो मनोरथ जान लेने और स्पष्ट आदेश सुन लेनेपर भी तदनुसार कार्य नहीं करते, वे अधम हैं। मैं बहुत-से शिष्योंमें तो प्रथम श्रेणीका हूँ, प्रथम श्रेणीके आचरणपर चलनेवाला हूँ, क्योंकि उनसे पहले ही मनोरथ समझकर कार्य कर देता हूँ; बहुत-से शिष्योंसे मध्यम श्रेणीका भी हूँ, मध्यम श्रेणीके आचारपर भी चलता आया हूँ; परंतु अधम श्रेणीका तो हूँ ही नहीं। आज्ञा मिले और सेवा न करूँ, ऐसा तो मैंने कभी किया ही नहीं। फिर, पता नहीं, पिताजीने मुझे ऐसा क्यों कहा ? मृत्युदेवताका भी ऐसा कौन-सा प्रयोजन है, जिसको पिताजी आज मुझे उनको देकर पूरा करना चाहते हैं ? ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—सम्भव है, पिताजीने क्रोधके आवेशमें ही ऐसा कह दिया हो; परंतु जो कुछ भी हो, पिताजीका वचन तो सत्य करना ही है। इधर ऐसा दीख रहा है कि पिताजी अब पश्चात्ताप कर रहे हैं, अतएव उन्हें सान्त्वना देना भी आवश्यक है। यह विचारकर नचिकेता एकान्तमें पिताके पास जाकर उनकी शोकनिवृत्तिके लिये इस प्रकार आश्वासनपूर्ण वचन बोला—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥

पूर्वे=आपके पूर्वज पितामह आदि; **यथा**=जिस प्रकारका आचरण करते आये हैं; **अनुपश्य**=उसपर विचार कीजिये (और); **अपरे**=(वर्तमानमें भी) दूसरे श्रेष्ठ लोग; [**यथा** =जैसा आचरण कर रहे हैं;] **तथा प्रतिपश्य**=उसपर भी दृष्टिपात कर लीजिये (फिर आप अपने कर्तव्यका निश्चय कीजिये); **मर्त्यः**=(यह) मरणधर्मा मनुष्य; **सस्यम् इव**= अनाजकी तरह; **पच्यते**=पकता है अर्थात् जराजीर्ण होकर मर जाता है (तथा); **सस्यम् इव**=अनाजकी भाँति ही; **पुनः**= फिर; **आजायते**=उत्पन्न हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—पिताजी ! अपने पितामहादि पूर्वजोंका आचरण देखिये और इस समयके दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरण देखिये। उनके चरित्रमें न कभी पहले असत्य था, न अब है। असाधु मनुष्य ही असत्यका आचरण किया करते हैं; परंतु उस असत्यसे कोई अजर-अमर नहीं हो सकता। मनुष्य मरणधर्मा है। यह अनाजकी भाँति जरा-जीर्ण होकर मर जाता है और अनाजकी भाँति ही कर्मवश पुनः जन्म ले लेता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अतएव इस अनित्य जीवनके लिये मनुष्यको कभी कर्तव्यका त्याग करके मिथ्या आचरण नहीं करना चाहिये। आप शोकका त्याग कीजिये और अपने सत्यका पालन कर मुझे मृत्यु (यमराज) के पास जानेकी अनुमति दीजिये। पुत्रके वचन सुनकर उद्दालकको दुःख हुआ; परंतु नचिकेताकी सत्यपरायणता देखकर उन्होंने उसे यमराजके पास भेज दिया। नचिकेताको यमसदन पहुँचनेपर पता लगा कि यमराज कहीं बाहर गये हुए हैं; अतएव नचिकेता तीन दिनोंतक अन्न-जल ग्रहण किये बिना ही यमराजकी प्रतीक्षा करता रहा। यमराजके लौटनेपर उनकी पत्नीने कहा—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताꣳशान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

वैवस्वत=हे सूर्यपुत्र; **वैश्वानरः**=स्वयं अग्निदेवता (ही); **ब्राह्मणः अतिथिः**=ब्राह्मण अतिथिके रूपमें; **गृहान्**=(गृहस्थके) घरोंमें; **प्रविशति**=पधारते हैं; **तस्य**=उनकी;(साधुपुरुष) **एताम्**=ऐसी (अर्थात् अर्घ्य-पाद-आसन आदिके द्वारा); **शान्तिम्**=शान्ति; **कुर्वन्ति**=किया करते हैं; (अतः आप) **उदकम् हर**=(उनके पाद-प्रक्षालनादिके लिये) जल ले जाइये ॥ ७ ॥

व्याख्या—साक्षात् अग्नि ही मानो तेजसे प्रज्वलित होकर ब्राह्मण-अतिथिके रूपमें गृहस्थके घरपर पधारते हैं। साधुहृदय गृहस्थ अपने कल्याणके लिये उस अतिथिरूप अग्निके दाहकी शान्तिके लिये उसे जल (पाद्य-अर्घ्य आदि) दिया करते हैं; अतएव हे सूर्यपुत्र ! आप उस ब्राह्मण-बालकके पैर धोनेके लिये तुरंत जल ले जाइये। वह अतिथि लगातार तीन दिनोंसे आपकी प्रतीक्षामें अनशन किये बैठा है; आप स्वयं उसकी सेवा करेंगे, तभी वह शान्त होगा ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे संगतꣳ सूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

यस्य= जिसके; **गृहे**=घरमें; **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण अतिथि; **अनश्नन्**=बिना भोजन किये; **वसति**=निवास करता है; [**तस्य**=उस;] **अल्पमेधसः**=मन्दबुद्धि; **पुरुषस्य**=मनुष्यकी; **आशाप्रतीक्षे**=नाना प्रकारकी आशा और प्रतीक्षा; **संगतम्**= उनकी पूर्तिसे होनेवाले सब प्रकारके सुख; **सूनृताम् च**=सुन्दर भाषणके फल एवं; **इष्टापूर्ते च**=यज्ञ, दान आदि शुभ कर्मोंके और कुआँ, बगीचा, तालाब आदि निर्माण करानेके फल तथा; **सर्वान् पुत्रपशून्**=समस्त पुत्र और पशु; **एतद् वृङ्क्ते**= इन सबको (वह) नष्ट कर देता है ॥ ८ ॥

व्याख्या–जिसके घरपर अतिथि ब्राह्मण भूखा बैठा रहता है, उस मन्दबुद्धि मनुष्यको न तो वे इच्छित पदार्थ मिलते हैं, जिनके मिलनेकी उसे पूरी आशा थी; न वे ही पदार्थ मिलते हैं, जिनके मिलनेका निश्चय था और वह बाट ही देख रहा था; कभी कोई पदार्थ मिल भी गया तो उससे सुखकी प्राप्ति नहीं होती। उसकी वाणीमेंसे सौन्दर्य, सत्य और माधुर्य निकल जाते हैं; अतः सुन्दर वाणीसे प्राप्त होनेवाला सुख भी उसे नहीं मिलता; उसके यज्ञ-दानादि इष्ट-कर्म और कूप, तालाब, धर्मशाला आदिके निर्माणरूप पूर्तकर्म एवं उनके फल नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, अतिथिका असत्कार उसके पूर्वपुण्यसे प्राप्त पुत्र और पशु आदि धनको भी नष्ट कर देता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—पत्नीके वचन सुनकर धर्ममूर्ति यमराज तुरंत नचिकेताके पास गये और पाद्य-अर्घ्य आदिके द्वारा विधिवत् उसकी पूजा करके कहने लगे—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥

ब्रह्मन्=हे ब्राह्मणदेवता; **नमस्यः अतिथिः**=आप नमस्कार करनेयोग्य अतिथि हैं; **ते**=आपको; **नमः अस्तु**= नमस्कार हो; **ब्रह्मन्**=हे ब्राह्मण; **मे स्वस्ति**=मेरा कल्याण; **अस्तु**=हो; **यत्**=आपने जो; **तिस्रः**=तीन; **रात्रीः**=रात्रियोंतक; **मे**=मेरे; **गृहे**=घरपर; **अनश्नन्**=बिना भोजन किये; **अवात्सीः**=निवास किया है; **तस्मात्**=इसलिये (आप मुझसे); **प्रति**= प्रत्येक रात्रिके बदले (एक-एक करके); **त्रीन् वरान्**=तीन वरदान; **वृणीष्व**=माँग लीजिये ॥ ९ ॥

व्याख्या–'ब्राह्मणदेवता ! आप नमस्कारादि सत्कारके योग्य मेरे माननीय अतिथि हैं; कहाँ तो मुझे चाहिये था कि मैं आपका यथायोग्य पूजन-सेवन करके आपको सन्तुष्ट करता, और कहाँ मेरे प्रमादसे आप लगातार तीन रात्रियोंसे भूखे बैठे हैं। मुझसे यह बड़ा अपराध हो गया है। आपको नमस्कार है। भगवन् ! इस मेरे दोषकी निवृत्ति होकर मेरा कल्याण हो। आप प्रत्येक रात्रिके बदले एक-एक करके मुझसे अपनी इच्छाके अनुरूप तीन वर माँग लीजिये' ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—तपोमूर्ति अतिथि ब्राह्मण-बालकके अनशनसे भयभीत होकर धर्मज्ञ यमराजने जब इस प्रकार कहा, तब पिताको सुख पहुँचानेकी इच्छासे नचिकेता बोला—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

मृत्यो=हे मृत्युदेव; **यथा**=जिस प्रकार; **गौतमः**=(मेरे पिता) गौतमवंशीय उद्दालक; **मा अभि**=मेरे प्रति; **शान्तसंकल्पः**=शान्त संकल्पवाले; **सुमनाः**=प्रसन्नचित्त (और); **वीतमन्युः**=क्रोध एवं खेदसे रहित; **स्यात्**=हो जायँ (तथा);
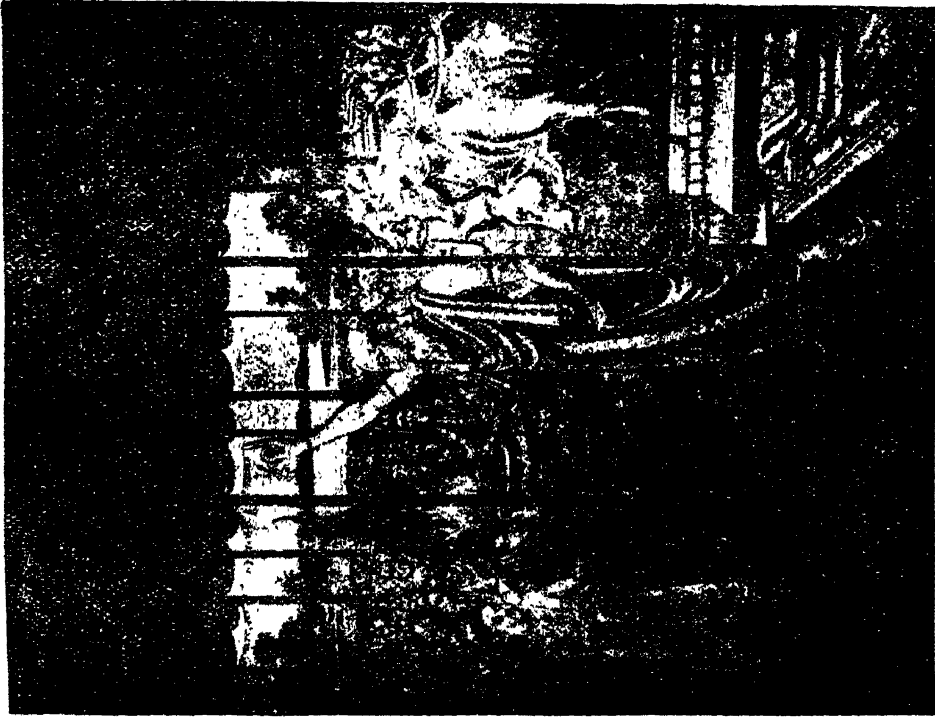
नचिकेताको मृत्युके अर्पण करना
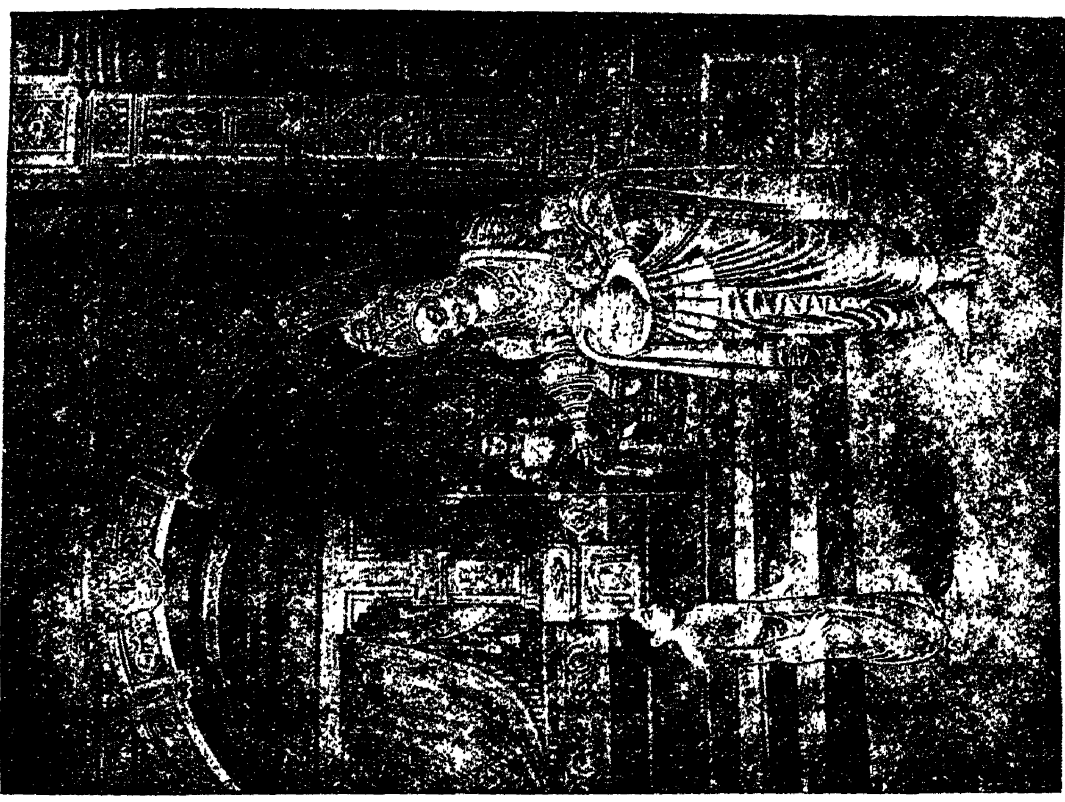
यमराज और नचिकेता

त्वत्प्रसृष्टम्=आपके द्वारा वापस भेजा जानेपर जब मैं उनके पास जाऊँ तो; **मा प्रतीतः**=वे मुझपर विश्वास करके (यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, ऐसा भाव रखकर); **अभिवदेत्**=मेरे साथ प्रेमपूर्वक बातचीत करें; **एतत्**=यह; **त्रयाणाम्**=अपने तीनों वरोंमेंसे; **प्रथमम् वरम्**=पहला वर; **वृणे**=मैं माँगता हूँ ॥ १० ॥

व्याख्या—मृत्युदेव ! तीन वरोंमेंसे मैं प्रथम वर यही माँगता हूँ कि मेरे गौतमवंशीय पिता उद्दालक, जो क्रोधके आवेशमें मुझे आपके पास भेजकर अब अशान्त और दुखी हो रहे हैं, मेरे प्रति क्रोधरहित, शान्तचित्त और सर्वथा सन्तुष्ट हो जायँ । और आपके द्वारा अनुमति पाकर जब मैं घर जाऊँ, तब वे मुझे अपने पुत्र नचिकेताके रूपमें पहचानकर मेरे साथ पूर्ववत् बड़े स्नेहसे बातचीत करें ॥ १० ॥

सम्बन्ध—यमराजने कहा—

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

त्वाम्=तुमको; **मृत्युमुखात्**=मृत्युके मुखसे; **प्रमुक्तम्**=छूटा हुआ; **ददृशिवान्**=देखकर; **मत्प्रसृष्टः**=मुझसे प्रेरित; **आरुणिः**=(तुम्हारे पिता) अरुण-पुत्र; **औद्दालकिः**=उद्दालक; **यथा पुरस्तात्**=पहलेकी भाँति ही; **प्रतीतः**=यह मेरा पुत्र नचिकेता ही है, ऐसा विश्वास करके; **वीतमन्युः**=दुःख और क्रोधसे रहित; **भविता**=हो जायँगे; **रात्रीः**=(और वे अपनी आयुकी शेष) रात्रियोंमें; **सुखम्**=सुखपूर्वक; **शयिता**=शयन करेंगे ॥ ११ ॥

व्याख्या—तुमको मृत्युके मुखसे छूटकर घर लौटा हुआ देखकर मेरी प्रेरणासे तुम्हारे पिता अरुणपुत्र उद्दालक बड़े प्रसन्न होंगे, तुमको अपने पुत्ररूपमें पहचानकर तुमसे पूर्ववत् प्रेम करेंगे, तथा उनका दुःख और क्रोध सर्वथा शान्त हो जायगा । तुम्हें पाकर अब वे जीवनभर सुखकी नींद सोयेंगे ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—इस वरदानको पाकर नचिकेता बोला, हे यमराज !—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

स्वर्गे लोके=स्वर्गलोकमें; **किंचन भयम्**=किंचिन्मात्र भी भय; **न अस्ति**=नहीं है; **तत्र त्वम् न**=वहाँ मृत्युरूप स्वयं आप भी नहीं हैं; **जरया न बिभेति**=वहाँ कोई बुढ़ापेसे भी भय नहीं करता; **स्वर्गलोके**=स्वर्गलोकके निवासी; **अशनायापिपासे**=भूख और प्यास; **उभे तीर्त्वा**=इन दोनोंसे पार होकर; **शोकातिगः**=दुःखोंसे दूर रहकर; **मोदते**=आनन्द भोगते हैं ॥ १२ ॥

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वꣳ श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

मृत्यो=हे मृत्युदेव; **सः त्वम्**=वे आप; **स्वर्ग्यम् अग्निम्**=उपर्युक्त स्वर्गकी प्राप्तिके साधनरूप अग्निको; **अध्येषि**=जानते हैं (अतः); **त्वम्**=आप; **मह्यम्**=मुझ; **श्रद्दधानाय**=श्रद्धालुको (वह अग्निविद्या); **प्रब्रूहि**=भलीभाँति समझाकर कहिये; **स्वर्गलोकाः**=स्वर्गलोकके निवासी; **अमृतत्वम्**=अमरत्वको; **भजन्ते**=प्राप्त होते हैं (इसलिये); **एतत्**=यह (मैं); **द्वितीयेन वरेण**=दूसरे वरके रूपमें; **वृणे**=माँगता हूँ ॥ १३ ॥

व्याख्या—मैं जानता हूँ कि स्वर्गलोक बड़ा सुखकर है, वहाँ किसी प्रकारका भी भय नहीं है । स्वर्गमें न तो कोई वृद्धावस्थाको प्राप्त होता है और न, जैसे मर्त्यलोकमें आप (मृत्यु) के द्वारा लोग मारे जाते हैं वैसे, कोई मारा ही जाता है । वहाँ मृत्युकालीन सङ्कट नहीं है । यहाँ जैसे प्रत्येक प्राणी भूख और प्यास दोनोंकी ज्वालासे जलते हैं, वैसे वहाँ नहीं जलना पड़ता । वहाँके निवासी शोकसे तरकर सदा आनन्द भोगते हैं । परन्तु वह स्वर्ग अग्निविज्ञानको जाने बिना नहीं मिलता । हे मृत्युदेव ! आप उस स्वर्गके साधनभूत अग्निको यथार्थरूपसे जानते हैं । मेरी उस अग्निविद्यामें और आपमें श्रद्धा है,

श्रद्धावान् तत्त्वका अधिकारी होता है; अतः आप कृपया मुझको उस अग्निविद्याका उपदेश कीजिये, जिसे जानकर लोग स्वर्गलोकमें रहकर अमृतत्वको—देवत्वको प्राप्त होते हैं। यह मैं आपसे दूसरा वर माँगता हूँ॥ १२-१३॥

सम्बन्ध—तब यमराज बोले—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्॥ १४॥

नचिकेतः=हे नचिकेता; **स्वर्ग्यम् अग्निम्**=स्वर्गदायिनी अग्निविद्याको; **प्रजानन्**=अच्छी तरह जाननेवाला मैं; **प्रब्रवीमि**=तुम्हारे लिये उसे भलीभाँति बतलाता हूँ; **तत् उ मे निबोध**=(तुम) उसे मुझसे भलीभाँति समझ लो; **त्वम् एतम्**=तुम इस विद्याको; **अनन्तलोकाप्तिम्**=अविनाशी लोककी प्राप्ति करानेवाली; **प्रतिष्ठाम्**=उसकी आधारस्वरूपा; **अथो**=और; **गुहायाम् निहितम्**=बुद्धिरूप गुफामें छिपी हुई; **विद्धि**=समझो॥ १४॥

व्याख्या—नचिकेता! मैं उस स्वर्गकी साधनरूपा अग्निविद्याको भलीभाँति जानता हूँ और तुमको यथार्थरूपसे बतलाता हूँ। तुम इसको अच्छी तरहसे सुनो। यह अग्निविद्या अनन्त—विनाशरहित लोककी प्राप्ति करानेवाली है और उसकी आधारस्वरूपा है। पर तुम ऐसा समझो कि यह है अत्यन्त गुप्त। विद्वानोंकी हृदय-गुफामें छिपी रहती है॥ १४॥

सम्बन्ध—इतना कहकर यमराजने—

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥ १५॥

तम् लोकादिम्=उस स्वर्गलोककी कारणरूपा; **अग्निम्**=अग्निविद्याका; **तस्मै उवाच**=उस नचिकेताको उपदेश दिया; **याः वा यावतीः**=उसमें कुण्डनिर्माण आदिके लिये जो-जो और जितनी; **इष्टकाः**=ईंटें आदि आवश्यक होती हैं; **वा यथा**=तथा जिस प्रकार उनका चयन किया जाता है (वे सब बातें भी बतायीं); **च सः अपि**=तथा उस नचिकेताने भी; **तत् यथोक्तम्**=वह जैसा सुना था, ठीक उसी प्रकार समझकर; **प्रत्यवदत्**= यमराजको पुनः सुना दिया; **अथ**=उसके बाद; **मृत्युः अस्य तुष्टः**=यमराज उसपर सन्तुष्ट होकर; **पुनः एव आह**=फिर बोले—॥ १५॥

व्याख्या—उपर्युक्त प्रकारसे अग्निविद्याकी महत्ता और गोपनीयता बतलाकर यमराजने स्वर्गलोककी कारणरूपा अग्निविद्याका रहस्य नचिकेताको समझाया। अग्निके लिये कुण्ड-निर्माणादिमें किस आकारकी, कैसी और कितनी ईंटें चाहिये एवं अग्निका चयन किस प्रकार किया जाना चाहिये—यह सब भलीभाँति समझाया। तदनन्तर नचिकेताकी बुद्धि तथा स्मृतिकी परीक्षाके लिये यमराजने नचिकेतासे पूछा कि तुमने जो कुछ समझा हो, वह मुझे सुनाओ। तीक्ष्णबुद्धि नचिकेताने सुनकर जैसा यथार्थ समझा था, सब ज्यों-का-त्यों सुना दिया। यमराज उसकी विलक्षण स्मृति और प्रतिभाको देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए और बोले—॥ १५॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण॥ १६॥

प्रीयमाणः= (उसकी अलौकिक बुद्धि देखकर) प्रसन्न हुए; **महात्मा**=महात्मा यमराज; **तम्**=उस नचिकेतासे; **अब्रवीत्**=बोले; **अद्य**=अब मैं; **तव**=तुमको; **इह**=यहाँ; **भूयः वरम्**=पुनः यह (अतिरिक्त) वर; **ददामि**=देता हूँ कि; **अयम् अग्निः**=यह अग्निविद्या; **तव एव नाम्ना**=तुम्हारे ही नामसे; **भविता**=प्रसिद्ध होगी; **च इमाम्**=तथा इस; **अनेकरूपाम् सृङ्काम्**=अनेक रूपोंवाली रत्नोंकी मालाको भी; **गृहाण**=तुम स्वीकार करो॥ १६॥

व्याख्या—महात्मा यमराजने प्रसन्न होकर नचिकेतासे कहा—तुम्हारी अप्रतिम योग्यता देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है, इससे अब मैं तुम्हें एक वर और तुम्हारे बिना माँगे ही देता हूँ। वह यह कि यह अग्नि, जिसका मैंने तुमको उपदेश किया है, तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगी। और साथ ही, यह लो, मैं तुम्हें तुम्हारे देवत्वकी सिद्धिके लिये यह अनेक रूपोंवाली विविध यज्ञ-विज्ञानरूपी रत्नोंकी माला देता हूँ। इसे स्वीकार करो॥ १६॥

सम्बन्ध—उस अग्निविद्याका फल बतलाते हुए यमराज कहते हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतः=इस अग्निका (शास्त्रोक्त रीतिसे) तीन बार अनुष्ठान करनेवाला; **त्रिभिः सन्धिम् एत्य**= तीनों (ऋक्, साम, यजुर्वेद) के साथ सम्बन्ध जोड़कर; **त्रिकर्मकृत्**=यज्ञ, दान और तपरूप तीनों कर्मोंको निष्कामभावसे करता रहनेवाला मनुष्य; **जन्ममृत्यू तरति**=जन्म-मृत्युसे तर जाता है; **ब्रह्मजज्ञम्**=(वह) ब्रह्मासे उत्पन्न सृष्टिके जाननेवाले; **ईड्यम् देवम्**=स्तवनीय इस अग्निदेवको; **विदित्वा**=जानकर तथा; **निचाय्य**=इसका निष्कामभावसे चयन करके; **इमाम् अत्यन्तम् शान्तिम् एति**=इस अनन्त शान्तिको पा जाता है (जो मुझको प्राप्त है) ॥ १७ ॥

व्याख्या—इस अग्निका तीन बार अनुष्ठान करनेवाला पुरुष ऋक्, यजुः, साम—तीनों वेदोंसे सम्बन्ध जोड़कर, तीनों वेदोंके तत्त्व-रहस्यमें निष्णात होकर, निष्कामभावसे यज्ञ, दान और तपरूप तीनों कर्मोंको करता हुआ जन्म-मृत्युसे तर जाता है। वह ब्रह्मासे उत्पन्न सृष्टिको जाननेवाले स्तवनीय इस अग्निदेवको भलीभाँति जानकर इसका निष्कामभावसे चयन करके उस अनन्त शान्तिको प्राप्त हो जाता है, जो मुझको प्राप्त है ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

एतत् त्रयम्=ईंटोंके स्वरूप, संख्या और अग्नि-चयन-विधि—इन तीनों बातोंको; **विदित्वा**=जानकर; **त्रिणाचिकेतः**= तीन बार नाचिकेत-अग्निविद्याका अनुष्ठान करनेवाला तथा; **यः एवम्**=जो कोई भी इस प्रकार; **विद्वान्**=जाननेवाला पुरुष; **नाचिकेतम्**=इस नाचिकेत-अग्निका; **चिनुते**=चयन करता है; **सः मृत्युपाशान्**=वह मृत्युके पाशको; **पुरतः प्रणोद्य**= अपने सामने ही (मनुष्य-शरीरमें ही) काटकर; **शोकातिगः**=शोकसे पार होकर; **स्वर्गलोके मोदते**=स्वर्गलोकमें आनन्द-का अनुभव करता है ॥ १८ ॥

व्याख्या—किस आकारकी कैसी ईंटें हों और कितनी संख्यामें हों एवं किस प्रकारसे अग्निका चयन किया जाय—इन तीनों बातोंको जानकर जो विद्वान् तीन बार नाचिकेत अग्निविद्याका निष्कामभावसे अनुष्ठान करता है—अग्निका चयन करता है, वह देहपातसे पहले ही (जन्म-)मृत्युके पाशको तोड़कर शोकरहित होकर अन्तमें स्वर्गलोकके (अविनाशी ऊर्ध्वलोकके) आनन्दका अनुभव करता है ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता; **एषः ते**=यह तुम्हें बतलायी हुई; **स्वर्ग्यः अग्निः**=स्वर्ग प्रदान करनेवाली अग्निविद्या है; **यम् द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः**=जिसको तुमने दूसरे वरसे माँगा था; **एतम् अग्निम्**=इस अग्निको (अबसे); **जनासः**= लोग; **तव एव**=तुम्हारे ही नामसे; **प्रवक्ष्यन्ति**=कहा करेंगे; **नचिकेतः**=हे नचिकेता; **तृतीयम् वरम् वृणीष्व**= (अब तुम) तीसरा वर माँगो ॥ १९ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं—नचिकेता ! तुम्हें यह उसी स्वर्गकी साधनरूपा अग्निविद्याका उपदेश दिया गया है, जिसके लिये तुमने दूसरे वरमें याचना की थी। अबसे लोग तुम्हारे ही नामसे इस अग्निको पुकारा करेंगे। नचिकेता ! अब तुम तीसरा वर माँगो ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—नचिकेता तीसरा वर माँगता है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

प्रेते मनुष्ये=मरे हुए मनुष्यके विषयमें; **या इयम्**=जो यह; **विचिकित्सा**=संशय है; **एके (आहुः) अयम् अस्ति इति**=कोई तो ऐसा कहते हैं कि मरनेके बाद यह आत्मा रहता है; **च एके (आहुः) न अस्ति इति**=और कोई ऐसा कहते हैं कि नहीं रहता; **त्वया अनुशिष्टः**=आपके द्वारा उपदेश पाया हुआ; **अहम् एतत् विद्याम्**=मैं इसका निर्णय भलीभाँति समझ लूँ; **एषः वराणाम्**=यही तीनों वरोंमेंसे; **तृतीयः वरः**=तीसरा वर है ॥ २० ॥

व्याख्या—इस लोकके कल्याणके लिये पिताकी सन्तुष्टिका वर और परलोकके लिये स्वर्गके साधनरूप अग्निविज्ञानका वर प्राप्त करके अब नचिकेता आत्माके यथार्थ स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय जाननेके लिये यमराजके सामने दूसरे लोगोंके दो मत उपस्थित करके उसपर उनका अनुभूत विचार सुनना चाहता है। इसलिये नचिकेता कहता है कि भगवन्! मृत मनुष्यके सम्बन्धमें यह एक बड़ा सन्देह फैला हुआ है। कुछ लोग तो कहते हैं कि मृत्युके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है और कुछ लोग कहते हैं, नहीं रहता। इस विषयमें आपका जो अनुभव हो, वह मुझे बतलाइये।* आप मुझे अपना अनुभूत विचार बतलायेंगे, तभी मैं इस रहस्यको भलीभाँति समझ पाऊँगा। बस, तीनों वरोंमेंसे यही मेरा अभीष्ट तीसरा वर है ॥२०॥

सम्बन्ध—नचिकेताका महत्त्वपूर्ण प्रश्न सुनकर यमराजने मन-ही-मन उसकी प्रशंसा की। सोचा कि ऋषिकुमार बालक होनेपर भी बड़ा प्रतिभाशाली है, कैसे गोपनीय विषयको जानना चाहता है; परंतु आत्मतत्त्व उपयुक्त अधिकारीको ही बतलाना चाहिये। अनधिकारीके प्रति आत्मतत्त्वका उपदेश करना हानिकर होता है, अतएव पहले पात्र-परीक्षाकी आवश्यकता है। यों विचारकर यमराजने इस तत्त्वकी कठिनताका वर्णन करके नचिकेताको टालना चाहा और कहा—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता!; **अत्र पुरा**=इस विषयमें पहले; **देवैः अपि**=देवताओंने भी; **विचिकित्सितम्**=संदेह किया था (परंतु उनकी भी समझमें नहीं आया); **हि एषः धर्मः अणुः न सुविज्ञेयम्**=क्योंकि यह विषय बड़ा सूक्ष्म है, सहज ही समझमें आनेवाला नहीं है (इसलिये); **अन्यम् वरम् वृणीष्व**=तुम दूसरा वर माँग लो; **मा मा उपरोत्सीः**=मुझपर दबाव मत डालो; **एनम् मा**=इस आत्मज्ञानसम्बन्धी वरको मुझे; **अतिसृज**=लौटा दो ॥ २१ ॥

व्याख्या—नचिकेता! यह आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म विषय है। इसका समझना सहज नहीं है। पहले देवताओंको भी इस विषयमें सन्देह हुआ था। उनमें भी बहुत विचार-विनिमय हुआ था; परन्तु वे भी इसको जान नहीं पाये। अतएव तुम दूसरा वर माँग लो। मैं तुम्हें तीन वर देनेका वचन दे चुका हूँ, अतएव तुम्हारा ऋणी हूँ; पर तुम इस वरके लिये, जैसे महाजन ऋणीको दबाता है वैसे, मुझको मत दबाओ। इस आत्मतत्त्वविषयक वरको मुझे लौटा दो। इसके लिये मुझे छोड़ दो ॥ २१ ॥

सम्बन्ध—नचिकेता आत्मतत्त्वकी कठिनताका नाम सुनकर तनिक भी घबराया नहीं, न उसका उत्साह ही मन्द हुआ, वरं उसने और भी दृढ़ताके साथ कहा—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

* मृत्युके पश्चात् आत्माका अस्तित्व रहता है या नहीं, इस सम्बन्धमें नचिकेताको स्वयं कोई सन्देह नहीं है। पिताको दक्षिणामें जराजीर्ण गौएँ देते देखकर नचिकेताने स्पष्ट कहा था कि ऐसी गौओंका दान करनेवाले आनन्दरहित (अनन्दाः) नरकादि लोकोंको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार दूसरे वरमें नचिकेताने स्वर्गसुखोंका वर्णन करके स्वर्गप्राप्तिके साधनरूप अग्निविद्याके उपदेशकी प्रार्थना की थी। इससे सिद्ध है कि वह स्वर्ग और नरकमें विश्वास करता था। स्वर्ग-नरकादि लोकोंकी प्राप्ति मरनेके पश्चात् ही होती है। आत्माका अस्तित्व न हो तो ये लोक किसको प्राप्त हों। यहाँ इसीलिये नचिकेताने अपना मत न बताकर कहा है कि कुछ लोग मरनेके बाद आत्माका अस्तित्व मानते हैं और कुछ लोग नहीं मानते। यह प्रश्नका एक ऐसा सुन्दर प्रकार है कि जिसके उत्तरमें आत्माकी नित्य सत्ता, उसके स्वरूप, गुण और परमलक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंका विवरण अपने-आप ही आ जाता है। अतः यह प्रश्न आत्मज्ञान-विषयक है, न कि आत्माके अस्तित्वमें सन्देहविषयक। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें नचिकेताका जो इतिहास मिलता है, उसमें तो नचिकेताने तीसरे वरमें पुनर्मृत्यु (जन्म-मृत्यु) पर विजय पानेका—मुक्तिका साधन जानना चाहा है (तृतीयं वृणीष्वेति। पुनर्मृत्योर्मेऽपचितिं ब्रूहि)।

मृत्यो=हे यमराज; **त्वम् यत् आत्थ**=आपने जो यह कहा कि; **अत्र किल देवैः अपि**=इस विषयपर देवताओंने भी; **विचिकित्सितम्**=विचार किया था (परंतु वे निर्णय नहीं कर पाये); **च न सुविज्ञेयम्**=और यह सुविज्ञेय भी नहीं है; **च त्वादृक्**=इसके सिवा आपके-जैसा; **अस्य वक्ता**=इस विषयका कहनेवाला भी; **अन्यः न लभ्यः**=दूसरा नहीं मिल सकता; [**अतः**=इसलिये मेरी समझमें तो;] **एतस्य तुल्यः**=इसके समान; **अन्यः कश्चित्**=दूसरा कोई भी; **वरः न**=वर नहीं है ॥२२॥

व्याख्या—हे मृत्यो ! पूर्वकालमें देवताओंने भी जब इस विषयपर विचार-विनिमय किया था तथा वे भी इसे जान नहीं पाये थे और आप भी कहते हैं कि यह विषय सहज नहीं है, बड़ा ही सूक्ष्म है, तब यह तो सिद्ध ही है कि यह बड़े ही महत्त्वका विषय है और ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयको समझानेवाला आपके समान अनुभवी वक्ता मुझे ढूँढ़नेपर भी कोई नहीं मिल सकता। आप कहते हैं, इसे छोड़कर दूसरा वर माँग लो। परन्तु मैं तो समझता हूँ कि इसकी तुलनाका दूसरा कोई वर है ही नहीं। अतएव कृपापूर्वक मुझे इसीका उपदेश कीजिये ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—विषयकी कठिनतासे नचिकेता नहीं घबराया, वह अपने निश्चयपर ज्यों-का-त्यों दृढ़ रहा। इस एक परीक्षामें वह उत्तीर्ण हो गया। अब यमराजने दूसरी परीक्षाके रूपमें उसके सामने विभिन्न प्रकारके प्रलोभन रखनेकी बात सोचकर उससे कहते हैं—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

शतायुषः=सैकड़ों वर्षोंकी आयुवाले; **पुत्रपौत्रान्**=बेटे और पोतोंको (तथा); **बहून् पशून्**=बहुत-से गौ आदि पशुओंको (एवं); **हस्तिहिरण्यम्**=हाथी, सुवर्ण और; **अश्वान् वृणीष्व**=घोड़ोंको माँग लो; **भूमेः महत् आयतनम्**=भूमिके बड़े विस्तारवाले मण्डल (साम्राज्य) को; **वृणीष्व**=माँग लो; **स्वयम् च**=तुम स्वयं भी; **यावत् शरदः**=जितने वर्षोंतक; **इच्छसि**=चाहो; **जीव**=जीते रहो ॥ २३ ॥

व्याख्या—नचिकेता ! तुम बड़े भोले हो। क्या करोगे इस वरको लेकर। तुम ग्रहण करो इन सुखकी विशाल सामग्रियोंको। इस सौ-सौ वर्ष जीनेवाले पुत्र-पौत्रादि बड़े परिवारको माँग लो। गौ आदि बहुत-से उपयोगी पशु, हाथी, सुवर्ण, घोड़े और विशाल भूमण्डलके महान् साम्राज्यको माँग लो और इन सबको भोगनेके लिये जितने वर्षोंतक जीनेकी इच्छा हो, उतने ही वर्षोंतक जीते रहो ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता; **वित्तम् चिरजीविकाम्**=धन, सम्पत्ति और अनन्त कालतक जीनेके साधनोंको; **यदि त्वम्**=यदि तुम; **एतत्तुल्यम्**=इस आत्मज्ञानविषयक वरदानके समान; **वरम् मन्यसे वृणीष्व**=वर मानते हो तो माँग लो; **च महाभूमौ**=और तुम इस पृथिवीलोकमें; **एधि**=बड़े भारी सम्राट् बन जाओ; **त्वा कामानाम्**=(मैं) तुम्हें सम्पूर्ण भोगोंमेंसे; **कामभाजम्**=अति उत्तम भोगोंका पात्र; **करोमि**=बना देता हूँ ॥ २४ ॥

व्याख्या—'नचिकेता ! यदि तुम प्रचुर धन-सम्पत्ति, दीर्घजीवनके लिये उपयोगी सुख-सामग्रियाँ अथवा और भी जितने भोग मनुष्य भोग सकता है, उन सबको मिलाकर उस आत्मतत्त्व-विषयक वरके समान समझते हो तो इन सबको माँग लो। तुम इस विशाल भूमिके सम्राट् बन जाओ। मैं तुम्हें समस्त भोगोंको इच्छानुसार भोगनेवाला बनाये देता हूँ।' इस प्रकार यहाँ यमराजने वाक्चातुर्यसे आत्मतत्त्वका महत्त्व बढ़ाते हुए नचिकेताको विशाल भोगोंका प्रलोभन दिया ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—इतनेपर भी नचिकेता अपने निश्चयपर अटल रहा, तब स्वर्गके दैवी भोगोंका प्रलोभन देते हुए यमराजने कहा—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाꣳश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

ये ये कामाः=जो-जो भोग; **मर्त्यलोके**=मनुष्यलोकमें; **दुर्लभाः**=दुर्लभ हैं; **सर्वान् कामान्**=उन सम्पूर्ण भोगोंको; **छन्दतः प्रार्थयस्व**=इच्छानुसार माँग लो; **सरथाः सतूर्याः इमाः रामाः**=रथ और नाना प्रकारके बाजोंके सहित इन स्वर्गकी अप्सराओंको (अपने साथ ले जाओ); **मनुष्यैः ईदृशाः**=मनुष्योंको ऐसी स्त्रियाँ; **न हि लम्भनीयाः**=अलभ्य हैं; **मत्प्रत्ताभिः**=मेरे द्वारा दी हुई; **आभिः**=इन स्त्रियोंसे; **परिचारयस्व**=तुम अपनी सेवा कराओ; **नचिकेतः**=हे नचिकेता; **मरणम्**=मरनेके बाद आत्माका क्या होता है; **मा अनुप्राक्षीः**=इस बातको मत पूछो ! ॥ २५ ॥

व्याख्या—नचिकेता ! जो-जो भोग मृत्युलोकमें दुर्लभ हैं, उन सबको तुम अपने इच्छानुसार माँग लो। ये रथों और विविध प्रकारके वाद्योंसहित जो स्वर्गकी सुन्दरी रमणियाँ हैं, ऐसी रमणियाँ मनुष्योंमें कहीं नहीं मिल सकतीं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि इनके लिये ललचाते रहते हैं। मैं इन सबको तुम्हें सहज ही दे रहा हूँ। तुम इन्हें ले जाओ और इनसे अपनी सेवा कराओ; परन्तु नचिकेता ! आत्मतत्त्व-विषयक प्रश्न मत पूछो ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—यमराज शिष्यपर स्वाभाविक ही दया करनेवाले महान् अनुभवी आचार्य हैं। इन्होंने अधिकारि-परीक्षाके साथ ही इस प्रकार भय और एकके बाद एक उत्तम भोगोंका प्रलोभन दिखाकर, जैसे खंभेको हिला-हिलाकर दृढ़ किया जाता है, वैसे ही नचिकेताके वैराग्यसम्पन्न निश्चयको और भी दृढ़ किया। पहले कठिनताका भय दिखाया, फिर इस लोकके एक-से-एक बढ़कर भोगोंके चित्र उसके सामने रक्खे और अन्तमें स्वर्गलोकमें भी उसका वैराग्य करा देनेके लिये स्वर्गके दैवी भोगोंका चित्र उपस्थित किया और कहा कि इनको यदि तुम अपने उस आत्मतत्त्वसम्बन्धी वरके समान समझते हो तो इन्हें माँग लो। परंतु नचिकेता तो दृढनिश्चयी और सच्चा अधिकारी था। वह जानता था कि इस लोक और परलोकके बड़े-से-बड़े भोग-सुखकी आत्मज्ञानके सुखके किसी क्षुद्रतम अंशके साथ भी तुलना नहीं की जा सकती। अतएव उसने अपने निश्चयका युक्तिपूर्वक समर्थन करते हुए पूर्ण वैराग्ययुक्त वचनोंमें यमराजसे कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

अन्तक=हे यमराज (जिन भोगोंका आपने वर्णन किया वे); **श्वोभावा**=क्षणभङ्गुर भोग (और उनसे प्राप्त होनेवाले सुख); **मर्त्यस्य**=मनुष्यके; **सर्वेन्द्रियाणाम्**=अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंका; **यत् तेजः**=जो तेज है; **एतत्**=उसको; **जरयन्ति**=क्षीण कर डालते हैं; **अपि सर्वम्**=(इसके सिवा) समस्त; **जीवितम्**=आयु, चाहे वह कितनी भी बड़ी क्यों न हो; **अल्पम् एव**=अल्प ही है, इसलिये; **तव वाहाः**=ये आपके रथ आदि वाहन और; **नृत्यगीते**=ये अप्सराओंके नाच-गान; **तव एव**=आपके ही पास रहें (मुझे नहीं चाहिये) ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे सबका अन्त करनेवाले यमराज ! आपने जिन भोग्य वस्तुओंकी महिमाके पुल बाँधे हैं, ये सभी क्षणभङ्गुर हैं। कलतक रहेंगी या नहीं, इसमें भी सन्देह है। इनके संयोगसे प्राप्त होनेवाला सुख वास्तवमें सुख ही नहीं है, वह तो दुःख ही है (गीता ५। २२)। ये भोग्यवस्तुएँ कोई लाभ तो देती ही नहीं, वरं मनुष्यकी इन्द्रियोंके तेज और धर्मको हरण कर लेती हैं। आपने जो दीर्घजीवन देना चाहा है, वह भी अनन्तकालकी तुलनामें अत्यन्त अल्प ही है। जब ब्रह्मा आदि देवताओंका जीवन भी अल्पकालका है—एक दिन उन्हें भी मरना पड़ता है, तब औरोंकी तो बात ही क्या है ? अतएव मैं यह सब नहीं चाहता। ये आपके रथ, हाथी, घोड़े, ये रमणियाँ और इनके नाच-गान आप अपने ही पास रक्खें ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

मनुष्यः=मनुष्य; **वित्तेन**=धनसे; **तर्पणीयः न**=कभी भी तृप्त किये जाने योग्य नहीं है; **चेत्**=जब कि (हमने); **त्वा अद्राक्ष्म**=आपके दर्शन पा लिये हैं, (तब); **वित्तम्**=धनको; **लप्स्यामहे**=(तो हम) पा ही लेंगे; (और) **त्वम् यावत्**=आप जबतक; **ईशिष्यसि**=शासन करते रहेंगे, तबतक तो; **जीविष्यामः**=हम जीते ही रहेंगे (इन सबको भी क्या माँगना है, अतः); **मे वरणीयः वरः तु**= मेरे माँगने लायक वर तो; **सः एव**=वह (आत्मज्ञान) ही है ॥ २७ ॥

व्याख्या—आप जानते ही हैं, धनसे मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता। आगमें घी-ईंधन डालनेसे जैसे आग जोरोंसे भड़कती है, उसी प्रकार धन और भोगोंकी प्राप्तिसे भोग-कामनाका और भी विस्तार होता है। वहाँ तृप्ति कैसी? वहाँ तो दिन-रात अपूर्णता और अभावकी अग्निमें ही जलना पड़ता है। ऐसे दुःखमय धन और भोगोंको कोई भी बुद्धिमान् पुरुष नहीं माँग सकता। मुझे अपने जीवननिर्वाहके लिये जितने धनकी आवश्यकता होगी, उतना तो आपके दर्शनसे ही प्राप्त हो जायगा। रही दीर्घजीवनकी बात, सो जबतक मृत्युके पदपर आपका शासन है, तबतक मुझे मरनेका भी भय क्यों होने लगा। अतएव किसी भी दृष्टिसे दूसरा वर माँगना उचित नहीं मालूम होता। इसलिये मेरा प्रार्थनीय तो वह आत्मतत्त्व-विषयक वर ही है। मैं उसे लौटा नहीं सकता ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भोगोंकी तुच्छताका वर्णन करके अब नचिकेता अपने वरका महत्त्व बतलाता हुआ उसीको प्रदान करनेके लिये दृढ़तापूर्वक निवेदन करता है—

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

जीर्यन् मर्त्यः=यह मनुष्य जीर्ण होनेवाला और मरणधर्मा है; **प्रजानन्**=इस तत्त्वको भलीभाँति समझनेवाला; **क्वधःस्थः**=मनुष्यलोकका निवासी; **कः**=कौन (ऐसा) मनुष्य है (जो कि); **अजीर्यताम्**=बुढ़ापेसे रहित; **अमृतानाम्**=न मरनेवाले (आप-सदृश) महात्माओंका; **उपेत्य**=सङ्ग पाकर भी; **वर्णरतिप्रमोदान्**=(स्त्रियोंके) सौन्दर्य, क्रीड़ा और आमोद-प्रमोदका; **अभिध्यायन्**=बार-बार चिन्तन करता हुआ; **अतिदीर्घे**=बहुत कालतक; **जीविते**=जीवित रहनेमें; **रमेत**=प्रेम करेगा ॥ २८ ॥

व्याख्या—हे यमराज! आप ही बताइये, भला आप-सरीखे अजर-अमर महात्मा देवताओंका दुर्लभ एवं अमोघ सङ्ग प्राप्त करके मृत्युलोकका जरामरणशील ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो स्त्रियोंके सौन्दर्य, क्रीड़ा और आमोद-प्रमोदमें आसक्त होकर उनकी ओर दृष्टिपात करेगा और इस लोकमें दीर्घकालतक जीवित रहनेमें आनन्द मानेगा? ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

मृत्यो=हे यमराज; **यस्मिन्**=जिस; **महति साम्पराये**=महान् आश्चर्यमय परलोकसम्बन्धी आत्मज्ञानके विषयमें; **इदम् विचिकित्सन्ति**=(लोग) यह शङ्का करते हैं कि यह आत्मा मरनेके बाद रहता है या नहीं; **(तत्र) यत्**=उसमें जो निर्णय है; **तत् नः ब्रूहि**=वह आप हमें बतलाइये; **यः अयम्**=जो यह; **गूढम् अनुप्रविष्टः वरः**=अत्यन्त गम्भीरताको प्राप्त हुआ वर है; **तस्मात्**=इससे; **अन्यम्**=दूसरा वर; **नचिकेताः**=नचिकेता; **न वृणीते**=नहीं माँगता ॥ २९ ॥

व्याख्या—नचिकेता कहता है—हे यमराज! जिस आत्मतत्त्व-सम्बन्धी महान् ज्ञानके विषयमें लोग यह शङ्का करते हैं कि मरनेके बाद आत्माका अस्तित्व रहता है या नहीं, उसके सम्बन्धमें निर्णयात्मक जो आपका अनुभूत ज्ञान हो, मुझे कृपापूर्वक उसीका उपदेश कीजिये। यह आत्मतत्त्वसम्बन्धी वर अत्यन्त गूढ़ है—यह सत्य है; पर आपका शिष्य यह नचिकेता इसके अतिरिक्त दूसरा कोई वर नहीं चाहता! ॥ २९ ॥

॥ प्रथम वल्ली समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय वल्ली

सम्बन्ध—इस प्रकार परीक्षा करके जब यमराजने समझ लिया कि नचिकेता दृढ़निश्चयी, परम वैराग्यवान् एवं निर्भीक है, अतः ब्रह्मविद्याका उत्तम अधिकारी है, तब ब्रह्मविद्याका उपदेश आरम्भ करनेके पहले उसका महत्त्व प्रकट करते हुए यमराज बोले—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

श्रेयः=कल्याणका साधन; **अन्यत्**=अलग है; **उत**=और; **प्रेयः**=प्रिय लगनेवाले भोगोंका साधन; **अन्यत् एव**=

अलग ही है; **ते**=वे; **नानार्थे**=भिन्न-भिन्न फल देनेवाले; **उभे**=दोनों साधन; **पुरुषम्**=मनुष्यको; **सिनीतः**=बाँधते हैं—अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं; **तयोः**=उन दोनोंमेंसे; **श्रेयः**=कल्याणके साधनको; **आददानस्य**=ग्रहण करनेवालेका; **साधु भवति**=कल्याण होता है; **उ यः**=परंतु जो; **प्रेयः वृणीते**=सांसारिक उन्नतिके साधनको स्वीकार करता है; [**सः**=वह ;] **अर्थात्**=यथार्थ लाभसे; **हीयते**=भ्रष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

व्याख्या—मनुष्य-शरीर अन्यान्य योनियोंकी भाँति केवल कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही नहीं मिला है। इसमें मनुष्य भविष्यमें सुख देनेवाले साधनका अनुष्ठान भी कर सकता है। वेदोंमें सुखके साधन दो बताये गये हैं—(१) श्रेय अर्थात् सदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे सर्वथा छूटकर नित्य आनन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त करनेका उपाय और (२) प्रेय अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, मकान, सम्मान, यश आदि इस लोककी और स्वर्गलोककी जितनी भी प्राकृत सुख-भोगकी सामग्रियाँ हैं, उनकी प्राप्तिका उपाय। इस प्रकार अपने-अपने ढंगसे मनुष्यको सुख पहुँचा सकनेवाले ये दोनों साधन मनुष्यको बाँधते हैं—उसे अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। अधिकांश लोग तो 'भोगोंमें प्रत्यक्ष और तत्काल सुख मिलता है' इस प्रतीतिके कारण उसका परिणाम सोचे-समझे बिना ही प्रेयकी ओर खिंच जाते हैं। परंतु कोई-कोई भाग्यवान् मनुष्य भगवान्‌की दयासे प्राकृत भोगोंकी आपातरमणीयता एवं परिणामदुःखताका रहस्य जानकर उनकी ओरसे विरक्त हो श्रेयकी ओर आकर्षित हो जाता है। इन दोनों प्रकारके मनुष्योंमेंसे जो भगवान्‌की कृपाका पात्र होकर श्रेयको अपना लेता है और तत्परताके साथ उसके साधनमें लग जाता है, उसका तो सब प्रकारसे कल्याण हो जाता है। वह सदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे सर्वथा छूटकर अनन्त असीम आनन्दस्वरूप परमात्माको पा लेता है। परंतु जो सांसारिक सुखके साधनोंमें लग जाता है, वह अपने मानव-जीवनके परम लक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिरूप यथार्थ प्रयोजनको सिद्ध नहीं कर पाता; इसलिये उसे आत्यन्तिक और नित्य सुख नहीं मिलता। उसे तो भ्रमवश सुखरूप प्रतीत होनेवाले वे अनित्य भोग मिलते हैं, जो वास्तवमें दुःखरूप ही हैं। अतः वह वास्तविक सुखसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ २ ॥

श्रेयः च प्रेयः च=श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही; **मनुष्यम् एतः**=मनुष्यके सामने आते हैं; **धीरः**=बुद्धिमान् मनुष्य; **तौ**=उन दोनोंके स्वरूपपर; **सम्परीत्य**=भलीभाँति विचार करके; **विविनक्ति**=उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता है; (और) **धीरः**=वह श्रेष्ठबुद्धि मनुष्य; **श्रेयः हि**=परम कल्याणके साधनको ही; **प्रेयसः**=भोग-साधनकी अपेक्षा; **अभिवृणीते**=श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करता है (परंतु); **मन्दः**=मन्दबुद्धिवाला मनुष्य; **योगक्षेमात्**=लौकिक योगक्षेमकी इच्छासे; **प्रेयः वृणीते**=भोगोंके साधनरूप प्रेयको अपनाता है ॥ २ ॥

व्याख्या—अधिकांश मनुष्य तो पुनर्जन्ममें विश्वास न होनेके कारण इस विषयमें विचार ही नहीं करते, वे भोगोंमें आसक्त होकर अपने देवदुर्लभ मनुष्य-जीवनको पशुवत् भोगोंके भोगनेमें ही समाप्त कर देते हैं। किंतु जिनका पुनर्जन्ममें और परलोकमें विश्वास है, उन विचारशील मनुष्योंके सामने जब ये श्रेय और प्रेय दोनों आते हैं, तब वे इन दोनोंके गुण-दोषोंपर विचार करके दोनोंको पृथक्-पृथक् समझनेकी चेष्टा करते हैं। इनमें जो श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न होता है, वह तो दोनोंके तत्त्वको पूर्णतया समझकर नीर-क्षीर-विवेकी हंसकी तरह प्रेयकी उपेक्षा करके श्रेयको ही ग्रहण करता है। परंतु जो मनुष्य अल्पबुद्धि है, जिसकी बुद्धिमें विवेकशक्तिका अभाव है, वह श्रेयके फलमें अविश्वास करके प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले लौकिक योगक्षेमकी सिद्धिके लिये प्रेयको अपनाता है; वह इतना ही समझता है कि जो कुछ भोगपदार्थ प्राप्त हैं, वे सुरक्षित बने रहें और जो अप्राप्त हैं, वे प्रचुर मात्रामें मिल जायँ। यही योगक्षेम है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप श्रेयकी प्रशंसा करके अब यमराज साधारण मनुष्योंसे नचिकेताकी विशेषता दिखलाते हुए उसके वैराग्यकी प्रशंसा करते हैं—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाꣳश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैताꣳ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता ! (उन्हीं मनुष्योंमें); **सः त्वम्**=तुम (ऐसे निःस्पृह हो कि); **प्रियान् च**=प्रिय लगनेवाले और; **प्रियरूपान्**=अत्यन्त सुन्दर रूपवाले; **कामान्**=इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंको; **अभिध्यायन्**=भलीभाँति सोच-समझकर; **अत्यस्राक्षीः**=तुमने छोड़ दिया; **एताम् वित्तमयीम् सृङ्काम्**=इस सम्पत्तिरूप श‍ृङ्खला (बेड़ी) को; **न अवाप्तः**=(तुम) नहीं प्राप्त हुए (इसके बन्धनमें नहीं फँसे); **यस्याम्**=जिसमें; **बहवः मनुष्याः**=बहुत-से मनुष्य; **मज्जन्ति**=फँस जाते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं—'हे नचिकेता ! तुम्हारी परीक्षा करके मैंने अच्छी तरह देख लिया कि तुम बड़े बुद्धिमान्, विवेकी तथा वैराग्यसम्पन्न हो । अपनेको बहुत बड़े चतुर, विवेकी और तार्किक माननेवाले लोग भी जिस चमक-दमकवाली सम्पत्तिके मोहजालमें फँस जाया करते हैं, उसे भी तुमने स्वीकार नहीं किया । मैंने बड़ी ही लुभावनी भाषामें तुम्हें बार-बार पुत्र, पौत्र, हाथी, घोड़े, गौएँ, धन, सम्पत्ति, भूमि आदि अनेकों दुष्प्राप्य और लोभनीय भोगोंका प्रलोभन दिया; इतना ही नहीं, स्वर्गके दिव्य भोगों और अप्रतिम सुन्दरी स्वर्गीय रमणियोंके चिर-भोगसुखका लालच दिया; परंतु तुमने सहज ही उन सबकी उपेक्षा कर दी । अतः तुम अवश्य ही परमात्मतत्त्वका श्रवण करनेके सर्वोत्तम अधिकारी हो ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

या अविद्या=जो कि अविद्या; **च विद्या इति ज्ञाता**=और विद्या नामसे विख्यात हैं; **एते**=ये दोनों; **दूरम् विपरीते**=परस्पर अत्यन्त विपरीत (और); **विषूची**=भिन्न-भिन्न फल देनेवाली हैं; **नचिकेतसम्**=तुम नचिकेताको; **विद्याभीप्सिनम् मन्ये**=मैं विद्याका ही अभिलाषी मानता हूँ, (क्योंकि); **त्वा बहवः कामाः**=तुमको बहुत-से भोग; **न अलोलुपन्त**=(किसी प्रकार भी) नहीं लुभा सके ॥ ४ ॥

व्याख्या—ये अविद्या और विद्या नामसे प्रसिद्ध दो साधन पृथक्-पृथक् फल देनेवाले हैं और परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं । जिसकी भोगोंमें आसक्ति है, वह कल्याण-साधनमें आगे नहीं बढ़ सकता और जो कल्याण-मार्गका पथिक है, वह भोगोंकी ओर दृष्टि नहीं डालता । वह सब प्रकारके भोगोंको दुःखरूप मानकर उनका परित्याग कर देता है । हे नचिकेता ! मैं मानता हूँ कि तुम विद्याके ही अभिलाषी हो; क्योंकि बहुत-से बड़े-बड़े भोग भी तुम्हारे मनमें किञ्चिन्मात्र भी लोभ नहीं उत्पन्न कर सके ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः=अविद्याके भीतर स्थित होकर (भी); **स्वयं धीराः**=अपने-आपको बुद्धिमान् (और); **पण्डितम् मन्यमानाः**=विद्वान् माननेवाले; **मूढाः**=(भोगकी इच्छा करनेवाले) वे मूर्खलोग; **दन्द्रम्यमाणाः**=नाना योनियोंमें चारों ओर भटकते हुए; **(तथा) परियन्ति**=ठीक वैसे ही ठोकरें खाते भटकते रहते हैं; **यथा**=जैसे; **अन्धेन एव नीयमानाः**=अन्धे मनुष्यके द्वारा चलाये जानेवाले; **अन्धाः**=अन्धे (अपने लक्ष्यतक न पहुँचकर इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते हैं) ॥५॥

व्याख्या—जब अन्धे मनुष्यको मार्ग दिखलानेवाला भी अन्धा ही मिल जाता है, तब जैसे वह अपने अभीष्ट स्थान-पर नहीं पहुँच पाता, बीचमें ही ठोकरें खाता भटकता है और काँटे-कंकड़ोंसे बिंधकर या गहरे गड्ढे आदिमें गिरकर अथवा किसी चट्टान, दीवाल और पशु आदिसे टकराकर नाना प्रकारके कष्ट भोगता है । वैसे ही उस मूर्खको भी पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि विविध दुःखपूर्ण योनियोंमें एवं नरकादिमें प्रवेश करके अनन्त जन्मोंतक अनन्त यन्त्रणाओंका भोग करना पड़ता है, जो अपने-आपको ही बुद्धिमान् और विद्वान् समझता है, विद्या-बुद्धिके मिथ्याभिमानमें शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंकी कुछ भी परवा न करके उनकी अवहेलना करता और प्रत्यक्ष सुखरूप प्रतीत होनेवाले भोगोंको भोग करनेमें तथा उनके उपार्जनमें ही निरन्तर संलग्न रहकर मनुष्यजीवनका अमूल्य समय व्यर्थ नष्ट करता रहता है ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

वित्तमोहेन मूढम्=इस प्रकार सम्पत्तिके मोहसे मोहित; **प्रमाद्यन्तम् बालम्**=निरन्तर प्रमाद करनेवाले अज्ञानीको; **साम्परायः**=परलोक; **न प्रतिभाति**=नहीं सूझता; **अयम् लोकः**=वह समझता है कि यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला लोक ही सत्य है; **परः न अस्ति**=इसके सिवा दूसरा (स्वर्ग-नरक आदि लोक) कुछ भी नहीं है; **इति मानी**=इस प्रकार माननेवाला अभिमानी मनुष्य; **पुनः पुनः**=बार-बार; **मे वशम्**=मेरे (यमराजके) वशमें; **आपद्यते**=आता है ॥ ६ ॥

व्याख्या–इस प्रकार मनुष्य-जीवनके महत्त्वको नहीं समझनेवाला अभिमानी मनुष्य सांसारिक भोग सम्पत्तिकी प्राप्तिके साधनरूप धनादिके मोहसे मोहित हुआ रहता है; अतएव भोगोंमें आसक्त होकर वह प्रमादपूर्वक मनमाना आचरण करने लगता

वर्णन करनेवाले पुरुषोंकी दुर्लभताका वर्णन करते हैं—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

यः बहुभिः=जो (आत्मतत्त्व) बहुतोंको तो; **श्रवणाय अपि**=सुननेके लिये भी; **न लभ्यः**=नहीं मिलता; **यम्**=जिसको; **बहवः**=बहुत-से लोग; **शृण्वन्तः अपि**=सुनकर भी; **न विद्युः**=नहीं समझ सकते; **अस्य**=ऐसे इस गूढ़ आत्मतत्त्वका; **वक्ता आश्चर्यः**=वर्णन करनेवाला महापुरुष आश्चर्यमय है (बड़ा दुर्लभ है); **लब्धा कुशलः**=उसे प्राप्त करनेवाला भी बड़ा कुशल (सफलजीवन) कोई एक ही होता है; **कुशलानुशिष्टः**=और जिसे तत्त्वकी उपलब्धि हो गयी है, ऐसे ज्ञानी महापुरुषके द्वारा शिक्षा प्राप्त किया हुआ; **ज्ञाता**=आत्मतत्त्वका ज्ञाता भी; **आश्चर्यः**=आश्चर्यमय है (परम दुर्लभ है) ॥ ७ ॥

व्याख्या–आत्मतत्त्वकी दुर्लभता बतलानेके हेतुसे यमराजने कहा—नचिकेता! आत्मतत्त्व कोई साधारण-सी बात नहीं है। जगत्‌में अधिकांश मनुष्य तो ऐसे हैं—जिनको आत्मकल्याणकी चर्चातक सुननेको नहीं मिलती। वे ऐसे वातावरणमें रहते हैं कि जहाँ प्रातःकाल जागनेसे लेकर रात्रिको सोनेतक केवल विषय-चर्चा ही हुआ करती है, जिससे उनका मन आठों पहर विषय-चिन्तनमें डूबा रहता है। उनके मनमें आत्मतत्त्व सुनने-समझनेकी कभी कल्पना ही नहीं आती, और भूले-भटके यदि ऐसा कोई प्रसङ्ग आ जाता है तो उन्हें विषय-सेवनसे अवकाश नहीं मिलता। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो सुनना-समझना उत्तम समझकर सुनते तो हैं, परंतु उनके विषयाभिभूत मनमें उसकी धारणा नहीं हो पाती अथवा मन्दबुद्धिके कारण वे उसे समझ नहीं पाते। जो तीक्ष्णबुद्धि पुरुष समझ लेते हैं, उनमें भी ऐसे आश्चर्यमय महापुरुष कोई विरले ही होते हैं, जो उस आत्मतत्त्वका यथार्थरूपसे वर्णन करनेवाले समर्थ वक्ता हों। एवं ऐसे पुरुष भी कोई एक ही होते हैं जिन्होंने आत्मतत्त्वको प्राप्त करके जीवनकी सफलता सम्पन्न की हो; और भलीभाँति समझाकर वर्णन करनेवाले सफलजीवन अनुभवी आत्मदर्शी आचार्यके द्वारा उपदेश प्राप्त करके उसके अनुसार मनन-निदिध्यासन करते-करते तत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले पुरुष भी जगत्‌में कोई विरले ही होते हैं। अतः इसमें सर्वत्र ही दुर्लभता है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध–अब आत्मज्ञानकी दुर्लभताका कारण बताते हैं—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

अवरेण नरेण प्रोक्तः=अल्पज्ञ मनुष्यके द्वारा बतलाये जानेपर; **बहुधा चिन्त्यमानः**=(और उसके अनुसार)

बहुत प्रकारसे चिन्तन किये जानेपर भी; **एषः**=यह आत्मतत्त्व; **सुविज्ञेयः**=सहज ही समझमें आ जाय; **न**=ऐसा नहीं है; **अनन्यप्रोक्ते**=किसी दूसरे ज्ञानी पुरुषके द्वारा उपदेश न किये जानेपर; **अत्र गतिः न अस्ति**=इस विषयमें मनुष्यका प्रवेश नहीं होता; **हि अणुप्रमाणात्**=क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुसे भी; **अणीयान्**=अधिक सूक्ष्म है; **अतर्क्यम्**=(इसलिये) तर्कसे अतीत है ॥ ८ ॥

व्याख्या—प्रकृतिपर्यन्त जो भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, यह आत्मतत्त्व उससे भी सूक्ष्म है। यह इतना गहन है कि जबतक इसे यथार्थरूपसे समझानेवाले कोई महापुरुष नहीं मिलते, तबतक मनुष्यका इसमें प्रवेश पाना अत्यन्त ही कठिन है। अल्पज्ञ—साधारण ज्ञानवाले मनुष्य यदि इसे बतलाते हैं और उसके अनुसार यदि कोई विविध प्रकारसे इसके चिन्तनका अभ्यास करता है, तो उसका आत्मज्ञानरूपी फल नहीं होता। आत्मतत्त्व तनिक-सा भी समझमें नहीं आता। न यह ऐसा ही है कि दूसरेसे सुने बिना केवल अपने आप तर्क-वितर्कयुक्त विचार करनेसे समझमें आ जाय। सुनना आवश्यक है; पर सुनना उनसे है, जो इसे भलीभाँति जाननेवाले महापुरुष हों। तभी इस तर्कसे सर्वथा अतीत विषयमें जानकारी हो सकती है ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

प्रेष्ठ=हे प्रियतम !; **याम् त्वम् आपः**=जिसको तुमने पाया है; **एषा मतिः**=यह बुद्धि; **तर्केण न आपनेया**=तर्कसे नहीं मिल सकती (यह तो); **अन्येन प्रोक्ता एव**=दूसरेके द्वारा कही हुई ही; **सुज्ञानाय**=आत्मज्ञानमें निमित्त; [**भवति**=होती है;] **बत**=सचमुच ही; (तुम) **सत्यधृतिः**=उत्तम धैर्यवाले; **असि**=हो; **नचिकेतः**=हे नचिकेता ! (हम चाहते हैं कि); **त्वादृक्**=तुम्हारे-जैसे ही; **प्रष्टा**=पूछनेवाले; **नः भूयात्**=हमें मिला करें ॥ ९ ॥

व्याख्या—नचिकेताकी प्रशंसा करते हुए यमराज फिर कहते हैं कि हे प्रियतम ! तुम्हारी इस पवित्र मति—निर्मल निष्ठाको देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। ऐसी निष्ठा तर्कसे कभी नहीं मिल सकती। यह तो तभी उत्पन्न होती है, जब भगवत्कृपासे किसी महापुरुषका सङ्ग प्राप्त होता है और उनके द्वारा लगातार परमात्माके महत्त्वका विशद विवेचन सुननेका सौभाग्य मिलता है। ऐसी निष्ठा ही मनुष्यको आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करनेमें प्रवृत्त करती है। इतना प्रलोभन दिये जानेपर तुम अपनी निष्ठापर दृढ़ रहे—इससे यह सिद्ध है कि वस्तुतः तुम सच्ची धारणासे सम्पन्न हो। नचिकेता ! हमें तुम-जैसे ही पूछनेवाले जिज्ञासु मिला करें ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—अब यमराज अपने उदाहरणसे निष्काम भावकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

अहम् जानामि=मैं जानता हूँ कि; **शेवधिः**=कर्मफलरूप निधि; **अनित्यम् इति**=अनित्य है; **हि अध्रुवैः**=क्योंकि अनित्य (विनाशशील) वस्तुओंसे; **तत् ध्रुवम्**=वह नित्य पदार्थ (परमात्मा); **न हि प्राप्यते**=नहीं मिल सकता; **ततः**=इसलिये; **मया**=मेरे द्वारा (कर्तव्यबुद्धिसे); **अनित्यैः द्रव्यैः**=अनित्य पदार्थोंके द्वारा; **नाचिकेतः**=नाचिकेत नामक; **अग्निः चितः**=अग्निका चयन किया गया (अनित्य भोगोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, अतः उस निष्काम भावकी अपूर्व शक्तिसे मैं); **नित्यम्**=नित्य वस्तु परमात्माको; **प्राप्तवान्**=प्राप्त हो गया; **अस्मि**=हूँ ॥ १० ॥

व्याख्या—नचिकेता ! मैं इस बातको भलीभाँति जानता हूँ कि कर्मोंके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके भोगसमूहकी जो निधि मिलती है, वह चाहे कितनी ही महान् क्यों न हो, एक दिन उसका विनाश निश्चित है; अतएव वह अनित्य है। और यह सिद्ध है कि अनित्य साधनोंसे नित्य पदार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस रहस्यको जानकर ही मैंने नाचिकेत अग्निके चयनादिरूपसे जो कुछ यज्ञादि कर्म अनित्य वस्तुओंके द्वारा किये, सब-के-सब कामना और आसक्तिसे रहित होकर केवल कर्तव्यबुद्धिसे किये। इस निष्काम भावकी ही यह महिमा है कि अनित्य पदार्थोंके द्वारा यजन करके भी मैंने नित्य सुखरूप परमात्माको प्राप्त कर लिया* ॥ १० ॥

* कुछ आदरणीय महानुभावोंने इसका यह अर्थ किया है—

सम्बन्ध—नचिकेतामें वह निष्कामभाव पूर्णरूपसे है, इसलिये यमराज उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता !; **कामस्य आप्तिम्**=जिसमें सब प्रकारके भोग मिल सकते हैं; **जगतः प्रतिष्ठाम्**=जो जगत्का आधार; **क्रतोः अनन्त्यम्**=यज्ञका चिरस्थायी फल; **अभयस्य पारम्**=निर्भयताकी अवधि और; **स्तोममहत्**=स्तुति करनेयोग्य एवं महत्त्वपूर्ण है (तथा); **उरुगायम्**=वेदोंमें जिसके गुण नाना प्रकारसे गाये गये हैं; **प्रतिष्ठाम्**=(और) जो दीर्घकालतककी स्थितिसे सम्पन्न है, ऐसे स्वर्गलोकको; **दृष्ट्वा धृत्या**=देखकर भी तुमने धैर्यपूर्वक; **अत्यस्राक्षीः**=उसका त्याग कर दिया; [**अतः**=इसलिये मैं समझता हूँ कि]; **धीरः (असि)**=तुम बहुत ही बुद्धिमान् हो ॥ ११ ॥

व्याख्या—नचिकेता ! तुम सब प्रकारसे श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न और निष्काम हो । मैंने तुम्हारे सामने वरदानके रूपमें उस स्वर्गलोकको रक्खा, जो सब प्रकारके भोगोंसे परिपूर्ण, जगत्का आधारस्वरूप, यज्ञादि शुभकर्मोंका अन्तरहित फल, सब प्रकारके दुःख और भयसे रहित, स्तुति करनेयोग्य और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । वेदोंने भाँति-भाँतिसे उसकी शोभाके गुणगान किये हैं और वह दीर्घकालतक स्थित रहनेवाला है; तुमने उसके महत्त्वको समझकर भी बड़े धैर्यके साथ उसका परित्याग कर दिया, तुम्हारा मन तनिक भी उसमें आसक्त नहीं हुआ; तुम अपने निश्चयपर दृढ़ और अटल रहे । यह साधारण बात नहीं है । इसलिये मैं यह मानता हूँ कि तुम बड़े ही बुद्धिमान्, अनासक्त और आत्मतत्त्वको जाननेके अधिकारी हो* ॥११॥

सम्बन्ध—इस प्रकार नचिकेताके निष्कामभावको देखकर यमराजने निश्चय कर लिया कि यह परमात्माके तत्त्वज्ञानका यथार्थ अधिकारी है; अतः उसके अन्तःकरणमें परब्रह्म पुरुषोत्तमके तत्त्वकी जिज्ञासा उत्पन्न करनेके लिये यमराज अब दो मन्त्रोंमें परब्रह्म परमात्माकी महिमाका वर्णन करते हैं—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

गूढम्=जो योगमायाके पर्देमें छिपा हुआ; **अनुप्रविष्टम्**=सर्वव्यापी; **गुहाहितम्**=सबके हृदयरूप गुफामें स्थित (अतएव); **गह्वरेष्ठम्**=संसाररूप गहन वनमें रहनेवाला; **पुराणम्**=सनातन है, ऐसे; **तम् दुर्दर्शम् देवम्**=उस कठिनतासे देखे जानेवाले परमात्मदेवको; **धीरः**=शुद्ध बुद्धियुक्त साधक; **अध्यात्मयोगाधिगमेन**=अध्यात्मयोगकी प्राप्तिके द्वारा; **मत्वा**=समझकर; **हर्षशोकौ जहाति**=हर्ष और शोकको त्याग देता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—यह सम्पूर्ण जगत् एक अत्यन्त दुर्गम गहन वनके सदृश है, परंतु यह परब्रह्म परमेश्वरसे परिपूर्ण है । वह सर्वव्यापी इसमें सर्वत्र प्रविष्ट है (गीता ९ । ४) । वह सबके हृदयरूपी गुफामें स्थित है । (गीता १३ । १८; १५ । १५;

मैं जानता हूँ कि कर्मफलरूप निधि अनित्य है; क्योंकि अनित्य साधनोंसे परमात्मारूपी नित्य निधि नहीं मिल सकती । यह जानते हुए भी मैंने स्वर्गके साधनभूत नाचिकेत अग्निका अनित्य पदार्थोंके द्वारा चयन किया था; उसीसे मैंने अधिकारसम्पन्न होकर यह आपेक्षिक नित्य (दूसरे पदोंकी अपेक्षा अधिक कालतक रहनेवाला तथा श्रेष्ठ) यमराजका पद प्राप्त किया ।

* १—इसका अर्थ एक आदरणीय महानुभाव इस प्रकार करते हैं—

नचिकेता ! तुमने उस परमपदार्थ परमात्माके सम्मुख जगत्की चरम सीमाके भोग, प्रतिष्ठा, यज्ञका अनन्त फलरूप हिरण्यगर्भका पद, अभयकी मर्यादा (चिरकालस्थायी दीर्घजीवन), स्तुत्य और महान् अणिमादि ऐश्वर्य, शुभफल और अत्युत्तम गति—इन सभीको हेय समझकर धैर्यके द्वारा त्याग दिया है । इसलिये तुम बड़े ही बुद्धिमान् हो ।

२—एक दूसरे महानुभावने इसका अर्थ यों किया है—

जहाँ कामनाकी परिसमाप्ति हो जाती है, जो जगत्का आधार है, जहाँ ज्ञानकी अनन्तता है, जो अभयकी सीमा है, जो सबके द्वारा स्तुतिके योग्य है, जो सबसे महान् है, जिसकी सब स्तुति करते हैं और जो आप ही अपनी प्रतिष्ठा है, उस परमात्माको देखकर—उसको सामने रखकर बड़े धैर्यके साथ तुमने इस अनित्य निधिका त्याग कर दिया है; इसलिये तुम बड़े बुद्धिमान् हो ।

१८ । ६१) । इस प्रकार नित्य साथ रहनेपर भी लोग उसे सहजमें देख नहीं पाते; क्योंकि वह अपनी योगमायाके पर्देमें छिपा है (गीता ७ । २५), इसलिये अत्यन्त गुप्त है। उसके दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं। जो शुद्ध-बुद्धिसम्पन्न साधक अपने मन-बुद्धिको नित्य निरन्तर उसके चिन्तनमें संलग्न रखता है, वह उस सनातन देवको प्राप्त करके सदाके लिये हर्ष-शोकसे रहित हो जाता है। उसके अन्तःकरणमेंसे हर्ष-शोकादिके विकार समूल नष्ट हो जाते हैं* ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

मर्त्यः=मनुष्य (जब); **एतत्**=इस; **धर्म्यम्**=धर्ममय (उपदेश) को; **श्रुत्वा**=सुनकर; **सम्परिगृह्य**=भलीभाँति ग्रहण करके; **प्रवृह्य**=(और) उसपर विवेकपूर्वक विचार करके; **एतम्**=इस; **अणुम्**=सूक्ष्म आत्मतत्त्वको; **आप्य**=जानकर अनुभव कर लेता है, (तब); **सः**=वह; **मोदनीयम्**=आनन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको; **लब्ध्वा**=पाकर; **मोदते हि**= आनन्दमें ही मग्न हो जाता है; **नचिकेतसम्**=तुम नचिकेताके लिये; **विवृतम् सद्म मन्ये**=(मैं) परमधामका द्वार खुला हुआ मानता हूँ ॥ १३ ॥

व्याख्या—इस अध्यात्मविषयक धर्ममय उपदेशको पहले तो अनुभवी महापुरुषके द्वारा अतिशय श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिये; सुनकर उसका मनन करना चाहिये। तदनन्तर एकान्तमें उसपर विचार करके बुद्धिमें उसको स्थिर करना चाहिये। इस प्रकार साधन करनेपर जब मनुष्यको आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् जब वह आत्माको तत्त्वसे समझ लेता है, तब आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। उस आनन्दके महान् समुद्रको पाकर वह उसमें निमग्न हो जाता है। हे नचिकेता! तुम्हारे लिये उस परमधामका द्वार खुला हुआ है। तुमको वहाँ जानेसे कोई रोक नहीं सकता। तुम ब्रह्म-प्राप्तिके उत्तम अधिकारी हो, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—यमराजके मुखसे परब्रह्म पुरुषोत्तमकी महिमा सुनकर और अपनेको उसका अधिकारी जानकर नचिकेताके मनमें परमात्मतत्त्वकी जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी। साथ ही उसे यमराजके द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर साधु-सम्मत सङ्कोच भी हुआ। इसलिये उसने यमराजसे बीचमें ही पूछा—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

यत् तत्=जिस उस परमेश्वरको; **धर्मात् अन्यत्र**=धर्मसे अतीत; **अधर्मात् अन्यत्र**=अधर्मसे भी अतीत; **च**=तथा; **अस्मात् कृताकृतात्**=इस कार्य और कारणरूप सम्पूर्ण जगत्से भी; **अन्यत्र च**=भिन्न और; **भूतात् भव्यात्**= भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्—तीनों कालोंसे तथा इनसे सम्बन्धित पदार्थोंसे भी; **अन्यत्र**=पृथक्; **पश्यसि**=(आप) जानते हैं; **तत्**=उसे; **वद**=बतलाइये ॥ १४ ॥

व्याख्या—नचिकेता कहता है—भगवन्! आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो धर्म और अधर्मके सम्बन्धसे रहित, कार्य-कारणरूप प्रकृतिसे पृथक् एवं भूत, वर्तमान और भविष्यत्—इन सबसे भिन्न जिस परमात्मतत्त्वको आप जानते हैं, उसे मुझको बतलाइये† ॥ १४ ॥

---

* १–कुछ आदरणीय महानुभावोंने इसका अर्थ यों किया है कि—

'उस दुर्दर्श, शब्दादि प्राकृत विषयविकाररूप विज्ञानसे छिपे हुए, बुद्धिमें स्थित, अनेक अनर्थोंसे व्याप्त देहमें स्थित, चिरन्तन—पुरातन देवको जो अध्यात्मयोगकी प्राप्तिके द्वारा जान लेता है, वह धीर पुरुष हर्ष-शोकका परित्याग कर देता है।

२–प्रातःस्मरणीय भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजीने भी ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें इस प्रकरणको परमात्मविषयक माना है ('प्रकरणं चेदं परमात्मनः'—देखिये ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पा० २, के १२ वें सूत्रका भाष्य)।

† भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजीने इस प्रकरणको भी अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें परमेश्वरविषयक ही माना है ('पृष्टं चेह ब्रह्म'—देखिये ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पा० ३ के २४ वें सूत्रका भाष्य)।

सम्बन्ध—नचिकेताके इस प्रकार पूछनेपर यमराज उस ब्रह्मतत्त्वके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उपदेश आरम्भ करते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

सर्वे वेदाः=सम्पूर्ण वेद; **यत् पदम्**=जिस परम पदका; **आमनन्ति**=बारंबार प्रतिपादन करते हैं; **च**=और; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **तपांसि**=तप; **यत्**=जिस पदका; **वदन्ति**=लक्ष्य कराते हैं अर्थात् वे जिसके साधन हैं; **यत् इच्छन्तः**=जिसको चाहनेवाले साधकगण; **ब्रह्मचर्यम्**=ब्रह्मचर्यका; **चरन्ति**=पालन करते हैं; **तत् पदम्**=वह पद; **ते**=तुम्हें; **संग्रहेण**=संक्षेपसे; **ब्रवीमि**=(मैं) बतलाता हूँ; (वह है) **ओम्**=ओम्; **इति**=ऐसा; **एतत्**=यह (एक अक्षर) ॥ १५ ॥

व्याख्या—यमराज यहाँ परब्रह्म पुरुषोत्तमको परमप्राप्य बतलाकर, उसके वाचक ॐकारको प्रतीकरूपसे उसका स्वरूप बतलाते हैं। वे कहते हैं कि समस्त वेद नाना प्रकार और नाना छन्दोंसे जिसका प्रतिपादन करते हैं, सम्पूर्ण तप आदि साधनोंका जो एकमात्र परम और चरम लक्ष्य है तथा जिसको प्राप्त करनेकी इच्छासे साधक निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान किया करते हैं, उस पुरुषोत्तम भगवान्का परमतत्त्व मैं तुम्हें संक्षेपमें बतलाता हूँ। वह है 'ॐ' यह एक अक्षर ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—नामरहित होनेपर भी परमात्मा अनेक नामोंसे पुकारे जाते हैं। उनके सब नामोंमेंसे 'ओम्' सर्वश्रेष्ठ माना गया है; अतः यहाँ नाम और नामीका अभेद मानकर 'प्रणव'को परब्रह्म पुरुषोत्तमके स्थानमें वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

एतत्=यह; **अक्षरम् एव हि ब्रह्म**=अक्षर ही तो ब्रह्म है (और); **एतत्**=यह; **अक्षरम् एव हि**=अक्षर ही; **परम्**=परब्रह्म है; **एतत् एव हि**=इसी; **अक्षरम्**=अक्षरको; **ज्ञात्वा**=जानकर; **यः**=जो; **यत्**=जिसको; **इच्छति**=चाहता है; **तस्य**=उसको; **तत्**=वही (मिल जाता है) ॥ १६ ॥

व्याख्या—यह अविनाशी प्रणव—ॐकार ही तो ब्रह्म (परमात्मा) का निर्विशेष स्वरूप है और यही स्वयं समग्र ब्रह्म परम पुरुष पुरुषोत्तम है अर्थात् उस ब्रह्म और परब्रह्म दोनोंका ही नाम ॐकार है। अतः इस तत्त्वको समझकर साधक इसके द्वारा दोनोंमेंसे किसी भी अभीष्ट रूपको प्राप्त कर सकता है * ॥ १६ ॥

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

एतत्=यही; **श्रेष्ठम्**=अत्युत्तम; **आलम्बनम्**=आलम्बन है; **एतत्**=यही (सबका); **परम् आलम्बनम्**=अन्तिम आश्रय है; **एतत्**=इस; **आलम्बनम्**=आलम्बनको; **ज्ञात्वा**=भलीभाँति जानकर; **ब्रह्मलोके**=ब्रह्मलोकमें; **महीयते**=(साधक) महिमान्वित होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—यह ॐकार ही परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारके आलम्बनोंमेंसे सबसे श्रेष्ठ आलम्बन है और यही चरम आलम्बन है। इससे परे और कोई आलम्बन नहीं है अर्थात् परमात्माके श्रेष्ठ नामकी शरण हो जाना ही उनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम एवं अमोघ साधन है। इस रहस्यको समझकर जो साधक श्रद्धा और प्रेमपूर्वक इसपर निर्भर करता है, वह निस्सन्देह परमात्माकी प्राप्तिका परम गौरव लाभ करता है ॥ १७ ॥

---

* इस मन्त्रका यह अर्थ भी किया गया है—

यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है। यह दोनोंका ही प्रतीक है। इसीको उपास्य ब्रह्म जानकर जो 'पर' अथवा—'अपर' जिस ब्रह्मकी इच्छा करता है वह उसीको प्राप्त हो जाता है। यदि उसका उपास्य परब्रह्म (निर्विशेष आत्मा) हो तो वह केवल जाना जा सकता है और यदि अपरब्रह्म (सविशेष सगुण) हो तो प्राप्त किया जा सकता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार ॐकारको ब्रह्म और परब्रह्म इन दोनोंका प्रतीक बताकर अब नचिकेताके प्रश्नानुसार यमराज पहले आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

विपश्चित्=नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा; **न जायते**=न तो जन्मता है; **वा न म्रियते**=और न मरता ही है; **अयम् न**=यह न तो स्वयं; **कुतश्चित्**=किसीसे हुआ है; [**न**=न (इससे);] **कश्चित्**=कोई भी; **बभूव**=हुआ है अर्थात् यह न तो किसीका कार्य है और न कारण ही है; **अयम्**=यह; **अजः**=अजन्मा; **नित्यः**=नित्य; **शाश्वतः**=सदा एकरस रहनेवाला (और); **पुराणः**=पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धिसे रहित है; **शरीरे हन्यमाने**=शरीरके नाश किये जानेपर भी (इसका); **न हन्यते**=नाश नहीं किया जा सकता* ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳ हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

चेत्=यदि कोई; **हन्ता**=मारनेवाला व्यक्ति; **हन्तुम्**=अपनेको मारनेमें समर्थ; **मन्यते**=मानता है (और); **चेत्**=यदि; **हतः**=(कोई) मारा जानेवाला व्यक्ति; **हतम्**=अपनेको मारा गया; **मन्यते**=समझता है (तो); **तौ उभौ**=वे दोनों ही; **न विजानीतः**=(आत्मस्वरूपको) नहीं जानते (क्योंकि); **अयम्**=यह आत्मा; **न हन्ति**=न तो (किसीको) मारता है (और); **न हन्यते**=न मारा (ही) जाता है† ॥ १९ ॥

व्याख्या—यमराज यहाँ आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उसकी नित्यताका निरूपण करते हैं; क्योंकि जबतक साधकको अपनी नित्यता और निर्विकारताका अनुभव नहीं हो जाता एवं वह जबतक अपनेको शरीर आदि अनित्य वस्तुओंसे भिन्न नहीं समझ लेता, तबतक इन अनित्य पदार्थोंसे उसका वैराग्य होकर उसके अन्तःकरणमें नित्य तत्त्वकी अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती। उसको यह दृढ़ अनुभूति होनी चाहिये कि जीवात्मा नित्य चेतन ज्ञानस्वरूप है; अनित्य, विनाशी, जड शरीर और भोगोंसे वास्तवमें इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अनादि और अनन्त है, न तो इसका कोई कारण है और न कार्य ही; अतः यह जन्म-मरणसे सर्वथा रहित, सदा एकरस, सर्वथा निर्विकार है। शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता। जो लोग इसको मारनेवाला या मरनेवाला मानते हैं, वे वस्तुतः आत्मस्वरूपको जानते ही नहीं; वे सर्वथा भ्रान्त हैं। उनकी बातोंपर ध्यान नहीं देना चाहिये। वस्तुतः आत्मा न तो किसीको मारता है और न इसे कोई मार ही सकता है।

साधकको शरीर और भोगोंकी अनित्यता और अपने आत्माकी नित्यतापर विचार करके, इन अनित्य भोगोंसे सुखकी आशाका त्याग करके सदा अपने साथ रहनेवाले नित्य सुखस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त करनेका अभिलाषी बनना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

---

* गीतामें इस मन्त्रके भावको इस प्रकार समझाया गया है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (२।२०)

'यह आत्मा किसी भी कालमें न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

† गीतामें इस मन्त्रके भावको और भी स्पष्टरूपसे व्यक्त किया गया है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ (२।१९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मारा गया मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है, न किसीके द्वारा मारा जाता है।'

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्मतत्त्वके वर्णनद्वारा नचिकेताके अन्तःकरणमें परब्रह्म पुरुषोत्तमके तत्त्वकी जिज्ञासा उत्पन्न करके यमराज अब परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

अस्य=इस; **जन्तोः**=जीवात्माके; **गुहायाम्**=हृदयरूप गुफामें; **निहितः**=रहनेवाला; **आत्मा**=परमात्मा; **अणोः अणीयान्**=सूक्ष्मसे अति सूक्ष्म (और); **महतः महीयान्**=महान्से भी महान् है; **आत्मनः तम् महिमानम्**=परमात्माकी उस महिमाको; **अक्रतुः**=कामनारहित (और); **वीतशोकः**=चिन्तारहित कोई बिरला साधक; **धातुप्रसादात्**=सर्वाधार परब्रह्म परमेश्वरकी कृपासे ही; **पश्यति**=देख पाता है ॥ २० ॥

व्याख्या—इससे पहले जीवात्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन किया गया है, उसीको इस मन्त्रमें 'जन्तु' नाम देकर उसकी बद्धावस्था व्यक्त की गयी है । भाव यह कि यद्यपि परब्रह्म पुरुषोत्तम उस जीवात्माके अत्यन्त समीप—जहाँ यह स्वयं रहता है, वहीं हृदयमें छिपे हुए हैं, तो भी यह उनकी ओर नहीं देखता । मोहवश भोगोंमें भूला रहता है । इसी कारण यह 'जन्तु' है—मनुष्य-शरीर पाकर भी कीट-पतङ्ग आदि तुच्छ प्राणियोंकी भाँति अपना दुर्लभ जीवन व्यर्थ नष्ट कर रहा है । जो साधक पूर्वोक्त विवेचनके अनुसार अपने-आपको नित्य चेतनस्वरूप समझकर सब प्रकारके भोगोंकी कामनासे रहित और शोकरहित हो जाता है, वह परमात्माकी कृपासे यह अनुभव करता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम अणुसे भी अणु और महान्-से भी महान्—सर्वव्यापी हैं और इस प्रकार उनकी महिमाको समझकर उनका साक्षात्कार कर लेता है । (यहाँ 'धातु-प्रसादात्'का अर्थ 'परमेश्वरकी कृपा' किया गया है । 'धातु' शब्दका अर्थ सर्वधारक परमात्मा माना गया है । विष्णुसहस्र-नाममें भी 'अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुत्तमः'—'धातु'को भगवान्का एक नाम माना गया है* ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

आसीनः=(वह परमेश्वर) बैठा हुआ ही; **दूरम् व्रजति**=दूर पहुँच जाता है; **शयानः**=सोता हुआ (भी); **सर्वतः**=सब ओर; **याति**=चलता रहता है; **तम् मदामदम् देवम्**=उस ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त न होनेवाले देवको; **मदन्यः कः**=मुझसे भिन्न दूसरा कौन; **ज्ञातुम्**=जाननेमें; **अर्हति**=समर्थ है ॥ २१ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्मा अचिन्त्यशक्ति हैं और विरुद्धधर्माश्रय हैं । एक ही समयमें उनमें विरुद्ध धर्मोंकी लीला होती है । इसीसे वे एक ही साथ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् बताये गये हैं । यहाँ यह कहते हैं कि वे परमेश्वर अपने नित्य परमधाममें विराजमान रहते हुए ही भक्ताधीनतावश उनकी पुकार सुनते ही दूर-से-दूर चले जाते हैं । परम धाममें निवास करनेवाले पार्षद भक्तोंकी दृष्टिमें वहाँ शयन करते हुए ही वे सब ओर चलते रहते हैं । अथवा वे परमात्मा सदा-सर्वदा सर्वत्र स्थित हैं । उनकी सर्वव्यापकता ऐसी है कि बैठे भी वही हैं, दूर देशमें चलते भी वही हैं, सोते भी वही हैं और सब ओर जाते-आते भी वही हैं । वे सर्वत्र सब रूपोंमें नित्य अपनी महिमामें स्थित हैं । इस प्रकार अलौकिक परमैश्वर्य-स्वरूप होनेपर भी उन्हें अपने ऐश्वर्यका तनिक भी अभिमान नहीं है । उन परमदेवको जाननेका अधिकारी उनका कृपापात्र मेरे (आत्मतत्त्वज्ञ यमराजके सदृश अधिकारियोंके) सिवा दूसरा कौन हो सकता है ?† ॥ २१ ॥

---

* एक आदरणीय महानुभावने इसका निम्नलिखित अर्थ करते हुए 'धातुप्रसादात्'का अर्थ 'इन्द्रियोंकी निर्मलता' माना है—

'……यह आत्मा ही सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर और महान्-से-महान् है; क्योंकि नाम-रूपवाली सभी वस्तुएँ इसकी उपाधि हैं । बाह्य विषयोंसे उपरत दृष्टिवाला निष्काम साधक अपनी इन्द्रियों—जो शरीरको धारण करनेके कारण 'धातु' कहलाती हैं—के प्रसाद—निर्मलतासे उस आत्माकी कर्मनिमित्तक वृद्धि और क्षयसे रहित महिमाको देखता है, अर्थात् इस बातको साक्षात् जानता है कि यह मैं हूँ, तदनन्तर वह शोकरहित हो जाता है ।

† कुछ आदरणीय महानुभावोंने ऐसा अर्थ किया है—

वह अचल होकर भी दूर चला जाता है तथा शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है, इस प्रकार वह आत्मा समद और

सम्बन्ध—अब इस प्रकार उन परमेश्वरकी महिमाको समझनेवाले पुरुषकी पहचान बताते हैं—

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

अनवस्थेषु=(जो) स्थिर न रहनेवाले (विनाशशील); **शरीरेषु**=शरीरोंमें; **अशरीरम्**=शरीररहित (एवं); **अवस्थितम्**=अविचलभावसे स्थित है; **महान्तम्**=(उस) महान्; **विभुम्**=सर्वव्यापी; **आत्मानम्**=परमात्माको; **मत्वा**=जानकर; **धीरः**=बुद्धिमान् महापुरुष; **न शोचति**=(कभी किसी भी कारणसे) शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

व्याख्या—प्राणियोंके शरीर अनित्य और विनाशशील हैं, इनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इन सबमें समभावसे स्थित परब्रह्म पुरुषोत्तम इन शरीरोंसे सर्वथा रहित, अशरीरी हैं। इसी कारण वे नित्य और अचल हैं। प्राकृत देश-काल-गुणादिसे अपरिच्छिन्न उन महान्, सर्वव्यापी, सबके आत्मरूप परमेश्वरको जान लेनेके बाद वह ज्ञानी महापुरुष कभी किसी भी कारणसे किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं करता। यही उसकी पहचान है* ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—अब यह बतलाते हैं कि वे परमात्मा अपने पुरुषार्थसे नहीं मिलते, वरं उसीको मिलते हैं, जिसको वे स्वीकार कर लेते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥ २३ ॥

अयम्=यह; **आत्मा न**=परब्रह्म परमात्मा न तो; **प्रवचनेन**=प्रवचनसे; **न मेधया**=न बुद्धिसे (और); **न बहुना श्रुतेन**=न बहुत सुननेसे ही; **लभ्यः**=प्राप्त हो सकता है; **यम्**=जिसको; **एषः**=यह; **वृणुते**=स्वीकार कर लेता है; **तेन एव लभ्यः**=उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है (क्योंकि); **एषः आत्मा**=यह परमात्मा; **तस्य**=उसके लिये; **स्वाम् तनूम्**=अपने यथार्थ स्वरूपको; **विवृणुते**=प्रकट कर देता है ॥ २३ ॥

व्याख्या—जिन परमेश्वरकी महिमाका वर्णन मैं कर रहा हूँ, वे न तो उनको मिलते हैं, जो शास्त्रोंको पढ़-सुनकर लच्छेदार भाषामें परमात्म-तत्त्वका नाना प्रकारसे वर्णन करते हैं; न उन तर्कशील बुद्धिमान् मनुष्योंको ही मिलते हैं, जो बुद्धिके अभिमानमें प्रमत्त हुए तर्कके द्वारा विवेचन करके उन्हें समझनेकी चेष्टा करते हैं; और न उनको ही मिलते हैं, जो परमात्माके विषयमें बहुत कुछ सुनते रहते हैं। वे तो उसीको प्राप्त होते हैं, जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और वे स्वीकार उसीको करते हैं, जिसको उनके लिये उत्कट इच्छा होती है, जो उनके बिना रह नहीं सकता। परंतु जो अपनी बुद्धि या साधनपर भरोसा न करके केवल उनकी कृपाकी ही प्रतीक्षा करता रहता है, ऐसे कृपा-निर्भर साधकपर परमात्मा कृपा करते हैं और योगमायाका परदा हटाकर उसके सामने अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें प्रकट हो जाते हैं† ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—अब यह बतलाते हैं कि परमात्मा किसको प्राप्त नहीं होते—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

अमद—हर्षसहित और हर्षरहित—इस प्रकार विरुद्ध धर्मवाला है। उस मदयुक्त और मदरहित देवको मेरे सिवा और कौन जान सकता है ?

* इस मन्त्रका यह अर्थ भी माना गया है—

आत्मा अपने स्वरूपसे आकाशके समान है, अतः देव, पितृ और मनुष्यादि शरीरोंमें शरीररहित है, अवस्थितिरहित—अनित्योंमें अवस्थित नित्य अविकारी है; उस महान् और सर्वव्यापक आत्माको 'यही मैं हूँ' ऐसा जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता।

† इस मन्त्रका यह अर्थ भी माना गया है—

यह आत्मा वेदोंके प्रवचनसे विदित होने योग्य नहीं है, न मेधा—ग्रन्थ-धारणकी शक्तिसे ही, और न केवल बहुत श्रवण करनेसे

प्रज्ञानेन=सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा; **अपि**=भी; **एनम्**=इस परमात्माको; **न दुश्चरितात् अविरतः आप्नुयात्**=न तो वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो बुरे आचरणोंसे निवृत्त नहीं हुआ है; **न अशान्तः**=न वह प्राप्त कर सकता है, जो अशान्त है; **न असमाहितः**=न वह कि जिसके मन, इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं; **वा**=और; **न अशान्तमानसः (आप्नुयात्)**=न वही प्राप्त करता है, जिसका मन चञ्चल है ॥ २४ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य बुरे आचरणोंसे घृणा करके उनका त्याग नहीं कर देता, जिसका मन परमात्माको छोड़कर दिन-रात सांसारिक भोगोंमें भटकता रहता है, परमात्मापर विश्वास न होनेके कारण जो सदा अशान्त रहता है, जिसका मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें की हुई नहीं हैं; ऐसा मनुष्य सूक्ष्म बुद्धिद्वारा आत्मविचार करते रहनेपर भी परमात्माको नहीं पा सकता। क्योंकि वह परमात्माकी असीम कृपाका आदर नहीं करता, उसकी अवहेलना करता रहता है; अतः वह उनकी कृपाका अधिकारी नहीं होता ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—उस परब्रह्म परमेश्वरके तत्त्वको सुनकर और बुद्धिद्वारा विचार करके भी मनुष्य उसे क्यों नहीं जान सकता ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

यस्य=(संहारकालमें) जिस परमेश्वरके; **ब्रह्म च क्षत्रम् च उभे**=ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों ही अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र; **ओदनः**=भोजन; **भवतः**=बन जाते हैं (तथा); **मृत्युः यस्य**=सबका संहार करनेवाली मृत्यु (भी) जिसका; **उपसेचनम्**=उपसेचन (भोज्य वस्तुके साथ लगाकर खानेका व्यञ्जन, तरकारी आदि); [**भवति** =बन जाती है;] **सः यत्र**=वह परमेश्वर जहाँ (और); **इत्था**=जैसा है, यह ठीक-ठीक; **कः वेद**=कौन जानता है ॥ २५ ॥

व्याख्या—मनुष्य-शरीरमें भी धर्मशील ब्राह्मण और धर्मरक्षक क्षत्रियका शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये अधिक उत्तम माना गया है; किंतु वे भी उन कालस्वरूप परमेश्वरके भोजन बन जाते हैं, फिर अन्य साधारण मनुष्य-शरीरोंकी तो बात ही क्या है। जो सबको मारनेवाले मृत्युदेव हैं, वे भी उन परमेश्वरके उपसेचन अर्थात् भोजनके साथ लगाकर खाये जानेवाले व्यञ्जन—चटनी-तरकारी आदिकी भाँति हैं। ऐसे ब्राह्मण-क्षत्रियादि समस्त प्राणियोंके और स्वयं मृत्युके संहारक अथवा आश्रयदाता परमेश्वरको भला, कोई भी मनुष्य इन अनित्य मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा अन्य ज्ञेय वस्तुओंकी भाँति कैसे जान सकता है। किसकी सामर्थ्य है, जो सबके जाननेवालेको जान ले। अतः (पूर्वोक्त २३ वें मन्त्रके अनुसार) जिसको परमात्मा अपनी कृपाका पात्र बनाकर अपना तत्त्व समझाना चाहते हैं, वही उनको जान सकता है। अपनी शक्तिसे उन्हें कोई भी यथार्थ रूपमें नहीं जान सकता, क्योंकि वे लौकिक ज्ञेय वस्तुओंकी भाँति बुद्धिके द्वारा जाननेमें आनेवाले नहीं हैं ॥ २५ ॥

॥ द्वितीय वल्ली समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय वल्ली

सम्बन्ध—द्वितीय वल्लीमें जीवात्मा और परमात्माके स्वरूपका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया और उनको जानकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेनेका फल भी बतलाया गया। संक्षेपमें यह बात भी कही गयी कि जिसको वे परमात्मा स्वीकार करते हैं, वही उन्हें जान सकता है; परंतु परमात्माको प्राप्त करनेके साधनोंका वहाँ स्पष्टरूपसे वर्णन नहीं हुआ; अतः साधनोंका वर्णन करनेके लिये तृतीय वल्लीका आरम्भ करते हुए यमराज पहले मन्त्रमें जीवात्मा और परमात्माका नित्य सम्बन्ध और निवास-स्थान बतलाते हैं—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

ही जाना जा सकता है। साधक जिस आत्माका वरण करता है, उस वरण करनेवाले आत्माके द्वारा यह आत्मा स्वयं ही प्राप्त किया जाता है। उस आत्मकामीके प्रति वह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूपको यथार्थ रूपमें प्रकट कर देता है।

सुकृतस्य लोके=शुभ कर्मोंके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरमें; **परमे परार्धे**=परब्रह्मके उत्तम निवास-स्थान (हृदय-आकाश) में; **गुहाम् प्रविष्टौ**=बुद्धिरूप गुफामें छिपे हुए; **ऋतम् पिबन्तौ**=सत्यका पान करनेवाले (दो हैं); **छायातपौ**=(वे) छाया और आतपकी भाँति परस्पर भिन्न हैं; (यह बात) **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महापुरुष; **वदन्ति**=कहते हैं; **च ये**=तथा जो; **त्रिणाचिकेताः**=तीन बार नाचिकेत अग्निका चयन कर लेनेवाले (और); **पञ्चाग्नयः**=पञ्चाग्निसम्पन्न गृहस्थ हैं; [**ते वदन्ति**=वे भी यही बात कहते हैं] ॥ १ ॥

व्याख्या—यमराजने यहाँ जीवात्मा और परमात्माके नित्य सम्बन्धका परिचय देते हुए कहा कि ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महानुभाव तथा यज्ञादि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले आस्तिक सज्जन—सभी एक स्वरसे यही कहते हैं कि यह मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है। पूर्वजन्मार्जित अनेकों पुण्यकर्मोंको निमित्त बनाकर परम कृपालु परमात्मा कृपापरवश हो जीवको उसके कल्याण-सम्पादनके लिये यह श्रेष्ठ शरीर प्रदान करते हैं और फिर उस जीवात्माके साथ ही स्वयं भी उसीके हृदयके अन्तस्तलमें—परब्रह्मके निवासस्वरूप श्रेष्ठ स्थानमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो रहते हैं। इतना ही नहीं, वे दोनों साथ-ही-साथ वहाँ सत्यका पान करते हैं—शुभ कर्मोंके अवश्यम्भावी सत्फलका भोग करते हैं (गीता ५-२९)। अवश्य ही दोनोंके भोगमें बड़ा अन्तर है। परमात्मा असंग और अभोक्ता हैं; उनका प्रत्येक प्राणीके हृदयमें निवास करके उसके शुभकर्मोंके फलका उपभोग करना उनकी वैसी ही लीला है, जैसी अजन्मा होकर जन्म ग्रहण करना। इसलिये यह कहा जाता है कि वे भोगते हुए भी वस्तुतः नहीं भोगते। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि परमात्मा सत्यको पिलाते हैं—शुभ कर्मका फल भुगताते हैं, और जीवात्मा पीता है—फल भोगता है। परंतु जीवात्मा फलभोगके समय असंग नहीं रहता। वह अभिमानवश उसमें सुखका उपभोग करता है। इस प्रकार साथ रहनेपर भी जीवात्मा और परमात्मा दोनों छाया और धूपकी भाँति परस्पर भिन्न हैं। जीवात्मा छायाकी भाँति अल्पप्रकाश—अल्पज्ञ है, और परमात्मा धूपकी भाँति पूर्णप्रकाश—सर्वज्ञ। परन्तु जीवात्मामें जो कुछ अल्पज्ञान है, वह भी परमात्माका ही है, जैसे छायामें अल्पप्रकाश पूर्णप्रकाशरूप धूपका ही होता है।*

इस रहस्यको समझकर मनुष्यको अपनेमें किसी प्रकारकी भी शक्ति-सामर्थ्यका अभिमान नहीं करना चाहिये और अन्तर्यामीरूपसे सदा-सर्वदा अपने हृदयमें रहनेवाले परम आत्मीय परम कृपालु परमात्माका नित्य निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये ॥ १ ॥

सम्बन्ध—परमात्माको जानने और प्राप्त करनेका जो सर्वोत्तम साधन 'उन्हें जानने और पानेकी शक्ति प्रदान करनेके लिये उन्हींसे प्रार्थना करना है' इस बातको यमराज स्वयं प्रार्थना करते हुए बतलाते हैं—

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि ॥ २ ॥

ईजानानाम्=यज्ञ करनेवालोंके लिये; **यः सेतुः**=जो दुःख-समुद्रसे पार पहुँचा देने योग्य सेतु है; (**तम्**) **नाचिकेतम्**=उस नाचिकेत अग्निको (और); **पारम् तितीर्षताम्**=संसार-समुद्रसे पार होनेकी इच्छावालोंके लिये; **यत् अभयम्**=जो भयरहित पद है; (**तत्**) **अक्षरम्**=उस अविनाशी; **परम् ब्रह्म**=परब्रह्म पुरुषोत्तमको; **शकेमहि**=जानने और प्राप्त करनेमें भी हम समर्थ हों ॥ २ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं कि हे परमात्मन्! आप हमें वह सामर्थ्य दीजिये, जिससे हम निष्कामभावसे यज्ञादि शुभ कर्म करनेकी विधिको भलीभाँति जान सकें और आपके आज्ञापालनार्थ उनका अनुष्ठान करके आपकी प्रसन्नता प्राप्त कर सकें। तथा जो संसार-समुद्रसे पार होनेकी इच्छावाले विरक्त पुरुषोंके लिये निर्भयपद है, उस परम अविनाशी आप परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌को भी जानने और प्राप्त करनेके योग्य बन जायँ।

इस मन्त्रमें यमराजने परमात्मासे उन्हें जाननेकी शक्ति प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करके यह भाव दिखलाया है कि परब्रह्म पुरुषोत्तमको जानने और प्राप्त करनेका सबसे उत्तम और सरल साधन उनसे प्रार्थना करना ही है ॥ २ ॥

* इस मन्त्रमें 'जीवात्मा' और 'परमात्मा'को ही गुहामें प्रविष्ट बतलाया गया है, 'बुद्धि' और 'जीव'को नहीं। 'गुहाहितत्वं तु…… परमात्मन एव दृश्यते' (देखिये—ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पाद २ सू० ११ का शाङ्करभाष्य)।

सम्बन्ध—अब उस परब्रह्म पुरुषोत्तमके परमधाममें किन साधनोंसे सम्पन्न मनुष्य पहुँच सकता है, यह बात रथ और रथी-के रूपककी कल्पना करके समझायी जाती है—

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

आत्मानम्=(हे नचिकेता ! तुम) जीवात्माको तो; **रथिनम्**=रथका स्वामी (उसमें बैठकर चलनेवाला); **विद्धि**=समझो; **तु**=और; **शरीरम् एव**=शरीरको ही; **रथम्**=रथ (समझो); **तु बुद्धिम्**=तथा बुद्धिको; **सारथिम्**=सारथि (रथको चलानेवाला); **विद्धि**=समझो; **च मनः एव**=और मनको ही; **प्रग्रहम्**=लगाम (समझो) ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

मनीषिणः=ज्ञानीजन (इस रूपकमें); **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियोंको; **हयान्**=घोड़े; **आहुः**=बतलाते हैं (और); **विषयान्**=विषयोंको; **तेषु गोचरान्**=उन घोड़ोंके विचरनेका मार्ग (बतलाते हैं); **आत्मेद्रियमनोयुक्तम्**=(तथा) शरीर, इन्द्रिय और मन—इन सबके साथ रहनेवाला जीवात्मा ही; **भोक्ता**=भोक्ता है; **इति आहुः**=यों कहते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—जीवात्मा परमात्मासे बिछुड़ा हुआ है अनन्त कालसे, वह अनवरत संसाररूपी बीहड़ वनमें इधर-उधर सुखकी खोजमें भटक रहा है । सुख समझकर जहाँ भी जाता है, वहीं धोखा खाता है । सर्वथा साधनहीन और दयनीय है । जबतक वह परम सुखस्वरूप परमात्माके समीप नहीं पहुँच जाता, तबतक उसे सुख-शान्ति कभी नहीं मिल सकती । उसकी इस दयनीय दशाको देखकर दयामय परमात्माने उसे मानव-शरीररूपी सुन्दर सर्वसाधनसम्पन्न रथ दिया । इन्द्रियरूप बलवान् घोड़े दिये । उनके मनरूपी लगाम लगाकर उसे बुद्धिरूपी सारथिके हाथोंमें सौंप दिया और जीवात्माको उस रथमें बैठाकर—उसका स्वामी बनाकर यह बतला दिया कि वह निरन्तर बुद्धिको प्रेरणा करता रहे और परमात्माकी ओर ले जानेवाले भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम आदिके श्रवण, कीर्तन, मननादि विषयरूप प्रशस्त और सहज मार्गपर चलकर शीघ्र परमात्माके धाममें पहुँच जाय ।

जीवात्मा यदि ऐसा करता तो वह शीघ्र ही परमात्मातक पहुँच जाता; परंतु वह अपने परमानन्दमय भगवत्प्राप्तिरूप इस महान् लक्ष्यको मोहवश भूल गया । उसने बुद्धिको प्रेरणा देना बंद कर दिया, जिससे बुद्धिरूपी सारथि असावधान हो गया, उसने मनरूपी लगामको इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंकी इच्छापर छोड़ दिया । परिणाम यह हुआ कि जीवात्मा विषयप्रवण इन्द्रियोंके अधीन होकर सतत संसारचक्रमें डालनेवाले लौकिक शब्द-स्पर्शादि विषयोंमें भटकने लगा । अर्थात् वह जिन शरीर, इन्द्रिय, मनके सहयोगसे भगवान्‌को प्राप्त करता, उन्हींके साथ युक्त होकर वह विषय-विषके उपभोगमें लग गया ॥ ३-४ ॥

सम्बन्ध—परमात्माकी ओर न जाकर उसकी इन्द्रियाँ लौकिक विषयोंमें क्यों लग गयीं, इसका कारण बतलाते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

यः सदा=जो सदा; **अविज्ञानवान् तु**=विवेकहीन बुद्धिवाला (और); **अयुक्तेन**=अवशीभूत (चञ्चल); **मनसा**=मनसे (युक्त); **भवति**=रहता है; **तस्य**=उसकी; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ; **सारथेः**=असावधान सारथिके; **दुष्टाश्वाः इव**=दुष्ट घोड़ोंकी भाँति; **अवश्यानि**=वशमें न रहनेवाली; [**भवन्ति**=हो जाती हैं] ॥ ५ ॥

व्याख्या—रथको घोड़े ही चलाते हैं; परंतु उन घोड़ोंको चाहे जिस ओर, चाहे जिस मार्गपर ले जाना—लगाम हाथमें थामे हुए बुद्धिमान् सारथिका काम है । इन्द्रियरूपी बलवान् और दुर्धर्ष घोड़े स्वाभाविक ही आपातरमणीय विषयोंसे भरे संसाररूप हरी-हरी घासके जंगलकी ओर मनमाना दौड़ना चाहते हैं; परंतु यदि बुद्धिरूप सारथि मनरूपी लगामको जोरसे

खींचकर उन्हें अपने वशमें कर लेता है तो फिर घोड़े मनरूपी लगामके सहारे बिना चाहे जिस ओर नहीं जा सकते। यह सभी जानते हैं कि इन्द्रियाँ विषयोंका ग्रहण तभी कर सकती हैं, जब मन उनके साथ होता है। घोड़े उसी ओर दौड़ते हैं, जिस ओर लगामका सहारा होता है; पर इस लगामको ठीक रखना सारथिकी बल-बुद्धिपर निर्भर करता है। यदि बुद्धिरूपी सारथि विवेकयुक्त, स्वामीका आज्ञाकारी, लक्ष्यपर सदा स्थिर, बलवान्, मार्गके ज्ञानसे सम्पन्न और इन्द्रियरूपी घोड़ोंको चलानेमें दक्ष नहीं होता तो इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़े उसके वशमें न रहकर लगामके सहारे सारे रथको ही अपने वशमें कर लेते हैं और फलस्वरूप रथी और सारथिसमेत उस रथको लिये हुए गहरे गड्ढेमें गिर पड़ते हैं! बुद्धिके नियन्त्रणसे रहित इन्द्रियाँ उत्तरोत्तर उच्छृङ्खल ही होती चली जाती हैं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब स्वयं सावधान रहकर अपनी बुद्धिको विवेकशील बनानेसे होनेवाला लाभ बतलाते हैं—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

तु यः सदा=परंतु जो सदा; **विज्ञानवान्**=विवेकयुक्त बुद्धिवाला (और); **युक्तेन**=वशमें किये हुए; **मनसा**=मनसे सम्पन्न; **भवति**=रहता है; **तस्य**=उसकी; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ; **सारथेः**=सावधान सारथिके; **सदश्वाः इव**=अच्छे घोड़ोंकी भाँति; **वश्यानि**=वशमें; [**भवन्ति**=रहती हैं] ॥ ६ ॥

व्याख्या—जो जीवात्मा अपनी बुद्धिको विवेकसम्पन्न बना लेता है—जिसकी बुद्धि अपने लक्ष्यकी ओर ध्यान रखती हुई नित्य-निरन्तर निपुणताके साथ इन्द्रियोंको सन्मार्गपर चलानेके लिये मनको बाध्य किये रखती है, उसका मन भी लक्ष्यकी ओर लगा रहता है एवं उसकी इन्द्रियाँ निश्चयात्मिका बुद्धिके अधीन रहकर भगवत्सम्बन्धी पवित्र विषयोंके सेवनमें उसी प्रकार संलग्न रहती हैं; जैसे श्रेष्ठ अश्व सावधान सारथिके अधीन रहकर उसके निर्दिष्ट मार्गपर चलते हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पाँचवें मन्त्रके अनुसार जिसके बुद्धि और मन आदि विवेक और संयमसे हीन होते हैं, उसकी क्या गति होती है—इसे बतलाते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

यः तु सदा=जो कोई सदा; **अविज्ञानवान्**=विवेकहीन बुद्धिवाला; **अमनस्कः**=असंयतचित्त और; **अशुचिः**=अपवित्र; **भवति**=रहता है; **सः तत्पदम्**=वह उस परमपदको; **न आप्नोति**=नहीं पा सकता; **च**=अपितु; **संसारम् अधिगच्छति**=बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें ही भटकता रहता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—जिसकी बुद्धि सदा ही विवेक—कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानसे रहित और मनको वशमें रखनेमें असमर्थ रहती है, जिसका मन निग्रहरहित—असंयत और जिसका विचार दूषित रहता है और जिसकी इन्द्रियाँ निरन्तर दुराचारमें प्रवृत्त रहती हैं; ऐसे बुद्धिशक्तिसे रहित मन-इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले मनुष्यका जीवन कभी पवित्र नहीं रह पाता और इसलिये वह मानव-शरीरसे प्राप्त होनेयोग्य परमपदको नहीं पा सकता, वरं अपने दुष्कर्मोंके परिणामस्वरूप अनवरत इस संसार-चक्रमें ही भटकता रहता है—शूकर-कूकरादि विभिन्न योनियोंमें जन्मता एवं मरता रहता है ॥ ७ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८ ॥

तु यः सदा=परंतु जो सदा; **विज्ञानवान्**=विवेकशील बुद्धिसे युक्त; **समनस्कः**=संयतचित्त (और); **शुचिः**=पवित्र; **भवति**=रहता है; **सः तु**=वह तो; **तत्पदम्**=उस परमपदको; **आप्नोति**=प्राप्त हो जाता है; **यस्मात् भूयः**=जहाँसे (लौटकर) पुनः; **न जायते**=जन्म नहीं लेता ॥ ८ ॥

व्याख्या—इसके विपरीत जो छठे मन्त्रके अनुसार स्वयं सावधान होकर अपनी बुद्धिको निरन्तर विवेकशील बनाये

रखता है और उसके द्वारा मनको रोककर इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार पवित्र कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करता है तथा भगवान्‌को अर्पण किये हुए भोगोंका राग-द्वेषसे रहित हो निष्काम भावसे शरीरनिर्वाहके लिये उपभोग करता रहता है, वह परमेश्वरके उस परमधामको प्राप्त कर लेता है, जहाँसे फिर लौटना नहीं होता ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—आठवें मन्त्रमें कही हुई बातको फिरसे स्पष्ट करते हुए रथके रूपकका उपसंहार करते हैं—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

यः नरः=जो (कोई) मनुष्य; **विज्ञानसारथिः तु**=विवेकशील बुद्धिरूप सारथिसे सम्पन्न (और); **मनःप्रग्रहवान्**=मनरूप लगामको वशमें रखनेवाला है; **सः**=वह; **अध्वनः**=संसार-मार्गके; **पारम्**=पार पहुँचकर; **विष्णोः**=परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌के; **तत् परमम् पदम्**=उस सुप्रसिद्ध परमपदको; **आप्नोति**=प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—तृतीय मन्त्रसे नवम मन्त्रतक—सात मन्त्रोंमें रथके रूपकसे यह बात समझायी गयी है कि यह अति दुर्लभ मनुष्य-शरीर जिस जीवात्माको परमात्माकी कृपासे मिल गया है, उसे शीघ्र सचेत होकर भगवत्प्राप्तिके मार्गमें लग जाना चाहिये । शरीर अनित्य है, प्रतिक्षण इसका ह्रास हो रहा है । यदि अपने जीवनके इस अमूल्य समयको पशुओंकी भाँति सांसारिक भोगोंके भोगनेमें ही नष्ट कर दिया गया तो फिर बारंबार जन्म-मृत्युरूप संसारचक्रमें घूमनेको बाध्य होना पड़ेगा । जिस महान् कार्यकी सिद्धिके लिये यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर मिला था, वह पूरा नहीं होगा । अतः मनुष्यको भगवान्‌की कृपासे मिली हुई विवेकशक्तिका उपयोग करना चाहिये । संसारकी अनित्यताको और इन आपातरमणीय विषय-जनित सुखोंकी यथार्थ दुःखरूपताको समझकर इनके चिन्तन और उपभोगसे सर्वथा उपरत हो जाना चाहिये । केवल शरीर-निर्वाहके उपयुक्त कर्तव्यकर्मोंका निष्कामभावसे भगवान्‌की आज्ञा समझकर अनुष्ठान करते हुए अपनी बुद्धिमें भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम तथा उनकी अलौकिक शक्ति और अहैतुकी दयापर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करना चाहिये और सर्वतोभावसे भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाना चाहिये । अपने मनको भगवान्‌के तत्त्व-चिन्तनमें, वाणीको उनके गुण-वर्णनमें, नेत्रोंको उनके दर्शनमें तथा कानोंको उनकी महिमा-श्रवणमें लगाना चाहिये । इस प्रकार सारी इन्द्रियोंका सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ देना चाहिये । जीवनका एक क्षण भी भगवान्‌की स्मृतिके बिना न बीतने पाये । इसीमें मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है । जो ऐसा करता है, वह निश्चय ही परब्रह्म पुरुषोत्तमके अचिन्त्य परमपदको प्राप्त होकर सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त वर्णनमें रथके रूपककी कल्पना करके भगवत्प्राप्तिके लिये जो साधन बतलाया गया, उसमें विवेकशील बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके, इन्द्रियोंको विपरीत मार्गसे हटाकर, भगवत्प्राप्तिके मार्गमें लगानेकी बात कही गयी । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि स्वभावसे ही दुष्ट और बलवान् इन्द्रियोंको उनके प्रिय और अभ्यस्त असत्-मार्गसे किस प्रकार हटाया जाय; अतः इस बातका तात्त्विक विवेचन करके इन्द्रियोंको असत्-मार्गसे रोककर भगवान्‌की ओर लगानेका प्रकार बतलाते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ १० ॥

हि इन्द्रियेभ्यः=क्योंकि इन्द्रियोंसे; **अर्थाः**=शब्दादि विषय; **पराः च**=बलवान् हैं और; **अर्थेभ्यः**=शब्दादि विषयोंसे; **मनः**=मन; **परम्**=पर (प्रबल) है; **तु मनसः**=और मनसे भी; **बुद्धिः**=बुद्धि; **परा**=पर (बलवती) है; **बुद्धेः**=(तथा) बुद्धिसे; **महान् आत्मा**=महान् आत्मा, (उन सबका स्वामी होनेके कारण); **परः**=अत्यन्त श्रेष्ठ और बलवान् है ॥ १० ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें 'पर' शब्दका प्रयोग बलवान्‌के अर्थमें हुआ है, यह बात समझ लेनी चाहिये; क्योंकि कार्य-कारणभावसे या सूक्ष्मताकी दृष्टिसे इन्द्रियोंकी अपेक्षा शब्दादि विषयोंको श्रेष्ठ बतलाना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार 'महान्' विशेषणके सहित 'आत्मा' शब्द भी 'जीवात्मा'का वाचक है, 'महत्तत्त्व'का नहीं । जीवात्मा इन सबका स्वामी है, अतः उसके लिये 'महान्' विशेषण देना उचित ही है । यदि महत्तत्त्वके अर्थमें इसका प्रयोग होता तो 'आत्मा' शब्दके प्रयोगकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी । दूसरी बात यह भी है कि बुद्धि-तत्त्व ही महत्तत्त्व है । तत्त्व-विचारकालमें

इसमें भेद नहीं माना जाता। इसके सिवा आगे चलकर जहाँ निरोध (एक तत्त्वको दूसरेमें लीन करने) का प्रसङ्ग है, वहाँ भी बुद्धिका निरोध 'महान् आत्मा'में करनेके लिये कहा है। इन सब कारणोंसे तथा ब्रह्मसूत्रकारको सांख्यमतानुसार महत्तत्त्व और अव्यक्त प्रकृतिरूप अर्थ स्वीकार न होनेसे भी यही मानना चाहिये कि यहाँ 'महान्' विशेषणके सहित 'आत्मा' पदका अर्थ जीवात्मा ही है।* इसलिये मन्त्रका सारांश यह है कि इन्द्रियोंसे अर्थ (विषय) बलवान् हैं। वे साधककी इन्द्रियोंको बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं; अतः साधकको उचित है कि इन्द्रियोंको विषयोंसे दूर रक्खे। विषयोंसे बलवान् मन है। यदि मनकी विषयोंमें आसक्ति न रहे तो इन्द्रियाँ और विषय—ये दोनों साधककी कुछ भी हानि नहीं कर सकते। मनसे भी बुद्धि बलवान् है; अतः बुद्धिके द्वारा विचार करके मनको राग-द्वेषरहित बनाकर अपने वशमें कर लेना चाहिये। एवं बुद्धिसे भी इन सबका स्वामी 'महान् आत्मा' बलवान् है। उसकी आज्ञा माननेके लिये ये सभी बाध्य हैं; अतः मनुष्यको आत्मशक्तिका अनुभव करके उसके द्वारा बुद्धि आदि सबको नियन्त्रणमें रखना चाहिये ॥ १० ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

महतः=उस जीवात्मासे; **परम्**=बलवती है; **अव्यक्तम्**=भगवान्‌की माया; **अव्यक्तात्**=अव्यक्त मायासे भी; **परः**=श्रेष्ठ है; **पुरुषः**=परमपुरुष (स्वयं परमेश्वर); **पुरुषात्**=परम पुरुष भगवान्‌से; **परम्**=श्रेष्ठ और बलवान्; **किञ्चित्**=कुछ भी; **न**=नहीं है; **सा काष्ठा**=वही सबकी परम अवधि (और); **सा परा गतिः**=वही परम गति है ॥ ११ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें 'अव्यक्त' शब्द भगवान्‌की उस त्रिगुणमयी दैवी मायाशक्तिके लिये प्रयुक्त हुआ है, जो गीतामें दुरत्यय (अति दुस्तर) बतायी गयी है (७ । १४), जिससे मोहित हुए जीव भगवान्‌को नहीं जानते (गीता ७ । १३)। यही जीवात्मा और परमात्माके बीचमें परदा है, जिसके कारण जीव सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वरको नित्य समीप होनेपर भी नहीं देख पाता। इसे इस प्रकरणमें जीवसे भी बलवान् बतलानेका यह भाव है कि जीव अपनी शक्तिसे इस मायाको नहीं हटा सकता, भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर भगवान्‌की दयाके बलसे ही मनुष्य इससे पार हो सकता है (गीता ७ । १४)। यहाँ 'अव्यक्त' शब्दसे सांख्यमतावलम्बियोंका 'प्रधान तत्त्व' नहीं ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि उनके मतमें 'प्रधान' स्वतन्त्र है, वह आत्मासे पर नहीं है; तथा आत्माको भोग और मुक्ति—दोनों वस्तुएँ देकर उसका प्रयोजन सिद्ध करनेवाला है। परंतु उपनिषद् और गीतामें इस अव्यक्त प्रकृतिको कहीं भी मुक्ति देनेमें समर्थ नहीं माना है। अतः इस मन्त्रका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन सबपर आत्माका अधिकार है; अतः यह स्वयं उनको वशमें करके भगवान्‌की ओर बढ़ सकता है। परंतु इस आत्मासे भी बलवान् एक और तत्त्व है, जिसका नाम 'अव्यक्त' है। कोई उसे प्रकृति और कोई माया भी कहते हैं। इसीसे सब जीवसमुदाय मोहित होकर उसके वशमें हो रहा है। इसको हटाना जीवके अधिकारकी बात नहीं है; अतः इससे भी बलवान् जो इसके स्वामी परमपुरुष परमेश्वर हैं—जो बल, क्रिया और ज्ञान आदि सभी शक्तियोंकी अन्तिम अवधि और परम आधार हैं,—उन्हींकी शरण लेनी चाहिये। जब वे दया करके इस मायारूप परदेको स्वयं हटा लेंगे, तब उसी क्षण वहीं भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि वे तो सदासे ही सर्वत्र विद्यमान हैं† ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—यही भाव अगले मन्त्रमें स्पष्ट करते हैं—

---

* भाष्यकार प्रातःस्मरणीय स्वामी शंकराचार्यजीने भी यहाँ 'महान् आत्मा'को जीवात्मा ही माना है, महत्तत्त्व नहीं (देखिये ब्रह्मसूत्र अ० १ पा० ४ सू० १ का शाङ्करभाष्य)।

† इन (१०-११) मन्त्रोंके कुछ आदरणीय विद्वानोंद्वारा निम्नलिखित अर्थ भी किये गये हैं—

(१) इन्द्रियोंसे उनके विषय सूक्ष्म, महान् और प्रत्यगात्मस्वरूप हैं; विषयोंसे सूक्ष्म महान् और प्रत्यगात्मस्वरूप मन है; मनसे सूक्ष्मतर, महत्तर और प्रत्यगात्मस्वरूप बुद्धिशब्दवाच्य भूतसूक्ष्म है; उस बुद्धिसे सूक्ष्म और महान् है सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला हिरण्यगर्भ-तत्त्व महान् आत्मा (महत्तत्त्व); इस महत्‌से सूक्ष्मतर प्रत्यगात्मस्वरूप और सबसे महान् अव्यक्त (मूल प्रकृति) है; इस अव्यक्तकी अपेक्षा समस्त कारणोंका कारण और प्रत्यगात्मस्वरूप होनेसे पुरुष सूक्ष्मतर और महान् है।............इस चिद्घनमात्र वस्तुसे भिन्न और कुछ भी नहीं है, इसलिये यही सूक्ष्मत्व, महत्त्व और प्रत्यगात्मत्वकी पराकाष्ठाकी स्थिति या पर्यवसान है और यही उत्कृष्ट गति है;

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥

एषः आत्मा=यह सबका आत्मरूप परमपुरुष; **सर्वेषु भूतेषु**=समस्त प्राणियोंमें रहता हुआ भी; **गूढः**=मायाके परदेमें छिपा रहनेके कारण; **न प्रकाशते**=सबके प्रत्यक्ष नहीं होता; **तु सूक्ष्मदर्शिभिः**=केवल सूक्ष्मतत्त्वोंको समझनेवाले पुरुषोंद्वारा ही; **सूक्ष्मया अग्र्यया बुद्ध्या**=अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धिसे; **दृश्यते**=देखा जाता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—ये परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् सबके अन्तर्यामी हैं, अतः सब प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं; परंतु अपनी मायाके परदेमें छिपे हुए हैं, इस कारण उनके जाननेमें नहीं आते। जिन्होंने भगवान्‌का आश्रय लेकर अपनी बुद्धिको तीक्ष्ण बना लिया है, वे सूक्ष्मदर्शी ही भगवान्‌की दयासे सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा उन्हें देख पाते हैं ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—विवेकशील मनुष्यको भगवान्‌के शरण होकर किस प्रकार भगवान्‌की प्राप्तिके लिये साधन करना चाहिये ?—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥

प्राज्ञः=बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि; **वाक्**=(पहले) वाक् आदि (समस्त इन्द्रियों) को; **मनसी**=मनमें; **यच्छेत्**=निरुद्ध करे; **तत्**=उस मनको; **ज्ञाने आत्मनि**=ज्ञानस्वरूप बुद्धिमें; **यच्छेत्**=विलीन करे; **ज्ञानम्**=ज्ञानस्वरूप बुद्धिको; **महति आत्मनि**=महान् आत्मामें; **नियच्छेत्**=विलीन करे (और); **तत्**=उसको; **शान्ते आत्मनि**=शान्तस्वरूप परमपुरुष परमात्मामें; **यच्छेत्**=विलीन करे ॥ १३ ॥

व्याख्या—बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह पहले तो वाक् आदि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर मनमें विलीन कर दे अर्थात् इनकी ऐसी स्थिति कर दे कि इनकी कोई भी क्रिया न हो—मनमें विषयोंकी स्फुरणा न रहे। जब यह साधन भलीभाँति होने लगे, तब मनको ज्ञानस्वरूप बुद्धिमें विलीन कर दे अर्थात् एकमात्र विज्ञानस्वरूप निश्चयात्मिका बुद्धिकी वृत्तिके सिवा मनकी भिन्न सत्ता न रहे, किसी प्रकारका अन्य कोई भी चिन्तन न रहे। जब यहाँतक दृढ़ अभ्यास हो जाय, तदनन्तर उस ज्ञानस्वरूपा बुद्धिको भी जीवात्माके शुद्ध स्वरूपमें विलीन कर दे। अर्थात् ऐसी स्थितिमें स्थित हो जाय, जहाँ एकमात्र आत्मतत्त्वके सिवा—अपनेसे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता या स्मृति नहीं रह जाती। इसके पश्चात् अपने-आपको भी पूर्व निश्चयके अनुसार शान्त आत्मारूप परब्रह्म पुरुषोत्तममें विलीन कर दे* ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमात्माके स्वरूपका वर्णन, तथा उसकी प्राप्तिका महत्त्व और साधन बतलाकर अब श्रुति मनुष्योंको सावधान करती हुई कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

---

(२) इन्द्रियोंकी अधिष्ठात्री देवता सोम, कुबेर, सूर्य, वरुण, अश्विनौ, अग्नि, इन्द्र, जयन्त, यम और दक्षकी अपेक्षा अर्थ (विषयों)के अधिष्ठात्री देवता सौपर्णी, वारुणी और उमा (शब्द-स्पर्शकी अधिष्ठात्री सौपर्णी, रूप-रसकी वारुणी और गन्धकी उमा हैं) श्रेष्ठ हैं; इनसे मनके अधिष्ठात्री देवता रुद्र, वीन्द्र(पक्षिराज गरुड़) और शेष श्रेष्ठ हैं; मनके देवताओंसे बुद्धिकी अधिष्ठात्री देवता सरस्वती श्रेष्ठ हैं; सरस्वतीसे महत्तत्त्वके अधिष्ठात्री देवता ब्रह्मा श्रेष्ठ हैं; ब्रह्मासे अव्यक्तकी अधिष्ठात्री देवता श्री या रमा श्रेष्ठ हैं और उनसे श्रेष्ठ पुरुषशब्दवाच्य विष्णु हैं। वे परिपूर्ण हैं, उनके तुल्य ही कोई नहीं है, फिर उनसे श्रेष्ठ तो कैसे हो ?

* इसका यह अर्थ भी किया गया है—

विवेकी पुरुष वाक्-इन्द्रियका मनमें उपसंहार करे; यहाँ वाक् शब्द उपलक्षणमात्र है, तात्पर्य यह है कि समस्त इन्द्रियोंको मनके अधीन करे; उस मनको ज्ञान शब्दवाच्य बुद्धिरूप आत्मामें संयत करे; उस बुद्धिको हिरण्यगर्भको उपाधिस्वरूप महत्तत्त्वमें लीन करे और महत्तत्त्वको भी शान्त (निष्क्रिय) आत्मामें निरोध करे।

उत्तिष्ठत=(हे मनुष्यो !) उठो; **जाग्रत**=जागो (सावधान हो जाओ और); **वरान्**=श्रेष्ठ महापुरुषोंके; **प्राप्य**=पास जाकर (उनके द्वारा); **निबोधत**=उस परब्रह्म परमेश्वरको जान लो (क्योंकि); **कवयः**=त्रिकालज्ञ ज्ञानीजन; **तत् पथः**= उस तत्त्वज्ञानके मार्गको; **क्षुरस्य**=छूरेकी; **निशिता दुरत्यया**=तीक्ष्ण एवं दुस्तर; **धारा (इव)**=धारके सदृश; **दुर्गम्**= दुर्गम (अत्यन्त कठिन); **वदन्ति**=बतलाते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे मनुष्यो ! तुम जन्म-जन्मान्तरसे अज्ञाननिद्रामें सो रहे हो। अब तुम्हें परमात्माकी दयासे यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर मिला है। इसे पाकर अब एक क्षण भी प्रमादमें मत खोओ। शीघ्र सावधान हो जाओ। श्रेष्ठ महापुरुषोंके पास जाकर उनके उपदेशद्वारा अपने कल्याणका मार्ग और परमात्माका रहस्य समझ लो। परमात्माका तत्त्व बड़ा गहन है; उसके स्वरूपका ज्ञान, उसकी प्राप्तिका मार्ग महापुरुषोंकी सहायता और परमात्माकी कृपाके बिना वैसा ही दुस्तर है, जिस प्रकार छूरेकी तेज धारपर चलना। ऐसे दुस्तर मार्गसे सुगमतापूर्वक पार होनेका सरल उपाय वे अनुभवी महापुरुष ही बता सकते हैं, जो स्वयं इसे पार कर चुके हैं ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग इतना दुस्तर क्यों है ?—इस जिज्ञासापर परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए उसको जाननेका फल बतलाते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

यत्=जो; **अशब्दम्**=शब्दरहित; **अस्पर्शम्**=स्पर्शरहित; **अरूपम्**=रूपरहित; **अरसम्**=रसरहित; **च**=और; **अगन्धवत्**=बिना गन्धवाला है; **तथा**=तथा (जो); **अव्ययम्**=अविनाशी; **नित्यम्**=नित्य; **अनादि**=अनादि; **अनन्तम्**= अनन्त (असीम); **महतः परम्**=महान् आत्मासे श्रेष्ठ (एवं); **ध्रुवम्**=सर्वथा सत्य तत्त्व है; **तत्**=उस परमात्माको; **निचाय्य**=जानकर (मनुष्य); **मृत्युमुखात्**=मृत्युके मुखसे; **प्रमुच्यते**=सदाके लिये छूट जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें उस परब्रह्म परमात्माको प्राकृत शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धसे रहित बतलाकर यह दिखलाया गया है कि सांसारिक विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंकी वहाँ पहुँच नहीं है। वे नित्य, अनादि और असीम हैं। जीवात्मासे भी श्रेष्ठ और सर्वथा सत्य हैं। उन्हें जानकर मनुष्य सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है* ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—यहाँतक एक अध्यायके उपदेशको पूर्ण करके अब इस आख्यानके श्रवण और वर्णनका माहात्म्य बतलाते हैं—

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳ सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

मेधावी=बुद्धिमान् मनुष्य; **मृत्युप्रोक्तम्**=यमराजके द्वारा कहे हुए; **नाचिकेतम्**=नचिकेताके; **सनातनम्**= (इस) सनातन; **उपाख्यानम्**=उपाख्यानका; **उक्त्वा**=वर्णन करके; **च**=और; **श्रुत्वा**=श्रवण करके; **ब्रह्मलोके**=ब्रह्मलोकमें; **महीयते**=महिमान्वित होता है (प्रतिष्ठित होता है) ॥ १६ ॥

व्याख्या—यह जो इस अध्यायमें नचिकेताके प्रति यमराजका उपदेश है, यह कोई नयी बात नहीं है; यह परम्परागत सनातन उपाख्यान है। इसका वर्णन करनेवाला और श्रवण करनेवाला मनुष्य ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठावाला होता है ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

---

* एक आदरणीय महानुभावने इसका यह अर्थ किया है—

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य और अगन्ध है, जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्वसे भी विलक्षण और कूटस्थ नित्य है, उस ब्रह्म आत्माको जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है।

यः=जो मनुष्य; **प्रयतः**=सर्वथा शुद्ध होकर; **इमम्**=इस; **परमम् गुह्यम्**=परम गुह्य रहस्यमय प्रसङ्गको; **ब्रह्मसंसदि**=ब्राह्मणोंकी सभामें; **श्रावयेत्**=सुनाता है; **वा**=अथवा; **श्राद्धकाले**=श्राद्धकालमें; **श्रावयेत्**=(भोजन करनेवालोंको) सुनाता है; **तत्**=(उसका) वह श्रवण करानारूप कर्म; **आनन्त्याय कल्पते**=अनन्त होनेमें (अविनाशी फल देनेमें) समर्थ होता है; **तत् आनन्त्याय कल्पते इति**=वह अनन्त होनेमें समर्थ होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य विशुद्ध होकर सावधानतापूर्वक इस परम रहस्यमय प्रसङ्गको तत्त्वविवेचनपूर्वक भगवत्प्रेमी शुद्धबुद्धि ब्राह्मणोंकी सभामें सुनाता है अथवा श्राद्धकालमें भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको सुनाता है, उसका वह वर्णनरूप कर्म अनन्त फल देनेवाला होता है। अनन्त होनेमें समर्थ होता है। दुबारा कहकर इस सिद्धान्तकी निश्चितता और अध्यायकी समाप्तिका लक्ष्य कराया गया है ॥ १७ ॥

॥ तृतीय वल्ली समाप्त ॥ ३ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

ॐ
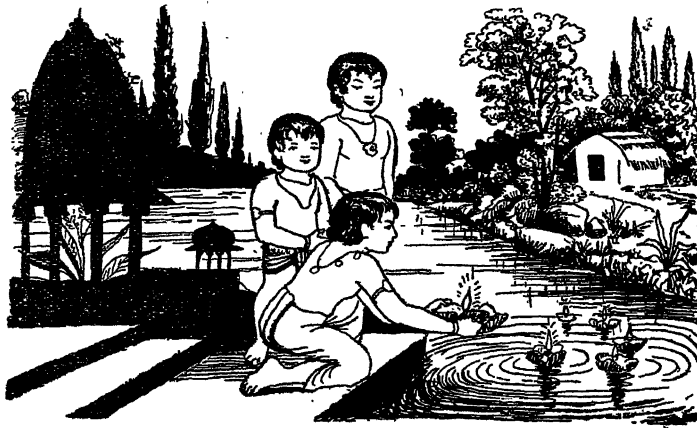
द्वितीय अध्याय

प्रथम वल्ली

सम्बन्ध—तृतीय वल्लीमें यह बतलाया गया कि वे परब्रह्म परमेश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंमें वर्तमान हैं, परंतु सबको दीखते नहीं। कोई विरला ही उन्हें सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा देख सकता है। इसपर यह प्रश्न होता है कि जब वे ब्रह्म अपने ही हृदयमें हैं तो उन्हें सभी लोग अपनी बुद्धिरूप नेत्रोंद्वारा क्यों नहीं देख लेते ? कोई विरला ही क्यों देखता है ? इसपर कहते हैं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ १॥

स्वयंभूः=स्वयं प्रकट होनेवाले परमेश्वरने; **खानि**=समस्त इन्द्रियोंको; **पराञ्चि**=बाहरकी ओर जानेवाली ही; **व्यतृणत्**=बनाया है; **तस्मात्**=इसलिये (मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा प्रायः); **पराङ्**=बाहरकी वस्तुओंको ही; **पश्यति**=देखता है; **अन्तरात्मन्**=अन्तरात्माको; **न**=नहीं; **कश्चित्**=किसी भाग्यशाली; **धीरः**=बुद्धिमान् मनुष्यने ही; **अमृतत्वम्**=अमर पदको; **इच्छन्**=पानेकी इच्छा करके; **आवृत्तचक्षुः**=चक्षु आदि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंकी ओरसे लौटाकर; **प्रत्यगात्मानम्**=अन्तरात्माको; **ऐक्षत्**=देखा है॥ १॥

व्याख्या—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—इन्द्रियोंके ये सभी स्थूल विषय बाहर हैं। इनका यथार्थ ज्ञान करानेके लिये इन्द्रियोंकी रचना हुई है। क्योंकि इनका ज्ञान हुए बिना न तो मनुष्य किसी विषयके स्वरूप और गुणको ही जान सकता है और न उसका यथायोग्य त्याग एवं ग्रहण करके भगवान्के इन्द्रिय-निर्माणके उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये उनके द्वारा नवीन शुभ कर्मोंका सम्पादन ही कर सकता है। इन्द्रिय-निर्माण इसीलिये है कि मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा स्वास्थ्यकर, सुबुद्धिदायक, विशुद्ध विषयोंका ग्रहण करके सुखमय जीवन बिताते हुए परमात्माकी ओर अग्रसर हो। इसीलिये स्वयंभू भगवान्ने इन्द्रियोंका मुख बाहरकी ओर बनाया; परंतु विवेकके अभावसे अधिकांश मनुष्य इस बातको नहीं जानते और विषयासक्ति-वश उन्मत्तकी भाँति आपातरमणीय परंतु परिणाममें भगवान्से हटाकर दुःखशोकमय नरकोंमें पहुँचानेवाले अशुद्ध विषय-भोगोंमें ही रचे-पचे रहते हैं। वे अन्तर्यामी परमात्माकी ओर देखते ही नहीं। कोई विरला ही बुद्धिमान् मनुष्य ऐसा होता है जो सत्संग, स्वाध्याय तथा भगवत्कृपासे अशुद्ध विषयभोगोंकी परिणामदुःखताको जानकर अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छासे इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे लौटाकर, उन्हें भगवत्सम्बन्धी विषयोंमें लगाकर, अन्तरात्माको—अन्तर्यामी परमात्माको देखता है*॥ १॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ २॥

(ये) बालाः=(परंतु) जो मूर्ख; **पराचः**=बाह्य; **कामान्**=भोगोंका; **अनुयन्ति**=अनुसरण करते हैं (उन्हींमें रचे-पचे रहते हैं); **ते**=वे; **विततस्य**=सर्वत्र फैले हुए; **मृत्योः**=मृत्युके; **पाशम्**=बन्धनमें; **यन्ति**=पड़ते हैं; **अथ**=किंतु; **धीराः**=बुद्धिमान् मनुष्य; **ध्रुवम्**=नित्य; **अमृतत्वम्**=अमरपदको; **विदित्वा**=विवेकद्वारा जानकर; **इह**=इस जगत्में; **अध्रुवेषु**=अनित्य भोगोंमेंसे किसीको (भी); **न प्रार्थयन्ते**=नहीं चाहते अर्थात् उनमें आसक्त नहीं होते॥ २॥

---

* एक महानुभावने ऐसा अर्थ किया है—

स्वयम्भू भगवान्ने कृपा करके (उस भक्तके) बाहरकी ओर जानेवाले इन्द्रिय-प्रवाहको रोक दिया—भीतरकी ओर मोड़ दिया। अतएव वह पुरुष बाहरकी वस्तुओंको नहीं देखता, अन्तरात्माको देखता है। अमृतत्वकी इच्छा करनेवाला कोई शान्तस्वभाव संत ही भगवत्कृपासे इस प्रकार बहिर्विषयोंसे चक्षु आदि इन्द्रियोंको मोड़कर अन्तर्यामी परमात्माको देखता है।

व्याख्या—जो बाह्य (भगवद्-विमुख) विषयोंकी चमक-दमक और आपातरमणीयताको देखकर उनमें आसक्त हुए रहते हैं और उनके पाने तथा भोगनेमें ही दुर्लभ एवं अमूल्य मनुष्यजीवनको खो देते हैं, वे मूर्ख हैं। निश्चय ही वे सर्वकालव्यापी मृत्युके पाशमें बँध जाते हैं; दीर्घकालतक नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म धारण करके बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं; परंतु जो बुद्धिमान् हैं वे इस विषयपर गहराईसे यों विचार करते हैं कि 'ये इन्द्रियोंके भोग तो जीवको दूसरी योनियोंमें भी पर्याप्त मिल सकते हैं। मनुष्य-शरीर उन सबसे विलक्षण है। इसका वास्तविक उद्देश्य विषयोपभोग कभी नहीं हो सकता।' इस प्रकार विचार करनेपर जब यह बात उनकी समझमें आ जाती है कि इसका उद्देश्य अमृतस्वरूप नित्य परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति करना है और वह इसी शरीरमें प्राप्त की जा सकती है, तब वे सर्वतोभावसे उसीकी ओर लग जाते हैं। फिर वे इस विनाशशील जगत्में क्षणभङ्गुर भोगोंको प्राप्त करनेकी चेष्टा नहीं करते; इनसे सर्वथा विरक्त होकर सावधानीके साथ परमार्थ-साधनमें लग जाते हैं ॥ २ ॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शाꣳश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत् ॥ ३ ॥

येन=जिसके अनुग्रहसे मनुष्य; **शब्दान्**=शब्दोंको; **स्पर्शान्**=स्पर्शोंको; **रूपम्**=रूप-समुदायको; **रसम्**=रस-समुदायको; **गन्धम्**=गन्ध-समुदायको; **च**=और; **मैथुनान्**=स्त्री-प्रसंग आदिके सुखोंको; **विजानाति**=अनुभव करता है (और); **एतेन एव**=इसीके अनुग्रहसे यह भी जानता है कि; **अत्र किम्**=यहाँ क्या; **परिशिष्यते**=शेष रह जाता है; **एतत् वै**=यह ही है; **तत्**=वह परमात्मा (जिसके विषयमें तुमने पूछा था।) ॥ ३ ॥

व्याख्या—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक सब प्रकारके विषयोंका और स्त्री-सहवासादिसे होनेवाले सुखोंका मनुष्य जिस परम देवसे मिली हुई ज्ञानशक्तिके द्वारा अनुभव करता है, उन्हींकी दी हुई शक्तिसे इनकी क्षणभङ्गुरताको देखकर वह यह भी समझ सकता है कि इन सबमेंसे ऐसी कौन वस्तु है, जो यहाँ शेष रहेगी? विचार करनेपर यही समझमें आता है कि ये सभी पदार्थ प्रतिक्षण बदलनेवाले होनेसे विनाशशील हैं। इन सबके परम कारण एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही नित्य हैं। वे पहले भी थे और पीछे भी रहेंगे। अतः हे नचिकेता! तुम्हारा पूछा हुआ वह ब्रह्मतत्त्व यही है जो सबका शेषी है, सबका पर्यवसान है, सबकी अवधि और सबकी परम गति है ॥ ३ ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

स्वप्नान्तम् च=स्वप्नके दृश्यों और; **जागरितान्तम्**=जाग्रत्-अवस्थाके दृश्यों; **उभौ**=इन दोनोंको (मनुष्य); **येन**=जिससे; **अनुपश्यति**=बार-बार देखता है; [**तम्**=उस;] **महान्तम्**=सर्वश्रेष्ठ; **विभुम्**=सर्वव्यापी; **आत्मानम्**=सबके आत्माको; **मत्वा**=जानकर; **धीरः**=बुद्धिमान् मनुष्य; **न शोचति**=शोक नहीं करता ॥ ४ ॥

व्याख्या—जिस परमात्माके द्वारा यह जीवात्मा स्वप्नमें और जाग्रत्में होनेवाली समस्त घटनाओंका बारंबार अनुभव करता रहता है, इन सबको जाननेकी शक्ति इसको जिस परब्रह्म परमेश्वरसे मिली है; जिसकी कृपासे ही इस जीवको उस (परमात्मा)की विज्ञानशक्तिका एक अंश प्राप्त हुआ है, उस सबकी अपेक्षा महान् सदा-सर्वदा सर्वत्र व्याप्त परब्रह्म परमात्माको जानकर धीर पुरुष कभी, किसी भी कारणसे, किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं करता *॥ ४ ॥

---

* कुछ आदरणीय महानुभावोंने इस मन्त्रका निम्नलिखित भावार्थ माना है—

१—जिस आत्माके द्वारा स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्थाके अन्तर्गत दीखनेवाले पदार्थोंको मनुष्य देखता है, उस महान् और विभु आत्माको जानकर अर्थात् वह 'परमात्मा मैं ही हूँ' ऐसा आत्मभावसे साक्षात् अनुभव कर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता।

२—निद्राके अन्त और जाग्रदवस्थाके अन्तमें अर्थात् नींदसे जागनेपर और सोनेसे पहले जो उस महान् सर्वव्यापी परमात्मामें मन लगाकर उसीको देखता है—उसीकी स्तुति-उपासना कर अपना सारा दायित्व उसीपर छोड़ उसीके अनन्य आश्रित हो रहता है, उस बुद्धिमान् पुरुषको कोई शोक नहीं होता।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥ ५ ॥

यः=जो मनुष्य; **मध्वदम्**=कर्मफलदाता; **जीवम्***=सबको जीवन प्रदान करनेवाले; (तथा) **भूतभव्यस्य**=भूत, वर्तमान और भविष्यका; **ईशानम्**=शासन करनेवाले; **इमम्**=इस; **आत्मानम्**=परमात्माको; **अन्तिकात् वेद**=(अपने) समीप जानता है; **ततः (सः)**=उसके बाद वह; **न विजुगुप्सते**=(कभी) किसीकी निन्दा नहीं करता; **एतत् वै**=यह ही (है); **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जो साधक सबको जीवन प्रदान करनेवाले, जीवोंके परम जीवन और उन्हें उनके कर्मोंका फल भुगतानेवाले तथा भूत, वर्तमान और भावी जगत्का एकमात्र शासन करनेवाले उस परब्रह्म परमेश्वरको इस प्रकार समझ लेता है कि 'वह अन्तर्यामीरूपसे निरन्तर मेरे समीप–मेरे हृदयमें ही स्थित है,' और इससे स्वाभाविक ही यह अनुमान कर लेता है कि इसी प्रकार वे सर्वनियन्ता परमात्मा सबके हृदयमें स्थित हैं; वह फिर उनके इस महिमामय स्वरूपको कभी नहीं भूल सकता । इसलिये वह कभी किसीकी निन्दा नहीं करता या किसीसे भी घृणा नहीं करता । नचिकेता ! तुमने जिस ब्रह्मके विषयमें पूछा था, वह यही है, जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है † ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब यह बतलाते हैं कि ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त प्राणी उन परब्रह्म परमेश्वरसे ही उत्पन्न हुए हैं; अतः जो कुछ भी है, सब उन्हींका रूपविशेष है । उनसे भिन्न यहाँ कुछ भी नहीं है; क्योंकि इस सम्पूर्ण जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण एकमात्र परमेश्वर ही हैं, वे एक ही अनेक रूपोंमें स्थित हैं ।

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ॥ एतद्वै तत् ॥ ६ ॥

यः=जो; **अद्भ्यः**=जलसे; **पूर्वम्**=पहले; **अजायत**=हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुआ था; [**तम्**]=उस; **पूर्वम्**=सबसे पहले; **तपसः जातम्**=तपसे उत्पन्न; **गुहाम् प्रविश्य**=हृदय-गुफामें प्रवेश करके; **भूतेभिः (सह)**=जीवात्माओंके साथ; **तिष्ठन्तम्**=स्थित रहनेवाले परमेश्वरको; **यः**=जो पुरुष; **व्यपश्यत**=देखता है (वही ठीक देखता है); **एतत् वै**=यह ही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ६ ॥

व्याख्या—जो जलसे उपलक्षित पाँचों महाभूतोंसे पहले हिरण्यगर्भ ब्रह्माके रूपमें प्रकट हुए थे, उन अपने ही सङ्कल्परूप तपसे प्रकट होनेवाले और सब जीवोंके हृदयरूप गुफामें प्रविष्ट होकर उनके साथ रहनेवाले परमेश्वरको जो इस प्रकार जानता है कि 'सबके हृदयमें निवास करनेवाले सबके अन्तर्यामी परमेश्वर एक ही हैं, यह सम्पूर्ण जगत् उन्हींकी महिमाका प्रकाश करता है,' वही यथार्थ जानता है । वे सदा सबके हृदयमें रहनेवाले ही ये तुम्हारे पूछे हुए परब्रह्म परमेश्वर हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—उन्हीं परब्रह्मका अब अदितिदेवीके रूपसे वर्णन करते हैं—

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ॥ एतद्वै तत् ॥ ७ ॥

---

* यहाँ 'जीव' शब्द परमात्माके लिये ही प्रयुक्त हुआ है; क्योंकि भूत, भविष्य और वर्तमानका शासक जीव नहीं हो सकता । और प्रकरण भी यहाँ परमात्माका है, जीवका नहीं (देखिये ब्रह्मसूत्र १ । ३ । २४ का शाङ्करभाष्य) ।

† कुछ विद्वानोंने इसका यह अर्थ किया है—

१—जो पुरुष कर्मफलभोक्ता और प्राणधारक इस जीवात्माको अपने समीप भूत और भविष्यका (त्रिकालका) ईश्वर समझता है, वह फिर किसी भयसे अपनेको छिपाकर नहीं रखता । (एक ब्रह्मसत्ताका ज्ञान होनेपर फिर कोई भय नहीं रहता; क्योंकि दूसरेकी सत्ता माननेसे ही भय होता है ।)

२—जो मनुष्य मधु अर्थात् आनन्दके उपभोक्ता, भूत और भविष्यके शासक, जीवके नित्य समीप रहनेवाले, जीवके जीवन परमात्माको जान लेता है, वह फिर किसीसे भय नहीं करता ।

या=जो; **देवतामयी**=देवतामयी; **अदितिः**=अदिति; **प्राणेन**=प्राणोंके सहित; **संभवति**=उत्पन्न होती है; **या**=जो; **भूतेभिः**=प्राणियोंके सहित; **व्यजायत**=उत्पन्न हुई है; (तथा जो) **गुहाम्**=हृदयरूपी गुफामें; **प्रविश्य**=प्रवेश करके; **तिष्ठन्तीम्**=वहीं रहती है; (उसे जो पुरुष देखता है, वही यथार्थ देखता है,) **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो सर्वदेवतामयी भगवती अदितिदेवी पहले-पहल उस परब्रह्मके सङ्कल्पसे सब जगत्‌की जीवनी-शक्तिके सहित उत्पन्न होती है, तथा जो सम्पूर्ण प्राणियोंको बीजरूपसे अपने साथ लेकर प्रकट हुई थी, हृदयरूपी गुहामें प्रविष्ट होकर वहीं रहनेवाली वह भगवती—भगवान्‌की अचिन्त्यमहाशक्ति भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न है, भगवान् और उनकी शक्तिमें कोई भेद नहीं है, भगवान् ही शक्तिरूपसे सबके हृदयमें प्रवेश किये हुए हैं। हे नचिकेता ! वही ये ब्रह्म हैं, जिनके विषयमें तुमने पूछा था।

अथवा—जननीरूपमें समस्त देवताओंका सृजन करनेवाली होनेके कारण जो सर्वदेवतामयी हैं, शब्दादि समस्त भोगसमूहका अदन—भक्षण करनेवाली होनेसे भी जिनका नाम अदिति है, जो हिरण्यगर्भरूप प्राणोंके सहित प्रकट होती हैं और समस्त भूतप्राणियोंके साथ ही जिनका प्रादुर्भाव होता है तथा जो सम्पूर्ण भूतप्राणियोंकी हृदय-गुफामें प्रविष्ट होकर वहाँ स्थित रहती हैं, वे परमेश्वरकी महाशक्ति वस्तुतः उनकी प्रतीक ही हैं। स्वयं परमेश्वर ही इस रूपमें अपनेको प्रकट करते हैं। यही वह ब्रह्म हैं, जिनके सम्बन्धमें नचिकेता ! तुमने पूछा था ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥ एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

(यः)=जो; **जातवेदाः**=सर्वज्ञ; **अग्निः**=अग्निदेवता; **गर्भिणीभिः**=गर्भिणी स्त्रियोंद्वारा; **सुभृतः**=उपयुक्त अन्नपानादिके द्वारा भलीभाँति परिपुष्ट हुआ; **गर्भः**=गर्भकी; **इव**=भाँति; **अरण्योः**=दो अरणियोंमें; **निहितः**=सुरक्षित है—छिपा है (तथा जो); **जागृवद्भिः**=सावधान (और); **हविष्मद्भिः**=हवन करनेयोग्य सामग्रियोंसे (युक्त); **मनुष्येभिः**=मनुष्योंद्वारा; **दिवे दिवे**=प्रतिदिन; **ईड्यः**=स्तुति करनेयोग्य (है); **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था)॥८॥

व्याख्या—जिस प्रकार गर्भिणी स्त्रीके द्वारा शुद्ध अन्न-पानादिसे परिपुष्ट होकर बालक गर्भमें छिपा रहता है और श्रद्धा, प्रीति एवं प्रसवकालीन क्लेशरूप मन्थनके द्वारा समयपर प्रकट होता है, उसी प्रकार अधर और उत्तर अरणि (ऊपर-नीचेके काष्ठखण्ड) के अंदर अग्नि देवता छिपे हुए रहते हैं एवं इनके उपासक प्रमादरहित होकर एकाग्रता, श्रद्धा तथा प्रीतिके साथ स्तुति करते हुए अरणि-मन्थनके द्वारा इन्हें प्रकट करते हैं। तदनन्तर आज्यादि विविध हवनसामग्रियोंके द्वारा इन्हें सन्तुष्ट करते हैं। ये अग्निदेवता सर्वज्ञ परमेश्वरके ही प्रतीक हैं। नचिकेता ! ये ही वे तुम्हारे पूछे हुए ब्रह्म हैं ॥८॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ ९ ॥

यतः=जहाँसे; **सूर्यः**=सूर्यदेव; **उदेति**=उदय होते हैं; **च**=और; **यत्र**=जहाँ; **अस्तम् च**=अस्तभावको भी; **गच्छति**=प्राप्त होते हैं; **सर्वे**=सभी; **देवाः**=देवता; **तम्**=उसीमें; **अर्पिताः**=समर्पित हैं। **तत् उ**=उस परमेश्वरको; **कश्चन**=कोई (कभी भी); **न अत्येति**=नहीं लाँघ सकता; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ९ ॥

व्याख्या—जिन परमेश्वरसे सूर्यदेव प्रकट होते हैं और जिनमें जाकर विलीन हो जाते हैं, जिनकी महिमामें ही यह सूर्यदेवताकी उदय-अस्तलीला नियमपूर्वक चलती है, उन परब्रह्ममें ही सम्पूर्ण देवता प्रविष्ट हैं—सब उन्हींमें ठहरे हुए हैं। ऐसा कोई भी नहीं है, जो उन सर्वात्मक, सर्वमय, सबके आदि-अन्त-आश्रयस्थल परमेश्वरकी महिमा और व्यवस्थाका उल्लङ्घन कर सके। सर्वतोभावसे सभी सर्वदा उनके अधीन और उन्हींके अनुशासनमें रहते हैं। कोई भी उनकी महिमाका पार नहीं पा सकता। वे सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तम ही तुम्हारे पूछे हुए ब्रह्म हैं ॥ ९ ॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

यत् इह=जो परब्रह्म यहाँ (है); **तत् एव अमुत्र**=वही वहाँ (परलोकमें भी है); **यत् अमुत्र**=जो वहाँ (है); **तत् अनु इह**=वही यहाँ (इस लोकमें) भी है; **सः मृत्योः**=वह मनुष्य मृत्युसे; **मृत्युम्**=मृत्युको (अर्थात् बारंबार जन्म-मरणको); **आप्नोति**=प्राप्त होता है; **यः**=जो; **इह**=इस जगत्में; **नाना इव**=(उस परमात्माको) अनेककी भाँति; **पश्यति**=देखता है ॥ १० ॥

व्याख्या—जो सर्वशक्तिमान्; सर्वान्तर्यामी, सर्वरूप, सबके परम कारण, परब्रह्म पुरुषोत्तम यहाँ इस पृथ्वीलोकमें हैं, वही वहाँ परलोकमें अर्थात् देव-गन्धर्वादि विभिन्न अनन्त लोकोंमें भी हैं; तथा जो वहाँ हैं, वही यहाँ भी हैं। एक ही परमात्मा अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं। जो उन एक ही परब्रह्मको लीलासे नाना नामों और रूपोंमें प्रकाशित देखकर मोहवश उनमें नानात्वकी कल्पना करता है, उसे पुनः-पुनः मृत्युके अधीन होना पड़ता है, उसके जन्म-मरणका चक्र सहज ही नहीं छूटता। अतः दृढ़रूपसे यही समझना चाहिये कि वे एक ही परब्रह्म परमेश्वर अपनी अचिन्त्य शक्तिके सहित नाना रूपोंमें प्रकट हैं और यह सारा जगत् बाहर-भीतर उन एक परमात्मासे ही व्याप्त होनेके कारण उन्हींका स्वरूप है ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

मनसा एव=(शुद्ध) मनसे ही; **इदम् आप्तव्यम्**=यह परमात्मतत्त्व प्राप्त किये जानेयोग्य है; **इह**=इस जगत्में (एक परमात्मासे अतिरिक्त); **नाना**=नाना (भिन्न-भिन्न भाव); **किंचन**=कुछ भी; **न अस्ति**=नहीं है; (इसलिये) **यः इह**=जो इस जगत्में; **नाना इव**=नानाकी भाँति; **पश्यति**=देखता है; **सः**=वह मनुष्य; **मृत्योः**=मृत्युसे; **मृत्युम् गच्छति**=मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—परमात्माका परमतत्त्व शुद्ध मनसे ही इस प्रकार जाना जा सकता है कि इस जगत्में एकमात्र पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं। सब कुछ उन्हींका स्वरूप है। यहाँ परमात्मासे भिन्न कुछ भी नहीं है। जो यहाँ विभिन्नताकी झलक देखता है, वह मनुष्य मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है ॥ ११ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥१२॥

अङ्गुष्ठमात्रः=अङ्गुष्ठमात्र (परिमाणवाला); **पुरुषः**=परम पुरुष (परमात्मा); **आत्मनि मध्ये**=शरीरके मध्यभाग—हृदयाकाशमें; **तिष्ठति**=स्थित है; **भूतभव्यस्य**=जो कि भूत, (वर्तमान) और भविष्यका; **ईशानः**=शासन करनेवाला (है); **ततः**=उसे जान लेनेके बाद (वह); **न विजुगुप्सते**=किसीकी भी निन्दा नहीं करता; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ १२ ॥

व्याख्या—यद्यपि अन्तर्यामी परमेश्वर समानभावसे सर्वदा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, तथापि हृदयमें उनका विशेष स्थान माना गया है। परमेश्वर किसी स्थूल-सूक्ष्म आकार-विशेषवाले नहीं हैं, परंतु स्थितिके अनुसार वे सभी आकारोंसे सम्पन्न हैं। क्षुद्र चींटीके हृदयदेशमें वे चींटीके हृदय-परिमाणके अनुसार परिमाणवाले हैं और विशालकाय हाथीके हृदयमें उसके हृदय-परिमाणवाले बनकर विराजित हैं। मनुष्यका हृदय अङ्गुष्ठ-परिमाणका है, और मानवशरीर ही परमात्माकी प्राप्तिका अधिकारी माना गया है। अतः मनुष्यका हृदय ही परब्रह्म परमेश्वरकी उपलब्धिका स्थान समझा जाता है। इसलिये यहाँ मनुष्यके हृदय-परिमाणके अनुसार परमेश्वरको अङ्गुष्ठमात्रपरिमाणका कहा गया है। इस प्रकार परमेश्वरको अपने हृदयमें स्थित देखनेवाला स्वाभाविक ही यह जानता है कि इसी भाँति वे सबके हृदयमें स्थित हैं, अतएव वह फिर किसीकी निन्दा नहीं करता अथवा किसीसे घृणा नहीं करता। नचिकेता ! यही वह ब्रह्म हैं, जिनके विषयमें तुमने पूछा था ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥ एतद्वै तत् ॥१३॥

अङ्गुष्ठमात्रः=अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; **पुरुषः**=परमपुरुष परमात्मा; **अधूमकः**=धूमरहित; **ज्योतिः इव**=ज्योतिकी भाँति है; **भूतभव्यस्य**=भूत, (वर्तमान और) भविष्यपर; **ईशानः**=शासन करनेवाला; **सः एव अद्य**=वह परमात्मा ही आज है; **उ**=और; **सः (एव) श्वः**=वही कल भी है (अर्थात् वह नित्य, सनातन है); **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ १३ ॥

व्याख्या—मनुष्यकी हृदय-गुफामें स्थित ये अङ्गुष्ठमात्र पुरुष भूत, भविष्य और वर्तमानका नियन्त्रण करनेवाले स्वतन्त्र शासक हैं। ये ज्योतिर्मय हैं। सूर्य, अग्निकी भाँति उष्ण प्रकाशवाले नहीं; परंतु दिव्य, निर्मल और शान्त प्रकाशस्वरूप हैं। लौकिक ज्योतियोंमें धूम्ररूप दोष होता है; ये धूम्ररहित—दोषरहित, सर्वथा विशुद्ध हैं। अन्य ज्योतियाँ घटती-बढ़ती हैं और समयपर बुझ जाती हैं; परंतु ये जैसे आज हैं, वैसे ही कल भी हैं। इनकी एकरसता नित्य अक्षुण्ण है। ये कभी न तो घटते-बढ़ते हैं और न कभी मिटते ही हैं। नचिकेता! ये परिवर्तनरहित अविनाशी परमेश्वर ही वे ब्रह्म हैं, जिनके सम्बन्धमें तुमने पूछा था* ॥ १३ ॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान् पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥१४॥

यथा=जिस प्रकार; **दुर्गे**=ऊँचे शिखरपर; **वृष्टम्**=बरसा हुआ; **उदकम्**=जल; **पर्वतेषु**=पहाड़के नाना स्थलोंमें; **विधावति**=चारों ओर चला जाता है; **एवम्**=उसी प्रकार; **धर्मान्**=भिन्न-भिन्न धर्मों (स्वभावों) से युक्त देव, असुर, मनुष्य आदिको; **पृथक्**=परमात्मासे पृथक्; **पश्यन्**=देखकर (उनका सेवन करनेवाला मनुष्य); **तान् एव**=उन्हींके; **अनुविधावति**=पीछे दौड़ता रहता है (उन्हींके शुभाशुभ लोकोंमें और नाना उच्च-नीच योनियोंमें भटकता रहता है) ॥ १४ ॥

व्याख्या—वर्षाका जल एक ही है; पर वह जब ऊँचे पर्वतकी ऊबड़-खाबड़ चोटीपर बरसता है तो वहाँ ठहरता नहीं, तुरंत ही नीचेकी ओर बहकर विभिन्न वर्ण, आकार और गन्धको धारण करके पर्वतमें चारों ओर बिखर जाता है। इसी प्रकार एक ही परमात्मासे प्रवृत्त विभिन्न स्वभाववाले देव-असुर-मनुष्यादिको जो परमात्मासे पृथक् मानता है और पृथक् मानकर ही उनका सेवन करता है, उसे भी बिखरे हुए जलकी भाँति ही विभिन्न देव-असुरादिके लोकोंमें एवं नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकना पड़ता है, वह ब्रह्मको प्राप्त नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५॥

यथा=(परंतु) जिस प्रकार; **शुद्धे (उदके)**=निर्मल जलमें; **आसिक्तम्**=(मेघोंद्वारा) सब ओरसे बरसाया हुआ; **शुद्धम्**=निर्मल; **उदकम्**=जल; **तादृक् एव**=वैसा ही; **भवति**=हो जाता है; **एवम्**=उसी प्रकार; **गौतम**=हे गौतमवंशी नचिकेता; **विजानतः**=(एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तम ही सब कुछ है, इस प्रकार) जाननेवाले; **मुनेः**=मुनिका (अर्थात् संसारसे उपरत हुए महापुरुषका); **आत्मा**=आत्मा; **भवति**=(ब्रह्मको प्राप्त) हो जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—परंतु वही वर्षाका निर्मल जल यदि निर्मल जलमें ही बरसता है तो वह उसी क्षण निर्मल जल ही हो जाता है। उसमें न तो कोई विकार उत्पन्न होता है और न वह कहीं बिखरता ही है। इसी प्रकार, हे गौतमवंशीय नचिकेता! जो इस बातको भलीभाँति जान गया है कि जो कुछ है, वह सब परब्रह्म पुरुषोत्तम ही है, उस मननशील—संसारके बाहरी स्वरूपसे उपरत पुरुषका आत्मा परब्रह्ममें मिलकर उसके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त हो जाता है ॥ १५ ॥

प्रथम वल्ली समाप्त ॥ १ ॥ (४)

---

* यहाँ 'अङ्गुष्ठमात्र' शब्द परमात्माका वाचक है, जीवका नहीं। प्रातःस्मरणीय आचार्यने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—“परमात्मैवायमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुमर्हति। कस्मात्? शब्दात्—'ईशानो भूतभव्यस्य' इति। न ह्यन्यः परमेश्वराद् भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता।” अर्थात् यहाँ अङ्गुष्ठमात्र-परिमाण पुरुष परमात्मा ही है। कैसे जाना? 'ईशानो' आदि श्रुतिसे। भूत और भव्यका निरङ्कुश नियन्ता परमेश्वरके सिवा दूसरा नहीं हो सकता। (देखिये ब्रह्मसूत्र १। ३। २४ का शाङ्करभाष्य)

द्वितीय वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते॥ एतद्वै तत् ॥ १ ॥

अवक्रचेतसः=सरल, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप; **अजस्य**=अजन्मा परमेश्वरका; **एकादशद्वारम्**=ग्यारह द्वारोंवाला (मनुष्य-शरीररूप); **पुरम्**=पुर (नगर); **(अस्ति)**=है (इसके रहते हुए ही); **अनुष्ठाय**=(परमेश्वरका ध्यान आदि) साधन करके; **न शोचति**=(मनुष्य) कभी शोक नहीं करता; **च**=अपि तु; **विमुक्तः**=जीवन्मुक्त होकर; **विमुच्यते**=(मरनेके बाद) विदेहमुक्त हो जाता है; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ १ ॥

व्याख्या—यह मनुष्य-शरीररूपी पुर दो आँख, दो कान, दो नासिकाके छिद्र, एक मुख, ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, गुदा और शिश्न—इन ग्यारह द्वारोंवाला है। यह सर्वव्यापी, अविनाशी, अजन्मा, नित्य निर्विकार, एकरस, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमेश्वरकी नगरी है। वे सर्वत्र समभावसे सदा परिपूर्ण रहते हुए भी अपनी राजधानीरूप इस मनुष्यशरीरके हृदय-प्रासादमें राजाकी भाँति विशेषरूपसे विराजित रहते हैं। इस रहस्यको समझकर मनुष्यशरीरके रहते हुए ही—जीते-जी जो मनुष्य भजन-स्मरणादि साधन करता है, नगरके महान् स्वामी परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन और ध्यान करता है, वह कभी शोक नहीं करता; वह शोकके कारणरूप संसार-बन्धनसे छूटकर जीवन्मुक्त हो जाता है और शरीर छूटनेके पश्चात् विदेहमुक्त हो जाता है—परमात्माका साक्षात्कार करके जन्म-मृत्युके चक्रसे सदाके लिये छूट जाता है। यह जो सर्वव्यापक ब्रह्म है, यही वह हैं, जिनके सम्बन्धमें तुमने पूछा था ॥ १ ॥

सम्बन्ध—अब उस परमेश्वरकी सर्वरूपताका स्पष्टीकरण करते हैं—

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २ ॥

शुचिषत्=जो विशुद्ध परमधाममें रहनेवाला; **हंसः**=स्वयंप्रकाश पुरुषोत्तम है (वही); **अन्तरिक्षसत्**=अन्तरिक्षमें निवास करनेवाला; **वसुः**=वसु है; **दुरोणसत्**=घरोंमें उपस्थित होनेवाला; **अतिथिः**=अतिथि है (और); **वेदिषत् होता**=यज्ञकी वेदीपर स्थापित अग्निस्वरूप तथा उसमें आहुति डालनेवाला 'होता' है (तथा); **नृषत्**=समस्त मनुष्योंमें रहनेवाला; **वरसत्**=मनुष्योंसे श्रेष्ठ देवताओंमें रहनेवाला; **ऋतसत्**=सत्यमें रहनेवाला और; **व्योमसत्**=आकाशमें रहने-वाला (है तथा); **अब्जाः**=जलोंमें नाना रूपोंसे प्रकट होनेवाला; **गोजाः**=पृथिवीमें नानारूपोंसे प्रकट होनेवाला; **ऋतजाः**=सत्कर्मोंमें प्रकट होनेवाला (और); **अद्रिजाः**=पर्वतोंमें नानारूपसे प्रकट होनेवाला (है); **बृहत् ऋतम्**=सबसे बड़ा परम सत्य है ॥ २ ॥

व्याख्या—जो प्राकृतिक गुणोंसे सर्वथा अतीत दिव्य विशुद्ध परमधाममें विराजित स्वयंप्रकाश परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं, वही अन्तरिक्षमें विचरनेवाले वसु नामक देवता हैं, वही अतिथिके रूपमें गृहस्थके घरोंमें उपस्थित होते हैं, वही यज्ञकी वेदीपर प्रतिष्ठित ज्योतिर्मय अग्नि तथा उसमें आहुति प्रदान करनेवाले होते हैं, वही समस्त मनुष्योंके रूपमें स्थित हैं; मनुष्योंकी अपेक्षा श्रेष्ठ देवता और पितृ आदि रूपमें स्थित, आकाशमें स्थित और सत्यमें प्रतिष्ठित हैं; वही जलोंमें मत्स्य, शङ्ख, शुक्ति आदिके रूपमें प्रकट होते हैं; पृथिवीमें वृक्ष, अङ्कुर, अन्न, ओषधि आदिके रूपमें, यज्ञादि सत्कर्मोंमें नाना प्रकारके यज्ञफलादिके रूपमें और पर्वतोंमें नद-नदी आदिके रूपमें प्रकट होते हैं। वे सभी दृष्टियोंसे सभीकी अपेक्षा श्रेष्ठ, महान् और परम सत्य तत्त्व हैं* ॥२॥

---

* कुछ आदरणीय महानुभावोंने इस मन्त्रके ये अर्थ किये हैं—

१—जो सर्वथा दोषहीन सर्वसाररूप 'हंस' हैं (हं चासौ—दोषहीनश्चासौ, सश्च साररूपश्च इति हंसः), विशुद्ध (वायु) में स्थित शुचिषद् हैं, अन्तरिक्षमें स्थित सर्वोपरि सुखस्वरूप वसु (व=वरं, सु+सुखं, यस्य स वसुः) हैं, समस्त इन्द्रियोंके नियन्ता होता हैं, सबके द्वारा सम्मान्य वेद्य वेदिषत् हैं, घरोंमें अतिथि हैं या महान् ऐश्वर्यस्वरूप (अति—महान्, थ—सम्पत्ति-ऐश्वर्य) हैं, सोमरूपसे कलशमें स्थित दुरोणसत् हैं; जो मनुष्योंमें हैं, उनसे श्रेष्ठ देवताओंमें हैं, वेदोंमें ऋत या सत्यरूप हैं, महान् प्रकृतिमें या श्रीमें हैं, जलसे उत्पन्न

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

प्राणम्=(जो) प्राणको; **ऊर्ध्वम्**=ऊपरकी ओर; **उन्नयति**=उठाता है (और); **अपानम्**=अपानको; **प्रत्यक् अस्यति**=नीचे ढकेलता है; **मध्ये**=शरीरके मध्य (हृदय) में; **आसीनम्**=बैठे हुए (उस); **वामनम्**=सर्वश्रेष्ठ भजनेयोग्य परमात्माकी; **विश्वे देवाः**=सभी देवता; **उपासते**=उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—शरीरमें नियमितरूपसे अनवरत प्राण-अपानादिकी क्रिया हो रही है; इन जड पदार्थोंमें जो क्रियाशीलता आ रही है, वह उन परमात्माकी शक्ति और प्रेरणासे ही आ रही है। वे ही मानव-हृदयमें राजाकी भाँति विराजित रहकर प्राणको ऊपरकी ओर चढ़ा रहे हैं और अपानको नीचेकी ओर ढकेल रहे हैं। इस प्रकार शरीरके अंदर होनेवाले सारे व्यापारोंका सुचारुरूपसे सम्पादन कर रहे हैं। उन हृदयस्थित परम भजनीय परब्रह्म पुरुषोत्तमकी सभी देवता उपासना कर रहे हैं—शरीरस्थित प्राण-मन-बुद्धि-इन्द्रियादिके सभी अधिष्ठातृ-देवता उन परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिये उन्हींकी प्रेरणाके अनुसार नित्य सावधानीके साथ समस्त कार्योंका यथाविधि सम्पादन करते रहते हैं ॥ ३ ॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ ४ ॥

अस्य=इस; **शरीरस्थस्य**=शरीरमें स्थित; **विस्रंसमानस्य**=एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेवाले; **देहिनः**=जीवात्माके; **देहात्**=शरीरसे; **विमुच्यमानस्य**=निकल जानेपर; **अत्र**=यहाँ (इस शरीरमें); **किम् परिशिष्यते**=क्या शेष रहता है; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ४ ॥

व्याख्या—यह एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमन करनेके स्वभाववाला देही (जीवात्मा) जब इस वर्तमान शरीरसे निकलकर चला जाता है और उसके साथ ही जब इन्द्रिय, प्राण आदि भी चले जाते हैं, तब इस मृत शरीरमें क्या बच रहता है? देखनेमें तो कुछ भी नहीं रहता; पर वह परब्रह्म परमेश्वर, जो सदा-सर्वदा समानभावसे सर्वत्र परिपूर्ण है, जो चेतन जीव तथा जड प्रकृति—सभीमें सदा व्याप्त है, वह रह जाता है। यही वह ब्रह्म है, जिसके सम्बन्धमें तुमने पूछा था ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब निम्नाङ्कित दो मन्त्रोंमें यमराज नचिकेताके पूछे हुए तत्त्वको पुनः दूसरे प्रकारसे वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥
हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

कश्चन=कोई भी; **मर्त्यः**=मरणधर्मा प्राणी; **न प्राणेन**=न तो प्राणसे (जीता है और); **न अपानेन**=न अपानसे (ही); **जीवति**=जीता है; **तु**=किंतु; **यस्मिन्**=जिसमें; **एतौ उपाश्रितौ**=(प्राण और अपान) ये दोनों आश्रय पाये हुए हैं; **इतरेण**=(ऐसे किसी) दूसरेसे ही; **जीवन्ति**=(सब) जीते हैं; **गौतम**=हे गौतमवंशीय; **गुह्यम् सनातनम्**=(वह) रहस्यमय

मत्स्यादिमें है, पृथ्वीसे उत्पन्न वृक्ष-अन्नादिमें है, पर्वतोंसे उत्पन्न नदी आदिमें है; जो मुक्त पुरुषोंमें है (मुक्तोंको 'ऋता' कहते हैं; उनमें रहकर जो उनका नियन्त्रण करता है, वह ऋतजाः है), और परम सत्य है तथा सब गुणोंमें सर्वश्रेष्ठ है।

२—जो गमन करनेवाला है, आकाशमें चलनेवाला सूर्य है, आकाशमें व्याप्त वायु है, पृथ्वीमें रहनेवाला होता—अग्नि है, कलशमें स्थित सोम है, घरोंमें रहनेवाला ब्राह्मण अतिथि है, मनुष्योंमें गमन करनेवाला, देवताओंमें जानेवाला, यज्ञ या सत्यमें निवास करनेवाला, आकाशमें चलनेवाला, जलमें शंख-सीपी आदि रूपोंमें उत्पन्न होनेवाला, पृथ्वीमें अन्नादिरूपसे उत्पन्न होनेवाला, यज्ञाङ्गरूपसे उत्पन्न होनेवाला, पर्वतोंसे नदी आदिके रूपमें उत्पन्न होनेवाला, सत्यस्वरूप और महान् है अर्थात् जगत्का एकमात्र सर्वव्यापक आत्मा है।

सनातन; **ब्रह्म**=ब्रह्म (जैसा है); **च**=और; **आत्मा**=जीवात्मा; **मरणम् प्राप्य**=मरकर; **यथा**=जिस प्रकारसे; **भवति**=रहता है; **इदम् ते**=यह बात तुम्हें; **हन्त प्रवक्ष्यामि**=मैं अब फिरसे बतलाऊँगा ॥ ५-६ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं—नचिकेता ! एक दिन निश्चय ही मृत्युके मुखमें जानेवाले ये मनुष्यादि प्राणी न तो प्राणकी शक्तिसे जीवित रहते हैं और न अपानकी शक्तिसे ही । इन्हें जीवित रखनेवाला तो कोई दूसरा ही चेतन तत्त्व है और वह है जीवात्मा । ये प्राण-अपान दोनों उस जीवात्माके ही आश्रित हैं । जीवात्माके बिना एक क्षण भी ये नहीं रह सकते; जब जीवात्मा जाता है, तब केवल ये ही नहीं, इन्हींके साथ इन्द्रियादि सभी उसका अनुसरण करते हुए चले जाते हैं । अब मैं तुमको यह बतलाऊँगा कि मनुष्यके मरनेके बाद इस जीवात्माका क्या होता है, यह कहाँ जाता है, तथा किस प्रकार रहता है और साथ ही यह भी बतलाऊँगा कि उस परम रहस्यमय सर्वव्यापी सर्वाधार सर्वाधिपति परब्रह्म परमेश्वरका क्या स्वरूप है ॥ ५-६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

यथाकर्म=जिसका जैसा कर्म होता है; **यथाश्रुतम्**=और शास्त्रादिके श्रवणद्वारा जिसको जैसा भाव प्राप्त हुआ है (उन्हींके अनुसार); **शरीरत्वाय**=शरीर धारण करनेके लिये; **अन्ये**=कितने ही; **देहिनः**=जीवात्मा तो; **योनिम्**=(नाना प्रकारकी जङ्गम) योनियोंको; **प्रपद्यन्ते**=प्राप्त हो जाते हैं और; **अन्ये**=दूसरे (कितने ही); **स्थाणुम्**=स्थाणु (स्थावर) भावका; **अनुसंयन्ति**=अनुसरण करते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं कि अपने-अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार और शास्त्र, गुरु, सङ्ग, शिक्षा, व्यवसाय आदिके द्वारा देखे-सुने हुए भावोंसे निर्मित अन्तःकालीन वासनाके अनुसार मरनेके पश्चात् कितने ही जीवात्मा तो दूसरा शरीर धारण करनेके लिये शुक्रके साथ माताकी योनिमें प्रवेश कर जाते हैं । इनमें जिनके पुण्य-पाप समान होते हैं, वे मनुष्यका, और जिनके पुण्य कम तथा पाप अधिक होते हैं, वे पशु-पक्षीका शरीर धारण करके उत्पन्न होते हैं और कितने ही, जिनके पाप अत्यधिक होते हैं, वे स्थावरभावको प्राप्त होते हैं अर्थात् वृक्ष, लता, तृण, पर्वत आदि जड शरीरोंमें उत्पन्न होते हैं ॥७॥

सम्बन्ध—यमराजने जीवात्माकी गति और परमात्माका स्वरूप—इन दो बातोंको बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी; इनमें 'मरनेके बाद जीवात्माकी क्या गति होती है, इसको बतलाकर अब वे दूसरी बात बतलाते हैं—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

यः एषः=जो यह; **कामम् कामम्**=(जीवोंके कर्मानुसार) नाना प्रकारके भोगोंका; **निर्मिमाणः**=निर्माण करनेवाला; **पुरुषः**=परमपुरुष परमेश्वर; **सुप्तेषु**=(प्रलयकालमें सबके) सो जानेपर भी; **जागर्ति**=जागता रहता है; **तत् एव**=वही; **शुक्रम्**=परम विशुद्ध तत्त्व है; **तत् ब्रह्म**=वही ब्रह्म है; **तत् एव**=वही; **अमृतम्**=अमृत; **उच्यते**=कहलाता है; (तथा) **तस्मिन्**=उसीमें; **सर्वे**=सम्पूर्ण; **लोकाः श्रिताः**=लोक आश्रय पाये हुए हैं; **तत् कश्चन उ**=उसे कोई भी; **न अत्येति**=अतिक्रमण नहीं कर सकता; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ८ ॥

व्याख्या—जीवात्माओंके कर्मानुसार उनके लिये नाना प्रकारके भोगोंका निर्माण करनेवाला तथा उनकी यथायोग्य व्यवस्था करनेवाला जो यह परमपुरुष परमेश्वर समस्त जीवोंके सो जानेपर अर्थात् प्रलयकालमें सबका ज्ञान लुप्त हो जानेपर भी अपनी महिमामें नित्य जागता रहता है, जो स्वयं ज्ञानस्वरूप है, जिसका ज्ञान सदैव एकरस रहता है, कभी अधिक-न्यून या लुप्त नहीं होता, वही परम विशुद्ध दिव्य तत्त्व है, वही परब्रह्म है; उसीको ज्ञानी महापुरुषोंके द्वारा प्राप्य परम अमृतस्वरूप परमानन्द कहा जाता है । ये सम्पूर्ण लोक उसीके आश्रित हैं । उसे कोई भी नहीं लाँघ सकता—कोई भी उसके नियमोंका अतिक्रमण नहीं कर सकता । सभी सदा-सर्वदा एकमात्र उसीके शासनमें रहनेवाले और उसीके अधीन हैं । कोई भी उसकी महिमाका पार नहीं पा सकता । यही है वह ब्रह्म-तत्त्व, जिसके विषयमें तुमने पूछा था ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—अब अग्निके दृष्टान्तसे उस परब्रह्म परमेश्वरकी व्यापकता और निर्लेपताका वर्णन करते हैं—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

यथा=जिस प्रकार; **भुवनम्**=समस्त ब्रह्माण्डमें; **प्रविष्टः**=प्रविष्ट; **एकः अग्निः**=एक ही अग्नि; **रूपम् रूपम्**=नाना रूपोंमें; **प्रतिरूपः**=उनके समान रूपवाला ही; **बभूव**=हो रहा है; **तथा**=वैसे (ही); **सर्वभूतान्तरात्मा**=समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा परब्रह्म; **एकः (सन्)**=एक होते हुए भी; **रूपम् रूपम्**=नाना रूपोंमें; **प्रतिरूपः**=उन्हींके-जैसे रूपवाला (हो रहा है); **च बहिः**=और उनके बाहर भी है ॥ ९ ॥

व्याख्या—एक ही अग्नि निराकाररूपसे सारे ब्रह्माण्डमें व्याप्त है, उसमें कोई भेद नहीं है; परंतु जब वह साकाररूपसे प्रज्वलित होता है, तब उन आधारभूत वस्तुओंका जैसा आकार होता है, वैसा ही आकार अग्निका भी दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी परमेश्वर एक हैं और सबमें समभावसे व्याप्त हैं, उनमें किसी प्रकारका कोई भेद नहीं है; तथापि वे भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें उन-उन प्राणियोंके अनुरूप नाना रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। भाव यह कि आधारभूत वस्तुके अनुरूप ही उनकी महिमाका प्राकट्य होता है। वास्तवमें उन परमेश्वरकी महत्ता इतनी ही नहीं है, इससे बहुत अधिक और विलक्षण है। उनकी अनन्त शक्तिके एक क्षुद्रतम अंशसे ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नाना प्रकारकी आश्चर्यमय शक्तियोंसे सम्पन्न हो रहा है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—वही बात वायुके दृष्टान्तसे कहते हैं—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

यथा=जिस प्रकार; **भुवनम्**=समस्त ब्रह्माण्डमें; **प्रविष्टः**=प्रविष्ट; **एकः वायुः**=एक (ही) वायु; **रूपम् रूपम्**=नाना रूपोंमें; **प्रतिरूपः**=उनके समान रूपवाला ही; **बभूव**=हो रहा है; **तथा**=वैसे (ही;) **सर्वभूतान्तरात्मा**=सब प्राणियोंका अन्तरात्मा परब्रह्म; **एकः (सन् अपि)**=एक होते हुए भी; **रूपम् रूपम्**=नाना रूपोंमें; **प्रतिरूपः**=उन्हींके-जैसे रूपवाला (हो रहा है); **बहिः च**=और उनके बाहर भी है ॥ १० ॥

व्याख्या—एक ही वायु अव्यक्तरूपसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त है, तथापि व्यक्तमें भिन्न-भिन्न वस्तुओंके संयोगसे उन-उन वस्तुओंके अनुरूप गति और शक्तिवाला दिखलायी देता है। उसी प्रकार समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमेश्वर एक होते हुए भी उन-उन प्राणियोंके सम्बन्धसे पृथक्-पृथक् शक्ति और गतिवाला दीखता है; किंतु वह उतना ही नहीं है, उन सबके बाहर भी अनन्त—असीम एवं विलक्षण रूपसे स्थित है। (नवम मन्त्रकी व्याख्याके अनुसार इसे भी समझ लेना चाहिये)॥ १० ॥

सम्बन्ध—इस मन्त्रमें सूर्यके दृष्टान्तसे परमात्माकी निर्लेपता दिखलाते हैं—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

यथा=जिस प्रकार; **सर्वलोकस्य**=समस्त ब्रह्माण्डका; **चक्षुः सूर्यः**=प्रकाशक सूर्य देवता; **चाक्षुषैः**=लोगोंकी आँखोंसे होनेवाले; **बाह्यदोषैः**=बाहरके दोषोंसे; **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होता; **तथा**=उसी प्रकार; **सर्वभूतान्तरात्मा**=सब प्राणियोंका अन्तरात्मा परमात्मा; **एकः**=एक है; (तो भी) **लोकदुःखेन**=लोगोंके दुःखोंसे; **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होता; [**यतः**]=क्योंकि; **बाह्यः**=सबमें रहता हुआ भी वह सबसे अलग है ॥ ११ ॥

व्याख्या—एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है। उसका प्रकाश प्राणिमात्रकी आँखोंका सहायक है। उस प्रकाशकी ही सहायता लेकर लोग नाना प्रकारके गुणदोषमय कर्म करते हैं; परंतु सूर्य उनके नेत्रोंद्वारा किये

जानेवाले नाना प्रकारके बाह्य कर्मरूप दोषोंसे तनिक भी लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार सबके अन्तर्यामी भगवान् परब्रह्म पुरुषोत्तम एक हैं; उन्हींकी शक्तिसे शक्तियुक्त होकर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा मनुष्य नाना प्रकारके शुभाशुभ कर्म करते हैं तथा उनका फलरूप सुख-दुःखादि भोगते हैं। परंतु वे परमेश्वर उनके कर्म और दुःखोंसे लिप्त नहीं होते; क्योंकि वे सबमें रहते हुए भी सबसे पृथक् और सर्वथा असङ्ग हैं ॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

यः=जो; **सर्वभूतान्तरात्मा**=सब प्राणियोंका अन्तर्यामी; **एकः वशी**=अद्वितीय एवं सबको वशमें रखनेवाला (परमात्मा); **एकम् रूपम्**=(अपने) एक ही रूपको; **बहुधा**=बहुत प्रकारसे; **करोति**=बना लेता है; **तम् आत्मस्थम्**=उस अपने अंदर रहनेवाले (परमात्मा) को; **ये धीराः**=जो ज्ञानी पुरुष; **अनुपश्यन्ति**=निरन्तर देखते रहते हैं; **तेषाम्**=उन्हींको; **शाश्वतम् सुखम्**=सदा अटल रहनेवाला परमानन्दस्वरूप वास्तविक सुख (मिलता है); **इतरेषाम् न**=दूसरोंको नहीं ॥१२॥

व्याख्या—जो परमात्मा सदा सबके अन्तरात्मारूपसे स्थित हैं, जो अद्वितीय हैं और सम्पूर्ण जगत्‌में देव-मनुष्यादि सभीको सदा अपने वशमें रखते हैं, वे ही सर्वशक्तिमान् सर्वभवनसमर्थ परमेश्वर अपने एक ही रूपको अपनी लीलासे बहुत प्रकारका बना लेते हैं। उन परमात्माको जो ज्ञानी महापुरुष निरन्तर अपने अंदर स्थित देखते हैं, उन्हींको सदा स्थिर रहनेवाला—सनातन परमानन्द मिलता है, दूसरोंको नहीं ॥ १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

यः=जो; **नित्यानाम्***=नित्योंका (भी); **नित्यः**=नित्य (है); **चेतनानाम्**=चेतनोंका (भी); **चेतनः**=चेतन है (और); **एकः बहूनाम्**=एक होते हुए भी इन अनेक (जीवों)की; **कामान्**=कामनाओंको; **विदधाति**=पूर्ण करता है; **तम् आत्मस्थम्**=उस अपने अंदर रहनेवाले (पुरुषोत्तमको); **ये धीराः**=जो ज्ञानी; **अनुपश्यन्ति**=निरन्तर देखते रहते हैं; **तेषाम्**=उन्हींको; **शाश्वती शान्तिः**=सदा अटल रहनेवाली शान्ति (प्राप्त होती है); **इतरेषाम् न**=दूसरोंको नहीं ॥ १३ ॥

व्याख्या—जो समस्त नित्य चेतन आत्माओंके भी नित्य चेतन आत्मा हैं और जो स्वयं एक होते हुए ही अनन्त जीवोंके भोगोंका उन-उनके कर्मानुसार निर्माण करते हैं, उन सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तमको जो ज्ञानी महापुरुष अपने अंदर निरन्तर स्थित देखते हैं, उन्हींको सदा स्थिर रहनेवाली—सनातनी परम शान्ति मिलती है, दूसरोंको नहीं † ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—जिज्ञासु नचिकेता इस प्रकार उस ब्रह्मप्राप्तिके आनन्द और शान्तिकी महिमा सुनकर मन-ही-मन विचार करने लगा—

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

* कुछ लोगोंने 'नित्यः अनित्यानाम्' पाठ मानकर उसका अर्थ यह किया है कि यह आत्मा जितने भी विनाशशील भाव-पदार्थ हैं, उनमें अविनाशी है। अर्थात् यह 'शक्तिशेषलयका आधार' है। जब समस्त पदार्थोंका लय हो जाता है, तब उस लयको भी अपने अंदर विलीन करनेवाला, लयका भी साक्षी आत्मा रह जाता है। इसलिये वह अनित्योंमें नित्य है।

† कुछ महानुभावोंने इस मन्त्रका ऐसा अर्थ किया है—

जो आकाश, काल आदि नित्यके नामसे प्रसिद्ध पदार्थोंको नित्यत्व प्रदान करनेवाला परम नित्य है और जो ब्रह्मादि चेतनोंको भी चेतनत्व प्रदान करनेवाला चेतन है, जो अकेला ही अनेकोंकी कामनाएँ पूर्ण करता है, अपनी बुद्धिमें स्थित उस आत्माको जो विवेकशील पुरुष देखते हैं, उन्हींको नित्य शान्ति प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं।

तत्=वह; **अनिर्देश्यम्**=अनिर्वचनीय; **परमम्**=परम; **सुखम्**=सुख; **एतत्**=यह (परमात्मा ही है); **इति**=यों; **मन्यन्ते**=(ज्ञानीजन) मानते हैं; **तत्**=उसको; **कथम् नु**=किस प्रकारसे; **विजानीयाम्**=मैं भलीभाँति समझूँ; **किमु**=क्या वह; **भाति**=प्रकाशित होता है; **वा**=या; **विभाति**=अनुभवमें आता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—उस सनातन परम आनन्द और परम शान्तिको प्राप्त ज्ञानी महात्माजन ऐसा मानते हैं कि परब्रह्म पुरुषोत्तम ही वह अलौकिक सर्वोपरि आनन्द है, जिसका निर्देश मन-वाणीसे नहीं किया जा सकता । उस परमानन्दस्वरूप परमेश्वरको मैं अपरोक्षरूपसे किस प्रकार जानूँ ? क्या वह प्रत्यक्ष प्रकट होता है ? या अनुभवमें आता है ? उसका ज्ञान किस प्रकारसे होता है ? ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—नचिकेताके आन्तरिक भावको समझकर यमराजने कहा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

तत्र=वहाँ; **न सूर्यः भाति**=न (तो) सूर्य प्रकाशित होता है; **न चन्द्रतारकम्**=न चन्द्रमा और तारोंका समुदाय (ही प्रकाशित होता है); **न इमाः विद्युतः भान्ति**=(और) न ये बिजलियाँ ही (वहाँ) प्रकाशित होती हैं; **अयम् अग्निः कुतः**=फिर यह (लौकिक) अग्नि कैसे (प्रकाशित हो सकता है क्योंकि); **तम्**=उसके; **भान्तम् एव**=प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे); **सर्वम्**=ऊपर बतलाये हुए सूर्यादि सब; **अनुभाति**=प्रकाशित होते हैं; **तस्य भासा**=उसीके प्रकाशसे; **इदम् सर्वम्**=यह सम्पूर्ण जगत्; **विभाति**=प्रकाशित होता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—उस स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरके समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता । जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश प्रकट होनेपर खद्योतका प्रकाश लुप्त हो जाता है, वैसे ही सूर्यका आंशिक तेज भी उस असीम तेजके सामने लुप्त हो जाता है । चन्द्रमा, तारागण और बिजली भी वहाँ नहीं चमकते; फिर इस लौकिक अग्निकी तो बात ही क्या है । क्योंकि प्राकृत जगत्में जो कुछ भी तत्त्व प्रकाशशील हैं, सब उस परब्रह्म परमेश्वरकी प्रकाश-शक्तिके अंशको पाकर ही प्रकाशित हैं । वे अपने प्रकाशकके समीप अपना प्रकाश कैसे फैला सकते हैं । सारांश यह कि यह सम्पूर्ण जगत् उस जगदात्मा पुरुषोत्तमके प्रकाशसे अथवा उस प्रकाशके एक क्षुद्रतम अंशसे प्रकाशित हो रहा है ॥ १५ ॥

॥ द्वितीय वल्ली समाप्त ॥ २ ॥ (५)

तृतीय वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमूलः=ऊपरकी ओर मूलवाला; **अवाक्शाखः**=नीचेकी ओर शाखावाला; **एषः**=यह (प्रत्यक्ष जगत्); **सनातनः अश्वत्थः**=सनातन पीपलका वृक्ष है । [**तन्मूलम्**=इसका मूलभूत;] **तत् एव शुक्रम्**=वह (परमेश्वर) ही विशुद्ध तत्त्व है; **तत् ब्रह्म**=वही ब्रह्म है (और); **तत् एव**=वही; **अमृतम् उच्यते**=अमृत कहलाता है; **सर्वे लोकाः**=सब लोक; **तस्मिन्**=उसीके; **श्रिताः**=आश्रित हैं; **कश्चन उ**=कोई भी; **तत्**=उसको; **न अत्येति**=लाँघ नहीं सकता; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ १ ॥

व्याख्या-जिसका मूलभूत परब्रह्म पुरुषोत्तम ऊपर है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ, सबसे सूक्ष्म और सर्वशक्तिमान् है और जिसकी प्रधान शाखा ब्रह्मा तथा अवान्तर शाखाएँ देव, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि क्रमसे नीचे हैं, ऐसा यह ब्रह्माण्डरूप पीपल-वृक्ष अनादिकालीन—सदासे है । कभी प्रकटरूपमें और कभी अप्रकटरूपसे अपने कारणरूप परब्रह्ममें नित्य स्थित रहता है, अतः

सनातन है। इसका जो मूल कारण है, जिससे यह उत्पन्न होता है, जिससे सुरक्षित है और जिसमें विलीन होता है, वही विशुद्ध दिव्य तत्त्व है, वही ब्रह्म है, उसीको अमृत कहते हैं, तथा सब लोक उसीके आश्रित हैं। कोई भी उसका अतिक्रमण करनेमें समर्थ नहीं है। नचिकेता! यही है वह तत्त्व, जिसके सम्बन्धमें तुमने पूछा था ॥ १ ॥

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

निःसृतम्=(परब्रह्म परमेश्वरसे) निकला हुआ; **इदम् यत् किं च**=यह जो कुछ भी; **सर्वम् जगत्**=सम्पूर्ण जगत् है; **प्राणे एजति**=उस प्राणस्वरूप परमेश्वरमें ही चेष्टा करता है; **एतत्**=इस; **उद्यतम् वज्रम्**=उठे हुए वज्रके समान; **महत् भयम्**=महान् भयस्वरूप (सर्वशक्तिमान्) परमेश्वरको; **ये विदुः**=जो जानते हैं; **ते**=वे; **अमृताः भवन्ति**=अमर हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणसे छूट जाते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—यह जो कुछ भी इन्द्रिय, मन और बुद्धिके द्वारा देखने, सुनने और समझनेमें आनेवाला सम्पूर्ण चराचर जगत् है, सब अपने परम कारणरूप जिन परब्रह्म पुरुषोत्तमसे प्रकट हुआ है, उन्हीं प्राणस्वरूप परमेश्वरमें चेष्टा करता है। अर्थात् इसकी चेष्टाओंके आधार एवं नियामक भी वे परमेश्वर ही हैं। वे परमेश्वर परम दयालु होते हुए भी महान् भयरूप हैं—छोटे-बड़े सभी उनसे भय मानते हैं। साथ ही वे उठे हुए वज्रके समान हैं। जिस प्रकार हाथमें वज्र लिये हुए प्रभुको देखकर सभी सेवक यथाविधि निरन्तर आज्ञापालनमें तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार समस्त देवता सदा-सर्वदा नियमानुसार इन परमेश्वरके आज्ञापालनमें नियुक्त रहते हैं। इस परब्रह्मको जो जानते हैं, वे तत्त्वज्ञ पुरुष अमर हो जाते हैं—जन्म-मृत्युके चक्रसे छूट जाते हैं ॥ २ ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

अस्य भयात्=इसीके भयसे; **अग्निः तपति**=अग्नि तपता है; **भयात्**=(इसीके) भयसे; **सूर्यः तपति**=सूर्य तपता है; **च**=तथा; (**अस्य**) **भयात्**=इसीके भयसे; **इन्द्रः वायुः**=इन्द्र, वायु; **च**=और; **पञ्चमः मृत्युः**=पाँचवें मृत्यु देवता; **धावति**=(अपने-अपने काममें) प्रवृत्त हो रहे हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—सबपर शासन करनेवाले और सबको नियन्त्रणमें रखकर नियमानुसार चलानेवाले इन परमेश्वरके भयसे ही अग्नि तपता है, इन्हींके भयसे सूर्य तप रहा है; इन्हींके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवें मृत्यु देवता दौड़-दौड़कर जल आदि बरसाना, चलना, जीवोंके शरीरोंका अन्त करना आदि अपना-अपना काम त्वरापूर्वक कर रहे हैं। सारांश यह कि इस जगत्में देवसमुदायके द्वारा सारे कार्य जो नियमित रूपसे सम्पन्न हो रहे हैं, वे इन सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सबके शासक एवं नियन्ता परमेश्वरके अमोघ शासनसे ही हो रहे हैं ॥ ३ ॥

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

चेत्=यदि; **शरीरस्य**=शरीरका; **विस्रसः**=पतन होनेसे; **प्राक्**=पहले-पहले; **इह**=इस मनुष्यशरीरमें ही (साधक); **बोद्धुम्**=परमात्माका साक्षात्; **अशकत्**=कर सका (तब तो ठीक है); **ततः**=नहीं तो फिर; **सर्गेषु**=अनेक कल्पोंतक; **लोकेषु**=नाना लोक और योनियोंमें; **शरीरत्वाय कल्पते**=शरीर धारण करनेको विवश होता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस सर्वशक्तिमान्, सबके प्रेरक और सबपर शासन करनेवाले परमेश्वरको यदि कोई साधक इस दुर्लभ मनुष्यशरीरका नाश होनेसे पहले ही जान लेता है, अर्थात् जबतक इसमें भजन-स्मरण आदि साधन करनेकी शक्ति बनी हुई है और जबतक यह मृत्युके मुखमें नहीं चला जाता, तभीतक (इसके रहते-रहते ही) सावधानीके साथ प्रयत्न करके परमात्माके तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब तो उसका जीवन सफल हो जाता है; अनादिकालसे जन्म-मृत्युके प्रवाहमें पड़ा हुआ वह जीव उससे छुटकारा पा जाता है। नहीं तो, फिर उसे अनेक कल्पोंतक विभिन्न लोकों और योनियोंमें शरीर धारण करनेके

लिये बाध्य होना पड़ता है । अतएव मनुष्यको मृत्युसे पहले-पहले ही परमात्माको जान लेना चाहिये * ॥ ४ ॥

यथाऽऽदर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

यथा आदर्शे=जैसे दर्पणमें (सामने आयी हुई वस्तु दीखती है); **तथा आत्मनि**=वैसे ही शुद्ध अन्तःकरणमें (ब्रह्मके दर्शन होते हैं); **यथा स्वप्ने**=जैसे स्वप्नमें (वस्तु अस्पष्ट दिखलायी देती है); **तथा पितृलोके**=उसी प्रकार पितृलोकमें (परमेश्वर दीखता है); **यथा अप्सु**=जैसे जलमें (वस्तुके रूपकी झलक पड़ती है); **तथा गन्धर्वलोके**=उसी प्रकार गन्धर्वलोकमें; **परि ददृशे इव**=परमात्माकी झलक-सी पड़ती है (और); **ब्रह्मलोके**=ब्रह्मलोकमें (तो); **छायातपयोः इव**=छाया और धूपकी भाँति (आत्मा और परमात्मा दोनोंका स्वरूप पृथक्-पृथक् स्पष्ट दिखलायी देता है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जैसे मलरहित दर्पणमें उसके सामने आयी हुई वस्तु दर्पणसे विलक्षण और स्पष्ट दिखलायी देती है, उसी प्रकार ज्ञानी महापुरुषोंके विशुद्ध अन्तःकरणमें वे परमेश्वर उससे विलक्षण एवं स्पष्ट दिखलायी देते हैं । जैसे स्वप्नमें वस्तुसमूह यथार्थरूपमें न दीखकर स्वप्नद्रष्टा मनुष्यकी वासना और विविध संस्कारोंके अनुसार कहींकी वस्तु कहीं विशृङ्खलरूपसे अस्पष्ट दिखायी देती है, वैसे ही पितृलोकमें परमेश्वरका स्वरूप यथावत् स्पष्ट न दीखकर अस्पष्ट ही दीखता है; क्योंकि पितृलोकको प्राप्त प्राणी पूर्व-जन्मकी स्मृति और वहाँके सम्बन्धियोंका पूर्ववत् ज्ञान होनेके कारण तदनुरूप वासनाजालमें आबद्ध रहते हैं । गन्धर्वलोक पितृलोककी अपेक्षा कुछ श्रेष्ठ है; इसलिये जैसे स्वप्नकी अपेक्षा जाग्रत् अवस्थामें जलके अंदर देखनेपर प्रतिबिम्ब कुछ-का-कुछ न दीखकर यथावत् तो दीखता है, परंतु जलकी लहरोंके कारण हिलता हुआ-सा प्रतीत होता है, स्पष्ट नहीं दीखता, वैसे ही गन्धर्वलोकमें भी भोग-लहरियोंमें लहराते हुए चित्तसे युक्त वहाँके निवासियोंको भगवान्के सर्वथा स्पष्ट दर्शन नहीं होते । किंतु ब्रह्मलोकमें वहाँ रहनेवालोंको छाया और धूपकी तरह अपना और उन परब्रह्म परमेश्वरका ज्ञान प्रत्यक्ष और सुस्पष्ट होता है । वहाँ किसी प्रकारका भ्रम नहीं रहता । तीसरी वल्लीके पहले मन्त्रमें बतलाया गया है कि यह मनुष्यशरीर भी एक लोक है, इसमें परब्रह्म परमेश्वर और जीवात्मा—दोनों छाया और धूपकी तरह हृदयरूप गुफामें रहते हैं । अतः मनुष्यको दूसरे लोकोंकी कामना न करके इस मनुष्यशरीरके रहते-रहते ही उस परब्रह्म परमेश्वरको जान लेना चाहिये । यही इसका अभिप्राय है† ॥ ५ ॥

---

* एक महानुभावने इस मन्त्रमें 'सर्गेषु'के स्थानपर 'स्वर्गेषु' पाठ मानकर इस प्रकार अर्थ किया है—

यदि इस शरीरका पतन होनेसे पहले ही कोई भगवान्को जान लेता है तो वह फिर स्वर्ग नामसे ख्यात वैकुण्ठादि दिव्य लोकोंमें अप्राकृत चिदानन्दात्मक शरीर प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ।

† इस मन्त्रका भावार्थ निम्नलिखित रूपोंमें भी किया गया है—

१—जैसे दर्पणमें मुखमण्डल स्पष्ट दीखता है, वैसे ही महापुरुषोंको ज्ञाननेत्रोंके द्वारा अपने अंदर भगवान्के स्पष्ट दर्शन होते हैं । लोकोंमें प्रायः इस प्रकारका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता । पितृलोकमें वैसे ही अस्पष्ट ज्ञान होता है, जैसा स्वप्नमें होता है; गन्धर्वलोकका स्तर ज्ञानमें पितृलोककी अपेक्षा कहीं ऊँचा है, इसलिये वहाँ पितृलोककी अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट ज्ञान होता है—वैसे ही जैसे लहराते हुए जलमें अस्पष्ट मुख दीखता है । ब्रह्मलोकमें अधिक स्पष्ट ज्ञान होता है—वैसे ही जैसे छाया-धूपके बीचमें प्रभातके समय, जब न तो दुपहरीका प्रकाश रहता है और न रात्रिका अन्धकार होता है एवं वस्तु स्पष्ट दीखती है ।

२—जैसा काँच होता है, उसके सामने आयी हुई वस्तु उसीके अनुसार छोटी-बड़ी, दूर-समीप या लाल-पीली दिखलायी देती है । वैसे ही इस लोकमें मनुष्यका जैसा—मलिन, मिश्रित अथवा स्वच्छ अन्तःकरण होता है, वैसा ही उसके द्वारा भगवान्का रूप समझमें आता है । पितृलोक अपेक्षाकृत शुद्ध है; इसलिये वहाँ, जैसे स्वप्नमें वस्तु विशृङ्खल दीखनेपर भी कुछ स्पष्ट दीखती है, वैसे ही पितृलोकमें परमेश्वरके रूपका ज्ञान होता है । गन्धर्वलोकमें, निर्मल जलमें दीखनेवाले रूपकी भाँति और भी स्पष्ट दिखायी देता है एवं ब्रह्मलोकमें तो छाया तथा धूपकी भाँति बहुत स्पष्ट रूपमें ऐसा ज्ञान होता है कि पूर्णप्रकाश परमेश्वरके साथ ही उसीके आधारपर अल्पप्रकाश जीवात्मा भी स्थित है अर्थात् एक ही परमात्मा दो रूपोंमें प्रकट हैं ।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

पृथक्=(अपने-अपने कारणसे) भिन्न-भिन्न रूपोंमें; **उत्पद्यमानानाम्**=उत्पन्न हुई; **इन्द्रियाणाम्**=इन्द्रियोंकी; **यत्**=जो; **पृथक् भावम्**=पृथक्-पृथक् सत्ता है; **च**=और; [**यत्**=जो उनका;] **उदयास्तमयौ**=उदय हो जाना और लय हो जाना-रूप स्वभाव है; [**तत्**=उसे]; **मत्वा**=जानकर; **धीरः**=(आत्माका स्वरूप उनसे विलक्षण समझनेवाला) धीर पुरुष; **न शोचति**=शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

व्याख्या–शब्द-स्पर्शादि विषयोंके अनुभवरूप पृथक्-पृथक् कार्य करनेके लिये भिन्न-भिन्न रूपमें उत्पन्न हुई इन्द्रियोंके जो पृथक्-पृथक् भाव हैं तथा जाग्रत् अवस्थामें कार्यशील हो जाना और सुषुप्तिकालमें लय हो जाना रूप जो उनकी परिवर्तन-शीलता है, इनपर विचार करके जब बुद्धिमान् मनुष्य इस रहस्यको समझ लेता है कि 'ये इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि या इनका सङ्घातरूप यह शरीर मैं नहीं हूँ, मैं इनसे सर्वथा विलक्षण नित्य चेतन हूँ, सर्वथा विशुद्ध एवं सदा एकरस हूँ,' तब वह किसी प्रकारका शोक नहीं करता। सदाके लिये दुःख और शोकसे रहित हो जाता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—इस मन्त्रमें तत्त्वविचार करते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियेभ्यः=इन्द्रियोंसे (तो); **मनः**=मन; **परम्**=श्रेष्ठ है; **मनसः**=मनसे; **सत्त्वम्**=बुद्धि; **उत्तमम्**=उत्तम है; **सत्त्वात्**=बुद्धिसे; **महान् आत्मा**=उसका स्वामी जीवात्मा; **अधि**=ऊँचा है और; **महतः**=जीवात्मासे; **अव्यक्तम्**=अव्यक्त शक्ति; **उत्तमम्**=उत्तम है ॥ ७ ॥

व्याख्या–इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि उत्तम है, बुद्धिसे उनका स्वामी जीवात्मा ऊँचा है; क्योंकि उन सबपर उसका अधिकार है। वे सभी उसकी आज्ञा पालन करनेवाले हैं और यह इनका शासक है, अतः उनसे सर्वथा विलक्षण है। इस जीवात्मासे भी इसका अव्यक्त शरीर—भगवान्‌की वह प्रकृति प्रबल है, जिसने इसको बन्धनमें डाल रक्खा है। तुलसीदास-जीने भी कहा है 'जेहि बस कीन्हे जीव निकाया'। गीतामें भी प्रकृतिजनित तीनों गुणोंके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेकी बात कही गयी है (१४।५) ॥ ७ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

तु=परन्तु; **अव्यक्तात्**=अव्यक्तसे (भी वह); **व्यापकः**=व्यापक; **च**=और; **अलिङ्गः एव**=सर्वथा आकाररहित; **पुरुषः**=परम पुरुष; **परः**=श्रेष्ठ है; **यम्**=जिसको; **ज्ञात्वा**=जानकर; **जन्तुः**=जीवात्मा; **मुच्यते**=मुक्त हो जाता है; **च**=और; **अमृतत्वम्**=अमृतस्वरूप आनन्दमय ब्रह्मको; **गच्छति**=प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या–परंतु इस प्रकृतिसे भी इसके स्वामी परमपुरुष परमात्मा श्रेष्ठ हैं, जो निराकाररूपसे सर्वत्र व्यापक हैं (गीता ९।४)। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह इस प्रकृतिके बन्धनसे छूटनेके लिये इसके स्वामी परब्रह्म पुरुषोत्तमकी शरण ग्रहण करे। परमात्मा जब इस जीवपर दया करके मायाके परदेको हटा लेते हैं, तभी इसको उनकी प्राप्ति होती है। नहीं तो, यह भाग्यहीन जीव सर्वदा अपने समीप रहते हुए भी उन परमेश्वरको पहचान नहीं पाता, जिनको जानकर यह जीवात्मा प्रकृतिके बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है और अमृतस्वरूप परमानन्दको पा लेता है ॥ ८ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

अस्य=इस परमेश्वरका; **रूपम्**=वास्तविक स्वरूप; **संदृशे**=अपने सामने प्रत्यक्ष विषयके रूपमें; **न तिष्ठति**=नहीं ठहरता

एनम्=इसको; **कश्चन**=कोई भी; **चक्षुषा**=चर्मचक्षुओंद्वारा; **न पश्यति**=नहीं देख पाता; **मनसा**=मनसे; **अभिक्लृप्तः**= बारंबार चिन्तन करके ध्यानमें लाया हुआ (वह परमात्मा); **हृदा**=निर्मल और निश्चल हृदयसे; **मनीषा**=(और) विशुद्ध बुद्धिके द्वारा; [**दृश्यते**=देखनेमें आता है;] **ये एतत् विदुः**=जो इसको जानते हैं; **ते अमृताः भवन्ति**=वे अमृत (आनन्द) स्वरूप हो जाते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—इन परब्रह्म परमेश्वरका दिव्य स्वरूप प्रत्यक्ष विषयके रूपमें अपने सामने नहीं ठहरता; परमात्माके दिव्य-रूपको कोई भी मनुष्य प्राकृत चर्मचक्षुओंके द्वारा नहीं देख सकता। जो भाग्यवान् साधक निरन्तर प्रेमपूर्वक मनसे उनका चिन्तन करता रहता है, उसके हृदयमें जब भगवान्‌के उस दिव्य स्वरूपका ध्यान प्रगाढ़ होता है, उस समय उस साधकका हृदय भगवान्‌के ध्यानजनित स्वरूपमें निश्चल हो जाता है। ऐसे निश्चल हृदयसे ही वह साधक विशुद्ध बुद्धिरूप नेत्रोंके द्वारा परमात्माके उस दिव्य स्वरूपकी झाँकी करता है। जो इन परमेश्वरको जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं, अर्थात् परमानन्द-स्वरूप बन जाते हैं ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—योगधारणाके द्वारा मन और इन्द्रियोंको रोककर परमात्माको प्राप्त करनेका दूसरा साधन बतलाते हैं—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

यदा=जब; **मनसा सह**=मनके सहित; **पञ्च ज्ञानानि**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ; **अवतिष्ठन्ते**=भलीभाँति स्थिर हो जाती हैं; **बुद्धिः च**=और बुद्धि भी; **न विचेष्टति**=किसी प्रकारकी चेष्टा नहीं करती; **ताम्**=उस स्थितिको; **परमाम् गतिम् आहुः**=(योगी) परमगति कहते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या—योगाभ्यास करते-करते जब मनके सहित पाँचों इन्द्रियाँ भलीभाँति स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी एक परमात्माके स्वरूपमें इस प्रकार स्थित हो जाती है, जिससे उसको परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुका तनिक भी ज्ञान नहीं रहता, उससे कोई भी चेष्टा नहीं बनती, उस स्थितिको योगीगण परमगति—योगकी सर्वोत्तम स्थिति—बतलाते हैं ॥१०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

ताम्=उस; **स्थिराम् इन्द्रियधारणाम्**=इन्द्रियोंकी स्थिर धारणाको ही; **योगम् इति**='योग'; **मन्यन्ते**= मानते हैं; **तदा**=उस समय; **अप्रमत्तः**=(साधक) प्रमादरहित; **भवति**=हो जाता है; **हि योगः**=क्योंकि योग; **प्रभवाप्ययौ**= उदय और अस्त होनेवाला है ॥ ११ ॥

व्याख्या—इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी स्थिर धारणाका ही नाम योग है—ऐसा अनुभवी योगी महानुभाव मानते हैं; क्योंकि उस समय साधक विषयदर्शनरूप सब प्रकारके प्रमादसे सर्वथा रहित हो जाता है। परंतु यह योग उदय और अस्त होनेवाला है; अतः परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छावाले साधकको निरन्तर योगयुक्त रहनेका दृढ़ अभ्यास करते रहना चाहिये ॥ ११ ॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥

न वाचा=(वह परब्रह्म परमेश्वर) न तो वाणीसे; **न मनसा**=न मनसे (और); **न चक्षुषा एव**=न नेत्रोंसे ही; **प्राप्तुम् शक्यः**=प्राप्त किया जा सकता है (फिर); **तत् अस्ति**=वह 'अवश्य है'; **इति ब्रुवतः अन्यत्र**=इस प्रकार कहनेवालेके अतिरिक्त दूसरेको; **कथम् उपलभ्यते**=कैसे मिल सकता है ? ॥ १२ ॥

व्याख्या—वह परब्रह्म परमात्मा वाणी आदि कर्मेन्द्रियोंसे, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियोंसे और मन-बुद्धिरूप अन्तःकरणसे

भी प्राप्त नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह इन सबकी पहुँचसे परे है। परंतु वह है अवश्य और उसे प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा रखनेवालेको वह अवश्य मिलता है—इस बातको जो नहीं कहता, नहीं स्वीकार करता अर्थात् इसपर जिसका दृढ़ विश्वास नहीं है, उसको वह कैसे मिल सकता है? अतः पूर्व मन्त्रोंमें बतलायी हुई रीतिके अनुसार इन्द्रिय-मन आदि सबको योगाभ्यासके द्वारा रोककर 'वह अवश्य है और साधकको मिलता है' ऐसे दृढ़तम निश्चयसे निरन्तर उसकी प्राप्तिके लिये परम उत्कण्ठाके साथ प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ १२ ॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥१३॥

अस्ति=(अतः उस परमात्माको पहले तो) 'वह अवश्य है'; **इति एव**=इस प्रकार निश्चयपूर्वक; **उपलब्धव्यः**=ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् पहले उसके अस्तित्वका दृढ निश्चय करना चाहिये; [**तदनु**=तदनन्तर;] **तत्त्वभावेन**=तत्त्वभावसे भी; [**उपलब्धव्यः**=उसे प्राप्त करना चाहिये;] **उभयोः**=इन दोनों प्रकारोंमेंसे; **अस्ति इति एव**='वह अवश्य है' इस प्रकार निश्चयपूर्वक; **उपलब्धस्य**=परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले साधकके लिये; **तत्त्वभावः**=परमात्माका तात्त्विक स्वरूप (अपने-आप); **प्रसीदति**=(शुद्ध हृदयमें) प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—साधकको चाहिये कि पहले तो वह इस बातका दृढ़ निश्चय करे कि 'परमेश्वर अवश्य हैं और वे साधकको अवश्य मिलते हैं;' फिर इसी विश्वाससे उन्हें स्वीकार करे और उसके पश्चात् तात्त्विक विवेचनपूर्वक निरन्तर उनका ध्यान करके उन्हें प्राप्त करे। जब साधक इस निश्चित विश्वाससे भगवान्‌को स्वीकार कर लेता है कि 'वे अवश्य हैं और अपने हृदयमें ही विराजमान हैं, यत्नशीलको उनकी प्राप्ति अवश्य होती है,' तो परमात्माका वह तात्त्विक दिव्य स्वरूप उसके विशुद्ध हृदयमें अपने-आप प्रकट हो जाता है, उसका प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—अब निष्कामभावकी महिमा बतलाते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

अस्य=इस (साधक) के; **हृदि श्रिताः**=हृदयमें स्थित; **ये कामाः**=जो कामनाएँ (हैं); **सर्वे यदा**=(वे) सब-की-सब जब; **प्रमुच्यन्ते**=समूल नष्ट हो जाती हैं; **अथ**=तब; **मर्त्यः**=मरणधर्मा मनुष्य; **अमृतः**=अमर; **भवति**=हो जाता है (और); **अत्र**=(वह) यहीं; **ब्रह्म समश्नुते**=ब्रह्मका भलीभाँति अनुभव कर लेता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—मनुष्यका हृदय नित्य-निरन्तर विभिन्न प्रकारकी इहलौकिक और पारलौकिक कामनाओंसे भरा रहता है; इसी कारण न तो वह कभी यह विचार ही करता है कि परम आनन्दस्वरूप परमेश्वरको किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है और न काम्यविषयोंकी आसक्तिके कारण वह परमात्माको पानेकी अभिलाषा ही करता है। ये सारी कामनाएँ साधक पुरुषके हृदयसे जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब वह—जो सदासे मरणधर्मा था—अमर हो जाता है और यहीं—इस मनुष्य-शरीरमें ही उस परब्रह्म परमेश्वरका भलीभाँति साक्षात् अनुभव कर लेता है ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—संशयरहित दृढ निश्चयकी महिमा बतलाते हैं—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥१५॥

यदा=जब (इसके); **हृदयस्य**=हृदयकी; **सर्वे**=सम्पूर्ण; **ग्रन्थयः**=ग्रन्थियाँ; **प्रभिद्यन्ते**=भलीभाँति खुल जाती हैं; **अथ**=तब; **मर्त्यः**=वह मरणधर्मा मनुष्य; **इह**=इसी शरीरमें; **अमृतः**=अमर; **भवति**=हो जाता है; **हि एतावत्**=बस, इतना ही; **अनुशासनम्**=सनातन उपदेश है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जब साधकके हृदयकी अहंता-ममतारूप समस्त अज्ञान-ग्रन्थियाँ भलीभाँति कट जाती हैं, उसके सब प्रकारके संशय सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और उपर्युक्त उपदेशके अनुसार उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि 'परब्रह्म परमेश्वर अवश्य हैं और वे निश्चय ही मिलते हैं,' तब वह इस शरीरमें रहते हुए ही परमात्माका साक्षात् करके अमर हो जाता है। बस, इतना ही वेदान्तका सनातन उपदेश है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—अब मरनेके बाद होनेवाली जीवात्माकी गतिका वर्णन करते हैं—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

हृदयस्य=हृदयकी; **शतम् च एका च**=(कुल मिलाकर) एक सौ एक; **नाड्यः**=नाड़ियाँ हैं; **तासाम्**=उनमेंसे; **एका**=एक; **मूर्धानम्**=मूर्धा (कपाल)की ओर; **अभिनिःसृता**=निकली हुई है (इसे ही सुषुम्णा कहते हैं); **तया**=उसके द्वारा; **ऊर्ध्वम्**=ऊपरके लोकोंमें; **आयन्**=जाकर (मनुष्य); **अमृतत्वम्**=अमृतभावको; **एति**=प्राप्त हो जाता है; **अन्याः**=दूसरी एक सौ नाड़ियाँ; **उत्क्रमणे**=मरणकालमें (जीवको); **विष्वङ्**=नाना प्रकारकी योनियोंमें ले जानेकी हेतु; **भवन्ति**=होती हैं ॥ १६ ॥

व्याख्या—हृदयमें एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ हैं, जो वहाँसे सब ओर फैली हुई हैं। उनमेंसे एक नाड़ी, जिसको सुषुम्णा कहते हैं, हृदयसे मस्तककी ओर गयी है। भगवान्के परमधाममें जानेका अधिकारी उस नाड़ीके द्वारा शरीरसे बाहर निकलकर सबसे ऊँचे लोकमें अर्थात् भगवान्के परमधाममें जाकर अमृतस्वरूप परमानन्दमय परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है; और दूसरे जीव मरणकालमें दूसरी नाड़ियोंके द्वारा शरीरसे बाहर निकलकर अपने-अपने कर्म और वासनाके अनुसार नाना योनियोंको प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

अन्तरात्मा=सबका अन्तर्यामी; **अङ्गुष्ठमात्रः**=अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; **पुरुषः**=परम पुरुष; **सदा**=सदैव; **जनानाम्**=मनुष्योंके; **हृदये**=हृदयमें; **सन्निविष्टः**=भलीभाँति प्रविष्ट है; **तम्**=उसको; **मुञ्जात्**=मूँजसे; **इषीकाम् इव**=सींककी भाँति; **स्वात्**=अपनेसे (और); **शरीरात्**=शरीरसे; **धैर्येण**=धीरतापूर्वक; **प्रवृहेत्**=पृथक् करके देखे; **तम्**=उसीको; **शुक्रम् अमृतम् विद्यात्**=विशुद्ध अमृतस्वरूप समझे; **तम् शुक्रम् अमृतम् विद्यात्**=(और) उसीको विशुद्ध अमृतस्वरूप समझे ॥ १७ ॥

व्याख्या—सबके अन्तर्यामी परमपुरुष परमेश्वर हृदयके अनुरूप अङ्गुष्ठमात्र रूपवाले होकर सदैव सभी मनुष्योंके भीतर निवास करते हैं, तो भी मनुष्य उनकी ओर देखतातक नहीं! जो प्रमादरहित होकर उनकी प्राप्तिके साधनमें लगे हैं, उन मनुष्योंको चाहिये कि उन शरीरस्थ परमेश्वरको इस शरीरसे और अपने-आपसे भी उसी तरह पृथक् और विलक्षण समझें, जैसे साधारण लोग मूँजसे सींकको पृथक् देखते हैं। अर्थात् जिस प्रकार मूँजमें रहनेवाली सींक मूँजसे विलक्षण और पृथक् है, उसी प्रकार वह शरीर और आत्माके भीतर रहनेवाला परमेश्वर उन दोनोंसे सर्वथा विलक्षण है। वही विशुद्ध अमृत है, वही विशुद्ध अमृत है। यहाँ यह वाक्यकी पुनरावृत्ति उपदेशकी समाप्ति एवं सिद्धान्तकी निश्चितताको सूचित करती है * ॥ १७ ॥

---

* इसका अन्य आदरणीय महानुभावोंने यह अर्थ किया है—

"अङ्गुष्ठमात्र पुरुष, जो जीवोंके हृदयमें स्थित उनका अन्तरात्मा है, उसे धैर्य—अप्रमादपूर्वक मूँजसे सींकके निकालनेके समान शरीरसे बाहर निकालकर पृथक् करे। शरीरसे पृथक् किये हुए उस अङ्गुष्ठमात्र पुरुषको ही चिन्मात्र विशुद्ध और अमृतमय ब्रह्म जाने। यहाँ 'तं विद्याच्छुक्रममृतम्' इस पदकी द्विरुक्ति और 'इति' उपनिषद्की समाप्तिके लिये है।"

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

अथ=इस प्रकार उपदेश सुननेके अनन्तर; **नचिकेतः**=नचिकेता; **मृत्युप्रोक्ताम्**=यमराजद्वारा बतलायी हुई; **एताम्**=इस; **विद्याम् च**=विद्याको और; **कृत्स्नम्**=सम्पूर्ण; **योगविधिम्**=योगकी विधिको; **लब्ध्वा**=प्राप्त करके; **विमृत्युः**=मृत्युसे रहित (और); **विरजः(सन्)**=विशुद्ध—सब प्रकारके विकारोंसे शून्य होकर; **ब्रह्मप्राप्तः अभूत्**=ब्रह्मको प्राप्त हो गया; **अन्यः अपि यः**=दूसरा भी जो कोई; **(इदम्) अध्यात्मम् एवं वित्**=इस अध्यात्मविद्याको इसी प्रकार जाननेवाला है; **(सः अपि एवम्) एव (भवति)**=वह भी ऐसा ही हो जाता है अर्थात् मृत्यु और विकारोंसे रहित होकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

व्याख्या—इस प्रकार यमराजके द्वारा उपदिष्ट समस्त विवेचनको श्रद्धापूर्वक सुननेके पश्चात् नचिकेता उनके द्वारा बतायी हुई सम्पूर्ण विद्या और योगकी विधिको प्राप्त करके जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त, सब प्रकारके विकारोंसे रहित एवं सर्वथा विशुद्ध होकर परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त हो गया । दूसरा भी जो कोई इस अध्यात्मविद्याको इस प्रकार नचिकेताकी भाँति ठीक-ठीक जाननेवाला और श्रद्धापूर्वक उसे धारण करनेवाला है, वह भी नचिकेताकी भाँति सब विकारोंसे रहित तथा जन्म-मृत्युसे मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

॥ तृतीय वल्ली समाप्त ॥ ३ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय कठोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ कठोपनिषद्के आरम्भमें दिया जा चुका है ।
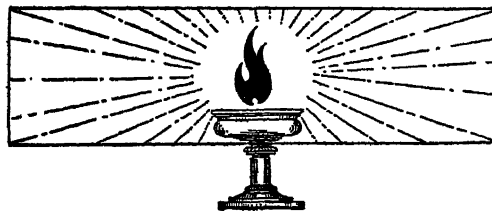
॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रश्नोपनिषद्

प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेदके पिप्पलाद-शाखीय ब्राह्मणभागके अन्तर्गत है। इस उपनिषद्में पिप्पलाद ऋषिने सुकेशा आदि छः ऋषियोंके छः प्रश्नोंका क्रमसे उत्तर दिया है; इसलिये इसका नाम प्रश्नोपनिषद् हो गया।

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

देवाः=हे देवगण !; **(वयम्) यजत्राः (सन्तः)**=हम भगवान्‌का यजन (आराधन) करते हुए; **कर्णेभिः**= कानोंसे; **भद्रम्**=कल्याणमय वचन; **शृणुयाम**=सुनें; **अक्षभिः**=नेत्रोंसे; **भद्रम्**=कल्याण (ही); **पश्येम**=देखें; **स्थिरैः**=सुदृढ़; **अङ्गैः**=अङ्गों; **तनूभिः**=एवं शरीरसे; **तुष्टुवांसः (वयम्)**=भगवान्‌की स्तुति करते हुए हमलोग; **यत्**=जो; **आयुः**= आयु; **देवहितम्**=आराध्यदेव परमात्माके काम आ सके; **(तत्)**=उसका; **व्यशेम**=उपभोग करें; **वृद्धश्रवाः**=सब ओर फैले हुए सुयशवाले; **इन्द्रः**=इन्द्र; **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति दधातु**=कल्याणका पोषण करें; **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण विश्वका ज्ञान रखनेवाले; **पूषा**=पूषा; **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति (दधातु)**=कल्याणका पोषण करें; **अरिष्टनेमिः**=अरिष्टोंको मिटानेके लिये चक्रसदृश शक्तिशाली; **तार्क्ष्यः**=गरुड़देव; **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति (दधातु)**=कल्याणका पोषण करें; [**तथा**=तथा;] **बृहस्पतिः**=(बुद्धिके स्वामी) बृहस्पति भी; **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति (दधातु)**=कल्याणकी पुष्टि करें; **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**=परमात्मन् ! हमारे त्रिविध तापकी शान्ति हो।

व्याख्या—गुरुके यहाँ अध्ययन करनेवाले शिष्य अपने गुरु, सहपाठी तथा मानवमात्रका कल्याण-चिन्तन करते हुए देवताओंसे प्रार्थना करते हैं कि 'हे देवगण ! हम अपने कानोंसे शुभ—कल्याणकारी वचन ही सुनें। निन्दा, चुगली, गाली या दूसरी-दूसरी पापकी बातें हमारे कानोंमें न पड़ें और हमारा अपना जीवन यजन-परायण हो—हम सदा भगवान्‌की आराधनामें ही लगे रहें। न केवल कानोंसे सुनें, नेत्रोंसे भी हम सदा कल्याणका ही दर्शन करें। किसी अमङ्गलकारी अथवा पतनकी ओर ले जानेवाले दृश्योंकी ओर हमारी दृष्टिका आकर्षण कभी न हो। हमारा शरीर, हमारा एक-एक अवयव सुदृढ एवं सुपुष्ट हो—वह भी इसलिये कि हम उनके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करते रहें। हमारी आयु भोग-विलास या प्रमादमें न बीते। हमें ऐसी आयु मिले, जो भगवान्‌के कार्यमें आ सके। [देवता हमारी प्रत्येक इन्द्रियमें व्याप्त रहकर उसका संरक्षण और संचालन करते हैं। उनके अनुकूल रहनेसे हमारी इन्द्रियाँ सुगमतापूर्वक सन्मार्गमें लगी रह सकती हैं; अतः उनसे प्रार्थना करनी उचित ही है।] जिनका सुयश सब ओर फैला है, वे देवराज इन्द्र, सर्वज्ञ पूषा, अरिष्टनिवारक तार्क्ष्य (गरुड़) और बुद्धिके स्वामी बृहस्पति—ये सभी देवता भगवान्‌की दिव्य विभूतियाँ हैं। ये सदा हमारे कल्याणका पोषण करें। इनकी कृपासे हमारे साथ प्राणिमात्रका कल्याण होता रहे। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सभी प्रकारके तापोंकी शान्ति हो।

प्रथम प्रश्न

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

ॐ=ॐ इस परमात्माके नामका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ करते हैं; **भारद्वाजः सुकेशा**=भरद्वाज-पुत्र सुकेशा; **च शैब्यः सत्यकामः**=और शिबिकुमार सत्यकाम; **च गार्ग्यः सौर्यायणी**=तथा गर्ग-गोत्रमें उत्पन्न सौर्यायणी; **च कौसल्यः आश्वलायनः**=एवं कोसलदेशीय आश्वलायन; **च वैदर्भिः भार्गवः**=तथा विदर्भनिवासी भार्गव; **(च) कात्यायनः कबन्धी**=और कत्य ऋषिका प्रपौत्र कबन्धी; **ते एते ह ब्रह्मपराः**=वे ये छः प्रसिद्ध ऋषि जो कि वेदपरायण (और); **ब्रह्मनिष्ठाः**=वेदमें निष्ठा रखनेवाले थे; **ते ह**=वे सब-के-सब; **परम् ब्रह्म**=परब्रह्मकी; **अन्वेषमाणाः**=खोज करते हुए; **एषः ह वै तत् सर्वम् वक्ष्यति इति**=यह समझकर कि ये (पिप्पलाद ऋषि) निश्चय ही उस ब्रह्मके विषयमें सारी बातें बतायेंगे; **समित्पाणयः**=हाथमें समिधा लिये हुए; **भगवन्तम् पिप्पलादम् उपसन्नाः**=भगवान् पिप्पलाद ऋषिके पास गये ॥ १ ॥

व्याख्या—ओंकारस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है। प्रसिद्ध है कि भरद्वाजके पुत्र सुकेशा, शिबिकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्रमें उत्पन्न सौर्यायणी, कोसलदेश-निवासी आश्वलायन, विदर्भदेशीय भार्गव और कत्यके प्रपौत्र कबन्धी—ये वेदाभ्यासके परायण और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् श्रद्धापूर्वक वेदानुकूल आचरण करनेवाले थे। एक बार ये छहों ऋषि परब्रह्म परमेश्वरकी जिज्ञासासे एक साथ बाहर निकले। इन्होंने सुना था कि पिप्पलाद ऋषि इस विषयको विशेषरूपसे जानते हैं; अतः यह सोचकर कि 'परब्रह्मके सम्बन्धमें हम जो कुछ जानना चाहते हैं, वह सब वे हमें बता देंगे' वे लोग जिज्ञासुके वेषमें हाथमें समिधा लिये हुए महर्षि पिप्पलादके पास गये ॥ १ ॥

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

तान् सः ह=उन सुकेशा आदि ऋषियोंसे वे प्रसिद्ध; **ऋषिः उवाच**=(पिप्पलाद) ऋषि बोले—; **भूयः एव**=तुमलोग पुनः; **श्रद्धया**=श्रद्धाके साथ; **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए; (और) **तपसा**=तपस्यापूर्वक; **संवत्सरम्**=एक वर्षतक (यहाँ); **संवत्स्यथ**=भलीभाँति निवास करो; **यथाकामम्**=(उसके बाद) अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार; **प्रश्नान् पृच्छत**=प्रश्न पूछना; **यदि विज्ञास्यामः**=यदि (तुम्हारी पूछी हुई बातोंको) मैं जानता होऊँगा; **ह सर्वम्**=तो निस्सन्देह वे सब बातें; **वः वक्ष्यामः इति**=तुमलोगोंको बताऊँगा ॥ २ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त छहों ऋषियोंको परब्रह्मकी जिज्ञासासे अपने पास आया देखकर महर्षि पिप्पलादने उनसे कहा—तुमलोग तपस्वी हो, तुमने ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हैं; तथापि मेरे आश्रममें रहकर पुनः एक वर्षतक श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए तपश्चर्या करो। उसके बाद तुमलोग जो चाहो, मुझसे प्रश्न करना। यदि तुम्हारे पूछे हुए विषयका मुझे ज्ञान होगा तो निस्सन्देह तुम्हें सब बातें भलीभाँति समझाकर बतलाऊँगा ॥ २ ॥

सम्बन्ध—ऋषिके आज्ञानुसार सबने श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और तपस्याके साथ विधिपूर्वक एक वर्षतक वहाँ निवास किया।

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ। भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ ३ ॥

अथ=तदनन्तर (उनमेंसे); **कात्यायनः कबन्धी**=कत्य ऋषिके प्रपौत्र कबन्धीने; **उपेत्य**=(पिप्पलाद ऋषिके) पास जाकर; **पप्रच्छ**=पूछा—; **भगवन्**=भगवन्!; **कुतः ह वै**=किस प्रसिद्ध और सुनिश्चित कारणविशेषसे; **इमाः प्रजाः**=यह सम्पूर्ण प्रजा; **प्रजायन्ते**=नाना रूपोंमें उत्पन्न होती है; **इति**=यह मेरा प्रश्न है ॥ ३ ॥

व्याख्या—महर्षि पिप्पलादकी आज्ञा पाकर वे लोग श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए वहीं तपश्चर्या करने लगे। महर्षिकी देख-रेखमें संयमपूर्वक रहकर एक वर्षतक उन्होंने त्यागमय जीवन बिताया। उसके बाद वे सब पुनः पिप्पलाद ऋषिके पास गये तथा उनमेंसे सर्वप्रथम कत्यऋषिके प्रपौत्र कबन्धीने श्रद्धा और विनयपूर्वक पूछा—'भगवन्! जिससे ये सम्पूर्ण चराचर जीव नाना रूपोंमें उत्पन्न होते हैं, जो इनका सुनिश्चित परम कारण है, वह कौन है?' ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उससे वे प्रसिद्ध महर्षि बोले—; **वै प्रजाकामः**=निश्चय ही प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छावाला (जो); **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **सः तपः अतप्यत**=उसने तप किया; **स तपः तप्त्वा**=उसने तपस्या करके (सृष्टि आरम्भ की, उस समय पहले); **सः**=उसने; **रयिम् च**=एक तो रयि (चन्द्रमा) तथा; **प्राणम् च**=दूसरा प्राण (सूर्य) भी; **इति मिथुनम्**=यह जोड़ा; **उत्पादयते**=उत्पन्न किया; **एतौ मे**=(इन्हें उत्पन्न करनेका उद्देश्य यह था) कि ये (दोनों मिलकर) मेरी; **बहुधा**=नाना प्रकारकी; **प्रजाः**=प्रजाओंको; **करिष्यतः इति**=उत्पन्न करेंगे ॥ ४ ॥

व्याख्या—कबन्धी ऋषिका यह प्रश्न सुनकर महर्षि पिप्पलाद बोले—हे कात्यायन! यह बात वेदोंमें प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी परमेश्वरको सृष्टिके आदिमें जब प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छा हुई तो उन्होंने संकल्परूप तप किया। तपसे उन्होंने सर्वप्रथम रयि और प्राण—इन दोनोंका एक जोड़ा उत्पन्न किया। उसे उत्पन्न करनेका उद्देश्य यह था कि ये दोनों मिलकर मेरे लिये नाना प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न करेंगे। इस मन्त्रमें सबको जीवन प्रदान करनेवाली जो समष्टि जीवनी-शक्ति है, उसे ही 'प्राण' नाम दिया गया है। इस जीवनी शक्तिसे ही प्रकृतिके स्थूल स्वरूपमें—समस्त पदार्थोंमें जीवन, स्थिति और यथा-योग्य सामञ्जस्य आता है एवं स्थूल भूत-समुदायका नाम 'रयि' रक्खा गया है, जो प्राणरूप जीवनी शक्तिसे अनुप्राणित होकर कार्यक्षम होता है। प्राण चेतना है, रयि शक्ति या आकृति है। धनात्मक और ऋणात्मक दो तत्त्वोंकी भाँति प्राण और रयिके संयोगसे ही सृष्टिका समस्त कार्य सम्पन्न होता है। इन्हींको अन्यत्र अग्नि और सोमके एवं पुरुष तथा प्रकृतिके नामसे भी कहा गया है ॥ ४ ॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

ह=यह निश्चय है कि; **आदित्यः वै**=सूर्य ही; **प्राणः**=प्राण हैं (और); **चन्द्रमाः एव**=चन्द्रमा ही; **रयिः**=रयि है; **यत् मूर्तम् च**=जो कुछ आकारवाला है (पृथ्वी, जल और तेज); **अमूर्तम् च**=और जो आकाररहित है (आकाश और वायु); **एतत् सर्वम् वै**=यह सभी कुछ; **रयिः**=रयि है; **तस्मात्**=इसलिये; **मूर्तिः एव**=मूर्तमात्र ही अर्थात् देखने तथा जाननेमें आनेवाली सभी वस्तुएँ; **रयिः**=रयि हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें उपर्युक्त प्राण और रयिका स्वरूप समझाया गया है। पिप्पलाद कहते हैं कि यह दीखनेवाला सम्पूर्ण जगत् प्राण और रयि—इन दोनों तत्त्वोंके संयोग या सम्मिश्रणसे बना है; इसलिये यद्यपि इन्हें पृथक्-पृथक् करके नहीं बताया जा सकता, तथापि तुम इस प्रकार समझो—यह सूर्य, जो हमें प्रत्यक्ष दिखलायी देता है, यही प्राण है; क्योंकि इसीमें सबको जीवन प्रदान करनेवाली चेतना-शक्तिकी प्रधानता और अधिकता है। यह सूर्य उस सूक्ष्म जीवनी शक्तिका घनीभूत स्वरूप है। उसी प्रकार यह चन्द्रमा ही 'रयि' है; क्योंकि इसमें स्थूल तत्त्वोंको पुष्ट करनेवाली भूत-तन्मात्राओंकी ही अधिकता है। समस्त प्राणियोंके स्थूल-शरीरोंका पोषण इस चन्द्रमाकी शक्तिको पाकर ही होता है। हमारे शरीरोंमें ये दोनों शक्तियाँ प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गमें व्याप्त हैं। उनमें जीवनी-शक्तिका सम्बन्ध सूर्यसे है और मांस, मेद आदि स्थूल तत्त्वोंका सम्बन्ध चन्द्रमासे है॥५॥

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥

अथ=रात्रिके अनन्तर; **उदयन्**=उदय होता हुआ; **आदित्यः**=सूर्य; **यत् प्राचीम् दिशम्**=जो पूर्व दिशामें; **प्रविशति**=प्रवेश करता है; **तेन प्राच्यान् प्राणान्**=उससे पूर्व दिशाके प्राणोंको; **रश्मिषु**=अपनी किरणोंमें; **संनिधत्ते**=धारण करता है (उसी प्रकार); **यत् दक्षिणाम्**=जो दक्षिण दिशाको; **यत् प्रतीचीम्**=जो पश्चिम दिशाको; **यत् उदीचीम्**=जो उत्तर दिशाको; **यत् अधः**=जो नीचेके लोकोंको; **यत् ऊर्ध्वम्**=जो ऊपरके लोकोंको; **यत् अन्तरा दिशः**=जो दिशाओंके बीचके भागों (कोणों) को (और); **यत् सर्वम्**=जो अन्य सबको; **प्रकाशयति**=प्रकाशित करता है; **तेन सर्वान् प्राणान्**=उससे समस्त प्राणोंको अर्थात् सम्पूर्ण जगत्के प्राणोंको; **रश्मिषु संनिधत्ते**=अपनी किरणोंमें धारण करता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें जो जीवनी-शक्ति है, उसके साथ सूर्यका सम्बन्ध दिखलाया गया है। भाव यह है कि रात्रिके बाद जब सूर्य उदय होकर पूर्वदिशामें अपना प्रकाश फैलाता है, उस समय वहाँके प्राणियोंके प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण करता है अर्थात् उनकी जीवनी-शक्तिका सूर्यकी किरणोंसे सम्बन्ध होकर उसमें नवीन स्फूर्ति आ जाती है। उसी प्रकार जिस समय जिस दिशामें जहाँ-जहाँ सूर्य अपना प्रकाश फैलाता है, वहाँ-वहाँके प्राणियोंको स्फूर्ति देता रहता है; अतः सूर्य ही समस्त प्राणियोंका प्राण है ॥ ६ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते । तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

सः एषः=वह यह सूर्य ही; **उदयते**=उदय होता है; **वैश्वानरः अग्निः**=(जो कि) वैश्वानर अग्नि (जठराग्नि) और; **विश्वरूपः प्राणः**=विश्वरूप प्राण है, **तत् एतत्**=वही यह बात; **ऋचा**=ऋचाद्वारा; **अभ्युक्तम्**=आगे कही गयी है ॥७॥

व्याख्या—प्राणियोंके शरीरमें जो वैश्वानर नामसे कही जानेवाली जठराग्नि है, जिससे अन्नका पाचन होता है (गीता १५ । १४), वह सूर्यका ही अंश है; अतः सूर्य ही है। तथा जो प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—इन पाँच रूपोंमें विभक्त प्राण है, वह भी इस उदय होनेवाले सूर्यका ही अंश है; अतः सूर्य ही है। यही बात अगली ऋचाद्वारा समझायी गयी है ॥ ७ ॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

विश्वरूपम्=सम्पूर्ण रूपोंके केन्द्र; **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ; **परायणम्**=सर्वाधार; **ज्योतिः**=प्रकाशमय; **तपन्तम्**=तपते हुए; **हरिणम्**=किरणोंवाले सूर्यको; **एकम्**=अद्वितीय (बतलाते हैं); **एषः**=यह; **सहस्ररश्मिः**=सहस्रों किरणोंवाला; **सूर्यः**=सूर्य; **शतधा वर्तमानः**=सैकड़ों प्रकारसे बर्तता हुआ; **प्रजानाम्**=समस्त जीवोंका; **प्राणः**=प्राण (जीवनदाता) होकर; **उदयति**=उदय होता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—इस सूर्यके तत्त्वको जाननेवालोंका कहना है कि यह किरणजालसे मण्डित एवं प्रकाशमय, तपता हुआ सूर्य विश्वके समस्त रूपोंका केन्द्र है। सभी रूप (रंग और आकृतियाँ) सूर्यसे उत्पन्न और प्रकाशित होते हैं। यह सविता ही सबका उत्पत्तिस्थान है और यही सबकी जीवन-ज्योतिका मूलस्रोत है। यह सर्वज्ञ और सर्वाधार है, वैश्वानर अग्नि और प्राण-शक्तिके रूपमें सर्वत्र व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है। समस्त जगत्का प्राणरूप सूर्य एक ही है—इसके समान इस जगत्में दूसरी कोई भी जीवनी-शक्ति नहीं है। यह सहस्रों किरणोंवाला सूर्य हमारे सैकड़ों प्रकारके व्यवहार सिद्ध करता हुआ उदय होता है। जगत्में उष्णता और प्रकाश फैलाना, सबको जीवन प्रदान करना, ऋतुओंका परिवर्तन करना आदि हमारी सैकड़ों प्रकारकी आवश्यकताओंको पूर्ण करता हुआ सम्पूर्ण सृष्टिका जीवनदाता प्राण ही सूर्यके रूपमें उदित होता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार यहाँतक कात्यायन कबन्धीके प्रश्नानुसार संक्षेपमें यह बताया गया कि उस सर्वशक्तिमान परब्रह्म परमेश्वरसे ही उसके सङ्कल्पद्वारा प्राण और रयिके संयोगसे इस सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति आदि होती है। अब इस प्राणशक्ति और रयि-शक्तिके सम्बन्धसे परमेश्वरकी उपासनाका प्रकार और उसका फल बतलानेके लिये दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं—

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥ ९ ॥

संवत्सरः वै=संवत्सर (बारह महीनोंवाला काल) ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **तस्य अयने**=उसके दो अयन हैं—; **दक्षिणम् च**=एक दक्षिण और; **उत्तरम् च**=दूसरा उत्तर; **तत् ये ह**=वहाँ मनुष्योंमें जो लोग निश्चयपूर्वक; **तत् इष्टापूर्ते वै**=(केवल) उन इष्ट और पूर्त कर्मोंको ही; **कृतम् इति**=करने योग्य कर्म मानकर (सकाम भावसे); **उपासते**= उनकी उपासना करते हैं (उन्हींके अनुष्ठानमें लगे रहते हैं); **ते चान्द्रमसम्**=वे चन्द्रमाके; **लोकम् एव**=लोकको ही; **अभिजयन्ते**=जीतते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं (और); **ते एव**=वे ही; **पुनः आवर्तन्ते**=पुनः (वहाँसे) लौटकर आते हैं; **तस्मात् एते**=इसलिये ये; **प्रजाकामाः ऋषयः**=संतानकी कामनावाले ऋषिगण; **दक्षिणम् प्रतिपद्यन्ते**= दक्षिण (मार्ग) को प्राप्त होते हैं; **ह एषः वै रयिः**=निस्सन्देह यही वह रयि है; **यः पितृयाणः**=जो 'पितृयान' नामक मार्ग है ॥ ९ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें संवत्सरको परमात्माका प्रतीक बताकर उसके रयिस्थानीय भोग्य पदार्थोंकी उपासना और उसका फल बताते हैं। भाव यह है कि बारह महीनोंका यह संवत्सररूप काल ही मानो सृष्टिके स्वामी परमेश्वरका स्वरूप है। इसके दो अयन हैं—दक्षिण और उत्तर। दक्षिणायनके जो छः महीने हैं, जिनमें सूर्य दक्षिणकी ओर घूमता है—ये मानो इसके दक्षिण अङ्ग हैं और उत्तरायणके छः महीने ही उत्तर अङ्ग हैं। उनमें उत्तर अङ्ग तो प्राण है अर्थात् इस विश्वके आत्मारूप उस परमेश्वरका सर्वान्तर्यामी स्वरूप है और दक्षिण अङ्ग रयि अर्थात् उसका बाह्य भोग्य स्वरूप है। इस जगत्में जो संतानकी कामनावाले ऋषि स्वर्गादि सांसारिक भोगोंमें आसक्त हैं, वे यज्ञादिद्वारा देवताओंका पूजन करना, ब्राह्मण एवं श्रेष्ठ पुरुषोंका धनादिसे सत्कार करना, दुखी प्राणियोंकी सेवा करना आदि इष्टकर्म तथा कुँआ, बावली, तालाब, बगीचा, धर्मशाला, विद्यालय, औषधालय, पुस्तकालय आदि लोकोपकारी चिरस्थायी स्मारकोंकी स्थापना करना आदि पूर्तकर्मोंको श्रेष्ठ समझते हैं और इनके फलस्वरूप इस लोक तथा परलोकके भोगोंके उद्देश्यसे इनकी उपासना अर्थात् विधिवत् अनुष्ठान करते हैं; यह उस संवत्सररूप परमेश्वरके दक्षिण अङ्गकी उपासना है। इसीको ईशावास्य-उपनिषद्में असम्भूतिकी उपासनाके नामसे देव, पितर, मनुष्य आदि शरीरोंकी सेवा बताया है। इसके प्रभावसे वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं और वहाँ अपने कर्मोंका फल भोगकर पुनः इस लोकमें लौट आते हैं; यही पितृयाण मार्ग है ॥ ९ ॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

अथ= किंतु (जो); **तपसा**=तपस्याके साथ; **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्यपूर्वक (और); **श्रद्धया**=श्रद्धासे युक्त होकर; **विद्यया**=अध्यात्मविद्याके द्वारा; **आत्मानम्**=(सूर्यरूप) परमात्माकी; **अन्विष्य**=खोज करके (जीवन सार्थक करते हैं, वे); **उत्तरेण**= उत्तरायण-मार्गसे; **आदित्यम्**=सूर्यलोकको; **अभिजयन्ते**=जीत लेते हैं (प्राप्त करते हैं); **एतत् वै**=यह (सूर्य) ही; **प्राणानाम्**=प्राणोंका; **आयतनम्**=केन्द्र है; **एतत् अमृतम्**=यह अमृत (अविनाशी) और; **अभयम्**=निर्भय पद है; **एतत् परायणम्**=यह परमगति है; **एतस्मात्**= इससे; **न पुनः आवर्तन्ते**=पुनः लौटकर नहीं आते; **इति एषः**=इस प्रकार यह; **निरोधः**= निरोध (पुनरावृत्तिका निवारक) है; **तत् एषः**=इस बातको स्पष्ट करनेवाला यह (अगला); **श्लोकः**= श्लोक है ॥ १० ॥

व्याख्या—उपर्युक्त सकाम उपासकोंसे भिन्न जो कल्याणकामी साधक हैं, वे इन सांसारिक भोगोंकी अनित्यता और दुःखरूपताको समझकर इनसे सर्वथा विरक्त हो जाते हैं। वे श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए संयमके साथ त्यागमय जीवन बिताते हैं और अध्यात्मविद्याके द्वारा अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले किसी भी अनुकूल साधनद्वारा सबके आत्मस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरकी निष्काम उपासना करते हैं। यह मानो उस संवत्सररूप प्रजापतिके उत्तर अङ्गकी उपासना है। इसको ईशावास्य-उपनिषद्में संभूतिकी उपासना कहा है। इसके उपासक उत्तरायण-मार्गसे सूर्यलोकमें जाकर सूर्यके आत्मारूप

परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त हो जाते हैं। यह सूर्य ही समस्त जगत्‌के प्राणोंका केन्द्र है। यही अमृत—अविनाशी और निर्भय पद है। यही परम गति है। इसे प्राप्त हुए महापुरुष फिर लौटकर नहीं आते। यह निरोध अर्थात् पुनर्जन्मको रोकनेवाला आत्यन्तिक प्रलय है। इस मन्त्रमें सूर्यको परमेश्वरका स्वरूप मानकर ही सब बातें कही गयी हैं। इसी बातको अगले मन्त्रमें स्पष्ट किया गया है ॥ १० ॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥ ११ ॥

(कितने ही लोग तो इस सूर्यको)—**पञ्चपादम्**=पाँच चरणोंवाला; **पितरम्**=सबका पिता; **द्वादशाकृतिम्**=बारह आकृतियोंवाला; **पुरीषिणम्**=जलका उत्पादक; **दिवः परे अर्धे**=(और) स्वर्गलोकसे भी ऊपरके स्थानमें (स्थित); **आहुः**=बतलाते हैं; **अथ इमे**=तथा ये; **अन्ये उ**=दूसरे कितने ही लोग; **परे**=विशुद्ध; **सप्तचक्रे**=सात पहियोंवाले (और); **षडरे**=छः अरोंवाले (रथमें); **अर्पितम्**=बैठा हुआ (एवं); **विचक्षणम्**=सबको भलीभाँति जाननेवाला है; **इति आहुः**=ऐसा बतलाते हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वरके प्रत्यक्ष—दृष्टिगोचर स्वरूप इस सूर्यके विषयमें कितने ही तत्त्ववेत्ता तो यों कहते हैं कि इसके पाँच पैर हैं। अर्थात् छः ऋतुओंमेंसे हेमन्त और शिशिर—इन दो ऋतुओंकी एकता करके पाँच ऋतुओंको वे इस सूर्यके पाँच चरण बतलाते हैं; तथा यह भी कहते हैं कि बारह महीने ही इसकी बारह आकृतियाँ अर्थात् बारह शरीर हैं। इसका स्थान स्वर्गलोकसे भी ऊँचा है। स्वर्गलोक भी इसीके आलोकसे प्रकाशित है। इस लोकमें जो जल बरसता है, उस जलकी उत्पत्ति इसीसे होती है। अतः सबको जलरूप जीवन प्रदान करनेवाला होनेसे यह सबका पिता है। दूसरे ज्ञानी पुरुषोंका कहना है कि लाल, पीले आदि सात रंगोंकी किरणोंसे युक्त तथा वसन्त आदि छः ऋतुओंके हेतुभूत इस विशुद्ध प्रकाशमय सूर्यमण्डलमें—जिसे सात चक्र एवं छः अरोंवाला रथ कहा गया है—बैठा हुआ इसका आत्मारूप, सबको भलीभाँति जाननेवाला सर्वज्ञ परमेश्वर ही उपास्य है। यह स्थूल नेत्रोंसे दिखायी देनेवाला सूर्यमण्डल उसका शरीर है। इसलिये यह उसीकी महिमा है ॥ ११ ॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

मासः वै=महीना ही; **प्रजापतिः**= प्रजापति है; **तस्य**=उसका; **कृष्णपक्षः एव**=कृष्णपक्ष ही; **रयिः**=रयि है और; **शुक्लः प्राणः**=शुक्लपक्ष प्राण है; **तस्मात्**=इसलिये; **एते ऋषयः**=ये (कल्याणकामी) ऋषिगण; **शुक्ले**=शुक्ल-पक्षमें (निष्कामभावसे); **इष्टम्**=यज्ञादि कर्तव्य-कर्म; **कुर्वन्ति**=किया करते हैं; (तथा) **इतरे**= दूसरे (जो सांसारिक भोगोंको चाहते हैं); **इतरस्मिन्**=दूसरे पक्षमें—कृष्णपक्षमें (सकामभावसे यज्ञादि शुभकर्मोंका अनुष्ठान किया करते हैं) ॥ १२ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें महीनेको प्रजापतिका रूप देकर परमेश्वरकी कर्मोंद्वारा उपासना करनेका रहस्य बताया गया है। भाव यह है कि प्रत्येक महीना ही मानो प्रजापति है, उसमें कृष्णपक्षके पंद्रह दिन तो उस परमात्माका दाहिना अङ्ग हैं; इसे रयि (स्थूलभूत-समुदायका कारण) समझना चाहिये। यह उस परमेश्वरका शक्तिस्वरूप भोगमय रूप है। और शुक्ल-पक्षके पंद्रह दिन ही मानो उत्तर अङ्ग हैं। यही प्राण अर्थात् सबको जीवन प्रदान करनेवाले परमात्माका सर्वान्तर्यामी रूप है। इसलिये जो कल्याणकामी ऋषि हैं, अर्थात् जो रयिस्थानीय भोग-पदार्थोंसे विरक्त होकर प्राणस्थानीय सर्वात्मरूप परब्रह्म-को चाहनेवाले हैं, वे अपने समस्त शुभ कर्मोंको शुक्लपक्षमें करते हैं अर्थात् शुक्लपक्षस्थानीय प्राणाधार परब्रह्म परमेश्वरके **अर्पण** करके करते हैं—स्वयं उसका कोई फल नहीं चाहते; यही गीतोक्त कर्मयोग है। इनसे भिन्न जो भोगासक्त मनुष्य **हैं, वे** कृष्णपक्षमें अर्थात् कृष्णपक्ष-स्थानीय स्थूल पदार्थोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे सब प्रकारके कर्म किया करते हैं। इनका वर्णन **गीतामें** '**स्वर्गपराः**'के नामसे हुआ है (गीता २। ४२—४४) ॥ १२ ॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

अहोरात्रः वै=दिन और रातका जोड़ा ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **तस्य**=उसका; **अहः एव**=दिन ही; **प्राणः**=प्राण है (और); **रात्रिः एव**=रात्रि ही; **रयिः**=रयि है; **ये दिवा**=(अतः) जो दिनमें; **रत्या संयुज्यन्ते**=स्त्री-सहवास करते हैं; **एते**=ये लोग; **वै प्राणम्**=सचमुच अपने प्राणोंको ही; **प्रस्कन्दन्ति**=क्षीण करते हैं तथा (मनुष्य); **यत् रात्रौ**=जो रात्रिमें; **रत्या संयुज्यन्ते**=स्त्री-सहवास करते हैं; **तत् ब्रह्मचर्यम् एव**=वह ब्रह्मचर्य ही है ॥ १३ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें दिन और रात्रिरूप चौबीस घंटेके कालरूपमें परमेश्वरके स्वरूपकी कल्पना करके जीवनोपयोगी कर्मोंका रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि ये दिन और रात मिलकर जगत्पति परमेश्वरका पूर्णरूप हैं। उसका यह दिन तो मानो प्राण अर्थात् सबको जीवन देनेवाला प्रकाशमय विशुद्ध स्वरूप है और रात्रि ही भोगरूप रयि है। अतः जो मनुष्य दिनमें स्त्री-प्रसङ्ग करते हैं अर्थात् परमात्माके विशुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रकाशमय मार्गमें चलना प्रारम्भ करके भी स्त्री-प्रसङ्ग आदि विलासमें आसक्त हो जाते हैं, वे अपने लक्ष्यतक न पहुँचकर इस अमूल्य जीवनको व्यर्थ खो देते हैं। उनसे भिन्न जो सांसारिक उन्नति चाहनेवाले हैं, वे यदि शास्त्रके नियमानुसार ऋतुकालमें रात्रिके समय नियमानुकूल स्त्री-प्रसङ्ग करते हैं तो वे शास्त्रकी आज्ञाका पालन करनेके कारण ब्रह्मचारीके तुल्य ही हैं। लौकिक दृष्टिसे यों कह सकते हैं कि इस मन्त्रमें गृहस्थोंको दिनमें स्त्री-प्रसङ्ग कदापि न करनेका और विहित रात्रियोंमें शास्त्रानुसार नियमित और संयमितरूपमें केवल सन्तानकी इच्छासे करनेका उपदेश दिया गया है। तभी वह ब्रह्मचर्यकी गणनामें आ सकता है* ॥ १३ ॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

अन्नम् वै=अन्न ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **ह ततः वै**=क्योंकि उसीसे; **तत् रेतः**=वह वीर्य (उत्पन्न होता है); **तस्मात्**=उस वीर्यसे; **इमाः प्रजाः**=ये सम्पूर्ण चराचर प्राणी; **प्रजायन्ते इति**=उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें अन्नको प्रजापतिका स्वरूप बताकर अन्नकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि यह सब प्राणियोंका आहाररूप अन्न ही प्रजापति है, क्योंकि इसीसे वीर्य उत्पन्न होता है और वीर्यसे समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। इस कारण इस अन्नको भी प्रकारान्तरसे प्रजापति माना गया है ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—अब पहले बतलाये हुए दो प्रकारके साधकोंको मिलनेवाले पृथक्-पृथक् फलका वर्णन करते हैं—

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

तत् ये ह वै=जो कोई भी निश्चयपूर्वक; **तत् प्रजापतिव्रतम्**=उस प्रजापति-व्रतका; **चरन्ति**=अनुष्ठान करते हैं; **ते मिथुनम्**=वे जोड़ेको; **उत्पादयन्ते**=उत्पन्न करते हैं; **येषाम् तपः**=जिनमें तप (और); **ब्रह्मचर्यम्**=ब्रह्मचर्य (है); **येषु सत्यम्**=जिनमें सत्य; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **तेषाम् एव**=उन्हींको; **एषः ब्रह्मलोकः**=यह ब्रह्मलोक मिलता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जो लोग सन्तानोत्पत्तिरूप प्रजापतिके व्रतका अनुष्ठान करते हैं अर्थात् स्वर्गादि लोकोंके भोगकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका आचरण करते हुए नियमानुसार स्त्री-प्रसङ्ग आदि भोगोंका उपभोग करते हैं, वे तो पुत्र और कन्यारूप जोड़ेको उत्पन्न करके प्रजाकी वृद्धि करते हैं। और जो उनसे भिन्न हैं, जिनमें ब्रह्मचर्य और तप भरा हुआ है,

---

* रजोदर्शनके दिनसे लेकर सोलह दिनोंतक स्वाभाविक ऋतुकाल कहलाता है। इनमें पहली चार रात्रियाँ तथा ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ सर्वथा वर्जित हैं। शेष दस रात्रियोंमें पर्व-(एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमा, ग्रहण, व्यतिपात, संक्रान्ति, जन्माष्टमी, शिवरात्रि, रामनवमी आदि) दिनोंको छोड़कर पत्नीकी रतिकामनासे जो पुरुष महीनेमें केवल दो रात्रि स्त्री-सहवास करता है, वह गृहस्थाश्रममें रहता हुआ ही ब्रह्मचारी माना जाता है। (मनुस्मृति ३। ४५—४७, ५०)

जिनका जीवन सत्यमय है तथा जो सत्यस्वरूप परमेश्वरको अपने हृदयमें नित्य स्थित देखते हैं, उन्हींको वह ब्रह्मलोक (परम पद, परमगति) मिलता है, दूसरोंको नहीं ॥ १५ ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

येषु न=जिनमें न तो; **जिह्मम्**=कुटिलता (और); **अनृतम्**=झूठ है; **च न**=तथा न; **माया**=माया (कपट) ही है; **तेषाम्**=उन्हींको; **असौ**=वह; **विरजः**=विशुद्ध, विकाररहित; **ब्रह्मलोकः इति**=ब्रह्मलोक (मिलता है) ॥ १६ ॥

व्याख्या—जिनमें कुटिलताका लेश भी नहीं है, जो स्वप्नमें भी मिथ्या-भाषण नहीं करते और असत्यमय आचरणसे सदा दूर रहते हैं, जिनमें राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा अभाव है, जो सब प्रकारके छल-कपटसे शून्य हैं, उन्हींको वह विशुद्ध विकाररहित ब्रह्मलोक मिलता है । जो इनसे विपरीत लक्षणोंवाले हैं, उनको नहीं मिलता ॥ १६ ॥

॥ प्रथम प्रश्न समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय प्रश्न

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥ १ ॥

अथ ह एनम्=इसके पश्चात् इन प्रसिद्ध (महात्मा पिप्पलाद) ऋषिसे; **वैदर्भिः भार्गवः**=विदर्भदेशीय भार्गवने; **पप्रच्छ**=पूछा; **भगवन्**=भगवन्; **कति देवाः एव**=कुल कितने देवता; **प्रजां विधारयन्ते**=प्रजाको धारण करते हैं; **कतरे एतत्**=उनमेंसे कौन-कौन इसे; **प्रकाशयन्ते**=प्रकाशित करते हैं; **पुनः**=फिर (यह भी बतलाइये कि); **एषाम्**=इन सबमें; **कः**=कौन; **वरिष्ठः**=सर्वश्रेष्ठ है; **इति**=यही (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—इन भार्गव ऋषिने महर्षि पिप्पलादसे तीन बातें पूछी हैं—(१) प्रजाको यानी प्राणियोंके शरीरको धारण करनेवाले कुल कितने देवता हैं ? (२) उनमेंसे कौन-कौन इसको प्रकाशित करनेवाले हैं ? (३) इन सबमें अत्यन्त श्रेष्ठ कौन है ? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्‌बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥

सः ह=उन प्रसिद्ध महर्षि (पिप्पलाद) ने; **तस्मै उवाच**=उन भार्गवसे कहा; **ह आकाशः वै**=निश्चय ही वह प्रसिद्ध आकाश; **एषः देवः**=यह देवता है (तथा); **वायुः**=वायु; **अग्निः**=अग्नि; **आपः**=जल; **पृथिवी**=पृथ्वी; **वाक्**=वाणी (कर्मेन्द्रियाँ); **चक्षुः च श्रोत्रम् मनः**=नेत्र और श्रोत्र (ज्ञानेन्द्रियाँ) तथा मन (अन्तःकरण) भी [देवता हैं]; **ते प्रकाश्य**=वे सब (अपनी-अपनी शक्ति) प्रकट करके; **अभिवदन्ति**=अभिमानपूर्वक कहने लगे; **वयम् एतत् बाणम्**=हमने इस शरीरको; **अवष्टभ्य**=आश्रय देकर; **विधारयामः**=धारण कर रक्खा है ॥ २ ॥

व्याख्या—इस प्रकार भार्गवके पूछनेपर महर्षि पिप्पलाद उत्तर देते हैं । यहाँ दो प्रश्नोंका उत्तर एक ही साथ दे दिया गया है । वे कहते हैं कि सबका आधार तो वैसे आकाशरूप देवता ही है; परंतु उससे उत्पन्न होनेवाले वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये चारों महाभूत भी शरीरको धारण किये रहते हैं । यह स्थूलशरीर इन्हींसे बना है । इसलिये ये धारक देवता हैं । वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, नेत्र और कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन आदि अन्तःकरण—ये चौदह देवता इस शरीरके प्रकाशक हैं । ये देवता देहको धारण और प्रकाशित करते हैं, इसलिये ये प्रकाशक देवता कहलाते हैं । ये इस देहको प्रकाशित करके आपसमें झगड़ पड़े और अभिमानपूर्वक परस्पर कहने लगे कि 'हमने इस शरीरको आश्रय देकर धारण कर रक्खा है' ॥ २ ॥

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥ ३ ॥

तान् वरिष्ठः प्राणः=उनसे सर्वश्रेष्ठ प्राण; **उवाच**=बोला; **मोहम्**=(तुमलोग) मोहमें; **मा आपद्यथ**=न पड़ो; **अहम् एव**=मैं ही; **एतत् आत्मानम्**=अपने इस स्वरूपको; **पञ्चधा प्रविभज्य**=पाँच भागोंमें विभक्त करके; **एतत् बाणम्**=इस शरीरको; **अवष्टभ्य**=आश्रय देकर; **विधारयामि**=धारण करता हूँ; **इति ते**=यह (सुनकर भी) वे; **अश्रद्दधानाः**=अविश्वासी ही; **बभूवुः**=बने रहे ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब सम्पूर्ण महाभूत, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणरूप देवता परस्पर विवाद करने लगे, तब सर्वश्रेष्ठ प्राणने उनसे कहा—'तुमलोग अज्ञानवश आपसमें विवाद मत करो; तुममेंसे किसीमें भी इस शरीरको धारण करने या सुरक्षित रखनेकी शक्ति नहीं है । इसे तो मैंने ही अपनेको (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदानरूप) पाँच भागोंमें विभक्त करके आश्रय देते हुए धारण कर रक्खा है और मुझसे ही यह सुरक्षित है ।' प्राणकी यह बात सुनकर भी उन देवताओंने उसपर विश्वास नहीं किया; वे अविश्वासी ही बने रहे ॥ ३ ॥

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते । तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥

सः=(तब) वह प्राण; **अभिमानात्**=अभिमानपूर्वक; **ऊर्ध्वम् उत्क्रमते इव**=मानो (उस शरीरसे) ऊपरकी ओर बाहर निकलने लगा; **तस्मिन् उत्क्रामति**=उसके बाहर निकलनेपर; **अथ इतरे सर्वे एव**=उसीके साथ-ही-साथ अन्य सब भी; **उत्क्रामन्ते च**=शरीरसे बाहर निकलने लगे और; **तस्मिन् प्रतिष्ठमाने**=(शरीरमें लौटकर) उसके ठहर जानेपर; **सर्वे एव प्रातिष्ठन्ते**=और सब देवता भी ठहर गये; **तत् यथा**=तब जैसे (मधुके छत्तेसे); **मधुकरराजानम्**=मधुमक्खियोंके राजाके; **उत्क्रामन्तम्**=निकलनेपर उसीके साथ-साथ; **सर्वाः एव**=सारी ही; **मक्षिकाः**=मधुमक्खियाँ; **उत्क्रामन्ते**=बाहर निकल जाती हैं; **च तस्मिन्**=और उसके; **प्रतिष्ठमाने**=बैठ जानेपर; **सर्वाः एव**=सब-की-सब; **प्रातिष्ठन्ते**=बैठ जाती हैं; **एवम्**=ऐसी ही दशा (इन सबकी हुई); **वाक् चक्षुः श्रोत्रम् च मनः**=अतः वाणी, नेत्र, श्रोत्र और मन; **ते**=वे (सभी); **प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति**=(प्राणकी श्रेष्ठताका अनुभव करके) प्रसन्न होकर प्राणकी स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

व्याख्या—तब उनको अपना प्रभाव दिखलाकर सावधान करनेके लिये वह सर्वश्रेष्ठ प्राण अभिमानमें ठेस लगनेसे मानो रूठकर इस शरीरसे बाहर निकलनेके लिये ऊपरकी ओर उठने लगा । फिर तो सब-के-सब देवता विवश होकर उसीके साथ बाहर निकलने लगे; कोई भी स्थिर नहीं रह सका । जब वह पुनः लौटकर अपने स्थानपर स्थित हो गया, तब अन्य सब भी स्थित हो गये । जैसे मधुमक्खियोंका राजा जब अपने स्थानसे उड़ता है, तब उसके साथ ही वहाँ बैठी हुई अन्य सब मधुमक्खियाँ भी उड़ जाती हैं, और जब वह बैठ जाता है तो अन्य सब भी बैठ जाती हैं, ऐसी ही दशा इन सब वागादि देवताओंकी भी हुई । यह देखकर वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि सब इन्द्रियोंको और मन आदि अन्तःकरणकी वृत्तियोंको भी यह विश्वास हो गया कि हम सबमें प्राण ही श्रेष्ठ है; अतः वे सब प्रसन्नतापूर्वक निम्न प्रकारसे प्राणकी स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—प्राणको ही परब्रह्म परमेश्वरका स्वरूप मानकर उपासना करनेके लिये उसका सर्वात्मरूपसे महत्त्व बतलाया जाता है—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः ।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥

एषः अग्निः तपति=यह प्राण अग्निरूपसे तपता है; **एषः सूर्यः**=यही सूर्य है; **एषः पर्जन्यः**=यही मेघ है; **(एषः) मघवान्**=यही इन्द्र है; **एषः वायुः**=यही वायु है (तथा); **एषः देवः**=यह प्राणरूप देव ही; **पृथिवी**=पृथ्वी (एवं); **रयिः**=रयि है; (तथा) **यत्**=जो कुछ; **सत्**=सत्; **च**=और; **असत्**=असत् है; **च**=तथा; [**यत्**=जो;] **अमृतम्**=अमृत कहा जाता है, वह भी है ॥ ५ ॥

व्याख्या—वे वाणी आदि सब देवता स्तुति करते हुए बोले—'यह प्राण ही अग्निरूप धारण करके तपता है और यही सूर्य है। यही मेघ, इन्द्र और वायु है। यही देव पृथ्वी और रयि (भूतसमुदाय) है। तथा सत् और असत् एवं उससे भी श्रेष्ठ जो अमृतस्वरूप परमात्मा है, वह भी यह प्राण ही है ॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥

रथनाभौ=रथके पहियेकी नाभिमें लगे हुए; **अराः इव**=अरोंकी भाँति; **ऋचः यजूꣳषि**=ऋग्वेदकी सम्पूर्ण ऋचाएँ, यजुर्वेदके मन्त्र (तथा); **सामानि**=सामवेदके मन्त्र; **यज्ञः च**=यज्ञ और; **ब्रह्म, क्षत्रम्**=(यज्ञ करनेवाले) ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि अधिकारिवर्ग; **सर्वम्**=ये सब-के-सब; **प्राणे**=(इस) प्राणमें; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार रथके पहियेकी नाभिमें लगे हुए अरे नाभिके ही आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार ऋग्वेदकी सब ऋचाएँ, यजुर्वेदके समस्त मन्त्र, सब-का-सब सामवेद, उनके द्वारा सिद्ध होनेवाले यज्ञादि शुभ कर्म और यज्ञादि शुभ कर्म करनेवाले ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि अधिकारिवर्ग—ये सब-के-सब प्राणके आधारपर ही टिके हुए हैं; सबका आश्रय प्राण ही है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्राणका महत्त्व बतलाकर अब उसकी स्तुति की जाती है—

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥

प्राण=हे प्राण; [**त्वम् एव**=तू ही;] **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **त्वम् एव**=तू ही; **गर्भे चरसि**=गर्भमें विचरता है; **प्रतिजायसे**=(और तू ही) माता-पिताके अनुरूप होकर जन्म लेता है; **तु**=निश्चय ही; **इमाः**=ये सब; **प्रजाः**=जीव; **तुभ्यम्**=तुझे; **बलिम् हरन्ति**=भेंट समर्पण करते हैं; **यः**=जो तू; **प्राणैः प्रतितिष्ठसि**=(अपानादि अन्य) प्राणोंके साथ-साथ स्थित हो रहा है ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू ही प्रजापति (प्राणियोंका ईश्वर) है, तू ही गर्भमें विचरनेवाला और माता-पिताके अनुरूप संतानके रूपमें जन्म लेनेवाला है। ये सब जीव तुझे ही भेंट समर्पण करते हैं। तू ही अपानादि सब प्राणोंके सहित सबके शरीरमें स्थित हो रहा है ॥ ७ ॥

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥

(हे प्राण !) **देवानाम्**=(तू) देवताओंके लिये; **वह्नितमः**=उत्तम अग्नि है; **पितॄणाम्**= पितरोंके लिये; **प्रथमा स्वधा**=पहली स्वधा है; **अथर्वाङ्गिरसाम्**=अथर्वाङ्गिरस् आदि; **ऋषीणाम्**=ऋषियोंके द्वारा; **चरितम्**=आचरित; **सत्यम्**=सत्य; **असि**=है ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू देवताओंके लिये हवि पहुँचानेवाला उत्तम अग्नि है। पितरोंके लिये पहली स्वधा है। अथर्वाङ्गिरस् आदि ऋषियोंके द्वारा आचरित (अनुभूत) सत्य भी तू ही है ॥ ८ ॥

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥

प्राण=हे प्राण; **त्वम् तेजसा**=तू तेजसे (सम्पन्न); **इन्द्रः**=इन्द्र; **रुद्रः**=रुद्र (और); **परिरक्षिता**= रक्षा करनेवाला; **असि**=है; **त्वम्**=तू ही; **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्षमें; **चरसि**= विचरता है (और); **त्वम्**=तू ही; **ज्योतिषां पतिः**=समस्त ज्योतिर्गणोंका स्वामी; **सूर्यः**=सूर्य है ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू सब प्रकारके तेज (शक्तियों) से सम्पन्न, तीनों लोकोंका स्वामी इन्द्र है। तू ही प्रलयकालमें सबका संहार करनेवाला रुद्र है और तू ही सबकी भलीभाँति यथायोग्य रक्षा करनेवाला है। तू ही अन्तरिक्षमें (पृथ्वी और स्वर्गके बीचमें) विचरनेवाला वायु है तथा तू ही अग्नि, चन्द्र, तारे आदि समस्त ज्योतिर्गणोंका स्वामी सूर्य है ॥९॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०॥

प्राण=हे प्राण; **यदा त्वम्**=जब तू; **अभिवर्षसि**=भलीभाँति वर्षा करता है; **अथ**=उस समय; **ते इमाः प्रजाः**= तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा; **कामाय**=यथेष्ट; **अन्नम्**=अन्न; **भविष्यति**=उत्पन्न होगा; **इति**=यह समझकर; **आनन्दरूपाः**= आनन्दमय; **तिष्ठन्ति**=हो जाती है ॥ १० ॥

व्याख्या—हे प्राण ! जब तू मेघरूप होकर पृथ्वीलोकमें सब ओर वर्षा करता है, तब तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा 'हमलोगोंके जीवननिर्वाहके लिये यथेष्ट अन्न उत्पन्न होगा'—ऐसी आशा करती हुई आनन्दमें मग्न हो जाती है ॥ १० ॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥११॥

प्राण=हे प्राण; **त्वम्**=तू; **व्रात्यः**=संस्काररहित (होते हुए भी); **एकर्षिः**=एकमात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है (तथा); **वयम्**=हमलोग (तेरे लिये); **आद्यस्य**=भोजनको; **दातारः**=देनेवाले हैं (और तू); **अत्ता**=भोक्ता (खानेवाला) है; **विश्वस्य**=समस्त जगत्का; **सत्पतिः**=(तू ही) श्रेष्ठ स्वामी है; **मातरिश्व**=हे आकाशमें विचरनेवाले वायुदेव; **त्वम्**=तू; **नः**=हमारा; **पिता**=पिता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू संस्काररहित होकर भी एकमात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है। तात्पर्य यह कि तू स्वभावसे ही शुद्ध है, अतः तुझे संस्कारद्वारा शुद्धिकी आवश्यकता नहीं है; प्रत्युत तू ही सबको पवित्र करनेवाला एकमात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है। हमलोग (सब इन्द्रियाँ और मन आदि) तेरे लिये नाना प्रकारकी भोजन-सामग्री अर्पण करनेवाले हैं और तू उसे खानेवाला है। तू ही समस्त विश्वका उत्तम स्वामी है। हे आकाशचारी समष्टिवायुस्वरूप प्राण ! तू हमारा पिता है; क्योंकि तुझसे ही हम सबकी उत्पत्ति हुई है ॥ ११ ॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥१२॥

(हे प्राण !) **या ते तनूः**=जो तेरा स्वरूप; **वाचि**=वाणीमें; **प्रतिष्ठिता च**=स्थित है, तथा; **या श्रोत्रे**=जो श्रोत्रमें; **या चक्षुषि च**=जो चक्षुमें और; **या मनसि**=जो मनमें; **संतता**=व्याप्त है; **ताम्**=उसको; **शिवाम्**= कल्याणमय; **कुरु**=बना ले; **मा उत्क्रमीः**=(तू) उत्क्रमण न कर ॥ १२ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! जो तेरा स्वरूप वाणी, श्रोत्र, चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंमें और मन आदि अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें व्याप्त है, उसे तू कल्याणमय बना ले। अर्थात् तुझमें जो हमें सावधान करनेके लिये आवेश आया है, उसे शान्त कर ले और तू शरीरसे उठकर बाहर न जा। यह हमलोगोंकी प्रार्थना है ॥ १२ ॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥१३॥

इदम्=यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला जगत् (और); **यत् त्रिदिवे**=जो कुछ स्वर्गलोकमें; **प्रतिष्ठितम्**=स्थित है; **सर्वम्**= वह सब-का-सब; **प्राणस्य**=प्राणके; **वशे**=अधीन है (हे प्राण !); **माता पुत्रान् इव**=जैसे माता अपने पुत्रोंकी रक्षा करती है, उसी प्रकार (तू हमारी); **रक्षस्व**=रक्षा कर; **च**=तथा; **नः श्रीः च**=हमें कान्ति और; **प्रज्ञाम्**=बुद्धि; **विधेहि**=प्रदान कर; **इति**=इस प्रकार यह दूसरा प्रश्न समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

व्याख्या—प्रत्यक्ष दीखनेवाले इस लोकमें जितने भी पदार्थ हैं और जो कुछ स्वर्गमें स्थित हैं, वे सब-के-सब इस प्राणके ही अधीन हैं। यह सोचकर वे इन्द्रियादि देवगण अन्तमें प्राणसे प्रार्थना करते हैं—'हे प्राण! जिस प्रकार माता अपने पुत्रोंकी रक्षा करती है, उसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर तथा तू हमलोगोंको श्री अर्थात् कार्य करनेकी शक्ति और प्रज्ञा (ज्ञान) प्रदान कर।'

इस प्रकार इस प्रकरणमें भार्गव ऋषिद्वारा पूछे हुए तीन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए महर्षि पिप्पलादने यह बात समझायी कि समस्त प्राणियोंके शरीरोंको अवकाश देकर बाहर और भीतरसे धारण करनेवाला आकाश-तत्त्व है। साथ ही इस शरीरके अवयवोंकी पूर्ति करनेवाले वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये चार तत्त्व हैं। दस इन्द्रियाँ और अन्तःकरण—ये इसको प्रकाश देकर क्रियाशील बनानेवाले हैं। इन सबसे श्रेष्ठ प्राण है। अतएव प्राण ही वास्तवमें इस शरीरको धारण करनेवाला है, प्राणके बिना शरीरको धारण करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है। अन्य सब इन्द्रिय आदिमें इसीकी शक्ति अनुस्यूत है, इसीकी शक्ति पाकर वे शरीरको धारण करते हैं। इसी प्रकार प्राणकी श्रेष्ठताका वर्णन छान्दोग्य-उपनिषद्के पाँचवें अध्यायके आरम्भमें और बृहदारण्यक-उपनिषद्के छठे अध्यायके आरम्भमें आया है। इस प्रकरणमें प्राणकी स्तुतिका प्रसङ्ग अधिक है॥ १३॥

॥ द्वितीय प्रश्न समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय प्रश्न

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥

अथ ह एनम्=उसके बाद इन प्रसिद्ध महात्मा (पिप्पलाद) से; **कौसल्यः आश्वलायनः**=कोसलदेशीय आश्वलायनने; **च**=भी; **पप्रच्छ**=पूछा; **भगवन्**=भगवन्; **एषः प्राणः**=यह प्राण; **कुतः जायते**=किससे उत्पन्न होता है; **अस्मिन् शरीरे**=इस शरीरमें; **कथम् आयाति**=कैसे आता है; **वा आत्मानम्**=तथा अपनेको; **प्रविभज्य**=विभाजित करके; **कथम् प्रातिष्ठते**=किस प्रकार स्थित होता है; **केन उत्क्रमते**=किस ढंगसे उत्क्रमण करता—शरीरसे बाहर निकलता है; **कथम् बाह्यम्**=किस प्रकार बाह्य जगत्को; **अभिधत्ते**=भलीभाँति धारण करता है (और); **कथम् अध्यात्मम्**=किस प्रकार मन और इन्द्रिय आदि शरीरके भीतर रहनेवाले जगत्को; **इति**=यही (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें आश्वलायन मुनिने महर्षि पिप्पलादसे कुल छः बातें पूछी हैं—(१) जिस प्राणकी महिमाका आपने वर्णन किया, वह प्राण किससे उत्पन्न होता है? (२) वह इस मनुष्य-शरीरमें कैसे प्रवेश करता है? (३) अपनेको विभाजित करके किस प्रकार शरीरमें स्थित रहता है? (४) एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाते समय पहले शरीरसे किस प्रकार निकलता है? (५) इस बाह्य (पाञ्चभौतिक) जगत्को किस प्रकार धारण करता है? तथा (६) मन और इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक (आन्तरिक) जगत्को किस प्रकार धारण करता है? यहाँ प्राणके विषयमें वे ही बातें पूछी गयी हैं, जिनका वर्णन पहले उत्तरमें नहीं आया है और जो पहले प्रश्नके उत्तरको सुनकर ही स्फुरित हुई हैं; इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रश्नोत्तरके समय सुकेशादि छहों ऋषि वहाँ साथ-साथ बैठे सुन रहे थे ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उनसे उन प्रसिद्ध महर्षिने कहा; **अतिप्रश्नान् पृच्छसि**=तू बड़े कठिन प्रश्न पूछ रहा है (किन्तु); **ब्रह्मिष्ठः असि इति**=वेदोंको अच्छी तरह जाननेवाला है; **तस्मात्**=अतः; **अहम्**=मैं; **ते**=तेरे; **ब्रवीमि**=प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें महर्षि पिप्पलादने आश्वलायन मुनिके प्रश्नोंको कठिन बतलाकर उनकी बुद्धिमत्ता और

तर्कशीलताकी प्रशंसा की है और साथ ही यह भाव भी दिखलाया है कि 'तू जिस ढंगसे पूछ रहा है, उसे देखते हुए तो मुझे तेरे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देना चाहिये। परंतु मैं जानता हूँ कि तू तर्कबुद्धिसे नहीं पूछ रहा है, तू श्रद्धालु है, वेदोंमें निष्णात है; अतः मैं तेरे प्रश्नोंका उत्तर दे रहा हूँ' ॥ २ ॥

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे ॥ ३ ॥

एषः प्राणः=यह प्राण; **आत्मनः**=परमात्मासे; **जायते**=उत्पन्न होता है; **यथा**=जिस प्रकार; **एषा छाया**=यह छाया; **पुरुषे**=पुरुषके होनेपर (ही होती है); [**तथा** =उसी प्रकार;] **एतत्**=यह (प्राण); **एतस्मिन्**=इस (परमात्मा) के ही; **आततम्**=आश्रित है (और); **अस्मिन् शरीरे**=इस शरीरमें; **मनोकृतेन**=मनके किये हुए (संकल्प) से; **आयाति**=आता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—यहाँ महर्षि पिप्पलादने क्रमसे आश्वलायन ऋषिके दो प्रश्नोंका उत्तर दिया है। पहले प्रश्नका उत्तर तो यह है कि जिसका प्रकरण चल रहा है, वह सर्वश्रेष्ठ प्राण परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। वह परब्रह्म परमेश्वर ही इसका उपादानकारण है और वही इसकी रचना करनेवाला है; अतः इसकी स्थिति उस सर्वात्मा महेश्वरके अधीन—उसीके आश्रित है—ठीक जिस प्रकार किसी मनुष्यकी छाया उसके अधीन रहती है। दूसरे प्रश्नका उत्तर यह है कि यह मनद्वारा किये हुए संकल्पसे किसी शरीरमें प्रवेश करता है। भाव यह कि मरते समय प्राणीके मनमें उसके कर्मानुसार जैसा संकल्प होता है, उसे वैसा ही शरीर मिलता है; अतः प्राणोंका शरीरमें प्रवेश मनके संकल्पसे ही होता है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—अब आश्वलायनके तीसरे प्रश्नका उत्तर विस्तारपूर्वक आरम्भ किया जाता है—

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ॥ ४ ॥

यथा=जिस प्रकार; **सम्राट् एव**=चक्रवर्ती महाराज स्वयं ही; **एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व**=इन गाँवोंमें (तुम रहो,)इन गाँवोंमें तुम रहो; **इति**=इस प्रकार; **अधिकृतान्**=अधिकारियोंको; **विनियुङ्क्ते**=अलग-अलग नियुक्त करता है; **एवम् एव**=इसी प्रकार; **एषः प्राणः**=यह मुख्य प्राण; **इतरान्**=दूसरे; **प्राणान्**=प्राणोंको; **पृथक् पृथक् एव**=पृथक्-पृथक् ही; **संनिधत्ते**=स्थापित करता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—यहाँ महर्षि उदाहरणद्वारा तीसरे प्रश्नका समाधान करते हुए कहते हैं—'जिस प्रकार भूमण्डलका चक्रवर्ती महाराज भिन्न-भिन्न ग्राम, मण्डल और जनपद आदिमें पृथक्-पृथक् अधिकारियोंकी नियुक्ति करता है और उनका कार्य बाँट देता है, उसी प्रकार यह सर्वश्रेष्ठ प्राण भी अपने अङ्गस्वरूप अपान, व्यान आदि दूसरे प्राणोंको शरीरके पृथक-पृथक स्थानोंमें पृथक्-पृथक् कार्यके लिये नियुक्त कर देता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब मुख्य प्राण, अपान और समान—इन तीनोंका वासस्थान और कार्य बतलाया जाता है—

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥

प्राणः=(वह) प्राण; **पायूपस्थे**=गुदा और उपस्थमें; **अपानम् (नियुङ्क्ते)**=अपानको रखता है; **स्वयम्**=स्वयं; **मुखनासिकाभ्याम्**=मुख और नासिकाद्वारा (विचरता हुआ); **चक्षुःश्रोत्रे**=नेत्र और श्रोत्रमें; **प्रातिष्ठते**=स्थित रहता है; **तु मध्ये**=और शरीरके मध्यभागमें; **समानः**=समान (रहता है); **एषः हि**=यह (समान वायु) ही; **एतत् हुतम् अन्नम्**=इस प्राणाग्निमें हवन किये हुए अन्नको; **समम् नयति**=समस्त शरीरमें यथायोग्य समभावसे पहुँचाता है; **तस्मात्**=उससे; **एताः सप्त**=ये सात; **अर्चिषः**=ज्वालाएँ (विषयोंको प्रकाशित करनेवाले ऊपरके द्वार); **भवन्ति**=उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—यह स्वयं तो मुख और नासिकाद्वारा विचरता हुआ नेत्र और श्रोत्रमें स्थित रहता है, तथा गुदा और

उपस्थमें अपानको स्थापित करता है। उसका काम मल-मूत्रको शरीरके बाहर निकाल देना है; रज-वीर्य और गर्भको बाहर करना भी इसीका काम है। शरीरके मध्य भाग—नाभिमें समानको रखता है। यह समान वायु ही प्राणरूप अग्निमें हवन किये हुए— उदरमें डाले हुए अन्नको अर्थात् उसके सारको सम्पूर्ण शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें यथायोग्य समभावसे पहुँचाता है। उस अन्नके सारभूत रससे ही इस शरीरमें ये सात ज्वालाएँ अर्थात् समस्त विषयोंको प्रकाशित करनेवाले दो नेत्र, दो कान, दो नासिकाएँ और एक मुख (रसना)—ये सात द्वार उत्पन्न होते हैं; उस रससे पुष्ट होकर ही ये अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब व्यानकी गतिका वर्णन किया जाता है—

हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६ ॥

एषः हि=यह प्रसिद्ध; **आत्मा**=जीवात्मा; **हृदि**=हृदयदेशमें रहता है; **अत्र**=इस (हृदय) में; **एतत्**=यह; **नाडीनाम् एकशतम्**=मूलरूपसे एक सौ नाड़ियोंका समुदाय है; **तासाम्**=उनमेंसे; **एकैकस्याम्**=एक-एक नाड़ीमें; **शतम् शतम्**=एक-एक सौ (शाखाएँ) हैं (प्रत्येक शाखा-नाड़ीकी); **द्वासप्ततिः द्वासप्ततिः**=बहत्तर-बहत्तर; **प्रतिशाखानाडीसहस्राणि**=हजार प्रतिशाखा-नाड़ियाँ; **भवन्ति**=होती हैं; **आसु**=इनमें; **व्यानः**=व्यानवायु; **चरति**=विचरण करता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस शरीरमें जो हृदयप्रदेश है, जो जीवात्माका निवासस्थान है, उसमें एक सौ मूलभूत नाड़ियाँ हैं; उनमेंसे प्रत्येक नाड़ीकी एक-एक सौ शाखा-नाड़ियाँ हैं और प्रत्येक शाखा-नाड़ीकी बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा-नाड़ियाँ हैं। इस प्रकार इस शरीरमें कुल बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं; इन सबमें व्यानवायु विचरण करता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब उदानका स्थान और कार्य बतलाते हैं, साथ ही आश्वलायनके चौथे प्रश्नका उत्तर भी देते हैं—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ७ ॥

अथ=तथा; **एकया**=जो एक नाड़ी और है, उसके द्वारा; **उदानः ऊर्ध्वः**=उदान वायु ऊपरकी ओर; [**चरति**=विचरता है;](**सः**) **पुण्येन**=वह पुण्यकर्मोंके द्वारा; [**मनुष्यम्**=मनुष्यको;] **पुण्यम् लोकम्**=पुण्यलोकोंमें; **नयति**=ले जाता है; **पापेन**=पापकर्मोंके कारण (उसे); **पापम् नयति**=पापयोनियोंमें ले जाता है (तथा); **उभाभ्याम् एव**=पाप और पुण्य दोनों प्रकारके कर्मोंद्वारा (जीवको); **मनुष्यलोकम्**=मनुष्य-शरीरमें; [**नयति**=ले जाता है] ॥ ७ ॥

व्याख्या—इन ऊपर बतलायी हुई बहत्तर करोड़ नाड़ियोंसे भिन्न एक नाड़ी और है, जिसको 'सुषुम्णा' कहते हैं, जो हृदयसे निकलकर ऊपर मस्तकमें गयी है। उसके द्वारा उदान वायु शरीरमें ऊपरकी ओर विचरण करता है। (इस प्रकार आश्वलायनके तीसरे प्रश्नका समाधान करके अब महर्षि उसके चौथे प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें देते हैं—) जो मनुष्य पुण्यशील होता है, जिसके शुभकर्मोंके भोग उदय हो जाते हैं, उसे यह उदान वायु ही अन्य सब प्राण और इन्द्रियोंके सहित वर्तमान शरीरसे निकालकर पुण्यलोकोंमें अर्थात् स्वर्गादि उच्च लोकोंमें ले जाता है। पापकर्मोंसे युक्त मनुष्यको शूकर-कूकर आदि पाप-योनियोंमें और रौरवादि नरकोंमें ले जाता है तथा जो पाप और पुण्य—दोनों प्रकारके कर्मोंका मिश्रित फल भोगनेके लिये अभिमुख हुए रहते हैं, उनको मनुष्य-शरीरमें ले जाता है* ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब दो मन्त्रोंमें आश्वलायनके पाँचवें और छठे प्रश्नका उत्तर देते हुए जीवात्माके प्राण और इन्द्रियोंसहित एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेकी बात भी स्पष्ट करते हैं—

* एक शरीरसे निकलकर जब मुख्य प्राण उदानको साथ लेकर उसके द्वारा दूसरे शरीरमें जाता है, तब अपने अङ्गभूत समान आदि प्राणोंको तथा इन्द्रिय और मनको तो साथ ले ही जाता है, इन सबका स्वामी जीवात्मा भी उसीके साथ जाता है—यह बात यहाँ कहनी थी; इसीलिये पूर्वमन्त्रमें जीवात्माका स्थान हृदय बतलाया गया है।

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥

ह=यह निश्चय है कि; **आदित्यः वै**=सूर्य ही; **बाह्यः प्राणः**=बाह्य प्राण है; **एषः हि**=यही; **एनम् चाक्षुषम्**=इस नेत्रसम्बन्धी; **प्राणम्**=प्राणपर; **अनुगृह्णानः**=अनुग्रह करता हुआ; **उदयति**=उदित होता है; **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **या देवता**=जो (अपान वायुकी शक्तिरूप) देवता है; **सा एषा**=वही यह; **पुरुषस्य**=मनुष्यके; **अपानम्**=अपान वायुको; **अवष्टभ्य**=स्थिर किये; [**वर्तते**=रहता है;] **अन्तरा**=पृथ्वी और स्वर्गके बीच; **यत् आकाशः**=जो आकाश (अन्तरिक्षलोक) है; **सः समानः**=वह समान है; **वायुः व्यानः**=वायु ही व्यान है ॥ ८ ॥

व्याख्या—यह निश्चयपूर्वक समझना चाहिये कि सूर्य ही सबका बाह्य प्राण है । यह मुख्य प्राण सूर्यरूपसे उदय होकर इस शरीरके बाह्य अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको पुष्ट करता है और नेत्र-इन्द्रियरूप आध्यात्मिक शरीरपर अनुग्रह करता है—उसे देखनेकी शक्ति अर्थात् प्रकाश देता है । पृथ्वीमें जो देवता अर्थात् अपान वायुकी शक्ति है, वह इस मनुष्यके भीतर रहनेवाले अपान वायुको आश्रय देती है—टिकाये रखती है । यह अपान वायुकी शक्ति गुदा और उपस्थ इन्द्रियोंकी सहायक है तथा इनके बाहरी स्थूल आकारको धारण करती है । पृथ्वी और स्वर्गलोकके बीचका जो आकाश है, वही समान वायुका बाह्य स्वरूप है । वह इस शरीरके बाहरी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको अवकाश देकर इसकी रक्षा करता है और शरीरके भीतर रहनेवाले समान वायुको विचरनेके लिये शरीरमें अवकाश देता है; इसीकी सहायतासे श्रोत्र-इन्द्रिय शब्द सुन सकती है । आकाशमें विचरनेवाला प्रत्यक्ष वायु ही व्यानका बाह्य स्वरूप है, यह इस शरीरके बाहरी अङ्ग-प्रत्यङ्गको चेष्टाशील करता है और शान्ति प्रदान करता है; भीतरी व्यान वायुको नाड़ियोंमें संचारित करने तथा त्वचा-इन्द्रियको स्पर्शका ज्ञान करानेमें भी यह सहायक है ॥८॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥ ९ ॥

ह तेजः वै=प्रसिद्ध तेज (गर्मी) ही; **उदानः**=उदान है; **तस्मात्**=इसीलिये; **उपशान्ततेजाः**=जिसके शरीरका तेज शान्त हो जाता है, वह (जीवात्मा); **मनसि**=मनमें; **सम्पद्यमानैः**=विलीन हुई; **इन्द्रियैः**=इन्द्रियोंके साथ; **पुनर्भवम्**=पुनर्जन्मको (प्राप्त होता है) ॥ ९ ॥

व्याख्या—सूर्य और अग्निका जो बाहरी तेज अर्थात् उष्णत्व है, वही उदानका बाह्य स्वरूप है । वह शरीरके बाहरी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको ठंडा नहीं होने देता और शरीरके भीतरकी ऊष्माको भी स्थिर रखता है । जिसके शरीरसे उदान वायु निकल जाता है, उसका शरीर गरम नहीं रहता । अतः शरीरकी गर्मी शान्त हो जाते ही उसमें रहनेवाला जीवात्मा मनमें विलीन हुई इन्द्रियोंको साथ लेकर उदान वायुके साथ-साथ दूसरे शरीरमें चला जाता है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—अब आश्वलायनके चौथे प्रश्नमें आयी हुई एक शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरमें या लोकोंमें प्रवेश करनेकी बातका पुनः स्पष्टीकरण किया जाता है—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥ १० ॥

एषः=यह (जीवात्मा); **यच्चित्तः**=जिस सङ्कल्पवाला होता है; **तेन**=उस सङ्कल्पके साथ; **प्राणम्**=मुख्य प्राणमें; **आयाति**=स्थित हो जाता है; **प्राणः**=मुख्य प्राण; **तेजसा युक्तः**=तेज (उदान) से युक्त हो; **आत्मना सह**=मन, इन्द्रियोंसे युक्त (जीवात्माको); **यथासंकल्पितम्**=उसके संकल्पानुसार; **लोकम्**=भिन्न-भिन्न लोक अथवा योनिको; **नयति**=ले जाता है ॥ १० ॥

व्याख्या—मरते समय इस आत्माका जैसा संकल्प होता है, इसका मन अन्तिम क्षणमें जिस भावका चिन्तन करता है (गीता ८ । ६), उस सङ्कल्पके सहित मन, इन्द्रियोंको साथ लिये हुए यह मुख्य प्राणमें स्थित हो जाता है । वह मुख्य प्राण उदान वायुसे मिलकर मन और इन्द्रियोंके सहित जीवात्माको उस अन्तिम संकल्पके अनुसार यथायोग्य भिन्न-भिन्न लोक अथवा योनिमें ले जाता है । अतः मनुष्यको उचित है कि अपने मनमें निरन्तर एक भगवान्का ही चिन्तन रक्खे, दूसरा

संकल्प न आने दे । क्योंकि जीवन अल्प और अनित्य है; न जाने कब अचानक इस शरीरका अन्त हो जाय । यदि उस समय भगवान्‌का चिन्तन न होकर कोई दूसरा सङ्कल्प आ गया तो सदाकी भाँति पुनः चौरासी लाख योनियोंमें भटकना पड़ेगा ॥ १० ॥

सम्बन्ध—अब प्राणविषयक ज्ञानका सांसारिक और पारलौकिक फल बतलाते हैं—

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ११ ॥

यः विद्वान्=जो कोई विद्वान्; **एवम् प्राणम्**=इस प्रकार प्राण (के रहस्य) को; **वेद**=जानता है; **अस्य**=उसकी; **प्रजा**=सन्तानपरम्परा; **न ह हीयते**=कदापि नष्ट नहीं होती; **अमृतः**=(वह) अमर; **भवति**=हो जाता है; **तत् एषः**=इस विषयका यह (अगला); **श्लोकः**=श्लोक (है) ॥ ११ ॥

व्याख्या—जो कोई विद्वान् इस प्रकार इस प्राणके रहस्यको समझ लेता है, प्राणके महत्त्वको समझकर हर प्रकारसे उसे सुरक्षित रखता है, उसकी अवहेलना नहीं करता, उसकी सन्तानपरम्परा कभी नष्ट नहीं होती; क्योंकि उसका वीर्य अमोघ और अद्भुत शक्तिसम्पन्न हो जाता है । और वह यदि उसके आध्यात्मिक रहस्यको समझकर अपने जीवनको सार्थक बना लेता है, एक क्षण भी भगवान्‌के चिन्तनसे शून्य नहीं रहने देता, तो सदाके लिये अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो जाता है । इस विषयपर निम्नलिखित ऋचा है ॥ ११ ॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा ।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥ १२ ॥

प्राणस्य=प्राणकी; **उत्पत्तिम्**=उत्पत्ति; **आयतिम्**=आगम; **स्थानम्**=स्थान; **विभुत्वम् एव**=और व्यापकताको भी; **च**=तथा; **(बाह्यम्) एव अध्यात्मम् पञ्चधा च**=बाह्य एवं आध्यात्मिक पाँच भेदोंको भी; **विज्ञाय**=भलीभाँति जानकर; **अमृतम् अश्नुते**=(मनुष्य) अमृतका अनुभव करता है; **विज्ञाय अमृतम् अश्नुते इति**=जानकर अमृतका अनुभव करता है(यह पुनरुक्ति प्रश्नकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है) ॥ १२ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त विवेचनके अनुसार जो मनुष्य प्राणकी उत्पत्तिको अर्थात् यह जिससे और जिस प्रकार उत्पन्न होता है—इस रहस्यको जानता है, शरीरमें उसके प्रवेश करनेकी प्रक्रियाका तथा इसकी व्यापकताका ज्ञान रखता है तथा जो प्राणकी स्थितिको अर्थात् बाहर और भीतर—कहाँ-कहाँ वह रहता है, इस रहस्यको तथा इसके बाहरी और भीतरी अर्थात् आधिभौतिक और आध्यात्मिक पाँचों भेदोंके रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, वह अमृतस्वरूप परमानन्दमय परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है तथा उस आनन्दमयके संयोग-सुखका निरन्तर अनुभव करता है ॥ १२ ॥

॥ तृतीय प्रश्न समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ प्रश्न

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिञ्जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥

अथ=तदनन्तर; **ह एनम्**=इन प्रसिद्ध महात्मा (पिप्पलाद मुनि)से; **गार्ग्यः**=गर्ग गोत्रमें उत्पन्न; **सौर्यायणी पप्रच्छ**=सौर्यायणी ऋषिने पूछा; **भगवन्**=भगवन्; **एतस्मिन् पुरुषे**=इस] मनुष्य-शरीरमें; **कानि स्वपन्ति**=कौन-कौन सोते हैं; **अस्मिन् कानि**=इसमें कौन-कौन; **जाग्रति**=जागते रहते हैं; **एषः कतरः देवः**=यह कौन देवता; **स्वप्नान् पश्यति**=स्वप्नोंको देखता है; **एतत् सुखम्**=यह सुख; **कस्य भवति**=किसको होता है; **सर्वे**=(और) ये सब-के-सब; **कस्मिन्**=किसमें; **नु**=निश्चितरूपसे; **सम्प्रतिष्ठिताः**=सम्पूर्णतया स्थित; **भवन्ति इति**=रहते हैं, यह (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—यहाँ गार्ग्य मुनिने महात्मा पिप्पलादसे पाँच बातें पूछी हैं—(१) गाढ़ निद्राके समय इस मनुष्य-शरीरमें रहनेवाले पूर्वोक्त देवताओंमेंसे कौन-कौन सोते हैं ? (२) कौन-कौन जागते रहते हैं ? (३) स्वप्न-अवस्थामें इनमेंसे कौन देवता स्वप्नकी घटनाओंको देखता रहता है ? (४) निद्रा-अवस्थामें सुखका अनुभव किसको होता है ? और (५) ये सब-के-सब देवता सर्वभावसे किसमें स्थित हैं अर्थात् किसके आश्रित हैं ? इस प्रकार इस प्रश्नमें गार्ग्य मुनिने जीवात्मा और परमात्माका पूरा-पूरा तत्त्व पूछ लिया ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥ २ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उससे उन सुप्रसिद्ध महर्षिने कहा; **गार्ग्य यथा**=हे गार्ग्य ! जिस प्रकार; **अस्तम् गच्छतः**=अस्त होते हुए; **अर्कस्य मरीचयः**=सूर्यकी किरणें; **एतस्मिन् तेजोमण्डले**=इस तेजोमण्डलमें; **सर्वाः एकीभवन्ति**=सब-की-सब एक हो जाती हैं (फिर); **उदयतः ताः**=उदय होनेपर वे (सब); **पुनः पुनः**=पुनः-पुनः; **प्रचरन्ति**=सब ओर फैलती रहती हैं; **ह एवम् वै**=ठीक ऐसे ही (निद्राके समय); **तत् सर्वम्**=वे सब इन्द्रियाँ (भी); **परे देवे मनसि**=परम देव मनमें; **एकीभवति**=एक हो जाती हैं; **तेन तर्हि एषः पुरुषः**=इस कारण उस समय यह जीवात्मा; **न शृणोति**=न (तो) सुनता है; **न पश्यति**=न देखता है; **न जिघ्रति**=न सूँघता है; **न रसयते**=न स्वाद लेता है; **न स्पृशते**=न स्पर्श करता है; **न अभिवदते**=न बोलता है; **न आदत्ते न आनन्दयते**=न ग्रहण करता है, न मैथुनका आनन्द भोगता है; **न विसृजते न इयायते**=न मल-मूत्रका त्याग करता है और न चलता ही है; **स्वपिति इति आचक्षते**= उस समय 'वह सो रहा है' यों (लोग) कहते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें महात्मा पिप्पलाद ऋषिने गार्ग्यके पहले प्रश्नका इस प्रकार उत्तर दिया है—'गार्ग्य ! जब सूर्य अस्त होता है, उस समय उसकी सब ओर फैली हुई सम्पूर्ण किरणें जिस प्रकार उस तेजःपुञ्जमें मिलकर एक हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार गाढ़ निद्राके समय तुम्हारे पूछे हुए सब देवता अर्थात् सब-की-सब इन्द्रियाँ उन सबसे श्रेष्ठ जो मनरूप देव है, उसमें विलीन होकर तद्रूप हो जाती हैं। इसलिये उस समय यह जीवात्मा न तो सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न चलता है, न मल-मूत्रका त्याग करता है और न मैथुनका सुख ही भोगता है । भाव यह है कि उस समय दसों इन्द्रियोंका कार्य सर्वथा बंद रहता है । केवल लोग कहते हैं कि इस समय यह पुरुष सो रहा है ।* उसके जागनेपर पुनः वे सब इन्द्रियाँ मनसे पृथक् होकर अपना-अपना कार्य करने लगती हैं—ठीक वैसे ही, जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर उसकी किरणें पुनः सब ओर फैल जाती हैं ॥ २ ॥

सम्बन्ध—अब गार्ग्यके प्रश्नका संक्षेपमें उत्तर देकर दो मन्त्रोंद्वारा यह भी बतलाते हैं कि सब इन्द्रियोंके लय होनेपर मनकी कैसी स्थिति रहती है—

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात् प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३ ॥

एतस्मिन् पुरे=इस शरीररूप नगरमें; **प्राणाग्नयः एव**=पाँच प्राणरूप अग्नियाँ ही; **जाग्रति**=जागती रहती हैं; **ह**

* यहाँ सुषुप्तिकालमें मनका व्यापार चालू रहता है या नहीं, इस विषयमें कुछ नहीं कहा । सब इन्द्रियोंका मनमें विलीन हो जाना तो बताया गया, किंतु मन भी किसीमें विलीन हो जाता है—यह बात नहीं कही गयी । महर्षि पतञ्जलि भी निद्राको चित्तकी एक वृत्ति मानते हैं (पा० यो०) । इससे तो यह जान पड़ता है कि मन विलीन नहीं होता । परंतु अगले मन्त्रमें पञ्चवृत्त्यात्मक प्राणको ही जागनेवाला बताया गया है, मनको नहीं; अतः मनका लय होता है या नहीं—यह बात स्पष्ट नहीं होती । पुनः चतुर्थ मन्त्रमें मनको यजमान बताकर उसके ब्रह्मलोकमें जानेकी बात कही गयी है । इससे यह कहा जा सकता है कि मनका भी लय हो जाता है ।

एषः अपानः वै=यह प्रसिद्ध अपान ही; **गार्हपत्यः**=गार्हपत्य अग्नि है; **व्यानः**=व्यान; **अन्वाहार्यपचनः**=अन्वाहार्य पचन-नामक अग्नि (दक्षिणाग्नि) है; **गार्हपत्यात् यत् प्रणीयते**=गार्हपत्य अग्निसे जो उठाकर ले जायी जाती है (वह); **आहवनीयः**=आहवनीय अग्नि; **प्रणयनात्**=प्रणयन (उठाकर ले जाये जाने) के कारण ही; **प्राणः**=प्राणरूप है ॥ ३ ॥

व्याख्या—उस समय इस मनुष्य-शरीररूप नगरमें पाँच प्राणरूप अग्नियाँ ही जागती रहती हैं। यह गार्ग्यद्वारा पूछे हुए दूसरे प्रश्नका संक्षेपमें उत्तर है। यहाँ निद्राको यज्ञका रूप देनेके लिये पाँचों प्राणोंको अग्निरूप बतलाया है। यज्ञमें अग्निकी प्रधानता होती है, इसलिये यहाँ संक्षेपतः प्राणमात्रको अग्निके नामसे कह दिया। परंतु आगे इस यज्ञके रूपकमें किस प्राणवृत्तिकी किसके स्थानमें कल्पना करनी चाहिये, इसका स्पष्टीकरण करते हैं। कहना यह है कि शरीरमें जो प्राणकी अपान-वृत्ति है, यही मानो उस यज्ञकी 'गार्हपत्य' अग्नि है; 'व्यान' दक्षिणाग्नि है; गार्हपत्य अग्निरूप व्यानसे प्राण उठते हैं, इस कारण मुख्य प्राण ही इस यज्ञकी कल्पनामें आहवनीय अग्नि है। क्योंकि यज्ञमें आहवनीय अग्नि गार्हपत्यसे उठाकर लायी जाती है। पहले तीसरे प्रश्नके प्रसङ्गमें भी प्राणको 'अन्नरूप आहुति जिसमें हवन की जाती है' इस व्युत्पत्तिद्वारा आहवनीय अग्नि ही बताया है (३ । ५) ॥ ३ ॥

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः । मनो ह वाव यजमानः इष्टफलमेवो-दानः । स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥

यत् उच्छ्वासनिःश्वासौ=जो ऊर्ध्वश्वास और अधःश्वास हैं; **एतौ**=ये दोनों (मानो); **आहुती**=(अग्निहोत्रकी) दो आहुतियाँ हैं; [**एतौ यः**=इनको जो;] **समम्**=समभावसे (सब ओर); **नयति इति सः समानः**=पहुँचाता है और इसीलिये जो 'समान' कहलाता है, वही; [**होता**=हवन करनेवाला ऋत्विक् है;] **ह मनः वाव**=यह प्रसिद्ध मन ही; **यजमानः**=यजमान है; **इष्टफलम् एव**=अभीष्ट फल ही; **उदानः**=उदान है; **सः एनम्**=वह (उदान) ही इस; **यजमानम् अहः अहः**=मनरूप यजमानको प्रतिदिन (निद्राके समय); **ब्रह्म गमयति**=ब्रह्मलोकमें भेजता है अर्थात् हृदय-गुहामें ले जाता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—यह जो मुख्य प्राणका श्वास-प्रश्वासके रूपमें शरीरके बाहर निकलना और भीतर लौट जाना है, वही मानो इस यज्ञमें आहुतियाँ पड़ती हैं; इन आहुतियोंद्वारा जो शरीरके पोषक तत्त्व शरीरमें प्रवेश कराये जाते हैं, वे ही हवि हैं। उस हविको समस्त शरीरमें आवश्यकतानुसार समभावसे पहुँचानेका कार्य समान वायुका है; इसलिये उसे समान कहते हैं। वही इस रूपकमें मानो 'होता' अर्थात् हवन करनेवाला ऋत्विक् है। अग्निरूप होनेपर भी आहुतियोंको पहुँचानेका कार्य करनेके कारण इसे 'होता' कहा गया है। पहले बताया हुआ मन ही मानो यजमान है, और उदान वायु ही मानो उस यजमानका अभीष्ट फल है; क्योंकि जिस प्रकार अग्निहोत्र करनेवाले यजमानको उसका अभीष्ट फल उसे अपनी ओर आकर्षित करके कर्मफल भुगतानेके लिये कर्मानुसार स्वर्गादि लोकोंमें ले जाता है, उसी प्रकार यह उदान वायु मनको प्रतिदिन निद्राके समय उसके कर्मफलके भोगस्वरूप ब्रह्मलोकमें—परमात्माके निवासस्थानरूप हृदयगुहामें ले जाता है। वहाँ इस मनके द्वारा जीवात्मा निद्राजनित विश्रामरूप सुखका अनुभव करता है; क्योंकि जीवात्माका निवासस्थान भी वही है। यह बात छठे मन्त्रमें कही है। यहाँ 'ब्रह्म गमयति' से यह बात नहीं समझनी चाहिये कि निद्राजनित सुख ब्रह्मप्राप्तिके सुखकी किसी भी अंशमें समानता कर सकता है; क्योंकि यह तो तामस सुख है और परब्रह्म परमेश्वरकी प्राप्तिका सुख तीनों गुणोंसे अतीत है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं—

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति । देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ ५ ॥

अत्र स्वप्ने=इस स्वप्न-अवस्थामें; **एषः देवः**=यह देव (जीवात्मा); **महिमानम्**=अपनी विभूतिका; **अनुभवति**=

अनुभव करता है; **यत् दृष्टम् दृष्टम्**=जो बार-बार देखा हुआ है; **अनुपश्यति**=उसीको बार-बार देखता है; **श्रुतम् श्रुतम् एव अर्थम् अनुशृणोति**=बार-बार सुनी हुई बातोंको ही पुनः-पुनः सुनता है; **देशदिगन्तरैः च**=नाना देश और दिशाओंमें; **प्रत्यनुभूतम्**=बार-बार अनुभव किये हुए विषयोंको; **पुनः पुनः**=पुनः-पुनः; **प्रत्यनुभवति**=अनुभव करता है (इतना ही नहीं); **दृष्टम् च अदृष्टम् च**=देखे हुए और न देखे हुएको भी; **श्रुतम् च अश्रुतम् च**=सुने हुए और न सुने हुएको भी; **अनुभूतम् च**=अनुभव किये हुए और; **अननुभूतम् च**=अनुभव न किये हुएको भी; **सत् च असत् च**=विद्यमान और अविद्यमानको भी (इस प्रकार); **सर्वम् पश्यति**=सारी घटनाओंको देखता है; (तथा) **सर्वः (सन्)**= स्वयं सब कुछ बनकर; **पश्यति**=देखता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—गार्ग्य मुनिने जो यह तीसरा प्रश्न किया था कि 'कौन देवता स्वप्नोंको देखता है ?' उसका उत्तर महर्षि पिप्पलाद इस प्रकार देते हैं। इस स्वप्न-अवस्थामें जीवात्मा ही मन और सूक्ष्म इन्द्रियोंद्वारा अपनी विभूतिका अनुभव करता है। इसका पहले जहाँ कहीं भी जो कुछ बार-बार देखा, सुना और अनुभव किया हुआ है, उसीको यह स्वप्नमें बार-बार देखता, सुनता और अनुभव करता रहता है। परंतु यह नियम नहीं है कि जाग्रत्-अवस्थामें इसने जिस प्रकार, जिस ढंगसे और जिस जगह जो घटना देखी, सुनी और अनुभव की है, उसी प्रकार यह स्वप्नमें भी अनुभव करता है। अपितु स्वप्नमें जाग्रत्की किसी घटनाका कोई अंश किसी दूसरी घटनाके किसी अंशके साथ मिलकर एक नये ही रूपमें इसके अनुभवमें आता है; अतः कहा जाता है कि स्वप्नकालमें यह देखे और न देखे हुएको भी देखता है, सुने और न सुने हुएको भी सुनता है, अनुभव किये हुए और अनुभव न किये हुएको भी अनुभव करता है। जो वस्तु वास्तवमें है उसे, और जो नहीं है उसे भी, स्वप्नमें देख लेता है। इस प्रकार स्वप्नमें यह विचित्र ढंगसे सब घटनाओंका बार-बार अनुभव करता रहता है, और स्वयं ही सब कुछ बनकर देखता है। उस समय जीवात्माके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं रहती ॥ ५ ॥

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति ॥६॥

सः यदा=वह (मन) जब; **तेजसा अभिभूतः**=तेज (उदान वायु)से अभिभूत; **भवति**=हो जाता है;* **अत्र एषः देवः**=इस स्थितिमें यह जीवात्मारूप देवता; **स्वप्नान्**=स्वप्नोंको; **न पश्यति**=नहीं देखता; **अथ**=तथा; **तदा**=उस समय; **एतस्मिन् शरीरे**=इस मनुष्य-शरीरमें (जीवात्माको); **एतत्**=इस; **सुखम्**=सुषुप्तिके सुखका अनुभव; **भवति**= होता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—गार्ग्य मुनिने चौथी बात यह पूछी थी कि 'निद्रामें सुखका अनुभव किसको होता है' ? उसका उत्तर महर्षि इस प्रकार देते हैं। जब निद्राके समय यह मन उदान वायुके अधीन हो जाता है, अर्थात् जब उदान वायु इस मनको जीवात्माके निवासस्थान हृदयमें पहुँचाकर मोहित कर देता है, उस निद्रा-अवस्थामें यह जीवात्मा मनके द्वारा स्वप्नकी घटनाओंको नहीं देखता। उस समय निद्राजनित सुखका अनुभव जीवात्माको ही होता है। इस शरीरमें सुख-दुःखोंको भोगनेवाला प्रत्येक अवस्थामें प्रकृतिस्थ पुरुष अर्थात् जीवात्मा ही है (गीता १३ । २१) ॥ ६ ॥

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥

सः=(पाँचवीं बात जो तुमने पूछी थी) वह (इस प्रकार समझनी चाहिये); **सोम्य**=हे प्रिय; **यथा**=जिस प्रकार; **वयांसि**=बहुत-से पक्षी (सायंकालमें); **वासोवृक्षम्**=अपने निवासरूप वृक्षपर (आकर); **संप्रतिष्ठन्ते**=आरामसे ठहरते हैं (बसेरा लेते हैं); **ह एवम् वै तत् सर्वम्**=ठीक वैसे ही, वे (आगे बताये जानेवाले पृथिवी आदि तत्त्वोंसे लेकर प्राणतक) सब-के-सब; **परे आत्मनि**=परमात्मामें; **संप्रतिष्ठते**=सुखपूर्वक आश्रय पाते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—गार्ग्य मुनिने जो यह पाँचवीं बात पूछी थी कि 'ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और प्राण—सब-के-सब किसमें

* पहले तीसरे प्रकरणमें (३ । ९-१०) बतला आये हैं कि उदान वायुका नाम तेज है। इस प्रकरणमें भी कहा गया है कि उदान वायु ही मनको ब्रह्मलोकमें अर्थात् हृदयमें ले जाता है, अतः यहाँ तेजसे अभिभूत होनेका अर्थ जीवका उदान वायुसे आक्रान्त हो जाना है—यह बात समझनी चाहिये।

स्थित हैं—किसके आश्रित हैं ?' उसका उत्तर महर्षि इस प्रकार देते हैं—'प्यारे गार्ग्य ! आकाशमें उड़नेवाले पक्षिगण जिस प्रकार सायंकालमें लौटकर अपने निवासभूत वृक्षपर आरामसे बसेरा लेते हैं, ठीक उसी प्रकार आगे बतलाये जानेवाले पृथ्वीसे लेकर प्राणतक जितने तत्त्व हैं, वे सब-के-सब परब्रह्म पुरुषोत्तममें, जो कि सबके आत्मा हैं, आश्रय लेते हैं; क्योंकि वही इन सबके परम आश्रय हैं ॥ ७ ॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पर्शयितव्यं च वाक्च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥

पृथिवी च=पृथिवी और; **पृथिवीमात्रा च**=उसकी तन्मात्रा (सूक्ष्म गन्ध) भी; **आपः च आपोमात्रा च**=जल और रसतन्मात्रा भी; **तेजः च तेजोमात्रा च**=तेज और रूप-तन्मात्रा भी; **वायुः च वायुमात्रा च**=वायु और स्पर्श-तन्मात्रा भी; **आकाशः च आकाशमात्रा च**=आकाश और शब्द-तन्मात्रा भी; **चक्षुः च द्रष्टव्यम् च**=नेत्र-इन्द्रिय और देखनेमें आनेवाली वस्तु भी; **श्रोत्रम् च श्रोतव्यम् च**=श्रोत्र-इन्द्रिय और सुननेमें आनेवाली वस्तु भी; **घ्राणम् च घ्रातव्यम् च**=घ्राणेन्द्रिय और सूँघनेमें आनेवाली वस्तु भी; **रसः च रसयितव्यम् च**=रसना-इन्द्रिय और रसनाके विषय भी; **त्वक् च स्पर्शयितव्यम् च**=त्वक्-इन्द्रिय और स्पर्शमें आनेवाली वस्तु भी; **वाक् च वक्तव्यम् च**=वाक्-इन्द्रिय और बोलनेमें आनेवाला शब्द भी; **हस्तौ च आदातव्यम् च**=दोनों हाथ और पकड़नेमें आनेवाली वस्तु भी; **उपस्थः च आनन्दयितव्यम् च**=उपस्थ-इन्द्रिय और उसका विषय भी; **पायुः च विसर्जयितव्यम् च**=गुदा-इन्द्रिय और उसके द्वारा परित्यागयोग्य वस्तु भी; **पादौ च गन्तव्यम् च**=दोनों चरण और गन्तव्य स्थान भी; **मनः च मन्तव्यम् च**=मन और मननमें आनेवाली वस्तु भी; **बुद्धिः च बोद्धव्यम् च**=बुद्धि और जाननेमें आनेवाली वस्तु भी; **अहंकारः च अहंकर्तव्यम् च**=अहंकार और उसका विषय भी; **चित्तं च चेतयितव्यम् च**=चित्त और चिन्तनमें आनेवाली वस्तु भी; **तेजः च विद्योतयितव्यम् च**=प्रभाव और उसका विषय भी; **प्राणः च विधारयितव्यम् च**=प्राण और प्राणके द्वारा धारण किये जानेवाले पदार्थ भी (ये सब-के-सब परमात्माके आश्रित हैं) ॥ ८ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें यह बात कही गयी है कि स्थूल और सूक्ष्म पाँचों महाभूत, दसों इन्द्रियाँ और उनके विषय, चारों प्रकारके अन्तःकरण और उनके विषय तथा पाँच भेदोंवाला प्राण-वायु—सब-के-सब परमात्माके ही आश्रित हैं। कहना यह है कि स्थूल पृथ्वी और उसका कारण गन्ध-तन्मात्रा, स्थूल जल-तत्त्व और उसका कारण रस-तन्मात्रा, स्थूल तेज-तत्त्व और उसका कारण रूप-तन्मात्रा, स्थूल वायु-तत्त्व और उसका कारण स्पर्श-तन्मात्रा, स्थूल आकाश और उसका कारण शब्द-तन्मात्रा—इस प्रकार अपने कारणोंसहित पाँचों भूत तथा नेत्र-इन्द्रिय और उसके द्वारा देखनेमें आनेवाली वस्तुएँ, श्रोत्र-इन्द्रिय और उसके द्वारा जो कुछ सुना जा सकता है वह सब, घ्राणेन्द्रिय और उसके द्वारा सूँघनेमें आनेवाले पदार्थ, रसना-इन्द्रिय और उसके द्वारा आस्वादनमें आनेवाले खट्टे-मीठे आदि सब प्रकारके रस, त्वचा-इन्द्रिय और उसके द्वारा स्पर्श करनेमें आनेवाले सब पदार्थ, वाक्-इन्द्रिय और उसके द्वारा बोले जानेवाले शब्द, दोनों हाथ और उनके द्वारा पकड़नेमें आनेवाली सब वस्तुएँ, दोनों पैर और उनके गन्तव्य स्थान, उपस्थ-इन्द्रिय और मैथुनका सुख, गुदा-इन्द्रिय और उसके द्वारा त्यागा जानेवाला मल, मन और उसके द्वारा मनन करनेमें आनेवाले सब पदार्थ, बुद्धि और उसके द्वारा जाननेमें आनेवाले सब पदा ै, अहंकार और उसके विषय, चित्त और चित्तके द्वारा चिन्तनमें आनेवाले पदार्थ, प्रभाव और प्रभावसे प्रभावित होनेवाले, पाँच वृत्तिवाला प्राण और उसके द्वारा जीवन देकर धारण किये जानेवाले सब शरीर—ये सब-के-सब इनके कारणभूत परमेश्वरके ही आश्रित हैं ॥ ८ ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

एषः=यह जो; **द्रष्टा स्प्रष्टा**=देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला; **श्रोता घ्राता**=सुननेवाला, सूँघनेवाला; **रसयिता मन्ता**=स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला; **बोद्धा कर्ता**=जाननेवाला तथा कर्म करनेवाला; **विज्ञानात्मा**=विज्ञानस्वरूप; **पुरुषः**=पुरुष (जीवात्मा) है; **सः हि**=वह भी; **अक्षरे**=अविनाशी; **परे आत्मनि**=परमात्मामें; **संप्रतिष्ठते**=भलीभाँति स्थित है ॥ ९ ॥

व्याख्या—देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनके द्वारा समस्त कर्म करनेवाला जो यह विज्ञानस्वरूप पुरुष—जीवात्मा है, यह भी उन परम अविनाशी सबके आत्मा परब्रह्म पुरुषोत्तममें ही स्थिति पाता है। उन्हें प्राप्त कर लेनेपर ही इसे वास्तविक शान्ति मिलती है; अतः इसके भी परम आश्रय वे परमेश्वर ही हैं ॥ ९ ॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति। तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

ह यः वै=निश्चय ही जो कोई भी; **तत् अच्छायम्**=उस छायारहित; **अशरीरम्**=शरीररहित; **अलोहितम्**=लाल, पीले आदि रंगोंसे रहित; **शुभ्रम् अक्षरम्**=विशुद्ध अविनाशी पुरुषको; **वेदयते**=जानता है; **सः**=वह; **परम् अक्षरम् एव**=परम अविनाशी परमात्माको ही; **प्रतिपद्यते**=प्राप्त हो जाता है; **सोम्य**=हे प्रिय! **यः तु (एवम्)**=जो कोई ऐसा है; **सः सर्वज्ञः**=वह सर्वज्ञ (और); **सर्वः भवति**=सर्वरूप हो जाता है; **तत् एषः**=उस विषयमें यह (अगला); **श्लोकः**=श्लोक (है) ॥ १० ॥

व्याख्या—यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जो कोई भी मनुष्य उन छायारहित, शरीररहित, लाल-पीले आदि सब रंगोंसे रहित, विशुद्ध अविनाशी परमात्माको जान लेता है, वह परम अक्षर परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है—इसमें तनिक भी संशय नहीं है। हे सोम्य! जो कोई भी ऐसा है, अर्थात् जो भी उस परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है, वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है। इस विषयमें निम्नलिखित ऋचा है ॥ १० ॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥ ११ ॥

यत्र=जिसमें; **प्राणाः**=समस्त प्राण (और); **भूतानि च**=पाँचों भूत तथा; **सर्वैः देवैः सह**=सम्पूर्ण इन्द्रिय और अन्तःकरणके सहित; **विज्ञानात्मा**=विज्ञानस्वरूप आत्मा; **संप्रतिष्ठन्ति**=आश्रय लेते हैं; **सोम्य**=हे प्रिय! **तत् अक्षरम्**=उस अविनाशी परमात्माको; **यः तु वेदयते**=जो कोई जान लेता है, **सः सर्वज्ञः**=वह सर्वज्ञ है; **सर्वम् एव**=(वह) सर्वस्वरूप परमेश्वरमें; **आविवेश**=प्रविष्ट हो जाता है; **इति**=इस प्रकार (इस प्रश्नका उत्तर समाप्त हुआ) ॥ ११ ॥

व्याख्या—सबके परम कारण जिन परमेश्वरका समस्त प्राण और पाँचों महाभूत तथा समस्त इन्द्रियाँ और अन्तःकरणके सहित स्वयं विज्ञानस्वरूप जीवात्मा—ये सब आश्रय लेते हैं, उन परम अक्षर अविनाशी परमात्माको जो कोई जान लेता है, वह सर्वज्ञ है तथा सर्वरूप परमेश्वरमें प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार यह चतुर्थ प्रश्न समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

॥ चतुर्थ प्रश्न समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम प्रश्न

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥

अथ ह एनम्=उसके बाद इन ख्यातनामा महर्षि पिप्पलादसे; **शैब्यः सत्यकामः**=शिबिपुत्र सत्यकामने; **पप्रच्छ**=पूछा; **भगवन्**=भगवन्; **मनुष्येषु**=मनुष्योंमेंसे; **सः यः ह वै**=वह जो कोई भी; **प्रायणान्तम्**=मृत्युपर्यन्त; **तत् ओंकारम्**=

उस ओंकारका; **अभिध्यायीत**=भलीभाँति ध्यान करता है; **सः तेन**=वह उस उपासनाके बलसे; **कतमम्**=किस; **लोकम्**=लोकको; **वाव जयति**=निस्सन्देह जीत लेता है; **इति**=यह (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें सत्यकामने ओंकारकी उपासनाके विषयमें प्रश्न किया है। उसने यही जिज्ञासा की है कि जो मनुष्य आजीवन ओंकारकी भलीभाँति उपासना करता है, उसे उस उपासनाके द्वारा कौन-से लोककी प्राप्ति होती है, अर्थात् उसका क्या फल मिलता है ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उससे उन प्रसिद्ध महर्षिने कहा; **सत्यकाम**=हे सत्यकाम; **एतत् वै**=निश्चय ही यह; **यत् ओंकारः**=जो ओंकार है; **परम् ब्रह्म च अपरम् च**=(वही) परब्रह्म और अपर ब्रह्म भी है; **तस्मात्**=इसलिये; **विद्वान्**=इस प्रकारका ज्ञान रखनेवाला मनुष्य; **एतेन एव**=इस एक ही; **आयतनेन**=अवलम्बसे (अर्थात् प्रणवमात्रके चिन्तनसे); **एकतरम्**=अपर और परब्रह्ममेंसे किसी एकका; **अन्वेति**=(अपनी श्रद्धाके अनुसार) अनुसरण करता है ॥ २ ॥

व्याख्या—इसके उत्तरमें महर्षि पिप्पलाद 'ओम्' इस अक्षरकी उसके लक्ष्यभूत परब्रह्म पुरुषोत्तमके साथ एकता करते हुए कहते हैं—सत्यकाम ! यह जो 'ॐ' है, वह अपने लक्ष्यभूत परब्रह्म परमेश्वरसे भिन्न नहीं है। इसलिये यही परब्रह्म है और यही उन परब्रह्मसे प्रकट हुआ उनका विराट्-स्वरूप—अपर ब्रह्म भी है। केवल इसी एक ओंकारका जप, स्मरण और चिन्तन करके उसके द्वारा अपने इष्टको चाहनेवाला विज्ञानसम्पन्न मनुष्य उसे पा लेता है। भाव यह है कि जो मनुष्य परमेश्वरके विराट्-स्वरूप—इस जगत्के ऐश्वर्यमय किसी भी अङ्गको प्राप्त करनेकी इच्छासे ओंकारकी उपासना करता है, वह अपनी भावनाके अनुसार विराट्-स्वरूप परमेश्वरके किसी एक अङ्गको प्राप्त करता है और जो इसके अन्तर्यामी आत्मा पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तमको लक्ष्य बनाकर उनको पानेके लिये निष्कामभावसे इसकी उपासना करता है, वह परब्रह्म पुरुषोत्तमको पा लेता है। यही बात अगले मन्त्रोंमें भी स्पष्ट की गयी है ॥ २ ॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥

सः यदि=वह उपासक यदि; **एकमात्रम्**=एक मात्रासे युक्त ओंकारका; **अभिध्यायीत**=भलीभाँति ध्यान करे तो; **सः तेन एव**=वह उस उपासनासे ही; **संवेदितः**=अपने ध्येयकी ओर प्रेरित किया हुआ; **तूर्णम् एव**=शीघ्र ही; **जगत्याम्**=पृथ्वीमें; **अभिसंपद्यते**=उत्पन्न हो जाता है; **तम् ऋचः**=उसको ऋग्वेदकी ऋचाएँ; **मनुष्यलोकम्**=मनुष्य-शरीर; **उपनयन्ते**=प्राप्त करा देती हैं; **तत्र सः**=वहाँ वह उपासक; **तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नः**=तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न होकर; **महिमानम्**=महिमाका; **अनुभवति**=अनुभव करता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—ओंकारका चिन्तन करनेवाला मनुष्य यदि विराट् परमेश्वरके भूः, भुवः और स्वः—इन तीनों रूपोंमेंसे भूलोकके ऐश्वर्यमें आसक्त होकर उसकी प्राप्तिके लिये ओंकारकी उपासना करता है तो वह मरनेके बाद अपने प्रापणीय ऐश्वर्यकी ओर प्रेरित होकर तत्काल पृथ्वीलोकमें आ जाता है। ॐकारकी पहली मात्रा ऋग्वेदस्वरूपा है, उसका पृथ्वीलोकसे सम्बन्ध है; अतः उसके चिन्तनसे साधकको ऋग्वेदकी ऋचाएँ पुनः मनुष्य-शरीरमें प्रविष्ट करा देती हैं। वह उस नवीन मनुष्य-जन्ममें तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न उत्तम आचरणोंवाला श्रेष्ठ मनुष्य बनकर उपयुक्त ऐश्वर्यका उपभोग करता है। अर्थात् उसे नीची योनियोंमें नहीं भटकना पड़ता, वह मरनेके बाद मनुष्य होकर पुनः शुभ कर्म करनेमें समर्थ हो जाता है और वहाँ नाना प्रकारके सुखोंका उपभोग करता है ॥ ३ ॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥ ४ ॥

अथ यदि=परंतु यदि; **द्विमात्रेण**=दो मात्राओंसे युक्त (ओंकारका); [**अभिध्यायीत**=अच्छी प्रकार ध्यान

करता है तो (उससे);] **मनसि**=मनोमय चन्द्रलोकको; **संपद्यते**=प्राप्त होता है; **सः यजुर्भिः**=वह यजुर्वेदके मन्त्रोंद्वारा; **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षमें स्थित; **सोमलोकम्**=चन्द्रलोकको; **उन्नीयते**=ऊपरकी ओर ले जाया जाता है; **सः सोमलोके**=वह चन्द्रलोकमें; **विभूतिम्**=वहाँके ऐश्वर्यका; **अनुभूय**=अनुभव करके; **पुनः आवर्तते**=पुनः इस लोकमें लौट आता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—यदि साधक दो मात्रावाले ओंकारकी उपासना करता है, अर्थात् उस विराट्स्वरूप परमेश्वरकी भूः और भुवः—इन दो मात्राओंकी अर्थात् स्वर्गलोकतकके ऐश्वर्यकी अभिलाषासे उसीको लक्ष्य बनाकर ओंकारकी उपासना करता है तो वह मनोमय चन्द्रलोकको प्राप्त होता है; उसको यजुर्वेदके मन्त्र अन्तरिक्षमें ऊपरकी ओर चन्द्रलोकमें पहुँचा देते हैं। उस विनाशशील स्वर्गलोकमें नाना प्रकारके ऐश्वर्यका उपभोग करके अपनी उपासनाके पुण्यका क्षय हो जानेपर पुनः मृत्युलोकमें आ जाता है। वहाँ उसे अपने पूर्व-कर्मानुसार मनुष्य-शरीर या उससे कोई नीची योनि मिल जाती है ॥ ४ ॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥

पुनः यः=परंतु जो; **त्रिमात्रेण**=तीन मात्राओंवाले; **ओम् इति**='ओम्'रूप; **एतेन**=इस; **अक्षरेण एव**=अक्षरके द्वारा ही; **एतम् परम्**=इस परम; **पुरुषम्**=पुरुषका; **अभिध्यायीत**=निरन्तर ध्यान करता है; **सः तेजसि**=वह तेजोमय; **सूर्ये सम्पन्नः**=सूर्यलोकमें जाता है; (तथा) **यथा पादोदरः**=जिस प्रकार सर्प; **त्वचा विनिर्मुच्यते**=केंचुलीसे अलग हो जाता है; **एवम् ह वै**=ठीक उसी तरह; **सः पाप्मना**=वह पापोंसे; **विनिर्मुक्तः**=सर्वथा मुक्त हो जाता है; **सः**=(इसके बाद) वह; **सामभिः**=सामवेदकी श्रुतियोंद्वारा; **ब्रह्मलोकम् उन्नीयते**=ऊपर ब्रह्मलोकमें ले जाया जाता है; **सः एतस्मात्**=वह इस; **जीवघनात्**=जीवसमुदायरूप; **परात् परम्**=परतत्त्वसे अत्यन्त श्रेष्ठ; **पुरिशयम्**=अन्तर्यामी; **पुरुषम्**=परमपुरुष पुरुषोत्तमको; **ईक्षते**=साक्षात् कर लेता है; **तत् एतौ**=इस विषयमें ये (अगले); **श्लोकौ भवतः**=दो श्लोक (हैं) ॥ ५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें 'पुनः' शब्दके प्रयोगसे यह सूचित होता है कि उपर्युक्त कथनके अनुसार इस लोक और स्वर्गलोकतकके ऐश्वर्यकी अभिलाषासे अपर ब्रह्मको लक्ष्य बनाकर ओंकारकी उपासना करनेवाले साधकोंसे विलक्षण साधकका यहाँ वर्णन किया गया है। उपासनाका सर्वोत्तम प्रकार यही है—यह भाव प्रकट करनेके लिये ही इस मन्त्रमें 'यदि' पदका प्रयोग भी नहीं किया गया है; क्योंकि इसमें कोई विकल्प नहीं है। इस मन्त्रमें यह भी स्पष्टरूपसे बतला दिया गया है कि ओंकार उस परब्रह्मका नाम है, इसके द्वारा उस परब्रह्म परमेश्वरकी उपासना की जाती है। मन्त्रमें कहा गया है कि जो कोई साधक इन तीन मात्राओंवाले ओंकारस्वरूप अक्षरद्वारा परब्रह्म परमेश्वरकी उपासना करता है, वह जैसे सर्प केंचुलीसे अलग हो जाता है—उसी प्रकार सब प्रकारके कर्मबन्धनोंसे छूटकर सर्वथा निर्विकार हो जाता है। उसे सामवेदके मन्त्र तेजोमय सूर्यमण्डलमेंसे ले जाकर सर्वोपरि ब्रह्मलोकमें पहुँचा देते हैं। वहाँ वह जीव-समुदायरूप चेतनतत्त्वसे अत्यन्त श्रेष्ठ उन परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त हो जाता है, जो सम्पूर्ण जगत्को अपनी शक्तिके किसी एक अंशमें धारण किये हुए हैं और सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हैं। इसी विषयको स्पष्ट करनेवाले ये दो आगे कहे हुए श्लोक हैं ॥ ५ ॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥

तिस्रः मात्राः=ओंकारकी तीनों मात्राएँ ('अ', 'उ' तथा 'म'); **अन्योन्यसक्ताः**=एक दूसरीसे संयुक्त रहकर; **प्रयुक्ताः**=प्रयुक्त की गयी हों, **अनविप्रयुक्ताः**=या पृथक्-पृथक् एक-एक ध्येयके चिन्तनमें इनका प्रयोग किया जाय (दोनों प्रकारसे ही वे); **मृत्युमत्यः**=मृत्युयुक्त हैं; **बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु**=बाहर, भीतर और बीचकी; **क्रियासु**=क्रियाओंमें; **सम्यक्प्रयुक्तासु**=पूर्णतया इन मात्राओंका प्रयोग किये जानेपर; **ज्ञः न कम्पते**=उस परमेश्वरको जाननेवाला ज्ञानी विचलित नहीं होता ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें यह भाव दिखाया गया है कि ओंकारवाच्य परब्रह्म परमेश्वरका जो यह जगत्रूप विराट्स्वरूप

है अर्थात् जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आता है, यह उसका वास्तविक परम अविनाशी स्वरूप नहीं है, यह परिवर्तनशील है; अतः इसमें रहनेवाला जीव अमर नहीं होता। वह चाहे ऊँची-से-ऊँची योनिको प्राप्त कर ले, परंतु जन्म-मृत्युके चक्रसे नहीं छूटता। इसके एक अङ्ग पृथ्वीलोककी या पृथ्वी और अन्तरिक्ष इन दोनों लोकोंकी अथवा तीनों लोकोंको मिलाकर सम्पूर्ण जगत्‌की अभिलाषा रखते हुए जो उपासना करता है, जिसका इस जगत्‌के आत्मरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमकी ओर लक्ष्य नहीं है, वरं जो जगत्‌के बाह्य स्वरूपमें ही आसक्त हो रहा है, वह उन्हें नहीं पाता, अतः बार-बार जन्मता-मरता रहता है। उन्हें तो वही साधक पा सकता है, जो अपने शरीरके बाहर, भीतर और शरीरके मध्यस्थान—हृदयदेशमें एवं उसके द्वारा की जानेवाली बाहरी, भीतरी और बीचकी समस्त क्रियाओंमें सर्वत्र ओंकारके वाच्यार्थरूप एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तमको व्याप्त समझता है और ओंकारके द्वारा उनकी उपासना करता है—उन्हें पानेकी ही अभिलाषासे ओंकारका जप, स्मरण और चिन्तन करता है, वह ज्ञानी परमात्माको पाकर फिर कभी अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता ॥ ६ ॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥ ७ ॥

ऋग्भिः=(एक मात्राकी उपासनासे उपासक) ऋचाओंद्वारा; **एतम्**=इस मनुष्यलोकमें (पहुँचाया जाता है); **यजुर्भिः**=(दूसरा दो मात्राओंकी उपासना करनेवाला) यजुःश्रुतियोंद्वारा; **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षमें (चन्द्रलोकतक पहुँचाया जाता है); **सामभिः**=(पूर्णरूपसे ओंकारकी उपासना करनेवाला) सामश्रुतियोंद्वारा; **तत्**=उस ब्रह्मलोकमें (पहुँचाया जाता है); **यत्**=जिसको; **कवयः**=ज्ञानीजन; **वेदयन्ते**=जानते हैं; **विद्वान्**=विवेकशील साधक; **ओङ्कारेण एव**=केवल ओंकाररूप; **आयतनेन**=अवलम्बनके द्वारा ही; **तम्**=उस परब्रह्म पुरुषोत्तमको; **अन्वेति**=पा लेता है; **यत्**=जो; **तत्**=वह; **शान्तम्**=परम शान्त; **अजरम्**=जरारहित; **अमृतम्**=मृत्युरहित; **अभयम्**=भयरहित; **च**=और; **परम् इति**=सर्वश्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें तीसरे, चौथे और पाँचवें मन्त्रोंके भावका संक्षेपमें वर्णन करके ब्राह्मण-ग्रन्थके वाक्योंमें कही हुई बातका समर्थन किया गया है। भाव यह है कि एक मात्रा अर्थात् एक अङ्गको लक्ष्य बनाकर उपासना करनेवाले साधकको ऋग्वेदकी ऋचाएँ मनुष्यलोकमें पहुँचा देती हैं। दो मात्राकी उपासना करनेवालेको अर्थात् जगत्‌के ऊँचे-से-ऊँचे—स्वर्गीय ऐश्वर्यको लक्ष्य बनाकर ओंकारकी उपासना करनेवालेको यजुर्वेदके मन्त्र चन्द्रलोकमें ले जाते हैं और जो इन सबमें परिपूर्ण इनके आत्मरूप परमेश्वरकी ओंकारके द्वारा उपासना करता है, उसको सामवेदके मन्त्र उस ब्रह्मलोकमें पहुँचा देते हैं, जिसे ज्ञानीजन जानते हैं। सम्पूर्ण रहस्यको समझनेवाले बुद्धिमान् मनुष्य बाह्य जगत्‌में आसक्त न होकर ओंकारकी उपासनाद्वारा समस्त जगत्‌के आत्मरूप उन परब्रह्म परमात्माको पा लेते हैं, जो परम शान्त और सब प्रकारके विकारोंसे रहित हैं; जहाँ न बुढ़ापा है, न मृत्यु है; जो अजर, अमर, निर्भय, सर्वश्रेष्ठ एवं परम पुरुषोत्तम हैं ॥ ७ ॥

॥ पञ्चम प्रश्न समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ प्रश्न

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ—भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ। तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥ १ ॥

अथ=फिर; **ह एनम्**=इन प्रसिद्ध महात्मा (पिप्पलाद) से; **भारद्वाजः**=भरद्वाजपुत्र; **सुकेशा**=सुकेशाने; **पप्रच्छ**=पूछा—; **भगवन्**=भगवन्; **कौसल्यः**=कोसलदेशीय; **राजपुत्रः**=राजकुमार; **हिरण्यनाभः**=हिरण्यनाभने; **माम् उपेत्य**=मेरे पास आकर; **एतम् प्रश्नम्**=यह प्रश्न; **अपृच्छत**=पूछा; **भारद्वाज**=हे भारद्वाज! (क्या तुम); **षोडश-**

कलम्=सोलह कलाओंवाले; **पुरुषम्**=पुरुषको; **वेत्थ**=जानते हो; **तम् कुमारम्**=(तब) उस राजकुमारसे; **अहम्**=मैंने; **अब्रुवम्**=कहा—;**अहम्**=मैं; **इमम्**=इसे; **न वेद**=नहीं जानता; **यदि**=यदि; **अहम्**=मैं; **इमम् अवेदिषम्**=इसे जानता होता (तो); **ते**=तुझे; **कथम् न अवक्ष्यम् इति**=क्यों नहीं बताता; **एषः वै**=वह मनुष्य अवश्य; **समूलः**=मूलके सहित; **परिशुष्यति**=सर्वथा सूख जाता है (नष्ट हो जाता है); **यः**=जो; **अनृतम्**=झूठ; **अभिवदति**=बोलता है; **तस्मात्**=इसलिये (मैं); **अनृतम्**=झूठ; **वक्तुम्**=बोलनेमें; **न अर्हामि**=समर्थ नहीं हूँ; **सः**=वह राजकुमार (मेरा उत्तर सुनकर); **तूष्णीम्**=चुपचाप; **रथम्**=रथपर; **आरुह्य**=सवार होकर; **प्रवव्राज**=चला गया; **तम्**=उसीको; **त्वा पृच्छामि**=मैं आपसे पूछ रहा हूँ; **असौ**=वह (सोलह कलाओंवाला); **पुरुषः**=पुरुष; **क इति**=कहाँ है ? ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें सुकेशा ऋषिने अपनी अल्पज्ञता और सत्य-भाषणका महत्त्व प्रकट करते हुए सोलह कलाओं-वाले पुरुषके विषयमें प्रश्न किया है। वे बोले—"भगवन्! एक बार कोसलदेशका राजकुमार हिरण्यनाभ मेरे पास आया था। उसने मुझसे पूछा—'भारद्वाज! क्या तुम सोलह कलाओंवाले पुरुषके विषयमें जानते हो?' मैंने उससे स्पष्ट कह दिया—'भाई! मैं उसे नहीं जानता; जानता होता तो तुम्हें अवश्य बता देता। न बतानेका कोई कारण नहीं है। तुम अपने मनमें यह न समझना कि मैंने बहाना करके तुम्हारे प्रश्नको टाल दिया है, क्योंकि मैं झूठ नहीं बोलता। झूठ बोलनेवालेका मूलोच्छेद हो जाता है, वह इस लोकमें या परलोकमें कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं पा सकता।' मेरी इस बातको सुनकर राजकुमार चुपचाप रथपर सवार होकर जैसे आया था, वैसे ही लौट गया। अब मैं आपके द्वारा उसी सोलह कलाओंवाले पुरुषका तत्त्व जानना चाहता हूँ; कृपया आप मुझे बतलायें कि वह कहाँ है और उसका स्वरूप क्या है?" ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥ २ ॥

तस्मै=उससे; **सः ह**=वे सुप्रसिद्ध महर्षि; **उवाच**=बोले; **सोम्य**=हे प्रिय!; **इह**=यहाँ; **अन्तःशरीरे**=इस शरीरके भीतर; **एव**=ही; **सः**=वह; **पुरुषः**=पुरुष है; **यस्मिन्**=जिसमें; **एताः**=ये; **षोडश**=सोलह; **कलाः**=कलाएँ; **प्रभवन्ति इति**=प्रकट होती हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें उस सोलह कलाओंवाले पुरुषका संकेतमात्र किया गया है। महर्षि पिप्पलाद कहते हैं—'प्रिय सुकेशा! जिन परमेश्वरसे सोलह कलाओंका समुदाय सम्पूर्ण जगद्रूप उनका विराट् शरीर उत्पन्न हुआ है, वे ही पुरुष हैं, उनको खोजनेके लिये कहीं अन्यत्र नहीं जाना है, वे हमारे इस शरीरके भीतर ही विराजमान हैं।' भाव यह है कि जब मनुष्यके हृदयमें परमात्माको पानेके लिये उत्कट अभिलाषा जाग्रत् हो जाती है, तब वे उसे वहीं उसके हृदयमें ही मिल जाते हैं ॥ २ ॥

सम्बन्ध—उन परब्रह्म पुरुषोत्तमका तत्त्व समझानेके लिये संक्षेपसे सृष्टिक्रमका वर्णन करते हैं—

स ईक्षांचक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३ ॥

सः=उसने; **ईक्षांचक्रे**=विचार किया (कि); **कस्मिन्**=(शरीरसे) किसके; **उत्क्रान्ते**=निकल जानेपर; **अहम् उत्क्रान्तः**=मैं (भी) निकला हुआ (-सा); **भविष्यामि**=हो जाऊँगा; **वा**=तथा; **कस्मिन् प्रतिष्ठिते**=किसके स्थित रहनेपर; **प्रतिष्ठास्यामि इति**=मैं स्थित रहूँगा ॥ ३ ॥

व्याख्या—महासर्गके आदिमें जगत्की रचना करनेवाले परम पुरुष परमेश्वरने विचार किया कि 'मैं जिस ब्रह्माण्डकी रचना करना चाहता हूँ, उसमें एक ऐसा कौन-सा तत्त्व डाला जाय कि जिसके न रहनेपर मैं स्वयं भी उसमें न रह सकूँ अर्थात् मेरी सत्ता स्पष्टरूपसे व्यक्त न रहे और जिसके रहनेपर मेरी सत्ता स्पष्ट प्रतीत होती रहे' ॥ ३ ॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ॥ ४ ॥

सः=उसने; **प्राणम् असृजत**=(यह सोचकर सबसे पहले) प्राणकी रचना की; **प्राणात् श्रद्धाम्**=प्राणके बाद श्रद्धाको (उत्पन्न किया); **खम् वायुः ज्योतिः आपः पृथिवी**=(उसके बाद क्रमशः) आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी (ये पाँच महाभूत प्रकट हुए; फिर); **मनः इन्द्रियम्**=मन (अन्तःकरण) और इन्द्रियसमुदाय (की उत्पत्ति हुई); **अन्नम्**=(अनन्तर) अन्न हुआ; **अन्नात्**=अन्नसे; **वीर्यम्**=वीर्य (की रचना हुई, फिर); **तपः**=तप; **मन्त्राः**=नाना प्रकारके मन्त्र; **कर्म**=नाना प्रकारके कर्म; **च लोकाः**=और उनके फलरूप भिन्न-भिन्न लोकों (का निर्माण हुआ); **च**=और; **लोकेषु**=उन लोकोंमें; **नाम**=नाम (की रचना हुई) ॥ ४ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वरने सर्वप्रथम सबके प्राणरूप सर्वात्मा हिरण्यगर्भको बनाया। उसके बाद शुभकर्ममें प्रवृत्त करानेवाली श्रद्धा अर्थात् आस्तिक-बुद्धिको प्रकट करके फिर क्रमशः शरीरके उपादानभूत आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन पाँच महाभूतोंकी सृष्टि की। इन पाँच महाभूतोंका कार्य ही यह दृश्यमान सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। पाँच महाभूतोंके बाद परमेश्वरने मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—इन चारोंके समुदायरूप अन्तःकरणको रचा। फिर विषयोंके ज्ञान एवं कर्मके लिये पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियोंको उत्पन्न किया, फिर प्राणियोंके शरीरकी स्थितिके लिये अन्नकी और अन्नके परिपाकद्वारा बलकी सृष्टि की। उसके बाद अन्तःकरण और इन्द्रियोंके संयमरूप तपका प्रादुर्भाव किया। उपासनाके लिये भिन्न-भिन्न मन्त्रोंकी कल्पना की। अन्तःकरणके संयोगसे इन्द्रियोंद्वारा किये जानेवाले कर्मोंका निर्माण किया। उनके भिन्न-भिन्न फलरूप लोकोंको बनाया और उन सबके नाम-रूपोंकी रचना की। इस प्रकार सोलह कलाओंसे युक्त इस ब्रह्माण्डकी रचना करके जीवात्माके सहित परमेश्वर स्वयं इसमें प्रविष्ट हो गये; इसीलिये वे सोलह कलाओंवाले पुरुष कहलाते हैं। हमारा यह मनुष्य-शरीर भी ब्रह्माण्डका ही एक छोटा-सा नमूना है, अतः परमेश्वर जिस प्रकार इस सारे ब्रह्माण्डमें हैं, उसी प्रकार हमारे इस शरीरमें भी हैं और इस शरीरमें भी वे सोलह कलाएँ वर्तमान हैं। उन हृदयस्थ परमदेव पुरुषोत्तमको जान लेना ही उस सोलह कलावाले पुरुषको जान लेना है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—सर्गके आरम्भका वर्णन करके जिन परब्रह्मका लक्ष्य कराया गया, उन्हींका अब प्रलयके वर्णनसे लक्ष्य कराते हैं—

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ५ ॥

सः=वह (प्रलयका दृष्टान्त) इस प्रकार है; **यथा**=जिस प्रकार; **इमाः**=ये; **नद्यः**=नदियाँ; **समुद्रायणाः**=समुद्रकी ओर लक्ष्य करके जाती; **स्यन्दमानाः**=(और) बहती हुई; **समुद्रम्**=समुद्रको; **प्राप्य**=पाकर; **अस्तम् गच्छन्ति**=(उसीमें)विलीन हो जाती हैं; **तासाम् नामरूपे**=उनके नाम और रूप; **भिद्येते**=नष्ट हो जाते हैं; **समुद्रः इति एवम्**=(फिर) समुद्र इस एक नामसे ही; **प्रोच्यते**=पुकारी जाती हैं; **एवम् एव**=इसी प्रकार; **अस्य परिद्रष्टुः**=सब ओरसे पूर्णतया देखनेवाले इन परमेश्वरकी; **इमाः**=ये (ऊपर बतायी हुई); **षोडश कलाः**=सोलह कलाएँ; **पुरुषायणाः**=जिनका परमाधार और परमगति पुरुष है; **पुरुषम् प्राप्य**=(प्रलयकालमें) परम पुरुष परमात्माको पाकर; **अस्तम् गच्छन्ति**=(उन्हींमें) विलीन हो जाती हैं; **च**=तथा; **आसाम्**= इन सबके; **नामरूपे**=(पृथक्-पृथक्) नाम और रूप; **भिद्येते**=नष्ट हो जाते हैं; **पुरुषः इति एवम्**=फिर 'पुरुष' इस एक नामसे ही; **प्रोच्यते**=पुकारी जाती हैं; **सः**=वही; **एषः**=यह; **अकलः**=कलारहित (और); **अमृतः**=अमर परमात्मा; **भवति**=है; **तत्**=उसके विषयमें; **एषः**=यह (अगला); **श्लोकः**=श्लोक है ॥ ५ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंवाली ये बहुत-सी नदियाँ अपने उद्गमस्थान समुद्रकी ओर दौड़ती हुई समुद्रमें पहुँचकर उसीमें विलीन हो जाती हैं, उनका समुद्रसे पृथक कोई नाम-रूप नहीं रहता—वे समुद्र ही बन जाती हैं, उसी प्रकार सर्वसाक्षी सबके आत्मरूप परमात्मासे उत्पन्न हुई ये सोलह कलाएँ (अर्थात् यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड) प्रलयकालमें अपने परमाधार परम पुरुष परमेश्वरमें जाकर उसीमें विलीन हो जाती हैं। फिर इन सबके अलग-अलग नाम-रूप नहीं रहते।

एकमात्र परम पुरुष परमेश्वरके स्वरूपमें ये तदाकार हो जाती हैं। अतः उन्हींके नामसे, उन्हींके वर्णनसे इनका वर्णन होता है, अलग नहीं। उस समय परमात्मामें किसी प्रकारका संकल्प नहीं रहता। अतः वे सब कलाओंसे रहित, अमृतस्वरूप कहे जाते हैं। इस तत्त्वको समझनेवाला मनुष्य भी उन परब्रह्मको प्राप्त होकर अकल और अमर हो जाता है। इस विषयपर आगे कहा जानेवाला मन्त्र है ॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६ ॥

रथनाभौ=रथ-चक्रकी नाभिके आधारपर; **अराः इव**=जिस प्रकार अरे स्थित होते हैं (वैसे ही); **यस्मिन्**=जिसमें; **कलाः**=(ऊपर बतायी हुई सब) कलाएँ; **प्रतिष्ठिताः**=सर्वथा स्थित हैं; **तम् वेद्यम् पुरुषम्**=उस जानने-योग्य (सबके आधारभूत) परम पुरुष परमेश्वरको; **वेद**=जानना चाहिये; **यथा**=जिससे (हे शिष्यगण); **वः**=तुमलोगोंको; **मृत्युः**=मृत्यु; **मा परिव्यथाः इति**=दुःख न दे सके ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें सर्वाधार परमेश्वरको जाननेके लिये प्रेरणा करके उसका फल जन्म-मृत्युसे रहित हो जाना बताया गया है। महर्षि पिप्पलाद अपने शिष्योंसे कहते हैं—'जिस प्रकार रथके पहियेमें लगे रहनेवाले सब अरे उस पहियेके मध्यस्थ नाभिमें प्रविष्ट रहते हैं, उन सबका आधार नाभि है— नाभिके बिना वे टिक ही नहीं सकते, उसी प्रकार ऊपर बतायी हुई प्राण आदि सोलह कलाओंके जो आधार हैं, ये सब कलाएँ जिनके आश्रित हैं, जिनसे उत्पन्न होती हैं और जिनमें विलीन हो जाती हैं, वे ही जानने योग्य परब्रह्म परमेश्वर हैं। उन सर्वाधार परमात्माको जानना चाहिये। उन्हें जान लेनेके बाद तुम्हें मौतका डर नहीं रहेगा, फिर मृत्यु तुमको इस जन्म-मृत्युयुक्त संसारमें डालकर दुखी नहीं कर सकेगी। तुमलोग सदाके लिये अमर हो जाओगे' ॥ ६ ॥

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद । नातः परमस्तीति ॥ ७ ॥

ह=(तत्पश्चात्) उन प्रसिद्ध महर्षि पिप्पलादने; **तान् उवाच**=उन सबसे कहा; **एतत्**=इस; **परम् ब्रह्म**=परम ब्रह्मको; **अहम्**=मैं; **एतावत्**=इतना; **एव**=ही; **वेद**=जानता हूँ; **अतः परम्**=इससे पर (उत्कृष्ट तत्त्व); **न**=नहीं; **अस्ति इति**=है ॥७॥

व्याख्या—इतना उपदेश करनेके बाद महर्षि पिप्पलादने परम भाग्यवान् सुकेशा आदि छहों ऋषियोंको सम्बोधन करके कहा—'ऋषियो ! इन परब्रह्म परमेश्वरके विषयमें मैं इतना ही जानता हूँ। इनसे पर अर्थात् श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है।' मैंने तुमलोगोंसे उनके विषयमें जो कुछ कहना था, वह कह दिया ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अन्तमें कृतज्ञता प्रकट करते हुए वे शिष्यगण महर्षिको बारंबार प्रणाम करते हुए कहते हैं—

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ८ ॥

ते=उन छहों ऋषियोंने; **तम् अर्चयन्तः**=पिप्पलादकी पूजा की (और कहा); **त्वम्**=आप; **हि**=ही; **नः**=हमारे; **पिता**=पिता (हैं); **यः**=जिन्होंने; **अस्माकम्**=हमलोगोंको; **अविद्यायाः परम् पारम्**=अविद्याके दूसरे पार; **तारयसि इति**=पहुँचा दिया है; **नमः परमऋषिभ्यः**=आप परम ऋषिको नमस्कार है; **नमः परमऋषिभ्यः**=परम ऋषि-को नमस्कार है ॥ ८ ॥

व्याख्या—इस प्रकार आचार्य पिप्पलादसे ब्रह्मका उपदेश पाकर उन छहों ऋषियोंने पिप्पलादकी पूजा की और कहा—'भगवन् ! आप ही हमारे वास्तविक पिता हैं, जिन्होंने हमें इस संसार-समुद्रके पार पहुँचा दिया। ऐसे गुरुसे

पिप्पलादके आश्रममें सुकेशादि मुनि

अङ्गिरस और शौनक

बढ़कर दूसरा कोई हो ही कैसे सकता है। आप परम ऋषि हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है, नमस्कार है, बार-बार नमस्कार है। अन्तिम वाक्यकी पुनरावृत्ति ग्रन्थकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है॥ ८॥

॥ षष्ठ प्रश्न समाप्त ॥ ६ ॥

॥ अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ प्रश्नोपनिषद्के आरम्भमें दिया जा चुका है।
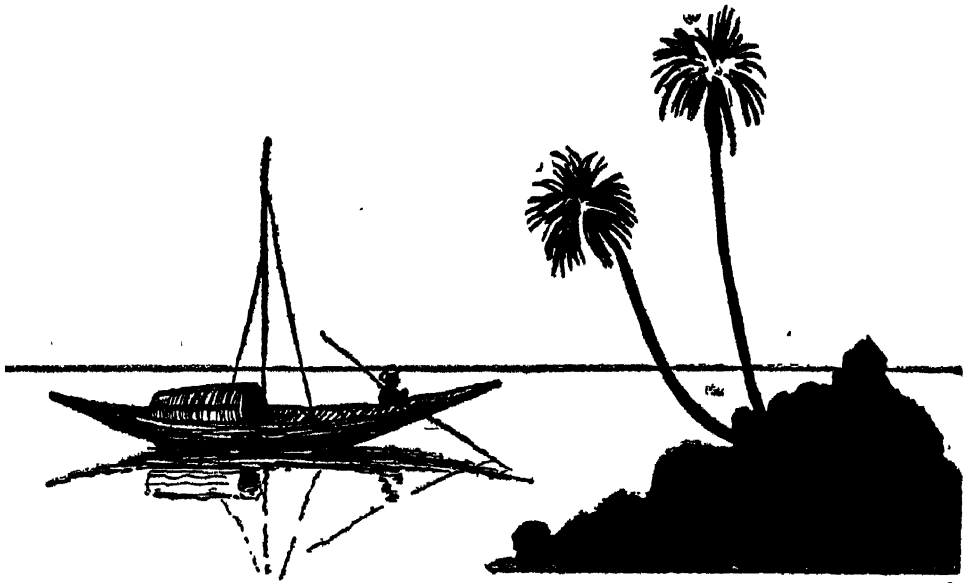
॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

मुण्डकोपनिषद्

यह उपनिषद् अथर्ववेदकी शौनकी शाखामें है ।

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ प्रश्नोपनिषद्में दिया जा चुका है ।

प्रथम मुण्डक

प्रथम खण्ड

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥

'ॐ' इस परमेश्वरके नामका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है। इसके द्वारा यहाँ यह सूचित किया गया है कि मनुष्यको प्रत्येक कार्यके आरम्भमें ईश्वरका स्मरण तथा उनके नामका उच्चारण अवश्य करना चाहिये ।

विश्वस्य कर्ता=सम्पूर्ण जगत्के रचयिता (और); **भुवनस्य गोप्ता**=सब लोकोंकी रक्षा करनेवाले; **ब्रह्मा**=(चतुर्मुख) ब्रह्माजी; **देवानाम्**=सब देवताओंमें; **प्रथमः**=पहले; **सम्बभूव**=प्रकट हुए; **सः**=उन्होंने; **ज्येष्ठपुत्राय अथर्वाय**=सबसे बड़े पुत्र अथर्वाको; **सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्**=समस्त विद्याओंकी आधारभूता; **ब्रह्मविद्याम् प्राह**=ब्रह्मविद्याका भलीभाँति उपदेश किया ॥ १ ॥

व्याख्या—सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरसे देवताओंमें सर्वप्रथम ब्रह्मा प्रकट हुए। फिर इन्होंने ही सब देवताओं, महर्षियों और मरीचि आदि प्रजापतियोंको उत्पन्न किया। साथ ही, समस्त लोकोंकी रचना भी की तथा उन सबकी रक्षाके सुदृढ़ नियम आदि बनाये। उनके सबसे बड़े पुत्र महर्षि अथर्वा थे; उन्हींको सबसे पहले ब्रह्माजीने ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था। जिस विद्यासे ब्रह्मके पर और अपर—दोनों स्वरूपोंका पूर्णतया ज्ञान हो, उसे ब्रह्मविद्या कहते हैं; यह सम्पूर्ण विद्याओंकी आश्रय है ॥ १ ॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

ब्रह्मा=ब्रह्माने; **याम्**=जिस विद्याका; **अथर्वणे**=अथर्वाको; **प्रवदेत**=उपदेश दिया था; **ताम् ब्रह्मविद्याम्**=वही ब्रह्मविद्या; **अथर्वा**=अथर्वाने; **पुरा**=पहले; **अङ्गिरे**=अङ्गी ऋषिसे; **उवाच**=कही; **सः**=उन अङ्गी ऋषिने; **भारद्वाजाय**=भरद्वाज-गोत्री; **सत्यवहाय**=सत्यवह नामक ऋषिको; **प्राह**=बतलायी; **भारद्वाजः**=भारद्वाजने; **परावराम्**=पहलेवालोंसे पीछेवालोंको प्राप्त हुई उस परम्परागत विद्याको; **अङ्गिरसे**=अङ्गिरा नामक ऋषिसे; [**प्राह**=कहा] ॥ २ ॥

व्याख्या—अथर्वा ऋषिको जो ब्रह्मविद्या ब्रह्मासे मिली थी, वही ब्रह्मविद्या उन्होंने अङ्गी ऋषिको बतलायी और अङ्गीने भरद्वाज-गोत्रमें उत्पन्न सत्यवह नामक ऋषिको कही। भारद्वाज ऋषिने परम्परासे चली आती हुई ब्रह्मके पर और अपर—दोनों स्वरूपोंका ज्ञान करानेवाली इस ब्रह्मविद्याका उपदेश अङ्गिरा नामक ऋषिको दिया ॥ २ ॥

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥

ह=विख्यात है (कि); **शौनकः वै**=शौनक नामसे प्रसिद्ध मुनिने; **महाशालः**=जो अति बृहत् विद्यालय (ऋषिकुल) के अधिष्ठाता थे; **विधिवत्**=शास्त्रविधिके अनुसार; **अङ्गिरसम् उपसन्नः**=महर्षि अङ्गिराकी शरण ली; (और उनसे) **पप्रच्छ**=(विनयपूर्वक) पूछा; **भगवः**=भगवन्; **नु**=निश्चयपूर्वक; **कस्मिन् विज्ञाते**=किसके जान लिये जानेपर; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सब कुछ; **विज्ञातम्**=जाना हुआ; **भवति**=हो जाता है; **इति**=यह (मेरा प्रश्न है) ॥ ३ ॥

व्याख्या—शौनक नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि थे, जो बड़े भारी विश्वविद्यालयके अधिष्ठाता थे; पुराणोंके अनुसार उनके ऋषिकुलमें अट्ठासी हजार ऋषि रहते थे। वे उपर्युक्त ब्रह्मविद्याको जाननेके लिये शास्त्रविधिके अनुसार हाथमें समिधा लेकर श्रद्धापूर्वक महर्षि अङ्गिराकी शरणमें आये। उन्होंने अत्यन्त विनयपूर्वक महर्षिसे पूछा—'भगवन्! जिसको भलीभाँति जान लेनेपर यह जो कुछ देखने, सुनने और अनुमान करनेमें आता है, सब-का-सब जान लिया जाता है, वह परम तत्त्व क्या है? कृपया बतलाइये कि उसे कैसे जाना जाय' ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ ४ ॥

तस्मै=उन शौनक मुनिसे; **सः ह**=वे विख्यात महर्षि अङ्गिरा; **उवाच**=बोले; **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मको जाननेवाले; **इति**=इस प्रकार; **ह**=निश्चयपूर्वक; **वदन्ति स्म यत्**=कहते आये हैं कि; **द्वे विद्ये**=दो विद्याएँ; **एव**=ही; **वेदितव्ये**=जानने योग्य हैं; **परा**=एक परा; **च**=और; **अपरा**=दूसरी अपरा; **च**=भी ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस प्रकार शौनकके पूछनेपर महर्षि अङ्गिरा बोले—'शौनक! ब्रह्मको जाननेवाले महर्षियोंका कहना है कि मनुष्यके लिये जाननेयोग्य दो विद्याएँ हैं—एक तो परा और दूसरी अपरा ॥ ४ ॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥

तत्र=उन दोनोंमेंसे; **ऋग्वेदः**=ऋग्वेद; **यजुर्वेदः**=यजुर्वेद; **सामवेदः**=सामवेद; (तथा) **अथर्ववेदः**=अथर्ववेद; **शिक्षा**=शिक्षा; **कल्पः**=कल्प; **व्याकरणम्**=व्याकरण; **निरुक्तम्**=निरुक्त; **छन्दः**=छन्द; **ज्योतिषम्**=ज्योतिष; **इति अपरा**=ये (सब तो) अपरा विद्या (के अन्तर्गत हैं); **अथ**=तथा; **यया**=जिससे; **तत्**=वह; **अक्षरम्**=अविनाशी परब्रह्म; **अधिगम्यते**=तत्त्वसे जाना जाता है; [**सा**=वह;] **परा**=परा विद्या (है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—उन दोनोंमेंसे जिसके द्वारा इस लोक और परलोकसम्बन्धी भोगों तथा उनकी प्राप्तिके साधनोंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जिसमें भोगोंकी स्थिति, भोगोंके उपभोग करनेके प्रकार, भोग-सामग्रीकी रचना और उनको उपलब्ध करनेके नाना साधन आदिका वर्णन है, वह तो अपरा विद्या है; जैसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चारों वेद। इनमें नाना प्रकारके यज्ञोंकी विधिका और उनके फलका विस्तारपूर्वक वर्णन है। जगत्‌के सभी पदार्थोंका एवं विषयोंका वेदोंमें भलीभाँति वर्णन किया गया है। यह अवश्य है कि इस समय वेदकी सब शाखाएँ उपलब्ध नहीं हैं और

उनमें वर्णित विविध विज्ञानसम्बन्धी बातोंको समझनेवाले भी नहीं हैं। वेदोंका पाठ अर्थात् यथार्थ उच्चारण करनेकी विधिका उपदेश 'शिक्षा' है। जिसमें यज्ञ-याग आदिकी विधि बतलायी गयी है, उसे 'कल्प' कहते हैं (गृह्यसूत्र आदिकी गणना कल्पमें ही है)। वैदिक और लौकिक शब्दोंके अनुशासनका—प्रकृति-प्रत्यय-विभागपूर्वक शब्द-साधनकी प्रक्रिया, शब्दार्थ-बोधके प्रकार एवं शब्दप्रयोग आदिके नियमोंके उपदेशका नाम 'व्याकरण' है। वैदिक शब्दोंका जो कोष है, जिसमें अमुक पद अमुक वस्तुका वाचक है—यह बात कारणसहित बतायी गयी है, उसको 'निरुक्त' कहते हैं। वैदिक छन्दोंकी जाति और भेद बतलानेवाली विद्या 'छन्द' कहलाती है। ग्रह और नक्षत्रोंकी स्थिति, गति और उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है—इन सब बातोंपर जिसमें विचार किया गया है, वह 'ज्यौतिष' विद्या है। इस प्रकार चार वेद और छः वेदाङ्ग—इन दसका नाम अपरा विद्या है; और जिसके द्वारा परब्रह्म अविनाशी परमात्माका तत्त्वज्ञान होता है, वह परा विद्या है। उसका वर्णन भी वेदोंमें ही है, अतः उतने अंशको छोड़कर अन्य सब वेद और वेदाङ्गोंको अपरा विद्याके अन्तर्गत समझना चाहिये ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—ऊपर बतलायी हुई परा विद्याके द्वारा जिसका ज्ञान होता है, वह अविनाशी ब्रह्म कैसा है—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥

तत्=वह; **यत्**=जो; **अद्रेश्यम्**=जाननेमें न आनेवाला; **अग्राह्यम्**=पकड़नेमें न आनेवाला; **अगोत्रम्**=गोत्र आदिसे रहित; **अवर्णम्**=रंग और आकृतिसे रहित; **अचक्षुःश्रोत्रम्**=नेत्र, कान आदि ज्ञानेन्द्रियोंसे रहित; (और) **अपाणिपादम्**=(और) हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियोंसे (भी) रहित है; [**तथा**=तथा;] **तत्**=वह; **यत्**= जो; **नित्यम्**=नित्य; **विभुम्**=सर्वव्यापी; **सर्वगतम्**=सबमें फैला हुआ; **सुसूक्ष्मम्**=अत्यन्त सूक्ष्म (और); **अव्ययम्**=अविनाशी परब्रह्म है; **तत्**=उस; **भूतयोनिम्**=समस्त प्राणियोंके परम कारणको; **धीराः**=ज्ञानीजन; **परिपश्यन्ति**=सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें परब्रह्म परमेश्वरके निराकार स्वरूपका वर्णन किया गया है। सारांश यह है कि वे परब्रह्म परमेश्वर ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा जाननेमें नहीं आते, न कर्मेन्द्रियोंद्वारा पकड़नेमें ही आते हैं। वे गोत्र आदि उपाधियोंसे रहित, तथा ब्राह्मण आदि वर्णगतभेदसे एवं रंग और आकृतिसे भी सर्वथा रहित हैं। वे नेत्र, कान आदि ज्ञानेन्द्रियोंसे और हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियोंसे भी रहित हैं। तथा वे अत्यन्त सूक्ष्म, व्यापक, अन्तरात्मारूपसे सबमें फैले हुए और कभी नाश न होनेवाले सर्वथा नित्य हैं। समस्त प्राणियोंके उन परम कारणको ज्ञानीजन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—वे जगदात्मा परमेश्वर समस्त भूतोंके परम कारण कैसे हैं, सम्पूर्ण जगत् उनसे किस प्रकार उत्पन्न होता है, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥

यथा=जिस प्रकार; **ऊर्णनाभिः**=मकड़ी; **सृजते**=(जालेको) बनाती है; **च**=और; **गृह्णते**=निगल जाती है (तथा); **यथा**=जिस प्रकार; **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **ओषधयः**=नाना प्रकारकी ओषधियाँ; **सम्भवन्ति**=उत्पन्न होती हैं (और); **यथा**=जिस प्रकार; **सतः पुरुषात्**=जीवित मनुष्यसे; **केशलोमानि**=केश और रोएँ (उत्पन्न होते हैं); **तथा**=उसी प्रकार; **अक्षरात्**=अविनाशी परब्रह्मसे; **इह**=यहाँ—इस सृष्टिमें; **विश्वम्**=सब कुछ; **सम्भवति**=उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें तीन दृष्टान्तोंद्वारा यह बात समझायी गयी है कि परब्रह्म परमेश्वर ही इस जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं। पहले मकड़ीके दृष्टान्तसे यह बात कही गयी है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने पेटमें स्थित जालेको बाहर निकालकर फैलाती है और फिर उसे निगल जाती है, उसी प्रकार वह परब्रह्म परमेश्वर अपने अंदर सूक्ष्मरूपसे लीन हुए जड-चेतनरूप जगत्को सृष्टिके आरम्भमें नाना प्रकारसे उत्पन्न करके फैलाते हैं और प्रलय-कालमें पुनः उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं (गीता ९। ७-८)। दूसरे उदाहरणसे यह बात समझायी है कि जिस प्रकार

पृथ्वीमें जिस-जिस प्रकारकी अन्न, तृण, वृक्ष, लता आदि ओषधियोंके बीज पड़ते हैं, उसी प्रकारकी भिन्न-भिन्न भेदोंवाली ओषधियाँ वहाँ उत्पन्न हो जाती हैं—उसमें पृथ्वीका कोई पक्षपात नहीं है, उसी प्रकार जीवोंके नाना प्रकारके कर्मरूप बीजोंके अनुसार ही भगवान् उनको भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न करते हैं; अतः उनमें किसी प्रकारकी विषमता और निर्दयताका दोष नहीं है (ब्रह्मसूत्र २ । १ । ३४) । तीसरे मनुष्य-शरीरके उदाहरणसे यह बात समझायी गयी है कि जिस प्रकार मनुष्यके जीवित शरीरसे सर्वथा विलक्षण केश, रोएँ और नख अपने-आप उत्पन्न होते और बढ़ते रहते हैं—उसके लिये उसको कोई कार्य नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार परब्रह्म परमेश्वरसे यह जगत् स्वभावसे ही समयपर उत्पन्न हो जाता है और विस्तारको प्राप्त होता है; इसके लिये भगवान्को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता । इसीलिये भगवान्ने गीतामें कहा है कि 'मैं इस जगत्को बनानेवाला होनेपर भी अकर्ता ही हूँ' (गीता ४ । १३), 'उदासीनकी तरह स्थित रहनेवाले मुझ परमेश्वरको वे कर्म लिप्त नहीं करते' (गीता ९ । १०) इत्यादि ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब संक्षेपमें जगत्की उत्पत्तिका क्रम बतलाते हैं—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ ८ ॥

ब्रह्म=परब्रह्म; **तपसा**=विज्ञानमय तपसे; **चीयते**=उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होता है; **ततः**=उससे; **अन्नम्**=अन्न; **अभिजायते**=उत्पन्न होता है; **अन्नात्**=अन्नसे (क्रमशः); **प्राणः**=प्राण; **मनः**=मन; **सत्यम्**=सत्य (स्थूलभूत); **लोकाः**=समस्त लोक (और कर्म); **च**=तथा; **कर्मसु**=कर्मोंसे; **अमृतम्**=अवश्यम्भावी सुख-दुःखरूप फल उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—जब जगत्की रचनाका समय आता है, उस समय परब्रह्म परमेश्वर अपने संकल्परूप तपसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनमें विविध रूपोंवाली सृष्टिके निर्माणका संकल्प उठता है । जीवोंके कर्मानुसार उन परब्रह्म पुरुषोत्तममें जो सृष्टिके आदिमें स्फुरणा होती है, वही मानो उनका तप है; उस स्फुरणाके होते ही भगवान्, जो पहले अत्यन्त सूक्ष्मरूपमें रहते हैं, (जिसका वर्णन छठे मन्त्रमें आ चुका है) उसकी अपेक्षा स्थूल हो जाते हैं अर्थात् वे सृष्टिकर्ता ब्रह्माका रूप धारण कर लेते हैं । ब्रह्मासे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला अन्न उत्पन्न होता है । फिर अन्नसे क्रमशः प्राण, मन, कार्यरूप पाँच महाभूत, समस्त प्राणी और उनके वासस्थान, उनके भिन्न-भिन्न कर्म और उन कर्मोंसे उनका अवश्यम्भावी सुख-दुःखरूप फल—इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—अब परमेश्वरकी महिमाका वर्णन करते हुए इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ ९ ॥

यः=जो; **सर्वज्ञः**=सर्वज्ञ (तथा); **सर्ववित्**=सबको जाननेवाला (है); **यस्य**=जिसका; **ज्ञानमयम्**=ज्ञानमय; **तपः**=तप (है); **तस्मात्**=उसी परमेश्वरसे; **एतत्**=यह; **ब्रह्म**=विराटस्वरूप जगत्; **च**=तथा; **नाम**=नाम; **रूपम्**=रूप; (और) **अन्नम्**=भोजन; **जायते**=उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—वे सम्पूर्ण जगत्के कारणभूत परम पुरुष परमेश्वर साधारणरूपसे तथा विशेषरूपसे भी सबको भलीभाँति जानते हैं; उन परब्रह्मका एकमात्र ज्ञान ही तप है । उन्हें साधारण मनुष्योंकी भाँति जगत्की उत्पत्तिके लिये कष्ट-सहनरूप तप नहीं करना पड़ता । उन सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरके संकल्पमात्रसे ही यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला विराट्स्वरूप जगत् (जिसे अपर ब्रह्म कहते हैं) अपने-आप प्रकट हो जाता है और समस्त प्राणियों तथा लोकोंके नाम, रूप और आहार आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं ।

शौनक ऋषिने यह पूछा था कि 'किसको जाननेसे यह सब कुछ जान लिया जाता है ?' इसके उत्तरमें समस्त जगत्के

परम कारण परब्रह्म परमात्मासे जगत्की उत्पत्ति बतलाकर संक्षेपमें यह बात समझायी गयी कि उन सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सबके कर्ता-धर्ता परमेश्वरको जान लेनेपर यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है ॥ ९ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

सम्बन्ध—पहले खण्डके चौथे मन्त्रमें परा और अपरा—इन दो विद्याओंको जाननेयोग्य बताया था, उनमेंसे अब इस खण्डमें अपरा विद्याका स्वरूप और फल बतलाकर परा विद्याकी जिज्ञासा उत्पन्न की जाती है—

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १ ॥

तत्=वह; **एतत्**=यह; **सत्यम्**=सत्य है कि; **कवयः**=बुद्धिमान् ऋषियोंने; **यानि**=जिन; **कर्माणि**=कर्मोंको; **मन्त्रेषु**=वेद-मन्त्रोंमें; **अपश्यन्**=देखा था; **तानि**=वे; **त्रेतायाम्**=तीनों वेदोंमें; **बहुधा**=बहुत प्रकारसे; **संततानि**=व्याप्त हैं; **सत्यकामाः**=हे सत्यको चाहनेवाले मनुष्यो; (तुमलोग) **तानि**=उनका; **नियतम्**=नियमपूर्वक; **आचरथ**=अनुष्ठान करो; **लोके**=इस मनुष्य-शरीरमें; **वः**=तुम्हारे लिये; **एषः**=यही; **सुकृतस्य**=शुभ कर्मकी फल-प्राप्तिका; **पन्थाः**=मार्ग है ॥ १ ॥

व्याख्या—यह सर्वथा सत्य है कि बुद्धिमान् महर्षियोंने जिन उन्नतिके साधनरूप यज्ञादि नाना प्रकारके कर्मोंको वेद-मन्त्रोंमें पहले देखा था, वे कर्म ऋक्, यजुः और साम—इन तीनों वेदोंमें बहुत प्रकारसे विस्तारपूर्वक वर्णित हैं (गीता ४ । ३२)।* अतः जागतिक उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको उन्हें भलीभाँति जानकर नियमपूर्वक उन कर्मोंको करते रहना चाहिये । इस मनुष्यशरीरमें यही उन्नतिका सुन्दर मार्ग है । आलस्य और प्रमादमें या भोगोंको भोगनेमें पशुओंकी भाँति जीवन बिता देना मनुष्यशरीरके उपयुक्त नहीं है । यही इस मन्त्रका भाव है ॥ १ ॥

सम्बन्ध—वेदोक्त अनेक प्रकारके कर्मोंमेंसे उपलक्षणरूपसे प्रधान अग्निहोत्ररूप कर्मका वर्णन आरम्भ करते हैं—

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥ २ ॥

यदा हि=जिस समय; **हव्यवाहने समिद्धे**=हविष्यको देवताओंके पास पहुँचानेवाली अग्निके प्रदीप्त हो जानेपर; **अर्चिः**=(उसमें) ज्वालाएँ; **लेलायते**=लपलपाने लगती हैं; **तदा**=उस समय; **आज्यभागौ अन्तरेण**=आज्यभागके† बीचमें; **आहुतीः**=अन्य आहुतियोंको; **प्रतिपादयेत्**=डाले ॥ २ ॥

व्याख्या—अधिकारी मनुष्योंको नित्यप्रति अग्निहोत्र करना चाहिये । जब देवताओंको हविष्य पहुँचानेवाली अग्नि अग्निहोत्रकी वेदीमें भलीभाँति प्रज्वलित हो जाय, उसमेंसे लपटें निकलने लगें, उस समय आज्यभागके स्थानको छोड़कर मध्यमें आहुतियाँ डालनी चाहिये । क्योंकि नित्य अग्निहोत्रमें आज्यभागकी दो आहुतियाँ देनेका नियम नहीं है । इससे यह बात भी समझायी गयी है कि जबतक अग्नि प्रदीप्त न हो, उसमेंसे लपटें न निकलने लगें, तबतक या निकलकर शान्त हो जायँ, उस समय अग्निमें आहुति नहीं डालनी चाहिये । अग्निको अच्छी तरह प्रज्वलित करके ही अग्निहोत्र करना चाहिये ॥ २ ॥

---

* प्रधानरूपसे वेदोंकी संख्या तीन ही मानी गयी है । जहाँ-तहाँ 'वेदत्रयी' आदि नामोंसे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—इन तीनका ही उल्लेख मिलता है । ऐसे स्थलोंमें चौथे अथर्ववेदको उक्त तीनोंके अन्तर्गत ही मानना चाहिये ।

† यजुर्वेदके अनुसार प्रजापतिके लिये मौनभावसे एक आहुति और इन्द्रके लिये 'आघार'नामकी दो घृताहुतियाँ देनेके पश्चात् जो अग्नि और सोम देवताओंके लिये पृथक्-पृथक् दो आहुतियाँ दी जाती हैं, उनका नाम 'आज्यभाग' है। 'ॐ अग्नये स्वाहा' कहकर उत्तर-पूर्वार्धमें और 'ॐ सोमाय स्वाहा' कहकर दक्षिण-पूर्वार्धमें ये आहुतियाँ डाली जाती हैं; इनके बीचमें शेष आहुतियाँ डालनी चाहिये ।

सम्बन्ध—नित्य अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्यको उसके साथ-साथ और क्या-क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥ ३ ॥

यस्य=जिसका; **अग्निहोत्रम्**=अग्निहोत्र; **अदर्शम्**=दर्शनामक यज्ञसे रहित है; **अपौर्णमासम्**=पौर्णमासनामक यज्ञसे रहित है; **अचातुर्मास्यम्**=चातुर्मास्यनामक यज्ञसे रहित है; **अनाग्रयणम्**=आग्रयण कर्मसे रहित है; **च**=तथा; **अतिथिवर्जितम्**=जिसमें अतिथि-सत्कार नहीं किया जाता; **अहुतम्**=जिसमें समयपर आहुति नहीं दी जाती; **अवैश्वदेवम्**=जो बलिवैश्वदेवनामक कर्मसे रहित है; (तथा) **अविधिना हुतम्**=जिसमें शास्त्र-विधिकी अवहेलना करके हवन किया गया है, ऐसा अग्निहोत्र; **तस्य**=उस अग्निहोत्रीके; **आसप्तमान्**=सातों; **लोकान्**=पुण्य लोकोंका; **हिनस्ति**=नाश कर देता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—नित्य अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य यदि दर्श* और पौर्णमासयज्ञ† नहीं करता या चातुर्मास्य यज्ञ‡ नहीं करता अथवा शरद् और वसन्त ऋतुओंमें की जानेवाली नवीन अन्नकी इष्टिरूप आग्रयण यज्ञ नहीं करता, यदि उसकी यज्ञशालामें अतिथियोंका विधिपूर्वक सत्कार नहीं किया जाता, या वह नित्य अग्निहोत्रमें ठीक समयपर और शास्त्रविधिके अनुसार हवन नहीं करता एवं बलिवैश्वदेव-कर्म नहीं करता, तो उस अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्यके सातों लोकोंको वह अङ्गहीन अग्निहोत्र नष्ट कर देता है । अर्थात् उस यज्ञके द्वारा उसे मिलनेवाले जो पृथ्वीलोकसे लेकर सत्यलोकतक सातों लोकोंमें प्राप्त होने योग्य भोग हैं, उनसे वह वञ्चित रह जाता है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—दूसरे मन्त्रमें यह बात कही गयी थी कि जब अग्निमें लपटें निकलने लगें, तब आहुति देनी चाहिये; अतः अब उन लपटोंके प्रकार-भेद और नाम बतलाते हैं—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४ ॥

या=जो; **काली**=काली; **कराली**=कराली; **च**=तथा; **मनोजवा**=मनोजवा; **च**=और; **सुलोहिता**=सुलोहिता; **च**=तथा; **सुधूम्रवर्णा**=सुधूम्रवर्णा; **स्फुलिङ्गिनी**=स्फुलिङ्गिनी; **च**=तथा; **विश्वरुची देवी**=विश्वरुची देवी; **इति**=ये (अग्निकी); **सप्त**=सात; **लेलायमानाः**=लपलपाती हुई; **जिह्वाः**=जिह्वाएँ हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—काली—काले रंगवाली, कराली—अति उग्र (जिसमें आग लग जानेका डर रहता है), मनोजवा—मनकी भाँति अत्यन्त चञ्चल, सुलोहिता—सुन्दर लाली लिये हुए, सुधूम्रवर्णा—सुन्दर धूएँके-से रंगवाली, स्फुलिङ्गिनी—चिनगारियोंवाली तथा विश्वरुची देवी—सब ओरसे प्रकाशित, देदीप्यमान—इस प्रकार ये सात तरहकी लपटें मानो अग्निदेवकी हविको ग्रहण करनेके लिये लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं । अतः जब इस प्रकार अग्निदेवता आहुतिरूप भोजन ग्रहण करनेके लिये तैयार हों, उसी समय भोजनरूप आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिये; अन्यथा अप्रज्वलित अथवा बुझी हुई अग्निमें दी हुई आहुति राखमें मिलकर व्यर्थ नष्ट हो जाती है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे प्रदीप्त अग्निमें नियमपूर्वक नित्यप्रति हवन करनेका फल बतलाते हैं—

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ ५ ॥

यः च =जो कोई भी अग्निहोत्री; **एतेषु भ्राजमानेषु**=इन देदीप्यमान ज्वालाओंमें; **यथाकालम्**=ठीक समयपर;

---

* प्रत्येक अमावस्याको की जानेवाली इष्टि ।

† प्रत्येक पूर्णिमाको की जानेवाली इष्टि ।

‡ चार महीनोंमें पूरा होनेवाला एक श्रौत यागविशेष ।

चरते=अग्निहोत्र करता है; **तम्**=उस अग्निहोत्रीको; **हि**=निश्चय ही; **आददायन्**=अपने साथ लेकर; **एताः**=ये; **आहुतयः**=आहुतियाँ; **सूर्यस्य**=सूर्यकी; **रश्मयः [भूत्वा]**=किरणें (बनकर); **नयन्ति**=(वहाँ) पहुँचा देती हैं; **यत्र**=जहाँ; **देवानाम्**=देवताओंका; **एकः**=एकमात्र; **पतिः**=स्वामी (इन्द्र); **अधिवासः**=निवास करता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—जो कोई भी साधक पूर्वमन्त्रमें बतलायी हुई सात प्रकारकी लपटोंसे युक्त भलीभाँति प्रज्वलित अग्निमें ठीक समयपर शास्त्रविधिके अनुसार नित्यप्रति आहुति देकर अग्निहोत्र करता है, उसे मरणकालमें अपने साथ लेकर ये आहुतियाँ सूर्यकी किरणें बनकर वहाँ पहुँचा देती हैं, जहाँ देवताओंका एकमात्र स्वामी इन्द्र निवास करता है। तात्पर्य यह कि अग्निहोत्र स्वर्गके सुखोंकी प्राप्तिका अमोघ उपाय है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—किस प्रकार ये आहुतियाँ सूर्य-किरणोंद्वारा यजमानको इन्द्रलोकमें ले जाती हैं—ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥ ६ ॥

सुवर्चसः=(वे) देदीप्यमान; **आहुतयः**=आहुतियाँ; **एहि एहि**=आओ, आओ; **एषः**=यह; **वः**=तुम्हारे; **सुकृतः**=शुभ कर्मोंसे प्राप्त; **पुण्यः**=पवित्र; **ब्रह्मलोकः**=ब्रह्मलोक (स्वर्ग) है; **इति**=इस प्रकारकी; **प्रियाम्**=प्रिय; **वाचम्**=वाणी; **अभिवदन्त्यः**=बार-बार कहती हुई (और); **अर्चयन्त्यः**=उसका आदर-सत्कार करती हुई; **तम्**=उस; **यजमानम्**=यजमानको; **सूर्यस्य**=सूर्यकी; **रश्मिभिः**=रश्मियोंद्वारा; **वहन्ति**=ले जाती हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—उन प्रदीप्त ज्वालाओंमें दी हुई आहुतियाँ सूर्यकी किरणोंके रूपमें परिणत होकर मरणकालमें उस साधकसे कहती हैं—'आओ, आओ, यह तुम्हारे शुभ कर्मोंका फलस्वरूप ब्रह्मलोक अर्थात् भोगरूप सुखोंको भोगनेका स्थान स्वर्गलोक है।' इस प्रकारकी प्रिय वाणी बार-बार कहती हुई आदर-सत्कारपूर्वक उसे सूर्यकी किरणोंके मार्गसे ले जाकर स्वर्गलोकमें पहुँचा देती हैं। यहाँ स्वर्गको ब्रह्मलोक कहनेका यह भाव मालूम होता है कि स्वर्गके अधिपति इन्द्र भी भगवान्के ही अपर स्वरूप हैं, अतः प्रकारान्तरसे ब्रह्म ही हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब सांसारिक भोगोंमें वैराग्यकी और परम आनन्दस्वरूप परमेश्वरको पानेकी अभिलाषा उत्पन्न करनेके लिये उपर्युक्त स्वर्गलोकके साधनरूप यज्ञादि सकाम कर्म और उनके फलरूप लौकिक एवं पारलौकिक भोगोंकी तुच्छता बतलाते हैं—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ ७ ॥

हि=निश्चय ही; **एते**=ये; **यज्ञरूपाः**=यज्ञरूप; **अष्टादश प्लवाः**=अठारह नौकाएँ; **अदृढाः**=अदृढ (अस्थिर) हैं; **येषु**=जिनमें; **अवरम्**=नीची श्रेणीका; **कर्म**=उपासनारहित सकाम कर्म; **उक्तम्**=बताया गया है; **ये**=जो; **मूढाः**=मूर्ख; **एतत् [एव]**=यही; **श्रेयः**=कल्याणका मार्ग है (यों मानकर); **अभिनन्दन्ति**=इसकी प्रशंसा करते हैं; **ते**=वे; **पुनः अपि**=बारंबार; **एव**=निःसंदेह; **जरामृत्युम्**=वृद्धावस्था और मृत्युको; **यन्ति**=प्राप्त होते रहते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें यज्ञको नौकाका रूप दिया गया है और उनकी संख्या अठारह बतलायी गयी है; इससे अनुमान होता है कि नित्य, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य आदि भेदोंसे यज्ञके अठारह प्रधान भेद होते हैं। कहना यह है कि जिनमें उपासनारहित सकाम कर्मोंका वर्णन है, ऐसी ये यज्ञरूप अठारह नौकाएँ हैं, जो कि दृढ़ नहीं हैं। इनके द्वारा संसार-समुद्रसे पार होना तो दूर रहा, इस लोकके वर्तमान दुःखरूप छोटी-सी नदीसे पार होकर स्वर्गतक पहुँचनेमें भी संदेह है; क्योंकि तीसरे मन्त्रके वर्णनानुसार किसी भी अङ्गकी कमी रह जानेपर वे साधकको स्वर्गमें नहीं पहुँचा सकतीं, बीचमें ही छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। इसलिये ये अदृढ अर्थात् अस्थिर हैं। इस रहस्यको न समझकर जो मूर्खलोग इन सकाम कर्मोंको ही कल्याणका उपाय समझकर—इनके ही फलको परम सुख मानकर इनकी प्रशंसा करते रहते हैं, उन्हें निःसंदेह बारंबार वृद्धावस्था और मरणके दुःख भोगने पड़ते हैं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—वे किस प्रकार दुःख भोगते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥

अविद्यायाम् अन्तरे=अविद्याके भीतर; **वर्तमानाः**=स्थित होकर (भी); **स्वयंधीराः**=अपने-आप बुद्धिमान् बननेवाले (और); **पण्डितम् मन्यमानाः**=अपनेको विद्वान् माननेवाले; **मूढाः**=वे मूर्खलोग; **जङ्घन्यमानाः**=बार-बार आघात (कष्ट) सहन करते हुए; **परियन्ति**=(ठीक वैसे ही) भटकते रहते हैं; **यथा**=जैसे; **अन्धेन एव**=अन्धेके द्वारा ही; **नीयमानाः**=चलाये जानेवाले; **अन्धाः**=अंधे (अपने लक्ष्यतक न पहुँचकर बीचमें ही इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते रहते हैं) ॥ ८ ॥

व्याख्या—जब अन्धे मनुष्यको मार्ग दिखलानेवाला भी अन्धा ही मिल जाता है, तब जैसे वह अपने अभीष्ट स्थान-पर नहीं पहुँच पाता, बीचमें ही ठोकरें खाता भटकता है और काँटे-कंकड़ोंसे बिंधकर या गहरे गड्ढे आदिमें गिरकर अथवा किसी चट्टान, दीवाल और पशु आदिसे टकराकर नाना प्रकारके कष्ट भोगता है, वैसे ही उस मूर्खको भी पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि विविध दुःखपूर्ण योनियोंमें एवं नरकादिमें प्रवेश करके अनन्त जन्मोंतक अनन्त यन्त्रणाओंका भोग करना पड़ता है, जो अपने-आपको ही बुद्धिमान् और विद्वान् समझता है, विद्या-बुद्धिके मिथ्याभिमानमें शास्त्र और महापुरुषोंके बचनोंकी कुछ भी परवा न करके उनकी अवहेलना करता और प्रत्यक्ष सुखरूप प्रतीत होनेवाले भोगोंको भोग करनेमें तथा उनके उपार्जनमें ही निरन्तर संलग्न रहकर मनुष्यजीवनका अमूल्य समय व्यर्थ नष्ट करता रहता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—वे लोग बारंबार दुःखोंमें पड़कर भी चेतते क्यों नहीं, कल्याणके लिये चेष्टा क्यों नहीं करते, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ९ ॥

बालाः=वे मूर्खलोग; **अविद्यायाम्**=उपासनारहित सकाम कर्मोंमें; **बहुधा**=बहुत प्रकारसे; **वर्तमानाः**=बर्तते हुए; **वयम्**=हम; **कृतार्थाः**=कृतार्थ हो गये; **इति अभिमन्यन्ति**=ऐसा अभिमान कर लेते हैं; **यत्**=क्योंकि; **कर्मिणः**=वे सकाम कर्म करनेवाले लोग; **रागात्**=विषयोंकी आसक्तिके कारण; **न प्रवेदयन्ति**=कल्याणके मार्गको नहीं जान पाते; **तेन**=इस कारण; **आतुराः**=बारंबार दुःखसे आतुर हो; **क्षीणलोकाः**=पुण्योपार्जित लोकोंसे हटाये जाकर; **च्यवन्ते**=नीचे गिर जाते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—पूर्वमन्त्रमें कहे हुए प्रकारसे जो इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये सांसारिक उन्नतिके साधनरूप नाना प्रकारके सकाम कर्मोंमें ही बहुत प्रकारसे लगे रहते हैं, वे अविद्यामें निमग्न अज्ञानी मनुष्य समझते हैं कि 'हमने अपने कर्तव्यका पालन कर लिया ।' उन सांसारिक कर्मोंमें लगे हुए मनुष्योंकी भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति होती है, इस कारण वे सांसारिक उन्नतिके सिवा कल्याणकी ओर दृष्टि ही नहीं डालते । उन्हें इस बातका पता ही नहीं रहता कि परमानन्दके समुद्र कोई परमात्मा हैं और मनुष्य उन्हें पा सकता है । इसलिये वे उन परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये चेष्टा न करके बारंबार दुखी होते रहते हैं और पुण्यकर्मोंका फल पूरा होनेपर वे स्वर्गादि लोकोंसे नीचे गिर जाते हैं ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—ऊपर कही हुई बातको ही और भी स्पष्ट करते हैं—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ १० ॥

इष्टापूर्तम्=इष्ट और पूर्त* (सकाम) कर्मोंको ही; **वरिष्ठम्**=श्रेष्ठ; **मन्यमानाः**=माननेवाले; **प्रमूढाः**=अत्यन्त मूर्खलोग; **अन्यत्**=उससे भिन्न; **श्रेयः**=वास्तविक श्रेयको; **न वेदयन्ते**=नहीं जानते; **ते**=वे; **सुकृते**=पुण्यकर्मोंके

* यज्ञ-यागादि श्रौत कर्मोंको 'इष्ट' तथा बावली, कुआँ खुदवाना और बगीचे लगाना आदि स्मृतिविहित कर्मको 'पूर्त' कहते हैं ।

फलस्वरूप; **नाकस्य पृष्ठे**=स्वर्गके उच्चतम स्थानमें; **अनुभूत्वा**=(जाकर श्रेष्ठ कर्मोंके फलस्वरूप) वहाँके भोगोंका अनुभव करके; **इमम् लोकम्**=इस मनुष्यलोकमें; **वा**=अथवा; **हीनतरम्**=इससे भी अत्यन्त हीन योनियोंमें; **विशन्ति**=प्रवेश करते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या—वे अतिशय मूर्ख भोगासक्त मनुष्य इष्ट और पूर्तको अर्थात् वेद और स्मृति आदि शास्त्रोंमें सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिके जितने भी साधन बताये गये हैं, उन्हींको सर्वश्रेष्ठ कल्याण-साधन मानते हैं। इसलिये उनसे भिन्न अर्थात् परमेश्वरका भजन, ध्यान और निष्कामभावसे कर्तव्यपालन करना एवं परमपुरुष परमात्माको जाननेके लिये तीव्र जिज्ञासापूर्वक चेष्टा करना आदि जितने भी परम कल्याणके साधन हैं, उन्हें वे नहीं जानते, उन कल्याण-साधनोंकी ओर लक्ष्य-तक नहीं करते। अतः वे अपने पुण्यकर्मोंके फलरूप स्वर्गलोकतकके सुखोंको भोगकर पुण्य क्षय होनेपर पुनः इस मनुष्यलोकमें अथवा इससे भी नीची शूकर-कूकर, कीट-पतङ्ग आदि योनियोंमें या रौरवादि घोर नरकोंमें चले जाते हैं। (गीता ९। २०-२१) ॥ १० ॥

सम्बन्ध—ऊपर बतलाये हुए सांसारिक भोगोंसे विरक्त मनुष्योंके आचार-व्यवहार और उनके फलका वर्णन करते हैं—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

हि=किन्तु; **ये**=जो; **अरण्ये [स्थिताः]**=वनमें रहनेवाले; **शान्ताः**=शान्त स्वभाववाले; **विद्वांसः**=विद्वान्; **भैक्ष्यचर्याम् चरन्तः**=तथा भिक्षाके लिये विचरनेवाले; **तपःश्रद्धे**=संयमरूप तप तथा श्रद्धाका; **उपवसन्ति**=सेवन करते हैं; **ते**=वे; **विरजाः**=रजोगुणरहित; **सूर्यद्वारेण**=सूर्यके मार्गसे; **[तत्र] प्रयान्ति**=वहाँ चले जाते हैं; **यत्र हि**=जहाँपर; **सः**=वह; **अमृतः**=जन्म-मृत्युसे रहित; **अव्ययात्मा**=नित्य, अविनाशी; **पुरुषः**=परम पुरुष (रहता है) ॥ ११ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त भोगासक्त मनुष्योंसे जो सर्वथा भिन्न हैं, मनुष्यशरीरका महत्त्व समझ लेनेके कारण जिनके अन्तःकरणमें परमात्माका तत्त्व जाननेकी और परमेश्वरको प्राप्त करनेकी इच्छा जग उठी है, वे चाहे वनमें निवास करनेवाले वानप्रस्थ हों, शान्त स्वभाववाले विद्वान् सदाचारी गृहस्थ हों या भिक्षासे निर्वाह करनेवाले ब्रह्मचारी अथवा संन्यासी हों, वे तो निरन्तर तप और श्रद्धाका ही सेवन किया करते हैं, अर्थात् अपने-अपने वर्ण, आश्रम तथा परिस्थितिके अनुसार जिस समय जो कर्तव्य होता है, उसका शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार बिना किसी प्रकारकी कामनाके पालन करते रहते हैं और संयमपूर्वक शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न होकर परम श्रद्धाके साथ परमेश्वरको जानने और प्राप्त करनेके साधनोंमें लगे रहते हैं। इसलिये तम और रजोगुणके विकारोंसे सर्वथा शून्य निर्मल सत्त्वगुणमें स्थित वे सज्जन सूर्यलोकमें होते हुए वहाँ चले जाते हैं, जहाँ उनके परम प्राप्य अमृतस्वरूप नित्य अविनाशी परमपुरुष पुरुषोत्तम निवास करते हैं ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—उन परब्रह्म परमेश्वरको जानने और प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥

कर्मचितान्=कर्मसे प्राप्त किये जानेवाले; **लोकान् परीक्ष्य**=लोकोंकी परीक्षा करके; **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण; **निर्वेदम्**=वैराग्यको; **आयात्**=प्राप्त हो जाय (यह समझ ले कि); **कृतेन**=किये जानेवाले सकाम कर्मोंसे; **अकृतः**=स्वतःसिद्ध नित्य परमेश्वर; **न अस्ति**=नहीं मिल सकता; **सः**=वह; **तद्विज्ञानार्थम्**=उस परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये; **समित्पाणिः**=हाथमें समिधा लेकर; **श्रोत्रियम्**=वेदको भलीभाँति जाननेवाले (और); **ब्रह्मनिष्ठम्**=परब्रह्म परमात्मामें स्थित; **गुरुम्**=गुरुके पास; **एव**=ही; **अभिगच्छेत्**=विनयपूर्वक जाय ॥ १२ ॥

व्याख्या—अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको पहले बतलाये हुए सकाम कर्मोंके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके

समस्त सांसारिक सुखोंकी भलीभाँति परीक्षा करके अर्थात् विवेकपूर्वक उनकी अनित्यता और दुःखरूपताको समझकर सब प्रकारके भोगोंसे सर्वथा विरक्त हो जाना चाहिये। यह निश्चय कर लेना चाहिये कि कर्तापनके अभिमानपूर्वक सकामभावसे किये जानेवाले कर्म अनित्य फलको देनेवाले तथा स्वयं भी अनित्य हैं। अतः जो सर्वथा अकृत है अर्थात् क्रियासाध्य नहीं है, ऐसे नित्य परमेश्वरकी प्राप्ति वे नहीं करा सकते। यह सोचकर उस जिज्ञासुको परमात्माका वास्तविक तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये हाथमें समिधा लेकर श्रद्धा और विनयभावके सहित ऐसे सद्गुरुकी शरणमें जाना चाहिये, जो वेदोंके रहस्यको भलीभाँति जानते हों और परब्रह्म परमात्मामें स्थित हों ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—ऊपर बतलाये हुए लक्षणोंवाला कोई शिष्य यदि गुरुके पास आ जाय तो गुरुको क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

सः=वह; **विद्वान्**=ज्ञानी महात्मा; **उपसन्नाय**=शरणमें आये हुए; **सम्यक्प्रशान्तचित्ताय**=पूर्णतया शान्त-चित्तवाले; **शमान्विताय**=मन और इन्द्रियोंपर विजय पाये हुए; **तस्मै**=उस शिष्यको; **ताम् ब्रह्मविद्याम्**=उस ब्रह्मविद्याका; **तत्त्वतः**=तत्त्व-विवेचनपूर्वक; **प्रोवाच**=भलीभाँति उपदेश करे; **येन [सः]**=जिससे वह शिष्य; **अक्षरम्**=अविनाशी; **सत्यम्**=नित्य; **पुरुषम्**=परमपुरुषको; **वेद**=जान ले ॥ १३ ॥

व्याख्या—उन श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्माको भी चाहिये कि अपनी शरणमें आये हुए ऐसे शिष्यको, जिसका चित्त पूर्णतया शान्त—निश्चल हो चुका हो, सांसारिक भोगोंमें सर्वथा वैराग्य हो जानेके कारण जिसके चित्तमें किसी प्रकारकी चिन्ता, व्याकुलता या विकार नहीं रह गये हों, जिसने अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको भलीभाँति वशमें कर लिया हो, उस ब्रह्मविद्याका तत्त्व-विवेचनपूर्वक भलीभाँति समझाकर उपदेश करे, जिससे वह शिष्य नित्य अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तमका ज्ञान प्राप्त कर सके ॥ १३ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

॥ प्रथम मुण्डक समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

सम्बन्ध—प्रथम मुण्डकके द्वितीय खण्डमें अपर विद्याका स्वरूप और फल बतलाया तथा उसकी तुच्छता दिखाते हुए उससे विरक्त होनेकी बात कहकर परविद्या प्राप्त करनेके लिये सद्गुरुकी शरणमें जानेको कहा। अब परविद्याका वर्णन करनेके लिये प्रकरण आरम्भ करते हैं—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ १ ॥

सोम्य=हे प्रिय !; **तत्**=वह; **सत्यम्**=सत्य; **एतत्**=यह है; **यथा**=जिस प्रकार; **सुदीप्तात् पावकात्**=प्रज्वलित अग्निमेंसे; **सरूपाः**=उसीके समान रूपवाली; **सहस्रशः**=हजारों; **विस्फुलिङ्गाः**=चिनगारियाँ; **प्रभवन्ते**=नाना प्रकारसे प्रकट होती हैं; **तथा**=उसी प्रकार; **अक्षरात्**=अविनाशी ब्रह्मसे; **विविधाः**=नाना प्रकारके; **भावाः**=भाव; **प्रजायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **च**=और; **तत्र एव**=उसीमें; **अपियन्ति**=विलीन हो जाते हैं* ॥ १ ॥

व्याख्या—महर्षि अङ्गिरा कहते हैं—प्रिय शौनक ! मैंने तुमको पहले परब्रह्म परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए (पूर्व प्रकरणके पहले खण्डमें छठे मन्त्रसे नवेंतक) जो रहस्य बतलाया था, वह सर्वथा सत्य है; अब उसीको पुनः समझाता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्निमेंसे उसीके-जैसे रूप-रंगवाली हजारों चिनगारियाँ चारों ओर निकलती हैं, उसी प्रकार परमपुरुष अविनाशी ब्रह्मसे सृष्टिकालमें नाना प्रकारके भाव—मूर्त-अमूर्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं और प्रलयकालमें पुनः उन्हींमें लीन हो जाते हैं। यहाँ भावोंके प्रकट होनेकी बात समझानेके लिये ही अग्नि और चिनगारियोंका दृष्टान्त दिया गया है। उनके विलीन होनेकी बात दृष्टान्तसे स्पष्ट नहीं होती ॥ १ ॥

सम्बन्ध—जिन परब्रह्म अविनाशी पुरुषोत्तमसे यह जगत् उत्पन्न होकर पुनः उन्हींमें विलीन हो जाता है, वे स्वयं कैसे हैं—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ २ ॥

हि=निश्चय ही; **दिव्यः**=दिव्य; **पुरुषः**=पूर्णपुरुष; **अमूर्तः**=आकाररहित; **सबाह्याभ्यन्तरः हि**=समस्त जगत्के बाहर और भीतर भी व्याप्त; **अजः**=जन्मादि विकारोंसे अतीत; **अप्राणः**=प्राणरहित; **अमनाः**=मनरहित; **हि**=होनेके कारण; **शुभ्रः**=सर्वथा विशुद्ध है (तथा); **हि**=इसीलिये; **अक्षरात्**=अविनाशी जीवात्मासे; **परतः परः**=अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

व्याख्या—वे दिव्य पुरुष परमात्मा निःसन्देह आकाररहित और समस्त जगत्के बाहर एवं भीतर भी परिपूर्ण हैं। वे जन्म आदि विकारोंसे रहित, सर्वथा विशुद्ध हैं; क्योंकि उनके न तो प्राण हैं, न इन्द्रियाँ हैं और न मन ही है। वे इन सबके बिना ही सब कुछ करनेमें समर्थ हैं; इसीलिये वे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अविनाशी जीवात्मासे अत्यन्त श्रेष्ठ—सर्वथा उत्तम हैं ॥ २ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त लक्षणोंवाले निराकार परमेश्वरसे यह साकार जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो जाता है, इस जिज्ञासापर उनकी सर्वशक्तिमत्ताका वर्णन करते हैं—

---

* प्रथम मुण्डकके प्रथम खण्डके सातवें मन्त्रमें मकड़ी, पृथ्वी और मनुष्य-शरीरके दृष्टान्तसे जो बात कही थी, वही बात इस मन्त्रमें अग्निके दृष्टान्तसे समझायी गयी है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ ॥

एतस्मात्=इसी परमेश्वरसे; **प्राणः**=प्राण; **जायते**=उत्पन्न होता है (तथा); **मनः**=मन (अन्तःकरण); **सर्वेन्द्रियाणि**=समस्त इन्द्रियाँ; **खम्**=आकाश; **वायुः**=वायु; **ज्योतिः**=तेज; **आपः**=जल; **च**=और; **विश्वस्य धारिणी**=सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करनेवाली; **पृथिवी**=पृथ्वी (ये सब उत्पन्न होते हैं) ॥ ३ ॥

व्याख्या—यद्यपि वे परब्रह्म पुरुषोत्तम निराकार और मन, इन्द्रिय आदि करण-समुदायसे सर्वथा रहित हैं, तथापि सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। इन सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तमसे ही सृष्टिकालमें प्राण, मन (अन्तःकरण) और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तथा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँचों महाभूत, सब-के-सब उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार संक्षेपमें परमेश्वरसे सूक्ष्म तत्त्वोंकी उत्पत्तिका प्रकार बतलाकर अब इस जगत्‌में भगवान्‌का विराट्रूप देखनेका प्रकार बतलाते हैं—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥

अस्य=इस परमेश्वरका; **अग्निः**=अग्नि; **मूर्धा**=मस्तक है; **चन्द्रसूर्यौ**=चन्द्रमा और सूर्य; **चक्षुषी**=दोनों नेत्र हैं; **दिशः**=सब दिशाएँ; **श्रोत्रे**=दोनों कान हैं; **च**=और; **विवृताः वेदाः**=प्रकट वेद; **वाक्**=वाणी हैं (तथा); **वायुः प्राणः**=वायु प्राण है; **विश्वम् हृदयम्**=जगत् हृदय है; **पद्भ्याम्**=इसके दोनों पैरोंसे; **पृथिवी**=पृथ्वी उत्पन्न हुई है; **एषः हि**=यही; **सर्वभूतान्तरात्मा**=समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥

व्याख्या—दूसरे मन्त्रमें जिन परमेश्वरके निराकार स्वरूपका वर्णन किया गया है, उन्हीं परब्रह्मका यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला जगत् विराट्रूप है। इन विराट्स्वरूप परमेश्वरका अग्नि अर्थात् द्युलोक ही मानो मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य दोनों नेत्र हैं, समस्त दिशाएँ कान हैं, नाना छन्द और ऋचाओंके रूपमें विस्तृत चारों वेद वाणी हैं, वायु प्राण है, सम्पूर्ण चराचर जगत् हृदय है, पृथ्वी मानो उनके पैर है। यही परब्रह्म परमेश्वर समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी परमात्मा हैं ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—उन परमात्मासे इस चराचर जगत्‌की उत्पत्ति किस क्रमसे होती है, इस जिज्ञासापर प्रकारान्तरसे जगत्‌की उत्पत्तिका क्रम बतलाते हैं—

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ॥ ५ ॥

तस्मात्=उससे ही; **अग्निः**=अग्निदेव प्रकट हुआ; **यस्य समिधः**=जिसकी समिधा; **सूर्यः**=सूर्य है; (उस अग्निसे सोम उत्पन्न हुआ) **सोमात्**=सोमसे; **पर्जन्यः**=मेघ उत्पन्न हुए (और मेघोंसे वर्षाद्वारा); **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **ओषधयः**=नाना प्रकारकी ओषधियाँ उत्पन्न हुईं; **रेतः**=(ओषधियोंके भक्षणसे उत्पन्न हुए) वीर्यको; **पुमान्**=पुरुष; **योषितायाम्**=स्त्रीमें; **सिञ्चति**=सिंचन करता है (जिससे संतान उत्पन्न होती है); [**एवम्**=इस प्रकार;] **पुरुषात्**=उस परम पुरुषसे ही; **बह्वीः प्रजाः**=नाना प्रकारके जीव; **सम्प्रसूताः**=नियमपूर्वक उत्पन्न हुए हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—जब-जब परमेश्वरसे यह जगत् उत्पन्न होता है, तब-तब सदैव एक प्रकारसे ही होता हो—ऐसा नियम नहीं है। वे जब जैसा संकल्प करते हैं, उसी प्रकार उसी क्रमसे जगत् उत्पन्न हो जाता है। इसी भावको प्रकट करनेके लिये यहाँ प्रकारान्तरसे सृष्टिकी उत्पत्ति बतलायी गयी है। मन्त्रका सरांश यह है कि परब्रह्म पुरुषोत्तमसे सर्वप्रथम तो उनकी अचिन्त्य शक्तिका एक अंश अद्भुत अग्नितत्त्व उत्पन्न हुआ, जिसकी समिधा (इंधन) सूर्य है, अर्थात् जो सूर्यबिम्बके रूपमें

प्रज्वलित रहती है; अग्निसे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ; चन्द्रमासे (सूर्यकी रश्मियोंमें सूक्ष्मरूपसे स्थित जलमें कुछ शीतलता आ जानेके कारण) मेघ उत्पन्न हुए। मेघोंसे वर्षाद्वारा पृथ्वीमें नाना प्रकारकी ओषधियाँ उत्पन्न हुईं। उन ओषधियोंके भक्षणसे उत्पन्न हुए वीर्यको जब पुरुष अपनी जातिकी स्त्रीमें सिंचन करता है, तब उससे सन्तान उत्पन्न होती है। इस प्रकार परमपुरुष परमेश्वरसे ये नाना प्रकारके चराचर जीव उत्पन्न हुए हैं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका क्रम बतलाकर अब उन सबकी रक्षाके लिये किये जानेवाले यज्ञादि, उनके साधन और फल भी उन्हीं परमेश्वरसे प्रकट होते हैं—यह बात बतायी जाती है—

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥

तस्मात्=उस परमेश्वरसे ही; **ऋचः**=ऋग्वेदकी ऋचाएँ; **साम**=सामवेदके मन्त्र; **यजूंषि**=यजुर्वेदकी श्रुतियाँ; [**च**=और;] **दीक्षा**=दीक्षा; **च**=तथा; **सर्वे**=समस्त; **यज्ञाः**=यज्ञ; **क्रतवः**=क्रतु; **च**=एवं; **दक्षिणाः**=दक्षिणाएँ; **च**=तथा; **संवत्सरः**=संवत्सररूप काल; **यजमानः**=यजमान; **च**=और; **लोकाः**=सब लोक (उत्पन्न हुए हैं); **यत्र**=जहाँ; **सोमः**=चन्द्रमा; **पवते**=प्रकाश फैलाता है (और); **यत्र**=जहाँ; **सूर्यः**=सूर्य; [**पवते**=प्रकाश देता है] ॥ ६ ॥

व्याख्या—उन परमेश्वरसे ही ऋग्वेदकी ऋचाएँ, सामवेदके मन्त्र और यजुर्वेदकी श्रुतियाँ एवं यज्ञादि कर्मोंकी दीक्षा,* सब प्रकारके यज्ञ और क्रतु,† उनमें दी जानेवाली दक्षिणाएँ, जिसमें वे किये जाते हैं—वह संवत्सररूप काल, उनको करनेका अधिकारी यजमान, उनके फलस्वरूप वे सब लोक, जहाँ चन्द्रमा और सूर्य प्रकाश फैलाते हैं,—ये सब उत्पन्न हुए हैं ॥६॥

सम्बन्ध—अब देवादि समस्त प्राणियोंके भेद और सब प्रकारके सदाचार भी उन्हीं ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं, यह बतलाते हैं—

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥

च=तथा; **तस्मात्**=उसी परमेश्वरसे; **बहुधा**=अनेक भेदोंवाले; **देवाः**=देवतालोग; **सम्प्रसूताः**=उत्पन्न हुए; **साध्याः**=साध्यगण; **मनुष्याः**=मनुष्य; **पशवः वयांसि**=पशु-पक्षी; **प्राणापानौ**=प्राण-अपान वायु; **व्रीहियवौ**=धान, जौ आदि अन्न; **च**=तथा; **तपः**=तप; **श्रद्धा**=श्रद्धा; **सत्यम्**=सत्य (और); **ब्रह्मचर्यम्**=ब्रह्मचर्य; **च**=एवं; **विधिः**=यज्ञ आदिके अनुष्ठानकी विधि भी; [**एते सम्प्रसूताः**=ये सब-के-सब उत्पन्न हुए हैं] ॥ ७ ॥

व्याख्या—उन परब्रह्म परमेश्वरसे ही वसु, रुद्र आदि अनेक भेदोंवाले देवतालोग उत्पन्न हुए हैं। उन्हींसे साध्यगण, नाना प्रकारके मनुष्य, विभिन्न जातियोंके पशु, विविध भाँतिके पक्षी और अन्य सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं। सबके जीवनरूप प्राण और अपान तथा सब प्राणियोंके आहाररूप धान, जौ आदि अनेक प्रकारके अन्न भी उन्हींसे उत्पन्न हुए हैं। उन्हींसे तप, श्रद्धा, सत्य और ब्रह्मचर्य प्रकट हुए हैं तथा यज्ञादि कर्म करनेकी विधि भी उन परमेश्वरसे ही प्रकट हुई है। तात्पर्य यह कि सब कुछ उन्हींसे उत्पन्न हुआ है। वे ही सबके परम कारण हैं ॥ ७ ॥

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥

तस्मात्=उसी परमेश्वरसे; **सप्त**=सात; **प्राणाः**=प्राण; **प्रभवन्ति**=उत्पन्न होते हैं (तथा); **सप्त अर्चिषः**=अग्निकी (काली-कराली आदि) सात लपटें; [**सप्त**] **समिधः**=सात (विषयरूपी) समिधाएँ; **सप्त**=सात प्रकारके; **होमाः**=हवन (तथा); **इमे सप्त लोकाः**=ये सात लोक—इन्द्रियोंके सात द्वार (उसीसे उत्पन्न होते हैं); **येषु**=जिनमें; **प्राणाः**=प्राण;

* शास्त्रविधिके अनुसार किसी यज्ञका आरम्भ करते समय यजमान जो संकल्पके साथ उसके अनुष्ठानसम्बन्धी नियमोंके पालनका व्रत लेता है, उसका नाम 'दीक्षा' है।

† यज्ञ और क्रतु—ये यज्ञके ही दो भेद हैं। जिन यज्ञोंमें यूप बनानेकी विधि है, उन्हें 'क्रतु' कहते हैं।

चरन्ति=विचरते हैं; **गुहाशयाः**=हृदयरूप गुफामें शयन करनेवाले ये; **सप्त सप्त**=सात-सातके समुदाय; **निहिताः**=(उसीके द्वारा) सब प्राणियोंमें स्थापित किये हुए हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—उन्हीं परमेश्वरसे सात प्राण अर्थात् जिनमें विषयोंको प्रकाशित करनेकी विशेष शक्ति है, ऐसी सात इन्द्रियाँ—कान, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण तथा वाणी एवं मन; * मन और इन्द्रियोंकी मनन करना, सुनना, स्पर्श करना, देखना, स्वाद लेना, सूँघना और बोलना इस प्रकार सात वृत्तियाँ अर्थात् विषय ग्रहण करनेवाली शक्तियाँ; उन इन्द्रियोंके विषयरूप सात समिधाएँ; सात प्रकारका हवन अर्थात् बाह्यविषयरूप समिधाओंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें निक्षेपरूप क्रिया और इन इन्द्रियोंके वासस्थानरूप सात लोक, जिनमें रहकर ये इन्द्रियरूप सात प्राण अपना-अपना कार्य करते हैं,—निद्राके समय मनके साथ एक होकर हृदयरूप गुफामें शयन करनेवाले ये सात-सातके समुदाय परमेश्वरके द्वारा ही समस्त प्राणियोंमें स्थापित किये हैं ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार आध्यात्मिक वस्तुओंकी उत्पत्ति और स्थिति परमेश्वरसे बतलाकर अब बाह्य जगत्की उत्पत्ति भी उसीसे बताते हुए प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥

अतः=इसीसे; **सर्वे**=समस्त; **समुद्राः**=समुद्र; **च**=और; **गिरयः**=पर्वत (उत्पन्न हुए हैं); **अस्मात्**=इसीसे (प्रकट होकर); **सर्वरूपाः**=अनेक रूपोंवाली; **सिन्धवः**=नदियाँ; **स्यन्दन्ते**=बहती हैं; **च**=तथा; **अतः**=इसीसे; **सर्वाः**=सम्पूर्ण; **ओषधयः**=ओषधियाँ; **च**=और; **रसः**=रस (उत्पन्न हुए हैं); **येन**=जिस रससे (पुष्ट हुए शरीरोंमें); **हि**=ही; **एषः**=वह; **अन्तरात्मा**=(सबका) अन्तरात्मा (परमेश्वर); **भूतैः**=सब प्राणियों (की आत्मा)के सहित; **तिष्ठते**=(उन-उनके हृदयमें) स्थित है ॥ ९ ॥

व्याख्या—इन्हीं परमेश्वरसे समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं, इन्हींसे निकलकर अनेक आकारवाली नदियाँ बह रही हैं, इन्हींसे समस्त ओषधियाँ और वह रस भी उत्पन्न हुआ है, जिससे पुष्ट हुए शरीरोंमें वे सबके अन्तरात्मा परमेश्वर उन सब प्राणियोंकी आत्माके सहित उन-उनके हृदयमें रहते हैं ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—उन परमेश्वरसे सबकी उत्पत्ति होनेके कारण सब उन्हींका स्वरूप है, यह कहकर उनको जाननेका फल बताते हुए इस खण्डकी समाप्ति करते हैं—

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् । एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥ १० ॥

तपः=तप; **कर्म**=कर्म (और); **परामृतम्**=परम अमृतरूप; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **इदम्**=यह; **विश्वम्**=सब कुछ; **पुरुषः एव**=परमपुरुष पुरुषोत्तम ही है; **सोम्य**=हे प्रिय; **एतत्**=इस; **गुहायाम्**=हृदयरूप गुफामें; **निहितम्**=स्थित अन्तर्यामी परमपुरुषको; **यः**=जो; **वेद**=जानता है; **सः**=वह; **इह [एव]**=यहाँ (इस मनुष्यशरीरमें) ही; **अविद्याग्रन्थिम्**=अविद्या-जनित गाँठको; **विकिरति**=खोल डालता है ॥ १० ॥

व्याख्या—तप अर्थात् संयमरूप साधन, कर्म अर्थात् बाह्य साधनोंद्वारा किये जानेवाले कृत्य तथा परम अमृत ब्रह्म—यह सब कुछ परम पुरुष पुरुषोत्तम ही है । प्रिय शौनक ! हृदयरूप गुफामें छिपे हुए इन अन्तर्यामी परमेश्वरको जो जान लेता है, वह इस मनुष्यशरीरमें ही अविद्याजनित अन्तःकरणकी गाँठका भेदन कर देता है अर्थात् सब प्रकारके संशय और भ्रमसे रहित होकर परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त हो जाता है ॥ १० ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

---

* ब्रह्मसूत्रमें इस विषयपर विचार किया गया है कि यहाँ इन्द्रियाँ सात ही क्यों बतलायी गयी हैं । वहाँ कहा गया है कि इन सातके अतिरिक्त हाथ, पैर, उपस्थ तथा गुदा भी इन्द्रियाँ हैं; अतः मनसहित कुल ग्यारह इन्द्रियाँ हैं । यहाँ प्रधानतासे सातका वर्णन है (ब्रह्मसूत्र २ । ४ । ५, ६) ।

द्वितीय खण्ड

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् । एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ १ ॥

आविः=(जो) प्रकाशस्वरूप; **सन्निहितम्**=अत्यन्त समीपस्थ; **गुहाचरम् नाम**=(हृदयरूप गुहामें स्थित होनेके कारण) गुहाचर नामसे प्रसिद्ध; **महत् पदम्**=(और) महान् पद (परम प्राप्य) है; **यत्**= जितने भी; **एजत्**= चेष्टा करनेवाले; **प्राणत्**=श्वास लेनेवाले; **च**=और; **निमिषत्**= आँखोंको खोलने-मूँदनेवाले प्राणी हैं; **एतत्**=ये (सब-के-सब); **अत्र**=इसीमें; **समर्पितम्**=समर्पित (प्रतिष्ठित) हैं; **एतत्**= इस परमेश्वरको; **जानथ**=तुमलोग जानो; **यत्**=जो; **सत्**=सत्; **असत्**=(और) असत् है; **वरेण्यम्**=सबके द्वारा वरण करने योग्य (और); **वरिष्ठम्**=अतिशय श्रेष्ठ है (तथा); **प्रजानाम्**= समस्त प्राणियोंकी; **विज्ञानात्**=बुद्धिसे; **परम्**=परे अर्थात् जाननेमें न आनेवाला है ॥ १ ॥

व्याख्या—सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी परमेश्वर प्रकाशस्वरूप हैं। समस्त प्राणियोंके अत्यन्त समीप उन्हींके हृदयरूप गुहामें छिपे रहनेके कारण ही ये गुहाचर नामसे प्रसिद्ध हैं। जितने भी हिलने-चलनेवाले, श्वास लेनेवाले और आँख खोलने-मूँदनेवाले प्राणी हैं, उन सबका समुदाय इन्हीं परमेश्वरमें समर्पित अर्थात् स्थित है। सबके आश्रय ये परमात्मा ही हैं। तुम इनको जानो। ये सत् और असत् अर्थात् कार्य और कारण एवं प्रकट और अप्रकट—सब कुछ हैं। सबके द्वारा वरण करने योग्य और अत्यन्त श्रेष्ठ हैं तथा समस्त प्राणियोंकी बुद्धिसे परे अर्थात् बुद्धिद्वारा अज्ञेय हैं ॥ १ ॥

सम्बन्ध—उन्हीं परब्रह्म परमेश्वरको समझानेके लिये पुनः उसके स्वरूपका दूसरे शब्दोंमें वर्णन करते हैं—

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च । तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः । तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥ २ ॥

यत्=जो; **अर्चिमत्**=दीप्तिमान् है; **च**=और; **यत्**=जो; **अणुभ्यः**=सूक्ष्मोंसे भी; **अणु**=सूक्ष्म है; **यस्मिन्**= जिसमें; **लोकाः**=समस्त लोक; **च**=और; **लोकिनः**=उन लोकोंमें रहनेवाले प्राणी; **निहिताः**=स्थित हैं; **तत्**=वही; **एतत्**= यह; **अक्षरम्**=अविनाशी; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **सः**=वही; **प्राणः**=प्राण है; **तत् उ**=वही; **वाक्**=वाणी; **मनः**=(और) मन है; **तत्**= वही; **एतत्**=यह; **सत्यम्**=सत्य है; **तत्**=वह; **अमृतम्**=अमृत है; **सोम्य**=हे प्यारे; **तत्**=उस; **वेद्धव्यम्**=बेधने योग्य लक्ष्यको; **विद्धि**= तू बेध ॥ २ ॥

व्याख्या—जो परब्रह्म परमेश्वर अतिशय देदीप्यमान—प्रकाशस्वरूप हैं, जो सूक्ष्मोंसे भी अतिशय सूक्ष्म हैं, जिनमें समस्त लोक और उन लोकोंमें रहनेवाले समस्त प्राणी स्थित हैं अर्थात् ये सब जिनके आश्रित हैं, वे ही परम अक्षर ब्रह्म हैं, वे ही सबके जीवनदाता प्राण हैं, वे ही सबकी वाणी और मन अर्थात् समस्त जगत्के इन्द्रिय और अन्तःकरणरूपमें प्रकट हैं। वे ही यह परम सत्य और अमृत—अविनाशी तत्त्व हैं। प्रिय शौनक ! उस बेधने योग्य लक्ष्यको तू बेध अर्थात् आगे बताये जानेवाले प्रकारसे साधन करके उसमें तन्मय हो जा ॥ २ ॥

सम्बन्ध—लक्ष्यको बेधनेके लिये धनुष और बाण चाहिये; अतः इस रूपककी पूर्णताके लिये सारी सामग्रीका वर्णन करते हैं—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥ ३ ॥

औपनिषदम्=उपनिषद्में वर्णित प्रणवरूप; **महास्त्रम्**=महान् अस्त्र; **धनुः**=धनुषको; **गृहीत्वा**=लेकर (उसपर); **हि**=निश्चय ही; **उपासानिशितम्**=उपासनाद्वारा तीक्ष्ण किया हुआ; **शरम्**=बाण; **संधयीत**=चढ़ाये; **भावगतेन**=(फिर) भावपूर्ण; **चेतसा**=चित्तके द्वारा; **तत्**=उस बाणको; **आयम्य**=खींचकर; **सोम्य**=हे प्रिय; **तत्**=उस; **अक्षरम्**=परम अक्षर पुरुषोत्तमको; **एव**=ही; **लक्ष्यम्**=लक्ष्य मानकर; **विद्धि**=बेधे ॥ ३ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार किसी बाणको लक्ष्यपर छोड़नेसे पहले उसकी नोकको सानपर धरकर तेज किया जाता है, उसपर चढ़े हुए मोरचे आदिको दूर करके उसे उज्ज्वल एवं चमकीला बनाया जाता है, उसी प्रकार आत्मारूपी बाणको उपासनाद्वारा निर्मल एवं शुद्ध बनाकर उसका प्रणवरूप धनुषपर भलीभाँति संधान करना चाहिये। अर्थात् आत्माको प्रणवके उच्चारण एवं उसके अर्थरूप परमात्माके चिन्तनमें सम्यक् प्रकारसे लगाना चाहिये। इसके अनन्तर जैसे धनुषको पूरी शक्तिसे खींचकर बाणको लक्ष्यपर छोड़ा जाता है, जिससे वह पूरी तरहसे लक्ष्यको बेध सके, उसी प्रकार यहाँ भावपूर्ण चित्तसे ओंकारका अधिक-से-अधिक लंबा उच्चारण एवं उसके अर्थका प्रगाढ़ एवं सुदीर्घ कालतक चिन्तन करनेके लिये कहा गया है, जिससे आत्मा निश्चितरूपसे परमात्मामें प्रवेश कर जाय, उसमें एकीभावसे अविचल स्थिति प्राप्त कर ले। दूसरे शब्दोंमें, ओंकारका प्रेमपूर्वक उच्चारण एवं उसके अर्थरूप परमात्माका प्रगाढ़ चिन्तन ही उनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वमन्त्रमें कहे हुए रूपकको यहाँ स्पष्ट करते हैं—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ४ ॥

प्रणवः=(यहाँ) ओंकार ही; **धनुः**=धनुष है; **आत्मा**=आत्मा; **हि**=ही; **शरः**=बाण है (और); **ब्रह्म**=परब्रह्म परमेश्वर ही; **तल्लक्ष्यम्**=उसका लक्ष्य; **उच्यते**=कहा जाता है; **अप्रमत्तेन**=(वह) प्रमादरहित मनुष्यद्वारा ही; **वेद्धव्यम्**=बींधा जाने योग्य है (अतः); **शरवत्**=(उसे बेधकर) बाणकी तरह; **तन्मयः**=(उस लक्ष्यमें) तन्मय; **भवेत्**=हो जाना चाहिये ॥ ४ ॥

व्याख्या—ऊपर बतलाये हुए रूपकमें परमेश्वरका वाचक प्रणव (ओंकार) ही मानो धनुष है, यह जीवात्मा ही बाण है और परब्रह्म परमेश्वर ही उसके लक्ष्य हैं। प्रमादरहित तत्परतासे उनकी उपासना करनेवाले साधकद्वारा ही वह लक्ष्य बेधा जा सकता है; इसलिये हे सोम्य! तुझे पूर्वोक्तरूपसे उस लक्ष्यको बेधकर बाणकी ही भाँति उसमें तन्मय हो जाना चाहिये ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—पुनः परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए प्रमादरहित और विरक्त होकर उसे जाननेके लिये श्रुति कहती है—

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥ ५ ॥

यस्मिन्=जिसमें; **द्यौः**=स्वर्ग; **पृथिवी**=पृथ्वी; **च**=और; **अन्तरिक्षम्**=उनके बीचका आकाश; **च**=तथा; **सर्वैः प्राणैः सह**=समस्त प्राणोंके सहित; **मनः**=मन; **ओतम्**=गुँथा हुआ है; **तम् एव**=उसी; **एकम्**=एक; **आत्मानम्**=सबके आत्मरूप परमेश्वरको; **जानथ**=जानो; **अन्याः**=दूसरी; **वाचः**=सब बातोंको; **विमुञ्चथ**=सर्वथा छोड़ दो; **एषः**=यही; **अमृतस्य**=अमृतका; **सेतुः**=सेतु है ॥ ५ ॥

व्याख्या—जिन परब्रह्म परमात्मामें स्वर्ग, पृथ्वी तथा उनके बीचका सम्पूर्ण आकाश एवं समस्त प्राण और इन्द्रियोंके सहित मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण सब-के-सब ओतप्रोत हैं, उन्हीं एक सर्वात्मा परमेश्वरको तुम पूर्वोक्त उपायके द्वारा जानो; दूसरी सब बातोंको—ग्राम्यचर्चाको सर्वथा छोड़ दो। वे सब तुम्हारे साधनमें विघ्न हैं; अतः उनसे सर्वथा विरक्त होकर साधनमें तत्पर हो जाओ। यही अमृतका सेतु है, अर्थात् संसार-समुद्रसे पार होकर अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त करनेके लिये पुलके सदृश है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—पुनः परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए उनकी प्राप्तिका साधन बताते हैं—

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥

रथनाभौ=रथकी नाभिमें (जुड़े हुए); **अराः इव**= अरोंकी भाँति; **यत्र**= जिसमें; **नाड्यः**= समस्त देहव्यापिनी नाड़ियाँ; **संहताः**=एकत्र स्थित हैं; (उसी हृदयमें) **सः**= वह; **बहुधा**= बहुत प्रकारसे; **जायमानः**= उत्पन्न होनेवाला; **एषः**=यह (अन्तर्यामी परमेश्वर); **अन्तः** =मध्यभागमें; **चरते**= रहता है; [**एनम्** =इस;] **आत्मानम्**=सर्वात्मा परमात्माका; **ओम्**=ओम्; **इति एवम्**=इस नामके द्वारा ही; **ध्यायथ**=ध्यान करो; **तमसः परस्तात्**=अज्ञानमय अन्धकारसे अतीत; **पाराय**= (तथा) भवसागरके अन्तिम तटरूप पुरुषोत्तमकी प्राप्तिके लिये (साधन करनेमें); **वः**= तुमलोगोंका; **स्वस्ति**= कल्याण; [**अस्तु**=हो] ॥ ६ ॥

व्याख्या—'जिस प्रकार रथके पहियेके केन्द्रमें अरे लगे रहते हैं, उसी प्रकार शरीरकी समस्त नाड़ियाँ जिस हृदयदेशमें एकत्र स्थित हैं, उसी हृदयमें नाना रूपसे प्रकट होनेवाले परब्रह्म परमात्मा अन्तर्यामीरूपसे रहते हैं। इन सबके आत्मा पुरुषोत्तमका 'ओम्' इस नामके उच्चारणके साथ-साथ निरन्तर ध्यान करते रहो। इस प्रकार परमात्माके 'ओम्' इस नामका जप और उसके अर्थभूत परमात्माका ध्यान करते रहनेसे तुम उन परमात्माको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाओगे, जो अज्ञानरूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत और संसार-समुद्रके दूसरे पार हैं। तुम्हारा कल्याण हो।' इस प्रकार आचार्य उपर्युक्त विधिसे साधन करनेवाले शिष्योंको आशीर्वाद देते हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पुनः परमेश्वरके स्वरूपका ही वर्णन करते हैं—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ ॥

यः सर्वज्ञः=जो सर्वदा जाननेवाला (और); **सर्ववित्**=सब ओरसे सबको जाननेवाला है; **यस्य**= जिसकी; **भुवि**= जगत्में; **एषः**= यह; **महिमा**= महिमा है; **एषः हि आत्मा**= यह प्रसिद्ध सबका आत्मा परमेश्वर; **दिव्ये व्योम्नि**= दिव्य आकाशरूप; **ब्रह्मपुरे**= ब्रह्मलोकमें; **प्रतिष्ठितः**= स्वरूपसे स्थित है; **प्राणशरीरनेता**=सबके प्राण और शरीरका नेता; **मनोमयः**=(यह परमात्मा मनमें व्याप्त होनेके कारण) मनोमय है; **हृदयं संनिधाय**=(यही) हृदयकमलका आश्रय लेकर; **अन्ने**= अन्नमय स्थूल शरीरमें; **प्रतिष्ठितः**= प्रतिष्ठित है; **यत्**= जो; **आनन्दरूपम्**= आनन्दस्वरूप; **अमृतम्**= अविनाशी परब्रह्म; **विभाति**= सर्वत्र प्रकाशित है; **धीराः**= बुद्धिमान् मनुष्य; **विज्ञानेन**=विज्ञानके द्वारा; **तत्**= उसको; **परिपश्यन्ति**= भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो परब्रह्म परमेश्वर सर्वज्ञ—सर्वदा जाननेवाले और सब ओरसे सबको भलीभाँति जाननेवाले हैं, अर्थात् जिनकी ज्ञानशक्ति देश-कालसे बाधित नहीं है, जिनकी यह आश्चर्यमयी महिमा जगत्में प्रकट है, वे सबके आत्मा परमेश्वर परम व्योम नामसे प्रसिद्ध दिव्य आकाशरूप ब्रह्मलोकमें स्वरूपसे स्थित हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्राण और शरीरका नियमन करनेवाले ये परमेश्वर मनमें व्याप्त होनेके कारण मनोमय कहलाते हैं और सब प्राणियोंके हृदयकमलका आश्रय लेकर अन्नमय स्थूलशरीरमें प्रतिष्ठित हैं। बुद्धिमान् मनुष्य विज्ञानद्वारा उन परब्रह्मको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेते हैं, जो आनन्दमय अविनाशीरूपसे सर्वत्र प्रकाशित हैं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब परमात्माके ज्ञानका फल बताते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८ ॥

तस्मिन् परावरे दृष्टे= कार्यकारणस्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तमको तत्त्वसे जान लेनेपर; **अस्य हृदयग्रन्थिः**= इस (जीवात्मा) के हृदयकी गाँठ; **भिद्यते**= खुल जाती है; **सर्वसंशयाः**= सम्पूर्ण संशय; **छिद्यन्ते**= कट जाते हैं; **च**= और; **कर्माणि**= समस्त शुभाशुभ कर्म; **क्षीयन्ते**= नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—कार्य और कारणस्वरूप उन परात्पर परब्रह्म पुरुषोत्तमको तत्त्वसे जान लेनेपर इस जीवके हृदयकी

अविद्यारूप गाँठ खुल जाती है, जिसके कारण इसने इस जड शरीरको ही अपना स्वरूप मान रक्खा है। इतना ही नहीं, इसके समस्त संशय सर्वथा कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् यह जीव सब बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—उन परब्रह्मके स्थान और स्वरूपका वर्णन करते हुए उन्हें जाननेका महत्त्व बताते हैं—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ ९ ॥

तत्=वह; **विरजम्**=निर्मल; **निष्कलम्**=अवयवरहित; **ब्रह्म**=परब्रह्म; **हिरण्मये परे कोशे**=प्रकाशमय परम कोशमें—परमधाममें (विराजमान है); **तत्**=वह; **शुभ्रम्**=सर्वथा विशुद्ध; **ज्योतिषाम्**=समस्त ज्योतियोंकी भी; **ज्योतिः**=ज्योति है; **यत्**=जिसको; **आत्मविदः**=आत्मज्ञानी; **विदुः**=जानते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—वे निर्मल—निर्विकार और अवयवरहित—अखण्ड परमात्मा प्रकाशमय परमधाममें विराजमान हैं; वे सर्वथा विशुद्ध और समस्त प्रकाशयुक्त पदार्थोंके भी प्रकाशक हैं तथा उन्हें आत्मज्ञानी महात्माजन ही जानते हैं ॥ ९ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १० ॥

तत्र=वहाँ; **न**=न (तो); **सूर्यः**=सूर्य; **भाति**=प्रकाशित होता है; **न**=न; **चन्द्रतारकम्**=चन्द्रमा और तारागण ही; **न**=(तथा) न; **इमाः**=ये; **विद्युतः**=बिजलियाँ ही; **भान्ति**=(वहाँ) कौंधती हैं; **अयम् अग्निः कुतः**=फिर इस अग्निके लिये तो कहना ही क्या है; **तम् भान्तम् एव**=(क्योंकि) उसके प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे); **सर्वम्**=सब; **अनुभाति**=प्रकाशित होते हैं; **तस्य**=उसीके; **भासा**=प्रकाशसे; **इदम् सर्वम्**=यह सम्पूर्ण जगत्; **विभाति**=प्रकाशित होता है ॥ १० ॥

व्याख्या—उन स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरके समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश प्रकट होनेपर खद्योतका प्रकाश लुप्त हो जाता है, वैसे ही सूर्यका आंशिक तेज भी उस असीम तेजके सामने लुप्त हो जाता है। चन्द्रमा, तारागण और बिजली भी वहाँ नहीं चमकते; फिर इस लौकिक अग्निकी तो बात ही क्या है। क्योंकि प्राकृत जगत्में जो कुछ भी तत्त्व प्रकाशशील हैं, सब उन परब्रह्म परमेश्वरकी प्रकाश-शक्तिके अंशको पाकर ही प्रकाशित हैं। वे अपने प्रकाशकके समीप अपना प्रकाश कैसे फैला सकते हैं। सारांश यह कि यह सम्पूर्ण जगत् उन जगदात्मा पुरुषोत्तमके प्रकाशसे अथवा उस प्रकाशके एक क्षुद्रतम अंशसे प्रकाशित हो रहा है ॥ १० ॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ ११ ॥

इदम्=यह; **अमृतम्**=अमृतस्वरूप; **ब्रह्म**=परब्रह्म; **एव**=ही; **पुरस्तात्**=सामने है; **ब्रह्म**=ब्रह्म ही; **पश्चात्**=पीछे है; **ब्रह्म**=ब्रह्म ही; **दक्षिणतः**=दायीं ओर; **च**=तथा; **उत्तरेण**=बायीं ओर; **अधः**=नीचेकी ओर; **च**=तथा; **ऊर्ध्वम्**=ऊपरकी ओर; **च**=भी; **प्रसृतम्**=फैला हुआ है; **इदम् [यद्]**=यह जो; **विश्वम्**=सम्पूर्ण जगत् है; **इदम्**=यह; **वरिष्ठम्**=सर्वश्रेष्ठ; **ब्रह्म एव**=ब्रह्म ही है ॥ ११ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें परमात्माकी सर्वव्यापकता और सर्वरूपताका प्रतिपादन किया गया है। सारांश यह कि ये अमृतस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही आगे-पीछे, दायें-बायें, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे—सर्वत्र फैले हुए हैं; इस विश्व-ब्रह्माण्डके रूपमें ये सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही प्रत्यक्ष दिखायी दे रहे हैं ॥ ११ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

॥ द्वितीय मुण्डक समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥

सयुजा=एक साथ रहनेवाले (तथा); **सखाया**=परस्पर सखाभाव रखनेवाले; **द्वा**=दो; **सुपर्णा**=पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा); **समानम् वृक्षम् परिषस्वजाते**=एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं; **तयोः**=उन दोनोंमेंसे; **अन्यः**=एक तो; **पिप्पलम्**=उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका; **स्वादु**=स्वाद ले-लेकर; **अत्ति**=उपभोग करता है (किंतु); **अन्यः**=दूसरा; **अनश्नन्**=न खाता हुआ; **अभिचाकशीति**=केवल देखता रहता है ॥ १ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार गीतामें जगत्का अश्वत्थ (पीपल) वृक्षके रूपमें वर्णन किया गया है, उसी प्रकार इस मन्त्रमें शरीरको पीपलके वृक्षका और जीवात्मा तथा परमात्माको पक्षियोंका रूप देकर वर्णन किया गया है। इसी तरहका वर्णन कठोपनिषद्में भी गुहामें प्रविष्ट छाया और धूपके नामसे आया है। भाव दोनों जगह प्रायः एक ही है। मन्त्रका सारांश यह है कि यह मनुष्य-शरीर मानो एक वृक्ष है। ईश्वर और जीव—ये सदा साथ रहनेवाले दो मित्र पक्षी हैं। ये इस शरीररूप वृक्षमें एक साथ एक ही हृदयरूप घोंसलेमें निवास करते हैं। इन दोनोंमें एक—जीवात्मा तो उस वृक्षके फलरूप अपने कर्म-फलोंको अर्थात् प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए सुख-दुःखोंको आसक्ति एवं द्वेषपूर्वक भोगता है और दूसरा—ईश्वर उन कर्म-फलोंसे किसी प्रकारका किञ्चित् भी सम्बन्ध न जोड़कर केवल देखता रहता है ॥ १ ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥

समाने वृक्षे=पूर्वोक्त शरीररूपी समान वृक्षपर (रहनेवाला); **पुरुषः**=जीवात्मा; **निमग्नः**=(शरीरकी गहरी आसक्तिमें) डूबा हुआ है; **अनीशया**=असमर्थतारूप दीनताका अनुभव करता हुआ; **मुह्यमानः**=मोहित होकर; **शोचति**=शोक करता रहता है; **यदा**=जब कभी (भगवान्की अहैतुकी दयासे); **जुष्टम्**=(भक्तोंद्वारा नित्य) सेवित (तथा); **अन्यम्**=अपनेसे भिन्न; **ईशम्**=परमेश्वरको (और); **अस्य महिमानम्**=उनकी महिमाको; **पश्यति**=यह प्रत्यक्ष कर लेता है; **इति**=तब; **वीतशोकः**=सर्वथा शोकरहित हो जाता है ॥ २ ॥

व्याख्या—पहले वर्णन किये हुए शरीररूप एक ही वृक्षपर हृदयरूप घोंसलेमें रहनेवाला यह जीवात्मा जबतक अपने साथ रहनेवाले उन परम सुहृद् परमेश्वरकी ओर नहीं देखता, शरीरमें ही आसक्त होकर इसीमें निमग्न हुआ रहता है अर्थात् शरीरमें अतिशय ममता करके उसके द्वारा भोगोंके भोगनेमें ही रचा-पचा रहता है, तबतक असमर्थतारूप दीनतासे मोहित होकर वह नाना प्रकारके दुःख भोगता रहता है। जब कभी भगवान्की निर्हैतुकी दयासे अपनेसे भिन्न, नित्य अपने ही समीप रहनेवाले, परम सुहृद्, परमप्रिय और भक्तोंद्वारा सेवित ईश्वरको और उनकी आश्चर्यमयी महिमाको, जो जगत्में सर्वत्र भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्रकट हो रही है, प्रत्यक्ष कर लेता है, तब तत्काल ही वह सर्वथा शोकरहित हो जाता है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—ईश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए उन्हें जान लेनेका फल बताते हैं—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ ॥

यदा=जब; **पश्यः**=यह द्रष्टा (जीवात्मा); **ईशम्**=सबके शासक; **ब्रह्मयोनिम्**=ब्रह्माके भी आदि कारण; **कर्तारम्**=सम्पूर्ण जगत्के रचयिता; **रुक्मवर्णम्**=दिव्य प्रकाशस्वरूप; **पुरुषम्**=परमपुरुषको; **पश्यते**=प्रत्यक्ष कर

लेता है; **तदा**=उस समय; **पुण्यपापे**=पुण्य-पाप दोनोंको; **विधूय**=भलीभाँति हटाकर; **निरञ्जनः**=निर्मल हुआ; **विद्वान्**=वह ज्ञानी महात्मा; **परमम्**=सर्वोत्तम; **साम्यम्**=समताको; **उपैति**=प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकारसे परमेश्वरकी आश्चर्यमयी महिमाकी ओर दृष्टिपात करके उनके सम्मुख जानेवाला द्रष्टा (जीवात्मा) जब सबके नियन्ता, ब्रह्माके भी आदि कारण, सम्पूर्ण जगत्‌की रचना करनेवाले, दिव्य प्रकाश-स्वरूप परमपुरुष परमेश्वरका साक्षात् कर लेता है, उस समय वह अपने समस्त पुण्य-पापरूप कर्मोंका समूल नाशकर उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित होकर परम निर्मल हुआ ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम समताको प्राप्त हो जाता है। गीताके बारहवें अध्यायमें श्लोक १३ से १९ तक इस समताका कई प्रकारसे वर्णन किया गया है ॥ ३ ॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥

एषः=यह (परमेश्वर); **हि**=ही; **प्राणः**=प्राण है; **यः**=जो; **सर्वभूतैः**=सब प्राणियोंके द्वारा; **विभाति**=प्रकाशित हो रहा है; **विजानन्**=(इसको) जाननेवाला; **विद्वान्**=ज्ञानी; **अतिवादी**=अभिमानपूर्वक बढ़-बढ़कर बातें करनेवाला; **न भवते**=नहीं होता (किंतु वह); **क्रियावान्**=यथायोग्य भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करता हुआ; **आत्मक्रीडः**=सबके आत्मरूप अन्तर्यामी परमेश्वरमें क्रीडा करता रहता है (और); **आत्मरतिः**=सबके आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वरमें ही रमण करता रहता है; **एषः**=यह (ज्ञानी भक्त); **ब्रह्मविदाम्**=ब्रह्मवेत्ताओंमें भी; **वरिष्ठः**=श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

व्याख्या—ये सर्वव्यापी परमेश्वर ही सबके प्राण हैं; जिस प्रकार शरीरकी सारी चेष्टाएँ प्राणके द्वारा होती हैं, उसी प्रकार इस विश्वमें भी जो कुछ हो रहा है, परमात्माकी शक्तिसे ही हो रहा है। समस्त प्राणियोंमें भी उन्हींका प्रकाश है, वे ही उन प्राणियोंके द्वारा प्रकाशित हो रहे हैं। इस बातको समझनेवाला ज्ञानी भक्त कभी बढ़-बढ़कर बातें नहीं करता। क्योंकि वह जानता है कि उसके अंदर भी उन सर्वव्यापक परमात्माकी ही शक्ति अभिव्यक्त है; फिर वह किस बातपर अभिमान करे। वह तो लोकसंग्रहके लिये भगवदाज्ञानुसार अपने वर्ण, आश्रमके अनुकूल कर्म करता हुआ सबके आत्मा अन्तर्यामी भगवान्‌में ही क्रीड़ा करता है। वह सदा भगवान्‌में ही रमण करता है। ऐसा यह भगवान्‌का ज्ञानी भक्त ब्रह्मवेत्ताओंमें भी अति श्रेष्ठ है। गीतामें भी सबको वासुदेवरूप देखनेवाले ज्ञानी भक्तको महात्मा और सुदुर्लभ बताया गया है (७। १९) ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—उन परमात्माकी प्राप्तिके साधन बताते हैं—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥

एषः=यह; **अन्तःशरीरे हि**=शरीरके भीतर ही (हृदयमें विराजमान); **ज्योतिर्मयः**=प्रकाशस्वरूप (और); **शुभ्रः**=परम विशुद्ध; **आत्मा**=परमात्मा; **हि**=निस्संदेह; **सत्येन**=सत्य-भाषण; **तपसा**=तप (और); **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य-पूर्वक; **सम्यग्ज्ञानेन**=यथार्थ ज्ञानसे ही; **नित्यम्**=सदा; **लभ्यः**=प्राप्त होनेवाला है; **यम्**=जिसे; **क्षीणदोषाः**=सब प्रकारके दोषोंसे रहित हुए; **यतयः**=यत्नशील साधक ही; **पश्यन्ति**=देख पाते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—सबके शरीरके भीतर हृदयमें विराजमान परम विशुद्ध प्रकाशमय ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा, जिनको सब प्रकारके दोषोंसे रहित हुए प्रयत्नशील साधक ही जान सकते हैं, सदैव सत्य-भाषण, तपश्चर्या, संयम और स्वार्थत्याग तथा ब्रह्मचर्यके पालनसे उत्पन्न यथार्थ ज्ञानद्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। इनसे रहित होकर जो भोगोंमें आसक्त हैं, भोगोंकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारके मिथ्याभाषण करते हैं और आसक्तिवश नियमपूर्वक अपने वीर्यकी रक्षा नहीं कर सकते, वे स्वार्थपरायण अविवेकी मनुष्य उन परमात्माका अनुभव नहीं कर सकते; क्योंकि वे उनको चाहते ही नहीं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—पूर्वोक्त साधनोंमेंसे सत्यकी महिमा बताते हैं—

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥

सत्यम्=सत्य; **एव**=ही; **जयति**=विजयी होता है; **अनृतम्**=झूठ; **न**=नहीं; **हि**=क्योंकि; **देवयानः**=वह देवयान नामक; **पन्थाः**=मार्ग; **सत्येन**=सत्यसे; **विततः**=परिपूर्ण है; **येन**=जिससे; **आप्तकामाः**=पूर्णकाम; **ऋषयः**=ऋषिलोग (वहाँ); **आक्रमन्ति**=गमन करते हैं; **यत्र**=जहाँ; **तत्**=वह; **सत्यस्य**=सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्माका; **परमम्**=उत्कृष्ट; **निधानम्**=धाम है ॥ ६ ॥

व्याख्या—सत्यकी ही विजय होती है, झूठकी नहीं। अभिप्राय यह है कि परमात्मा सत्यस्वरूप हैं; अतः उनकी प्राप्तिके लिये मनुष्यमें सत्यकी प्रतिष्ठा होनी चाहिये । परमात्मप्राप्तिके लिये तो सत्य अनिवार्य साधन है ही; जगत्में दूसरे सब कार्योंमें भी अन्ततः सत्यकी ही विजय होती है, झूठकी नहीं । जो लोग मिथ्या-भाषण, दम्भ और कपटसे उन्नतिकी आशा रखते हैं, वे अन्तमें बुरी तरहसे निराश होते हैं । मिथ्या-भाषण और मिथ्या आचरणोंमें भी जो सत्यका आभास है, जिसके कारण दूसरे लोग उसे किसी अंशमें सत्य मान लेते हैं, उसीसे कुछ क्षणिक लाभ-सा हो जाता है । परंतु उसका परिणाम अच्छा नहीं होता । अन्तमें सत्य सत्य ही रहता है और झूठ झूठ ही । इसीसे बुद्धिमान् मनुष्य सत्यभाषण और सदाचारको ही अपनाते हैं, झूठको नहीं; क्योंकि जिनकी भोग-वासना नष्ट हो गयी है, ऐसे पूर्णकाम ऋषिलोग जिस मार्गसे वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ इस सत्यके परमाधार परब्रह्म परमात्मा स्थित हैं, वह देवयान मार्ग अर्थात् उन परमदेव परमात्माको प्राप्त करनेका साधनरूप मार्ग सत्यसे ही परिपूर्ण है; उसमें असत्य-भाषण और दम्भ, कपट आदि असत् आचरणोंके लिये स्थान नहीं है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त साधनोंसे प्राप्त होनेवाले परमात्माके स्वरूपका पुनः वर्णन करते हैं—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ ॥

तत्=वह परब्रह्म; **बृहत्**=महान्; **दिव्यम्**=दिव्य; **च**=और; **अचिन्त्यरूपम्**=अचिन्त्यस्वरूप है; **च**=तथा; **तत्**=वह; **सूक्ष्मात्**=सूक्ष्मसे भी; **सूक्ष्मतरम्**=अत्यन्त सूक्ष्मरूपमें; **विभाति**=प्रकाशित होता है; **तत्**=(तथा) वह; **दूरात्**=दूरसे भी; **सुदूरे**=अत्यन्त दूर है; **च**=और; **इह**=इस (शरीर) में रहकर; **अन्तिके च**= अति समीप भी है; **इह**=यहाँ; **पश्यत्सु**=देखनेवालोंके भीतर; **एव**=ही; **गुहायाम्**=उनकी हृदयरूपी गुफामें; **निहितम्**=स्थित है ॥ ७ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म परमात्मा सबसे महान्, दिव्य—अलौकिक और अचिन्त्यस्वरूप हैं अर्थात् उनका स्वरूप मनके द्वारा चिन्तनमें आनेवाला नहीं है । अतः मनुष्यको श्रद्धापूर्वक परमात्माकी प्राप्तिके पूर्वकथित साधनोंमें लगे रहना चाहिये । साधन करते-करते वे परमात्मा अचिन्त्य एवं सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेपर भी स्वयं अपने स्वरूपको हृदयमें प्रकाशित कर देते हैं । परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं; ऐसा कोई भी स्थान नहीं, जहाँ वे न हों । अतः वे दूरसे भी दूर हैं, अर्थात् जहाँतक हमलोग दूरका अनुभव करते हैं, वहाँ भी वे हैं और निकटसे भी निकट, यहीं अपने भीतर ही हैं । अधिक क्या, देखनेवालोंमें ही उनके हृदयरूप गुफामें छिपे हुए हैं । अतः उन्हें खोजनेके लिये कहीं दूसरी जगह जानेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ७ ॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ ॥

न चक्षुषा=(वह परमात्मा) न तो नेत्रोंसे; **न वाचा**=न वाणीसे (और); **न अन्यैः**=न दूसरी; **देवैः**=इन्द्रियोंसे; **अपि**=ही; **गृह्यते**=ग्रहण करनेमें आता है (तथा); **तपसा**=तपसे; **वा**=अथवा; **कर्मणा**=कर्मोंसे भी (वह); [**न गृह्यते**=ग्रहण नहीं किया जा सकता;] **तम्**=उस; **निष्कलम्**=अवयवरहित (परमात्मा) को; **तु**=तो; **विशुद्धसत्त्वः**=विशुद्ध अन्तःकरणवाला (साधक); **ततः**=उस विशुद्ध अन्तःकरणसे; **ध्यायमानः**=(निरन्तर उसका) ध्यान करता हुआ ही; **ज्ञानप्रसादेन**=ज्ञानकी निर्मलतासे; **पश्यते**=देख पाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—उन परब्रह्मको मनुष्य इन आँखोंसे नहीं देख सकता; इतना ही नहीं, वाणी आदि अन्य इन्द्रियोंद्वारा भी वे पकड़में नहीं आ सकते। तथा नाना प्रकारकी तपश्चर्या और कर्मोंके द्वारा भी मनुष्य उन्हें नहीं पा सकता। उन अवयवरहित परम विशुद्ध परमात्माको तो मनुष्य सब भोगोंसे मुख मोड़कर, निःस्पृह होकर विशुद्ध अन्तःकरणके द्वारा निरन्तर एकमात्र उन्हींका ध्यान करते-करते ज्ञानकी निर्मलतासे ही देख सकता है। अतः जो उन परमात्माको पाना चाहे, उसे उचित है कि संसारके भोगोंसे सर्वथा विरक्त होकर उन सबकी कामनाका त्याग करके एकमात्र परब्रह्म परमात्माको ही पानेके लिये उन्हींके चिन्तनमें निमग्न हो जाय॥ ८॥

सम्बन्ध—जब वे परब्रह्म परमात्मा सबके हृदयमें रहते हैं, तब सभी जीव उन्हें क्यों नहीं जानते? शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष ही क्यों जानता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥ ९॥

यस्मिन्=जिसमें; **पञ्चधा**=पाँच भेदोंवाला; **प्राणः**=प्राण; **संविवेश**=भलीभाँति प्रविष्ट है (उसी शरीरमें रहनेवाला); **एषः**=यह; **अणुः**=सूक्ष्म; **आत्मा**=आत्मा; **चेतसा**=मनसे; **वेदितव्यः**=जाननेमें आनेवाला है; **प्रजानाम्**=प्राणियोंका (वह); **सर्वम्**=सम्पूर्ण; **चित्तम्**=चित्त; **प्राणैः**=प्राणोंसे; **ओतम्**=व्याप्त है; **यस्मिन् विशुद्धे**=जिस अन्तःकरणके विशुद्ध होनेपर; **एषः**=यह; **आत्मा**=आत्मा; **विभवति**=सब प्रकारसे समर्थ होता है॥ ९॥

व्याख्या—जिस शरीरमें प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान—इन पाँच भेदोंवाला प्राण प्रविष्ट होकर उसे चेष्टायुक्त कर रहा है, उसी शरीरके भीतर हृदयके मध्यभागमें मनद्वारा ज्ञातारूपसे जाननेमें आनेवाला यह सूक्ष्म जीवात्मा भी रहता है। परंतु समस्त प्राणियोंके समस्त अन्तःकरण प्राणोंसे ओतप्रोत हो रहे हैं, अर्थात् इन प्राण और इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये उत्पन्न हुई नाना प्रकारकी भोगवासनाओंसे मलिन और क्षुब्ध हो रहे हैं; इस कारण सब लोग परमात्माको नहीं जान पाते। अन्तःकरणके विशुद्ध होनेपर ही यह जीवात्मा सब प्रकारसे समर्थ होता है। अतः यदि भोगोंसे विरक्त होकर यह परमात्माके चिन्तनमें लग जाता है, तब तो परमात्माको प्राप्त कर लेता है; और यदि भोगोंकी कामना करता है तो इच्छित भोगोंको प्राप्त कर लेता है॥ ९॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः॥१०॥

विशुद्धसत्त्वः=विशुद्ध अन्तःकरणवाला (मनुष्य); **यम् यम्**=जिस-जिस; **लोकम्**=लोकको; **मनसा**=मनसे; **संविभाति**=चिन्तन करता है; **च**=तथा; **यान् कामान् कामयते**=जिन भोगोंकी कामना करता है; **तम् तम्**=उन-उन; **लोकम्**=लोकोंको; **जयते**=जीत लेता है; **च**=और; **तान् कामान्**=उन (इच्छित) भोगोंको भी; [**जयते**=प्राप्त कर लेता है;] **तस्मात् हि**=इसीलिये; **भूतिकामः**=ऐश्वर्यकी कामनावाला मनुष्य; **आत्मज्ञम्**=शरीरसे भिन्न आत्माको जाननेवाले महात्माका; **अर्चयेत्**=सत्कार करे॥ १०॥

व्याख्या—विशुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य यदि भोगोंसे सर्वथा विरक्त होकर उस निर्मल अन्तःकरणद्वारा निरन्तर परब्रह्म परमेश्वरका ध्यान करता है—तब तो उन्हें प्राप्त कर लेता है, यह बात आठवें मन्त्रमें कही जा चुकी है; परंतु यदि वह सर्वथा निष्काम नहीं होता तो जिस-जिस लोकका मनसे चिन्तन करता है तथा जिन-जिन भोगोंको चाहता है, उन-उन लोकोंको ही जीतता है—उन्हीं लोकोंमें जाता है तथा उन-उन भोगोंको ही प्राप्त करता है; इसलिये ऐश्वर्यकी कामनावाले मनुष्यको शरीरसे भिन्न आत्माको जाननेवाले विशुद्ध अन्तःकरणयुक्त विवेकी पुरुषकी सेवा-पूजा (आदर-सत्कार) करनी चाहिये; क्योंकि वह अपने लिये और दूसरोंके लिये भी जो-जो कामना करता है, वह पूर्ण हो जाती है॥ १०॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त॥ १॥

द्वितीय खण्ड

सम्बन्ध—पूर्व प्रकरणमें विशुद्ध अन्तःकरणवाले साधककी सामर्थ्यका वर्णन करनेके लिये प्रसङ्गवश कामनाओंकी पूर्तिकी बात आ गयी थी; अतः निष्कामभावकी प्रशंसा और सकामभावकी निन्दा करते हुए पुनः प्रकरण आरम्भ करते हैं—

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥ १ ॥

सः=वह (निष्काम भाववाला पुरुष); **एतत्**=इस; **परमम्**=परम; **शुभ्रम्**=विशुद्ध (प्रकाशमान); **ब्रह्मधाम**=ब्रह्मधामको; **वेद**=जान लेता है; **यत्र**=जिसमें; **विश्वम्**=सम्पूर्ण जगत्; **निहितम्**=स्थित हुआ; **भाति**=प्रतीत होता है; **ये हि**=जो भी कोई; **अकामाः**=निष्काम साधक; **पुरुषम् उपासते**=परम पुरुषकी उपासना करते हैं; **ते**=वे; **धीराः**=बुद्धिमान्; **शुक्रम्**=रजोवीर्यमय; **एतत्**=इस जगत्को; **अतिवर्तन्ति**=अतिक्रमण कर जाते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या—थोड़ा-सा विचार करनेपर प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्यकी समझमें यह बात आ जाती है कि इस प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले जगत्के रचयिता और परमाधार कोई एक परमेश्वर अवश्य हैं। इस प्रकार जिनमें यह सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है, उन परम विशुद्ध प्रकाशमय धामस्वरूप परब्रह्म परमात्माको समस्त भोगोंकी कामनाका त्याग करके निरन्तर उनका ध्यान करनेवाला साधक जान लेता है। यह बात निश्चित है कि जो मनुष्य उन परम पुरुष परमात्माकी उपासना करते, एकमात्र उन्हींको चाहते हैं, वे इस रजोवीर्यमय (भोगमय) जगत्को लाँघ जाते हैं, किसी प्रकारके भोगोंमें उनका मन नहीं अटकता, वे सर्वथा पूर्ण निष्काम होकर रहते हैं। इसीलिये उन्हें बुद्धिमान् कहा गया है; क्योंकि जो सार वस्तुके लिये असारको त्याग दे, वही बुद्धिमान् है* ॥ १ ॥

सम्बन्ध—अब सकाम पुरुषकी निन्दा करते हुए ऊपर कही हुई बातको स्पष्ट करते हैं—

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥ २ ॥

यः=जो; **कामान्**=भोगोंको; **मन्यमानः**=आदर देनेवाला मानव; **कामयते**=(उनकी) कामना करता है; **सः**=वह; **कामभिः**=उन कामनाओंके कारण; **तत्र तत्र**=उन-उन स्थानोंमें; **जायते**=उत्पन्न होता है (जहाँ वे उपलब्ध हो सकें); **तु**=परंतु; **पर्याप्तकामस्य**=जो पूर्णकाम हो चुका है, उस; **कृतात्मनः**=विशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषकी; **सर्वे**=सम्पूर्ण; **कामाः**=कामनाएँ; **इह एव**=यहीं; **प्रविलीयन्ति**=सर्वथा विलीन हो जाती हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—जो भोगोंको आदर देनेवाला है, जिसकी दृष्टिमें इस लोक और परलोकके भोग सुखके हेतु हैं, वही भोगोंकी कामना करता है और नाना प्रकारकी कामनाओंके कारण ही जहाँ-जहाँ भोग उपलब्ध हो सकते हैं, वहाँ-वहाँ कर्मानुसार उत्पन्न होता है; परंतु जो भगवान्को चाहनेवाले भगवान्के प्रेमी भक्त पूर्णकाम हो गये हैं, इस जगत्के भोगोंसे ऊब गये हैं, उन विशुद्ध अन्तःकरणवाले भक्तोंकी समस्त कामनाएँ इस शरीरमें ही विलीन हो जाती हैं। स्वप्नमें भी उनकी दृष्टि भोगोंकी ओर नहीं जाती। फलतः उन्हें शरीर छोड़नेपर नवीन जन्म नहीं धारण करना पड़ता। वे भगवान्को पाकर जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये छूट जाते हैं ॥ २ ॥

---

* एक आदरणीय महानुभावने यह अर्थ किया है—

'वह (आत्मज्ञ) समस्त कामनाओंके उत्कृष्ट आश्रयभूत उस ब्रह्मको जानता है, जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् अर्पित है और जो स्वयं शुद्धरूपसे प्रकाशित हो रहा है। उस इस प्रकारके आत्मज्ञ पुरुषकी भी जो लोग निष्काम भावसे मुमुक्षु होकर परमदेवके समान उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् पुरुष शरीरके उपादान कारणरूप मनुष्यदेहके बीजको अतिक्रमण कर जाते हैं अर्थात् फिर योनिमें प्रवेश नहीं करते ....।'

सम्बन्ध—पहले दो मन्त्रोंमें भगवान्‌के परम दुलारे जिन प्रेमी भक्तोंका वर्णन किया गया है, उन्हींको वे सर्वात्मा परब्रह्म पुरुषोत्तम दर्शन देते हैं—यह बात अब अगले मन्त्रमें कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥ ३ ॥

अयम्=यह; **आत्मा**=परब्रह्म परमात्मा; **न प्रवचनेन**=न तो प्रवचनसे; **न मेधया**=न बुद्धिसे (और); **न बहुना श्रुतेन**=न बहुत सुननेसे ही; **लभ्यः**=प्राप्त हो सकता है; **एषः**=यह; **यम्**=जिसको; **वृणुते**=स्वीकार कर लेता है; **तेन एव**=उसके द्वारा ही; **लभ्यः**=प्राप्त किया जा सकता है; (क्योंकि) **एषः**=यह; **आत्मा**=परमात्मा; **तस्य**=उसके लिये; **स्वाम् तनुम्**=अपने यथार्थ स्वरूपको; **विवृणुते**=प्रकट कर देता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें यह बात समझायी गयी है कि वे परमात्मा न तो उनको मिलते हैं, जो शास्त्रोंको पढ़-सुनकर लच्छेदार भाषामें परमात्म-तत्त्वका नाना प्रकारसे वर्णन करते हैं; न उन तर्कशील बुद्धिमान् मनुष्योंको ही मिलते हैं, जो बुद्धिके अभिमानमें प्रमत्त हुए तर्कके द्वारा विवेचन करके उन्हें समझनेकी चेष्टा करते हैं; और न उनको ही मिलते हैं, जो परमात्माके विषयमें बहुत कुछ सुनते रहते हैं। वे तो उसीको प्राप्त होते हैं, जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और वे स्वीकार उसीको करते हैं, जिसको उनके लिये उत्कट इच्छा होती है, जो उनके बिना रह नहीं सकता। परंतु जो अपनी बुद्धि या साधनपर भरोसा न करके केवल उनकी कृपाकी ही प्रतीक्षा करता रहता है, ऐसे कृपा-निर्भर साधकपर परमात्मा कृपा करते हैं और योगमाया-का परदा हटाकर उसके सामने अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें प्रकट हो जाते हैं* ॥ ३ ॥

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥

अयम्=यह; **आत्मा**=परमात्मा; **बलहीनेन**=बलहीन मनुष्यद्वारा; **न लभ्यः**=नहीं प्राप्त किया जा सकता; **च**=तथा; **प्रमादात्**=प्रमादसे; **वा**=अथवा; **अलिङ्गात्**=लक्षणरहित; **तपसः**=तपसे; **अपि**=भी; **न [लभ्यः]**=नहीं प्राप्त किया जा सकता; **तु**=किंतु; **यः**=जो; **विद्वान्**= बुद्धिमान् साधक; **एतैः**=इन; **उपायैः**=उपायोंके द्वारा; **यतते**=प्रयत्न करता है; **तस्य**=उसका; **एषः**=यह; **आत्मा**=आत्मा; **ब्रह्मधाम**=ब्रह्मधाममें; **विशते**=प्रविष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस प्रकरणमें बताये हुए सबके आत्मारूप परब्रह्म परमेश्वर उपासनारूप बलसे रहित मनुष्यद्वारा नहीं प्राप्त किये जा सकते। समस्त भोगोंकी आशा छोड़कर एकमात्र परमात्माकी ही उत्कट अभिलाषा रखते हुए निरन्तर विशुद्धभावसे अपने इष्टदेवका चिन्तन करना—यही उपासनारूपी बलका संचय करना है। ऐसे बलसे रहित पुरुषको वे नहीं मिलते। इसी प्रकार कर्तव्यत्यागरूप प्रमादसे भी नहीं मिलते तथा सात्त्विक लक्षणोंसे रहित संयमरूप तपसे भी किसी साधकद्वारा नहीं प्राप्त किये जा सकते। किंतु जो बुद्धिमान् साधक इन पूर्वोक्त उपायोंसे प्रयत्न करता है, अर्थात् प्रमादरहित होकर उत्कट अभिलाषाके साथ निरन्तर उन परमेश्वरकी उपासना करता है, उसका आत्मा परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें प्रविष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषोंके लक्षण बतलाते हैं—

---

* एक आदरणीय महानुभावने इसका यह अर्थ माना है—

'यह आत्मा न तो वेद-शास्त्रके अधिक अध्ययनरूप प्रवचनसे प्राप्त होनेयोग्य है, न ग्रन्थके अर्थको धारण करनेकी शक्ति मेधासे अथवा न अधिक शास्त्र-श्रवणसे ही। यह विद्वान् जिस परमात्माको वरण करता—प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उस इच्छासे ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। नित्य प्राप्त होनेके कारण अन्य किसी साधनसे वह प्राप्त नहीं हो सकता। यह आत्मा उसके प्रति अपने आत्मस्वरूपको प्रकट कर देता है। जिस प्रकार प्रकाशमें घटादिकी अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार विद्याकी प्राप्ति होनेपर आत्माका आविर्भाव हो जाता है।………'

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥ ५ ॥

वीतरागाः=सर्वथा आसक्तिरहित; **कृतात्मानः**=(और) विशुद्ध अन्तःकरणवाले; **ऋषयः**=ऋषिलोग; **एनम्**=इस परमात्माको; **सम्प्राप्य**=पूर्णतया प्राप्त होकर; **ज्ञानतृप्ताः**=ज्ञानसे तृप्त (एवं); **प्रशान्ताः**=परम शान्त (हो जाते हैं); **युक्तात्मानः**=अपने-आपको परमात्मामें संयुक्त कर देनेवाले; **ते**=वे; **धीराः**=ज्ञानीजन; **सर्वगम्**=सर्वव्यापी परमात्माको; **सर्वतः**=सब ओरसे; **प्राप्य**=प्राप्त करके; **सर्वम् एव**=सर्वरूप परमात्मामें ही; **आविशन्ति**=प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—वे विशुद्ध अन्तःकरणवाले सर्वथा आसक्तिरहित महर्षिगण उपर्युक्त प्रकारसे इन परब्रह्म परमात्माको भलीभाँति प्राप्त होकर ज्ञानसे तृप्त हो जाते हैं। उन्हें किसी प्रकारके अभावका बोध नहीं होता, वे पूर्णकाम हो जाते हैं। वे अपने-आपको परमात्मामें लगा देनेवाले ज्ञानीजन सर्वव्यापी परमात्माको सब ओरसे प्राप्त करके सर्वरूप परमात्मामें ही पूर्णतया प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषोंकी महिमाका वर्णन करके अब ब्रह्मलोकमें जानेवाले महापुरुषोंकी मुक्तिका वर्णन करते हैं—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ६ ॥

[**ये**] **वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः**=जिन्होंने वेदान्त (उपनिषद्) शास्त्रके विज्ञानद्वारा उसके अर्थभूत परमात्माको पूर्ण निश्चयपूर्वक जान लिया है (तथा); **संन्यासयोगात्**=कर्मफल और आसक्तिके त्यागरूप योगसे; **शुद्धसत्त्वाः**=जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है; **ते**=वे; **सर्वे**=समस्त; **यतयः**=प्रयत्नशील साधकगण; **परान्तकाले**=मरणकालमें (शरीर त्यागकर); **ब्रह्मलोकेषु**=ब्रह्मलोकमें (जाते हैं और वहाँ); **परामृताः**=परम अमृतस्वरूप होकर; **परिमुच्यन्ति**=सर्वथा मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिन्होंने वेदान्तशास्त्रके सम्यक् ज्ञानद्वारा उसके अर्थस्वरूप परमात्माको भलीभाँति निश्चयपूर्वक जान लिया है तथा कर्मफल और कर्मासक्तिके त्यागरूप योगसे जिनका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो गया है, ऐसे सभी प्रयत्नशील साधक मरणकालमें शरीरका त्याग करके परब्रह्म परमात्माके परम धाममें जाते हैं और वहाँ परम अमृतस्वरूप होकर संसार-बन्धनसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—जिनको परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति इसी शरीरमें हो जाती है, उनकी अन्तकालमें कैसी स्थिति होती है—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥ ७ ॥

पञ्चदश=पंद्रह; **कलाः**=कलाएँ; **च**=और; **सर्वे**=सम्पूर्ण; **देवाः**=देवता अर्थात् इन्द्रियाँ; **प्रतिदेवतासु**=अपने-अपने अभिमानी देवताओंमें; **गताः**=जाकर; **प्रतिष्ठाः**=स्थित हो जाते हैं; **कर्माणि**=(फिर) समस्त कर्म; **च**=और; **विज्ञानमयः**=विज्ञानमय; **आत्मा**=जीवात्मा; **सर्वे**=ये सब-के-सब; **परे अव्यये**=परम अविनाशी परब्रह्ममें; **एकीभवन्ति**=एक हो जाते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—उस महापुरुषका जब देहपात होता है, उस समय पंद्रह कलाएँ * और मनसहित सब इन्द्रियोंके देवता—

* पंद्रह कलाएँ ये हैं—श्रद्धा, आकाशादि पञ्च महाभूत, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम (देखिये प्रश्नोपनिषद् ६ । ४)

ये सब अपने-अपने अभिमानी समष्टि देवताओंमें जाकर स्थित हो जाते हैं। उनके साथ उस जीवन्मुक्तका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उसके बाद उसके समस्त कर्म और विज्ञानमय जीवात्मा—सब-के-सब परम अविनाशी परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं॥७॥

सम्बन्ध—किस प्रकार लीन हो जाते हैं, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥८॥

यथा=जिस प्रकार; **स्यन्दमानाः**=बहती हुई; **नद्यः**=नदियाँ; **नामरूपे**=नाम-रूपको; **विहाय**=छोड़कर; **समुद्रे**=समुद्रमें; **अस्तम् गच्छन्ति**=विलीन हो जाती हैं; **तथा**=वैसे ही; **विद्वान्**=ज्ञानी महात्मा; **नामरूपात्**=नाम-रूपसे; **विमुक्तः**=रहित होकर; **परात् परम्**=उत्तम-से-उत्तम; **दिव्यम्**=दिव्य; **पुरुषम्**=परमपुरुष परमात्माको; **उपैति**=प्राप्त हो जाता है॥८॥

व्याख्या—जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपना-अपना नाम-रूप छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महापुरुष नाम-रूपसे रहित होकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है—सर्वतोभावसे उन्हींमें विलीन हो जाता है॥८॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥९॥

ह=निश्चय ही; **यः वै**=जो कोई भी; **तत्**=उस; **परमम् ब्रह्म**=परमब्रह्म परमात्माको; **वेद**=जान लेता है; **सः**=वह महात्मा; **ब्रह्म एव**=ब्रह्म ही; **भवति**=हो जाता है; **अस्य**=इसके; **कुले**=कुलमें; **अब्रह्मवित्**=ब्रह्मको न जाननेवाला; **न भवति**=नहीं होता; **शोकम् तरति**=(वह) शोकसे पार हो जाता है; **पाप्मानम् तरति**=पाप-समुदायसे तर जाता है; **गुहाग्रन्थिभ्यः**=हृदयकी गाँठोंसे; **विमुक्तः**=सर्वथा छूटकर; **अमृतः**=अमर; **भवति**=हो जाता है॥९॥

व्याख्या—यह बिल्कुल सच्ची बात है कि जो कोई भी उस परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उसके कुलमें अर्थात् उसकी संतानोंमें कोई भी मनुष्य ब्रह्मको न जाननेवाला नहीं होता। वह सब प्रकारके शोक और चिन्ताओंसे सर्वथा पार हो जाता है, सम्पूर्ण पाप-समुदायसे सर्वथा तर जाता है, हृदयमें स्थित सब प्रकारके संशय, विपर्यय देहाभिमान, विषयासक्ति आदि ग्रन्थियोंसे सर्वथा छूटकर अमर हो जाता है—जन्म-मृत्युसे रहित हो जाता है॥९॥

सम्बन्ध—इस ब्रह्मविद्याके अधिकारीका वर्णन करते हैं—

तदेतदृचाभ्युक्तम्—
क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥१०॥

तत्=उस ब्रह्मविद्याके विषयमें; **एतत्**=यह बात; **ऋचा अभ्युक्तम्**=ऋचाद्वारा कही गयी है; **क्रियावन्तः**=जो निष्कामभावसे कर्म करनेवाले; **श्रोत्रियाः**=वेदके अर्थके ज्ञाता (तथा); **ब्रह्मनिष्ठाः**=ब्रह्मके उपासक हैं (और); **श्रद्धयन्तः**=श्रद्धा रखते हुए; **स्वम्**=स्वयं; **एकर्षिम्**='एकर्षि' नामवाले प्रज्वलित अग्निमें; **जुह्वते**=नियमानुसार हवन करते हैं; **तु**=तथा; **यैः**=जिन्होंने; **विधिवत्**=विधिपूर्वक; **शिरोव्रतम्**=सर्वश्रेष्ठ व्रतका; **चीर्णम्**=पालन किया है; **तेषाम् एव**=उन्हींको; **एताम्**=यह; **ब्रह्मविद्याम्**=ब्रह्मविद्या; **वदेत**=बतलानी चाहिये॥१०॥

व्याख्या—जिसका इस उपनिषद्में वर्णन हुआ है, उस ब्रह्मविद्याके विषयमें यह बात ऋचाद्वारा कही गयी है कि जो अपने-अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार निष्कामभावसे यथायोग्य कर्म करनेवाले, वेदके यथार्थ अभिप्रायको समझनेवाले, परब्रह्म परमात्मामें श्रद्धा रखनेवाले और उनके जिज्ञासु हैं, जो स्वयं 'एकर्षि' नामसे प्रसिद्ध प्रज्वलित अग्निमें

शास्त्रविधिके अनुसार हवन करते हैं तथा जिन्होंने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया है, उन्हींको यह ब्रह्मविद्या बतलानी चाहिये ॥ १० ॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ११ ॥

तत्=उसी; **एतत्**=इस; **सत्यम्**=सत्यको अर्थात् यथार्थ विद्याको; **पुरा**=पहले; **अङ्गिराः ऋषिः**=अङ्गिरा ऋषिने; **उवाच**=कहा था; **अचीर्णव्रतः**=जिसने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन नहीं किया है; **एतत्**=(वह) इसे; **न**=नहीं; **अधीते**=पढ़ सकता; **परमऋषिभ्यः नमः**=परम ऋषियोंको नमस्कार है; **परमऋषिभ्यः नमः**= परम ऋषियोंको नमस्कार है ॥ ११ ॥

व्याख्या—उस ब्रह्मविद्यारूप इस सत्यका पहले महर्षि अङ्गिराने उपर्युक्त प्रकारसे शौनक ऋषिको उपदेश दिया था। जिसने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन नहीं किया हो, वह इसे नहीं पढ़ पाता अर्थात् इसका गूढ़ अभिप्राय नहीं समझ सकता। परम ऋषियोंको नमस्कार है, परम ऋषियोंको नमस्कार है। इस प्रकार दो बार ऋषियोंको नमस्कार करके ग्रन्थ-समाप्तिकी सूचना दी गयी है ॥ ११ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

॥ तृतीय मुण्डक समाप्त ॥ ३ ॥

॥ अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ प्रश्नोपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

माण्डूक्योपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ प्रश्नोपनिषद्में दिया जा चुका है ।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

ॐ=ॐ; **इति**= इस प्रकारका; **एतत्**= यह; **अक्षरम्**= अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है; **इदम्**= यह; **सर्वम्**= सम्पूर्ण जगत्; **तस्य**= उसका ही; **उपव्याख्यानम्**= उपव्याख्यान अर्थात् उसीकी निकटतम महिमाका लक्ष्य करानेवाला है; **भूतम्**= भूत (जो हो चुका); **भवत्**= वर्तमान (और); **भविष्यत्**= भविष्यत् (जो होनेवाला है); **इति**= यह; **सर्वम्**= सब-का-सब जगत्; **ओंकारः**= ओंकार; **एव**= ही है; **च**= तथा; **यत्**= जो; **त्रिकालातीतम्**= ऊपर कहे हुए तीनों कालोंसे अतीत; **अन्यत्**= दूसरा (कोई तत्त्व है); **तत्**= वह; **अपि**= भी; **ओंकारः**= ओंकार; **एव**= ही है ॥ १ ॥

व्याख्या—इस उपनिषद्में परब्रह्म परमात्माके समग्र रूपका तत्त्व समझानेके लिये उनके चार पादोंकी कल्पना की गयी है । नाम और नामीकी एकताका प्रतिपादन करनेके लिये प्रणवकी अ, उ और म्—इन तीन मात्राओंके साथ और मात्रा-रहित उसके अव्यक्तरूपके साथ परब्रह्म परमात्माके एक-एक पादकी समता दिखलायी गयी है । इस प्रकार इस मन्त्रमें परब्रह्म परमात्माका नाम जो ओंकार है, उसको समग्र पुरुषोत्तमसे अभिन्न मानकर यह कहा गया है कि 'ओम्' यह अक्षर ही पूर्णब्रह्म अविनाशी परमात्मा है । यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला जड-चेतनका समुदायरूप सम्पूर्ण जगत् उन्हींका उपव्याख्यानी अर्थात् उन्हींकी निकटतम महिमाका निदर्शक है । जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् पहले उत्पन्न होकर उनमें विलीन हो चुका है और जो इस समय वर्तमान है, तथा जो उनसे उत्पन्न होनेवाला है—वह सब-का-सब ओंकार ही है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा ही है । तथा जो तीनों कालोंसे अतीत इससे भिन्न है, वह भी ओंकार ही है । अर्थात् कारण, सूक्ष्म और स्थूल—इन तीन भेदों-वाला जगत् और इसको धारण करनेवाले परब्रह्मके जिस अंशकी इसके आत्मारूपमें और आधाररूपमें अभिव्यक्ति होती है, उतना ही उन परमात्माका स्वरूप नहीं है; इससे अलग भी वे हैं । अतः उनका अभिव्यक्त अंश और उससे अतीत भी जो कुछ है, वह सब मिलकर ही परब्रह्म परमात्माका समग्र रूप है ।

अभिप्राय यह है कि जो कोई परब्रह्मको केवल साकार मानते हैं या निराकार मानते हैं या सर्वथा निर्विशेष मानते हैं—उन्हें सर्वज्ञता, सर्वाधारता, सर्वकारणता, सर्वेश्वरता, आनन्द, विज्ञान आदि कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न नहीं मानते, वे सब उन परब्रह्मके एक-एक अंशको ही परमात्मा मानते हैं । पूर्णब्रह्म परमात्मा साकार भी हैं, निराकार भी हैं तथा साकार-निराकार

दोनोंसे रहित भी हैं। सम्पूर्ण जगत् उन्हींका स्वरूप है और वे इससे सर्वथा अलग भी हैं। वे सर्वगुणोंसे रहित, निर्विशेष भी हैं और सर्वगुणसम्पन्न भी हैं—यह मानना ही उन्हें सर्वाङ्गपूर्ण मानना है ॥ १ ॥

सम्बन्ध—सब कुछ ओंकार कैसे है, यह कहते हैं—

सर्वꣳ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

हि=क्योंकि; **एतत्**=यह; **सर्वम्**=सब-का-सब; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **अयम्**=यह; **आत्मा**=परमात्मा(जो इस दृश्य-जगत्-परिपूर्ण है); **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **सः**=वह; **अयम्**=यह; **आत्मा**=परमात्मा; **चतुष्पात्**=चार चरणोंवाला है ॥ २ ॥

व्याख्या—यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है, सब-का-सब ब्रह्म है और ओंकार उनका नाम होनेके कारण नामीसे अभिन्न है, इसलिये सब कुछ ओंकार है—यह बात पहले मन्त्रमें कही गयी है; क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् उन परब्रह्म परमात्माका शरीर है और वे इसके अन्तर्यामी आत्मा हैं (अन्तर्यामिब्राह्मण बृ० उ०), इसलिये ये सर्वात्मा ही ब्रह्म हैं। वे सर्वात्मा परब्रह्म आगे बताये हुए प्रकारसे चार पादवाले हैं। वास्तवमें उन अखण्ड निरवयव परब्रह्म परमात्माको चार पादोंवाला कहना नहीं बनता; तथापि उनके समग्ररूपकी व्याख्या करनेके लिये उनकी अभिव्यक्तिके प्रकार-भेदोंको लेकर श्रुतियोंमें जगह-जगह उनके चार पादोंकी कल्पना की गयी है। उसी दृष्टिसे यहाँ भी श्रुति कहती है ॥ २ ॥

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

जागरितस्थानः=जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति यह सम्पूर्ण स्थूल जगत् जिसका स्थान अर्थात् शरीर है; **बहिष्प्रज्ञः**=जिसका ज्ञान इस बाह्य जगत्में फैला हुआ है; **सप्ताङ्गः**=भूः, भुवः आदि सात लोक ही जिसके सात अङ्ग हैं; **एकोनविंशतिमुखः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—ये उन्नीस विषयोंको ग्रहण करनेवाले समष्टि 'करण' ही जिसके उन्नीस मुख हैं; **स्थूलभुक्**=जो इस स्थूल जगत्का भोक्ता—इसको अनुभव करनेवाला तथा जाननेवाला है, वह; **वैश्वानरः**=वैश्वानर (विश्वको धारण करनेवाला) परमात्मा; **प्रथमः**=पहला; **पादः**=पाद है ॥ ३ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माके वे चार पाद कैसे और किस प्रकार हैं—यह बात समझानेके लिये जीवात्मा तथा उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंके उदाहरण देते हुए उन परमात्माके तीन पादोंका वर्णन क्रमशः किया गया है। उनमेंसे पहले पादका इस मन्त्रमें वर्णन है। भाव यह है कि जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें इस स्थूल शरीरका अभिमानी जीवात्मा सिरसे लेकर पैरतक सात अङ्गोंसे युक्त होकर स्थूल विषयोंके उपभोगके द्वाररूप दस इन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—इस प्रकार इन उन्नीस मुखोंसे विषयोंका उपभोग करता है और उसका विज्ञान बाह्य जगत्में फैला रहता है, उसी प्रकार सात लोकरूप सात अङ्गों और समष्टि इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण—इस प्रकार उन्नीस मुखोंसे युक्त इस स्थूल जगत्रूप शरीरका आत्मा—जो सम्पूर्ण देवता, पितर, मनुष्य आदि समस्त प्राणियोंका प्रेरक और स्वामी होनेके कारण इस स्थूल जगत्का ज्ञाता और भोक्ता है (गीता ५ । २९; ९ । २४), जिसकी अभिव्यक्ति इस बाह्य स्थूल जगत्में हो रही है,—वह सर्वरूप वैश्वानर उन पूर्णब्रह्म परमात्माका पहला पाद है।

जो विश्व अर्थात् बहुत भी हो और नर भी हो, उसे वैश्वानर कहते हैं—इस व्युत्पत्तिके अनुसार स्थूल जगत्रूप शरीरवाले सर्वरूप परमेश्वरको यहाँ वैश्वानर कहा गया है। ब्रह्मसूत्र अध्याय १, पाद २, सूत्र २४ में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आत्मा और ब्रह्म—इन दोनोंका वाचक जहाँ 'वैश्वानर' पद आये, वहाँ वह जीवात्माका या अग्निका नाम नहीं है। वह परब्रह्म परमेश्वरका ही वाचक है, यों समझना चाहिये। वैश्वानर-विद्यामें भी इसी प्रकार परमात्माको वैश्वानर बताया गया है (छा० ५ । ११ । १—६)। अतः यहाँ 'जागरितस्थानः' इस पदके बलपर जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी जीवात्माको ब्रह्मका पहला पाद या वैश्वानर मानना ठीक नहीं मालूम होता; क्योंकि तीन अवस्थाओंके दृष्टान्तसे ब्रह्मके तीन पादोंका वर्णन करनेके पश्चात् छठे मन्त्रमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिनको इन तीनों अवस्थाओंमें स्थित बताया गया है, वे सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सम्पूर्ण जगत्के कारण तथा समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। ये लक्षण जीवात्मामें नहीं घट सकते। इसलिये भी यहाँ सर्वात्मा वैश्वानर परमेश्वरको ही परब्रह्मका एक पाद कहा गया है, यही मानना युक्तिसङ्गत मालूम होता है ॥ ३ ॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

स्वप्नस्थानः=स्वप्नकी भाँति सूक्ष्म जगत् ही जिसका स्थान है; **अन्तःप्रज्ञः**=जिसका ज्ञान सूक्ष्म जगत्में व्याप्त है; **सप्ताङ्गः**= पूर्वोक्त सात अङ्गोंवाला (और); **एकोनविंशतिमुखः**=उन्नीस मुखोंवाला; **प्रविविक्तभुक्**=सूक्ष्म जगत्का भोक्ता; **तैजसः**=तैजस—प्रकाशका स्वामी सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ; **द्वितीयः पादः**=उस पूर्णब्रह्म परमात्माका दूसरा पाद है ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें पूर्णब्रह्म परमात्माके दूसरे पादका वर्णन है। भाव यह है कि जिस प्रकार स्वप्न-अवस्थामें सूक्ष्मशरीरका अभिमानी जीवात्मा पहले बतलाये हुए सूक्ष्म सात अङ्गोंवाला और उन्नीस मुखोंवाला होकर सूक्ष्म विषयोंका उपभोग करता है और उसीमें उसका ज्ञान फैला रहता है, उसी प्रकार जो स्थूल अवस्थासे भिन्न सूक्ष्मरूपमें परिणत हुए सात लोकरूप सात अङ्ग तथा इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरणरूप उन्नीस मुखोंसे युक्त सूक्ष्म जगत्रूप शरीरमें स्थित, उसका आत्मा हिरण्यगर्भ है, वह समस्त जड-चेतनात्मक सूक्ष्म जगत्के समस्त तत्त्वोंका नियन्ता, ज्ञाता और सबको अपनेमें प्रविष्ट किये हुए है, इसलिये उसका भोक्ता और जाननेवाला कहा जाता है। वह तैजस अर्थात् सूक्ष्म प्रकाशमय हिरण्यगर्भ उन पूर्णब्रह्म परमात्माका दूसरा पाद है।

समस्त ज्योतियोंकी ज्योति, सबको प्रकाशित करनेवाले, परम प्रकाशमय हिरण्यगर्भरूप परमेश्वरका ही वर्णन यहाँ तैजस नामसे हुआ है। ब्रह्मसूत्रके 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' (१।१।२४) इस सूत्रमें यह बात स्पष्ट की गयी है कि पुरुषके प्रकरणमें आया हुआ 'ज्योतिः' वा 'तेजः' शब्द ब्रह्मका वाचक ही समझना चाहिये। जहाँ ब्रह्मके पादोंका वर्णन हो, वहाँ तो दूसरा अर्थ—जीव या प्रकाश आदि मानना किसी तरह भी उचित नहीं है। उपनिषदोंमें बहुत जगह परमेश्वरका वर्णन 'ज्योतिः' (अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते—छा० उ० ३।१३।७) और 'तेजस' (येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः तै० ब्रा० ३।१२।९।७) के नामसे हुआ है। इसलिये यहाँ केवल 'स्वप्नस्थानः' पदके बलपर स्वप्नावस्थाके अभिमानी जीवात्माको ब्रह्मका दूसरा पाद मान लेना उचित नहीं मालूम होता। इसमें तीसरे मन्त्रकी व्याख्यामें बताये हुए कारण तो हैं ही। उनके सिवा यह एक कारण और भी है कि स्वप्नावस्थामें जीवात्माका ज्ञान जाग्रत्-अवस्थाकी अपेक्षा कम हो जाता है; किंतु यहाँ जिसका वर्णन तैजसके नामसे किया गया है, उस दूसरे पादरूप हिरण्यगर्भका ज्ञान जाग्रत्की अपेक्षा अधिक विकसित होता है। इसीलिये इसको तैजस अर्थात् ज्ञानस्वरूप बतलाया है और दसवें मन्त्रमें ओंकारकी दूसरी मात्रा 'उ'-के साथ इसकी एकता करते हुए इसको उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) बताया है और इसके जाननेका फल ज्ञान-परम्पराकी वृद्धि और जाननेवालेकी संतानका ज्ञानी होना कहा है। स्वप्नाभिमानी जीवात्माके ज्ञानका ऐसा फल नहीं हो सकता, इसलिये भी तैजसका वाच्यार्थ सूक्ष्म जगत्के स्वामी हिरण्यगर्भको ही मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

यत्र=जिस अवस्थामें; **सुप्तः**=सोया हुआ (मनुष्य); **कञ्चन**=किसी भी; **कामम् न कामयते**=भोगकी कामना नहीं करता; **कञ्चन**=कोई भी; **स्वप्नम्**=स्वप्न; **न**=नहीं; **पश्यति**=देखता; **तत्**=वह; **सुषुप्तम्**=सुषुप्ति-अवस्था है; **सुषुप्तस्थानः**=ऐसी सुषुप्ति अर्थात् जगत्की प्रलय-अवस्था, अथवा कारण-अवस्था ही जिसका शरीर है; **एकीभूतः**=जो एकरूप हो रहा है; **प्रज्ञानघनः एव**=जो एकमात्र घनीभूत विज्ञानस्वरूप है; **आनन्दमयः हि**=जो एकमात्र आनन्दमय अर्थात् आनन्दस्वरूप ही है; **चेतोमुखः**=प्रकाश ही जिसका मुख है; **आनन्दभुक्**=जो एकमात्र आनन्दका ही भोक्ता है (वह); **प्राज्ञः**=प्राज्ञ; **तृतीयः पादः**=(ब्रह्मका) तीसरा पाद है ॥ ५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें जाग्रत्की कारण और लय-अवस्थारूप सुषुप्तिके साथ प्रलयकालमें स्थित कारणरूपसे जगत्की समानता दिखानेके लिये पहले सुप्रसिद्ध सुषुप्ति-अवस्थाके लक्षण बतलाकर उसके बाद पूर्णब्रह्म परमात्माके तीसरे पादका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि जिस अवस्थामें सोया हुआ मनुष्य किसी प्रकारके किसी भी भोगकी न तो कामना करता है और न अनुभव ही करता है तथा किसी प्रकारका स्वप्न भी नहीं देखता, ऐसी अवस्थाको सुषुप्ति कहते हैं। इस सुषुप्ति-अवस्थाके सदृश जो प्रलयकालमें जगत्की कारण-अवस्था है, जिसमें नाना 'रूपों'का प्राकट्य नहीं हुआ है—

ऐसी अव्याकृत प्रकृति ही जिसका शरीर है, तथा जो एक अद्वितीयरूपमें स्थित है, उपनिषदोंमें जिसका वर्णन कहीं सत्के नामसे ('सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' छा० उ० ६ । २ । १) और कहीं आत्माके नामसे ('एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते') आया है, जिसका एकमात्र चेतना (प्रकाश) ही मुख है और आनन्द ही भोजन है, वह विज्ञानघन, आनन्दमय प्राज्ञ ही उन पूर्णब्रह्मका तीसरा पाद है ।

यहाँ प्राज्ञ नामसे भी सृष्टिके कारण सर्वज्ञ परमेश्वरका ही वर्णन है । ब्रह्मसूत्र प्रथम अध्यायके चौथे पादके अन्तर्गत पाँचवें सूत्रमें 'प्राज्ञ' शब्द ईश्वरके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, इसके सिवा और भी बहुत-से सूत्रोंमें ईश्वरके स्थानपर 'प्राज्ञ' शब्दका प्रयोग किया गया है । पूज्यपाद स्वामी शङ्कराचार्यने तो ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें स्थान-स्थानपर परमेश्वरके बदले 'प्राज्ञ' शब्दका ही प्रयोग किया है । उपनिषदोंमें भी अनेक स्थलोंपर 'प्राज्ञ' शब्दका परमेश्वरके स्थानमें प्रयोग किया गया है (बृ० उ० ४ । ३ । २१ और ४ । ३ । ३५) । प्रस्तुत मन्त्रमें साथ-ही-साथ ईश्वरसे भिन्न शरीराभिमानी जीवात्माका भी वर्णन है । यहाँ प्रकरण भी सुषुप्तिका है; इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी दृष्टिसे 'प्राज्ञ' शब्द जीवात्माका वाचक नहीं है । ब्रह्मसूत्र (१ । ३ । ४२) के भाष्यमें स्वयं शङ्कराचार्यजीने लिखा है कि 'सर्वज्ञतारूप प्रज्ञासे नित्य संयुक्त होनेके कारण 'प्राज्ञ' नाम परमेश्वरका ही है, अतः उपर्युक्त उपनिषद्-मन्त्रमें परमेश्वरका ही वर्णन है ।' इसलिये यहाँ केवल 'सुषुप्तस्थानः' पदके बलपर सुषुप्ति-अभिमानी जीवात्माको ब्रह्मका तीसरा पाद मान लेना उचित नहीं मालूम होता; क्योंकि इसके बाद अगले मन्त्रमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इन तीनों अवस्थाओंमें स्थित तीन पादोंके नामसे जिनका वर्णन हुआ है, वे सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सम्पूर्ण जगत्के कारण और समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं । इसके सिवा ग्यारहवें मन्त्रमें ओंकारकी तीसरी मात्राके साथ तीसरे पादकी एकता करके उसे जाननेका फल सबको जानना और सम्पूर्ण जगत्को विलीन कर लेना बताया है; इसलिये भी 'प्राज्ञः' पदका वाच्यार्थ कारण-जगत्के अधिष्ठाता परमेश्वरको ही समझना चाहिये । वह प्राज्ञ ही पूर्णब्रह्म परमात्माका तीसरा पाद है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—ऊपर बतलाये हुए ब्रह्मके पाद वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ किसके नाम हैं, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

एषः=यह; **सर्वेश्वरः**=सबका ईश्वर है; **एषः**=यह; **सर्वज्ञः**=सर्वज्ञ है; **एषः**=यह; **अन्तर्यामी**=सबका अन्तर्यामी है; **एषः**=यह; **सर्वस्य**=सम्पूर्ण जगत्का; **योनिः**=कारण है; **हि**=क्योंकि; **भूतानाम्**=समस्त प्राणियोंका; **प्रभवाप्ययौ**=उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका स्थान यही है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिन परमेश्वरका तीनों पादोंके रूपमें वर्णन किया गया है, ये सम्पूर्ण ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं । ये ही सर्वज्ञ और सबके अन्तर्यामी हैं । ये ही सम्पूर्ण जगत्के कारण हैं; क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके स्थान ये ही हैं । प्रश्नोपनिषद्में तीनों मात्राओंसे युक्त ओंकारके द्वारा परम पुरुष परमेश्वरका ध्यान करनेकी बात कहकर उसका फल समस्त पापोंसे रहित हो अविनाशी परात्पर पुरुषोत्तमको प्राप्त कर लेना बताया गया है (५ । ५) । अतः पूर्ववर्णित वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ परमेश्वरके ही नाम हैं । अलग-अलग स्थितिमें उन्हींका वर्णन भिन्न-भिन्न नामोंसे किया गया है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब पूर्णब्रह्म परमात्माके चौथे पादका वर्णन करते हैं—

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

न अन्तःप्रज्ञम्=जो न भीतरकी ओर प्रज्ञावाला है; **न बहिष्प्रज्ञम्**=न बाहरकी ओर प्रज्ञावाला है; **न उभयतःप्रज्ञम्**=न दोनों ओर प्रज्ञावाला है; **न प्रज्ञानघनम्**=न प्रज्ञानघन है; **न प्रज्ञम्**=न जाननेवाला है; **न अप्रज्ञम्**=न नहीं जाननेवाला है; **अदृष्टम्**=जो देखा नहीं गया हो; **अव्यवहार्यम्**=जो व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता;

अग्राह्यम्=जो पकड़नेमें नहीं आ सकता; **अलक्षणम्**=जिसका कोई लक्षण (चिह्न) नहीं है; **अचिन्त्यम्**=जो चिन्तन करनेमें नहीं आ सकता; **अव्यपदेश्यम्**=जो बतलानेमें नहीं आ सकता; **एकात्मप्रत्ययसारम्**=एकमात्र आत्मसत्ताकी प्रतीति ही जिसका सार (प्रमाण) है; **प्रपञ्चोपशमम्**=जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है, ऐसा; **शान्तम्**=सर्वथा शान्त; **शिवम्**=कल्याणमय; **अद्वैतम्**=अद्वितीय तत्त्व; **चतुर्थम्**=(परब्रह्म परमात्माका) चौथा पाद है; **मन्यन्ते**=(इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी) मानते हैं; **सः आत्मा**=वह परमात्मा (है); **सः विज्ञेयः**=वह जाननेयोग्य (है) ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें निर्गुण-निराकार निर्विशेष स्वरूपको पूर्णब्रह्म परमात्माका चौथा पाद बताया गया है। भाव यह है कि जिसका ज्ञान न तो बाहरकी ओर है, न भीतरकी ओर है और न दोनों ही ओर है; जो न ज्ञानस्वरूप है, न जाननेवाला है और न नहीं जाननेवाला ही है; जो न देखनेमें आ सकता है, न व्यवहारमें लाया जा सकता है, न ग्रहण करनेमें आ सकता है, न चिन्तन करनेमें, न बतलानेमें आ सकता है और न जिसका कोई लक्षण ही है, जिसमें समस्त प्रपञ्चका अभाव है, एकमात्र परमात्मसत्ताकी प्रतीति ही जिसमें सार (प्रमाण) है—ऐसा सर्वथा शान्त, कल्याणमय, अद्वितीय तत्त्व पूर्णब्रह्मका चौथा पाद माना जाता है। इस प्रकार जिनका चार पादोंमें विभाग करके वर्णन किया गया, वे ही पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं; उन्हींको जानना चाहिये।

इस मन्त्रमें 'चतुर्थम् मन्यन्ते' पदके प्रयोगसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ परब्रह्म परमात्माके चार पादोंकी कल्पना केवल उनका तत्त्व समझानेके लिये ही की गयी है। वास्तवमें अवयवरहित परमात्माके कोई भाग नहीं हैं। जो पूर्ण-ब्रह्म परमात्मा स्थूल जगत्में परिपूर्ण हैं, वे ही सूक्ष्म और कारण-जगत्के अन्तर्यामी और अधिष्ठाता भी हैं; तथा वे ही इन सबसे अलग निर्विशेष परमात्मा हैं। वे सर्वशक्तिमान् भी हैं और सब शक्तियोंसे रहित भी हैं। वे सगुण भी हैं और निर्गुण भी। वे साकार भी हैं और निराकार भी। वास्तवमें वे हमारी बुद्धि और तर्कसे सर्वथा अतीत हैं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—उक्त परब्रह्म परमात्माकी उनके वाचक प्रणवके साथ एकता करते हुए कहते हैं—

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

सः=वह (जिसको चार पादवाला बताया गया है); **अयम्**=यह; **आत्मा**=परमात्मा; **अध्यक्षरम्**=(उसके वाचक) प्रणवके अधिकारमें (प्रकरणमें) वर्णित होनेके कारण; **अधिमात्रम्**=तीन मात्राओंसे युक्त; **ओंकारः**=ओंकार है; **अकारः**='अ'; **उकारः**='उ' (और); **मकारः**='म'; **इति**=ये (तीनों); **मात्राः**=मात्राएँ ही; **पादाः**=(तीन) पाद हैं; **च**=और; **पादाः**=(उस ब्रह्मके तीन) पाद ही; **मात्राः**=(तीन) मात्राएँ हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म परमात्मा, जिनके चार पादोंका वर्णन किया गया है, यहाँ अक्षरके प्रकरणमें अपने नामसे अभिन्न होनेके कारण तीन मात्राओंवाला ओंकार हैं। 'अ', 'उ' और 'म'—ये तीनों मात्राएँ ही उनके उपर्युक्त तीन पाद हैं। और उनके तीनों पाद ही ओंकारकी तीन मात्राएँ हैं। जिस प्रकार ओंकार अपनी मात्राओंसे अलग नहीं है, उसी प्रकार अपने पादोंसे परमात्मा अलग नहीं हैं। यहाँ पाद और मात्राकी एकता ओंकारके द्वारा परब्रह्म परमात्माकी उपासनाके लिये की गयी है—ऐसा मालूम होता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—ओंकारकी किस मात्रासे ब्रह्मके किस पादकी एकता है और वह क्यों है, इस जिज्ञासापर तीन मात्राओंका रहस्य समझानेके लिये प्रथम पहले पाद और पहली मात्राकी एकताका प्रतिपादन करते हैं—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

प्रथमा=(ओंकारकी) पहली; **मात्रा**=मात्रा; **अकारः**=अकार ही; **आप्तेः**=(समस्त जगत्के नामोंमें अर्थात् शब्दमात्रमें) व्याप्त होनेके कारण; **वा**=और; **आदिमत्त्वात्**=आदिवाला होनेके कारण; **जागरितस्थानः**=जाग्रत्की भाँति स्थूल जगत्रूप शरीरवाला; **वैश्वानरः**=वैश्वानर नामक पहला पाद है; **यः**=जो; **एवम्**=इस प्रकार; **वेद**=

जानता है; [**सः**] **ह वै**=वह अवश्य ही; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **कामान्**=भोगोंको; **आप्नोति**=प्राप्त कर लेता है; **च**=और; **आदिः**=सबका आदि (प्रधान); **भवति**=बन जाता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माके नामात्मक ओंकारकी जो पहली मात्रा 'अ' है, यह समस्त जगत्‌के नामोंमें अर्थात् किसी भी अर्थको बतलानेवाले जितने भी शब्द हैं, उन सबमें व्याप्त है। स्वर अथवा व्यञ्जन—कोई भी वर्ण अकारसे रहित नहीं है। श्रुति भी कहती है—'अकारो वै सर्वा वाक्' (ऐतरेय आरण्यक० २ । ३ । ६) । गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है कि अक्षरोंमें (वर्णोंमें) मैं 'अ' हूँ (१० । ३३) । तथा समस्त वर्णोंमें 'अ' ही पहला वर्ण है। इसी प्रकार इस स्थूल जगत्‌रूप विराट-शरीरमें वे वैश्वानररूप अन्तर्यामी परमेश्वर व्याप्त हैं और विराट्‌रूपसे सबके पहले स्वयं प्रकट होनेके कारण इस जगत्‌के आदि भी वे ही हैं। इस प्रकार 'अ' की और जाग्रत्‌की भाँति प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले इस स्थूल जगत्‌रूप शरीरमें व्याप्त वैश्वानर नामक प्रथम पादकी एकता होनेके कारण 'अ' ही पूर्णब्रह्म परमेश्वरका पहला पाद है। जो मनुष्य इस प्रकार अकार और विराट् शरीरके आत्मा परमेश्वरकी एकताको जानता है और उनकी उपासना करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको अर्थात् इच्छित पदार्थोंको पा लेता है और जगत्‌में प्रधान—सर्वमान्य हो जाता है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—अब दूसरे पादकी और दूसरी मात्राकी एकताका प्रतिपादन करते हैं—

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

द्वितीया=(ओंकारकी) दूसरी; **मात्रा**=मात्रा; **उकारः**='उ'; **उत्कर्षात्**=('अ' से) उत्कृष्ट होनेके कारण; **वा**=और; **उभयत्वात्**=दोनों भाववाला होनेके कारण; **स्वप्नस्थानः**=स्वप्नकी भाँति सूक्ष्म जगत्‌रूप शरीरवाला; **तैजसः**=तैजस नामक (दूसरा पाद) है; **यः**=जो; **एवम्**=इस प्रकार; **वेद**=जानता है; [**सः**] **ह वै**=वह अवश्य ही; **ज्ञान-संततिम्**=ज्ञानकी परम्पराको; **उत्कर्षति**=उन्नत करता है; **च**=और; **समानः**=समान भाववाला; **भवति**=हो जाता है; **अस्य**=इसके; **कुले**=कुलमें; **अब्रह्मवित्**=वेदरूप ब्रह्मको न जाननेवाला; **न**=नहीं; **भवति**=होता ॥ १० ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माके नामात्मक ओंकारकी दूसरी मात्रा जो 'उ' है, यह 'अ' से उत्कृष्ट (ऊपर उठा हुआ) होनेके कारण श्रेष्ठ है तथा 'अ' और 'म' इन दोनोंके बीचमें होनेके कारण उन दोनोंके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है; अतः यह उभयस्वरूप है। इसी प्रकार वैश्वानरसे तैजस (हिरण्यगर्भ) उत्कृष्ट है तथा वैश्वानर और प्राज्ञके मध्यगत होनेसे वह उभयसम्बन्धी भी है। इस समानताके कारण ही 'उ' को 'तैजस' नामक द्वितीय पाद कहा गया है। भाव यह है कि इस स्थूल जगत्‌के प्राकट्यसे पहले परमेश्वरके आदि संकल्पद्वारा जो सूक्ष्म सृष्टि उत्पन्न होती है, जिसका वर्णन मानस सृष्टिके नामसे आता है, जिसमें समस्त तत्त्व तन्मात्राओंके रूपमें रहते हैं, स्थूलरूपमें परिणत नहीं होते, उस सूक्ष्म जगत्‌रूप शरीरमें चेतन प्रकाशस्वरूप हिरण्यगर्भ परमेश्वर इसके अधिष्ठाता होकर रहते हैं। तथा कारण-जगत् और स्थूल-जगत्—इन दोनोंसे ही सूक्ष्म जगत्‌का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये वे कारण और स्थूल दोनों रूपवाले हैं। इस तरह 'उ' की और मानसिक सृष्टिके अधिष्ठाता तैजसरूप दूसरे पादकी समानता होनेके कारण 'उ' ही पूर्णब्रह्म परमात्माका दूसरा पाद है। जो मनुष्य इस प्रकार 'उ' और तेजोमय हिरण्यगर्भ-स्वरूपकी एकताके रहस्यको समझ लेता है, वह स्वयं इस जगत्‌के सूक्ष्म तत्त्वोंको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेता है, इस कारण इस ज्ञानकी परम्पराको उन्नत करता है—उसे बढ़ाता है तथा सर्वत्र समभाववाला हो जाता है; क्योंकि जगत्‌के सूक्ष्म तत्त्वोंको समझ लेनेके कारण उसका वास्तविक रहस्य समझमें आ जानेसे उसकी विषमताका नाश हो जाता है। इसलिये उससे उत्पन्न हुई संतान भी कोई ऐसी नहीं होती, जिसको हिरण्यगर्भरूप परमेश्वरके उपर्युक्त रहस्यका ज्ञान न हो जाय ॥ १० ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

तृतीया=(ओंकारकी) तीसरी; **मात्रा**=मात्रा; **मकारः**='म' ही; **मितेः**=माप करनेवाला (जाननेवाला) होनेके कारण; **वा**=और; **अपीतेः**=विलीन करनेवाला होनेसे; **सुषुप्तस्थानः**=सुषुप्तिकी भाँति कारणमें विलीन जगत् ही जिसका शरीर है; **प्राज्ञः**=प्राज्ञ नामक तीसरा पाद है; **यः**=जो; **एवम्**=इस प्रकार; **वेद**=जानता है; [**सः**] **ह वै**=वह अवश्य ही; **इदम्**=इस; **सर्वम्**=सम्पूर्ण कारण-जगत्को; **मिनोति**=माप लेता है अर्थात् भलीभाँति जान लेता है; **च**=और; **अपीतिः**=सबको अपनेमें विलीन करनेवाला; **भवति**=हो जाता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—परमात्माके नामात्मक ओंकारकी जो तीसरी मात्रा 'म' है, यह 'मा' धातुसे बना है। 'मा' धातुका अर्थ माप लेना यानी अमुक वस्तु इतनी है, यह समझ लेना है। यह 'म' ओंकारकी अन्तिम मात्रा है; 'अ' और 'उ' के पीछे उच्चरित होती है—इस कारण दोनोंका माप इसमें आ जाता है; अतः यह उनको जाननेवाला है। तथा 'म' का उच्चारण होते-होते मुख बंद हो जाता है, 'अ' और 'उ' दोनों उसमें विलीन हो जाते हैं; अतः वह उन दोनों मात्राओंको अन्तमें विलीन करनेवाला भी है। इसी प्रकार सुषुप्तस्थानीय कारण-जगत्का अधिष्ठाता प्राज्ञ भी सर्वज्ञ है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों अवस्थाओंमें स्थित जगत्को जाननेवाला है। कारण-जगत्से ही सूक्ष्म और स्थूल जगत्की उत्पत्ति होती है और उसीमें उनका लय भी होता है। इस प्रकार 'म' की और कारण-जगत्के अधिष्ठाता प्राज्ञ नामक तीसरे पादकी समता होनेके कारण 'म' रूप तीसरी मात्रा ही पूर्ण ब्रह्मका तीसरा पाद है। जो मनुष्य इस प्रकार 'म' और 'प्राज्ञ' स्वरूप परमेश्वरकी एकताको जानता है—इस रहस्यको समझकर ओंकारके स्मरणद्वारा परमेश्वरका चिन्तन करता है, वह इस मूलसहित सम्पूर्ण जगत्को भली प्रकार जान लेता है और सबको विलीन करनेवाला हो जाता है, अर्थात् उसकी बाह्य दृष्टि निवृत्त हो जाती है। अतः वह सर्वत्र एक परब्रह्म परमेश्वरको ही देखनेवाला बन जाता है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—मात्रारहित ओंकारकी चौथे पादके साथ एकताका प्रतिपादन करते हुए इस उपनिषद्का उपसंहार करते हैं—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ १२ ॥

एवम्=इसी प्रकार; **अमात्रः**=मात्रारहित; **ओंकारः**=प्रणव ही; **अव्यवहार्यः**=व्यवहारमें न आनेवाला; **प्रपञ्चोपशमः**=प्रपञ्चसे अतीत; **शिवः**=कल्याणमय; **अद्वैतः**=अद्वितीय; **चतुर्थः**= पूर्ण ब्रह्मका चौथा पाद है; [**सः**] **आत्मा**=वह आत्मा; **एव**=अवश्य ही; **आत्मना**=आत्माके द्वारा; **आत्मानम्**=परात्पर ब्रह्म परमात्मामें; **संविशति**=पूर्णतया प्रविष्ट हो जाता है; **यः**=जो; **एवम्**=इस प्रकार; **वेद**=जानता है; **यः एवम् वेद**=जो इस प्रकार जानता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माके नामात्मक ओंकारका जो मात्रारहित, बोलनेमें न आनेवाला, निराकार स्वरूप है, वही मन-वाणीका अविषय होनेसे व्यवहारमें न लाया जा सकनेवाला, प्रपञ्चसे अतीत, कल्याणमय, अद्वितीय—निर्गुण-निराकाररूप चौथा पाद है। भाव यह है कि जिस प्रकार तीन मात्राओंकी पहले बताये हुए तीन पादोंके साथ समता है, उसी प्रकार ओंकारके निराकार स्वरूपकी परब्रह्म परमात्माके निर्गुण-निराकार निर्विशेषरूप चौथे पादके साथ समता है। जो मनुष्य इस प्रकार ओंकार और परब्रह्म परमात्माकी अर्थात् नाम और नामीकी एकताके रहस्यको समझकर परब्रह्म परमात्माको पानेके लिये उनके नाम-जपका अवलम्ब लेकर तत्परतासे साधन करता है, वह निस्सन्देह आत्मासे आत्मामें अर्थात् परात्पर परब्रह्म परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है। 'जो इस प्रकार जानता है' इस वाक्यको दो बार कहकर उपनिषद्की समाप्ति सूचित की गयी है।

परब्रह्म परमात्मा और उनके नामकी महिमा अपार है, उसका कोई पार नहीं पा सकता। इस प्रकरणमें उन असीम पूर्णब्रह्म परमात्माके चार पादोंकी कल्पना उनके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों सगुण रूपोंकी और निर्गुण-निराकार स्वरूपकी एकता दिखानेके लिये तथा नाम और नामीकी सब प्रकारसे एकता दिखानेके लिये एवं उनकी सर्वभवन-

सामर्थ्यरूप जो अचिन्त्य शक्ति है, वह उनसे सर्वथा अभिन्न है—यह भाव दिखानेके लिये की गयी है, ऐसा अनुमान होता है ॥ १२ ॥

॥ अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ प्रश्नोपनिषद्में दिया जा चुका है ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥
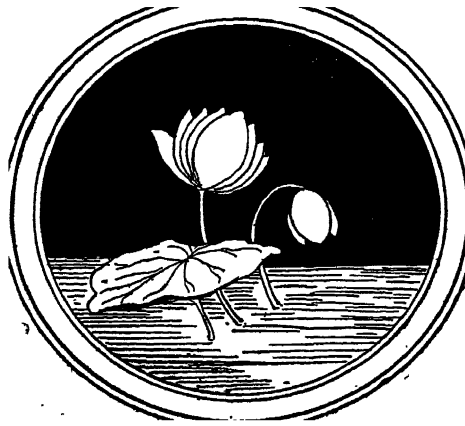
ऐतरेयोपनिषद्

ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यकमें दूसरे आरण्यकके चौथे, पाँचवें और छठे अध्यायोंको ऐतरेय-उपनिषद्के नामसे कहा गया है। इन तीन अध्यायोंमें ब्रह्मविद्याकी प्रधानता है, इस कारण इन्हींको 'उपनिषद्' माना है।

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ॐ=हे सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्; **मे**=मेरी; **वाक्**=वाक्-इन्द्रिय; **मनसि**=मनमें; **प्रतिष्ठिता**=स्थित हो जाय; **मे**=मेरा; **मनः**=मन; **वाचि**=वाक्-इन्द्रियमें; **प्रतिष्ठितम्**=स्थित हो जाय; **आविः**=हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर; **मे**=मेरे लिये; **आवीः एधि**=(तू) प्रकट हो; **मे**=(हे मन और वाणी! तुम दोनों) मेरे लिये; **वेदस्य**=वेदविषयक ज्ञानको; **आणीस्थः**=लानेवाले बनो; **मे**=मेरा; **श्रुतम्**=सुना हुआ ज्ञान; **मा प्रहासीः**=(मुझे) न छोड़े; **अनेन अधीतेन**=इस अध्ययनके द्वारा; **अहोरात्रान्**=(मैं) दिन और रात्रियोंको; **संदधामि**=एक कर दूँ; **ऋतम्**=(मैं) श्रेष्ठ शब्दोंको ही; **वदिष्यामि**=बोलूँगा; **सत्यम्**=सत्य ही; **वदिष्यामि**=बोला करूँगा; **तत्**=वह (ब्रह्म); **माम् अवतु**=मेरी रक्षा करे; **तत्**=वह (ब्रह्म); **वक्तारम् अवतु**=आचार्यकी रक्षा करे; **अवतु माम्**=रक्षा करे मेरी (और); **अवतु वक्तारम्**=रक्षा करे (मेरे) आचार्यकी; **अवतु वक्तारम्**=रक्षा करे (मेरे) आचार्यकी; **ओम् शान्तिः**=भगवान् शान्तिस्वरूप हैं; **शान्तिः**=शान्तिस्वरूप हैं; **शान्तिः**=शान्तिस्वरूप हैं।

व्याख्या—इस शान्तिपाठमें सब प्रकारके विघ्नोंकी शान्तिके लिये परमात्मासे प्रार्थना की गयी है। प्रार्थनाका भाव यह है कि 'हे सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! मेरी वाणी मनमें स्थित हो जाय और मन वाणीमें स्थित हो जाय, अर्थात् मेरे मन-वाणी दोनों एक हो जायँ! ऐसा न हो कि मैं वाणीसे एक पाठ पढ़ता रहूँ और मन दूसरा ही चिन्तन करता रहे, या मनमें दूसरा ही भाव रहे और वाणीद्वारा दूसरा प्रकट करूँ। मेरे संकल्प और वचन दोनों विशुद्ध होकर एक हो जायँ। हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! आप मेरे लिये प्रकट हो जाइये—अपनी योगमायाका पर्दा मेरे सामनेसे हटा लीजिये। (इस प्रकार परमात्मासे प्रार्थना करके अब उपासक अपने मन और वाणीसे कहता है कि) हे मन और वाणी! तुम दोनों मेरे लिये वेदविषयक ज्ञानकी प्राप्ति करानेवाले बनो—तुम्हारी सहायतासे मैं वेदविषयक ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। मेरा गुरुमुखसे सुना हुआ और अनुभवमें आया हुआ ज्ञान मेरा त्याग न करे अर्थात् वह सर्वदा मुझे स्मरण रहे—मैं उसे कभी न भूलूँ। मेरी इच्छा है कि अपने अध्ययनद्वारा मैं दिन और रात एक कर दूँ। अर्थात् रात-दिन निरन्तर ब्रह्मविद्याका पठन और चिन्तन ही करता रहूँ। मेरे समयका एक क्षण भी व्यर्थ न बीते। मैं अपनी वाणीसे सदा ऐसे ही शब्दोंका उच्चारण करूँगा, जो सर्वथा उत्तम हों, जिनमें किसी प्रकारका दोष न हो; तथा जो कुछ बोलूँगा, सर्वथा सत्य बोलूँगा—जैसा देखा, सुना और समझा हुआ भाव है, ठीक वही भाव वाणीद्वारा प्रकट करूँगा। उसमें किसी प्रकारका छल नहीं करूँगा। (इस प्रकार अपने मन और वाणीको दृढ़ बनाकर अब पुनः परमात्मासे प्रार्थना करता है—) वे परब्रह्म परमात्मा मेरी रक्षा करें। वे परमेश्वर मुझे ब्रह्मविद्या सिखानेवाले आचार्यकी रक्षा करें। वे रक्षा करें मेरी और मेरे आचार्यकी, जिससे मेरे अध्ययनमें किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित न

हो। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके विघ्नोंकी सर्वथा निवृत्तिके लिये तीन बार 'शान्तिः' पद-का उच्चारण किया गया है। भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, इसलिये उनके स्मरणसे शान्ति निश्चित है।

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥१॥

ॐ=ॐ; **इदम्**=यह जगत्; **अग्रे**=(प्रकट होनेसे) पहले; **एकः**=एकमात्र; **आत्मा**=परमात्मा; **वै**=ही; **आसीत्**=था; **अन्यत्**=(उसके सिवा) दूसरा; **किंचन**=कोई; **एव**=भी; **मिषत्**=चेष्टा करनेवाला; **न**=नहीं था; **सः**=उस (परम पुरुष परमात्मा)ने; **नु**=(मैं) निश्चय ही; **लोकान् सृजै**=लोकोंकी रचना करूँ; **इति**=इस प्रकार; **ईक्षत**=विचार किया ॥१॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें परमात्माके सृष्टि-रचना-विषयक प्रथम संकल्पका वर्णन है। भाव यह है कि देखने, सुनने और समझनेमें आनेवाले जड-चेतनमय प्रत्यक्ष जगत्के इस रूपमें प्रकट होनेसे पहले कारण-अवस्थामें एकमात्र परमात्मा ही थे। उस समय इसमें भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंकी अभिव्यक्ति नहीं थी। उस समय उन परब्रह्म परमात्माके सिवा दूसरा कोई भी चेष्टा करनेवाला नहीं था। सृष्टिके आदिमें उन परम पुरुष परमात्माने यह विचार किया कि 'मैं प्राणियोंके कर्म-फल-भोगार्थ भिन्न-भिन्न लोकोंकी रचना करूँ' ॥ १ ॥

स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥ २ ॥

सः=उसने; **अम्भः**=अम्भ (द्युलोक तथा उसके ऊपरके लोक); **मरीचीः**=मरीचि (अन्तरिक्ष); **मरम्**=मर (मर्त्यलोक) और; **आपः**=जल (पृथ्वीके नीचेके लोक); **इमान्**=इन सब; **लोकान् असृजत**=लोकोंकी रचना की; **दिवम् परेण**=द्युलोक—स्वर्गलोकसे ऊपरके लोक; **प्रतिष्ठा**=(तथा) उनका आधारभूत; **द्यौः**=द्युलोक भी; **अदः**=वे सब; **अम्भः**='अम्भ' के नामसे कहे गये हैं; **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष लोक (भुवर्लोक) ही; **मरीचयः**=मरीचि है (तथा); **पृथिवी**=यह पृथ्वी ही; **मरः**=मर—मृत्युलोकके नामसे कही गयी है (और); **याः**=जो; **अधस्तात्**=(पृथ्वीके) नीचे—भीतरी भागमें (स्थूल पातालादि लोक) हैं; **ताः**=वे; **आपः**=जलके नामसे कहे गये हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—यह विचार करके परब्रह्म परमेश्वरने अम्भ, मरीचि, मर और जल—इन लोकोंकी रचना की। इन शब्दोंको स्पष्ट करनेके लिये आगे श्रुतिमें ही कहा गया है कि स्वर्गलोकसे ऊपर जो महः, जनः, तपः और सत्य लोक हैं, वे और उनका आधार द्युलोक—इन पाँचों लोकोंको यहाँ 'अम्भः' नामसे कहा गया है। उसके नीचे जो अन्तरिक्षलोक (भुवर्लोक) है, जिसमें सूर्य, चन्द्र और तारागण—ये सब किरणोंवाले लोकविशेष हैं, उसका वर्णन यहाँ मरीचि नामसे किया गया है। उसके नीचे जो यह पृथ्वीलोक है—जिसको मृत्युलोक भी कहते हैं, वह यहाँ 'मर'के नामसे कहा गया है और उसके नीचे अर्थात् पृथ्वीके भीतर जो पातालादि लोक हैं, वे 'आपः' के नामसे कहे गये हैं। तात्पर्य यह कि जगत्में जितने भी लोक त्रिलोकी, चतुर्दश भुवन एवं सप्त लोकोंके नामसे प्रसिद्ध हैं, उन सब लोकोंकी परमात्माने रचना की ॥ २ ॥

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥ ३ ॥

सः=उसने; **ईक्षत**=फिर विचार किया; **इमे**=ये; **नु**=तो हुए; **लोकाः**=लोक; (अब) **लोकपालान् नु सृजै**=लोकपालोंकी भी रचना मुझे अवश्य करनी चाहिये; **इति**=यह विचार करके; **सः**=उसने; **अद्भ्यः**=जलसे; **एव**=ही; **पुरुषम्**=हिरण्यगर्भरूप पुरुषको; **समुद्धृत्य**=निकालकर; **अमूर्छयत्**=उसे मूर्तिमान् बनाया ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार इन समस्त लोकोंकी रचना करनेके अनन्तर परमेश्वरने फिर विचार किया कि 'ये सब लोक तो रचे गये। अब इन लोकोंकी रक्षा करनेवाले लोकपालोंकी रचना भी मुझे अवश्य करनी चाहिये, अन्यथा बिना रक्षकके ये सब लोक सुरक्षित नहीं रह सकेंगे।' यह सोचकर उन्होंने जलमेंसे अर्थात् जल आदि सूक्ष्म महाभूतोंमेंसे हिरण्यमय

पुरुषको निकालकर उसको समस्त अङ्ग-उपाङ्गोंसे युक्त करके मूर्तिमान् बनाया। यहाँ 'पुरुष' शब्दसे सृष्टिकालमें सबसे पहले प्रकट किये जानेवाले ब्रह्माका वर्णन किया गया है; क्योंकि ब्रह्मासे ही सब लोकपालोंकी और प्रजाको बढ़ानेवाले प्रजापतियोंकी उत्पत्ति हुई है—यह विस्तृत वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है और ब्रह्माकी उत्पत्ति जलके भीतरसे—कमलनालसे हुई, ऐसा भी वर्णन आता है। अतः यहाँ 'पुरुष' शब्दका अर्थ ब्रह्मा मान लेना उचित जान पड़ता है ॥ ३ ॥

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिनिरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥ ४ ॥

(परमात्माने) **तम्**=उस (हिरण्यगर्भरूप पुरुष) को लक्ष्य करके; **अभ्यतपत्**=संकल्परूप तप किया; **अभितप्तस्य**=उस तपसे तपे हुए; **तस्य**=हिरण्यगर्भके शरीरसे; **यथाण्डम्**=(पहले) अण्डेकी तरह (फूटकर); **मुखम्**=मुख-छिद्र; **निरभिद्यत**=प्रकट हुआ; **मुखात्**=मुखसे; **वाक्**=वाक्-इन्द्रिय (और); **वाचः**=वाक्-इन्द्रियसे; **अग्निः**=अग्निदेवता प्रकट हुआ (फिर); **नासिके**=नासिकाके दोनों छिद्र; **निरभिद्येताम्**=प्रकट हुए; **नासिकाभ्याम्**=नासिका-छिद्रोंमेंसे; **प्राणः**=प्राण उत्पन्न हुआ (और); **प्राणात्**=प्राणसे; **वायुः**=वायुदेवता उत्पन्न हुआ (फिर); **अक्षिणी**=दोनों आँखोंके छिद्र; **निरभिद्येताम्**=प्रकट हुए; **अक्षिभ्याम्**=आँखोंके छिद्रोंमेंसे; **चक्षुः**=नेत्र-इन्द्रिय प्रकट हुई (और); **चक्षुषः**=नेत्र-इन्द्रियसे; **आदित्यः**=सूर्य प्रकट हुआ; (फिर) **कर्णौ**=दोनों कानोंके छिद्र; **निरभिद्येताम्**=प्रकट हुए; **कर्णाभ्याम्**=कानोंसे; **श्रोत्रम्**=श्रोत्र-इन्द्रिय प्रकट हुई (और); **श्रोत्रात्**=श्रोत्र-इन्द्रियसे; **दिशः**=दिशाएँ प्रकट हुईं (फिर); **त्वक्**=त्वचा; **निरभिद्यत**=प्रकट हुई; **त्वचः**=त्वचासे; **लोमानि**=रोम उत्पन्न हुए (और); **लोमभ्यः**=रोमोंसे; **ओषधिवनस्पतयः**=ओषधि और वनस्पतियाँ प्रकट हुईं (फिर); **हृदयम्**=हृदय; **निरभिद्यत**=प्रकट हुआ; **हृदयात्**=हृदयसे; **मनः**=मनका आविर्भाव हुआ (और); **मनसः**=मनसे; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा उत्पन्न हुआ (फिर); **नाभिः**=नाभि; **निरभिद्यत**=प्रकट हुई; **नाभ्याः**=नाभिसे; **अपानः**=अपानवायु प्रकट हुआ (और); **अपानात्**=अपानवायुसे; **मृत्युः**=मृत्युदेवता उत्पन्न हुआ (फिर); **शिश्नम्**=लिङ्ग; **निरभिद्यत**=प्रकट हुआ; **शिश्नात्**=लिङ्गसे; **रेतः**=वीर्य (और); **रेतसः**=वीर्यसे; **आपः**=जल उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस प्रकार हिरण्यगर्भ पुरुषको उत्पन्न करके उसके अङ्ग-उपाङ्गोंको व्यक्त करनेके उद्देश्यसे जब परमात्माने संकल्परूप तप किया, तब उस तपके फलस्वरूप हिरण्यगर्भ पुरुषके शरीरमें सर्वप्रथम अण्डेकी भाँति फटकर मुख-छिद्र निकला। मुखसे वाक्-इन्द्रिय उत्पन्न हुई और वाक्-इन्द्रियसे उसका अधिष्ठातृ-देवता अग्नि उत्पन्न हुआ। फिर नासिकाके दोनों छिद्र हुए, उनमेंसे प्राणवायु प्रकट हुआ और प्राणोंसे वायुदेवता उत्पन्न हुआ। यहाँ घ्राणेन्द्रियका अलग वर्णन नहीं है; अतः घ्राण-इन्द्रिय और उसके देवता अश्विनीकुमार भी नासिकासे ही उत्पन्न हुए—यों समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार रसना-इन्द्रिय और उसके देवताका भी अलग वर्णन नहीं है; अतः मुखसे वाक्-इन्द्रियके साथ-साथ रसना-इन्द्रिय और उसके देवताकी भी उत्पत्ति हुई—यह समझ लेना चाहिये। फिर आँखोंके दोनों छिद्र प्रकट हुए, उनमेंसे नेत्र-इन्द्रिय और नेत्र-इन्द्रियसे उसका देवता सूर्य उत्पन्न हुआ। फिर कानोंके दोनों छिद्र निकले, उनमेंसे श्रोत्र-इन्द्रिय प्रकट हुई और श्रोत्र-इन्द्रियसे उसके देवता दिशाएँ उत्पन्न हुईं; उसके बाद त्वचा (चर्म) प्रकट हुई, त्वचासे रोम उत्पन्न हुए और रोमोंसे ओषधियाँ और वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। फिर हृदय प्रकट हुआ, हृदयसे मन और मनसे उसका अधिष्ठाता चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। फिर नाभि प्रकट हुई, नाभिसे अपानवायु और अपानवायुसे गुदा-इन्द्रियका अधिष्ठाता मृत्युदेवता उत्पन्न हुआ। नाभिकी उत्पत्तिके साथ ही गुदा-छिद्र और गुदा-इन्द्रियकी उत्पत्ति भी समझ लेनी चाहिये। यहाँ अपानवायु मल-त्यागमें हेतु होनेके कारण और उसका स्थान नाभि होनेके कारण मुख्यतासे उसीका नाम लिया गया है। परन्तु मृत्यु अपानका अधिष्ठाता नहीं है, वह गुदा-इन्द्रियका

अधिष्ठाता है; अतः उपलक्षणसे गुदा-इन्द्रियका वर्णन भी इसके अन्तर्गत मान लेना उचित प्रतीत होता है। फिर लिङ्ग प्रकट हुआ, उसमेंसे वीर्य और उससे जल उत्पन्न हुआ। यहाँ लिङ्गसे उपस्थेन्द्रिय और उसका देवता प्रजापति उत्पन्न हुआ—यह बात भी समझ लेनी चाहिये ॥ ४ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥

ताः=वे; **एताः सृष्टाः**= परमात्माद्वारा रचे हुए ये सब; **देवताः**=अग्नि आदि देवता; **अस्मिन्**=इस (संसाररूप); **महति**=महान्; **अर्णवे**=समुद्रमें; **प्रापतन्**=आ पड़े; (तब परमात्माने) **तम्**=उस (समस्त देवताओंके समुदाय) को; **अशनायापिपासाभ्याम्**=भूख और प्याससे; **अन्ववार्जत्**=युक्त कर दिया; (तब) **ताः**=वे सब अग्नि आदि देवता; **एनम् अब्रुवन्**=इस परमात्मासे बोले; (भगवन्) **नः**=हमारे लिये; **आयतनम् प्रजानीहि**=एक ऐसे स्थानकी व्यवस्था कीजिये; **यस्मिन्**=जिसमें; **प्रतिष्ठिताः**=स्थित रहकर; [**वयम्**=हमलोग;] **अन्नम्**=अन्न; **अदाम इति**=भक्षण करें ॥ १ ॥

व्याख्या—परमात्माद्वारा रचे गये वे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता अग्नि आदि सब देवता संसाररूपी इस महान् समुद्रमें आ पड़े। अर्थात् हिरण्यगर्भ पुरुषके शरीरसे उत्पन्न होनेके बाद उनको कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं मिला, जिससे वे उस समष्टि-शरीरमें ही रहे। तब परमात्माने उस देवताओंके समुदायको भूख और पिपासासे संयुक्त कर दिया। अतः भूख और प्याससे पीड़ित होकर वे अग्नि आदि सब देवता अपनी सृष्टि करनेवाले परमात्मासे बोले—'भगवन्! हमारे लिये एक ऐसे स्थानकी व्यवस्था कीजिये, जिसमें रहकर हमलोग अन्न भक्षण कर सकें—अपना-अपना आहार ग्रहण कर सकें' ॥ १ ॥

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥२॥

ताभ्यः=(परमात्मा) उन देवताओंके लिये; **गाम्**=गौका शरीर; **आनयत्**=लाये; (उसे देखकर) **ताः**=उन्होंने; **अब्रुवन्**=कहा; **नः**=हमारे लिये; **अयम्**=यह; **अलम्**=पर्याप्त; **न वै**=नहीं है; **इति**=इस प्रकार उनके कहनेपर (परमात्मा); **ताभ्यः**=उनके लिये; **अश्वम्**=घोड़ेका शरीर; **आनयत्**=लाये; (उसे देखकर भी) **ताः**=उन्होंने (फिर वैसे ही); **अब्रुवन्**=कहा कि; **अयम्**=यह भी; **नः**=हमारे लिये; **अलम्**=पर्याप्त; **न वै इति**= नहीं है ॥ २ ॥

व्याख्या—इस प्रकार उनके प्रार्थना करनेपर सृष्टिकर्ता परमेश्वरने उन सबके रहनेके लिये एक गौका शरीर बनाकर उनको दिखाया। उसे देखकर उन्होंने कहा—'भगवन्! यह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है, अर्थात् इस शरीरसे हमारा कार्य अच्छी तरह नहीं चलनेका। इससे श्रेष्ठ किसी दूसरे शरीरकी रचना कीजिये।' तब परमात्माने उनके लिये घोड़ेका शरीर रचकर उनको दिखाया। उसे देखकर वे फिर बोले—'भगवन्! यह भी हमारे लिये यथेष्ट नहीं है, इससे भी हमारा काम नहीं चल सकता। आप कोई तीसरा ही शरीर बनाकर हमें दीजिये' ॥ २ ॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति। पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥

ताभ्यः=(तब परमात्मा) उनके लिये; **पुरुषम्**=मनुष्यका शरीर; **आनयत्**=लाये; (उसे देखकर) **ताः**=वे (अग्नि आदि सब देवता); **अब्रुवन्**=बोले; **बत**=बस; **सुकृतम् इति**=यह बहुत सुन्दर बन गया; **वाव**=सचमुच ही; **पुरुषः**=मनुष्य-शरीर; **सुकृतम्**=(परमात्माकी) सुन्दर रचना है; **ताः अब्रवीत्**=(फिर) उन सब देवताओंसे (परमात्माने) कहा; (तुमलोग) **यथायतनम्**=अपने-अपने योग्य आश्रयोंमें; **प्रविशत इति**=प्रविष्ट हो जाओ ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब उन्होंने गाय और घोड़ेके शरीरोंको अपने लिये यथेष्ट नहीं समझा, तब परमात्माने उनके लिये पुरुषकी अर्थात् मनुष्य-शरीरकी रचना की और वह उनको दिखाया। उसे देखते ही सब देवता बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'यह हमारे लिये बहुत सुन्दर निवास-स्थान बन गया। इसमें हम आरामसे रह सकेंगे और हमारी सब आवश्यकताएँ भलीभाँति पूर्ण हो सकेंगी।' सचमुच मनुष्य-शरीर परमात्माकी सुन्दर और श्रेष्ठ रचना है; इसीलिये यह देवदुर्लभ माना गया है और शास्त्रोंमें जगह-जगह इसकी महिमा गायी गयी है; क्योंकि इसी शरीरमें जीव परमात्माके आज्ञानुसार यथायोग्य साधन करके उन्हें प्राप्त कर सकता है। जब सब देवताओंने उस शरीरको पसंद किया, तब उनसे परमेश्वरने कहा—तुमलोग अपने-अपने योग्य स्थान देखकर इस शरीरमें प्रवेश कर जाओ॥ ३॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्॥ ४॥

अग्निः=(तब) अग्निदेवता; **वाक्**=वाक्-इन्द्रिय; **भूत्वा**=बनकर; **मुखम् प्राविशत्**=मुखमें प्रविष्ट हो गया; **वायुः**=वायुदेवता; **प्राणः**=प्राण; **भूत्वा**=बनकर; **नासिके प्राविशत्**=नासिकाके छिद्रोंमें प्रविष्ट हो गया; **आदित्यः**=सूर्यदेवता; **चक्षुः**=नेत्र-इन्द्रिय; **भूत्वा**=बनकर; **अक्षिणी प्राविशत्**=आँखोंके गोलकोंमें प्रविष्ट हो गया; **दिशः**=दिशाओंके अभिमानी देवता; **श्रोत्रम्**=श्रोत्र-इन्द्रिय; **भूत्वा**=बनकर; **कर्णौ प्राविशन्**=कानोंमें प्रविष्ट हो गये; **ओषधिवनस्पतयः**=ओषधि और वनस्पतियोंके अभिमानी देवता; **लोमानि**=रोएँ; **भूत्वा**=बनकर; **त्वचम् प्राविशन्**=त्वचामें प्रविष्ट हो गये; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा; **मनः**=मन; **भूत्वा**=बनकर; **हृदयम् प्राविशत्**=हृदयमें प्रविष्ट हो गया; **मृत्युः**=मृत्युदेवता; **अपानः**=अपानवायु; **भूत्वा**=बनकर; **नाभिम् प्राविशत्**=नाभिमें प्रविष्ट हो गया; **आपः**=जलका अभिमानी देवता; **रेतः**=वीर्य; **भूत्वा**=बनकर; **शिश्नम् प्राविशन्**=लिङ्गमें प्रविष्ट हो गया॥ ४॥

व्याख्या—सृष्टिकर्ता परमेश्वरकी आज्ञा पाकर अग्निदेवताने वाक्-इन्द्रियका रूप धारण किया और पुरुषके (मनुष्य-शरीरके) मुखमें प्रविष्ट हो गये। उन्होंने जिह्वाको अपना आश्रय बना लिया। यहाँ वरुणदेवता भी रसना-इन्द्रिय बनकर मुखमें प्रविष्ट हो गये, यह बात अधिक समझ लेनी चाहिये। फिर वायुदेवता प्राण होकर नासिकाके छिद्रोंमें (उसी मार्गसे समस्त शरीरमें) प्रविष्ट हो गये। अश्विनीकुमार भी घ्राण-इन्द्रियका रूप धारण करके नासिकामें प्रविष्ट हो गये—यह बात भी यहाँ उपलक्षणसे समझी जा सकती है; क्योंकि उसका पृथक् वर्णन नहीं है। उसके बाद सूर्यदेवता नेत्र-इन्द्रिय बनकर आँखोंमें प्रविष्ट हो गये। दिशाभिमानी देवता श्रोत्रेन्द्रिय बनकर दोनों कानोंमें प्रविष्ट हो गये। ओषधि और वनस्पतियोंके अभिमानी देवता रोम बनकर चमड़ेमें प्रविष्ट हो गये तथा चन्द्रमा मनका रूप धारण करके हृदयमें प्रविष्ट हो गये। मृत्युदेवता अपान (और पायु-इन्द्रिय) का रूप धारण करके नाभिमें प्रविष्ट हो गये। जलके अधिष्ठातृ-देवता वीर्य बनकर लिङ्गमें प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार सब-के-सब देवता इन्द्रियोंके रूपमें अपने-अपने उपयुक्त स्थानोंमें प्रविष्ट होकर स्थित हो गये॥ ४॥

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः॥५॥

तम्=उस परमात्मासे; **अशनायापिपासे**=भूख और प्यास—ये दोनों; **अब्रूताम्**=बोलीं; **आवाभ्याम्**=हमारे लिये भी; **अभिप्रजानीहि**=(स्थानकी) व्यवस्था कीजिये; **इति**=यह (सुनकर); **ते**=उनसे; **अब्रवीत्**=(परमात्माने) कहा; **वाम्**=तुम दोनोंको (मैं); **एतासु**=इन सब; **देवतासु**=देवताओंमें; **एव**=ही; **आभजामि**=भाग दिये देता हूँ; **एतासु**=इन (देवताओं) में ही (तुम्हें); **भागिन्यौ**=भागीदार; **करोमि इति**=बनाता हूँ; **तस्मात्**=इसलिये; **यस्यै कस्यै च**=जिस किसी भी; **देवतायै**=देवताके लिये; **हविः**=हवि (भिन्न-भिन्न विषय); **गृह्यते**=(इन्द्रियोंद्वारा)

ग्रहण की जाती है; **अस्याम्**=उस देवता (के भोजन) में; **अशनायापिपासे**=भूख और प्यास—दोनों; **एव**=ही; **भागिन्यौ**=भागीदार; **भवतः**=होती हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—तब भूख और प्यास—ये दोनों परमेश्वरसे कहने लगीं—'भगवन् ! इन सबके लिये तो आपने रहनेके स्थान निश्चित कर दिये, अब हमारे लिये भी किसी स्थान-विशेषकी व्यवस्था करके उसमें हमें स्थापित कीजिये ।' उनके यों कहनेपर उनसे सृष्टिके रचयिता परमेश्वरने कहा—'तुम दोनोंके लिये पृथक स्थानकी आवश्यकता नहीं है । तुम दोनोंको मैं इन देवताओंके ही स्थानोंमें भाग दिये देता हूँ । इन देवताओंके आहारमें मैं तुम दोनोंको भागीदार बना देता हूँ ।' सृष्टिके आदिमें ही परमेश्वरने ऐसा नियम बना दिया था; इसीलिये जब जिस किसी भी देवताको देनेके लिये इन्द्रियोंद्वारा विषय-भोग ग्रहण किये जाते हैं, उस देवताके भागमें ये क्षुधा और पिपासा भी हिस्सेदार होती ही हैं अर्थात् उस इन्द्रियके अभिमानी देवताकी तृप्तिके साथ क्षुधा-पिपासाको भी शान्ति मिलती है ॥ ५ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

सः=उस (परमात्मा) ने; **ईक्षत**=फिर विचार किया; **नु**=निश्चय ही; **इमे**=ये सब; **लोकाः**=लोक; **च**=और; **लोकपालाः**=लोकपाल; **च**=भी; (रचे गये, अब) **एभ्यः**=इनके लिये; **अन्नम् सृजै इति**=मुझे अन्नकी सृष्टि करनी चाहिये ॥ १ ॥

व्याख्या—इन सबकी रचना हो जानेपर परमेश्वरने फिर विचार किया—'ये सब लोक और लोकपाल तो रचे गये—इनकी रचनाका कार्य तो पूरा हो गया । अब इनके निर्वाहके लिये अन्न भी होना चाहिये—भोग्य पदार्थोंकी भी व्यवस्था होनी चाहिये; क्योंकि इनके साथ भूख-प्यास भी लगा दी गयी है । अतः उसकी (अन्नकी) भी रचना करूँ' ॥ १ ॥

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत । या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥ २ ॥

सः=उस (परमात्मा) ने; **अपः**=जलोंको (पाँचों सूक्ष्म महाभूतोंको); **अभ्यतपत्**=तपाया (संकल्पद्वारा उनमें क्रिया उत्पन्न की); **ताभ्यः अभितप्ताभ्यः**=उन तपे हुए सूक्ष्म पाँच भूतोंसे; **मूर्तिः**=मूर्ति; **अजायत**=उत्पन्न हुई; **वै**=निश्चय ही; **या**=जो; **सा**=वह; **मूर्तिः**=मूर्ति; **अजायत**=उत्पन्न हुई; **तत् वै**=वही; **अन्नम्**=अन्न है ॥ २ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त प्रकारसे विचार करके परमेश्वरने जलोंको अर्थात् पाँचों सूक्ष्म महाभूतोंको तपाया—अपने संकल्पद्वारा उनमें क्रिया उत्पन्न की । परमात्माके संकल्पद्वारा संचालित हुए उन सूक्ष्म महाभूतोंसे मूर्ति प्रकट हुई अर्थात् उनका स्थूल रूप उत्पन्न हुआ । वह जो मूर्ति अर्थात् उन पाँच महाभूतोंका स्थूलरूप उत्पन्न हुआ, वही अन्न—देवताओंके लिये भोग्य है ॥ २ ॥

तदेनत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत्तद्वाचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम् । यद्धैनद्वाचाग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

सृष्टम्=उत्पन्न किया हुआ; **तत्**=वह; **एनत्**=यह अन्न; **पराङ्**=(भोक्ता पुरुषसे) विमुख होकर; **अत्यजिघांसत्**=भागनेकी चेष्टा करने लगा; **तत्**=(तब उस पुरुषने) उसको; **वाचा**=वाणीद्वारा; **अजिघृक्षत्**=ग्रहण करनेकी इच्छा की; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **वाचा**=वाणीद्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=ग्रहण नहीं कर सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इस अन्नको; **वाचा**=वाणीद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=ग्रहण कर सकता; (तो अब भी मनुष्य) **ह**=अवश्य ही; **अन्नम् अभिव्याहृत्य**=अन्नका वर्णन करके; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ३ ॥

व्याख्या—लोकों और लोकपालोंकी आहारसम्बन्धी आवश्यकताको पूर्ण करनेके लिये उत्पन्न किया हुआ वह अन्न यों समझकर कि यह मुझे खानेवाला तो मेरा विनाशक ही है, उससे छुटकारा पानेके लिये मुख फेरकर भागने लगा। तब उस मनुष्यके रूपमें उत्पन्न हुए जीवात्माने उस अन्नको वाणीद्वारा पकड़ना चाहा; परंतु वह उसे वाणीद्वारा पकड़ नहीं सका। यदि उस पुरुषने वाणीद्वारा अन्नको ग्रहण कर लिया होता तो अब भी मनुष्य अन्नका वाणीद्वारा उच्चारण करके ही तृप्त हो जाते—अन्नका नाम लेनेमात्रसे उनका पेट भर जाता; परंतु ऐसा नहीं होता ॥ ३ ॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुं स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥४॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **प्राणेन**=घ्राण-इन्द्रियके द्वारा;* **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **प्राणेन**=घ्राणेन्द्रियद्वारा भी; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इस अन्नको; **प्राणेन**=घ्राण-इन्द्रियद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ सकता; (तो अब भी मनुष्य) **ह**=अवश्य; **अन्नम्**=अन्नको; **अभिप्राण्य**=सूँघकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ४ ॥

व्याख्या—तब उस पुरुषने अन्नको प्राणके द्वारा अर्थात् घ्राण-इन्द्रियके द्वारा पकड़ना चाहा, परंतु वह उसको घ्राण-इन्द्रियके द्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इस अन्नको घ्राण-इन्द्रियद्वारा पकड़ सकता तो अब भी लोग अन्नको नाकसे सूँघकर ही तृप्त हो जाते; परंतु ऐसा नहीं देखा जाता ॥ ४ ॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **चक्षुषा**=आँखोंसे; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **चक्षुषा**=आँखोंके द्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इस अन्नको; **चक्षुषा**=आँखोंसे; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ लेता तो; **ह**=अवश्य ही; (अब भी मनुष्य) **अन्नम्**=अन्नको; **दृष्ट्वा**=देखकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ५ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको आँखोंसे पकड़ना चाहा; परंतु वह उसको आँखोंके द्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इस अन्नको आँखोंसे ग्रहण कर सकता तो अवश्य ही आजकल भी लोग अन्नको केवल देखकर ही तृप्त हो जाते; परंतु ऐसी बात नहीं देखी जाती ॥ ५ ॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥६॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इसको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ लेता तो; **ह**=निस्सन्देह; (अब भी मनुष्य) **अन्नम्**=अन्नका नाम; **श्रुत्वा**=सुनकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ६ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको कानोंद्वारा पकड़ना चाहा; परंतु वह उसको कानोंद्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इसको कानोंसे पकड़ सकता तो अवश्य ही अब भी मनुष्य केवल अन्नका नाम सुनकर ही तृप्त हो जाते; परंतु यह देखनेमें नहीं आता ॥ ६ ॥

तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥७॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उसको; **त्वचा**=चमड़ीद्वारा; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु) **तत्**=उसको;

---

* घ्राण-इन्द्रियका विषय गन्ध वायु और प्राणके सहयोगसे ही उक्त इन्द्रियद्वारा ग्रहण होता है तथा घ्राण-इन्द्रियके निवासस्थान नासिकाछिद्रोंसे ही प्राणका आवागमन होता है। इसलिये यहाँ घ्राणेन्द्रियके ही स्थानमें 'प्राण' शब्द प्रयुक्त हुआ है, यह जान पड़ता है; क्योंकि अन्तमें प्राणके ही एक भेद अपानद्वारा अन्नका ग्रहण होना बताया गया है। अतः यहाँ प्राणसे ग्रहण न किया जाना माननेसे पूर्वापरविरोध आयेगा।

व्याख्या—लोकों और लोकपालोंकी आहारसम्बन्धी आवश्यकताको पूर्ण करनेके लिये उत्पन्न किया हुआ वह अन्न यों समझकर कि यह मुझे खानेवाला तो मेरा विनाशक ही है, उससे छुटकारा पानेके लिये मुख फेरकर भागने लगा। तब उस मनुष्यके रूपमें उत्पन्न हुए जीवात्माने उस अन्नको वाणीद्वारा पकड़ना चाहा; परंतु वह उसे वाणीद्वारा पकड़ नहीं सका। यदि उस पुरुषने वाणीद्वारा अन्नको ग्रहण कर लिया होता तो अब भी मनुष्य अन्नका वाणीद्वारा उच्चारण करके ही तृप्त हो जाते—अन्नका नाम लेनेमात्रसे उनका पेट भर जाता; परंतु ऐसा नहीं होता ॥ ३ ॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुं स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥४॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **प्राणेन**=घ्राण-इन्द्रियके द्वारा;* **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **प्राणेन**=घ्राणेन्द्रियद्वारा भी; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इस अन्नको; **प्राणेन**=घ्राण-इन्द्रियद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ सकता; (तो अब भी मनुष्य) **ह**=अवश्य; **अन्नम्**=अन्नको; **अभिप्राण्य**=सूँघकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ४ ॥

व्याख्या—तब उस पुरुषने अन्नको प्राणके द्वारा अर्थात् घ्राण-इन्द्रियके द्वारा पकड़ना चाहा, परंतु वह उसको घ्राण-इन्द्रियके द्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इस अन्नको घ्राण-इन्द्रियद्वारा पकड़ सकता तो अब भी लोग अन्नको नाकसे सूँघकर ही तृप्त हो जाते; परंतु ऐसा नहीं देखा जाता ॥ ४ ॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **चक्षुषा**=आँखोंसे; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **चक्षुषा**=आँखोंके द्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इस अन्नको; **चक्षुषा**=आँखोंसे; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ लेता तो; **ह**=अवश्य ही; (अब भी मनुष्य) **अन्नम्**=अन्नको; **दृष्ट्वा**=देखकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ५ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको आँखोंसे पकड़ना चाहा; परंतु वह उसको आँखोंके द्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इस अन्नको आँखोंसे ग्रहण कर सकता तो अवश्य ही आजकल भी लोग अन्नको केवल देखकर ही तृप्त हो जाते; परंतु ऐसी बात नहीं देखी जाती ॥ ५ ॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥६॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इसको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ लेता तो; **ह**=निस्सन्देह; (अब भी मनुष्य) **अन्नम्**=अन्नका नाम; **श्रुत्वा**=सुनकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ६ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको कानोंद्वारा पकड़ना चाहा; परंतु वह उसको कानोंद्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इसको कानोंसे पकड़ सकता तो अवश्य ही अब भी मनुष्य केवल अन्नका नाम सुनकर ही तृप्त हो जाते; परंतु यह देखनेमें नहीं आता ॥ ६ ॥

तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥७॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उसको; **त्वचा**=चमड़ीद्वारा; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु) **तत्**=उसको;

* घ्राण-इन्द्रियका विषय गन्ध वायु और प्राणके सहयोगसे ही उक्त इन्द्रियद्वारा ग्रहण होता है तथा घ्राण-इन्द्रियके निवासस्थान नासिकाछिद्रोंसे ही प्राणका आवागमन होता है। इसलिये यहाँ घ्राणेन्द्रियके ही स्थानमें 'प्राण' शब्द प्रयुक्त हुआ है, यह जान पड़ता है; क्योंकि अन्तमें प्राणके ही एक भेद अपानद्वारा अन्नका ग्रहण होना बताया गया है। अतः यहाँ प्राणसे ग्रहण न किया जाना माननेसे पूर्वापरविरोध आयेगा।

सः=(तत्र) उस (सृष्टिके रचयिता परमेश्वर) ने; **ईक्षत**=सोचा कि; **नु**=निश्चय ही; **इदम्**=यह; **मत् ऋते**=मेरे बिना; **कथम्**=किस प्रकार; **स्यात्**=रहेगा; **इति**=यह सोचकर; (पुनः) **सः**=उसने; **ईक्षत**=विचार किया कि; **यदि**=यदि; **वाचा**=(इस पुरुषने मेरे बिना ही केवल) वाणीद्वारा; **अभिव्याहृतम्**=बोलनेकी क्रिया कर ली; **यदि**=यदि; **प्राणेन**=घ्राण-इन्द्रियद्वारा; **अभिप्राणितम्**=सूँघनेकी क्रिया कर ली; **यदि**=यदि; **चक्षुषा**=नेत्रद्वारा; **दृष्टम्**=देख लिया; **यदि**=यदि; **श्रोत्रेण**=कर्ण-इन्द्रियद्वारा; **श्रुतम्**=सुन लिया; **यदि**=यदि; **त्वचा**=त्वक्-इन्द्रियद्वारा; **स्पृष्टम्**=स्पर्श कर लिया; **यदि**=यदि; **मनसा**=मनद्वारा; **ध्यातम्**=मनन कर लिया; **यदि**=यदि; **अपानेन**=अपानद्वारा; **अभ्यपानितम्**=अन्नग्रहण आदि अपान-सम्बन्धी क्रिया कर ली; (तथा) **यदि**=यदि; **शिश्नेन**=उपस्थसे; **विसृष्टम्**=मूत्र और वीर्यका त्याग कर लिया; **अथ**=तो फिर; **अहम्**=मैं; **कः**=कौन हूँ; **इति**=यह सोचकर; (पुनः) **सः**=उसने; **ईक्षत**=विचार किया कि; **कतरेण**=(पैर और मस्तक—इन दोनोंमेंसे) किस मार्गसे; **प्रपद्यै इति**=मुझे इसमें प्रवेश करना चाहिये ॥ ११ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब लोक और लोकपालोंकी रचना हो गयी; उन सबके लिये आहार भी उत्पन्न हो गया तथा मनुष्य-शरीरधारी पुरुषने उस आहारको ग्रहण करना भी सीख लिया, तब उस सर्वस्रष्टा परमात्माने फिर विचार किया—'यह मनुष्यरूप पुरुष मेरे बिना कैसे रहेगा ? यदि इस जीवात्माके साथ मेरा सहयोग नहीं रहेगा तो यह अकेला किस प्रकार टिक सकेगा ?'* साथ ही यह भी विचार किया कि 'यदि मेरे सहयोगके बिना इस पुरुषने वाणीद्वारा बोलनेकी क्रिया कर ली, घ्राण-इन्द्रियसे सूँघनेका काम कर लिया, प्राणोंमें वायुको भीतर ले जाने और बाहर छोड़नेकी क्रिया कर ली, नेत्रेन्द्रियद्वारा देख लिया, कर्णेन्द्रियद्वारा सुन लिया, त्वक्-इन्द्रियद्वारा स्पर्श कर लिया, मनके द्वारा मनन कर लिया, अपानद्वारा अन्न निगल लिया, और यदि जननेन्द्रियद्वारा मूत्र और वीर्यका त्याग करनेकी क्रिया सम्पन्न कर ली, तो फिर मेरा क्या उपयोग रह गया ? भाव यह कि मेरे बिना इन सब इन्द्रियोंद्वारा कार्य सम्पन्न कर लेना इसके लिये असम्भव है ।' यह सोचकर परमात्माने विचार किया कि मैं इस मनुष्य-शरीरमें पैर और मस्तक—इन दोमेंसे किस मार्गसे प्रविष्ट होऊँ ? ॥ ११ ॥

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम् । तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः, अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥

(यों विचारकर) **सः**=उसने; **एतम् एव**=इस (मनुष्य-शरीरकी); **सीमानम्**=सीमाको; **विदार्य**=चीरकर; **एतया द्वारा**=इसके द्वारा; **प्रापद्यत**=उस सजीव शरीरमें प्रवेश किया; **सा**=वह; **एषा**=यह; **द्वाः**=द्वार; **विदृतिः नाम**=विदृति नामसे प्रसिद्ध है; **तत्**=वही; **एतत्**=यह; **नान्दनम्**=आनन्द देनेवाला अर्थात् ब्रह्म-प्राप्तिका द्वार है; **तस्य**=उस परमेश्वरके; **त्रयः**=तीन; **आवसथाः**=आश्रय (उपलब्धि-स्थान) हैं; **त्रयः**=तीन; **स्वप्नाः**= स्वप्न हैं; **अयम्**=यह (हृदय-गुहा); **आवसथः**=एक स्थान है; **अयम्**=यह (परमधाम); **आवसथः**=दूसरा स्थान है; **अयम्**=यह (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड); **आवसथः इति**=तीसरा स्थान है ॥ १२ ॥

व्याख्या—परमात्मा इस मनुष्य-शरीरकी सीमा (मूर्धा) को अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रको चीरकर (उसमें छेद करके) इसके द्वारा उस सजीव मनुष्य-शरीरमें प्रविष्ट हो गये । वह यह द्वार विदृति (विदीर्ण किया हुआ द्वार) नामसे प्रसिद्ध है । वही यह विदृति नामका द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) आनन्द देनेवाला अर्थात् आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है । परमेश्वरकी उपलब्धिके तीन स्थान हैं और स्वप्न भी तीन हैं । एक तो यह हृदयाकाश उनकी उपलब्धिका स्थान है । दूसरा विशुद्ध आकाशरूप परमधाम है—जिसको सत्यलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक, साकेतलोक, कैलास आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है । तीसरा यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है । तथा इस जगत्‌की जो स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन अवस्थाएँ हैं, वे ही इसके तीन स्वप्न हैं ॥ १२ ॥

---

* इसीलिये तो भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि समस्त भूतोंका जो कारण है, वह मैं हूँ । ऐसा कोई भी चराचर प्राणी नहीं है, जो मुझसे रहित हो (१० । ३९) ।

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत् । इदमदर्शमिती ३ ॥ १३ ॥

जातः सः=मनुष्यरूपमें प्रकट हुए उस पुरुषने; **भूतानि**=पञ्च महाभूतोंकी अर्थात् भौतिक जगत्की रचनाको; **अभिव्यैख्यत्**=चारों ओरसे देखा; (और) **इह**=यहाँ; **अन्यम्**=दूसरा; **किम्**=कौन है; **इति**=यह; **वावदिषत्**=कहा; **सः**=(तब) उसने; **एतम्**=इस; **पुरुषम्**=अन्तर्यामी परम पुरुषको; **एव**=ही; **ततमम्**=सर्वव्यापी; **ब्रह्म**=परब्रह्मके रूपमें; **अपश्यत्**=देखा; (और यह प्रकट किया) [**अहो**] **इती ३**=अहो ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि; **इदम्**=इस परब्रह्म परमात्माको; **अदर्शम्**=मैंने देख लिया ॥ १३ ॥

व्याख्या—मनुष्यरूपमें उत्पन्न हुए उस पुरुषने इस भौतिक जगत्की विचित्र रचनाको बड़े आश्चर्यपूर्वक चारों ओरसे देखा और मन-ही-मन इस प्रकार कहा—'इस विचित्र जगत्की रचना करनेवाला यहाँ दूसरा कौन है ? क्योंकि यह मेरी की हुई रचना तो है नहीं और कार्य होनेके कारण इसका कोई-न-कोई कर्ता अवश्य होना चाहिये ।' इस प्रकार विचार करनेपर उस साधकने अपने हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान पुरुषको ही इस सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त परब्रह्मके रूपमें प्रत्यक्ष किया । तब वह आनन्दमें भरकर मन-ही-मन कहने लगा—'अहो ! बड़े ही सौभाग्यकी बात है कि मैंने परब्रह्म परमात्माको देख लिया—साक्षात् कर लिया ।'

इससे यह भाव प्रकट किया गया है कि इस जगत्की विचित्र रचनाको देखकर इसके कर्ता-धर्ता परमात्माकी सत्तामें विश्वास करके यदि मनुष्य उन्हें जानने और पानेको उत्सुक हो, उन्हींपर निर्भर होकर चेष्टा करे तो अवश्य ही उन्हें जान सकता है । परमात्माको जानने और पानेका काम इस मनुष्य-शरीरमें ही हो सकता है, दूसरे शरीरमें नहीं । अतः मनुष्यको अपने जीवनके अमूल्य समयका सदुपयोग करना चाहिये, उसे व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये । इस अध्यायमें मानो परमात्माकी महिमाका और मनुष्य-शरीरके महत्त्वका दिग्दर्शन करानेके लिये ही सृष्टि-रचनाका वर्णन किया गया है ॥ १३ ॥

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम । तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ १४ ॥

तस्मात्=इसीलिये; **इदन्द्रः नाम**=वह 'इदन्द्र' नामवाला है; **ह**=वास्तवमें; **इदन्द्रः नाम वै**=वह 'इदन्द्र' नामवाला ही है; (परंतु) **इदन्द्रम्**=इदन्द्र; **सन्तम्**=होते हुए ही; **तम्**=उस परमात्माको; **परोक्षेण**=परोक्षभावसे (गुप्त नामसे); **इन्द्रः**='इन्द्र'; **इति**=यों; **आचक्षते**=पुकारते हैं; **हि**=क्योंकि; **देवाः**=देवतालोग; **परोक्षप्रियाः इव**=मानो परोक्षभावसे कही हुई बातको पसंद करनेवाले होते हैं; **हि देवाः परोक्षप्रियाः इव**=देवतालोग मानो परोक्षभावसे कही हुई बातोंको ही पसंद करनेवाले होते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माको उस मनुष्य-शरीरमें उत्पन्न हुए पुरुषने पूर्वोक्त प्रकारसे प्रत्यक्ष कर लिया, इसी कारण परमात्माका नाम 'इदन्द्र' है । अर्थात् 'इदम्+द्रः=इसको मैंने देख लिया' इस व्युत्पत्तिके अनुसार उनका 'इदन्द्र' नाम है । इस प्रकार यद्यपि उस परमात्माका नाम 'इदन्द्र' ही है, फिर भी लोग उन्हें परोक्षभावसे 'इन्द्र' कहकर पुकारते हैं; क्योंकि देवतालोग मानो छिपाकर ही कुछ कहना पसंद करते हैं । 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' इस अन्तिम वाक्यको दुबारा कहकर इस खण्डकी समाप्ति सूचित की गयी है ॥ १४ ॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥ ३ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

ॐ

द्वितीय अध्याय

सम्बन्ध—प्रथम अध्यायमें सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम और मनुष्य-शरीरका महत्त्व बताया गया और यह बात भी संकेतमें कही गयी कि जीवात्मा इस शरीरमें परमात्माको जानकर कृतकृत्य हो सकता है। अब इस शरीरकी अनित्यता दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये इस अध्यायमें मनुष्य-शरीरकी उत्पत्तिका वर्णन किया जाता है—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतः तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥

अयम्=यह(संसारी जीव); **ह**=निश्चयपूर्वक; **आदितः**=पहले-पहल; **पुरुषे**=पुरुष-शरीरमें; **वै**=ही; **गर्भः भवति**=वीर्यरूपसे गर्भ बनता है; **यत्**=जो; **एतत्**=यह; (पुरुषमें) **रेतः**=वीर्य है; **तत्**=वह; **एतत्**=यह; (पुरुषके) **सर्वेभ्यः**=सम्पूर्ण; **अङ्गेभ्यः**=अङ्गोंसे; **सम्भूतम्**=उत्पन्न हुआ; **तेजः**=तेज है; **आत्मानम्**=(यह पुरुष पहले तो) अपने ही स्वरूपभूत इस वीर्यमय तेजको; **आत्मनि**=अपने शरीरमें; **एव**=ही; **बिभर्ति**=धारण करता है; (फिर) **यदा**=जब; (यह) **तत्**=उसको; **स्त्रियाम्**=स्त्रीमें; **सिञ्चति**=सिंचन करता है; **अथ**=तब; **एनत्**=इसको; **जनयति**=गर्भरूपमें उत्पन्न करता है; **तत्**=वह; **अस्य**=इसका; **प्रथमम्**=पहला; **जन्म**=जन्म है ॥ १ ॥

व्याख्या—यह संसारी जीव पहले-पहल पुरुष-शरीरमें (पिताके शरीरमें) वीर्यरूपसे गर्भ बनता है—प्रकट होता है। पुरुषके शरीरमें जो यह वीर्य है, वह सम्पूर्ण अङ्गोंमेंसे निकलकर उत्पन्न हुआ तेज (सार) है। यह पिता अपने स्वरूपभूत उस वीर्यरूप तेजको पहले तो अपने शरीरमें ही धारण-पोषण करता है—ब्रह्मचर्यके द्वारा बढ़ाता एवं पुष्ट करता है; फिर जब यह उसको स्त्रीके गर्भाशयमें सिंचन (स्थापित) करता है, तब इसे गर्भरूपमें उत्पन्न करता है। वह माताके शरीरमें प्रवेश करना ही इसका पहला जन्म है ॥ १ ॥

तत्स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति। यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति। सास्यैतमात्मानमत्र-गतं भावयति ॥ २ ॥

तत्=वह (गर्भ); **स्त्रियाः**=स्त्रीके; **आत्मभूतम्**=आत्मभावको; **गच्छति**=प्राप्त हो जाता है; **यथा**=जैसे; **स्वम्**=अपना; **अङ्गम्**=अङ्ग होता है; **तथा**=वैसे ही (हो जाता है); **तस्मात्**=इसी कारणसे; **एनाम्**=इस स्त्रीको; **न हिनस्ति**=वह पीड़ा नहीं देता; **सा**=वह स्त्री (माता); **अत्रगतम्**=यहाँ (अपने शरीरमें) आये हुए; **अस्य**=उस (अपने पति) के; **आत्मानम्**=आत्मारूप (स्वरूपभूत); **एतम् भावयति**=इस गर्भका पालन-पोषण करती है ॥ २ ॥

व्याख्या—उस स्त्री (माता) के शरीरमें आया हुआ वह गर्भ—पिताके द्वारा स्थापित किया हुआ तेज उस स्त्रीके आत्मभावको प्राप्त हो जाता है—अर्थात् जैसे उसके दूसरे अङ्ग हैं, उसी प्रकार वह गर्भ भी उसके शरीरका एक अङ्ग-सा ही हो जाता है। यही कारण है कि वह गर्भ उस स्त्रीके उदरमें रहता हुआ भी गर्भिणी स्त्रीको पीड़ा नहीं पहुँचाता—उसे भाररूप नहीं प्रतीत होता। वह स्त्री अपने शरीरमें आये हुए अपने पतिके आत्मारूप इस गर्भको अपने अङ्गोंकी भाँति ही भोजनके रससे पुष्ट करती है और अन्य सब प्रकारके आवश्यक नियमोंका पालन करके उसकी भलीभाँति रक्षा करती है ॥ २ ॥

सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधि-भावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या। एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥

सा=वह; **भावयित्री**=उस गर्भका पालन-पोषण करनेवाली स्त्री; **भावयितव्या**=पालन-पोषण करनेयोग्य;

भवति=होती है; **तम् गर्भम्**=उस गर्भको; **अग्रे**=प्रसवके पहलेतक; **स्त्री**=स्त्री (माता); **बिभर्ति**=धारण करती है; **जन्मनः अधि**=(फिर) जन्म लेनेके बाद; **सः**=वह (उसका पिता); **अग्रे**=पहले; **एव**=ही; **कुमारम्**=उस कुमारको; (जातकर्म आदि संस्कारोंद्वारा) **भावयति**=अभ्युदयशील बनाता तथा उसकी उन्नति करता है; **सः**=वह (पिता); **यत्**=जो; **जन्मनः अधि**=जन्म लेनेके बाद; **अग्रे** [**एव**]=पहले ही; **कुमारम् भावयति**=बालककी उन्नति करता है; **तत्**=वह; (मानो) **एषाम्**=इन; **लोकानाम्**=लोकोंको (मनुष्योंको); **संतत्या**=बढ़ानेके द्वारा; **आत्मानम् एव भावयति**=अपनी ही उन्नति करता है; **हि**=क्योंकि; **एवम्**=इसी प्रकार; **इमे**=ये सब; **लोकाः**=लोक (मनुष्य); **संतताः**=विस्तारको प्राप्त हुए हैं; **तत्**=वह; **अस्य**=इसका; **द्वितीयम्**=दूसरा; **जन्म**=जन्म है ॥ ३ ॥

व्याख्या—अपने पतिके आत्मस्वरूप उस गर्भकी सब प्रकारसे रक्षा करनेवाली गर्भिणी स्त्री घरके लोगोंद्वारा और विशेषतः उसके पतिद्वारा पालन-पोषण करनेयोग्य होती है । अर्थात् घरके लोगोंका और पतिका यह परम आवश्यक कर्तव्य है कि वे सब मिलकर उसके खान-पान और रहन-सहनकी सुव्यवस्था करके सब प्रकारसे उसकी सँभाल रक्खें । उस गर्भको पहले अर्थात् प्रसव होनेतक तो स्त्री (माता) अपने शरीरमें धारण करती है; फिर जन्म लेनेके बाद—जन्म लेते ही वह उसका पिता जातकर्म आदि संस्कारोंसे और नाना प्रकारके उपचारोंसे उस कुमारको अभ्युदयशील बनाता है और जन्मसे लेकर जबतक वह सर्वथा योग्य न बन जाय, तबतक हर प्रकारसे उसका पालन-पोषण करता है—नाना प्रकारकी विद्या और शिल्पादिका अध्ययन कराके उसे सब प्रकारसे उन्नत बनाता है । वह पिता जन्मके बाद उस बालकको उपयुक्त बना देनेके पहले-पहले जो उसकी रक्षा करता है, उसे सब प्रकारसे योग्य बनाता है, वह मानो इन लोकोंको अर्थात् मनुष्योंकी परम्पराको बढ़ानेके द्वारा अपनी ही रक्षा करता है; क्योंकि इसी प्रकार एक-से-एक उत्पन्न होकर ये सब मनुष्य विस्तारको प्राप्त हुए हैं । यह जो इस जीवका गर्भसे बाहर आकर बालकरूपमें उत्पन्न होना है, वह इसका दूसरा जन्म है ।

इस वर्णनसे पिता और पुत्र दोनोंको अपने-अपने कर्तव्यकी शिक्षा दी गयी है । पुत्रको तो यह समझना चाहिये कि उसपर अपने माता-पिताका बड़ा भारी उपकार है; अतः वह उनकी जितनी सेवा कर सके, थोड़ी है । और पिताको इस प्रकारका अभिमान नहीं करना चाहिये कि मैंने इसका उपकार किया है, वरं यह समझना चाहिये कि मैंने अपनी ही वृद्धि करके अपने कर्तव्यका पालन किया है ॥ ३ ॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते । अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति । स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥ ४ ॥

सः=वह (पुत्ररूपमें उत्पन्न हुआ); **अयम्**=यह; **आत्मा**=(पिताका ही) आत्मा; **अस्य**=इस पिताके (द्वारा आचरणीय); **पुण्येभ्यः**=शुभकर्मोंके लिये; **प्रतिधीयते**=उसका प्रतिनिधि बना दिया जाता है; **अथ**=उसके अनन्तर; **अस्य**=इस (पुत्र) का; **अयम्**=यह (पितारूप); **इतरः**=दूसरा; **आत्मा**=आत्मा; **कृतकृत्यः**=अपना कर्तव्य पूरा करके; **वयोगतः**=आयु पूरी होनेपर; **प्रैति**=(यहाँसे) मरकर चला जाता है; **सः**=वह; **इतः**=यहाँसे; **प्रयन्**=जाकर; **एव**=ही; **पुनः**=पुनः; **जायते**=उत्पन्न हो जाता है; **तत्**=वह; **अस्य**=इसका; **तृतीयम्**=तीसरा; **जन्म**=जन्म है ॥ ४ ॥

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकारसे इस पिताका ही आत्मस्वरूप पुत्र जब कार्य करने योग्य हो जाता है, तब वह पिता उसको अपना प्रतिनिधि बना देता है—अग्निहोत्र, देवपूजा और अतिथि-सेवा आदि वैदिक और लौकिक जितने भी शुभ कर्म हैं, उन सबका भार पुत्रको सौंप देता है । गृहस्थका पूरा दायित्व पुत्रपर छोड़कर स्वयं कृतकृत्य हो जाता है । अर्थात् अपनेको पितृ-ऋणसे मुक्त मानता है । उसके बाद इस शरीरकी आयु पूर्ण होनेपर जब वह (पिता) इसे छोड़कर यहाँसे विदा हो जाता है, तब यहाँसे जाकर दूसरी जगह कर्मानुसार जहाँ जिस योनिमें जन्म लेता है, वह इसका तीसरा जन्म है । इसी तरह यह जन्म-जन्मान्तरकी परम्परा चलती रहती है ।

जबतक जन्म-मृत्युके महान् कष्टकी आलोचना करके इससे छुटकारा पानेके लिये जीवात्मा मनुष्य-शरीरमें चेष्टा नहीं करता, तबतक यह परम्परा नहीं टूटती । अतः इसके लिये मनुष्यको अवश्य चेष्टा करनी चाहिये । यही इस प्रकरणका उद्देश्य प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार बार-बार जन्म लेना और मरना एक भयानक यन्त्रणा है; और जबतक यह जीव इस रहस्यको समझकर इस शरीररूप पिंजरेको काटकर इससे सर्वथा अलग न हो जायगा, तबतक इसका इस जन्म-मृत्युरूप यन्त्रणासे छुटकारा नहीं होगा—यह भाव अगले दो मन्त्रोंमें वामदेव ऋषिके दृष्टान्तसे समझाया जाता है—

तदुक्तमृषिणा—
गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा ।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति ।
गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥

तत्=वही बात (इस प्रकार); **ऋषिणा**=ऋषिद्वारा; **उक्तम्**=कही गयी है; **नु**=अहो; **अहम्**=मैंने; **गर्भे**=गर्भमें; **सन्**=रहते हुए ही; **एषाम्**=इन; **देवानाम्**=देवताओंके; **विश्वा**=बहुत-से; **जनिमानि**=जन्मोंको; **अन्ववेदम्**=भलीभाँति जान लिया; **मा**=मुझे; **शतम्**=सैकड़ों; **आयसीः**=लोहेके समान कठोर; **पुरः**=शरीरोंने; **अरक्षन्**=अवरुद्ध कर रक्खा था; **अधः**=अब (मैं); **श्येनः**=बाज पक्षी (की भाँति); **जवसा**=वेगसे; **निरदीयम् इति**=उन सबको तोड़कर उनसे अलग हो गया हूँ; **गर्भे**=गर्भमें; **एव**=ही; **शयानः**=सोये हुए; **वामदेवः**=वामदेव ऋषिने; **एवम्**=उक्त प्रकारसे; **एतत्**=यह बात; **उवाच**=कही ॥ ५ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त चार मन्त्रोंमें कही हुई बातका ही रहस्य यहाँ ऋषिद्वारा बताया गया है। गर्भमें रहते हुए ही अर्थात् गर्भके बाहर आनेसे पहले ही वामदेव ऋषिको यथार्थ ज्ञान हो गया था, इसलिये उन्होंने माताके उदरमें ही कहा था—'अहो ! कितने आश्चर्य और आनन्दकी बात है कि गर्भमें रहते-रहते ही मैंने इन अन्तःकरण और इन्द्रियरूप देवताओंके अनेक जन्मोंका रहस्य भलीभाँति जान लिया। अर्थात् मैं इस बातको जान गया कि ये जन्म आदि वास्तवमें इन अन्तःकरण और इन्द्रियोंके ही होते हैं, आत्माके नहीं। इस रहस्यको समझनेसे पहले मुझे सैकड़ों लोहेके समान कठोर शरीररूपी पिंजरोंने अवरुद्ध कर रक्खा था। उनमें मेरी ऐसी दृढ़ अहंता हो गयी थी कि उससे छूटना मेरे लिये कठिन हो रहा था। अब मैं बाज पक्षीकी भाँति ज्ञानरूप बलके वेगसे उन सबको तोड़कर उनसे अलग हो गया हूँ। उन शरीररूप पिंजरोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा, मैं सदाके लिये उन शरीरोंकी अहंतासे मुक्त हो गया हूँ ॥ ५ ॥

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥ ६ ॥

एवम्=इस प्रकार; **विद्वान्**=(जन्म-जन्मान्तरके रहस्यको) जाननेवाला; **सः**=वह वामदेव ऋषि; **अस्मात्**=इस; **शरीरभेदात्**=शरीरका नाश होनेपर; **ऊर्ध्वः उत्क्रम्य**=संसारके ऊपर उठ गया और ऊर्ध्वगतिके द्वारा; **अमुष्मिन्**=उस; **स्वर्गे लोके**=परमधाममें (पहुँचकर); **सर्वान्**=समस्त; **कामान्**=कामनाओंको; **आप्त्वा**=प्राप्त करके; **अमृतः**=अमृत; **समभवत्**=हो गया; **समभवत्**=हो गया ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जन्म-जन्मान्तरके तत्त्वको अर्थात् जबतक यह जीव इन शरीरोंके साथ एक हुआ रहता है, शरीरको ही अपना स्वरूप माने रहता है, तबतक इसका जन्म-मृत्युसे छुटकारा नहीं होता, इसको बार-बार नाना योनियोंमें जन्म लेकर नाना प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं—इस रहस्यको समझनेवाला वह ज्ञानी वामदेव ऋषि गर्भसे बाहर आकर अन्तमें शरीरका नाश होनेपर संसारसे ऊपर उठ गया तथा ऊर्ध्वगतिके द्वारा भगवान्‌के परमधाममें पहुँचकर वहाँ समस्त कामनाओंको पाकर अर्थात् सर्वथा आप्तकाम होकर अमृत हो गया ! अमृत हो गया ! जन्म-मृत्युके चक्रसे सदाके लिये छूट गया। 'समभवत्' पदको दुहराकर यहाँ अध्यायकी समाप्तिको सूचित किया गया है ॥ ६ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

ॐ

तृतीय अध्याय

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे। कतरः स आत्मा, येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

वयम्= हमलोग; **उपास्महे**= जिसकी उपासना करते हैं; [**सः**= वह;] **अयम्**= यह; **आत्मा**= आत्मा; **कः इति**= कौन है; **वा**= अथवा; **येन**= जिससे; **पश्यति**= मनुष्य देखता है; **वा**= या; **येन**= जिससे; **शृणोति**= सुनता है; **वा**= अथवा; **येन**= जिससे; **गन्धान्**= गन्धोंको; **आजिघ्रति**= सूँघता है; **वा**= अथवा; **येन**= जिससे; **वाचम्**= वाणीको; **व्याकरोति**= स्पष्ट बोलता है; **वा**= या; **येन**= जिससे; **स्वादु**= स्वादयुक्त; **च**= और; **अस्वादु**= स्वादहीन वस्तुको; **च**= भी; **विजानाति**= अलग-अलग जानता है; **सः**= वह; **आत्मा**= आत्मा; **कतरः**= (पिछले अध्यायोंमें कहे हुए दो आत्माओंमेंसे) कौन है* ॥ १ ॥

व्याख्या—इस उपनिषद्के पहले और दूसरे अध्यायोंमें दो आत्माओंका वर्णन आया है—एक तो वह आत्मा (परमात्मा), जिसने इस सृष्टिकी रचना की और सजीव पुरुषको प्रकट करके उसका सहयोग देनेके लिये स्वयं उसमें प्रविष्ट हुआ; दूसरा वह आत्मा (जीवात्मा), जिसको सजीव पुरुषरूपमें उसने प्रकट किया था और जिसके जन्म-जन्मान्तरकी परम्पराका वर्णन दूसरे अध्यायमें गर्भमें आनेसे लेकर मरणपर्यन्त किया गया है। इनमेंसे उपास्य देव कौन है, वह कैसा है, उसकी क्या पहचान है—इन बातोंका निर्णय करनेके लिये यह तीसरा अध्याय कहा गया है। मन्त्रका तात्पर्य यह है कि उस उपास्यदेव परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले कुछ मनुष्य आपसमें विचार करने लगे—'जिसकी हमलोग उपासना करते हैं अर्थात् जिसकी उपासना करके हमें उसे प्राप्त करना चाहिये, वह आत्मा कौन है ? दूसरे शब्दोंमें जिसके सहयोगसे मनुष्य नेत्रोंके द्वारा समस्त दृश्य देखता है, जिससे कानोंद्वारा शब्द सुनता है, जिससे घ्राणेन्द्रियके द्वारा नाना प्रकारकी गन्ध सूँघता है, जिससे वाणीद्वारा वचन बोलता है, जिससे रसनाद्वारा स्वादयुक्त और स्वादहीन वस्तुको अलग-अलग पहचान लेता है, वह पहले और दूसरे अध्यायोंमें वर्णित दो आत्माओंमेंसे कौन है ? ॥ १ ॥

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

यत्= जो; **एतत्**= यह; **हृदयम्**= हृदय है; **एतत्**= यही; **मनः**= मन; **च**= भी है; **संज्ञानम्**= सम्यक् ज्ञान-शक्ति; **आज्ञानम्**= आज्ञा देनेकी शक्ति; **विज्ञानम्**= विभिन्न रूपसे जाननेकी शक्ति; **प्रज्ञानम्**= तत्काल जाननेकी शक्ति; **मेधा**= धारण करनेकी शक्ति; **दृष्टिः**= देखनेकी शक्ति; **धृतिः**= धैर्य; **मतिः**= बुद्धि; **मनीषा**= मनन-शक्ति; **जूतिः**= वेग; **स्मृतिः**= स्मरण-शक्ति; **संकल्पः**= संकल्प-शक्ति; **क्रतुः**= मनोरथ-शक्ति; **असुः**= प्राण-शक्ति; **कामः**= कामना-शक्ति; **वशः**= स्त्री-संसर्ग आदिकी अभिलाषा; **इति**= इस प्रकार; **एतानि**= ये; **सर्वाणि**= सब-के-सब; **प्रज्ञानस्य**= स्वच्छ ज्ञानस्वरूप परमात्माके; **एव**= ही; **नामधेयानि**= नाम अर्थात् उसकी सत्ताके बोधक लक्षण; **भवन्ति**= हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस प्रकार विचार उपस्थित करके उन्होंने सोचा कि जो यह हृदय अर्थात् अन्तःकरण है, यही पहले बताया हुआ मन है; इस मनकी जो यह सम्यक् प्रकारसे जाननेकी शक्ति देखनेमें आती है—अर्थात् जो दूसरोंपर आज्ञाद्वारा शासन करनेकी शक्ति, पदार्थोंका अलग-अलग विवेचन करके जाननेकी शक्ति, देखे-सुने हुए पदार्थोंको तत्काल समझ लेनेकी शक्ति, अनुभवको धारण करनेकी शक्ति, देखनेकी शक्ति, धैर्य अर्थात् विचलित न होनेकी शक्ति, बुद्धि अर्थात् निश्चय करनेकी शक्ति, मनन करनेकी शक्ति, वेग अर्थात् क्षणभरमें कहीं-से-कहीं चले जानेकी शक्ति, स्मरण-शक्ति, संकल्प-शक्ति, मनोरथ-शक्ति, प्राण-शक्ति, कामना-शक्ति और स्त्री-सहवास आदिकी अभिलाषा—इस प्रकार जो ये शक्तियाँ हैं, वे सब-की-सब उस स्वच्छ

---

* केनोपनिषद्के आरम्भकी इसके साथ बहुत अंशोंमें समानता है।

ज्ञानस्वरूप परमात्माके नाम हैं अर्थात् उसकी सत्ताका बोध करानेवाले लक्षण हैं; इन सबको देखकर इन सबके रचयिता, संचालक और रक्षककी सर्वव्यापिनी सत्ताका ज्ञान होता है ॥ २ ॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम् । प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥

एषः=यह; **ब्रह्मा**=ब्रह्मा है; **एषः**=यह; **इन्द्रः**=इन्द्र है; **एषः**=यही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **एते**=ये; **सर्वे**=समस्त; **देवाः**=देवता; **च**=तथा; **इमानि**=ये; **पृथिवी**=पृथ्वी; **वायुः**=वायु; **आकाशः**=आकाश; **आपः**=जल; और **ज्योतींषि**=तेज; **इति**=इस प्रकार; **एतानि**=ये; **पञ्च**=पाँच; **महाभूतानि**=महाभूत; **च**=तथा; **इमानि**=ये; **क्षुद्रमिश्राणि इव**=छोटे-छोटे, मिले हुए-से; **बीजानि**=बीजरूप समस्त प्राणी; **च**=और; **इतराणि**=इनसे भिन्न; **इतराणि**=दूसरे; **च**=भी; **अण्डजानि**=अंडेसे उत्पन्न होनेवाले; **च**=एवं; **जारुजानि**=जेरसे उत्पन्न होनेवाले; **च**=तथा; **स्वेदजानि**=पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले; **च**=और; **उद्भिज्जानि**=जमीन फोड़कर उत्पन्न होनेवाले; **च**=तथा; **अश्वाः**=घोड़े; **गावः**=गायें; **हस्तिनः**=हाथी; **पुरुषाः**=मनुष्य (ये सब-के-सब मिलकर); **यत्**=जो; **किम्**=कुछ; **च**=भी; **इदम्**=यह जगत् है; **यत् च**=जो भी कोई; **पतत्रि**=पाँखोंवाला; **च**=और; **जङ्गमम्**=चलने-फिरनेवाला; **च**=और; **स्थावरम्**=नहीं चलनेवाला; **प्राणि**=प्राणिसमुदाय है; **तत्**=वह; **सर्वम्**=सब; **प्रज्ञानेत्रम्**=प्रज्ञानस्वरूप परमात्मासे शक्ति पाकर ही अपने-अपने कार्यमें समर्थ होनेवाले हैं (और); **प्रज्ञाने**=उस प्रज्ञानस्वरूप परमात्मामें ही; **प्रतिष्ठितम्**=स्थित हैं; **लोकः**=(यह समस्त) ब्रह्माण्ड; **प्रज्ञानेत्रः**=प्रज्ञानस्वरूप परमात्मासे ही ज्ञान-शक्तियुक्त है; **प्रज्ञा**=प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा ही; **प्रतिष्ठा**=इस स्थितिका आधार है; **प्रज्ञानम्**=यह प्रज्ञान ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार विचार करके उन्होंने निश्चय किया कि सबको उत्पन्न करके सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करनेवाले और उनकी रक्षा करनेवाले स्वच्छ ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही उपास्यदेव हैं। ये ही ब्रह्मा हैं, ये ही पहले अध्यायमें वर्णित इन्द्र हैं। ये ही सबकी उत्पत्ति और पालन करनेवाले समस्त प्रजाओंके स्वामी प्रजापति हैं। ये सब इन्द्रादि देवता, ये पाँचों महाभूत—जो पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेजके रूपमें प्रकट हैं, तथा ये छोटे-छोटे मिले हुए-से बीजरूपमें स्थित समस्त प्राणी; तथा उनसे भिन्न दूसरे भी—अर्थात् अंडेसे उत्पन्न होनेवाले, जेरसे उत्पन्न होनेवाले, पसीनेसे अर्थात् शरीरके मैलसे उत्पन्न होनेवाले और जमीन फोड़कर उत्पन्न होनेवाले तथा घोड़े, गाय, हाथी, मनुष्य—ये सब मिलकर जो कुछ यह जगत् है; जो भी कोई पंखोंवाले तथा चलने-फिरनेवाले और नहीं चलनेवाले जीवोंके समुदाय हैं—वे सब-के-सब प्राणी प्रज्ञानस्वरूप परमात्मासे शक्ति पाकर ही अपने-अपने कार्यमें समर्थ होते हैं और उन प्रज्ञानस्वरूप परमात्मामें ही स्थित हैं। यह समस्त ब्रह्माण्ड प्रज्ञानस्वरूप परमात्माकी शक्तिसे ही ज्ञान-शक्तियुक्त है। इसकी स्थितिके आधार प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा ही हैं। अतः जिनको पहले इन्द्र और प्रजापतिके नामसे कहा गया है, जो सबकी रचना और रक्षा करनेवाले तथा सबको सब प्रकारकी शक्ति देनेवाले प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा हैं, वे ही हमारे उपास्यदेव ब्रह्म हैं—यह निश्चय हुआ ॥ ३ ॥

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत् ॥ ४ ॥

सः=वह; **अस्मात्**=इस; **लोकात्**=लोकसे; **उत्क्रम्य**=ऊपर उठकर; **अमुष्मिन्**=उस; **स्वर्गे लोके**=परम धाममें; **एतेन**=इस; **प्रज्ञेन आत्मना**=प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्मके सहित; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **कामान्**=दिव्य भोगोंको; **आप्त्वा**=प्राप्त होकर; **अमृतः**=अमर; **समभवत्**=हो गया; **समभवत्**=हो गया ॥ ४ ॥

व्याख्या—जिसने इस प्रकार प्रज्ञानस्वरूप परमेश्वरको जान लिया, वह इस लोकसे ऊपर उठकर अर्थात् शरीरका त्याग करके उस परमानन्दमय परमधाममें, जिसके स्वरूपका पूर्वमन्त्रमें वर्णन किया गया है, इस प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्मके साथ सम्पूर्ण दिव्य अलौकिक भोगरूप परम आनन्दको प्राप्त होकर अमर हो गया अर्थात् सदाके लिये जन्म-मृत्युसे छूट गया। 'समभवत्' (हो गया)—इस वाक्यकी पुनरुक्ति उपनिषद्की समाप्ति सूचित करनेके लिये की गयी है ॥ ४ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

॥ ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ उपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है।
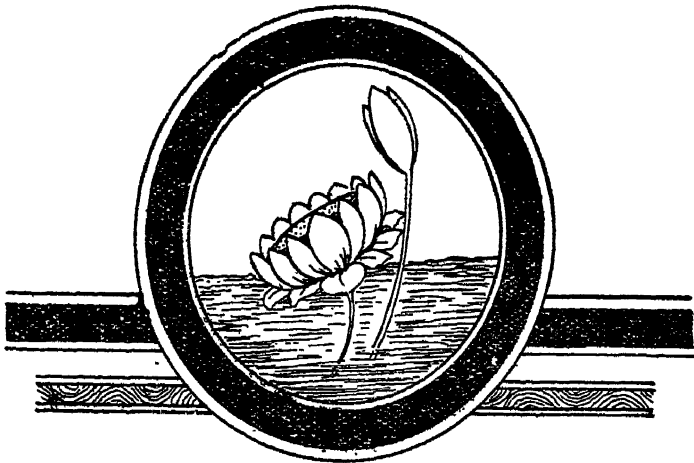
॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाके अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यकका अङ्ग है। तैत्तिरीय आरण्यकके दस अध्याय हैं। उनमेंसे सातवें, आठवें और नवें अध्यायोंको ही तैत्तिरीय उपनिषद् कहा जाता है।

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ आगे प्रथम अनुवाकमें दिया गया है।

शिक्षा-वल्ली*

प्रथम अनुवाक

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ इस परमेश्वरके नामका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है।

नः=हमारे लिये; **मित्रः**=(दिन और प्राणके अधिष्ठाता) मित्र देवता; **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों (तथा); **वरुणः**=(रात्रि और अपानके अधिष्ठाता) वरुण (भी); **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों; **अर्यमा**=(चक्षु और सूर्य-मण्डलके अधिष्ठाता) अर्यमा; **नः**=हमारे लिये; **शम् भवतु**=कल्याणकारी हों; **इन्द्रः**=(बल और भुजाओंके अधिष्ठाता) इन्द्र (तथा); **बृहस्पतिः**=(वाणी और बुद्धिके अधिष्ठाता) बृहस्पति; **नः**=(दोनों)हमारे लिये; **शम् [भवताम्]**= शान्ति प्रदान करनेवाले हों; **उरुक्रमः**=त्रिविक्रमरूपसे विशाल डगोंवाले; **विष्णुः**=विष्णु (जो पैरोंके अधिष्ठाता हैं); **नः**=हमारे लिये; **शम् [भवतु]**=कल्याणकारी हों; **ब्रह्मणे**=(उपर्युक्त सभी देवताओंके आत्मस्वरूप) ब्रह्मके लिये; **नमः**=नमस्कार है; **वायो**=हे वायुदेव; **ते**=तुम्हारे लिये; **नमः**=नमस्कार है; **त्वम्**=तुम; **एव**=ही; **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष (प्राणरूपसे प्रतीत होनेवाले); **ब्रह्म**=ब्रह्म; **असि**=हो; (इसलिये मैं) **त्वाम्**=तुमको; **एव**=ही; **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **वदिष्यामि**=

---

* इस प्रकरणमें दी हुई शिक्षाके अनुसार अपना जीवन बना लेनेवाला मनुष्य इस लोक और परलोकके सर्वोत्तम फलको पा सकता है और ब्रह्मविद्याको ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाता है—इस भावको समझानेके लिये इस प्रकरणका नाम शिक्षावल्ली रक्खा गया है।

कहूँगा; **ऋतम्**=(तुम ऋतके अधिष्ठाता हो, इसलिये मैं तुम्हें) ऋत नामसे; **वदिष्यामि**=पुकारूँगा; **सत्यम्**=(तुम सत्यके अधिष्ठाता हो, अतः मैं तुम्हें) सत्य नामसे; **वदिष्यामि**=कहूँगा; **तत्**=वह (सर्वशक्तिमान् परमेश्वर); **माम् अवतु**= मेरी रक्षा करे; **तत्**=वह; **वक्तारम् अवतु**=वक्ताकी अर्थात् आचार्यकी रक्षा करे; **अवतु माम्**=रक्षा करे मेरी; (और) **अवतु वक्तारम्**=रक्षा करे मेरे आचार्यकी; **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**=भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, शान्तिस्वरूप हैं, शान्तिस्वरूप हैं।

व्याख्या—इस प्रथम अनुवाकमें भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाता परब्रह्म परमेश्वरसे भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंमें उनकी स्तुति करते हुए प्रार्थना की गयी है। भाव यह है कि समस्त आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियोंके रूपमें तथा उनके अधिष्ठाता मित्र, वरुण आदि देवताओंके रूपमें जो सबके आत्मा—अन्तर्यामी परमेश्वर हैं, वे सब प्रकारसे हमारे लिये कल्याणमय हों। हमारी उन्नतिके मार्गमें और अपनी प्राप्तिके मार्गमें किसी प्रकारका विघ्न न आने दें। हम सबके अन्तर्यामी उन ब्रह्मको नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार परमात्मासे शान्तिकी प्रार्थना करके सूत्रात्मा प्राणके रूपमें समस्त प्राणियोंमें व्याप्त उन परमेश्वरकी वायुके नामसे स्तुति करते हैं—'हे सर्वशक्तिमान् सबके प्राणस्वरूप वायुमय परमेश्वर ! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं समस्त प्राणियोंके प्राणस्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, अतः मैं तुम्हींको प्रत्यक्ष ब्रह्मके नामसे पुकारूँगा। मैं 'ऋत'नामसे भी तुम्हें पुकारूँगा; क्योंकि सारे प्राणियोंके लिये जो कल्याणकारी नियम है, उस नियमरूप ऋतके तुम्हीं अधिष्ठाता हो। तथा मैं तुम्हें 'सत्य' नामसे पुकारा करूँगा; क्योंकि सत्य (यथार्थ भाषण) के अधिष्ठातृ-देवता तुम्हीं हो। वे सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वर मुझे सत् आचरण एवं सत्य-भाषण करनेकी और सत्-विद्याको ग्रहण करनेकी शक्ति प्रदान करके इस जन्म-मरणरूप संसार-चक्रसे मेरी रक्षा करें, तथा मेरे आचार्यको इन सबका उपदेश देकर सर्वत्र उस सत्यका प्रचार करनेकी शक्ति प्रदान करके उनकी रक्षा करें। यहाँ 'मेरी रक्षा करें', 'वक्ताकी रक्षा करें'—इन वाक्योंको दुबारा कहनेका अभिप्राय शान्तिपाठकी समाप्तिको सूचित करना है।

ओम् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः—इस प्रकार तीन बार कहनेका भाव यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके विघ्नोंका सर्वथा उपशमन हो जाय। भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, अतः उनके स्मरणसे सब प्रकारकी शान्ति निश्चित है।

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाक

शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।

शीक्षाम् व्याख्यास्यामः=अब हम शिक्षाका वर्णन करेंगे; **वर्णः**=वर्ण; **स्वरः**=स्वर; **मात्राः**=मात्रा; **बलम्**=प्रयत्न; **साम**=वर्णोंका सम वृत्तिसे उच्चारण अथवा गान करनेकी रीति; (और) **संतानः**=संधि; **इति**=इस प्रकार; **शीक्षाध्यायः**= वेदके उच्चारणकी शिक्षाका अध्याय; **उक्तः**=कहा गया।

व्याख्या—इस मन्त्रमें वेदके उच्चारणके नियमोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके उनका संकेतमात्र किया गया है। इससे मालूम होता है कि उस समय जो शिष्य परमात्माकी रहस्य-विद्याका जिज्ञासु होता था, वह इन नियमोंको पहलेसे ही पूर्णतया जाननेवाला होता था; अतः उसे सावधान करनेके लिये संकेतमात्र ही यथेष्ट था। इन संकेतोंका भाव यह प्रतीत होता है कि मनुष्यको वैसे तो प्रत्येक शब्दके उच्चारणमें सावधानी बरतते हुए शुद्ध बोलनेका अभ्यास रखना चाहिये। पर यदि लौकिक शब्दोंमें नियमोंका पालन नहीं भी किया जा सके तो कम-से-कम वेदमन्त्रोंका उच्चारण तो अवश्य ही शिक्षाके नियमानुसार होना चाहिये। क, ख आदि व्यञ्जन वर्णों और अ, आ आदि स्वर वर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करना चाहिये। दन्त्य 'स' के स्थानमें तालव्य 'श' या मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। 'व' के स्थानमें 'ब' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अन्य वर्णोंके उच्चारणमें भी विशेष ध्यान रखना चाहिये। इसी प्रकार बोलते समय किस वर्णका किस

जगह क्या भाव प्रकट करनेके लिये उच्च स्वरसे उच्चारण करना उचित है, किसका मध्य स्वरसे और किसका निम्न स्वरसे उच्चारण करना उचित है—इस बातका भी पूरा-पूरा ध्यान रखकर यथोचित स्वरसे बोलना चाहिये। वेदमन्त्रोंके उच्चारणमें उदात्त आदि स्वरोंका ध्यान रखना और कहाँ कौन स्वर है—इसका यथार्थ ज्ञान होना विशेष आवश्यक है; क्योंकि मन्त्रोंमें स्वरभेद होनेसे उनका अर्थ बदल जाता है तथा अशुद्ध स्वरका उच्चारण करनेवालेको अनिष्टका भागी होना पड़ता है।* ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इस प्रकार मात्राओंके भेदोंको भी समझकर यथायोग्य उच्चारण करना चाहिये; क्योंकि ह्रस्वके स्थानमें दीर्घ और दीर्घके स्थानमें ह्रस्व उच्चारण करनेमें अर्थका बहुत अन्तर हो जाता है—जैसे 'सिता और सीता'। बलका अर्थ है प्रयत्न। वर्णोंके उच्चारणमें उनकी ध्वनिको व्यक्त करनेमें जो प्रयास करना पड़ता है, वही प्रयत्न कहलाता है। प्रयत्न दो प्रकारके होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तरके पाँच और बाह्यके ग्यारह भेद माने गये हैं। स्पृष्ट, ईषत्-स्पृष्ट, विवृत, ईषद्-विवृत, संवृत—ये आभ्यन्तर प्रयत्न हैं। विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—ये बाह्य प्रयत्न हैं। उदाहरणके लिये 'क'से लेकर 'म'तकके अक्षरोंका आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट है; क्योंकि कण्ठ आदि स्थानोंमें प्राणवायुके स्पर्शसे इनका उच्चारण होता है। 'क'का बाह्य प्रयत्न विवार, श्वास, अघोष तथा अल्पप्राण है—इस विषयका विशद ज्ञान प्राप्त करनेके लिये व्याकरण देखना चाहिये। वर्णोंका समवृत्तिसे उच्चारण या साम-गानकी रीति ही साम है। इसका भी ज्ञान और तदनुसार उच्चारण आवश्यक है। सन्तानका अर्थ है संहिता—संधि। स्वर, व्यञ्जन, विसर्ग अथवा अनुस्वार आदि अपने परवर्ती वर्णके संयोगसे कहीं-कहीं नूतन रूप धारण कर लेते हैं; इस प्रकार वर्णोंका यह संयोगजनित विकृतिभाव—'संधि' कहलाता है। किसी विशेष स्थलमें जहाँ संधि बाधित होती है, वहाँ वर्णमें विकार नहीं आता; अतः उसे 'प्रकृतिभाव' कहते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि वर्णोंके उच्चारणमें उक्त छहों नियमोंका पालन आवश्यक है।

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

सम्बन्ध—अब आचार्य अपने और शिष्यके अभ्युदयकी इच्छा प्रकट करते हुए संहिताविषयक उपासनाविधि आरम्भ करते हैं—

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः सꣳहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासꣳहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः। वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्।

नौ=हम (आचार्य और शिष्य) दोनोंका; **यशः**=यश; **सह**=एक साथ बढ़े (तथा); **सह**=एक साथ ही; **नौ**=हम दोनोंका; **ब्रह्मवर्चसम्**=ब्रह्म-तेज भी बढ़े; **अथ**=इस प्रकार शुभ इच्छा प्रकट करनेके अनन्तर; **अतः**=यहाँसे; (हम) **अधिलोकम्**=लोकोंके विषयमें; **अधिज्यौतिषम्**=ज्योतियोंके विषयमें; **अधिविद्यम्**=विद्याके विषयमें; **अधिप्रजम्**=प्रजाके विषयमें; (और) **अध्यात्मम्**=शरीरके विषयमें; (इस तरह) **पञ्चसु**=पाँच; **अधिकरणेषु**=स्थानोंमें; **संहितायाः**=संहिताके; **उपनिषदम् व्याख्यास्यामः**=रहस्यका वर्णन करेंगे; **ताः**=इन सबको; **महासंहिताः**=महासंहिता; **इति**=इस नामसे; **आचक्षते**=कहते हैं; **अथ**=उनमेंसे (यह पहली); **अधिलोकम्**=लोकविषयक संहिता है; **पृथिवी**=पृथ्वी; **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है; **द्यौः**=स्वर्गलोक; **उत्तररूपम्**=उत्तररूप (परवर्ण) है; **आकाशः**=आकाश; **संधिः**=संधि—मेलसे

* महर्षि पतञ्जलिने महाभाष्यमें कहा है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अर्थात् स्वर या वर्णकी अशुद्धिसे दूषित शब्द ठीक-ठीक प्रयोग न होनेके कारण अभीष्ट अर्थका वाचक नहीं होता। इतना ही नहीं, वह वचनरूपी वज्र यजमानको हानि भी पहुँचाता है। जैसे 'इन्द्रशत्रु' शब्दमें स्वरकी अशुद्धि हो जानेके कारण 'वृत्रासुर' स्वयं ही इन्द्रके हाथसे मारा गया।

बना हुआ रूप; (तथा) **वायुः**=वायु; **संधानम्**=दोनोंका संयोजक है; **इति**=इस प्रकार; (यह) **अधिलोकम्**=लोकविषयक संहिताकी उपासनाविधि पूरी हुई।

व्याख्या—इस अनुवाकमें पहले समदर्शी आचार्यके द्वारा अपने लिये और शिष्यके लिये भी यश और तेजकी वृद्धिके उद्देश्यसे शुभ आकाङ्क्षा की गयी है। आचार्यकी अभिलाषा यह है कि हमको तथा हमारे श्रद्धालु और विनयी शिष्यको भी ज्ञान और उपासनासे उपलब्ध होनेवाले यश और ब्रह्मतेजकी प्राप्ति हो। इसके पश्चात् आचार्य संहिताविषयक उपनिषद्की व्याख्या करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसका निरूपण करते हैं। वर्णोंमें जो संधि होती है, उसको 'संहिता' कहते हैं। वही संहिता-दृष्टि जब व्यापकरूप धारण करके लोक आदिको अपना विषय बनाती है, तब उसे 'महासंहिता' कहते हैं। संहिता या संधि पाँच प्रकारकी होती है, यह प्रसिद्ध है। स्वर, व्यञ्जन, स्वादि, विसर्ग और अनुस्वार—ये ही संधिके अधिष्ठान बननेपर पञ्चसंधिके नामसे प्रसिद्ध होते हैं। वस्तुतः ये संधिके पाँच आश्रय हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त महासंहिता या महासंधिके भी पाँच आश्रय हैं—लोक, ज्योति, विद्या, प्रजा और आत्मा (शरीर)। तात्पर्य यह कि जैसे वर्णोंमें संधिका दर्शन किया जाता है, उसी प्रकार इन लोक आदिमें भी संहिता-दृष्टि करनी चाहिये। वह किस प्रकार हो, यह बात समझायी जाती है। प्रत्येक संधिके चार भाग होते हैं—पूर्ववर्ण, परवर्ण, दोनोंके मेलसे होनेवाला रूप तथा दोनोंका संयोजक नियम। इसी प्रकार यहाँ जो लोक आदिमें संहिता-दृष्टि की जाती है, उसके भी चार विभाग होंगे—पूर्वरूप, उत्तररूप, संधि (दोनोंके मिलनेसे होनेवाला रूप) और संधान (संयोजक)।

इस मन्त्रमें लोकविषयक संहिता-दृष्टिका निरूपण किया गया है। पृथ्वी अर्थात् यह लोक ही पूर्वरूप है। तात्पर्य यह कि लोकविषयक महासंहितामें पूर्ववर्णके स्थानपर पृथ्वीको देखना चाहिये। इसी प्रकार स्वर्ग ही संहिताका उत्तररूप (परवर्ण) है। आकाश यानी अन्तरिक्ष ही इन दोनोंकी संधि है और वायु इनका संधान (संयोजक) है। जैसे पूर्व और उत्तर वर्ण संधिमें मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणवायुके द्वारा पूर्ववर्णस्थानीय इस भूतलका प्राणी उत्तरवर्णस्थानीय स्वर्गलोकसे मिलाया जाता है (सम्बद्ध किया जाता है)—यह भाव हो सकता है।

यहाँ यह अनुमान होता है कि इस वर्णनमें यथेष्ट लोकोंकी प्राप्तिका उपाय बताया गया है; क्योंकि फलश्रुतिमें इस विद्याको जाननेका फल स्वर्गलोकसे सम्बद्ध हो जाना बताया है; परंतु इस विद्याकी परम्परा नष्ट हो जानेके कारण इस संकेतमात्रके वर्णनसे यह बात समझमें नहीं आती कि किस प्रकार कौनसे लोककी प्राप्ति की जा सकती है। इतना तो समझमें आता है कि लोकोंकी प्राप्तिमें प्राणोंकी प्रधानता है। प्राणोंके द्वारा ही मन और इन्द्रियोंके सहित जीवात्माका प्रत्येक लोकमें गमन होता है—यह बात उपनिषदोंमें जगह-जगह कही गयी है; किंतु यहाँ जो यह कहा गया है कि पृथ्वी पहला वर्ण है और द्युलोक दूसरा वर्ण है एवं आकाश संधि (इनका संयुक्तरूप) है—इस कथनका क्या भाव है, यह ठीक-ठीक समझमें नहीं आता।

अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः संधिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम्।

अथ=अब; **अधिज्यौतिषम्**=ज्योतिविषयक संहिताका वर्णन करते हैं; **अग्निः**=अग्नि; **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है; **आदित्यः**=सूर्य; **उत्तररूपम्**=उत्तररूप (परवर्ण) है; **आपः**=जल—मेघ; **संधिः**=इन दोनोंकी संधि—मेलसे बना हुआ रूप है; (और) **वैद्युतः**=बिजली; (इनका) **संधानम्**=संधान (जोड़नेका हेतु) है; **इति**=इस प्रकार; **अधिज्यौतिषम्**=ज्योतिविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—अग्नि इस भूतलपर सुलभ है, अतः उसे संहिताका 'पूर्ववर्ण' माना है; और सूर्य द्युलोकमें—ऊपरके लोकमें प्रकाशित होता है, अतः वह उत्तररूप (परवर्ण) बताया गया है। इन दोनोंसे उत्पन्न होनेके कारण मेघ ही संधि है तथा विद्युत्-शक्ति ही इस संधिकी हेतु (संधान) बतायी गयी है।

इस मन्त्रमें ज्योतिविषयक संहिताका वर्णन करके ज्योतियोंके संयोगसे नाना प्रकारके भौतिक पदार्थोंकी विभिन्न अभिव्यक्तियोंके विज्ञानका रहस्य समझाया गया है। उन ज्योतियोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले भोग्य पदार्थोंको जलका नाम दिया गया है और उन सबकी उत्पत्तिमें बिजलीको कारण बताया गया है, ऐसा अनुमान होता है; क्योंकि आजकलके वैज्ञानिकों-

ने भी बिजलीसे नाना प्रकारके भौतिक विकास करके दिखाये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वेदमें यह भौतिक उन्नतिका साधन भी भलीभाँति बताया गया है, परंतु परम्परा नष्ट हो जानेके कारण उसको समझने और समझानेवाले दुर्लभ हो गये हैं।

अथाधिविद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् । अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या संधिः । प्रवचनꣳसंधानम् । इत्यधिविद्यम् ।

अथ=अब; **अधिविद्यम्**=विद्याविषयक संहिताका आरम्भ करते हैं; **आचार्यः**=गुरु; **पूर्वरूपम्**=पहला वर्ण है; **अन्तेवासी**=समीप निवास करनेवाला शिष्य; **उत्तररूपम्**=दूसरा वर्ण है; **विद्या**=(दोनोंके मिलनेसे उत्पन्न) विद्या; **संधिः**=मिला हुआ रूप है; **प्रवचनम्**=गुरुद्वारा दिया हुआ उपदेश ही; **संधानम्**=संधिका हेतु है; **इति**=इस प्रकार (यह); **अधिविद्यम्**=विद्याविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—इस मन्त्रमें विद्याके विषयमें संहिता-दृष्टिका उपदेश दिया गया है। इसके द्वारा विद्याप्राप्तिका रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि जिस प्रकार वर्णोंकी संधिमें एक पूर्ववर्ण और एक परवर्ण होता है, उसी प्रकार यहाँ विद्या-रूप संहितामें गुरु तो मानो पूर्ववर्ण है और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरुकी सेवा करनेवाला विद्याभिलाषी शिष्य परवर्ण है; तथा संधिमें दो वर्णोंके मिलनेपर जैसे एक तीसरा नया वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार गुरु और शिष्यके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाली विद्या—ज्ञान ही यहाँ संधि है। इस विद्यारूप संधिके प्रकट होनेका कारण है—प्रवचन अर्थात् गुरुका उपदेश देना और शिष्यद्वारा उसको श्रद्धापूर्वक सुन-समझकर धारण करना; यही संधान है। जो मनुष्य इस रहस्यको समझकर विद्वान् गुरुकी सेवा करता है, वह अवश्य ही विद्या प्राप्त करके विद्वान् हो जाता है।

अथाधिप्रजम् । माता पूर्वरूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा संधिः । प्रजननꣳसंधानम् । इत्यधिप्रजम् ।

अथ=अब; **अधिप्रजम्**=प्रजाविषयक संहिता कहते हैं; **माता**=माता; **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है; **पिता**=पिता; **उत्तररूपम्**=उत्तररूप (परवर्ण) है; **प्रजा**=(उन दोनोंके मेलसे उत्पन्न) संतान; **संधिः**=संधि है; (तथा) **प्रजननम्**=प्रजनन (संतानोत्पत्तिके अनुकूल व्यापार); **संधानम्**=संधान (संधिका कारण) है; **इति**=इस प्रकार (यह); **अधिप्रजम्**=प्रजाविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—इस मन्त्रमें संहिताके रूपमें प्रजाका वर्णन करके संतानप्राप्तिका रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि इस प्रजा-विषयक संहितामें माता तो मानो पूर्ववर्ण है और पिता परवर्ण है। जिस प्रकार दोनों वर्णोंकी संधिसे एक नया वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार माता-पिताके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली संतान ही इस संहितामें दोनोंकी संधि (संयुक्त स्वरूप) है। तथा माता और पिताका जो ऋतुकालमें शास्त्रविधिके अनुसार यथोचित नियमपूर्वक संतानोत्पत्तिके उद्देश्यसे सहवास करना है, यही संधान (पुत्रोत्पत्तिका कारण) है। जो मनुष्य इस रहस्यको समझकर संतानोत्पत्तिके उद्देश्यसे ऋतुकालमें धर्मयुक्त स्त्रीसहवास करता है, वह अवश्य ही अपनी इच्छाके अनुसार श्रेष्ठ संतान प्राप्त कर लेता है।

अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक्संधिः । जिह्वा संधानम् । इत्यध्यात्मम् ।

अथ=अब; **अध्यात्मम्**=आत्मविषयक संहिताका वर्णन करते हैं; **अधरा हनुः**=नीचेका जबड़ा; **पूर्वरूपम्**=पूर्व रूप (वर्ण) है; **उत्तरा हनुः**=ऊपरका जबड़ा; **उत्तररूपम्**= दूसरा रूप (वर्ण) है; **वाक्**=(दोनोंके मिलनेसे उत्पन्न) वाणी; **संधिः**=संधि है; (और) **जिह्वा**=जिह्वा; **संधानम्**=संधान (वाणीरूप संधिकी उत्पत्तिका कारण) है; **इति**=इस प्रकार (यह); **अध्यात्मम्**=आत्मविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—इस मन्त्रमें शरीर-विषयक संहिता-दृष्टिका उपदेश किया गया है। शरीरमें प्रधान अङ्ग मुख है; अतः मुखके ही अवयवोंमें संहिताका विभाग दिखाया गया है। तात्पर्य यह कि नीचेका जबड़ा मानो संहिताका पूर्ववर्ण है, ऊपरका जबड़ा परवर्ण है; इन दोनोंके संयोगसे इनके मध्यभागमें अभिव्यक्त होनेवाली वाणी ही संधि है और जिह्वा ही संधान (वाणी-रूप संधिके प्रकट होनेका कारण) है; क्योंकि जिह्वाके बिना मनुष्य कोई भी शब्द नहीं बोल सकता। वाणीमें विलक्षण शक्ति

है। वाणीद्वारा प्रार्थना करके मनुष्य शरीरके पोषण और उसे उन्नत करनेकी सभी सामग्री प्राप्त कर सकता है। तथा ओंकार-रूप परमेश्वरके नाम-जपसे परमात्माको भी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वाणीमें शारीरिक और आत्मविषयक—दोनों तरह-की उन्नति करनेकी सामर्थ्य भरी हुई है। इस रहस्यको समझकर जो मनुष्य अपनी वाणीका यथायोग्य उपयोग करता है, वह वाक्शक्ति पाकर उसके द्वारा अभीष्ट फल प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है।

इतीमा महासꣳहिता य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन।

इति=इस प्रकार; **इमाः**=ये; **महासंहिताः**=पाँच महासंहिताएँ कही गयी हैं; **यः**=जो मनुष्य; **एवम्**=इस प्रकार; **एताः**=इन; **व्याख्याताः**=ऊपर बतायी हुई; **महासंहिताः**=महासंहिताओंको; **वेद**=जान लेता है; (वह) **प्रजया**=संतानसे; **पशुभिः**=पशुओंसे; **ब्रह्मवर्चसेन**=ब्रह्मतेजसे; **अन्नाद्येन**=अन्न आदि भोग्य पदार्थोंसे; (और) **सुवर्गेण**=स्वर्गरूप; **लोकेन**=लोकसे; **संधीयते**=सम्पन्न हो जाता है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें पाँच प्रकारसे कही हुई महासंहिताओंके यथार्थ ज्ञानका फल बताया गया है। इनको जानने-वाला अपनी इच्छाके अनुकूल संतान प्राप्त कर सकता है, विद्याके द्वारा ब्रह्मतेज-सम्पन्न हो जाता है, अपनी इच्छाके अनुसार नाना प्रकारके पशुओंको और अन्न आदि आवश्यक भोग्य पदार्थोंको प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति भी हो जाती है। इनमेंसे लोकविषयक संहिताके ज्ञानसे स्वर्ग आदि उत्तम लोक, ज्योति-विषयक संहिताके ज्ञानसे नाना प्रकारकी भौतिक सामग्री, प्रजाविषयक संधिके ज्ञानसे संतान, विद्याविषयक संहिताके ज्ञानसे विद्या और ब्रह्मतेज तथा अध्यात्म-संहिताके विज्ञानसे वाक्शक्तिकी प्राप्ति—इस प्रकार पृथक्-पृथक् फल समझना चाहिये। श्रुतिमें समस्त संहिताओंके ज्ञानका सामूहिक फल बताया गया है। श्रुति ईश्वरकी वाणी है; अतः इसका रहस्य समझकर श्रद्धा और विश्वासके साथ उपर्युक्त उपासना करनेसे निस्सन्देह वे सभी फल प्राप्त हो सकते हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है।

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय।

यः=जो; **छन्दसाम्**=वेदोंमें; **ऋषभः**=सर्वश्रेष्ठ है; **विश्वरूपः**=सर्वरूप है; (और) **अमृतात्**=अमृतस्वरूप; **छन्दोभ्यः**=वेदोंसे; **अधि**=प्रधानरूपमें; **सम्बभूव**=प्रकट हुआ है; **सः**=वह (ओंकारस्वरूप); **इन्द्रः**=सबका स्वामी (परमेश्वर); **मा**=मुझे; **मेधया**=धारणायुक्त बुद्धिसे; **स्पृणोतु**=सम्पन्न करे; **देव**=हे देव; (मैं आपकी कृपासे) **अमृतस्य धारणः**=अमृतमय परमात्माको (अपने हृदयमें) धारण करनेवाला; **भूयासम्**=बन जाऊँ; **मे**=मेरा; **शरीरम्**=शरीर; **विचर्षणम्**=विशेष फुर्तीला—सब प्रकारसे रोगरहित हो; (और) **मे**=मेरी; **जिह्वा**=जिह्वा; **मधुमत्तमा**=अतिशय मधुमती (मधुरभाषिणी); [**भूयात्**=हो जाय;] **कर्णाभ्याम्**=(मैं) दोनों कानोंद्वारा; **भूरि**=अधिक; **विश्रुवम्**=सुनता रहूँ; (हे प्रणव ! तू) **मेधया**=लौकिक बुद्धिसे; **पिहितः**=ढकी हुई; **ब्रह्मणः**=परमात्माकी; **कोशः**=निधि; **असि**=है; (तू) **मे**=मेरे; **श्रुतम् गोपाय**=सुने हुए उपदेशकी रक्षा कर।

व्याख्या—इस चतुर्थ अनुवाकमें 'मे श्रुतम् गोपाय' इस वाक्यतक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये आवश्यक

बुद्धिबल और शारीरिक बलकी प्राप्तिके उद्देश्यसे परमेश्वरसे उनके नाम ओंकारद्वारा प्रार्थना करनेका प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि 'ओम्' यह परमेश्वरका नाम वेदोक्त जितने भी मन्त्र हैं, उन सबमें श्रेष्ठ है और सर्वरूप है; क्योंकि प्रत्येक मन्त्रके आदिमें ओंकारका उच्चारण किया जाता है और ओंकारके उच्चारणसे सम्पूर्ण वेदोंके उच्चारणका फल प्राप्त होता है। तथा अविनाशी वेदोंसे यह ओंकार प्रधानरूपमें प्रकट हुआ है। ओंकार नाम है और परमेश्वर नामी; अतः दोनों परस्पर अभिन्न हैं। वे प्रणवरूप परमात्मा सबके परमेश्वर होनेके कारण 'इन्द्र' नामसे प्रसिद्ध हैं। वे इन्द्र मुझे मेधासे सम्पन्न करें। 'धीर्धारणावती मेधा' इस कोषवाक्यके अनुसार धारणाशक्तिसे सम्पन्न बुद्धिका नाम मेधा है। तात्पर्य यह कि परमात्मा मुझे पढ़े और समझे हुए भावोंको धारण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न करें। हे देव! मैं आपकी अहैतुकी कृपासे आपके अमृतमय स्वरूपको अपने हृदयमें धारण करनेवाला बन जाऊँ। मेरा शरीर रोगरहित रहे, जिससे आपकी उपासनामें किसी प्रकारका विघ्न न पड़े। मेरी जिह्वा अतिशय मधुमती अर्थात् मधुर स्वरसे आपके अत्यन्त मधुर नाम और गुणोंका कीर्तन करके उनके मधुर रसका आस्वादन करनेवाली बन जाय। मैं अपने दोनों कानोंद्वारा कल्याणमय बहुतसे शब्दोंको सुनता रहूँ, अर्थात् मेरे कानोंमें आचार्यद्वारा वर्णन किये हुए रहस्यको पूर्णतया सुननेकी शक्ति आ जाय और मुझे आपका कल्याणमय यश सुननेको मिलता रहे। हे ओंकार! तू परमेश्वरकी निधि है, अर्थात् वे पूर्णब्रह्म परमेश्वर तुझमें भरे हुए हैं; क्योंकि नामी नामके ही आश्रित रहता है। ऐसा होते हुए भी तू मनुष्योंकी लौकिक बुद्धिसे ढका हुआ है—लौकिक तर्कसे अनुसन्धान करनेवालोंकी बुद्धिमें तेरा प्रभाव व्यक्त नहीं होता। हे देव! तू सुने हुए उपदेशकी रक्षा कर अर्थात् ऐसी कृपा कर कि मुझे जो उपदेश सुननेको मिले, उसे मैं स्मरण रखता हुआ उसके अनुसार अपना जीवन बना सकूँ।

सम्बन्ध—अब ऐश्वर्यकी कामनावालेके लिये हवन करनेके मन्त्रोंका आरम्भ करते हैं—

आवहन्ती वितन्वाना कुर्वाणाचीरमात्मनः। वासाꣳसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा।

ततः=उसके बाद (अब ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी रीति बताते हैं—हे देव!); [**या श्रीः**=जो श्री;] **मम**=मेरे; **आत्मनः**=अपने लिये; **अचीरम्**=तत्काल ही; **वासांसि**=नाना प्रकारके वस्त्र; **च**=और; **गावः**=गौएँ; **च**=तथा; **अन्नपाने**=खाने-पीनेके पदार्थ; **सर्वदा**=सदैव; **आवहन्ती**=ला देनेवाली; **वितन्वाना**=उनका विस्तार करनेवाली; [**च**=तथा;] **कुर्वाणा**=उन्हें बनानेवाली है; **लोमशाम्**=रोएँवाले—भेड़-बकरी आदि पशुओंसे युक्त; **पशुभिः सह**=(तथा अन्य) पशुओंके सहित; [**ताम्**] **श्रियम्**=उस श्रीको; **मे**=(तू) मेरे लिये; **आवह**=ले आ; **स्वाहा**=स्वाहा (इसी उद्देश्यसे तुझे यह आहुति समर्पित की जाती है)।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस अंशमें 'ततः' पदसे लेकर 'आवह स्वाहा' यहाँतक ऐश्वर्यकी कामनावाले सकाम मनुष्योंके लिये, परमेश्वरसे प्रार्थना करते हुए अग्निमें आहुति देनेकी रीति बतायी गयी है। प्रार्थनाका भाव यह है कि 'हे अग्निके अधिष्ठाता परमेश्वर! जो मेरे निजके लिये आवश्यकता होनेपर बिना विलम्ब तत्काल ही नाना प्रकारके वस्त्र, गौएँ और खाने-पीनेकी विविध सामग्री सदैव प्रस्तुत कर दे, उन्हें बढ़ाती रहे तथा उन्हें नवीनरूपसे रच दे, ऐसी श्रीको तू मेरे लिये भेड़-बकरी आदि रोएँवाले एवं अन्य प्रकारके पशुओंसहित ला दे। अर्थात् समस्त भोग-सामग्रीका साधनरूप धन मुझे प्रदान कर। इस मन्त्रका उच्चारण करके 'स्वाहा' इस शब्दके साथ अग्निमें आहुति देनी चाहिये, यह ऐश्वर्यकी प्राप्तिका साधन है।

सम्बन्ध—आचार्यको ब्रह्मचारियोंके हितार्थ किस प्रकार हवन करना चाहिये, इसकी विधि बतायी जाती है—

आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

ब्रह्मचारिणः=ब्रह्मचारीलोग; **मा**=मेरे पास; **आयन्तु**=आयें; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति दी

जाती है); **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग; **विमायन्तु**= कपटशून्य हों; **स्वाहा**= स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग; **प्रमायन्तु**=प्रामाणिक ज्ञानको ग्रहण करनेवाले हों; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग; **दमायन्तु**=इन्द्रियोंका दमन करनेवाले हों; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग; **शमायन्तु**=मनको वशमें करनेवाले हों; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है) ।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस अंशमें शिष्योंके हितार्थ आचार्यको जिन मन्त्रोंद्वारा हवन करना चाहिये, उनका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि आचार्य 'उत्तम ब्रह्मचारीलोग मेरे पास विद्या पढ़नेके लिये आयें' इस उद्देश्यसे मन्त्र पढ़कर 'स्वाहा' शब्दके साथ पहली आहुति दे; 'मेरे ब्रह्मचारी कपटशून्य हों' इस उद्देश्यसे मन्त्र पढ़कर 'स्वाहा' शब्दके साथ दूसरी आहुति दे; 'ब्रह्मचारीलोग उत्तम ज्ञानको ग्रहण करनेवाले हों' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ तीसरी आहुति दे; 'ब्रह्मचारीलोग इन्द्रियोंका दमन करनेवाले हों' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ चौथी आहुति दे तथा 'ब्रह्मचारीलोग मनको वशमें करनेवाले हों' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ पाँचवीं आहुति दे ।

सम्बन्ध—आचार्यको अपने लौकिक और पारलौकिक हितके लिये किस प्रकार हवन करना चाहिये, इसकी विधि बतायी जाती है—

यशो जनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा । तस्मिन् सहस्रशाखे नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा ।

जने=लोगोंमें (मैं); **यशः**=यशस्वी; **असानि**=होऊँ; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **वस्यसः**=महान् धनवानोंकी अपेक्षा भी; **श्रेयान्**=अधिक धनवान्; **असानि**=हो जाऊँ; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **भग**=हे भगवन्; **तम् त्वा**=उस आपमें; **प्रविशानि**= मैं प्रविष्ट हो जाऊँ; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **भग**=हे भगवन् !; **सः**=वह (तू); **मा**=मुझमें; **प्रविश**=प्रविष्ट हो जा; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **भग**=हे भगवन् !; **तस्मिन्**=उस; **सहस्रशाखे**=हजारों शाखावाले; **त्वयि**=आपमें; (ध्यानद्वारा निमग्न होकर) **अहम्**=मैं; **निमृजे**=अपनेको विशुद्ध कर लूँ; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है) ।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस अंशमें आचार्यको अपने हितके लिये जिन मन्त्रोंद्वारा हवन करना चाहिये, उनका वर्णन किया गया है । भाव यह है कि आचार्यको 'लोगोंमें मैं यशस्वी बनूँ, जगत्‌में मेरा यश-सौरभ सर्वत्र फैल जाय, मुझसे कोई भी ऐसा आचरण न बने, जो मेरे यशमें धब्बा लगानेवाला हो' इस उद्देश्यसे 'यशो जनेऽसानि' इस मन्त्रका उच्चारण करके 'स्वाहा' शब्दके साथ पहली आहुति डालनी चाहिये । 'महान् धनवानोंकी अपेक्षा भी मैं अधिक सम्पत्तिशाली बन जाऊँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ दूसरी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये। 'हे भगवन्! आपके उस दिव्य स्वरूपमें मैं प्रविष्ट हो जाऊँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ तीसरी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये । 'हे भगवन् ! वह आपका दिव्य स्वरूप मुझमें प्रविष्ट हो जाय—मेरे मनमें बस जाय' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ चौथी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये । 'हे भगवन् ! हजारों शाखावाले आपके उस दिव्यरूपमें ध्यानद्वारा निमग्न होकर मैं अपने आपको विशुद्ध बना लूँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ पाँचवीं आहुति अग्निमें डालनी चाहिये ।

यथाऽऽपः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व ॥

यथा=जिस प्रकार; **आपः**=(नदी आदिके) जल; **प्रवता**=निम्न स्थानसे होकर; **यन्ति**=समुद्रमें चले जाते हैं; **यथा**=जिस प्रकार; **मासाः**=महीने; **अहर्जरम्**=दिनोंका अन्त करनेवाले संवत्सररूप कालमें; [**यन्ति** =चले जाते हैं;]

धातः=हे विधाता; **एवम्**=इसी प्रकार; **माम्**=मेरे पास; **सर्वतः**=सब ओरसे; **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग; **आयन्तु**=आयें; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **प्रतिवेशः**=(तू) सबका विश्राम-स्थान; **असि**=है; **मा**=मेरे लिये; **प्रभाहि**=अपनेको प्रकाशित कर; **मा**=मुझे; **प्रपद्यस्व**=प्राप्त हो जा ।

व्याख्या—'जिस प्रकार समस्त जल-प्रवाह नीचेकी ओर बहते हुए समुद्रमें मिल जाते हैं, तथा जिस प्रकार महीने दिनोंका अन्त करनेवाले संवत्सररूप कालमें जा रहे हैं, हे विधाता! उसी प्रकार मेरे पास सब ओरसे ब्रह्मचारीलोग आयें और मैं उनको विद्याभ्यास कराकर तथा कल्याणका उपदेश देकर अपने कर्तव्यका एवं आपकी आज्ञाका पालन करता रहूँ ।' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारण करके 'स्वाहा' शब्दके साथ छठी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये । 'हे परमात्मन्! आप सबके विश्राम-स्थान हैं, अब मेरे लिये अपने दिव्य स्वरूपको प्रकाशित कर दीजिये और मुझे प्राप्त हो जाइये' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ सातवीं आहुति अग्निमें डाले ।

इस प्रकार इस चौथे अनुवाकमें इस लोक और परलोककी उन्नतिका उपाय परमात्माकी प्रार्थना और उसके साथ-साथ हवनको बताया गया है । प्रकरण बड़ा ही सुन्दर और श्रेयस्कर है । अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको इसमें बताये हुए प्रकारसे अपने लिये जिस अंशकी आवश्यकता प्रतीत हो, उस अंशके अनुसार अनुष्ठान आरम्भ कर देना चाहिये ।

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाक

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ लोकः । मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते ।

भूः=भूः; **भुवः**=भुवः; **सुवः**=स्वः; **इति**=इस प्रकार; **एताः**=ये; **वै**=प्रसिद्ध; **तिस्रः**=तीन; **व्याहृतयः**=व्याहृतियाँ हैं; **तासाम् उ**=उन तीनोंकी अपेक्षासे; **चतुर्थीम्**=जो चौथी व्याहृति; **महः इति**='मह' इस नामसे; **ह**=प्रसिद्ध है; **एताम्**=इसको; **माहाचमस्यः**=महाचमसके पुत्रने; **प्रवेदयते स्म**=सबसे पहले जाना था; **तत्**=वह चौथी व्याहृति ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **सः**=वह; **आत्मा**=ऊपर कही हुई व्याहृतियोंकी आत्मा है; **अन्याः**=अन्य; **देवताः**=सब देवता; **अङ्गानि**=उसके अङ्ग हैं; **भूः**='भूः'; **इति**=यह व्याहृति; **वै**=ही; **अयम् लोकः**=यह पृथ्वी-लोक है; **भुवः**='भुवः'; **इति**=यह; **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष-लोक है; **सुवः**='स्वः'; **इति**=यह; **असौ लोकः**=वह प्रसिद्ध स्वर्गलोक है; **महः**='महः'; **इति**=यह; **आदित्यः**=आदित्य—सूर्य है; **आदित्येन**=(क्योंकि) आदित्यसे; **वाव**=ही; **सर्वे**=समस्त; **लोकाः**=लोक; **महीयन्ते**=महिमान्वित होते हैं ।

व्याख्या—इस पञ्चम अनुवाकमें भूः, भुवः, स्वः और महः—इन चारों व्याहृतियोंकी उपासनाका रहस्य बताकर उसके फलका वर्णन किया गया है । पहले तो इसमें यह बात कही गयी है कि भूः, भुवः और स्वः—ये तीन व्याहृतियाँ तो प्रसिद्ध हैं; परंतु इनके अतिरिक्त जो चौथी व्याहृति 'महः' है, इसकी उपासनाका रहस्य सबसे पहले महाचमसके पुत्रने जाना था । भाव यह है कि इन चारों व्याहृतियोंको चार प्रकारसे प्रयोग करके उपासना करनेकी विधि, जो आगे बतायी गयी है, तभीसे प्रचलित हुई है । इसके बाद उन चार व्याहृतियोंमें किस प्रकारकी भावना करके उपासना करनी चाहिये, यह समझाया गया है । इन चारों व्याहृतियोंमें 'महः' यह चौथी व्याहृति सर्वप्रधान है । अतः उपास्य देवोंमें 'महः' व्याहृतिको ब्रह्मका स्वरूप समझना चाहिये—यह भाव समझानेके लिये कहा गया है कि वह चौथी व्याहृति 'महः' ब्रह्मका नाम होनेसे ब्रह्म ही है; क्योंकि ब्रह्म सबके आत्मा हैं, सर्वरूप हैं और अन्य सब देवता उनके अङ्ग हैं, अतः जिस किसी भी देवताकी इन व्याहृतियोंके द्वारा उपासना की जाय, उसमें इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि यह सर्वरूप परमेश्वरकी ही उपासना है।

सब देवता उन्हींके अङ्ग होनेसे अन्य देवोंकी उपासना भी उन्हींकी उपासना है। उसके पश्चात् इन व्याहृतियोंमें लोकोंका चिन्तन करनेकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है—'भूः' यह तो मानो पृथ्वीलोक है, 'भुवः' यह अन्तरिक्षलोक है, 'स्वः' यह सुप्रसिद्ध स्वर्गलोक है और 'महः' यह सूर्य है; क्योंकि सूर्यसे ही सब लोक महिमान्वित हो रहे हैं। तात्पर्य यह कि भूः, भुवः, स्वः—ये तीनों व्याहृतियाँ तो उन परमेश्वरके विराट् शरीररूप इस स्थूल ब्रह्माण्डको बतानेवाली—अर्थात् परमेश्वरके अङ्गोंके नाम हैं तथा 'महः' यह चौथी व्याहृति इस विराट् शरीरको प्रकाशित करनेवाले उसके आत्मारूप स्वयं परमेश्वरको बतानेवाली है। 'महः' यह सूर्यका नाम है, सूर्यके भी आत्मा हैं परमेश्वर; अतः सूर्यरूपसे सब लोकोंको वे ही प्रकाशित करते हैं। इसलिये यहाँ सूर्यके उपलक्षणसे इस विराट् शरीरको आत्मारूपसे प्रकाशित करनेवाले परमेश्वरकी ही उपासनाका लक्ष्य कराया गया है।

भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते।

भूः=भूः; **इति**=यह व्याहृति; **वै**=ही; **अग्निः**=अग्नि है; **भुवः**='भुवः'; **इति**=यह; **वायुः**=वायु है; **सुवः**='स्वः'; **इति**=यह; **आदित्यः**=आदित्य है; **महः**='महः'; **इति**=यह; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा है; (क्योंकि) **चन्द्रमसा**=चन्द्रमासे; **वाव**=ही; **सर्वाणि**=समस्त; **ज्योतींषि**=ज्योतियाँ; **महीयन्ते**=महिमावाली होती हैं; **भूः**='भूः'; **इति**=यह व्याहृति; **वै**=ही; **ऋचः**=ऋग्वेद है; **भुवः**='भुवः'; **इति**=यह; **सामानि**=सामवेद है; **सुवः**='स्वः'; **इति**=यह; **यजूंषि**=यजुर्वेद है; **महः**='महः'; **इति**=यह; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; (क्योंकि) **ब्रह्मणा**=ब्रह्मसे; **वाव**=ही; **सर्वे**=समस्त; **वेदाः**=वेद; **महीयन्ते**=महिमावान् होते हैं।

व्याख्या—इसी प्रकार फिर ज्योतियोंमें इन व्याहृतियोंद्वारा परमेश्वरकी उपासनाका प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि 'भूः' यह व्याहृति अग्निका नाम होनेसे मानो अग्नि ही है। अग्निदेवता वाणीका अधिष्ठाता है और वाणी भी प्रत्येक विषयको व्यक्त करके स्वयं प्रकाशित होनेसे ज्योति है; अतः वह भी ज्योतियोंकी उपासनामें मानो 'भूः' है। 'भुवः' यह वायु है। वायुदेवता त्वक्-इन्द्रियका अधिष्ठाता है और त्वक्-इन्द्रिय स्पर्शको प्रकाशित करनेवाली ज्योति है; अतः ज्योतिविषयक उपासनामें वायु और त्वचाको 'भुवः'रूप समझना चाहिये। 'स्वः' यह सूर्य है। सूर्य चक्षु-इन्द्रियका अधिष्ठातृ-देवता है, चक्षु-इन्द्रिय भी सूर्यकी सहायतासे रूपको प्रकाशित करनेवाली ज्योति है; अतः ज्योति-विषयक उपासनामें सूर्य और चक्षु-इन्द्रियको 'स्वः' व्याहृतिस्वरूप समझना चाहिये। 'महः' यह चौथी व्याहृति ही मानो चन्द्रमा है, चन्द्रमा मनका अधिष्ठातृ-देवता है। मनकी सहायतासे, मनके साथ रहनेपर ही समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको प्रकाशित कर सकती हैं, मनके बिना नहीं कर सकतीं; अतः सब ज्योतियोंमें प्रधान चन्द्रमा और मनको ही 'महः' व्याहृतिरूप समझना चाहिये; क्योंकि चन्द्रमासे अर्थात् मनसे ही समस्त ज्योतिरूप इन्द्रियाँ महिमान्वित होती हैं। इस प्रकार मनके रूपमें परमेश्वरकी उपासना करनेकी विधि समझायी गयी। फिर इसी भाँति वेदोंके विषयमें व्याहृतियोंके प्रयोगद्वारा परमेश्वरकी उपासनाका प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि 'भूः' यह ऋग्वेद है, 'भुवः' यह सामवेद है, 'स्वः' यह यजुर्वेद है और 'महः' यह ब्रह्म है; क्योंकि ब्रह्मसे ही समस्त वेद महिमायुक्त होते हैं। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण वेदोंमें वर्णित समस्त ज्ञान परब्रह्म परमेश्वरसे ही प्रकट और उन्हींसे व्याप्त है तथा उन परमेश्वरके तत्त्वका इन वेदोंमें वर्णन है; इसीलिये इनकी महिमा है। इस प्रकार वेदोंमें इन व्याहृतियोंका प्रयोग करके उपासना करनी चाहिये।

भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति।

भूः='भूः'; **इति**=यह व्याहृति; **वै**=ही; **प्राणः**=प्राण है; **भुवः**='भुवः'; **इति**=यह; **अपानः**=अपान है; **सुवः**='स्वः'; **इति**=यह; **व्यानः**=व्यान है; **महः**='महः'; **इति**=यह; **अन्नम्**=अन्न है; (क्योंकि) **अन्नेन**=अन्नसे; **वाव**=ही; **सर्वे**=समस्त; **प्राणाः**=प्राण; **महीयन्ते**=महिमायुक्त होते हैं; **ताः**=वे; **वै**=ही; **एताः**=ये; **चतस्रः**=चारों व्याहृतियाँ; **चतुर्धा**=चार प्रकारकी हैं; (अतएव) **चतस्रः चतस्रः**=एक-एकके चार-चार भेद होनेसे कुल सोलह; **व्याहृतयः**=व्याहृतियाँ हैं; **ताः**=उनको; **यः**=जो; **वेद**=तत्त्वसे जानता है; **सः**=वह; **ब्रह्म**=ब्रह्मको; **वेद**=जानता है; **अस्मै**=इस ब्रह्मवेत्ताके लिये; **सर्वे**= समस्त; **देवाः**=देवता; **बलिम्**=भेंट; **आवहन्ति**=समर्पण करते हैं।

व्याख्या—उसके बाद प्राणोंके विषयमें इन व्याहृतियोंका प्रयोग करके उपासनाका प्रकार समझाया गया है। भाव यह है कि 'भूः' यही मानो प्राण है, 'भुवः' यह अपान है, 'स्वः' यह व्यान है। इस प्रकार जगद्व्यापी समस्त प्राण ही मानो ये तीनों व्याहृतियाँ हैं और अन्न 'महः' रूप चतुर्थ व्याहृति है; क्योंकि जिस प्रकार व्याहृतियोंमें 'महः' प्रधान है, उसी प्रकार समस्त प्राणोंका पोषण करके उनकी महिमाको बनाये रखने और बढ़ानेके कारण उनकी अपेक्षा अन्न प्रधान है, अतः प्राणोंके अन्तर्यामी परमेश्वरकी अन्नके रूपमें उपासना करनी चाहिये।

इस तरह चारों व्याहृतियोंको चार प्रकारसे प्रयुक्त करके उपासना करनेकी रीति बताकर फिर उसे समझकर उपासना करनेका फल बताया गया है। भाव यह कि चार प्रकारसे प्रयुक्त इन चारों व्याहृतियोंकी उपासनाके भेदको जो कोई जान लेता है, अर्थात् समझकर उसके अनुसार परब्रह्म परमात्माकी उपासना करता है, वह ब्रह्मको जान लेता है और समस्त देव उसको भेंट समर्पण करते हैं—उसे परमेश्वरका प्यारा समझकर उसका आदर-सत्कार करते हैं।

॥ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः।

सः=वह (पहले बताया हुआ); **यः**=जो; **एषः**=यह; **अन्तर्हृदये**=हृदयके भीतर; **आकाशः**=आकाश है; **तस्मिन्**=उसमें; **अयम्**=यह; **हिरण्मयः**=विशुद्ध प्रकाशस्वरूप; **अमृतः**=अविनाशी; **मनोमयः**=मनोमय; **पुरुषः**=पुरुष-(परमेश्वर) रहता है।

व्याख्या—इस अनुवाकमें चार बातें कही गयी हैं, उनका पूर्व अनुवाकमें बतलाये हुए उपदेशसे अलग-अलग संबन्ध है और उस उपदेशकी पूर्तिके लिये ही यह आरम्भ किया गया है, ऐसा अनुमान होता है।

पूर्व अनुवाकमें मनके अधिष्ठातृ-देवता चन्द्रमाको इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताओंका प्रकाशक बताया गया है और उसकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेकी युक्ति समझायी गयी है; वे मनोमय परब्रह्म—सबके अन्तर्यामी पुरुष कहाँ हैं, उनकी उपलब्धि कहाँ होती है—यह बात इस अनुवाकके पहले अंशमें समझायी गयी है। अनुवाकके इस अंशका अभिप्राय यह है कि पहले बतलाया हुआ जो यह हृदयके भीतर अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला आकाश है, उसीमें ये विशुद्ध प्रकाशस्वरूप अविनाशी मनोमय अन्तर्यामी परम पुरुष परमेश्वर विराजमान हैं; वहीं उनका साक्षात्कार हो जाता है, उन्हें पानेके लिये कहीं दूसरी जगह नहीं जाना पड़ता।

अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि।

अन्तरेण तालुके=दोनों तालुओंके बीचमें; **यः**=जो; **एषः**=यह; **स्तनः इव**=स्तनके सदृश; **अवलम्बते**=लटक रहा है; [**तम् अपि अन्तरेण**=उसके भी भीतर;] **यत्र**=जहाँ; **असौ**=वह; **केशान्तः**=केशोंका मूलस्थान (ब्रह्मरन्ध्र); **विवर्तते**=

स्थित है; (वहाँ) **शीर्षकपाले**=सिरके दोनों कपालोंको; **व्यपोह्य**=भेदन करके; [**विनिःसृता या**=निकली हुई जो सुषुम्णा नाड़ी है;] **सा**=वह; **इन्द्रयोनिः**=इन्द्रयोनि (परमात्माकी प्राप्तिका द्वार) है; (अन्तकालमें साधक) **भूः इति**='भूः' इस व्याहृतिके अर्थरूप; **अग्नौ**=अग्निमें; **प्रतितिष्ठति**=प्रतिष्ठित होता है; **भुवः इति**='भुवः' इस व्याहृतिके अर्थरूप; **वायौ**=वायुदेवतामें स्थित होता है; (फिर) **सुवः इति**='स्वः' इस व्याहृतिके अर्थरूप; **आदित्ये**=सूर्यमें स्थित होता है; (उसके बाद) **महः इति**='महः' इस व्याहृतिके अर्थस्वरूप; **ब्रह्मणि**=ब्रह्ममें स्थित होता है ।

व्याख्या—उन परब्रह्म परमेश्वरको अपने हृदयमें प्रत्यक्ष देखनेवाला महापुरुष इस शरीरका त्याग करके जब जाता है, तब किस प्रकार किस मार्गसे बाहर निकलकर किस क्रमसे भूः, भुवः और स्वःरूप समस्त लोकोंमें परिपूर्ण सबके आत्मरूप परमेश्वरमें स्थित होता है—यह बात इस अनुवाकके दूसरे अंशमें समझायी गयी है । भाव यह है कि मनुष्योंके मुखमें तालुओंके बीचो-बीच जो एक थनके आकारका मांस-पिण्ड लटकता है जिसे बोलचालकी भाषामें 'घाँटी' कहते हैं, उसके आगे केशोंका मूलस्थान ब्रह्मरन्ध्र है; वहाँ हृदय-देशसे निकलकर घाँटीके भीतरसे होती हुई दोनों कपालोंको भेद-कर गयी हुई जो सुषुम्णा नामसे प्रसिद्ध नाड़ी है, वही उन इन्द्र नामसे कहे जानेवाले परमेश्वरकी प्राप्तिका द्वार है । अन्तकालमें वह महापुरुष उस मार्गसे शरीरके बाहर निकलकर 'भूः' इस नामसे अभिहित अग्निमें स्थित होता है । गीतामें भी यही बात कही गयी है कि ब्रह्मवेत्ता जब ब्रह्मलोकमें जाता है, तब वह सर्वप्रथम ज्योतिर्मय अग्निके अभिमानी देवताके अधिकारमें आता है (गीता ८ । २४) । उसके बाद वायुमें स्थित होता है । अर्थात् पृथ्वीसे लेकर सूर्यलोकतक समस्त आकाशमें जिसका अधिकार है, जो सर्वत्र विचरनेवाली वायुका अभिमानी देवता है, और जो 'भुवः' नामसे पञ्चम अनुवाकमें कहा गया है, उसीके अधिकारमें वह आता है । वह देवता उसे 'स्वः' इस नामसे कहे हुए सूर्यलोकमें पहुँचा देता है, वहाँसे फिर वह 'महः' इस नामसे कहे हुए 'ब्रह्म' में स्थित हो जाता है ।

आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति ।

स्वाराज्यम्=(वह) स्वाराज्यको; **आप्नोति**=प्राप्त कर लेता है; **मनसस्पतिम्**=मनके स्वामीको; **आप्नोति**=पा लेता है; **वाक्पतिः [भवति]**=वाणीका स्वामी हो जाता है; **चक्षुष्पतिः**=नेत्रोंका स्वामी; **श्रोत्रपतिः**=कानोंका स्वामी; (और) **विज्ञानपतिः**=विज्ञानका स्वामी हो जाता है; **ततः**=उस पहले बताये हुए साधनसे; **एतत्**=यह फल; **भवति**=होता है ।

व्याख्या—वह ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित महापुरुष कैसा हो जाता है—यह बात इस अनुवाकके तीसरे अंशमें बतलायी गयी है । अनुवाकके इस अंशका अभिप्राय यह है कि वह स्वराट् बन जाता है । अर्थात् उसपर प्रकृतिका अधिकार नहीं रहता, अपितु वह स्वयं ही प्रकृतिका अधिष्ठाता बन जाता है; क्योंकि वह मनके अर्थात् समस्त अन्तःकरणसमुदायके स्वामी परमात्माको प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों और उनके देवताओंका तथा विज्ञान-स्वरूप बुद्धिका भी स्वामी हो जाता है। अर्थात् ये सब उसके अधीन हो जाते हैं । उस पहले बताये हुए साधनसे यह उपर्युक्त फल मिलता है ।

आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्स्व ।

ब्रह्म=वह ब्रह्म; **आकाशशरीरम्**=आकाशके सदृश शरीरवाला; **सत्यात्म**=सत्तारूप; **प्राणारामम्**=इन्द्रियादि समस्त प्राणोंको विश्राम देनेवाला; **मनआनन्दम्**=मनको आनन्द देनेवाला; **शान्तिसमृद्धम्**=शान्तिसे सम्पन्न; (तथा) **अमृतम्**=अविनाशी है; **इति**=यों मानकर; **प्राचीनयोग्य**=हे प्राचीनयोग्य; **उपास्स्व**=तू उसकी उपासना कर ।

व्याख्या—वे प्राप्तव्य ब्रह्म कैसे हैं, उनका किस प्रकार चिन्तन और ध्यान करना चाहिये—यह बात इस अनुवाकके चौथे अंशमें बतायी गयी है । अभिप्राय यह है कि वे ब्रह्म आकाशके सदृश निराकार, सर्वव्यापी और अतिशय

सूक्ष्म शरीरवाले हैं। एकमात्र सत्तारूप हैं। समस्त इन्द्रियोंको विश्राम देनेवाले और मनके लिये परम आनन्ददायक हैं। अखण्ड शान्तिके भंडार हैं और सर्वथा अविनाशी हैं। परम विश्वासके साथ यों मानकर साधकको उनकी प्राप्तिके लिये उनके चिन्तन और ध्यानमें तत्परताके साथ लग जाना चाहिये, यह भाव दिखलानेके लिये अन्तमें श्रुतिकी वाणीमें ऋषि अपने शिष्यसे कहते हैं—'हे प्राचीनयोग्य !* तू उन ब्रह्मका स्वरूप इस प्रकारका मानकर उनकी उपासना कर।'

॥ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाक

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म माꣳसꣳस्नावास्थि मज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदꣳ सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तꣳस्पृणोतीति।

पृथिवी=पृथ्वीलोक; **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक; **द्यौः**=स्वर्गलोक; **दिशः**=दिशाएँ; **अवान्तरदिशः**=अवान्तर दिशाएँ—दिशाओंके बीचके कोण (यह पाँच लोकोंकी पङ्क्ति है); **अग्निः**=अग्नि; **वायुः**=वायु; **आदित्यः**=सूर्य; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा; **नक्षत्राणि**=(तथा) समस्त नक्षत्र (यह पाँच ज्योतिःसमुदायकी पङ्क्ति है); **आपः**=जल; **ओषधयः**=ओषधियाँ; **वनस्पतयः**=वनस्पतियाँ; **आकाशः**=आकाश; **आत्मा**=(तथा) इनका संघातस्वरूप अन्नमय स्थूलशरीर (ये पाँचों मिलकर स्थूल पदार्थोंकी पङ्क्ति है); **इति**=यह; **अधिभूतम्**=आधिभौतिक दृष्टिसे वर्णन हुआ; **अथ**=अब; **अध्यात्मम्**=आध्यात्मिक दृष्टिसे बतलाते हैं; **प्राणः**=प्राण; **व्यानः**=व्यान; **अपानः**=अपान; **उदानः**=उदान; (और) **समानः**=समान (यह पाँचों प्राणोंकी पङ्क्ति है); **चक्षुः**=नेत्र; **श्रोत्रम्**=कान; **मनः**=मन; **वाक्**=वाणी; (और) **त्वक्**=त्वचा (यह पाँचों करणोंकी पङ्क्ति है); **चर्म**=चर्म; **मांसम्**=मांस; **स्नावा**=नाड़ी; **अस्थि**=हड्डी; (और) **मज्जा**=मज्जा (यह पाँच शरीरगत धातुओंकी पङ्क्ति है); **एतत्**=यह (इस प्रकार); **अधिविधाय**=सम्यक् कल्पना करके; **ऋषिः**=ऋषिने; **अवोचत्**=कहा; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सब; **वै**=निश्चय ही; **पाङ्क्तम्**=पाङ्क्त है;† **पाङ्क्तेन एव पाङ्क्तम्**=(साधक) इस आध्यात्मिक पाङ्क्तसे ही बाह्य पाङ्क्तको और बाह्यसे अध्यात्म पाङ्क्तको; **स्पृणोति इति**=पूर्ण करता है।

व्याख्या—इस अनुवाकके दो भाग हैं। पहले भागमें मुख्य-मुख्य आधिभौतिक पदार्थोंको लोक, ज्योति और स्थूल-पदार्थ—इन तीन पङ्क्तियोंमें विभक्त करके उनका वर्णन किया है और दूसरे भागमें मुख्य-मुख्य आध्यात्मिक (शरीरस्थित) पदार्थोंको प्राण, करण और धातु—इन तीन पङ्क्तियोंमें विभक्त करके उनका वर्णन किया है। अन्तमें उनका उपयोग करने-की युक्ति बतायी गयी है।

भाव यह है कि पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्गलोक, पूर्व-पश्चिम आदि दिशाएँ और आग्नेय-नैर्ऋत्य आदि अवान्तर दिशाएँ—इस प्रकार यह लोकोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है। अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र—इस प्रकार यह ज्योतियोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है। तथा जल, ओषधियाँ, वनस्पति, आकाश और पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर—इस प्रकार यह स्थूल जड-पदार्थोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है। यह सब मिलकर आधिभौतिक पाङ्क्त अर्थात् भौतिक पङ्क्तियोंका समूह है। इसी प्रकार यह आगे बताया हुआ आध्यात्मिक—शरीरके भीतर रहनेवाला पाङ्क्त है। इसमें प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान—इस प्रकार यह प्राणोंकी पङ्क्ति है। नेत्र, कान, मन, वाणी और त्वचा—इस प्रकार यह करण-समुदायकी पङ्क्ति है। तथा चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी और मज्जा—इस प्रकार यह शरीरगत धातुओंकी पङ्क्ति है। इस प्रकार प्रधान-प्रधान आधिभौतिक और आध्यात्मिक पदार्थोंकी त्रिविध पङ्क्तियाँ बनाकर वर्णन करना यहाँ उपलक्षणरूपमें है, अतः शेष पदार्थोंको भी इनके

* पहलेसे ही जिसमें ब्रह्म-प्राप्तिकी योग्यता हो, वह 'प्राचीनयोग्य' है। अथवा यह शिष्यका नाम है।

† पङ्क्तिका समूह ही 'पाङ्क्त' है।

अन्तर्गत समझ लेना चाहिये। इस प्रकार वर्णन करनेके बाद श्रुति कहती है कि ये पङ्क्तियोंमें विभक्त करके बताये हुए पदार्थ सब-के-सब पङ्क्तियोंके समुदाय हैं। इनका आपसमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस रहस्यको समझकर अर्थात् किस आधिभौतिक पदार्थके साथ किस आध्यात्मिक पदार्थका क्या सम्बन्ध है, इस बातको भलीभाँति समझकर मनुष्य आध्यात्मिक शक्तिसे भौतिक पदार्थोंका विकास कर लेता है और भौतिक पदार्थोंसे आध्यात्मिक शक्तियोंकी उन्नति कर लेता है।

पहली आधिभौतिक लोकसम्बन्धी पङ्क्तिसे चौथी प्राण-समुदायरूप आध्यात्मिक पङ्क्तिका सम्बन्ध है; क्योंकि एक लोकसे दूसरे लोकको सम्बद्ध करनेमें प्राणोंकी ही प्रधानता है—यह बात संहिता-प्रकरणमें पहले बता आये हैं। दूसरी ज्योति-विषयक आधिभौतिक पङ्क्तिसे पाँचवीं करण-समुदायरूप आध्यात्मिक पङ्क्तिका सम्बन्ध है; क्योंकि वे आधिभौतिक ज्योतियाँ इन आध्यात्मिक ज्योतियोंकी सहायक हैं, यह बात शास्त्रोंमें जगह-जगह बतायी गयी है। इसी प्रकार तीसरी जो स्थूल पदार्थों-की आधिभौतिक पङ्क्ति है, उसका छठी शरीरगत धातुओंकी आध्यात्मिक पङ्क्तिसे सम्बन्ध है; क्योंकि ओषधि और वनस्पति-रूप अन्नसे ही मांस-मज्जा आदिकी पुष्टि और वृद्धि होती है, यह प्रत्यक्ष है। इस प्रकार प्रत्येक स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वको भलीभाँति समझकर उनका उपयोग करनेसे मनुष्य सब प्रकारकी सांसारिक उन्नति कर सकता है, यही इस वर्णनका भाव मालूम होता है।

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओꣳशोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति।

ओम्='ओम्'; **इति**=यह; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **ओम्**='ओम्'; **इति**=ही; **इदम्**=यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला; **सर्वम्**=समस्त जगत् है; **ओम्**='ओम्'; **इति**=इस प्रकारका; **एतत्**=यह अक्षर; **ह**=ही; **वै**=निःसंदेह; **अनुकृतिः**=अनुकृति (अनुमोदन) है; **स्म**=यह बात प्रसिद्ध है; **अपि**=इसके सिवा; **ओ**=हे आचार्य; **श्रावय**=मुझे सुनाइये; **इति**=यों कहनेपर; **आश्रावयन्ति**=('ओम्' यों कहकर शिष्यको) उपदेश सुनाते हैं; **ओम्**='ओम्' (बहुत अच्छा); **इति**=इस प्रकार (स्वीकृति देकर); [**सामगाः**=सामगायक विद्वान्;] **सामानि**=सामवेद; **गायन्ति**=गाते हैं; **ओम् शोम्**='ओम् शोम्'; **इति**=यों कहकर ही; **शस्त्राणि**=शस्त्रोंको अर्थात् मन्त्रोंको; **शंसन्ति**=पढ़ते हैं; **ओम्**='ओम्'; **इति**=यों कहकर; **अध्वर्युः**=अध्वर्यु नामक ऋत्विक्; **प्रतिगरम् प्रतिगृणाति**=प्रतिगर-मन्त्रका उच्चारण करता है; **'ओम्'**='ओम्'; **इति**=यों कहकर; **ब्रह्मा**=ब्रह्मा (चौथा ऋत्विक्); **प्रसौति**=अनुमति देता है; **ओम्**='ओम्'; **इति**=यह कहकर; **अग्निहोत्रम् अनुजानाति**=अग्निहोत्र करनेकी आज्ञा देता है; **प्रवक्ष्यन्**=अध्ययन करनेके लिये उद्यत; **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण; **ओम् इति**=पहले ओम्का उच्चारण करके; **आह**=कहता है; **ब्रह्म**=(मैं)वेदको; **उपाप्नवानि इति**=प्राप्त करूँ; **ब्रह्म**=(फिर वह) वेदको; **एव**=निश्चय ही; **उपाप्नोति**=प्राप्त करता है।

व्याख्या—इस अनुवाकमें 'ॐ' इस परमेश्वरके नामके प्रति मनुष्यकी श्रद्धा और रुचि उत्पन्न करनेके लिये ॐकारकी महिमाका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि 'ॐ' यह परब्रह्म परमात्माका नाम होनेसे साक्षात् ब्रह्म ही है; क्योंकि भगवान्का नाम भी भगवत्स्वरूप ही होता है। यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला समस्त जगत् 'ॐ' है अर्थात् उस ब्रह्मका ही स्थूलरूप है। 'ॐ' यह अनुकृति अर्थात् अनुमोदनका सूचक है। अर्थात् जब किसीकी बातका अनुमोदन करना होता है, तब श्रेष्ठ पुरुष परमेश्वरके नामस्वरूप इस ॐकारका उच्चारण करके संकेतसे उसका अनुमोदन कर दिया करते हैं, दूसरे व्यर्थ शब्द नहीं बोलते—यह बात प्रसिद्ध है। जब शिष्य अपने गुरुसे तथा श्रोता किसी व्याख्यानदातासे उपदेश सुनानेके लिये प्रार्थना

करता है, तब गुरु और वक्ता भी 'ॐ' इस प्रकार कहकर ही उपदेश सुनाना आरम्भ करते हैं। सामवेदका गान करनेवाले भी 'ॐ' इस प्रकार पहले परमेश्वरके नामका भलीभाँति गान करके उसके बाद सामवेदका गान किया करते हैं। यज्ञकर्ममें शस्त्र-शंसनरूप कर्म करनेवाले शास्ता नामक ऋत्विक् 'ओम् शोम्' इस प्रकार कहकर ही शस्त्रोंका अर्थात् तद्विषयक मन्त्रोंका पाठ करते हैं। यज्ञकर्म करानेवाला अध्वर्यु नामक ऋत्विक् भी 'ॐ' इस परमेश्वरके नामका उच्चारण करके ही प्रतिगर-मन्त्रका उच्चारण करता है। ब्रह्मा (चौथा ऋत्विक्) भी 'ॐ' इस प्रकार परमात्माके नामका उच्चारण करके यज्ञ-कर्म करनेके लिये अनुमति देता है, तथा 'ॐ' यों कहकर ही अग्निहोत्र करनेकी आज्ञा देता है। अध्ययन करनेके लिये उद्यत ब्राह्मण ब्रह्मचारी भी 'ॐ' इस प्रकार परमेश्वरके नामका पहले उच्चारण करके कहता है कि 'मैं वेदको भली प्रकार पढ़ सकूँ।' अर्थात् ॐकार जिसका नाम है, उस परमेश्वरसे ॐकारके उच्चारणपूर्वक यह प्रार्थना करता है कि 'मैं वेदको—वैदिक ज्ञानको प्राप्त कर लूँ—ऐसी बुद्धि दीजिये।' इसके फलस्वरूप वह वेदको निःसन्देह प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इस मन्त्रमें ॐकारकी महिमाका वर्णन है।

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥ ८ ॥

नवम अनुवाक

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः।

ऋतम्=यथायोग्य सदाचारका पालन; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=शास्त्रका पढ़ना-पढ़ाना भी (यह सब अवश्य करना चाहिये); **सत्यम्**=सत्यभाषण; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **तपः**=तपश्चर्या; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **दमः**=इन्द्रियोंका दमन; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **शमः**=मनका निग्रह; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **अग्नयः**=अग्नियोंका चयन; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **अग्निहोत्रम्**=अग्निहोत्र; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **अतिथयः**=अतिथियोंकी सेवा; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **मानुषम्**=मनुष्योचित लौकिक व्यवहार; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **प्रजा**=गर्भाधान-संस्काररूप कर्म; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (करना चाहिये); **प्रजनः**=शास्त्रविधिके अनुसार स्त्रीसहवास; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (करना चाहिये); **प्रजातिः**=कुटुम्ब-वृद्धिका कर्म; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=शास्त्रका पढ़ना-पढ़ाना भी (करना चाहिये); **सत्यम्**=सत्य ही इनमें श्रेष्ठ है; **इति**=यों; **राथीतरः**=रथीतरका पुत्र; **सत्यवचाः**=सत्यवचा ऋषि कहते हैं; **तपः**=तप ही सर्वश्रेष्ठ है; **इति**=यों; **पौरुशिष्टिः**=पुरुशिष्टका पुत्र; **तपोनित्यः**=तपोनित्य नामक ऋषि कहते हैं; **स्वाध्यायप्रवचने एव**=वेदका पढ़ना-पढ़ाना ही सर्वश्रेष्ठ है; **इति**=यों; **मौद्गल्यः**=मुद्गलके पुत्र; **नाकः**='नाक' मुनि कहते हैं; **हि**=क्योंकि; **तत्**=वही; **तपः**=तप है; **तत् हि**=वही; **तपः**=तप है।

व्याख्या—इस अनुवाकमें यह बात समझायी गयी है कि अध्ययन और अध्यापन करनेवालोंको अध्ययन-अध्यापन-

के साथ-साथ शास्त्रोंमें बताये हुए मार्गपर स्वयं चलना भी चाहिये। यही बात उपदेशक और उपदेश सुननेवालोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। अभिप्राय यह है कि अध्ययन और अध्यापन दोनों बहुत ही उपयोगी हैं, शास्त्रोंके अध्ययनसे ही मनुष्यको अपने कर्तव्यका तथा उसकी विधि और फलका ज्ञान होता है; अतः इसे करते हुए ही उसके साथ-साथ यथायोग्य सदाचारका पालन, सत्यभाषण, स्वधर्मपालनके लिये बड़े-से-बड़ा कष्ट सहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, मनको वशमें रखना, अग्निहोत्रके लिये अग्निको प्रदीप्त करना, फिर उसमें हवन करना, अतिथिकी यथायोग्य सेवा करना, सबके साथ सुन्दर मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करना, शास्त्रविधिके अनुसार गर्भाधान करना और ऋतुकालमें नियमितरूपसे स्त्री-सहवास करना तथा कुटुम्बको बढ़ानेका उपाय करना—इस प्रकार इन सभी श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। अध्यापक तथा उपदेशकके लिये तो इन सब कर्तव्योंका समुचित पालन और भी आवश्यक है; क्योंकि उनका आदर्श उनके छात्र तथा श्रोता ग्रहण करते हैं। रथीतरके पुत्र सत्यवचा नामक ऋषिका कहना है कि 'इन सब कर्मोंमें सत्य ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि प्रत्येक कर्म सत्यभाषण और सत्यभावपूर्वक किये जानेपर ही यथार्थरूपसे सम्पन्न होता है।' पुरुशिष्टपुत्र तपोनित्य नामक ऋषिका कहना है कि 'तपश्चर्या ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि तपसे ही सत्यभाषण आदि समस्त धर्मोंके पालन करनेकी और उनमें दृढ़तापूर्वक स्थित रहनेकी शक्ति आती है।' मुद्गलके पुत्र नाक नामक मुनिका कहना है कि 'वेद और धर्मशास्त्रोंका पठन-पाठन ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि वही तप है, वही तप है। अर्थात् इन्हींसे तप आदि समस्त धर्मोंका ज्ञान होता है।' इन सभी ऋषियोंका कहना यथार्थ है। उनके कथनको उद्धृत करके यह भाव दिखाया गया है कि प्रत्येक कर्ममें इन तीनोंकी प्रधानता रहनी चाहिये। जो कुछ कर्म किया जाय, वह पठन-पाठनसे उपलब्ध शास्त्रज्ञानके अनुकूल होना चाहिये। कितने ही विघ्न क्यों न उपस्थित हों, अपने कर्तव्यपालनरूप तपमें सदा दृढ़ रहना चाहिये और प्रत्येक क्रियामें सत्यभाव और सत्यभाषणपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

॥ नवम अनुवाक समाप्त ॥ ९ ॥

दशम अनुवाक

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणꣳ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्।

अहम्=मैं; **वृक्षस्य**=संसारवृक्षका; **रेरिवा**=उच्छेद करनेवाला हूँ; [**मम**] **कीर्तिः**=मेरी कीर्ति; **गिरेः**=पर्वतके; **पृष्ठम् इव**=शिखरकी भाँति उन्नत है; **वाजिनि**=अन्नोत्पादक शक्तिसे युक्त सूर्यमें; **स्वमृतम् इव**=जैसे उत्तम अमृत है उसी प्रकार मैं भी; **ऊर्ध्वपवित्रः अस्मि**=अतिशय पवित्र अमृतस्वरूप हूँ; (तथा मैं) **सवर्चसम्**=प्रकाशयुक्त; **द्रविणम्**=धनका भंडार हूँ; **अमृतोक्षितः**=(परमानन्दमय) अमृतसे अभिषिञ्चित; (तथा) **सुमेधाः**=श्रेष्ठ बुद्धिवाला हूँ; **इति**=इस प्रकार (यह); **त्रिशङ्कोः**=त्रिशङ्कु ऋषिका; **वेदानुवचनम्**=अनुभव किया हुआ वैदिक प्रवचन है।

व्याख्या—त्रिशङ्कु नामक ऋषिने परमात्माको प्राप्त होकर जो अपना अनुभव व्यक्त किया था, उसे ही इस अनुवाकमें उद्धृत किया गया है। त्रिशङ्कुके वचनानुसार अपने अन्तःकरणमें भावना करना भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन है, यही बतानेके लिये इस अनुवाकका आरम्भ हुआ है। श्रुतिका भावार्थ यह है कि मैं प्रवाहरूपमें अनादिकालसे चले आते हुए इस जन्म-मृत्युरूप संसारवृक्षका उच्छेद करनेवाला हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है। इसके बाद मेरा पुनः जन्म नहीं होनेका। मेरी कीर्ति पर्वत-शिखरकी भाँति उन्नत एवं विशाल है। अन्नोत्पादक शक्तिसे युक्त सूर्यमें जैसे उत्तम अमृतका निवास है, उसी प्रकार मैं भी विशुद्ध—रोग-दोष आदिसे सर्वथा मुक्त हूँ, अमृतस्वरूप हूँ। इसके सिवा मैं प्रकाशयुक्त धनका भंडार हूँ, परमानन्दरूप अमृतमें निमग्न और श्रेष्ठ धारणायुक्त बुद्धिसे सम्पन्न हूँ। इस प्रकार यह त्रिशङ्कु ऋषिका वेदानुवचन है अर्थात् ज्ञानप्राप्तिके बाद व्यक्त किया हुआ आत्माका उद्गार है।

मनुष्य जिस प्रकारकी भावना करता है, वैसा ही बन जाता है; उसके संकल्पमें यह अपूर्व—आश्चर्यजनक शक्ति है। अतः जो मनुष्य अपनेमें उपर्युक्त भावनाका अभ्यास करेगा, वह निश्चय वैसा ही बन जायगा। परंतु इस साधनमें पूर्ण

सावधानीकी आवश्यकता है। यदि भावनाके अनुसार गुण न आकर अभिमान आ गया तो पतन भी हो सकता है। यदि इस वेदानुवचनके रहस्यको ठीक समझकर इसकी भावना की जाय तो अभिमानकी आशङ्का भी नहीं की जा सकती।

॥ दशम अनुवाक समाप्त ॥ १० ॥

एकादश अनुवाक

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

वेदम् अनूच्य=वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर; **आचार्यः**=आचार्य; **अन्तेवासिनम्**=अपने आश्रममें रहनेवाले ब्रह्मचारी विद्यार्थीको; **अनुशास्ति**=शिक्षा देता है; **सत्यम् वद**=तुम सत्य बोलो; **धर्मम् चर**=धर्मका आचरण करो; **स्वाध्यायात्**=स्वाध्यायसे; **मा प्रमदः**=कभी न चूको; **आचार्याय**=आचार्यके लिये; **प्रियम् धनम्**=दक्षिणाके रूपमें वाञ्छित धन; **आहृत्य**=लाकर (दो, फिर उनकी आज्ञासे गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके); **प्रजातन्तुम्**=संतान-परम्पराको (चालू रखो, उसका); **मा व्यवच्छेत्सीः**=उच्छेद न करना; **सत्यात्**=(तुमको) सत्यसे; **न प्रमदितव्यम्**=कभी नहीं डिगना चाहिये; **धर्मात्**=धर्मसे; **न**=नहीं; **प्रमदितव्यम्**=डिगना चाहिये; **कुशलात्**=शुभ कर्मोंसे; **न प्रमदितव्यम्**=कभी नहीं चूकना चाहिये; **भूत्यै**=उन्नतिके साधनोंसे; **न प्रमदितव्यम्**=कभी नहीं चूकना चाहिये; **स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम्**=वेदोंके पढ़ने और पढ़ानेमें; **न प्रमदितव्यम्**=कभी भूल नहीं करनी चाहिये; **देवपितृकार्याभ्याम्**=देवकार्यसे और पितृकार्यसे; **न प्रमदितव्यम्**=कभी नहीं चूकना चाहिये।

व्याख्या—गृहस्थको अपना जीवन कैसा बनाना चाहिये, यह बात समझानेके लिये इस अनुवाकका आरम्भ किया गया है। आचार्य शिष्यको वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर समावर्तन-संस्कारके समय गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके गृहस्थ-धर्मका पालन करनेकी शिक्षा देते हैं—'पुत्र! तुम सदा सत्य-भाषण करना, आपत्ति पड़नेपर भी झूठका कदापि आश्रय न लेना; अपने वर्ण-आश्रमके अनुकूल शास्त्रसम्मत धर्मका अनुष्ठान करना; स्वाध्यायसे अर्थात् वेदोंके अभ्यास, संध्यावन्दन, गायत्रीजप और भगवन्नाम-गुणकीर्तन आदि नित्यकर्ममें कभी भी प्रमाद न करना—अर्थात् न तो कभी उन्हें अनादरपूर्वक करना और न आलस्यवश उनका त्याग ही करना। गुरुके लिये दक्षिणाके रूपमें उनकी रुचिके अनुरूप धन लाकर प्रेमपूर्वक देना; फिर उनकी आज्ञासे गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके स्वधर्मका पालन करते हुए संतान-परम्पराको सुरक्षित रखना—उसका लोप न करना। अर्थात् शास्त्रविधिके अनुसार विवाहित धर्मपत्नीके साथ ऋतुकालमें नियमित सहवास करके संतानोत्पत्तिका कार्य अनासक्तिपूर्वक करना। तुमको कभी भी सत्यसे नहीं चूकना चाहिये अर्थात् हँसी-दिल्लगी या व्यर्थकी बातोंमें वाणीकी शक्तिको न तो नष्ट करना चाहिये और न परिहास आदिके बहाने कभी झूठ ही बोलना चाहिये। इसी प्रकार धर्मपालनमें भी भूल नहीं करना चाहिये अर्थात् कोई बहाना बनाकर या आलस्यवश कभी धर्मकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। लौकिक और शास्त्रीय—जितने भी कर्तव्यरूपसे प्राप्त शुभ कर्म हैं, उनका कभी त्याग या उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, अपितु यथायोग्य उनका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। धन-सम्पत्तिको बढ़ानेवाले लौकिक उन्नतिके साधनोंके प्रति भी उदासीन नहीं होना चाहिये। इसके लिये भी वर्णाश्रमानुकूल चेष्टा करनी चाहिये। पढ़ने और पढ़ानेका जो मुख्य नियम है, उसकी कभी अवहेलना या आलस्यपूर्वक त्याग नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अग्निहोत्र और यज्ञादिके अनुष्ठानरूप देवकार्य तथा श्राद्ध-तर्पण आदि पितृकार्यके सम्पादनमें भी आलस्य या अवहेलनापूर्वक प्रमाद नहीं करना चाहिये।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये

के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

मातृदेवः भव=तुम मातामें देवबुद्धि करनेवाले बनो; **पितृदेवः**=पिताको देवरूप समझनेवाले; **भव**=होओ; **आचार्यदेवः**=आचार्यको देवरूप समझनेवाले; **भव**=बनो; **अतिथिदेवः**=अतिथिको देवतुल्य समझनेवाले; **भव**=होओ; **यानि**=जो-जो; **अनवद्यानि**=निर्दोष; **कर्माणि**=कर्म हैं; **तानि**=उन्हींका; **सेवितव्यानि**=तुम्हें सेवन करना चाहिये; **इतराणि**=दूसरे (दोषयुक्त) कर्मोंका; **नो**=कभी आचरण नहीं करना चाहिये; **अस्माकम्**=हमारे (आचरणोंमेंसे भी); **यानि**=जो-जो; **सुचरितानि**=अच्छे आचरण हैं; **तानि**=उनका ही; **त्वया**=तुमको; **उपास्यानि**=सेवन करना चाहिये; **इतराणि**=दूसरोंका; **नो**=कभी नहीं; **ये**=जो; **के**=कोई; **च**=भी; **अस्मत्**=हमसे; **श्रेयांसः**=श्रेष्ठ (गुरुजन एवं); **ब्राह्मणाः**=ब्राह्मण आयें; **तेषाम्**=उनको; **त्वया**=तुम्हें; **आसनेन**=आसन-दान आदिके द्वारा सेवा करके; **प्रश्वसितव्यम्**=विश्राम देना चाहिये; **श्रद्धया देयम्**=श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये; **अश्रद्धया**=बिना श्रद्धाके; **अदेयम्**=नहीं देना चाहिये; **श्रिया**=आर्थिक स्थितिके अनुसार; **देयम्**=देना चाहिये; **ह्रिया**=लज्जासे; [**देयम्**=देना चाहिये;] **भिया** भयसे भी; **देयम्**=देना चाहिये; (और) **संविदा**=(जो कुछ भी दिया जाय, वह सब) विवेकपूर्वक; **देयम्**=देना चाहिये।

व्याख्या—पुत्र ! तुम मातामें देवबुद्धि रखना, पितामें भी देवबुद्धि रखना, आचार्यमें देवबुद्धि रखना तथा अतिथिमें भी देवबुद्धि रखना। आशय यह कि इन चारोंको ईश्वरकी प्रतिमूर्ति समझकर श्रद्धा और भक्तिपूर्वक सदा इनकी आज्ञाका पालन, नमस्कार और सेवा करते रहना; इन्हें सदा अपने विनयपूर्ण व्यवहारसे प्रसन्न रखना। जगत्में जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हींका तुम्हें सेवन करना चाहिये। उनसे भिन्न जो दोषयुक्त—निषिद्ध कर्म हैं, उनका कभी भूलकर—स्वप्नमें भी आचरण नहीं करना चाहिये। हमारे—अपने गुरुजनोंके आचार-व्यवहारमें भी जो उत्तम—शास्त्र एवं शिष्ट पुरुषोंद्वारा अनुमोदित आचरण हैं, जिनके विषयमें किसी प्रकारकी शङ्काको स्थान नहीं है, उन्हींका तुम्हें अनुकरण करना चाहिये, उन्हींका सेवन करना चाहिये। जिनके विषयमें जरा-सी भी शङ्का हो, उनका अनुकरण कभी नहीं करना चाहिये। जो कोई भी हमसे श्रेष्ठ—वय, विद्या, तप, आचरण आदिमें बड़े तथा ब्राह्मण आदि पूज्य पुरुष घरपर पधारें, उनको पाद्य, अर्घ्य, आसन आदि प्रदान करके सब प्रकारसे उनका सम्मान तथा यथायोग्य सेवा करनी चाहिये। अपनी शक्तिके अनुसार दान करनेके लिये तुम्हें सदा उदारतापूर्वक तत्पर रहना चाहिये। जो कुछ भी दिया जाय, वह श्रद्धापूर्वक देना चाहिये। अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये; क्योंकि बिना श्रद्धाके किये हुए दान आदि कर्म असत् माने गये हैं (गीता १७। २७)। लज्जापूर्वक देना चाहिये। अर्थात् सारा धन भगवान्का है, मैंने इसे अपना मानकर उनका अपराध किया है। इसे सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित भगवान्की सेवामें ही लगाना उचित था, मैंने ऐसा नहीं किया। मैं जो कुछ दे रहा हूँ, वह भी बहुत कम है। यों सोचकर संकोचका अनुभव करते हुए देना चाहिये। मनमें दानीपनके अभिमानको नहीं आने देना चाहिये। सर्वत्र और सबमें भगवान् हैं, अतः दान लेनेवाले भी भगवान् ही हैं। उनकी बड़ी कृपा है कि मेरा दान स्वीकार कर रहे हैं। यों विचारकर भगवान्से भय मानते हुए दान देना चाहिये। 'हम किसीका उपकार कर रहे हैं' ऐसी भावना मनमें लाकर अभिमान या अविनय नहीं प्रकट करना चाहिये। परंतु जो कुछ दिया जाय—वह विवेकपूर्वक, उसके परिणामको समझकर निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर देना चाहिये (गीता १७। २०)। इस प्रकार दिया हुआ दान ही भगवान्की प्रीतिका—कल्याणका साधन हो सकता है। वही अक्षय फलका देनेवाला है।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।

अथ=इसके बाद; **यदि**=यदि; **ते**=तुमको; **कर्मविचिकित्सा**=कर्तव्यके निर्णय करनेमें किसी प्रकारकी शङ्का हो; **वा**=या; **वृत्तविचिकित्सा**=सदाचारके विषयमें कोई शङ्का; **वा**=कदाचित्; **स्यात्**=हो जाय तो; **तत्र**=वहाँ; **ये**=जो; **सम्मर्शिनः**=उत्तम विचारवाले; **युक्ताः**=परामर्श देनेमें कुशल; **आयुक्ताः**=कर्म और सदाचारमें पूर्णतया लगे हुए; **अलूक्षाः**=स्निग्ध स्वभाववाले; (तथा) **धर्मकामाः**=एकमात्र धर्मके ही अभिलाषी; **ब्राह्मणाः**=ब्राह्मण; **स्युः**=हों; **ते**=वे; **यथा**=जिस प्रकार; **तत्र**=उन कर्मोंमें और आचरणोंमें; **वर्तेरन्**=बर्ताव करते हों; **तत्र**=उन कर्मों और आचरणोंमें; **तथा**=वैसे ही; **वर्तेथाः**=तुमको भी बर्ताव करना चाहिये; **अथ**=तथा यदि; **अभ्याख्यातेषु**=किसी दोषसे लाञ्छित मनुष्योंके साथ बर्ताव करनेमें (संदेह उत्पन्न हो जाय, तो भी); **ये**=जो; **तत्र**=वहाँ; **सम्मर्शिनः**=उत्तम विचारवाले; **युक्ताः**=परामर्श देनेमें कुशल; **आयुक्ताः**=सब प्रकारसे यथायोग्य सत्कर्म और सदाचारमें भलीभाँति लगे हुए; **अलूक्षाः**=रूखेपनसे रहित; **धर्मकामाः**=धर्मके अभिलाषी; **ब्राह्मणाः**=(विद्वान्) ब्राह्मण; **स्युः**=हों; **ते**=वे; **यथा**=जिस प्रकार; **तेषु**=उनके साथ; **वर्तेरन्**=बर्ताव करें; **तेषु**=उनके साथ; **तथा**=वैसा ही; **वर्तेथाः**=तुमको भी बर्ताव करना चाहिये; **एषः**=यह; **आदेशः**=शास्त्रकी आज्ञा है; **एषः**=यही; **उपदेशः**=(गुरुजनोंका अपने शिष्यों और पुत्रोंके लिये) उपदेश है; **एषा**=यही; **वेदोपनिषत्**=वेदोंका रहस्य है; **च**=और; **एतत्**=यही; **अनुशासनम्**=परम्परागत शिक्षा है; **एवम्**=इसी प्रकार; **उपासितव्यम्**=तुमको अनुष्ठान करना चाहिये; **एवम् उ**=इसी प्रकार; **एतत्**=यह; **उपास्यम्**=अनुष्ठान करना चाहिये।

व्याख्या—यह सब करते हुए भी यदि तुमको किसी अवसरपर अपना कर्तव्य निश्चित करनेमें दुविधा उत्पन्न हो जाय, अपनी बुद्धिसे किसी एक निश्चयपर पहुँचना कठिन हो जाय—तुम किंकर्तव्यविमूढ हो जाओ, तो ऐसी स्थितिमें वहाँ जो कोई उत्तम विचार रखनेवाले, उचित परामर्श देनेमें कुशल, सत्कर्म और सदाचारमें तत्परतापूर्वक लगे हुए, सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करनेवाले तथा एकमात्र धर्म-पालनकी ही इच्छा रखनेवाले विद्वान् ब्राह्मण (या अन्य कोई वैसे ही महापुरुष) हों—वे जिस प्रकार ऐसे प्रसङ्गोंपर आचरण करते हों, उसी प्रकारका आचरण तुम्हें भी करना चाहिये। ऐसे स्थलोंमें उन्हींके सत्परामर्शके अनुसार उन्हींके स्थापित आदर्शका अनुगमन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य किसी दोषके कारण लाञ्छित हो गया हो, उसके साथ किस समय कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस विषयमें भी यदि तुमको दुविधा प्राप्त हो जाय—तुम अपनी बुद्धिसे निर्णय न कर सको तो वहाँ भी जो विचारशील, परामर्श देनेमें कुशल, सत्कर्म और सदाचारमें पूर्णतया संलग्न तथा धर्मकामी (सांसारिक धनादिकी कामनासे रहित) निःस्वार्थी विद्वान् ब्राह्मण हों, वे लोग उसके साथ जैसा व्यवहार करें, वैसा ही तुमको भी करना चाहिये। उनका व्यवहार ही इस विषयमें प्रमाण है।

यही शास्त्रकी आज्ञा है—शास्त्रोंका निचोड़ है। यही गुरु एवं माता-पिताका अपने शिष्यों और संतानोंके प्रति उपदेश है तथा यही सम्पूर्ण वेदोंका रहस्य है। इतना ही नहीं, अनुशासन भी यही है। ईश्वरकी आज्ञा तथा परम्परागत उपदेशका नाम अनुशासन है। इसलिये तुमको इसी प्रकार कर्तव्य एवं सदाचारका पालन करना चाहिये। इसी प्रकार कर्तव्य एवं सदाचारका पालन करना चाहिये।

॥ एकादश अनुवाक समाप्त ॥ ११ ॥

द्वादश अनुवाक

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

नः=हमारे लिये; **मित्रः**=(दिन और प्राणके अधिष्ठाता) मित्रदेवता; **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों; (तथा) **वरुणः**=(रात्रि और अपानके अधिष्ठाता) वरुण भी; **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों; **अर्यमा**=(चक्षु और

सूर्यमण्डलके अधिष्ठाता) अर्यमा; **नः**=हमारे लिये; **शम्**=कल्याणमय; **भवतु**=हों; **इन्द्रः**=(बल और भुजाओंके अधिष्ठाता) इन्द्र; (तथा) **बृहस्पतिः**=(वाणी और बुद्धिके अधिष्ठाता) बृहस्पति; **नः**=हमारे लिये; **शम् [भवताम्]**=शान्ति प्रदान करनेवाले हों; **उरुक्रमः**=त्रिविक्रमरूपसे विशाल डगोंवाले; **विष्णुः**=विष्णु (जो पैरोंके अधिष्ठाता हैं); **नः**=हमारे लिये; **शम् [भवतु]**=कल्याणमय हों; **ब्रह्मणे**=(उपर्युक्त सभी देवताओंके आत्मस्वरूप) ब्रह्मके लिये; **नमः**=नमस्कार है; **वायो**=हे वायुदेव; **ते**=तुम्हारे लिये; **नमः**=नमस्कार है; **त्वम्**=तुम; **एव**=ही; **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष (प्राणरूपसे प्रतीत होनेवाले); **ब्रह्म**=ब्रह्म; **असि**=हो; (इसलिये मैंने) **त्वाम्**=तुमको; **एव**=ही; **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **अवादिषम्**=कहा है; **ऋतम्**=(तुम ऋतके अधिष्ठाता हो, इसलिये मैंने तुम्हें) ऋत नामसे; **अवादिषम्**=पुकारा है; **सत्यम्**=(तुम सत्यके अधिष्ठाता हो, अतः मैंने तुम्हें) सत्य नामसे; **अवादिषम्**=कहा है; **तत्**=उस (सर्वशक्तिमान् परमेश्वरने); **माम् आवीत्**= मेरी रक्षा की है; **तत्**=उसने; **वक्तारम् आवीत्**=वक्ताकी—आचार्यकी रक्षा की है; **आवीत् माम्**=रक्षा की है मेरी; (और) **आवीत् वक्तारम्**=रक्षा की है मेरे आचार्यकी; **ॐ शान्तिः**=भगवान् शान्तिस्वरूप हैं; **शान्तिः**=शान्तिस्वरूप हैं, **शान्तिः**=शान्तिस्वरूप हैं।

व्याख्या—शिक्षावल्लीके इस अन्तिम अनुवाकमें भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाता परब्रह्म परमेश्वरसे भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंमें उनकी स्तुति करते हुए प्रार्थनापूर्वक कृतज्ञता प्रकट की गयी है। भाव यह है कि समस्त आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियोंके रूपमें तथा उनके अधिष्ठाता मित्र, वरुण आदि देवताओंके रूपमें जो सबके आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वर हैं, वे सब प्रकारसे हमारे लिये कल्याणमय हों—हमारी उन्नतिके मार्गमें किसी प्रकारका विघ्न न आने दें। हम सबके अन्तर्यामी ब्रह्मको नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार परमात्मासे शान्तिकी प्रार्थना करके सूत्रात्मा प्राणके रूपमें समस्त प्राणियोंमें व्याप्त परमेश्वरकी वायुके नामसे स्तुति करते हैं—'हे सर्वशक्तिमान्, सबके प्राणस्वरूप वायुमय परमेश्वर! आपको नमस्कार है। आप ही समस्त प्राणियोंके प्राणस्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं; अतः मैंने आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहकर पुकारा है। मैंने ऋत नामसे भी आपको ही पुकारा है; क्योंकि सारे प्राणियोंके लिये जो कल्याणकारी नियम है, उस नियमरूप ऋतके आप ही अधिष्ठाता हैं। यही नहीं, मैंने 'सत्य' नामसे भी आपको ही पुकारा है; क्योंकि सत्य—यथार्थ भाषणके अधिष्ठातृ-देवता भी आप ही हैं। उन सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वरने मुझे सत्-आचरण एवं सत्य-भाषण करनेकी और सत्-विद्याको ग्रहण करनेकी शक्ति प्रदान करके इस जन्म-मरणरूप संसारचक्रसे मेरी रक्षा की है। तथा मेरे आचार्यको उन सबका उपदेश देकर सर्वत्र उस सत्यका प्रचार करनेकी शक्ति प्रदान करके उनकी रक्षा—उनका भी सब प्रकारसे कल्याण किया है। यहाँ 'मेरी रक्षा की है, मेरे वक्ताकी रक्षा की है' इन वाक्योंको दुहरानेका अभिप्राय शिक्षावल्लीकी समाप्तिकी सूचना देना है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः—इस प्रकार तीन बार 'शान्तिः' पदका उच्चारण करनेका भाव यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके विघ्नोंका सर्वथा उपशमन हो जाय। भगवान् शान्तिस्वरूप हैं। अतः उनके स्मरणसे सब प्रकारकी शान्ति निश्चित है।

॥ द्वादश अनुवाक समाप्त ॥ १२ ॥

॥ प्रथम वल्ली समाप्त ॥ १ ॥

ॐ
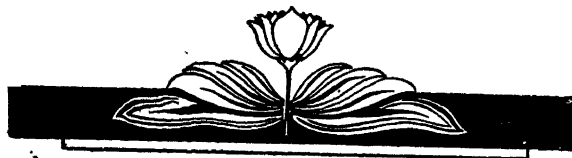
ब्रह्मानन्दवल्ली

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ कठोपनिषद्के आरम्भमें दिया गया ।

प्रथम अनुवाक

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता।

ब्रह्मवित्=ब्रह्मज्ञानी; **परम्**=परब्रह्मको; **आप्नोति**=प्राप्त कर लेता है; **तत्**=उसी भावको व्यक्त करनेवाली; **एषा**=यह (श्रुति); **अभ्युक्ता**=कही गयी है।

व्याख्या—ब्रह्मज्ञानी महात्मा परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, इसी बातको बतानेके लिये आगे आनेवाली श्रुति कही गयी है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।

ब्रह्म=ब्रह्म; **सत्यम्**=सत्य; **ज्ञानम्**=ज्ञानस्वरूप; (और) **अनन्तम्**=अनन्त है; **यः**=जो मनुष्य; **परमे व्योमन्**=परम विशुद्ध आकाशमें (रहते हुए भी); **गुहायाम्**=प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें; **निहितम्**=छिपे हुए (उस ब्रह्मको); **वेद**=जानता है; **सः**=वह; **विपश्चिता**=(उस) विज्ञानस्वरूप; **ब्रह्मणा सह**=ब्रह्मके साथ; **सर्वान्**=समस्त; **कामान्**

अश्नुते=भोगोंका अनुभव करता है; **इति**=इस प्रकार (यह ऋचा है)।

व्याख्या—इस मन्त्रमें परब्रह्म परमात्माके स्वरूपबोधक लक्षण बताकर उनकी प्राप्तिके स्थानका वर्णन करते हुए उनकी प्राप्तिका फल बताया गया है। भाव यह है कि वे परब्रह्म परमात्मा सत्यस्वरूप हैं। 'सत्य' शब्द यहाँ नित्य सत्ताका बोधक है। अर्थात् वे परब्रह्म नित्य सत् हैं, किसी भी कालमें उनका अभाव नहीं होता। तथा वे ज्ञानस्वरूप हैं, उनमें अज्ञानका लेश भी नहीं है। और वे अनन्त हैं अर्थात् देश और कालकी सीमासे अतीत—सीमारहित हैं। वे ब्रह्म परम विशुद्ध आकाशमें रहते हुए भी सबके हृदयकी गुफामें छिपे हुए हैं। उन परब्रह्म परमात्माको जो साधक तत्त्वसे जान लेता है, वह भलीभाँति सबको जाननेवाले उन ब्रह्मके साथ रहता हुआ सब प्रकारके भोगोंको अलौकिक ढंगसे अनुभव करता है*।

---

* इस कथनके रहस्यको समझ लेनेपर ईशावास्योपनिषद्के प्रथम मन्त्रमें साधकके लिये दिये हुए उपदेशका रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है। वहाँ कहा है कि इस भूतलपर जो कुछ भी जड-चेतनमय जगत् है, वह ईश्वरसे परिपूर्ण है; उन्हें अपने साथ रखते हुए अर्थात् निरन्तर याद रखते हुए ही त्यागपूर्वक आवश्यक विषयोंका सेवन करना चाहिये। जो उपदेश वहाँ साधकके लिये दिया गया है, वही बात यहाँ सिद्ध महात्माकी स्थिति बतानेके लिये कही गयी है। 'वह ब्रह्मके साथ सब भोगोंका अनुभव करता है' इस कथनका अभिप्राय यही है कि वह परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुष इन्द्रियोंद्वारा बाह्य विषयोंका सेवन करते हुए भी स्वयं सदा परमात्मामें ही स्थित रहता है। उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके व्यवहार, उनके द्वारा होनेवाली सभी चेष्टाएँ परमात्मामें स्थित रहते हुए ही होती हैं। लोगोंके देखनेमें आवश्यकतानुसार यथायोग्य विषयोंका इन्द्रियोंद्वारा उपभोग करते समय भी वह परमात्मासे कभी एक क्षणके लिये भी अलग नहीं होता, अतः सदा सभी कर्मोंसे निर्लेप रहता है। यही भाव दिखानेके लिये 'विपश्चिता ब्रह्मणा सह सर्वान् कामान् अश्नुते' कहा गया है। इस प्रकार यह श्रुति परब्रह्मके स्वरूप तथा उसके ज्ञानकी महिमाको बतानेवाली है।

सम्बन्ध—वे परब्रह्म परमात्मा किस प्रकार कैसी गुफामें छिपे हुए हैं, उन्हें कैसे जानना चाहिये—इस जिज्ञासापर आगेका प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=निश्चय ही; **तस्मात्**=(सर्वत्र प्रसिद्ध) उस; **एतस्मात्**=इस; **आत्मनः**=परमात्मासे; (पहले-पहल) **आकाशः**=आकाश-तत्त्व; **सम्भूतः**=उत्पन्न हुआ; **आकाशात्**=आकाशसे; **वायुः**=वायु; **वायोः**=वायुसे; **अग्निः**=अग्नि; **अग्नेः**=अग्निसे; **आपः**=जल; (और) **अद्भ्यः**=जल-तत्त्वसे; **पृथिवी**=पृथ्वी-तत्त्व उत्पन्न हुआ; **पृथिव्याः**=पृथ्वीसे; **ओषधयः**=समस्त ओषधियाँ उत्पन्न हुईं; **ओषधीभ्यः**=ओषधियोंसे; **अन्नम्**=अन्न उत्पन्न हुआ; **अन्नात्**=अन्नसे ही; **पुरुषः**=(यह) मनुष्य-शरीर उत्पन्न हुआ; **सः**=वह; **एषः**=यह; **पुरुषः**=मनुष्य-शरीर; **वै**=निश्चय ही; **अन्नरसमयः**=अन्न-रसमय है; **तस्य**=उसका; **इदम्**=यह (प्रत्यक्ष दीखनेवाला सिर); **एव**=ही; **शिरः**=(पक्षीकी कल्पनामें) सिर है; **अयम्**=यह (दाहिनी भुजा) ही; **दक्षिणः पक्षः**=दाहिना पंख है; **अयम्**=यह (बायीं भुजा) ही; **उत्तरः पक्षः**=बायाँ पंख है; **अयम्**=यह (शरीरका मध्यभाग) ही; **आत्मा**=पक्षीके अङ्गोंका मध्य-भाग है*; **इदम्**=यह (दोनों पैर ही); **पुच्छम् प्रतिष्ठा**=पूँछ एवं प्रतिष्ठा है; **तत् अपि**=उसीके विषयमें; **एषः**=यह (आगे कहा जानेवाला); **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें मनुष्यके हृदयरूप गुफाका वर्णन करनेके उद्देश्यसे पहले मनुष्य-शरीरकी उत्पत्तिका प्रकार संक्षेपमें बताकर उसके अङ्गोंकी पक्षीके अङ्गोंके रूपमें कल्पना की गयी है। भाव यह है कि सबके आत्मा अन्तर्यामी परमात्मासे पहले आकाश-तत्त्व उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायु-तत्त्व, वायुसे अग्नि-तत्त्व, अग्निसे जल-तत्त्व और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वीसे नाना प्रकारकी ओषधियाँ—अनाजके पौधे हुए और ओषधियोंसे मनुष्योंका आहार अन्न उत्पन्न हुआ। उस अन्नसे यह स्थूल मनुष्य-शरीररूप पुरुष उत्पन्न हुआ। अन्नके रससे बना हुआ यह जो मनुष्य-शरीरधारी पुरुष है, इसकी पक्षीके रूपमें कल्पना की गयी है। इसका जो यह प्रत्यक्ष सिर है, वही तो मानो पक्षीका सिर है, दाहिनी भुजा ही दाहिना पंख है। बायीं भुजा ही बायाँ पंख है। शरीरका मध्यभाग ही मानो उस पक्षीके शरीरका मध्यभाग है। दोनों पैर ही पूँछ एवं प्रतिष्ठा (पक्षीके पैर) हैं। अन्नकी महिमाके विषयमें यह आगे कहा जानेवाला श्लोक—मन्त्र है।

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाक

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीꣳश्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति।

पृथिवीम् श्रिताः=पृथ्वीलोकका आश्रय लेकर रहनेवाले; **याः**=जो; **काः**=कोई; **च**=भी; **प्रजाः**=प्राणी हैं (वे सब); **अन्नात्**=अन्नसे; **वै**=ही; **प्रजायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **अथो**=फिर; **अन्नेन एव**=अन्नसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं; **अथ**=तथा पुनः; **अन्ततः**=अन्तमें; **एनत् अपि**=इस अन्नमें ही; **यन्ति**=विलीन हो जाते हैं; **अन्नम्**=(अतः) अन्न; **हि**=ही; **भूतानाम्**=सब भूतोंमें; **ज्येष्ठम्**=श्रेष्ठ है; **तस्मात्**=इसलिये; (यह) **सर्वौषधम्**=सर्वौषधरूप; **उच्यते**=कहलाता है;

* 'मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा' इस श्रुतिके अनुसार शरीरका मध्यभाग सब अङ्गोंका आत्मा है।

ये=जो साधक; **अन्नम्**=अन्न; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; [**इति**=इस भावसे;] **उपासते**=(उसकी) उपासना करते हैं; **ते**=वे; **वै**=अवश्य ही; **सर्वम्**=समस्त; **अन्नम्**=अन्नको; **आप्नुवन्ति**=प्राप्त कर लेते हैं; **हि**=क्योंकि; **अन्नम्**=अन्न ही; **भूतानाम्**=भूतोंमें; **ज्येष्ठम्**=श्रेष्ठ है; **तस्मात्**=इसलिये; **सर्वौषधम्**=(यह) सर्वौषध नामसे; **उच्यते**=कहा जाता है; **अन्नात्**=अन्नसे ही; **भूतानि**=सब प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **अन्नेन**=अन्नसे ही; **वर्धन्ते**=बढ़ते हैं; **तत्**=वह; **अद्यते**=(प्राणियोंद्वारा) खाया जाता है; **च**=तथा; **भूतानि**=(स्वयं भी) प्राणियोंको; **अत्ति**=खाता है; **तस्मात्**=इसलिये; **अन्नम्**='अन्न'; **इति**=इस नामसे; **उच्यते**=कहा जाता है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें अन्नकी महिमाका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि इस पृथ्वीलोकमें निवास करनेवाले जितने भी प्राणी हैं, वे सब अन्नसे ही उत्पन्न हुए हैं—अन्नके परिणामरूप रज और वीर्यसे ही उनके शरीर बने हैं; उत्पन्न होनेके बाद अन्नसे ही उनका पालन-पोषण होता है, अतः अन्नसे ही वे जीते हैं। फिर अन्तमें इस अन्नमें ही—अन्न उत्पन्न करनेवाली पृथ्वीमें ही विलीन हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि समस्त प्राणियोंके जन्म, जीवन और मरण स्थूलशरीरके सम्बन्धसे ही होते हैं; और स्थूलशरीर अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही जीते हैं तथा अन्नके उद्गमस्थान पृथ्वीमें ही विलीन हो जाते हैं। उन शरीरोंमें रहनेवाले जो जीवात्मा हैं, वे अन्नमें विलीन नहीं होते; वे तो मृत्युकालमें प्राणोंके साथ इस शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरोंमें चले जाते हैं।

इस प्रकार यह अन्न समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति आदिका कारण है, इसीपर सब कुछ निर्भर करता है; इसलिये यही सबसे श्रेष्ठ है और इसीलिये यह सर्वौषधरूप कहलाता है—क्योंकि इसीसे प्राणियोंका क्षुधाजन्य संताप दूर होता है। सारे संतापोंका मूल क्षुधा है, इसलिये उसके शान्त होनेपर सारे संताप दूर हो जाते हैं। जो साधक इस अन्नकी ब्रह्मरूपमें उपासना करते हैं अर्थात् 'यह अन्न ही सर्वश्रेष्ठ है, सबसे बड़ा है' यह समझकर इसकी उपासना करते हैं, वे समस्त अन्नको प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें यथेष्ट अन्न प्राप्त हो जाता है, अन्नका अभाव नहीं रहता। यह सर्वथा सत्य है कि यह अन्न ही सब भूतोंमें श्रेष्ठ है, इसलिये यह सर्वौषधमय कहलाता है। तथा सब प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होनेके बाद अन्नसे ही बढ़ते हैं—उनके अङ्गोंकी पुष्टि भी अन्नसे ही होती है। सब प्राणी इसको खाते हैं, तथा यह भी सब प्राणियोंको खा जाता—अपनेमें विलीन कर लेता है इसीलिये 'अद्यते, अत्ति च इति अन्नम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार इसका नाम अन्न है।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=निश्चय ही; **तस्मात्**=उस; **एतस्मात्**=इस; **अन्नरसमयात्**=अन्न-रसमय मनुष्यशरीरसे; **अन्यः**=भिन्न; **अन्तरः**=उसके भीतर रहनेवाला; **प्राणमयः आत्मा**=प्राणमय पुरुष है; **तेन**=उससे; **एषः**=यह (अन्न-रसमय पुरुष); **पूर्णः**=व्याप्त है; **सः**=वह; **एषः**=यह प्राणमय आत्मा; **वै**=निश्चय ही; **पुरुषविधः एव**=पुरुषके आकारका ही है; **तस्य**=उस (अन्न-रसमय) आत्माकी; **पुरुषविधताम्**=पुरुषतुल्य आकृतिमें; **अनु**=अनुगत (व्याप्त) होनेसे ही; **अयम्**=यह; **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका है; **तस्य**=उस (प्राणमय आत्मा) का; **प्राणः**=प्राण; **एव**=ही; **शिरः**=(मानो) सिर है; **व्यानः**=व्यान; **दक्षिणः**=दाहिना; **पक्षः**=पंख है; **अपानः**=अपान; **उत्तरः**=बायाँ; **पक्षः**=पंख है; **आकाशः**=आकाश; **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है; (और) **पृथिवी**=पृथ्वी; **पुच्छम्**=पूँछ; (एवम्) **प्रतिष्ठा**=आधार है; **तत्**=उस प्राण (की महिमा) के विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह आगे बताया जानेवाला; **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—द्वितीय अनुवाकके इस दूसरे अंशमें प्राणमय शरीरका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि पूर्वोक्त अन्नके रससे बने हुए स्थूलशरीरसे भिन्न उस स्थूलशरीरके भीतर रहनेवाला एक और शरीर है, उसका नाम 'प्राणमय' है; उस प्राणमयसे यह अन्नमय शरीर पूर्ण है। अन्नमय स्थूलशरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेके कारण प्राणमय शरीर इसके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें व्याप्त है। वह यह प्राणमय शरीर भी पुरुषके आकारका ही है। अन्नमय शरीरकी पुरुषाकारता प्रसिद्ध है, उसमें अनुगत होनेसे ही यह प्राणमय कोश भी पुरुषाकार कहा जाता है। उसकी पक्षीके रूपमें कल्पना इस प्रकार है—

प्राण ही मानो उसका सिर है; क्योंकि शरीरके अङ्गोंमें जैसे मस्तक श्रेष्ठ है, उसी प्रकार पाँचों प्राणोंमें मुख्य प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है। व्यान दाहिना पंख है। अपान बायाँ पंख है। आकाश अर्थात् आकाशमें फैले हुए वायुकी भाँति सर्वशरीरव्यापी 'समान वायु' आत्मा है; क्योंकि वही समस्त शरीरमें समानभावसे रस पहुँचाकर समस्त प्राणमय शरीरको पुष्ट करता है। इसका स्थान शरीरका मध्यभाग है तथा इसीका बाह्य आकाशसे सम्बन्ध है, यह बात प्रश्नोपनिषद्के तीसरे प्रश्नोत्तरके पाँचवें और आठवें मन्त्रोंमें कही गयी है। तथा पृथ्वी पूँछ एवं आधार है अर्थात् अपानवायुको रोककर रखनेवाली पृथ्वीकी आधिदैविक शक्ति ही इस प्राणमय पुरुषका आधार है। इसका वर्णन भी प्रश्नोपनिषद्के तीसरे प्रश्नोत्तरके आठवें मन्त्रमें ही आया है।

इस प्राणकी महिमाके विषयमें आगे कहा हुआ श्लोक—मन्त्र है।

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य

ये=जो-जो; **देवाः**=देवता; **मनुष्याः**=मनुष्य; **च**=और; **पशवः**=पशु आदि प्राणी हैं; [ते=वे;] **प्राणम् अनु**=प्राणका अनुसरण करके ही; **प्राणन्ति**=चेष्टा करते अर्थात् जीवित रहते हैं; **हि**=क्योंकि; **प्राणः**=प्राण ही; **भूतानाम्**=प्राणियोंकी; **आयुः**=आयु है; **तस्मात्**=इसलिये; (यह प्राण) **सर्वायुषम्**=सबका आयु; **उच्यते**=कहलाता है; **प्राणः**=प्राण; **हि**=ही; **भूतानाम्**=प्राणियोंकी; **आयुः**=आयु—जीवन है; **तस्मात्**=इसलिये; (यह) **सर्वायुषम्**=सबका आयु; **उच्यते**=कहलाता है; **इति**=यह समझकर; **ये**=जो कोई; **प्राणम्**=प्राणकी; **ब्रह्म**=ब्रह्मरूपसे; **उपासते**=उपासना करते हैं; **ते**=वे; **सर्वम् एव**=निस्सन्देह समस्त; **आयुः**=आयुको; **यन्ति**=प्राप्त कर लेते हैं; **तस्य**=उसका; **एषः एव**=यही; **शारीरः**=शरीरमें रहनेवाला; **आत्मा**=अन्तरात्मा है; **यः**=जो; **पूर्वस्य**=पहलेवालेका अर्थात् अन्न-रसमय शरीरका अन्तरात्मा है।

व्याख्या—तृतीय अनुवाकके इस पहले अंशमें प्राणकी महिमाका वर्णन करनेवाली श्रुतिका उल्लेख करके फिर इस प्राणमय शरीरके अन्तर्यामी परमेश्वरको लक्ष्य कराया गया है। भाव यह है कि जितने भी देवता, मनुष्य, पशु आदि शरीरधारी प्राणी हैं, वे सब प्राणके सहारे ही जी रहे हैं। प्राणके बिना किसीका भी शरीर नहीं रह सकता; क्योंकि प्राण ही सब प्राणियोंकी आयु—जीवन है, इसीलिये यह प्राण 'सर्वायुष' कहलाता है। जो साधक 'यह प्राणियोंकी आयु है, इसलिये यह सबका आयु—जीवन कहलाता है' यों समझकर इस प्राणकी ब्रह्मरूपसे उपासना करते हैं, वे पूर्ण आयुको प्राप्त कर लेते हैं। प्रश्नोपनिषद्में भी कहा है कि जो मनुष्य इस प्राणके तत्त्वको जान लेता है, वह स्वयं अमर हो जाता है और उसकी प्रजा नष्ट नहीं होती (३।११)। जो सर्वात्मा परमेश्वर अन्नके रससे बने हुए स्थूलशरीरधारी पुरुषका अन्तरात्मा है, वही उस प्राणमय पुरुषका भी शरीरान्तर्वर्ती अन्तर्यामी आत्मा है।

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=यह निश्चय है कि; **तस्मात्**=उस; **एतस्मात्**=इस; **प्राणमयात्**=प्राणमय पुरुषसे; **अन्यः**=भिन्न; **अन्तरः**=उसके भीतर रहनेवाला; **मनोमयः**=मनोमय; **आत्मा**=आत्मा (पुरुष) है; **तेन**=उस मनोमय आत्मासे; **एषः**=यह प्राणमय शरीर; **पूर्णः**=व्याप्त है; **सः**=वह; **एषः**=यह मनोमय आत्मा; **वै**=निश्चय ही; **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका; **एव**=ही

है; **तस्य**=उसकी; **पुरुषविधताम् अनु**=पुरुष-तुल्य आकृतिमें अनुगत (व्याप्त) होनेसे ही; **अयम्**=यह मनोमय आत्मा; **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका है; **तस्य**=उस (मनोमय पुरुष) का; **यजुः**=यजुर्वेद; **एव**=ही; **शिरः**=(मानो) सिर है; **ऋक्**=ऋग्वेद; **दक्षिणः**=दाहिना; **पक्षः**=पंख है; **साम**=सामवेद; **उत्तरः**=बायाँ; **पक्षः**=पंख है; **आदेशः**=आदेश (विधिवाक्य); **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है; **अथर्वाङ्गिरसः**=अथर्वा और अङ्गिरा ऋषिद्वारा देखे गये अथर्ववेदके मन्त्र ही; **पुच्छम्**=पूँछ; (एवं) **प्रतिष्ठा**=आधार हैं; **तत्**=उसकी महिमाके विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह आगे कहा जानेवाला; **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—इस तृतीय अनुवाकके दूसरे अंशमें मनोमय पुरुषका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि पहले बताये हुए प्राणमय पुरुषसे भिन्न, उससे भी सूक्ष्म होनेके कारण उसके भीतर रहनेवाला दूसरा पुरुष है; उसका नाम है मनोमय। उस मनोमयसे यह प्राणमय शरीर पूर्ण है अर्थात् वह इस प्राणमय शरीरमें सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। वह यह मनोमय शरीर भी पुरुषके ही आकारका है। प्राणमय पुरुषमें अनुगत होनेसे ही यह मनोमय आत्मा पुरुषके समान आकारवाला है। उसकी पक्षीके रूपमें इस प्रकार कल्पना की गयी है—उस मनोमय पुरुषका मानो यजुर्वेद ही सिर है, ऋग्वेद दाहिना पंख है, सामवेद बायाँ पंख है, आदेश (विधिवाक्य) मानो शरीरका मध्यभाग है तथा अथर्वा और अङ्गिरा ऋषियोंद्वारा देखे हुए अथर्ववेदके मन्त्र ही पूँछ और आधार हैं।

यज्ञ आदि कर्मोंमें यजुर्वेदके मन्त्रकी ही प्रधानता है। इसके सिवा जिनके अक्षरोंकी कोई नियत संख्या न हो तथा जिसकी पाद-पूर्तिका कोई नियत नियम न हो, ऐसे मन्त्रोंको 'यजुः' छन्दके अन्तर्गत समझा जाता है। इस नियमके अनुसार जिस किसी वैदिकवाक्य या मन्त्रके अन्तमें 'स्वाहा' पद जोड़कर अग्निमें आहुति दी जाती है, वह वाक्य या मन्त्र भी 'यजुः' ही कहलायेगा। इस प्रकार यजुर्मन्त्रोंके द्वारा ही अग्निको हविष्य अर्पित किया जाता है, इसलिये वहाँ यजुः प्रधान है। अङ्गोंमें भी सिर प्रधान है, अतः यजुर्वेदको सिर बतलाना उचित ही है। वेद-मन्त्रोंके वर्ण, पद और वाक्य आदिके उच्चारणके लिये पहले मनमें ही संकल्प उठता है; अतः संकल्पात्मक वृत्तिके द्वारा मनोमय आत्माके साथ वेद-मन्त्रोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिये इन्हें मनोमय पुरुषके ही अङ्गोंमें स्थान दिया गया है। शरीरमें जो स्थान दोनों भुजाओंका है, वही स्थान मनोमय पुरुषके अङ्गोंमें ऋग्वेद और सामवेदका है। यज्ञ-यागादिमें इनके मन्त्रोंद्वारा स्तवन और गायन होता है, अतः यजुर्मन्त्रोंकी अपेक्षा ये अप्रधान हैं; फिर भी भुजाओंकी भाँति यज्ञमें विशेष सहायक हैं, अतएव इनको भुजाओंका रूप दिया गया है। आदेश (विधि)-वाक्य वेदोंके भीतर हैं; अतः उन्हें ही मनोमय पुरुषके अङ्गोंका मध्यभाग बताया गया है। अथर्ववेदमें शान्तिक-पौष्टिक आदि कर्मोंके साधक मन्त्र हैं, जो प्रतिष्ठाके हेतु हैं; अतः उनको पुच्छ एवं प्रतिष्ठा कहना सर्वथा युक्तिसंगत ही है। संकल्पात्मक वृत्तिके द्वारा मनोमय पुरुषका इन सबके साथ नित्य सम्बन्ध है, इसीलिये वेदमन्त्रोंको उसका अङ्ग बताया गया है—यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये।

इस मनोमय पुरुषकी महिमाके विषयमें भी यह आगे चतुर्थ अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

यतः=जहाँसे; **मनसा सह**=मनके सहित; **वाचः**=वाणी आदि इन्द्रियाँ; **अप्राप्य**=उसे न पाकर; **निवर्तन्ते**=लौट आती हैं; [**तस्य**] **ब्रह्मणः**=उस ब्रह्मके; **आनन्दम्**=आनन्दको; **विद्वान्**=जाननेवाला पुरुष; **कदाचन**=कभी; **न बिभेति**=भय नहीं करता; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है; **तस्य**=उस मनोमय पुरुषका भी; **एषः एव**=यही परमात्मा; **शारीरः**=शरीरान्तर्वर्ती; **आत्मा**=आत्मा है; **यः**=जो; **पूर्वस्य**=पहले बताये हुए अन्नरसमय शरीर या प्राणमय शरीरका है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाले विद्वान्‌की महिमाके साथ अर्थान्तरसे उसके मनोमय शरीरकी महिमा प्रकट की गयी है। भाव यह है कि परब्रह्म परमात्माका जो स्वरूपभूत परम आनन्द है, वहाँतक मन, वाणी आदि समस्त इन्द्रियोंके समुदायरूप मनोमय शरीरकी भी पहुँच नहीं है; परंतु ब्रह्मको पानेके लिये साधन करनेवाले मनुष्यको यह ब्रह्मके पास पहुँचानेमें विशेष सहायक है। ये मन-वाणी आदि साधनपरायण पुरुषको उन परब्रह्मके द्वारतक पहुँचाकर, उसे वहीं छोड़कर स्वयं लौट आते हैं और वह साधक उनको प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मके आनन्दमय स्वरूपको जान लेनेवाला विद्वान् कभी भयभीत नहीं होता। इस प्रकार यह मन्त्र है।

मनोमय शरीरके भी अन्तर्यामी आत्मा वे ही परमात्मा हैं, जो पूर्वोक्त अन्न-रसमय शरीर और प्राणमय शरीरके अन्तर्यामी हैं।

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=निश्चय ही; **तस्मात्**=उस पहले बताये हुए; **एतस्मात्**=इस; **मनोमयात्**=मनोमय पुरुषसे; **अन्यः**=अन्य; **अन्तरः**=इसके भीतर रहनेवाला; **आत्मा**=आत्मा; **विज्ञानमयः**=विज्ञानमय है; **तेन**=उस विज्ञानमय आत्मासे; **एषः**=यह मनोमय शरीर; **पूर्णः**=व्याप्त है; **सः**=वह; **एषः**=यह विज्ञानमय आत्मा; **वै**=निश्चय ही; **पुरुषविधः एव**=निस्संदेह पुरुषके आकारका ही है; **तस्य**=उसकी; **पुरुषविधताम् अनु**=पुरुषाकृतिमें अनुगत होनेसे ही; **अयम्**=यह विज्ञानमय आत्मा; **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका बताया जाता है; **तस्य**=उस विज्ञानमय आत्माका; **श्रद्धा**=श्रद्धा; **एव**=ही; **शिरः**=(मानो) सिर है; **ऋतम्**=सदाचारका निश्चय; **दक्षिणः**=दाहिना; **पक्षः**=पंख है; **सत्यम्**=सत्य-भाषणका निश्चय; **उत्तरः**=बायाँ; **पक्षः**=पंख है; **योगः**=(ध्यानद्वारा परमात्मामें एकाग्रतारूप) योग ही; **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है; **महः**='महः' नामसे प्रसिद्ध परमात्मा ही; **पुच्छम्**=पुच्छ; (एवं) **प्रतिष्ठा**=आधार है; **तत्**=उस विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह आगे कहा जानेवाला; **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस दूसरे अंशमें विज्ञानमय पुरुषका अर्थात् विज्ञानमय शरीरके अधिष्ठाता जीवात्माका वर्णन है। भाव यह है कि पहले बताये हुए मनोमय शरीरसे भी सूक्ष्म होनेके कारण उसके भीतर रहनेवाला जो आत्मा है, वह अन्य है। वह है विज्ञानमय पुरुष अर्थात् बुद्धिरूप गुफामें निवास करनेवाला और उसमें तदाकार-सा बना हुआ जीवात्मा। उससे यह मनोमय शरीर पूर्ण है अर्थात् वह इस मनोमय शरीरमें सर्वत्र व्याप्त है। और मनोमय अपनेसे पहले-वाले प्राणमय और अन्नमयमें व्याप्त है। अतः यह विज्ञानमय जीवात्मा समस्त शरीरमें व्याप्त है। गीतामें भी यही कहा है कि जीवात्मारूप क्षेत्रज्ञ शरीररूप क्षेत्रमें सर्वत्र स्थित है (गीता १३। ३२)। वह विज्ञानमय आत्मा भी निश्चय ही पुरुषके आकार-का है। उस मनोमय पुरुषमें व्याप्त होनेसे ही वह पुरुषाकार कहा जाता है। उस विज्ञानमयके अङ्गोंकी पक्षीके रूपमें इस प्रकार कल्पना की गयी है। श्रद्धा कहते हैं बुद्धिकी निश्चित विश्वासरूप वृत्तिको; वही उस विज्ञानात्माके शरीरमें प्रधान अङ्गरूप सिर है; क्योंकि यह दृढ़ विश्वास ही प्रत्येक विषयमें उन्नतिका कारण है। परमात्माकी प्राप्तिमें तो सबसे पहले और सबसे अधिक इसीकी आवश्यकता है। सदाचरणका निश्चय ही इसका दाहिना पंख है, सत्य-भाषणका निश्चय ही इसका बायाँ पंख है। ध्यानद्वारा परमात्माके साथ संयुक्त रहना ही विज्ञानमय शरीरका मध्यभाग है और 'महः' नामसे प्रसिद्ध* परमात्मा पुच्छ अर्थात् आधार है; क्योंकि परमात्मा ही जीवात्माका परम आश्रय है।

इस विज्ञानात्माकी महिमाके विषयमें भी यह आगे पञ्चम अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

---

* शिक्षावल्लीमें 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' और 'महः'—इन चार व्याहृतियोंमें 'महः' को ब्रह्मका स्वरूप बताया है; अतः 'महः' व्याहृति ब्रह्मका नाम है और ब्रह्मको आत्माकी प्रतिष्ठा बतलाना सर्वथा युक्तिसंगत है।

पञ्चम अनुवाक

विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुतेऽपि च । विज्ञानं देवाः सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद । तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा । सर्वान्कामान्समश्नुत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

विज्ञानम्=विज्ञान ही; **यज्ञम् तनुते**=यज्ञोंका विस्तार करता है; **च**=और; **कर्माणि अपि तनुते**=कर्मोंका भी विस्तार करता है; **सर्वे**=सब; **देवाः**=इन्द्रियरूप देवता; **ज्येष्ठम्**=सर्वश्रेष्ठ; **ब्रह्म**=ब्रह्मके रूपमें; **विज्ञानम् उपासते**=विज्ञानकी ही सेवा करते हैं; **चेत्**=यदि; (कोई) **विज्ञानम्**=विज्ञानको; **ब्रह्म**=ब्रह्मरूपसे; **वेद**=जानता है; (और) **चेत्**=यदि; **तस्मात्**=उससे; **न प्रमाद्यति**=प्रमाद नहीं करता, निरन्तर उसी प्रकार चिन्तन करता रहता है; (तो) **पाप्मनः**=(शरीराभिमानजनित) पापसमुदायको; **शरीरे**=शरीरमें ही; **हित्वा**=छोड़कर; **सर्वान्**=समस्त; **कामान् समश्नुते**=भोगोंका अनुभव करता है; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है; **तस्य**=उस विज्ञानमयका; **एषः**=यह परमात्मा; **एव**=ही; **शारीरः**=शरीरान्तर्वर्ती; **आत्मा**=आत्मा है; **यः**=जो; **पूर्वस्य**=पहलेवालेका है ।

व्याख्या—इस मन्त्रमें विज्ञानात्माकी महिमाका वर्णन और उसकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेका फल बताया गया है । भाव यह है कि यह विज्ञान अर्थात् बुद्धिके साथ तद्रूप हुआ जीवात्मा ही यज्ञोंका अर्थात् शुभ-कर्मरूप पुण्योंका विस्तार करता है और यही अन्यान्य लौकिक कर्मोंका भी विस्तार करता है । अर्थात् बुद्धिसे ही सम्पूर्ण कर्मोंको प्रेरणा मिलती है । सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और मनरूप देवता सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मके रूपमें इस विज्ञानमय जीवात्माकी ही सेवा करते हैं, अपनी-अपनी वृत्तियोंद्वारा इसीको सुख पहुँचाते रहते हैं । यदि कोई साधक इस विज्ञानस्वरूप आत्माको ही ब्रह्म समझता है और यदि यह उस धारणासे कभी च्युत नहीं होता अर्थात् उस धारणामें भूल नहीं करता या शरीर आदिमें स्थित, एकदेशीय एवं बद्धस्वरूपमें ब्रह्मका अभिमान नहीं कर लेता तो वह अनेक जन्मोंके संचित पापसमुदायको शरीरमें ही छोड़कर समस्त दिव्य भोगोंका अनुभव करता है । इस प्रकार यह श्लोक है ।

उस विज्ञानमयके भी अन्तर्यामी आत्मा वे ही परब्रह्म परमेश्वर हैं, जो पहलेवालोंके अर्थात् अन्न-रसमय स्थूलशरीरके, प्राणमयके और मनोमयके हैं ।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ।

वै=निश्चय ही; **तस्मात्**=उस पहले कहे हुए; **एतस्मात्**=इस; **विज्ञानमयात्**=विज्ञानमय जीवात्मासे; **अन्यः**=भिन्न; **अन्तरः**=इसके भी भीतर रहनेवाला आत्मा; **आनन्दमयः आत्मा**=आनन्दमय परमात्मा है; **तेन**=उससे; **एषः**=यह विज्ञानमय; **पूर्णः**=पूर्णतः व्याप्त है; **सः**=वह; **एषः**=यह आनन्दमय परमात्मा; **वै**=भी; **पुरुषविधः**=पुरुषके समान आकारवाला; **एव**=ही है; **तस्य**=उस विज्ञानमयकी; **पुरुषविधताम् अनु**=पुरुषाकारतामें अनुगत होनेसे ही; **अयम्**=यह (आनन्दमय परमात्मा); **पुरुषविधः**=पुरुषाकार कहा जाता है; **तस्य**=उस आनन्दमयका; **प्रियम्**=प्रिय; **एव**=ही; **शिरः**=(मानो) सिर है; **मोदः**=मोद; **दक्षिणः**=दाहिना; **पक्षः**=पंख है; **प्रमोदः**=प्रमोद; **उत्तरः**=बायाँ; **पक्षः**=पंख है; **आनन्दः**=आनन्द ही; **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **पुच्छम्**=पूँछ; (एवं) **प्रतिष्ठा**=आधार है; **तत्**=उसकी महिमाके विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह; **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है ।

व्याख्या—पञ्चम अनुवाकके इस दूसरे अंशमें आनन्दमय परमपुरुषका वर्णन किया गया है । भाव यह है कि पहले अंशमें कहे हुए विज्ञानमय जीवात्मासे भिन्न, उसके भी भीतर रहनेवाला एक दूसरा आत्मा है; वह है आनन्दमय परमात्मा । उससे यह विज्ञानमय पुरुष व्याप्त है अर्थात् वह इसमें भी परिपूर्ण है । बृहदारण्यक उपनिषद् (३ । ७ । २२) में भी

परमात्माको जीवात्मारूप शरीरका शासन करनेवाला और उसका अन्तरात्मा बताया है। वे ही वास्तवमें समस्त पुरुषोंसे उत्तम होनेके कारण 'पुरुष' शब्दके अभिधेय हैं। वे विज्ञानमय पुरुषके समान आकारवाले हैं। उस विज्ञानमय पुरुषमें व्याप्त होनेके कारण ही वे पुरुषाकार कहे जाते हैं। पक्षीके रूपकमें उन आनन्दमय परमेश्वरके अङ्गोंकी कल्पना इस प्रकार की गयी है। प्रियभाव उनका सिर है। तात्पर्य यह कि आनन्दमय परमात्मा सबके प्रिय हैं। समस्त प्राणी 'आनन्द' से प्रेम करते हैं, सभी 'आनन्दको' चाहते हैं, परंतु न जाननेके कारण उन्हें पा नहीं सकते। यह 'प्रियता' उन आनन्दमय परमात्मा-का एक प्रधान अंश है; अतः यही मानो उनका प्रधान अङ्ग सिर है। मोद दाहिना पंख है, प्रमोद बायाँ पंख है, आनन्द ही परमात्माका मध्य-अङ्ग है तथा स्वयं ब्रह्म ही इनकी पूँछ एवं आधार हैं। परमात्मा अवयवरहित होनेके कारण उनके स्वरूप और अङ्गोंका वर्णन वास्तविकरूपसे नहीं बन सकता। फिर ऐसी कल्पना क्यों की गयी? इसका समाधान करते हुए ब्रह्मसूत्र (३ । ३ । १२ से ३ । ३ । १४ तक) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ब्रह्मके विषयमें ऐसी कल्पना केवल उपासनाकी सुगमताके लिये की जाती है, दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकरणमें विज्ञानमयका अर्थ जीवात्मा और आनन्दमयका अर्थ परमात्मा ही लेना चाहिये, यह बात ब्रह्मसूत्र (१ । १ । १२ से १९ तकके विवेचन) में युक्तियों तथा श्रुतियोंके प्रमाणोंद्वारा सिद्ध की गयी है।

इन आनन्दमय परमात्माके विषयमें भी आगे षष्ठ अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति।

चेत्=यदि; (कोई) **ब्रह्म**=ब्रह्म; **असत्**=नहीं है; **इति**=इस प्रकार; **वेद**=समझता है; (तो) **सः**=वह; **असत्**=असत्; **एव**=ही; **भवति**=हो जाता है; (और) **चेत्**=यदि; (कोई) **ब्रह्म**=ब्रह्म; **अस्ति**=है; **इति**=इस प्रकार; **वेद**=जानता है; **ततः**=तो; [**विद्वांसः**=ज्ञानीजन;] **एनम्**=इसको; **सन्तम्**=संत—सत्पुरुष; **विदुः**=समझते हैं; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें ब्रह्मकी सत्ता माननेका और न माननेका फल बताया गया है। भाव यह है कि यदि कोई मनुष्य यह समझता है या ऐसा निश्चय करता है कि 'ब्रह्म असत् है' अर्थात् ब्रह्म या ईश्वर नामकी कोई चीज नहीं है, तो वह 'असत्' हो जाता है, अर्थात् स्वेच्छाचारी होकर सदाचारसे भ्रष्ट, नीच प्रकृतिका हो जाता है। और यदि कोई मनुष्य ब्रह्मके यथार्थ तत्त्वको न जानकर भी यह समझता है कि 'निःसंदेह ब्रह्म है', अर्थात् शास्त्र और महापुरुषोंपर दृढ़ विश्वास होनेके कारण यदि उसके मनमें ईश्वरकी सत्तापर पूरा विश्वास हो गया है, तो ऐसे मनुष्यको ज्ञानी और महापुरुष 'संत' अर्थात् सत्पुरुष समझते हैं; क्योंकि परमात्माके तत्त्वज्ञानकी पहली सीढ़ी उनकी सत्तामें विश्वास ही है। परमात्माकी सत्तामें विश्वास बना रहे तो कभी-न-कभी किन्हीं महापुरुषकी कृपासे साधनमें लगकर मनुष्य उन्हें प्राप्त भी कर सकता है।

तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

तस्य=उस (आनन्दमय) का भी; **एषः एव**=यही; **शारीरः**=शरीरान्तर्वर्ती; **आत्मा**=आत्मा है; **यः**=जो; **पूर्वस्य**=पहलेवाले (विज्ञानमय) का है।

व्याख्या—षष्ठ अनुवाकके इस दूसरे अंशमें पहलेके वर्णनानुसार आनन्दमयका अन्तरात्मा स्वयं आनन्दमयको ही बताया गया है। भाव यह है कि उन आनन्दमय ब्रह्मके वे स्वयं ही शरीरान्तर्वर्ती आत्मा हैं; क्योंकि उनमें शरीर और शरीरीका भेद नहीं है। जो पहले बताये हुए अन्न-रसमय आदि सबके अन्तर्यामी परमात्मा हैं, वे स्वयं ही अपने अन्तर्यामी हैं; उनका अन्तर्यामी कोई दूसरा नहीं है। इसीलिये इनके आगे किसी दूसरेको न बताकर उस वर्णनकी परम्पराको यहीं समाप्त कर दिया गया है।

सम्बन्ध—ऊपर कहे हुए अंशमें ब्रह्मको 'असत्' मानने और 'सत्' माननेका फल बताया गया है; उसे सुनकर प्रत्येक मनुष्यके मनमें जो प्रश्न उठ सकते हैं, उन प्रश्नोंका निर्णय करके उन ब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन करनेके लिये श्रुति स्वयं ही प्रश्न उपस्थित करती है—

अथातोऽनुप्रश्नाः । उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती ३ । आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुता ३ उ ।

अथ=इसके बाद; **अतः**=यहाँसे; **अनुप्रश्नाः**=अनुप्रश्न आरम्भ होते हैं; **उत**=क्या; **अविद्वान्**=ब्रह्मको न जाननेवाला; **कश्चन**=कोई पुरुष; **प्रेत्य**=मरकर; **अमुम् लोकम् गच्छति**=उस लोकमें (परलोकमें) जाता है; **आहो**=अथवा; **कश्चित्**=कोई भी; **विद्वान्**=ज्ञानी; **प्रेत्य**=मरकर; **अमुम्**=उस; **लोकम्**=लोकको; **समश्नुते**=प्राप्त होता है; **उ**=क्या ?

व्याख्या—अब यहाँसे अनुप्रश्न* आरम्भ करते हैं। पहला प्रश्न तो यह है कि यदि ब्रह्म हैं तो उनको न जाननेवाला कोई भी मनुष्य मरनेके अनन्तर परलोकमें जाता है या नहीं ? दूसरा यह प्रश्न है कि ब्रह्मको जाननेवाला कोई भी विद्वान् मरनेके बाद परलोकको प्राप्त होता है या नहीं ?

सम्बन्ध—इन प्रश्नोंके उत्तरमें श्रुति ब्रह्मके स्वरूप और शक्तिका वर्णन करती है तथा पहले अनुवाकमें जो संक्षेपसे सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम बताया था, उसे भी विशदरूपसे समझाया जाता है—

सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा इदꣳसर्वमसृजत यदिदं किं च । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् । यदिदं किं च । तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष श्लोको भवति ।

सः=उस परमेश्वरने; **अकामयत**=विचार किया कि; **प्रजायेय**=मैं प्रकट होऊँ; (और अनेक नाम-रूप धारण करके) **बहु**=बहुत; **स्याम् इति**=हो जाऊँ; **सः**=(इसके बाद) उसने; **तपः अतप्यत**=तप किया अर्थात् अपने संकल्पका विस्तार किया; **सः**=उसने; **तपः तप्त्वा**=इस प्रकार संकल्पका विस्तार करके; **यत्**=जो; **किम्**=कुछ; **च**=भी; **इदम्**=यह देखने और समझनेमें आता है; **इदम्**=इस; **सर्वम् असृजत**=समस्त जगत्की रचना की; **तत् सृष्ट्वा**=उस जगत्की रचना करनेके अनन्तर; **तत् एव**= (वह स्वयं) उसीमें; **अनुप्राविशत्**= साथ-साथ प्रविष्ट हो गया; **तत् अनुप्रविश्य**= उसमें साथ-साथ प्रविष्ट होनेके बाद; (वह स्वयं ही) **सत्**=मूर्त; **च**=और; **त्यत्**= अमूर्त; **च**=भी; **अभवत्**=हो गया; **निरुक्तम् च अनिरुक्तम्**=बतानेमें आनेवाले और न आनेवाले; **च**=तथा; **निलयनम्**=आश्रय देनेवाले; **च**=और;

---

* अनुप्रश्न उन प्रश्नोंको कहते हैं, जो आचार्यके उपदेशके अनन्तर किसी शिष्यके मनमें उठते हैं या जिन्हें वह उपस्थित करता है।

इस अनुवाकमें जो अनुप्रश्न पूछे गये हैं, वे दोके रूपमें तीन हैं—(१) वास्तवमें ब्रह्म हैं या नहीं ? (२) जब ब्रह्म आकाशकी भाँति सर्वगत तथा पक्षपातरहित—सम हैं, तब क्या वे अविद्वान् (अपना ज्ञान न रखनेवाले) को भी प्राप्त होते हैं या नहीं ? (३) यदि अविद्वान्को नहीं प्राप्त होते, तब तो सम होनेके कारण वे विद्वान्को भी नहीं प्राप्त होंगे; इसलिये यह तीसरा प्रश्न है कि विद्वान् पुरुष ब्रह्मका अनुभव करता है या नहीं ? इनके उत्तरमें ब्रह्मको सृष्टिका कारण बतलाकर अर्थतः उनकी सत्ता सिद्ध कर दी गयी। फिर 'तत् सत्यम् इत्याचक्षते………' इस वाक्यद्वारा श्रुतिने स्पष्टरूपसे भी उनकी सत्ताका प्रतिपादन कर दिया। सातवें अनुवाकमें तो और भी स्पष्ट वचन मिलता है—'को ह्येवान्यात् ? कः प्राण्यात् ? यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' अर्थात् यदि ये आकाशस्वरूप आनन्दमय परमात्मा न होते तो कौन जीवित रहता और कौन चेष्टा भी कर सकता ? अर्थात् प्राणियोंका जीवन और चेष्टा परमात्मापर ही निर्भर हैं। दूसरे प्रश्नके उत्तरमें सप्तम अनुवाकमें यह बात कही गयी है कि जबतक मनुष्य परमात्माको पूर्णतया नहीं जान लेता, उनमें थोड़ा-सा भी अन्तर रख लेता है, तबतक वह जन्म-मरणके भयसे नहीं छूटता। तीसरे प्रश्नके उत्तरमें आठवें अनुवाकके उपसंहारमें श्रुति स्वयं कहती है—'स य एवंवित्………आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' अर्थात् जो यह जानता है, वह क्रमशः अन्नमय, प्राणमय आदिको प्राप्त करता हुआ अन्तमें आनन्दमय परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है।'

अनिलयनम्=आश्रय न देनेवाले; **च**=तथा; **विज्ञानम्**= चेतनायुक्त; **च**=और; **अविज्ञानम्**=जड पदार्थ; **च**=तथा; **सत्यम्**=सत्य; **च**=और; **अनृतम्**=झूठ (इन सबके रूपमें); **च**=भी; **सत्यम्**=वह सत्यस्वरूप परमात्मा ही; **अभवत्**=हो गया; **यत्**=जो; **किम्**=कुछ; **च**=भी; **इदम्**=यह दिखायी देता है और अनुभवमें आता है; **तत्**=वह; **सत्यम्**=सत्य ही है; **इति**=इस प्रकार; **आचक्षते**=ज्ञानीजन कहते हैं; **तत्**=उस विषयमें; **अपि**= भी; **एषः**=यह; **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है ।

व्याख्या—सर्गके आदिमें परब्रह्म परमात्माने यह विचार किया कि मैं नानारूपमें उत्पन्न होकर बहुत हो जाऊँ । यह विचार करके उन्होंने तप किया अर्थात् जीवोंके कर्मानुसार सृष्टि उत्पन्न करनेके लिये संकल्प किया । संकल्प करके यह जो कुछ भी देखने, सुनने और समझनेमें आता है, उस जड-चेतनमय समस्त जगत्‌की रचना की, अर्थात् इसका संकल्पमय स्वरूप बना लिया । उसके बाद स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो गये । यद्यपि अपनेसे ही उत्पन्न इस जगत्‌में वे परमेश्वर पहलेसे ही प्रविष्ट थे,—यह जगत् जब उन्हींका स्वरूप है, तब उसमें उनका प्रविष्ट होना नहीं बनता,—तथापि जड-चेतनमय जगत्‌में आत्मारूपसे परिपूर्ण हुए उन परब्रह्म परमेश्वरके विशेष स्वरूप—उनके अन्तर्यामी स्वरूपका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि 'इस जगत्‌की रचना करके वे स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो गये ।' प्रविष्ट होनेके बाद वे मूर्त और अमूर्तरूपसे अर्थात् देखनेमें आनेवाले पृथ्वी, जल और तेज—इन भूतोंके रूपमें तथा वायु और आकाश—इन न दिखायी देनेवाले भूतोंके रूपमें प्रकट हो गये । फिर जिनका वर्णन किया जा सकता है और नहीं किया जा सकता, ऐसे विभिन्न नाना पदार्थोंके रूपोंमें हो गये । इसी प्रकार आश्रय देनेवाले और आश्रय न देनेवाले, चेतन और जड—इन सबके रूपमें वे एकमात्र परमेश्वर ही बहुत-से नाम और रूप धारण करके व्यक्त हो गये । वे एक सत्यस्वरूप परमात्मा ही सत्य और झूठ—इन सबके रूपमें हो गये । इसीलिये ज्ञानीजन कहते हैं कि 'यह जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आता है, वह सब-का-सब सत्यस्वरूप परमात्मा ही है ।'

इस विषयमें भी यह आगे सप्तम अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है ।

॥ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाक

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मानꣳस्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ।

अग्रे=प्रकट होनेसे पहले; **इदम्**=यह जड-चेतनात्मक जगत्; **असत्**=अव्यक्तरूपमें; **वै**=ही; **आसीत्**=था; **ततः**=उससे; **वै**=ही; **सत्**=सत् अर्थात् नामरूपमय प्रत्यक्ष जगत्; **अजायत**=उत्पन्न हुआ है; **तत्**=उसने; **आत्मानम्**=अपनेको; **स्वयम्**=स्वयं; **अकुरुत**=(इस रूपमें) प्रकट किया है; **तस्मात्**=इसीलिये; **तत्**=वह; **सुकृतम्**='सुकृत'; **उच्यते**=कहा जाता है; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है ।

व्याख्या—सूक्ष्म और स्थूलरूपमें प्रकट होनेसे पहले यह जड-चेतनमय सम्पूर्ण जगत् असत्—अर्थात् अव्यक्तरूपमें ही था; उस अव्यक्तावस्थासे ही यह सत् अर्थात् नाम-रूपमय प्रत्यक्ष जड-चेतनात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है । परमात्माने अपनेको स्वयं ही इस जड-चेतनात्मक जगत्‌के रूपमें बनाया है; इसीलिये उनका नाम 'सुकृत' (अपने-आप बने हुए)है ।*

* गीतामें कई प्रकारसे इस जड-चेतनात्मक जगत्‌का अव्यक्तसे उत्पन्न होना और उसीमें लय होना बताया गया है (गीता ८ । १८; ९ । ७; २ । २८) । परंतु भगवान् जब स्वयं अवतार लेकर लीला करनेके लिये जगत्‌में प्रकट होते हैं, तब उनका वह प्रकट होना अन्य जीवोंकी भाँति अव्यक्तसे व्यक्त होने अर्थात् कारणसे कार्यरूपमें परिवर्तित होनेके समान नहीं है; वह तो अलौकिक है । इसलिये वहाँ भगवान्‌ने कहा है कि जो मुझे अव्यक्तसे व्यक्त हुआ मानते हैं, वे बुद्धिहीन हैं (७ । २४); वहाँ जडतत्त्वों और उनके-नियमोंका प्रवेश नहीं है । भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम—सब कुछ अप्राकृत हैं, चिन्मय हैं । उनके जन्म-कर्म दिव्य हैं । भगवान्‌के प्राकट्यका रहस्य बड़े-बड़े देवता और महर्षिलोग भी नहीं जानते (गीता १० । २) ।

यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः । रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति ।

वै=निश्चय ही; **यत्**=जो; **तत्**=वह; **सुकृतम्**=सुकृत है; **सः वै**=वही; **रसः**=रस है; **हि**=क्योंकि; **अयम्**=यह (जीवात्मा); **रसम्**=इस रसको; **लब्ध्वा**=प्राप्त करके; **एव**=ही; **आनन्दी**=आनन्दयुक्त; **भवति**=होता है; **यत्**=यदि; **एषः**=यह; **आनन्दः**=आनन्दस्वरूप; **आकाशः**=आकाशकी भाँति व्यापक परमात्मा; **न स्यात्**=न होता; **हि**=तो; **कः एव**=कौन; **अन्यात्**=जीवित रह सकता; (और) **कः**=कौन; **प्राण्यात्**=प्राणोंकी क्रिया (चेष्टा) कर सकता; **हि**=निःसंदेह; **एषः**=यह परमात्मा; **एव**=ही; **आनन्दयाति**=सबको आनन्द प्रदान करता है ।

व्याख्या—ये जो ऊपरके वर्णनमें 'सुकृत' नामसे कहे गये हैं, वे परब्रह्म परमात्मा सचमुच रसस्वरूप (आनन्दमय) हैं, ये ही वास्तविक आनन्द हैं; क्योंकि अनादिकालसे जन्म-मृत्युरूप घोर दुःखका अनुभव करनेवाला यह जीवात्मा इन रसमय परब्रह्मको पाकर ही आनन्दयुक्त होता है । जबतक इन परम प्राप्य आनन्दस्वरूप परमेश्वरसे इसका संयोग नहीं हो जाता, तबतक इसे किसी भी स्थितिमें पूर्णानन्द, नित्यानन्द, अखण्डानन्द नहीं मिल सकता । इसीसे उन वास्तविक आनन्दस्वरूप परमात्माका अस्तित्व निःसंदेह सिद्ध होता है; क्योंकि यदि ये आकाशकी भाँति व्यापक आनन्द-स्वरूप परमात्मा नहीं होते तो कौन जीवित रह सकता और कौन प्राणोंकी क्रिया—हिलना-डुलना आदि कर सकता । अर्थात् समस्त प्राणी सुखस्वरूप परमात्माके ही सहारे जीते और हलन-चलन आदि चेष्टा करते हैं । इतना ही नहीं, सबके जीवन-निर्वाहकी सब प्रकारसे सुव्यवस्था करनेवाले भी वे ही हैं; अन्यथा इस जगत्‌की समस्त भौतिक क्रिया, जो नियमित और व्यवस्थितरूपसे चल रही है, कैसे हो सकती । अतः मनुष्यको यह दृढ़तापूर्वक विश्वास करना चाहिये कि इस जगत्‌के कर्ता-हर्ता परब्रह्म परमेश्वर अवश्य हैं तथा निःसंदेह ये परमात्मा ही सबको आनन्द प्रदान करते हैं । जब आनन्दस्वरूप एकमात्र परमात्मा ही हैं, तब दूसरा कौन आनन्द दे सकता है ।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति ।

हि=क्योंकि; **यदा एव**=जब कभी; **एषः**=यह जीवात्मा; **एतस्मिन्**=इस; **अदृश्ये**=देखनेमें न आनेवाले; **अनात्म्ये**=शरीररहित; **अनिरुक्ते**=बतलानेमें न आनेवाले; (और) **अनिलयने**=दूसरेका आश्रय न लेनेवाले परब्रह्म परमात्मामें; **अभयम्**=निर्भयतापूर्वक; **प्रतिष्ठाम्**=स्थिति; **विन्दते**=लाभ करता है; **अथ**=तब; **सः**=वह; **अभयम्**=निर्भयपदको; **गतः**=प्राप्त; **भवति**=हो जाता है ।

व्याख्या—क्योंकि उन परब्रह्म परमेश्वरको पानेकी अभिलाषा रखनेवाला यह जीव जब कभी देखनेमें न आनेवाले, बतलानेमें न आनेवाले और किसीके आश्रित न रहनेवाले शरीर-रहित परब्रह्म परमात्मामें निर्भय (अविचल) स्थिति लाभ करता है, उस समय वह निर्भयपदको प्राप्त हो जाता है—सदाके लिये भय एवं शोकसे रहित हो जाता है ।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नु दरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति । तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य । तदप्येष श्लोको भवति ।

हि=क्योंकि; **यदा एव**=जबतक; **एषः**=यह; **उ दरम्**=थोड़ा-सा; **वै**=भी; **एतस्मिन् अन्तरम्**=इस परमात्मासे वियोग; **कुरुते**=किये रहता है; **अथ**=तबतक; **तस्य**=उसको; **भयम्**=जन्म-मृत्युरूप भय; **भवति**=प्राप्त होता है; **तु**=तथा; **तत् एव**=वही; **भयम्**=भय; (केवल मूर्खको ही नहीं होता, किंतु) **मन्वानस्य**=अभिमानी; **विदुषः**=शास्त्रज्ञ विद्वान्‌को भी अवश्य होता है; **तत्**=उसके विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह (आगे कहा हुआ); **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है ।

व्याख्या—क्योंकि जबतक यह जीवात्मा उन परब्रह्म परमात्मासे थोड़ा-सा भी अन्तर किये रहता है—उनमें पूर्ण स्थिति लाभ नहीं कर लेता या उनका निरन्तर स्मरण नहीं करता—उन्हें थोड़ी देरके लिये भी भूल जाता है, तबतक उसके

लिये भय है, अर्थात् उसका पुनर्जन्म होना सम्भव है; क्योंकि जिस समय उसकी परमात्मामें स्थिति नहीं है, वह भगवान्को भूला हुआ है, उसी समय यदि उसकी मृत्यु हो गयी तो फिर उसका अन्तिम संस्कारके अनुसार जन्म होना निश्चित है। क्योंकि भगवान्ने गीतामें कहा है—'जिस-जिस भावको स्मरण करता हुआ मनुष्य अन्तकालमें शरीर छोड़ता है, उसीके अनुसार उसे जन्म ग्रहण करना पड़ता है (८ । ६) ।' और मृत्यु प्रारब्धके अनुसार किसी क्षण भी आ सकती है। इसीलिये योगभ्रष्टका पुनर्जन्म होनेकी बात गीतामें कही गयी है (६ । ४०-४२) । जबतक परमात्मामें पूर्ण स्थिति नहीं हो जाती अथवा जबतक भगवान्का निरन्तर स्मरण नहीं होता, तबतक यह पुनर्जन्मका भय—जन्म-मृत्युका भय सभीके लिये बना हुआ है—चाहे कोई बड़े-से-बड़ा शास्त्रज्ञ विद्वान् क्यों न हो, चाहे कोई अपनेको बड़े-से-बड़ा ज्ञानी अथवा पण्डित क्यों न माने। वे परमेश्वर सबपर शासन करनेवाले हैं, उन्हींकी शासन-शक्तिसे जगत्की सारी व्यवस्था नियमितरूपसे चल रही है। इसी विषयपर यह आगे अष्टम अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

सम्बन्ध—पिछले अनुवाकमें जिस श्लोकका लक्ष्य कराया गया था, उसका उल्लेख करते हैं—

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति।

अस्मात् भीषा=इसीके भयसे; **वातः**=पवन; **पवते**=चलता है; **भीषा**=(इसीके) भयसे; **सूर्यः**=सूर्य; **उदेति**=उदय होता है; **अस्मात् भीषा**=इसीके भयसे; **अग्निः**=अग्नि; **च**=और; **इन्द्रः**=इन्द्र; **च**=और; **पञ्चमः**=पाँचवाँ; **मृत्युः**=मृत्यु; **धावति**=(ये सब) अपना-अपना कार्य करनेमें प्रवृत्त हो रहे हैं; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या—इन परब्रह्म परमेश्वरके भयसे ही पवन नियमानुसार चलता है, इन्हींके भयसे सूर्य ठीक समयपर उदय होता है और ठीक समयपर अस्त होता है तथा इन्हींके भयसे अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु—ये सब अपना-अपना कार्य नियम-पूर्वक सुव्यवस्थितरूपसे कर रहे हैं। यदि इन सबकी सुव्यवस्था करनेवाला इन सबका प्रेरक कोई न हो तो जगत्के सारे काम कैसे चलें। इससे सिद्ध होता है कि इन सबको बनानेवाला, सबको यथायोग्य नियममें रखनेवाला कोई एक सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा अवश्य हैं और वे मनुष्यको अवश्य मिल सकते हैं *।

सम्बन्ध—उन आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्माका वह आनन्द कितना और कैसा है, इस जिज्ञासापर आनन्दविषयक विचार आरम्भ किया जाता है—

सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।

सा=वह; **एषा**=यह; **आनन्दस्य**=आनन्दसम्बन्धी; **मीमांसा**=विचार; **भवति**=आरम्भ होता है; **युवा**=कोई युवक; **स्यात्**=हो; (वह भी ऐसा-वैसा नहीं,) **साधुयुवा**=श्रेष्ठ आचरणोंवाला युवक हो; (तथा) **अध्यायकः**=वेदोंका अध्ययन कर चुका हो; **आशिष्ठः**=शासनमें अत्यन्त कुशल हो; **द्रढिष्ठः**=उसके सम्पूर्ण अङ्ग और इन्द्रियाँ सर्वथा दृढ़ हों; (तथा) **बलिष्ठः**=वह सब प्रकारसे बलवान् हो; **तस्य**=(फिर) उसे; **इयम्**=यह; **वित्तस्य पूर्णा**=धनसे परिपूर्ण; **सर्वा**=सब-की-सब; **पृथिवी**=पृथ्वी; **स्यात्**=प्राप्त हो जाय; (तो) **सः**=वह; **मानुषः**=मनुष्यलोकका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है।

व्याख्या—इस वर्णनमें उस आनन्दका विचार आरम्भ करनेकी सूचना देकर सर्वप्रथम मनुष्य-लोकके भोगोंसे मिल सकनेवाले बड़े-से-बड़े आनन्दकी कल्पना की गयी है। भाव यह है कि एक मनुष्य युवा हो; वह भी ऐसा-वैसा

* इसी भावकी श्रुति कठोपनिषद्में भी आयी है (२ । ३ । २) ।

मामूली युवक नहीं—सदाचारी, अच्छे स्वभाववाला, अच्छे कुलमें उत्पन्न श्रेष्ठ पुरुष हो; उसे सम्पूर्ण वेदोंकी शिक्षा मिली हो तथा शासनमें—ब्रह्मचारियोंको सदाचारकी शिक्षा देनेमें अत्यन्त कुशल हो; उसके सम्पूर्ण अङ्ग और इन्द्रियाँ रोगरहित, समर्थ और सुदृढ़ हों और वह सब प्रकारके बलसे सम्पन्न हो। फिर धन-सम्पत्तिसे भरी यह सम्पूर्ण पृथ्वी उसके अधिकारमें आ जाय, तो यह मनुष्यका एक बड़े-से-बड़ा सुख है। वह मानव-लोकका एक सबसे महान् आनन्द है।

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे; **ये**=जो; **मानुषाः**=मनुष्यलोक-सम्बन्धी; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **मनुष्यगन्धर्वाणाम्**=मानव-गन्धर्वोंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द होता है; **अकामहतस्य**=जिसका अन्तःकरण भोगोंकी कामनाओंसे दूषित नहीं हुआ है, ऐसे; **श्रोत्रियस्य**=वेदवेत्ता पुरुषका; **च**=भी (वह स्वाभाविक आनन्द है)।

व्याख्या—जो मनुष्य-योनिमें उत्तम कर्म करके गन्धर्वभावको प्राप्त हुए हैं, उनको 'मनुष्य-गन्धर्व' कहते हैं। यहाँ इनके आनन्दको उपर्युक्त मनुष्यके आनन्दसे सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि जिस मनुष्य-सम्बन्धी आनन्दका पहले वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर आनन्दकी जो एक राशि होती है, उतना मनुष्य-गन्धर्वोंका एक आनन्द है। परंतु जो पहले बताये हुए मनुष्यलोकके भोगोंकी और इस गन्धर्वलोकके भोगोंतककी कामनासे दूषित नहीं है, इन सबसे सर्वथा विरक्त है, उस श्रोत्रिय—वेदज्ञ पुरुषको तो वह आनन्द स्वभावसे ही प्राप्त है।

ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **मनुष्यगन्धर्वाणाम्**=मनुष्य-गन्धर्वोंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **देवगन्धर्वाणाम्**=देवजातीय गन्धर्वोंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=तथा; (वही) **अकामहतस्य**=कामनाओंसे अदूषित चित्तवाले; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को भी स्वभावतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें पहले बताये हुए मनुष्य-गन्धर्वोंकी अपेक्षा देव-गन्धर्वोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि जिस मनुष्य-गन्धर्वके आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी राशि होती है, उतना सृष्टिके आरम्भसे देवजातीय गन्धर्वरूपमें उत्पन्न हुए जीवोंका एक आनन्द है। तथा जो मनुष्य इस आनन्दकी कामनासे आहत नहीं हुआ है, अर्थात् जिसको इसकी आवश्यकता नहीं है, तथा जो वेदके उपदेशको हृदयङ्गम कर चुका है, ऐसे विद्वान्‌को वह आनन्द स्वभावतः प्राप्त है।

ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **देवगन्धर्वाणाम्**=देवजातीय गन्धर्वोंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **चिरलोकलोकानाम्**=चिरस्थायी पितृलोकको प्राप्त हुए; **पितॄणाम्**=पितरोंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=भोगोंके प्रति निष्काम; **श्रोत्रियस्य**=वेदज्ञ पुरुषको स्वतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें देवगन्धर्वोंके आनन्दकी अपेक्षा चिरस्थायी पितृलोकको प्राप्त दिव्य पितरोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि देव-गन्धर्वोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर आनन्दकी जो एक राशि होती है, उतना चिरस्थायी पितृलोकमें रहनेवाले दिव्य पितरोंका एक आनन्द है। तथा जो उस लोकके भोग-सुखकी कामनासे आहत नहीं है अर्थात् जिसको उसकी आवश्यकता ही नहीं रही है, उस श्रोत्रियको—वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्तको वह आनन्द स्वतः ही प्राप्त है।

ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **चिरलोकलोकानाम्**=चिरस्थायी पितृलोकको प्राप्त हुए; **पितॄणाम्**=पितरोंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **आजानजानाम्**=आजानज नामक; **देवानाम्**=देवताओंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह आनन्द) **अकामहतस्य**=उस लोकतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को स्वभावतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें चिरस्थायी लोकोंमें रहनेवाले दिव्य पितरोंके आनन्दकी अपेक्षा 'आजानज' नामक देवोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है । भाव यह है कि चिरस्थायी लोकोंमें रहनेवाले दिव्य पितरोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंकी मात्राको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना 'आजानज' नामक देवताओंका एक आनन्द है । देवलोकके एक विशेष स्थानका नाम 'आजान' है; जो लोग स्मृतियोंमें प्रतिपादित किन्हीं पुण्यकर्मोंके कारण वहाँ उत्पन्न हुए हैं, उन्हें 'आजानज' कहते हैं । जो उस लोकतकके भोगोंकी कामनासे आहत नहीं है, अर्थात् जो उस आनन्दको भी तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो गया है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्त पुरुषके लिये तो वह आनन्द स्वभावसिद्ध है ।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **आजानजानाम्**=आजानज नामक; **देवानाम्**=देवोंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **कर्मदेवानाम् देवानाम्**=(उन) कर्मदेव नामक देवताओंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **ये**=जो; **कर्मणा**=वेदोक्त कर्मोंसे; **देवान्**=देवभावको; **अपियन्ति**=प्राप्त हुए हैं; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=उस लोकतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को तो स्वतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें आजानज देवोंके आनन्दकी अपेक्षा कर्मदेवोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है । भाव यह है कि आजानज देवोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना आनन्द जो वेदोक्त कर्मोंद्वारा मनुष्यसे देवभावको प्राप्त हुए हैं, उन कर्मदेवताओंका आनन्द है । जो उन कर्मदेवताओंतकके आनन्दकी कामनासे आहत नहीं है अर्थात् जिसको देवलोकतकके भोगोंकी इच्छा नहीं रही है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्त पुरुषके लिये तो वह आनन्द स्वभावसिद्ध है ।

ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **कर्मदेवानाम् देवानाम्**=कर्मदेव नामक देवताओंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **देवानाम्**=देवताओंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=उस लोकतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को तो स्वभावतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें कर्मदेवोंकी अपेक्षा सृष्टिके आदिकालमें जिन स्थायी देवोंकी उत्पत्ति हुई है, उन स्वभावसिद्ध देवोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है । भाव यह है कि कर्मदेवोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना उन स्वभावसिद्ध देवताओंका एक आनन्द है । जो उन स्वभावसिद्ध देवताओंके भोगानन्दकी कामनासे आहत नहीं है, अर्थात् उसकी भी जिसको कामना नहीं है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले निष्काम विरक्तके लिये तो वह आनन्द स्वभावसिद्ध ही है ।

ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते=वे; **ये**=जो; **देवानाम्**=देवताओंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **इन्द्रस्य**=इन्द्रका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=इन्द्रतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=वेदवेत्ताको स्वतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें पहले बताये हुए स्वभावसिद्ध देवोंके आनन्दकी अपेक्षा इन्द्रके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि देवताओंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना इन्द्रभावको प्राप्त देवताका एक आनन्द है। जो इन्द्रके भोगानन्दकी कामनासे आहत नहीं हुआ है, अर्थात् जिसको इन्द्रके सुखकी भी आकाङ्क्षा नहीं है—जो उसे भी तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो गया है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले निष्काम पुरुषको तो वह आनन्द स्वतः प्राप्त है।

ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे; **ये**=जो; **इन्द्रस्य**=इन्द्रके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **बृहस्पतेः**=बृहस्पतिका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=बृहस्पतितकके भोगोंमें निःस्पृह; **श्रोत्रियस्य**=वेदवेत्ताको स्वतःप्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें इन्द्रके आनन्दकी अपेक्षा बृहस्पतिके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि इन्द्रके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना बृहस्पतिके पदको प्राप्त हुए देवताका एक आनन्द है। परंतु जो मनुष्य बृहस्पतिके भोगानन्दकी कामनासे भी आहत नहीं है, उस भोगानन्दको भी अनित्य होनेके कारण जो तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो चुका है, उस वेदके रहस्यको जाननेवाले निष्काम मनुष्यको वह आनन्द स्वतःप्राप्त है।

ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे; **ये**=जो; **बृहस्पतेः**=बृहस्पतिके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **प्रजापतेः**=प्रजापतिका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=प्रजापतितकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=वेदवेत्ता पुरुषको स्वतःप्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें बृहस्पतिके आनन्दकी अपेक्षा प्रजापतिके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि बृहस्पतिके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना प्रजापतिके पदपर आरूढ़ देवताका एक आनन्द है। परंतु जो मनुष्य इस प्रजापतिके भोगानन्दकी कामनासे भी आहत नहीं है, अर्थात् उससे भी जो विरक्त हो चुका है, उस वेदके रहस्यको जाननेवाले निष्काम मनुष्यको तो वह आनन्द स्वभावसे ही प्राप्त है।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे; **ये**=जो; **प्रजापतेः**=प्रजापतिके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **ब्रह्मणः**=ब्रह्माका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=ब्रह्मलोकतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को स्वभावतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें प्रजापतिके आनन्दसे भी हिरण्यगर्भ ब्रह्माके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि प्रजापतिके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो एक आनन्दकी राशि होती है, उतना सृष्टिके आरम्भमें सबसे पहले उत्पन्न होनेवाले हिरण्यगर्भ ब्रह्माका एक आनन्द है। तथा जो मनुष्य उस ब्रह्माके पदसे प्राप्त भोग-सुखकी कामनासे भी आहत नहीं है, अर्थात् जो उसे भी अनित्य और तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो गया है, जिसको एकमात्र परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त करनेकी ही उत्कट अभिलाषा है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्त पुरुषको वह आनन्द स्वतःप्राप्त है।

इस प्रकार यहाँ एकसे दूसरे आनन्दकी अधिकताका वर्णन करते-करते सबसे बढ़कर हिरण्यगर्भके आनन्दको बताकर यह भाव दिखाया गया है कि इस जगत्‌में जितने प्रकारके जो-जो आनन्द देखने, सुनने तथा समझनेमें आ सकते हैं, वे चाहे

कितने ही बड़े क्यों न हों, उस पूर्णानन्दस्वरूप परमात्माके आनन्दकी तुलनामें बहुत ही तुच्छ हैं। बृहदारण्यकमें कहा भी है कि 'समस्त प्राणी इसी परमात्मसम्बन्धी आनन्दके किसी एक अंशको लेकर ही जीते हैं (४ । ३ । ३२)।'

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः। स य एवंविदस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति।

सः=वह (परमात्मा); **यः**=जो; **अयम्**=यह; **पुरुषे**=मनुष्यमें; **च**=और; **यः**=जो; **असौ**=वह; **आदित्ये च**=सूर्यमें भी है; **सः**=वह (सबका अन्तर्यामी); **एकः**=एक ही है; **यः**=जो; **एवंवित्**=इस प्रकार जाननेवाला है; **सः**=वह; **अस्मात् लोकात्**=इस लोकसे; **प्रेत्य**=विदा होकर; **एतम्**=इस; **अन्नमयम्**=अन्नमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त हो जाता है; **एतम्**=इस; **प्राणमयम्**=प्राणमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **एतम्**=इस; **मनोमयम्**=मनोमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **एतम्**=इस; **विज्ञानमयम्**=विज्ञानमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **एतम्**=इस; **आनन्दमयम्**=आनन्दमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **तत्**=उसके विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह (आगे कहा गया); **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—ऊपर बताये हुए समस्त आनन्दोंके एकमात्र केन्द्र परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही सबके अन्तर्यामी हैं। जो परमात्मा मनुष्योंमें हैं, वे ही सूर्यमें भी हैं। वे सबके अन्तर्यामी एक ही हैं। जो इस प्रकार जान लेता है, वह मरनेपर इस मनुष्य-शरीरको छोड़कर उस पहले बताये हुए अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि इन पाँचोंके जो आत्मा हैं, ये पाँचों जिनके स्वरूप हैं, उन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। पहले इन पाँचोंका वर्णन करते समय सबका शरीरान्तर्वर्ती आत्मा अन्तर्यामी परमात्माको ही बतलाया था। फलरूपमें उन्हींकी प्राप्ति होती है और वे ही ब्रह्म हैं—यह बतानेके लिये ही यहाँ पाँचोंको क्रमसे प्राप्त होनेकी बात कही गयी है। वास्तवमें इस क्रमसे प्राप्त होनेकी बात यहाँ नहीं कही गयी है; क्योंकि अन्नमय मनुष्य-शरीरको तो वह पहलेसे प्राप्त था ही, उसे छोड़कर जानेके बाद प्राप्त होनेवाला फल परमात्मा है, शरीर नहीं। अतः यहाँ अन्नमय आदिके अन्तर्यामी परमात्माकी ही प्राप्ति बतायी गयी है। इसलिये इन सबमें परिपूर्ण, सर्वरूप, सबके आत्मा, परम आनन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त हो जाना ही इस फलश्रुतिका तात्पर्य है। इसके विषयमें आगे नवम अनुवाकमें कहा जानेवाला यह श्लोक भी है।

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥ ८ ॥

नवम अनुवाक

सम्बन्ध—आठवें अनुवाकमें जिस श्लोक (मन्त्र) को लक्ष्य कराया गया है, उसका उल्लेख किया जाता है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।

मनसा सह=मनके सहित; **वाचः**=वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ; **यतः**=जहाँसे; **अप्राप्य**=उसे न पाकर; **निवर्तन्ते**=लौट आती हैं; **[तस्य] ब्रह्मणः**=उस ब्रह्मके; **आनन्दम्**=आनन्दको; **विद्वान्**=जाननेवाला (महापुरुष); **कुतश्चन**=किसीसे भी; **न बिभेति**=भय नहीं करता; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें परब्रह्म परमात्माके परमानन्दस्वरूपको जाननेका फल बताया गया है। भाव यह है कि मनके सहित सभी इन्द्रियाँ जहाँसे उसे न पाकर लौट आती हैं—जिस ब्रह्मानन्दको जाननेकी इन मन और इन्द्रियोंकी शक्ति नहीं है, परब्रह्म परमात्माके उस आनन्दको जाननेवाला ज्ञानी महापुरुष कभी किसीसे भी भय नहीं करता, वह सर्वथा निर्भय हो जाता है। इस प्रकार इस श्लोकका तात्पर्य है।

एतꣳह वाव न तपति । किमहꣳसाधु नाकरवम् । किमहं पापमकरवमिति । स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते । उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते । य एवं वेद । इत्युपनिषत् ।

ह वाव= यह प्रसिद्ध ही है कि; **एतम्**= उस (महापुरुष) को; (यह बात) **न तपति**= चिन्तित नहीं करती कि; **अहम्**= मैंने; **किम्**= क्यों; **साधु**= श्रेष्ठ कर्म; **न**= नहीं; **अकरवम्**= किया; **किम्**= (अथवा) क्यों; **अहम्**= मैंने; **पापम्**= पापाचरण; **अकरवम् इति**= किया; **यः**= जो; **एते**= इन पुण्य-पापकर्मोंको; **एवम्**= इस प्रकार (संतापका हेतु); **विद्वान्**= जाननेवाला है; **सः**= वह; **आत्मानम् स्पृणुते**= आत्माकी रक्षा करता है; **हि**= अवश्य ही; **यः**= जो; **एते**= इन पुण्य और पाप; **उभे एव**= दोनों ही कर्मोंको; **एवं**= इस प्रकार (संतापका हेतु); **वेद**= जानता है; **[सः] एषः**= वह यह पुरुष; **आत्मानम् स्पृणुते**= आत्माकी रक्षा करता है; **इति**= इस प्रकार; **उपनिषत्**= उपनिषद् (की ब्रह्मानन्दवल्ली) पूरी हुई ।

व्याख्या—इस वर्णनमें यह बात कही गयी है कि ज्ञानी महापुरुषको किसी प्रकारका शोक नहीं होता । भाव यह है कि परमात्माको ऊपर बताये अनुसार जाननेवाला विद्वान् कभी इस प्रकार शोक नहीं करता कि 'क्यों मैंने श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण नहीं किया, अथवा क्यों मैंने पाप-कर्म किया ।' उसके मनमें पुण्य-कर्मोंके फलस्वरूप उत्तम लोकोंकी प्राप्तिका लोभ नहीं होता और उसे पापजनित नरकादिका भय भी नहीं सताता । लोभ और भयजनित संतापसे वह ऊँचा उठ जाता है । उक्त ज्ञानी महापुरुष आसक्तिपूर्वक किये हुए पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंको जन्म-मरणरूप संतापका हेतु समझकर उनके प्रति राग-द्वेषसे सर्वथा रहित हो जाता है और परमात्माके चिन्तनमें संलग्न रहकर आत्माकी रक्षा करता है ।

इस मन्त्रमें कुछ शब्दोंको अक्षरशः अथवा अर्थतः दुहराकर इस वल्लीके उपसंहारकी सूचना दी गयी है ।

॥ नवम अनुवाक समाप्त ॥ ९ ॥

॥ ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्त ॥ २ ॥

ॐ
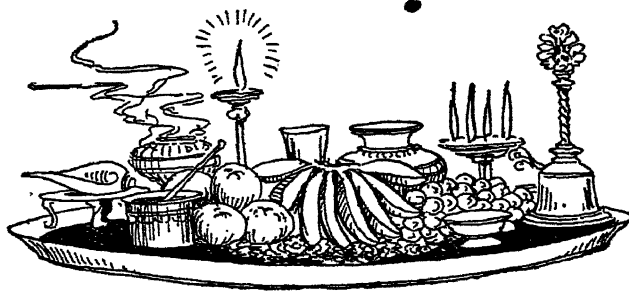
भृगुवल्ली*

प्रथम अनुवाक

भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । तꣳहोवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।

वै=यह प्रसिद्ध है कि; **वारुणिः**=वरुणका पुत्र; **भृगुः**=भृगु; **पितरम्**=अपने पिता; **वरुणम् उपससार**=वरुणके पास गया (और विनयपूर्वक बोला—); **भगवः**=भगवन् ; (मुझे) **ब्रह्म अधीहि**=ब्रह्मका उपदेश कीजिये; **इति**=इस प्रकार प्रार्थना करनेपर; **तस्मै**=उससे; (वरुणने) **एतत्**=यह; **प्रोवाच**=कहा; **अन्नम्**=अन्न; **प्राणम्**=प्राण; **चक्षुः**=नेत्र; **श्रोत्रम्**=श्रोत्र; **मनः**=मन; (और) **वाचम्**=वाणी; **इति**=इस प्रकार (ये सब ब्रह्मकी उपलब्धिके द्वार हैं); **तम् ह उवाच**=पुनः (वरुणने) उससे कहा; **वै**=निश्चय ही; **इमानि**=ये सब प्रत्यक्ष दीखनेवाले; **भूतानि**=प्राणी; **यतः**=जिससे; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **येन**=जिसके सहारे; **जीवन्ति**=जीवित रहते हैं; (तथा) **प्रयन्ति**=(अन्तमें इस लोकसे) प्रयाण करते हुए; **यत् अभिसंविशन्ति**=जिसमें प्रवेश करते हैं; **तत्**=उसको; **विजिज्ञासस्व**=तत्त्वसे जाननेकी इच्छा कर; **तत्**=वही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार (पिताकी बात सुनकर); **सः**=उसने; **तपः अतप्यत**= तप किया; **सः**=उसने; **तपः तप्त्वा**= तप करके—

व्याख्या—भृगु नामसे प्रसिद्ध एक ऋषि थे, जो वरुणके पुत्र थे । उनके मनमें परमात्माको जानने और प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषा हुई, तब वे अपने पिता वरुणके पास गये । उनके पिता वरुण वेदको जाननेवाले, ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष थे; अतः भृगुको किसी दूसरे आचार्यके पास जानेकी आवश्यकता नहीं हुई । अपने पिताके पास जाकर भृगुने इस प्रकार प्रार्थना की–'भगवन् ! मैं ब्रह्मको जानना चाहता हूँ, अतः आप कृपा करके मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये ।' तब वरुणने भृगुसे कहा—'तात ! अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी—ये सभी ब्रह्मकी उपलब्धिके द्वार हैं । इन सबमें ब्रह्मकी सत्ता स्फुरित हो रही है ।' साथ ही यह भी कहा—'ये प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले सब प्राणी जिनसे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिनके सहयोगसे, जिनका बल पाकर ये सब जीते हैं—जीवनोपयोगी क्रिया करनेमें समर्थ होते हैं और महाप्रलयके समय जिनमें विलीन हो जाते हैं, उनको वास्तवमें जाननेकी (पानेकी) इच्छा कर । वे ही ब्रह्म हैं ।' इस प्रकार पिताका उपदेश पाकर भृगु ऋषिने ब्रह्मचर्य और शम-दम आदि नियमोंका पालन करते हुए तथा समस्त भोगोंके त्यागपूर्वक संयमसे रहते हुए पिताके उपदेशपर विचार किया । यही उनका तप था । इस प्रकार तप करके उन्होंने क्या किया, यह बात अगले अनुवाकमें कही गयी है ।

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाक

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तꣳहोवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।

---

* वरुणने अपने पुत्र भृगु ऋषिको जिस ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था, उसीका इस वल्लीमें वर्णन है; इस कारण इसका नाम भृगुवल्ली है ।

अन्नम्=अन्न; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार; **व्यजानात्**=जाना; **हि**=क्योंकि; **खलु**=सचमुच; **अन्नात्**=अन्नसे; **एव**=ही; **इमानि**=ये सब; **भूतानि**=प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **अन्नेन**=अन्नसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं; (और) **प्रयन्ति**=(अन्तमें यहाँसे) प्रयाण करते हुए; **अन्नम् अभिसंविशन्ति**=अन्नमें ही प्रविष्ट होते हैं; **इति**=इस प्रकार; **तत्**=उसको; **विज्ञाय**=जानकर; (वह) **पुनः**=पुनः; **पितरम्**=अपने पिता; **वरुणम् एव उपससार**=वरुणके ही पास गया; (तथा अपनी समझी हुई बात उसने पिताको सुनायी; किंतु पिताने उसका समर्थन नहीं किया। तब वह बोला—) **भगवः**=भगवन्; (मुझे) **ब्रह्म अधीहि**=ब्रह्मका बोध कराइये; **इति**=तब; **तम् ह उवाच**=उससे सुप्रसिद्ध वरुण ऋषिने कहा; **तपसा**=तपसे; **ब्रह्म**=ब्रह्मको; **विजिज्ञासस्व**=तत्त्वतः जाननेकी इच्छा कर; **तपः**=तप ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**= इस प्रकार (पिताकी आज्ञा पाकर); **सः**=उसने; **तपः अतप्यत**=(पुनः) तप किया; **सः**=उसने; **तपः तप्त्वा**=तप करके—

व्याख्या—भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि अन्न ही ब्रह्म है; क्योंकि पिताजीने ब्रह्मके जो लक्षण बताये थे, वे सब अन्नमें पाये जाते हैं। समस्त प्राणी अन्नसे—अन्नके परिणामभूत वीर्यसे उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही उनका जीवन सुरक्षित रहता है और मरनेके बाद अन्नस्वरूप इस पृथ्वीमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार निश्चय करके वे पुनः अपने पिता वरुणके पास आये। आकर अपने निश्चयके अनुसार उन्होंने सब बातें कहीं। पिताने कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने सोचा—'इसने अभी ब्रह्मके स्थूल रूपको ही समझा है, वास्तविक रूपतक इसकी बुद्धि नहीं गयी; अतः इसे तपस्या करके अभी और विचार करनेकी आवश्यकता है। पर जो कुछ इसने समझा है, उसमें इसकी तुच्छबुद्धि कराकर अश्रद्धा उत्पन्न कर देनेमें भी इसका हित नहीं है; अतः इसकी बातका उत्तर न देना ही ठीक है।' पितासे अपनी बातका समर्थन न पाकर भृगुने फिर प्रार्थना की—'भगवन्! यदि मैंने ठीक नहीं समझा हो तो आप मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये।' तब वरुणने कहा—'तू तपके द्वारा ब्रह्मके तत्त्वको समझनेकी कोशिश कर। यह तप ब्रह्मका ही स्वरूप है, अतः यह उनका बोध करानेमें सर्वथा समर्थ है।' इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर भृगु ऋषि पुनः पहलेकी भाँति तपोमय जीवन बिताते हुए पितासे पहले सुने हुए उपदेशके अनुसार ब्रह्मका स्वरूप निश्चय करनेके लिये विचार करते रहे। इस प्रकार तप करके उन्होंने क्या किया, यह बात अगले अनुवाकमें कही गयी है।

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तँ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

प्राणः=प्राण; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार; **व्यजानात्**=जाना; **हि**=क्योंकि; **खलु**=सचमुच; **प्राणात्**=प्राणसे; **एव**=ही; **इमानि**=ये समस्त; **भूतानि**=प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **प्राणेन**=प्राणसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं; (और) **प्रयन्ति**=(अन्तमें यहाँसे) प्रयाण करते हुए; **प्राणम् अभिसंविशन्ति**=प्राणमें ही सब प्रकारसे प्रविष्ट हो जाते हैं; **इति**=इस प्रकार; **तत्**=उसे; **विज्ञाय**=जानकर; **पुनः**=फिर; **पितरम् वरुणम् एव उपससार**=(अपने) पिता वरुणके ही पास गया (और वहाँ उसने अपना निश्चय सुनाया; जब पिताने उत्तर नहीं दिया, तब वह बोला—); **भगवः**=भगवन्; (मुझे) **ब्रह्म अधीहि**=ब्रह्मका उपदेश दीजिये; **इति**=इस प्रकार प्रार्थना करनेपर; **ह तम् उवाच**=सुप्रसिद्ध वरुण ऋषिने उससे कहा; **ब्रह्म**= ब्रह्मको; **तपसा**=तपसे; **विजिज्ञासस्व**=तत्त्वतः जाननेकी इच्छा कर; **तपः**=तप ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म अर्थात् उनकी प्राप्तिका बड़ा साधन है; **इति**=इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर; **सः**=उसने; (पुनः) **तपः अतप्यत**=तप किया; **सः**=उसने; **तपः तप्त्वा**=तप करके—

व्याख्या—भृगुने पिताके उपदेशानुसार तपके द्वारा यह निश्चय किया कि प्राण ही ब्रह्म है; उन्होंने सोचा, पिताजीद्वारा बताये हुए ब्रह्मके लक्षण प्राणमें पूर्णतया पाये जाते हैं। समस्त प्राणी प्राणसे उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एक जीवित प्राणीसे उसीके सदृश दूसरा प्राणी उत्पन्न होता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है; तथा सभी प्राणसे ही जीते हैं। यदि श्वासका आना-जाना बंद हो जाय, यदि प्राणद्वारा अन्न ग्रहण न किया जाय तथा अन्नका रस समस्त शरीरमें न पहुँचाया जाय, तो कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता। और मरनेके बाद सब प्राणमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मृत शरीरमें प्राण नहीं रहते; अतः निःसंदेह प्राण ही ब्रह्म है, यह निश्चय करके वे पुनः अपने पिता वरुणके पास गये। पहलेकी भाँति अपने निश्चयके अनुसार उन्होंने पुनः पितासे अपना अनुभव निवेदन किया। पिताने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने सोचा कि यह पहलेकी अपेक्षा तो कुछ सूक्ष्मतामें पहुँचा है, परंतु अभी बहुत कुछ समझना शेष है; अतः उत्तर न देनेसे अपने-आप इसकी जिज्ञासामें बल आयेगा, अतः उत्तर न देना ही ठीक है। पिताजीसे अपनी बातका समर्थन न पाकर भृगुने फिर उनसे प्रार्थना की—'भगवन्! यदि अब भी मैंने ठीक न समझा हो तो आप ही कृपा करके मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये।' तब वरुणने पुनः वही बात कही—'तू तपके द्वारा ब्रह्मको जाननेकी चेष्टा कर; यह तप ही ब्रह्म है, अर्थात् ब्रह्मके तत्त्वको जाननेका प्रधान साधन है।' इस प्रकार पिताजीकी आज्ञा पाकर भृगु ऋषि फिर उसी प्रकार तपस्या करते हुए पिताके उपदेशपर विचार करते रहे। तपस्या करके उन्होंने क्या किया, यह अगले अनुवाकमें बताया गया है।

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

मनः=मन; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार; **व्यजानात्**=समझा; **हि**=क्योंकि; **खलु**=सचमुच; **मनसः**=मनसे; **एव**=ही; **इमानि**=ये समस्त; **भूतानि**=प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **मनसा**=मनसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं; (तथा) **प्रयन्ति**=(इस लोकसे) प्रयाण करते हुए; (अन्तमें) **मनः अभिसंविशन्ति**=मनमें ही सब प्रकारसे प्रविष्ट हो जाते हैं; **इति**=इस प्रकार; **तत्**=उस ब्रह्मको; **विज्ञाय**=जानकर; **पुनः एव**=फिर भी; **पितरम्**=अपने पिता; **वरुणम् उपससार**=वरुणके पास गया (और अपनी बातका कोई उत्तर न पाकर बोला—); **भगवः**=भगवन्; (मुझे) **ब्रह्म अधीहि**=ब्रह्मका उपदेश दीजिये; **इति**=इस प्रकार (प्रार्थना करनेपर); **ह तम् उवाच**=सुप्रसिद्ध वरुण ऋषिने उससे कहा; **ब्रह्म**=ब्रह्मको; **तपसा**=तपसे; **विजिज्ञासस्व**=तत्त्वतः जाननेकी इच्छा कर; **तपः**=तप ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर; **सः**=उसने; **तपः अतप्यत**=तप किया; **सः**=उसने; **तपः तप्त्वा**=तप करके—

व्याख्या—इस बार भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि मन ही ब्रह्म है; क्योंकि उन्होंने सोचा, पिताजीके बताये हुए ब्रह्मके सारे लक्षण मनमें पाये जाते हैं। मनसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं—स्त्री और पुरुषके मानसिक प्रेमपूर्ण सम्बन्धसे ही प्राणी बीजरूपसे माताके गर्भमें आकर उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मनसे ही इन्द्रियोंद्वारा समस्त जीवनोपयोगी वस्तुओंका उपभोग करके जीवित रहते हैं और मरनेके बाद मनमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं—मरनेके बाद इस शरीरमें प्राण और इन्द्रियाँ नहीं रहतीं; इसलिये मन ही ब्रह्म है। इस प्रकार निश्चय करके वे पुनः पहलेकी भाँति अपने पिता वरुणके पास गये और अपने अनुभवकी बात पिताजीको सुनायी। इस बार भी पितासे कोई उत्तर नहीं मिला। पिताने सोचा कि यह पहलेकी अपेक्षा तो गहराईमें उतरा है, परंतु अभी इसे और भी तपस्या करनी चाहिये; अतः उत्तर न देना ही ठीक है। पितासे अपनी बातका उत्तर न पाकर भृगुने पुनः पहलेकी भाँति प्रार्थना की—'भगवन्! यदि मैंने ठीक न समझा हो तो कृपया आप ही मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये।' तब वरुणने पुनः वही उत्तर दिया—'तू तपके द्वारा ब्रह्मके तत्त्वको जाननेकी

इच्छा कर। अर्थात् तपस्या करते हुए मेरे उपदेशपर पुनः विचार कर। यह तपरूप साधन ही ब्रह्म है। ब्रह्मको जानने-का इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है।' इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर भृगुने पुनः पहलेकी भाँति संयमपूर्वक रहकर पिताके उपदेशपर विचार किया। विचार करके उन्होंने क्या किया, यह बात अगले अनुवाकमें कही गयी है।

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाक

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

विज्ञानम्=विज्ञान; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार; **व्यजानात्**=जाना; **हि**=क्योंकि; **खलु**=सचमुच; **विज्ञानात्**=विज्ञानसे; **एव**=ही; **इमानि**=ये समस्त; **भूतानि**=प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **विज्ञानेन**=विज्ञानसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं; (और) **प्रयन्ति**=अन्तमें यहाँसे प्रयाण करते हुए; **विज्ञानम् अभिसंविशन्ति**=विज्ञानमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं; **इति**=इस प्रकार; **तत्**=ब्रह्मको; **विज्ञाय**=जानकर; **पुनः एव**=(वह) पुनः उसी प्रकार; **पितरम्**=अपने पिता; **वरुणम् उपससार**=वरुणके पास गया; (और अपनी बातका उत्तर न मिलनेपर बोला—) **भगवः**=भगवन्!; (मुझे) **ब्रह्म अधीहि**=ब्रह्मका उपदेश दीजिये; **इति**=इस प्रकार कहनेपर; **ह तम् उवाच**=सुप्रसिद्ध वरुण ऋषिने उससे कहा; **ब्रह्म**=ब्रह्मको; **तपसा**=(तू) तपके द्वारा; **विजिज्ञासस्व**=तत्त्वतः जाननेकी इच्छा कर; **तपः**=तप ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर; **सः**=उसने; **तपः अतप्यत**=पुनः तप किया; **सः**=उसने; **तपः तप्त्वा**=तप करके—

व्याख्या—इस बार उन्होंने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि यह विज्ञानस्वरूप चेतन जीवात्मा ही ब्रह्म है; क्योंकि उन्होंने सोचा—पिताजीने जो ब्रह्मके लक्षण बताये थे, वे सब-के-सब पूर्णतया इसमें पाये जाते हैं। ये समस्त प्राणी जीवात्मासे ही उत्पन्न होते हैं, सजीव चेतन प्राणियोंसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। उत्पन्न होकर इस विज्ञान-स्वरूप जीवात्मासे ही जीते हैं; यदि जीवात्मा न रहे तो ये मन, इन्द्रियाँ, प्राण आदि कोई भी नहीं रह सकते और कोई भी अपना-अपना काम नहीं कर सकते। तथा मरनेके बाद ये मन आदि सब जीवात्मामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं—जीवके निकल जानेपर मृत शरीरमें ये सब देखनेमें नहीं आते। अतः विज्ञानस्वरूप जीवात्मा ही ब्रह्म है। यह निश्चय करके वे पहलेकी भाँति अपने पिता वरुणके पास आये। आकर अपने निश्चित अनुभवकी बात पिताजीको सुनायी। इस बार भी पिताजीने कोई उत्तर नहीं दिया। पिताने सोचा—'इस बार यह बहुत कुछ ब्रह्मके निकट आ गया है, इसका विचार स्थूल और सूक्ष्म—दोनों प्रकारके जडतत्त्वोंसे ऊपर उठकर चेतन जीवात्मातक तो पहुँच गया है। परंतु ब्रह्मका स्वरूप तो इससे भी विलक्षण है, वे तो नित्य आनन्दस्वरूप एक अद्वितीय परमात्मा हैं; इसे अभी और तपस्या करनेकी आवश्यकता है, अतः उत्तर न देना ही ठीक है।' इस प्रकार बार-बार पिताजीसे कोई उत्तर न मिलनेपर भी भृगु हतोत्साह या निराश नहीं हुए। उन्होंने पहलेकी भाँति पुनः पिताजीसे वही प्रार्थना की—'भगवन्! यदि मैंने ठीक न समझा हो तो आप मुझे ब्रह्मका रहस्य बतलाइये।' तब वरुणने पुनः वही उत्तर दिया—'तू तपके द्वारा ही ब्रह्मके तत्त्वको जाननेकी इच्छा कर। अर्थात् तपस्यापूर्वक उसका पूर्व-कथनानुसार विचार कर। तप ही ब्रह्म है।' इस प्रकार पिताजीकी आज्ञा पाकर भृगुने पुनः पहलेकी भाँति संयमपूर्वक रहते हुए पिताके उपदेशपर विचार किया। विचार करके उन्होंने क्या किया, यह आगे बताया गया है।

॥ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । स य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ।

आनन्दः=आनन्द ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार; **व्यजानात्**=निश्चयपूर्वक जाना; **हि**=क्योंकि; **खलु**=सचमुच; **आनन्दात्**=आनन्दसे; **एव**=ही; **इमानि**=ये समस्त; **भूतानि**=प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **आनन्देन**=आनन्दसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं; (तथा) **प्रयन्ति**=इस लोकसे प्रयाण करते हुए; (अन्तमें) **आनन्दम् अभिसंविशन्ति**=आनन्दमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं; **इति**=इस प्रकार (जाननेपर उसे परब्रह्मका पूरा ज्ञान हो गया); **सा**=वह; **एषा**=यह; **भार्गवी**=भृगुकी जानी हुई; **वारुणी**=और वरुणद्वारा उपदेश की हुई; **विद्या**=विद्या; **परमे व्योमन्**=विशुद्ध आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें; **प्रतिष्ठिता**=प्रतिष्ठित है अर्थात् पूर्णतः स्थित है; **यः**=जो कोई (दूसरा साधक) भी; **एवम्**=इस प्रकार (आनन्दस्वरूप ब्रह्मको); **वेद**=जानता है; **सः**=वह; (उस विशुद्ध आकाशस्वरूप परमानन्दमें) **प्रतितिष्ठति**=स्थित हो जाता है; (इतना ही नहीं, इस लोकमें लोगोंके देखनेमें भी वह) **अन्नवान्**=बहुत अन्नवाला; **अन्नादः**=और अन्नको भलीभाँति पचानेकी शक्तिवाला; **भवति**=हो जाता है; (तथा) **प्रजया**=संतानसे; **पशुभिः**=पशुओंसे; (तथा) **ब्रह्मवर्चसेन**=ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होकर; **महान्**=महान्; **भवति**=हो जाता है; **कीर्त्या** [**अपि**]=उत्तम कीर्तिके द्वारा भी; **महान्**=महान्; [**भवति**=हो जाता है ।]

व्याख्या—इस बार भृगुने पिताके उपदेशपर गहरा विचार करके यह निश्चय किया कि आनन्द ही ब्रह्म है । ये आनन्दमय परमात्मा ही अन्नमय आदि सबके अन्तरात्मा हैं । वे सब भी इन्हींके स्थूल रूप हैं । इसी कारण उनमें ब्रह्मबुद्धि होती है और ब्रह्मके आंशिक लक्षण पाये जाते हैं । परंतु सर्वांशसे ब्रह्मके लक्षण आनन्दमें ही घटते हैं; क्योंकि ये समस्त प्राणी उन आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मासे ही सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होते हैं—इन सबके आदि कारण तो वे ही हैं । तथा इन आनन्दमयके आनन्दका लेश पाकर ही ये सब प्राणी जी रहे हैं—कोई भी दुःखके साथ जीवित रहना नहीं चाहता । इतना ही नहीं, उन आनन्दमय सर्वान्तर्यामी परमात्माकी अचिन्त्यशक्तिकी प्रेरणासे ही इस जगत्के समस्त प्राणियोंकी सारी चेष्टाएँ हो रही हैं । उनके शासनमें रहनेवाले सूर्य आदि यदि अपना-अपना काम न करें तो एक क्षण भी कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता । सबके जीवनाधार सचमुच वे आनन्दस्वरूप परमात्मा ही हैं । तथा प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंसे भरा हुआ यह ब्रह्माण्ड उन्हींमें प्रविष्ट होता है—उन्हींमें विलीन होता है; वे ही सबके सब प्रकारसे सदा-सर्वदा आधार हैं । इस प्रकार अनुभव होते ही भृगुको परब्रह्मका यथार्थ ज्ञान हो गया । फिर उन्हें किसी प्रकारकी जिज्ञासा नहीं रही । श्रुति स्वयं उस विद्याकी महिमा बतलानेके लिये कहती है—वही यह वरुणद्वारा बतायी हुई और भृगुको प्राप्त हुई ब्रह्मविद्या (ब्रह्मका रहस्य बतानेवाली विद्या) है । यह विद्या विशुद्ध आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें स्थित है । वे ही इस विद्याके भी आधार हैं । जो कोई मनुष्य भृगुकी भाँति तपस्यापूर्वक इसपर विचार करके परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह भी उन विशुद्ध परमानन्दस्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाता है । इस प्रकार इस विद्याका वास्तविक फल बताकर मनुष्योंको उस साधनकी ओर लगानेके लिये उपर्युक्त प्रकारसे अन्न, प्राण आदि समस्त तत्त्वोंके रहस्य-विज्ञानपूर्वक ब्रह्मको जाननेवाले ज्ञानीके शरीर और अन्तःकरणमें जो स्वाभाविक विलक्षण शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उनको भी श्रुति बतलाती है । वह अन्नवान् अर्थात् नाना प्रकारके जीवनयात्रोपयोगी भोगोंसे सम्पन्न हो जाता है और उन सबको सेवन करनेकी सामर्थ्य भी उसमें आ जाती है । अर्थात् उसके मन, इन्द्रियाँ और शरीर सर्वथा निर्विकार और नीरोग हो जाते हैं । इतना ही नहीं, वह संतानसे, पशुओंसे, ब्रह्मतेजसे और बड़ी भारी कीर्तिसे समृद्ध होकर जगत्में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है ।

॥ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाक

सम्बन्ध—छठे अनुवाकमें ब्रह्मज्ञानीके अन्न और प्रजा आदिसे सम्पन्न होनेकी बात कही गयी; इसपर यह जिज्ञासा होती है कि ये सब सिद्धियाँ भी क्या ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर ही मिलती हैं, या इन्हें प्राप्त करनेका दूसरा उपाय भी है। इसपर इन सबकी प्राप्तिके दूसरे उपाय भी बताये जाते हैं—

अन्नं न निन्द्यात् । तद्व्रतम् । प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ।

अन्नम् न निन्द्यात्=अन्नकी निन्दा न करे; **तत्**=वह; **व्रतम्**=व्रत है; **प्राणः**=प्राण; **वै**=ही; **अन्नम्**=अन्न है; (और) **शरीरम्**=शरीर; (उस प्राणरूप अन्नसे जीनेके कारण) **अन्नादम्**=अन्नका भोक्ता है; **शरीरम्**=शरीर; **प्राणे**=प्राणके आधारपर; **प्रतिष्ठितम्**=स्थित हो रहा है; (और) **शरीरे**=शरीरके आधारपर; **प्राणः**=प्राण; **प्रतिष्ठितः**=स्थित हो रहे हैं; **तत्**=इस तरह; **एतत्**=यह; **अन्ने**=अन्नमें ही; **अन्नम्**=अन्न; **प्रतिष्ठितम्**=स्थित हो रहा है; **यः**=जो मनुष्य; **अन्ने**=अन्नमें ही; **अन्नम्**=अन्न; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित हो रहा है; **एतत्**=इस रहस्यको; **वेद**=जानता है; **सः**=वह; **प्रतितिष्ठति**=उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है; (अतः) **अन्नवान्**=अन्नवाला; (और) **अन्नादः**=अन्नको खानेवाला; **भवति**=हो जाता है; **प्रजया**=प्रजासे; **पशुभिः**=पशुओंसे; **ब्रह्मवर्चसेन**=(और) ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होकर; **महान्**=महान्; **भवति**=बन जाता है; (तथा) **कीर्त्या**=कीर्तिसे (सम्पन्न होकर भी); **महान्**=महान्; [**भवति**=हो जाता है ।]

व्याख्या—इस अनुवाकमें अन्नका महत्त्व बतलाकर उसे जाननेका फल बताया गया है। भाव यह है कि जो मनुष्य अन्नादिसे सम्पन्न होना चाहे, उसे सबसे पहले तो यह व्रत लेना चाहिये कि 'मैं कभी अन्नकी निन्दा नहीं करूँगा।' यह एक साधारण नियम है कि जिस किसी वस्तुको मनुष्य पाना चाहता है, उसके प्रति उसकी महत्त्वबुद्धि होनी चाहिये; तभी वह उसके लिये प्रयत्न करेगा। जिसकी जिसमें हेयबुद्धि है, वह उसकी ओर आँख उठाकर देखेगा भी नहीं। अन्नकी निन्दा न करनेका व्रत लेकर अन्नके इस महत्त्वको समझना चाहिये कि अन्न ही प्राण है, और प्राण ही अन्न है; क्योंकि अन्नसे ही प्राणोंमें बल आता है और प्राणशक्तिसे ही अन्नमय शरीरमें जीवनी-शक्ति आती है। यहाँ प्राणको अन्न इसलिये भी कहा है कि यही शरीरमें अन्नके रसको सर्वत्र फैलाता है। शरीर प्राणके ही आधार टिका हुआ है, इसीलिये वह प्राणरूप अन्नका भोक्ता है। शरीर प्राणमें स्थित है अर्थात् शरीरकी स्थिति प्राणके अधीन है और प्राण शरीरमें स्थित है—प्राणोंका आधार शरीर है, यह बात प्रत्यक्ष है ही। इस प्रकार यह अन्नमय शरीर भी अन्न है। यह अनुभवसिद्ध विषय है कि प्राणोंको आहार न मिलनेपर वे शरीरकी धातुओंको ही सोख लेते हैं। और शरीरकी स्थिति प्राणके अधीन होनेसे प्राण भी अन्न ही हैं। अतः शरीर और प्राणका अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध होनेसे यह कहा गया है कि अन्नमें ही अन्न स्थित हो रहा है। यही इसका तत्त्व है। जो मनुष्य इस रहस्यको समझ लेता है, वही शरीर और प्राण—इन दोनोंका ठीक-ठीक उपयोग कर सकता है। इसीलिये यह कहा गया है कि वह शरीर और प्राणोंके विज्ञानमें पारङ्गत हो जाता है। और इसी विज्ञानके फलस्वरूप वह सब प्रकारकी भोगसामग्रीसे युक्त और उसे उपभोगमें लानेकी शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है। और इसीलिये वह संतानसे, नाना प्रकारके पशुओंसे और ब्रह्मतेजसे भी सम्पन्न होकर महान् बन जाता है। उसकी कीर्ति, उसका यश जगत्में फैल जाता है और उसके द्वारा भी वह जगत्में महान् हो जाता है।

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

अन्नं न परिचक्षीत । तद् व्रतम् । आपो वा अन्नम् । ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम् ।

ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ।

अन्नम् न परिचक्षीत=अन्नकी अवहेलना न करे; **तत्**=वह; **व्रतम्**=एक व्रत है; **आपः**=जल; **वै**=ही; **अन्नम्**=अन्न है; (और) **ज्योतिः**=तेज; **अन्नादम्**=(रसस्वरूप) अन्नका भोक्ता है; **अप्सु**=जलमें; **ज्योतिः**=तेज; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **ज्योतिषि**=तेजमें; **आपः**=जल; **प्रतिष्ठिताः**=प्रतिष्ठित है; **तत्**=वही; **एतत्**=यह; **अन्ने**=अन्नमें; **अन्नम्**=अन्न; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **यः**=जो मनुष्य; (इस प्रकार) **अन्ने**=अन्नमें; **अन्नम्**=अन्न; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **एतत्**=इस रहस्यको; **वेद**=भलीभाँति समझता है; **सः**=वह; (अन्तमें) **प्रतितिष्ठति**=(उस रहस्यमें) परिनिष्ठित हो जाता है; (तथा) **अन्नवान्**=अन्नवाला; (और) **अन्नादः**=अन्नको खानेवाला; **भवति**=हो जाता है; **प्रजया**=(वह) संतानसे; **पशुभिः**=पशुओंसे; (और) **ब्रह्मवर्चसेन**=ब्रह्मतेजसे; **महान्**=महान्; **भवति**=बन जाता है; (तथा) **कीर्त्या**=कीर्तिसे (समृद्ध होकर भी); **महान्**=महान्; [**भवति**=हो जाता है ।]

व्याख्या—इस अनुवाकमें जल और ज्योति दोनोंको अन्नरूप बताकर उन्हें जाननेका फल बतलाया है । भाव यह है कि जिस मनुष्यकी अन्नादिसे सम्पन्न होनेकी इच्छा हो, उसे यह नियम ले लेना चाहिये कि 'मैं कभी अन्नकी अवहेलना नहीं करूँगा अर्थात् अन्नका उल्लङ्घन, दुरुपयोग और परित्याग नहीं करूँगा एवं उसे जूठा नहीं छोड़ूँगा ।' यह साधारण नियम है कि जो जिस वस्तुका अनादर करता है, उसके प्रति उपेक्षाबुद्धि रखता है, वह वस्तु उसका कभी वरण नहीं करती । किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेके लिये उसके प्रति आदरबुद्धि रखना परमावश्यक है । जिसकी जिसमें आदरबुद्धि नहीं है, वह उसे पानेकी इच्छा अथवा चेष्टा क्यों करेगा । इस प्रकार अन्नकी अवहेलना न करनेका व्रत लेकर फिर अन्नके इस तत्त्वको समझना चाहिये कि जल ही अन्न है; क्योंकि सब प्रकारके अन्न अर्थात् खाद्य वस्तुएँ जलसे ही उत्पन्न होती हैं । और ज्योति अर्थात् तेज ही इस जलरूप अन्नको भक्षण करनेवाला है । जिस प्रकार अग्नि एवं सूर्यरश्मियाँ आदि बाहरके जलका शोषण करती हैं, उसी प्रकार शरीरमें रहनेवाली जठराग्नि शरीरमें जानेवाले जलीय तत्त्वोंका शोषण करती है । जलमें ज्योति प्रतिष्ठित है । यद्यपि जल स्वभावतः ठंडा है, अतएव उसमें उष्ण ज्योति कैसे स्थित है—यह बात समझमें नहीं आती, तथापि शास्त्रोंमें यह माना गया है कि समुद्रमें बडवानल रहता है तथा आजकलके वैज्ञानिक भी जलमेंसे बिजली-तत्त्वको निकालते हैं । इससे यह बात सिद्ध होती है कि जलमें तेज स्थित है । इसी प्रकार तेजमें जल स्थित है, यह तो प्रत्यक्ष देखनेमें आता ही है; क्योंकि सूर्यकी प्रखर किरणोंमें स्थित जल ही हमलोगोंके सामने वृष्टिके रूपमें प्रत्यक्ष होता है । इस प्रकार ये जल और तेज अन्योन्याश्रित होनेके कारण समस्त अन्नरूप खाद्य पदार्थोंके कारण हैं, अतः ये ही उनके रूपमें परिणत होते हैं; इसलिये दोनों अन्न ही हैं । इस प्रकार अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित है । जो मनुष्य इस तत्त्वको समझ लेता है, वह इन दोनोंके विज्ञानमें प्रतिष्ठित अर्थात् सिद्ध हो जाता है; क्योंकि वही इन दोनोंका ठीक उपयोग कर सकता है । और इसीके फलस्वरूप वह अन्नसे अर्थात् सब प्रकारकी भोग-सामग्रीसे सम्पन्न और उन सबको यथायोग्य उपभोगमें लानेकी सामर्थ्यसे युक्त हो जाता है । और इसीलिये वह संतानसे, नाना प्रकारके पशुओंसे और ब्रह्मतेजसे सम्पन्न हो महान् हो जाता है । इतना ही नहीं, इस समृद्धिके कारण उसका यश सर्वत्र फैल जाता है, वह बड़ा भारी यशस्वी हो जाता है । और उस यशके कारण भी वह महान् हो जाता है ।

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥ ८ ॥

नवम अनुवाक

अन्नं बहु कुर्वीत । तद् व्रतम् । पृथिवी वा अन्नम् । आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः । आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ।

अन्नम्=अन्नको; **बहु कुर्वीत**=बढ़ाये; **तत्**=वह; **व्रतम्**=एक व्रत है; **पृथिवी**=पृथ्वी; **वै**=ही; **अन्नम्**=अन्न है; **आकाशः**=आकाश; **अन्नादः**=पृथ्वीरूप अन्नका आधार होनेसे (मानो) अन्नाद है; **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **आकाशः**=आकाश; **प्रतिष्ठितः**=प्रतिष्ठित है; **आकाशे**=आकाशमें; **पृथिवी**=पृथ्वी; **प्रतिष्ठिता**=प्रतिष्ठित है; **तत्**=वही; **एतत्**=यह; **अन्ने**=अन्नमें; **अन्नम्**=अन्न; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **यः**=जो मनुष्य; (इस प्रकार) **अन्ने**=अन्नमें; **अन्नम्**=अन्न; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **एतत्**=इस रहस्यको; **वेद**=भलीभाँति जान लेता है; **सः**=वह; (उस विषयमें) **प्रतितिष्ठति**=प्रतिष्ठित हो जाता है; **अन्नवान्**=अन्नवाला; (और) **अन्नादः**=अन्नको खानेवाला अर्थात् उसे पचानेकी शक्तिवाला; **भवति**=हो जाता है; **प्रजया**=(वह) प्रजासे; **पशुभिः**=पशुओंसे; (और) **ब्रह्मवर्चसेन**=ब्रह्मतेजसे; **महान्**=महान्; **भवति**=बन जाता है; **कीर्त्या**=कीर्तिसे; [**च**=भी;] **महान्**=महान्; [**भवति**=हो जाता है ।]

व्याख्या—इस अनुवाकमें पृथ्वी और आकाश दोनोंको अन्नरूप बताकर उनके तत्त्वको जाननेका फल बताया गया है। भाव यह है कि जिस मनुष्यको अन्नादिसे समृद्ध होनेकी इच्छा हो, उसे पहले तो यह व्रत लेना चाहिये—यह दृढ़ संकल्प करना चाहिये कि 'मैं अन्नको खूब बढ़ाऊँगा।' किसी वस्तुका अभ्युदय—उसका विस्तार चाहना ही उसे आकर्षित करनेका सबसे श्रेष्ठ उपाय है। जो जिस वस्तुको क्षीण करनेपर तुला हुआ है, वह वस्तु उसे कदापि नहीं मिल सकती और मिलनेपर टिकेगी नहीं। इसके बाद अन्नके इस तत्त्वको समझना चाहिये कि पृथ्वी ही अन्न है—जितने भी अन्न हैं वे सब पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं। और पृथ्वीको अपनेमें विलीन कर लेनेवाला इसका आधारभूत आकाश ही अन्नाद अर्थात् इस अन्नका भोक्ता है। पृथ्वीमें आकाश स्थित है, क्योंकि वह सर्वव्यापी है; और आकाशमें पृथ्वी स्थित है—यह बात प्रत्यक्ष-सिद्ध है। ये दोनों ही एक दूसरेके आधार होनेके कारण अन्नस्वरूप हैं। पाँच भूतोंमें आकाश पहला तत्त्व है और पृथ्वी अन्तिम तत्त्व है; बीचके तीनों तत्त्व इन्हींके अन्तर्गत हैं। समस्त भोग्यपदार्थरूप अन्न इन पाँच महाभूतोंके ही कार्य हैं; अतः ये ही अन्नके रूपमें स्थित हैं। इसलिये अन्नमें ही अन्न प्रतिष्ठित है। जो मनुष्य इस बातको तत्त्वसे जानता है कि पृथ्वीरूप अन्नमें आकाशरूप अन्न और आकाशरूप अन्नमें पृथ्वीरूप अन्न प्रतिष्ठित है, वही सम्पूर्ण भूतोंका यथायोग्य उपयोग कर सकता है और इसीलिये वह इस विषयमें सिद्ध हो जाता है। इसी विज्ञानके फलस्वरूप वह अन्नसे अर्थात् सब प्रकारके भोग्य पदार्थोंसे और उनको उपभोगमें लानेकी शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है। और इसीलिये वह संतानसे, नाना प्रकारके पशुओंसे और विद्याके तेजसे समृद्ध हो महान् बन जाता है। उसका यश समस्त जगत्में फैल जाता है, अतः वह यशके द्वारा भी महान् हो जाता है।

॥ नवम अनुवाक समाप्त ॥ ९ ॥

दशम अनुवाक

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद् व्रतम् । तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात् । आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते । एतद्वै मुखतोऽन्नꣳराद्धम् । मुखतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते । एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम् । मध्यतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते । एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम् । अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते । य एवं वेद ।

वसतौ=अपने घरपर (ठहरनेके लिये आये हुए); **कंचन**=किसी (भी अतिथि) को; **न प्रत्याचक्षीत**=प्रतिकूल उत्तर न दे; **तत्**=वह; **व्रतम्**=एक व्रत है; **तस्मात्**=इसलिये; (अतिथि-सत्कारके लिये) **यया कया च विधया**=जिस किसी भी प्रकारसे; **बहु**=बहुत-सा; **अन्नम्**=अन्न; **प्राप्नुयात्**=प्राप्त करना चाहिये; (क्योंकि सद्गृहस्थ) **अस्मै**=इस (घरपर आये हुए अतिथि) से; **अन्नम्**=भोजन; **आराधि**=तैयार है; **इति**=यों; **आचक्षते**=कहते हैं; (यदि यह अतिथिको) **मुखतः**=मुख्यवृत्तिसे अर्थात् अधिक श्रद्धा, प्रेम और सत्कारपूर्वक; **एतत्**=यह; **राद्धम्**=तैयार किया हुआ; **अन्नम्**=भोजन (देता है तो); **वै**=निश्चय ही; **अस्मै**=इस (दाता) को; **मुखतः**=अधिक आदर-सत्कारके साथ ही; **अन्नम्**=

अन्न; **राध्यते**=प्राप्त होता है; (यदि यह अतिथिको) **मध्यतः**=मध्यम श्रेणीकी श्रद्धा और प्रेमसे; **एतत्**=यह; **राद्धम्**=तैयार किया हुआ; **अन्नम्**=भोजन (देता है तो); **वै**=निःसन्देह; **अस्मै**=इस (दाता) को; **मध्यतः**=मध्यम श्रद्धा और प्रेमसे ही; **अन्नम् राध्यते**=अन्न प्राप्त होता है; (और यदि यह अतिथिको) **अन्ततः**=निकृष्ट श्रद्धा-सत्कारसे; **एतत्**=यह; **राद्धम्**=तैयार किया हुआ; **अन्नम्**=भोजन (देता है तो); **वै**=अवश्य ही; **अस्मै**=इस (दाता) को; **अन्ततः**=निकृष्ट श्रद्धा आदिसे; **अन्नम्**=अन्न; **राध्यते**=मिलता है; **यः**=जो; **एवम्**=इस प्रकार; **वेद**=इस रहस्यको जानता है (वह अतिथिके साथ बहुत उत्तम बर्ताव करता है) ।

व्याख्या—दसवें अनुवाकके इस अंशमें अतिथि-सेवाका महत्त्व और फल बताया गया है। भाव यह है कि जो मनुष्य अतिथि-सेवाका पूरा लाभ उठाना चाहे, उसको सबसे पहले तो यह नियम लेना चाहिये कि 'मेरे घरपर जो कोई अतिथि आश्रयकी आशासे पधारेगा, मैं कभी उसको सूखा जवाब देकर निराश नहीं लौटाऊँगा।' 'अतिथिदेवो भव'—अतिथिकी देवताबुद्धिसे सेवा करो—यह उपदेश गुरुके द्वारा स्नातक शिष्यको पहले ही दिया जा चुका है। इस प्रकारका नियम लेनेपर ही अतिथि-सेवा सम्भव है। यह व्रत लेकर इसका पालन करनेके लिये—केवल अपना तथा कुटुम्बका पोषण करनेके लिये ही नहीं—जिस किसी भी न्यायोचित उपायसे बहुत-से अन्नका उपार्जन करे। धन-सम्पत्ति और अन्नादि, जो शरीरके पालन-पोषणके लिये उपयोगी सामग्री हैं, उन्हें प्राप्त करनेके लिये जितने भी न्यायोचित उपाय बताये गये हैं तथा पूर्वके तीन अनुवाकोंमें भी जो-जो उपाय बताये गये हैं, उनमेंसे किसीके भी द्वारा बहुत-सा अन्न प्राप्त करना चाहिये। अर्थात् अतिथि-सेवाके लिये आवश्यक वस्तुओंका अधिक मात्रामें संग्रह करना चाहिये; क्योंकि अतिथि-सेवा गृहस्थोचित सदाचारका एक अत्यावश्यक अङ्ग है। अच्छे प्रतिष्ठित मनुष्य घरपर आये हुए अतिथिसे यही कहते हैं—'आइये, बैठिये; भोजन तैयार है, भोजन कीजिये' इत्यादि। वे यह कदापि नहीं कहते कि हमारे यहाँ आपकी सेवाके लिये उपयुक्त वस्तुएँ अथवा रहनेका स्थान नहीं है। जो मनुष्य अपने घरपर आये हुए अतिथिकी अधिक आदर-सत्कारपूर्वक उत्तमभावसे विशुद्ध सामग्रियोंद्वारा सेवा करता है—उसे शुद्धतापूर्वक तैयार किया हुआ भोजन देता है, उसको भी उत्तमभावसे ही अन्न प्राप्त होता है अर्थात् उसे भोग्य-पदार्थोंके संग्रह करनेमें कठिनाईका सामना नहीं करना पड़ता। अतिथि-सेवाके प्रभावसे उसे किसी बातकी कमी नहीं रहती। अनायास उसकी सारी आवश्यकताएँ पूर्ण होती रहती हैं। यदि वह आये हुए अतिथिकी मध्यमभावसे सेवा करता है, साधारण रीतिसे भोजनादि तैयार करके विशेष आदर-सत्कारके बिना ही अतिथिको भोजन आदि कराके उसे सुख पहुँचाता है, तो उसे भी साधारण रीतिसे ही अन्न प्राप्त होता है। अर्थात् अन्न-वस्त्र आदि पदार्थोंका संग्रह करनेमें उसे साधारणतया आवश्यक परिश्रम करना पड़ता है। जिस भावसे वह अतिथिको देता है, उसी भावसे उतने ही आदर-सत्कारके साथ उसे वे वस्तुएँ मिलती हैं। इसी प्रकार यदि कोई अन्तिम वृत्तिसे अर्थात् बिना किसी प्रकारका आदर-सत्कार किये तुच्छ भावसे भाररूप समझकर अतिथिकी सेवा करता है—उसे निकृष्ट भावसे अश्रद्धापूर्वक तैयार किया हुआ भोजन आदि पदार्थ देता है, तो उसे वे पदार्थ वैसे ही भावसे प्राप्त होते हैं। अर्थात् उनकी प्राप्तिके लिये उसे अधिक-से-अधिक परिश्रम करना पड़ता है, लोगोंकी खुशामद करनी पड़ती है। जो मनुष्य इस प्रकार इस रहस्यको जानता है, वह उत्तम रीतिसे और विशुद्धभावसे अतिथि-सेवा करता है; अतः उसे सर्वोत्तम फल जो पहले तीन अनुवाकोंमें बताया गया है, वह मिलता है।

सम्बन्ध—अब परमात्माका विभूतिरूपसे सर्वत्र चिन्तन करनेका प्रकार बताया जाता है—

क्षेम इति वाचि । योगक्षेम इति प्राणापानयोः । कर्मेति हस्तयोः । गतिरिति पादयोः । विमुक्तिरिति पायौ । इति मानुषीः समाज्ञाः । अथ दैवीः । तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति । यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे ।

[**सः परमात्मा**=वह परमात्मा;] **वाचि**=वाणीमें; **क्षेमः इति**=रक्षाशक्तिके रूपसे है; **प्राणापानयोः**=प्राण और अपानमें; **योगक्षेमः इति**=प्राप्ति और रक्षा—दोनों शक्तियोंके रूपमें है; **हस्तयोः**=हाथोंमें; **कर्म इति**=कर्म करनेकी शक्तिके रूपमें है; **पादयोः**=पैरोंमें; **गतिः इति**=चलनेकी शक्तिके रूपमें स्थित है; **पायौ**=गुदामें; **विमुक्तिः इति**=मलत्यागकी शक्ति बनकर है; **इति**=इस प्रकार (ये); **मानुषीः समाज्ञाः**=मानुषी समाज्ञा अर्थात् आध्यात्मिक उपासनाएँ हैं; **अथ**=अब;

दैवीः=दैवी उपासनाओंका वर्णन करते हैं; (वह परमात्मा) **वृष्टौ**=वृष्टिमें; **तृप्तिः इति**=तृप्ति-शक्तिके रूपमें है; **विद्युति**=बिजलीमें; **बलम् इति**=बल (पावर) बनकर स्थित है; **पशुषु**=पशुओंमें; **यशः इति**=यशके रूपमें स्थित है; **नक्षत्रेषु**=ग्रहों और नक्षत्रोंमें; **ज्योतिः इति**=ज्योतिरूपसे स्थित है; **उपस्थे**=उपस्थमें; **प्रजातिः**=प्रजा उत्पन्न करनेकी शक्ति; **अमृतम्**=वीर्यरूप अमृत (और); **आनन्दः**=आनन्द देनेकी शक्ति; **इति**=बनकर स्थित है; **आकाशे**=(तथा) आकाशमें; **सर्वम् इति**=सबका आधार बनकर स्थित है।

व्याख्या—दसवें अनुवाकके इस अंशमें परमेश्वरकी विभूतियोंका संक्षेपमें वर्णन किया गया है। भाव यह है कि सत्यरूप वाणीमें आशीर्वादादिके द्वारा जो रक्षा करनेकी शक्ति प्रतीत होती है, उसके रूपमें वहाँ परमात्माकी ही स्थिति है। प्राण और अपानमें जो जीवनोपयोगी वस्तुओंको आकर्षण करनेकी और जीवन-रक्षाकी शक्ति है, वह भी परमात्माका ही अंश है। इसी प्रकार हाथोंमें काम करनेकी शक्ति, पैरोंमें चलनेकी शक्ति और गुदामें मलत्याग करनेकी शक्ति भी परमात्माकी ही हैं। ये सब शक्तियाँ उन परमेश्वरकी शक्तिका ही एक अंश हैं। यह देखकर मनुष्यको परमेश्वरकी सत्तापर विश्वास करना चाहिये। यह मानुषी समाज्ञा बतायी गयी है, अर्थात् मनुष्यके शरीरमें प्रतीत होनेवाली परमात्माकी शक्तियोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया है। इसीको आध्यात्मिक (शरीर-सम्बन्धी) उपासना भी कह सकते हैं। इसी प्रकार दैवी पदार्थोंमें अभिव्यक्त होनेवाली शक्तिका वर्णन करते हैं। यह दैवी अथवा आधिदैविक उपासना है। वृष्टिमें जो अन्नादिको उत्पन्न करने तथा जल-प्रदानके द्वारा सबको तृप्त करनेकी शक्ति है, बिजलीमें जो बल (पावर) है, पशुओंमें जो स्वामीका यश बढ़ानेकी शक्ति है, नक्षत्रोंमें अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा और तारागणोंमें जो प्रकाश है, उपस्थमें जो संतानोत्पादनकी शक्ति, वीर्यरूप अमृत* और आनन्द देनेकी शक्ति है तथा आकाशमें जो सबको धारण करनेकी और सर्वव्यापकताकी एवं अन्य सब प्रकारकी शक्ति है—ये सब उन परमेश्वरकी अचिन्त्य एवं अपार शक्तिके ही किसी एक अंशकी अभिव्यक्तियाँ हैं। गीतामें भी कहा है कि इस जगत्में जो कुछ भी विभूति, शक्ति और शोभासे युक्त है, वह मेरे ही तेजका एक अंश है (गीता १० । ४१) । इन सबको देखकर मनुष्यको सर्वत्र एक परमात्माकी व्यापकताका रहस्य समझना चाहिये।

सम्बन्ध—अब विविध भावनासे की जानेवाली उपासनाका फलसहित वर्णन करते हैं—

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति । तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै कामाः । तद् ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्मवान् भवति । तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत । पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः । परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः ।

तत्=वह (उपास्यदेव); **प्रतिष्ठा**=‘प्रतिष्ठा’ (सबका आधार) है; **इति**=इस प्रकार; **उपासीत**=(उसकी) उपासना करे तो; **प्रतिष्ठावान् भवति**=साधक प्रतिष्ठावाला हो जाता है; **तत्**=वह (उपास्यदेव); **महः**=सबसे महान् है; **इति**=इस प्रकार समझकर; **उपासीत**=उपासना करे तो; **महान्**=महान्; **भवति**=हो जाता है; **तत्**=वह (उपास्यदेव); **मनः**=‘मन’ है; **इति**=इस प्रकार समझकर; **उपासीत**=उसकी उपासना करे तो; (ऐसा उपासक) **मानवान्**=मनन-शक्तिसे सम्पन्न; **भवति**=हो जाता है; **तत्**=वह (उपास्यदेव); **नमः**=‘नमः’ (नमस्कारके योग्य) है; **इति**=इस प्रकार समझकर; **उपासीत**=उसकी उपासना करे तो; **अस्मै**=ऐसे उपासकके लिये; **कामाः**=समस्त काम—भोग-पदार्थ; **नम्यन्ते**=विनीत हो जाते हैं; **तत्**=वह (उपास्यदेव); **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार समझकर; **उपासीत**=उसकी उपासना करे तो; (ऐसा उपासक) **ब्रह्मवान्**=ब्रह्मसे युक्त; **भवति**=हो जाता है; **तत्**=वह (उपास्यदेव); **ब्रह्मणः**=परमात्माका; **परिमरः**=सबको मारनेके लिये नियत किया हुआ अधिकारी है; **इति**=इस प्रकार समझकर; **उपासीत**=उसकी उपासना करे तो; **एनम् परि**=ऐसे उपासकके प्रति; **द्विषन्तः**=द्वेष रखनेवाले; **सपत्नाः**=शत्रु; **म्रियन्ते**=मर जाते हैं;

* शरीरका रक्षक एवं पोषक तथा जीवनका आधार होनेसे वीर्यको अमृत कहा गया है। इसकी सावधानीके साथ रक्षा करनेसे अमृतत्वकी प्राप्ति भी सम्भव है।

ये=जो; **परि**=(उसका) सब प्रकारसे; **अप्रियाः भ्रातृव्याः**=अनिष्ट चाहनेवाले अप्रिय बन्धुजन हैं; [**ते अपि म्रियन्ते**=वे भी मर जाते हैं ।]

व्याख्या—इस मन्त्रमें सकाम उपासनाका भिन्न-भिन्न फल बताया गया है । भाव यह है कि प्रतिष्ठा चाहनेवाला पुरुष अपने उपास्यदेवकी प्रतिष्ठाके रूपमें उपासना करे, अर्थात् 'वे उपास्यदेव ही सबकी प्रतिष्ठा—सबके आधार हैं' इस भावसे उनका चिन्तन करे । ऐसे उपासककी संसारमें प्रतिष्ठा होती है । महत्त्वकी प्राप्तिके लिये यदि अपने उपास्यदेवको 'महान्' समझकर उनकी उपासना करे तो वह महान् हो जाता है—महत्त्वको प्राप्त कर लेता है । यदि अपने उपास्यदेवको महान् मनस्वी समझकर मनन करनेकी शक्ति प्राप्त करनेके लिये उनकी उपासना करे तो वह साधक मनन करनेकी विशेष शक्ति प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार जो अपने उपास्यदेवको नमस्कार करनेयोग्य शक्तिशाली समझकर वैसी शक्ति प्राप्त करनेके लिये उनकी उपासना करे, वह स्वयं नमस्कार करनेयोग्य बन जाता है; समस्त कामनाएँ उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ी रहती हैं । समस्त भोग अपने-आप उसके चरणोंमें लोटने लगते हैं । अनायास ही उसे समस्त भोग-सामग्री प्राप्त हो जाती है । तथा जो अपने उपास्यदेवको सबसे बड़ा—सर्वाधार ब्रह्म समझकर उन्हींकी प्राप्तिके लिये उनकी उपासना करे, वह ब्रह्मवान् बन जाता है, अर्थात् सर्वशक्तिमान् परमेश्वर उसके अपने बन जाते हैं—उसके वशमें हो जाते हैं । जो अपने उपास्यदेवको ब्रह्मके द्वारा सबका संहार करनेके लिये नियत किया हुआ अधिकारी देवता समझकर उनकी उपासना करता है, उससे द्वेष करनेवाले शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं तथा जो उसके अपकारी एवं अप्रिय बन्धुजन होते हैं, वे भी मारे जाते हैं । वास्तवमें किसी भी रूपमें किसी भी उपास्यदेवकी उपासना की जाय, वह प्रकारान्तरसे उन परब्रह्म परमेश्वरकी ही उपासना है; परंतु सकाम मनुष्य अज्ञानवश इस रहस्यको न जाननेके कारण भिन्न-भिन्न शक्तियोंसे युक्त भिन्न-भिन्न देवताओंकी भिन्न-भिन्न कामनाओंकी सिद्धिके लिये उपासना करते हैं; इसलिये वे वास्तविक लाभसे वञ्चित रह जाते हैं (गीता ७ । २१, २२, २३, २४; ९ । २२, २३) । अतः मनुष्यको चाहिये कि इस रहस्यको समझकर सब देवोंके देव सर्वशक्तिमान् परमात्माकी उपासना उन्हींकी प्राप्तिके लिये करे, उनसे और कुछ न चाहे ।

सम्बन्ध—सर्वत्र एक ही परमात्मा परिपूर्ण हैं, इस बातको समझकर उन्हें प्राप्त कर लेनेका फल और प्राप्त करनेवालेकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः । स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम गायन्नास्ते ।

सः=वह (परमात्मा); **यः**=जो; **अयम्**=यह; **पुरुषे**=इस मनुष्यमें है; **च**=तथा; **यः**=जो; **असौ**=वह; **आदित्ये च**=सूर्यमें भी है; **सः**=वह (दोनोंका अन्तर्यामी); **एकः**=एक ही है; **यः**=जो (मनुष्य); **एवंवित्**=इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवाला है; **सः**=वह; **अस्मात्**=इस; **लोकात्**=लोक (शरीर) से; **प्रेत्य**=उत्क्रमण करके; **एतम्**=इस; **अन्नमयम्**=अन्नमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रम्य**=प्राप्त होकर; **एतम्**=इस; **प्राणमयम्**=प्राणमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रम्य**=प्राप्त होकर; **एतम्**=इस; **मनोमयम्**=मनोमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रम्य**=प्राप्त होकर; **एतम्**=इस; **विज्ञानमयम्**=विज्ञानमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रम्य**=प्राप्त होकर; **एतम्**=इस; **आनन्दमयम्**=आनन्दमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रम्य**=प्राप्त होकर; **कामान्नी**=इच्छानुसार भोगवाला; (और) **कामरूपी**=इच्छानुसार रूपवाला हो जाता है; (तथा) **इमान्**=इन; **लोकान् अनुसंचरन्**=सब लोकोंमें विचरता हुआ; **एतत्**=इस (आगे बताये हुए); **साम गायन्**=साम (समतायुक्त उद्गारों) का गायन करता; **आस्ते**=रहता है ।

व्याख्या—वे परमात्मा, जिनका वर्णन पहले सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण कहकर किया जा चुका

है और जो परमानन्दस्वरूप हैं, वे इस पुरुषमें अर्थात् मनुष्यमें और सूर्यमें एक ही हैं। अभिप्राय यह कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान एक ही परमात्मा हैं। नाना रूपोंमें उन्हींकी अभिव्यक्ति हो रही है। जो मनुष्य इस तत्त्वको जान लेता है, वह वर्तमान शरीरसे अलग होनेपर उन परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, जिनका वर्णन अन्नमय आत्मा, प्राणमय आत्मा, मनोमय आत्मा, विज्ञानमय आत्मा और आनन्दमय आत्माके नामसे पहले किया गया है। इन सबको पाकर अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म भेदसे जो एककी अपेक्षा एकके अन्तरात्मा होकर नाना रूपोंमें स्थित हैं और सबके अन्तर्यामी परमानन्दस्वरूप हैं, उनको प्राप्त करके मनुष्य पर्याप्त भोग-सामग्रीसे युक्त और इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है। साथ ही वह इन लोकोंमें विचरता हुआ आगे बताये जानेवाले साम (समतायुक्त भावों) का गान करता रहता है।

सम्बन्ध–उसके आनन्दमग्न मनमें जो समता और सर्वरूपताके भाव उठा करते हैं, उनका वर्णन करते हैं—

हा३वु हा३वु हा३वु। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः। अहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३वाः। अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्ण ज्योतीः। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।

हावु हावु हावु= आश्चर्य ! आश्चर्य !! आश्चर्य !!!; **अहम्**= मैं; **अन्नम्**= अन्न हूँ; **अहम्**= मैं; **अन्नम्**= अन्न हूँ; **अहम्**= मैं; **अन्नम्**= अन्न हूँ; **अहम्**= मैं ही; **अन्नादः**= अन्नका भोक्ता हूँ; **अहम्**= मैं ही; **अन्नादः**= अन्नका भोक्ता हूँ; **अहम्**= मैं ही; **अन्नादः**= अन्नका भोक्ता हूँ; **अहम्**= मैं; **श्लोककृत्**= इनका संयोग करानेवाला हूँ; **अहम्**= मैं; **श्लोककृत्**= इनका संयोग करानेवाला हूँ; **अहम्**= मैं; **श्लोककृत्**= इनका संयोग करानेवाला हूँ; **अहम्**= मैं; **ऋतस्य**=सत्यका अर्थात् प्रत्यक्ष दीखनेवाले जगत्‌की अपेक्षासे; **प्रथमजाः**= सबमें प्रधान होकर उत्पन्न होनेवाला (हिरण्यगर्भ); [**च**= और;] **देवेभ्यः**= देवताओंसे भी; **पूर्वम्**= पहले विद्यमान; **अमृतस्य**= अमृतका; **नाभायि (नाभिः)**= केन्द्र; **अस्मि**= हूँ; **यः**= जो कोई; **मा**= मुझे; **ददाति**= देता है; **सः**= वह; **इत्**= इस कार्यसे; **एव**= ही; **मा आवाः**=मेरी रक्षा करता है; **अहम्**= मैं; **अन्नम्**= अन्नस्वरूप होकर; **अन्नम्**= अन्न; **अदन्तम्**= खानेवालेको; **अद्मि**= निगल जाता हूँ; **अहम्**= मैं; **विश्वम्**=समस्त; **भुवनम् अभ्यभवाम्**= ब्रह्माण्डका तिरस्कार करता हूँ; **सुवः न ज्योतीः**= मेरे प्रकाशकी एक झलक सूर्यके समान है; **यः**= जो; **एवम्**= इस प्रकार; **वेद**= जानता है (उसे भी यही स्थिति प्राप्त होती है); **इति**= इस प्रकार; **उपनिषत्**= यह उपनिषद्—ब्रह्मविद्या समाप्त हुई।

व्याख्या–उस महापुरुषकी स्थिति शरीरमें नहीं रहती। वह शरीरसे सर्वथा ऊपर उठकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यह बात पहले कहकर उसके बाद इस साम-गानका वर्णन किया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि परमात्माके साथ एकताकी प्राप्ति कर लेनेवाले महापुरुषके ये पावन उद्गार उसके विशुद्ध अन्तःकरणसे निकले हैं और उसकी अलौकिक महिमा सूचित करते हैं। 'हावु' पद आश्चर्यबोधक अव्यय है। वह महापुरुष कहता है—बड़े आश्चर्यकी बात है ! ये सम्पूर्ण भोग-वस्तुएँ, इनको भोगनेवाला जीवात्मा और इन दोनोंका संयोग करानेवाला परमेश्वर एक मैं ही हूँ। मैं ही इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले जगत्‌में समस्त देवताओंसे पहले सबमें प्रधान होकर प्रकट होनेवाला ब्रह्मा हूँ; और परमानन्दरूप अमृतके केन्द्र परब्रह्म परमेश्वर भी मुझसे अभिन्न हैं, अतः वे भी मैं ही हूँ। जो कोई मनुष्य किसी भी वस्तुके रूपमें मुझे किसीको प्रदान करता है, वह मानो मुझे देकर मेरी रक्षा करता है ! अर्थात् योग्य पात्रमें भोग्य पदार्थोंका दान ही उनकी रक्षाका सर्वोत्तम उपाय है ! इसके विपरीत जो अपने ही लिये अन्नरूप समस्त भोगोंका उपभोग करता है, उस खानेवालेको मैं अन्नरूप होकर निगल जाता हूँ। अर्थात् उसका विनाश हो जाता है—उसकी भोग-सामग्री टिकती नहीं। मैं समस्त ब्रह्माण्डका तिरस्कार करनेवाला हूँ। मेरी महिमाकी तुलनामें यह सब तुच्छ है। मेरे प्रकाशकी एक झलक भी सूर्यके समान है। अर्थात् जगत्‌में जितने भी प्रकाशयुक्त पदार्थ हैं, वे सब मेरे ही तेज-

के अंश हैं। जो कोई इस प्रकार परमात्माके तत्त्वको जानता है, वह भी इसी स्थितिको प्राप्त कर लेता है। उपर्युक्त कथन परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर परमात्माकी दृष्टिसे है, यह समझना चाहिये।

॥ दशम अनुवाक समाप्त ॥ १० ॥

॥ भृगुवल्ली समाप्त ॥ ३ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ शिक्षावल्लीके द्वादश अनुवाकमें दिया गया है।

वरुण और भृगु

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥
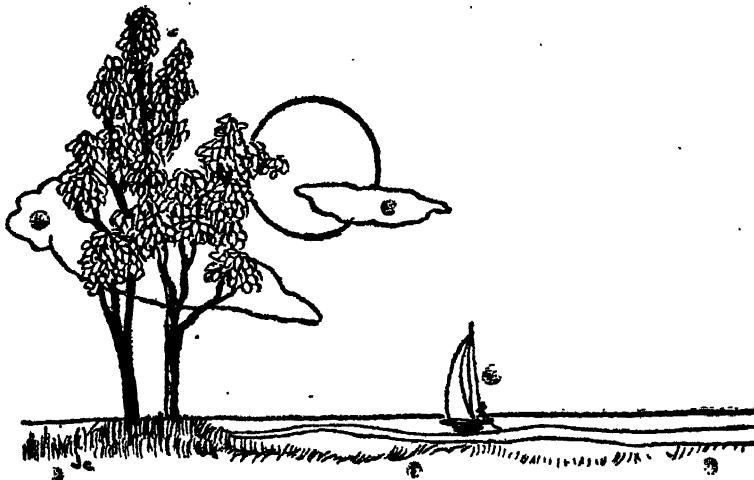
श्वेताश्वतरोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ कठोपनिषद्के आरम्भमें दिया गया है ।

प्रथम अध्याय

हरिः ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति—
किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥

'हरिः ओम्' इस प्रकार परमात्माके नामका उच्चारण करके उस परब्रह्म परमेश्वरका स्मरण करते हुए यह उपनिषद् आरम्भ की जाती है—

ब्रह्मवादिनः=ब्रह्मविषयक चर्चा करनेवाले कुछ जिज्ञासु; **वदन्ति**=आपसमें कहते हैं; **ब्रह्मविदः**=हे वेदज्ञ महर्षियो; **कारणम्**=इस जगत्का मुख्य कारण; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **किम्**=कौन है; **कुतः**=(हमलोग) किससे; **जाताः स्म**=उत्पन्न हुए हैं; **केन**=किससे; **जीवाम**=जी रहे हैं; **च**=और; **क्व**=किसमें; **सम्प्रतिष्ठाः**=हमारी सम्यक् प्रकारसे स्थिति है; (तथा) **केन अधिष्ठिताः**=किसके अधीन रहकर; [**वयम्**=हमलोग;] **सुखेतरेषु**=सुख और दुःखोंमें; **व्यवस्थाम्**=निश्चित व्यवस्थाके अनुसार; **वर्तामहे**=बर्त रहे हैं ॥ १ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माको जानने और प्राप्त करनेके लिये उनकी चर्चा करनेवाले कुछ जिज्ञासु पुरुष आपसमें कहने लगे—'हे वेदज्ञ महर्षिगण ! हमने वेदोंमें पढ़ा है कि इस समस्त जगत्के कारण ब्रह्म हैं; सो वे ब्रह्म कौन हैं ? हम सब लोग किससे उत्पन्न हुए हैं—हमारा मूल क्या है ? किसके प्रभावसे हम जी रहे हैं—हमारे जीवनका आधार कौन है ? और हमारी पूर्णतया स्थिति किसमें है ? अर्थात् हम उत्पन्न होनेसे पहले—भूतकालमें, उत्पन्न होनेके बाद—वर्तमानकालमें और इसके पश्चात्—प्रलयकालमें किसमें स्थित रहते हैं ? हमारा परम आश्रय कौन है ? तथा हमारा अधिष्ठाता—हमलोगोंकी व्यवस्था करनेवाला कौन है ? जिसकी रची हुई व्यवस्थाके अनुसार हमलोग सुख-दुःख दोनों भोग रहे हैं, वह इस सम्पूर्ण जगत्की सुव्यवस्था करनेवाला इसका संचालक स्वामी कौन है ?'* ॥ १ ॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

---

* इस प्रकार परब्रह्म परमात्माकी खोज करना, उन्हें जानने और पानेके लिये उत्कट अभिलाषाके साथ उत्साहपूर्वक आपसमें विचार करना, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंसे उनके विषयमें विनयभाव और श्रद्धापूर्वक पूछना, उनकी बतायी हुई बातोंको ध्यानपूर्वक सुनकर काममें लाना—इसीका नाम 'सत्सङ्ग' है । इस उपनिषद्के प्रथम मन्त्रमें सत्सङ्गका ही वर्णन है । इससे सत्सङ्गकी अनादिता और अलौकिक महत्ता सूचित होती है ।

(क्या) **कालः**=काल; **स्वभावः**=स्वभाव; **नियतिः**=निश्चित फल देनेवाला कर्म; **यदृच्छा**=आकस्मिक घटना; **भूतानि**=पाँचों महाभूत; (या) **पुरुषः**=जीवात्मा; **योनिः**=कारण है; **इति चिन्त्या**=इसपर विचार करना चाहिये; **एषाम्**=इन काल आदिका; **संयोगः**=समुदाय; **तु**=भी; **न**=इस जगत्का कारण नहीं हो सकता; **आत्मभावात्**=क्योंकि वे चेतन आत्माके अधीन हैं (जड होनेके कारण स्वतन्त्र नहीं हैं); **आत्मा**=जीवात्मा; **अपि**=भी; [**न**=इस जगत्का कारण नहीं हो सकता;] **सुखदुःखहेतोः**=(क्योंकि वह) सुख-दुःखोंके हेतुभूत प्रारब्धके; **अनीशः**=अधीन है ॥ २ ॥

व्याख्या—वे कहने लगे कि वेद-शास्त्रोंमें अनेक कारणोंका वर्णन आता है। कहीं तो कालको कारण बताया है; क्योंकि किसी-न-किसी समयपर ही वस्तुओंकी उत्पत्ति देखी जाती है, जगत्की रचना और प्रलय भी कालके ही अधीन सुने जाते हैं। कहीं स्वभावको कारण बताया जाता है; क्योंकि बीजके अनुरूप ही वृक्षकी उत्पत्ति होती है—जिस वस्तुमें जो स्वाभाविक शक्ति है, उसीसे उसका कार्य उत्पन्न होता देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुगत शक्तिरूप जो स्वभाव है, वह कारण है। कहीं कर्मको कारण बताया है; क्योंकि कर्मानुसार ही जीव भिन्न-भिन्न योनियोंमें भिन्न-भिन्न स्वभाव आदिसे युक्त होकर उत्पन्न होते हैं। कहीं आकस्मिक घटनाको अर्थात् होनहार (भवितव्यता) को कारण बताया है। कहीं पाँचों महाभूतोंको और कहीं जीवात्माको जगत्का कारण बताया गया है। अतः हमलोगोंको विचार करना चाहिये कि वास्तवमें कारण कौन है। विचार करनेसे समझमें आता है कि कालसे लेकर पाँच महाभूतोंतक बताये हुए जड पदार्थोंमेंसे कोई भी जगत्का कारण नहीं है। वे अलग-अलग तो क्या, सब मिलकर भी जगत्के कारण नहीं हो सकते; क्योंकि ये सब जड होनेके कारण चेतनके अधीन हैं, इनमें स्वतन्त्र कार्य करनेकी शक्ति नहीं है। जिन जड वस्तुओंके मेलसे कोई नयी चीज उत्पन्न होती है, वह उसके संचालक चेतन आत्माके ही अधीन और उसीके भोगार्थ होती है। इनके सिवा, पुरुष अर्थात् जीवात्मा भी जगत्का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वह सुख-दुःखके हेतुभूत प्रारब्धके अधीन है, वह भी स्वतन्त्ररूपसे कुछ नहीं कर सकता। अतः कारण-तत्त्व कुछ और ही है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार विचार करके उन्होंने क्या निर्णय किया, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ ३ ॥

ते=उन्होंने; **ध्यानयोगानुगताः**=ध्यानयोगमें स्थित होकर; **स्वगुणैः**=अपने गुणोंसे; **निगूढाम्**=ढकी हुई; **देवात्मशक्तिम् अपश्यन्**=(उन) परमात्मदेवकी स्वरूपभूत अचिन्त्यशक्तिका साक्षात्कार किया; **यः**=जो (परमात्मदेव); **एकः**=अकेला ही; **तानि**=उन; **कालात्मयुक्तानि**=कालसे लेकर आत्मातक (पहले बताये हुए); **निखिलानि**=सम्पूर्ण; **कारणानि अधितिष्ठति**=कारणोंपर शासन करता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार आपसमें विचार करनेपर जब युक्तियोंद्वारा और अनुमानसे वे किसी निर्णयपर नहीं पहुँच सके, तब वे सब ध्यानयोगमें स्थित हो गये अर्थात् अपने मन और इन्द्रियोंको बाहरके विषयोंसे हटाकर परब्रह्मको जाननेके लिये उन्हींका चिन्तन करनेमें तत्पर हो गये। ध्यान करते-करते उन्हें परमात्माकी महिमाका अनुभव हुआ। उन्होंने उन परमदेव परब्रह्म पुरुषोत्तमकी स्वरूपभूत अचिन्त्य दिव्य शक्तिका साक्षात्कार किया, जो अपने ही गुणोंसे—सत्त्व, रज, तमसे ढकी है, अर्थात् जो देखनेमें त्रिगुणमयी प्रतीत होती है, परंतु वास्तवमें तीनों गुणोंसे परे है। तब वे इस निर्णयपर पहुँचे कि कालसे लेकर आत्मातक जितने कारण पहले बताये गये हैं, उन समस्त कारणोंके जो अधिष्ठाता—स्वामी हैं, अर्थात् वे सब जिनकी आज्ञा और प्रेरणा पाकर, जिनकी उस शक्तिके किसी एक अंशको लेकर अपने-अपने कार्योंके करनेमें समर्थ होते हैं, वे एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही इस जगत्के वास्तविक कारण हैं, दूसरा कोई नहीं है ॥ ३ ॥

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥

तम्=उस; **एकनेमिम्**=एक नेमिवाले; **त्रिवृतम्**=तीन घेरोंवाले; **षोडशान्तम्**=सोलह सिरोंवाले; **शतार्धारम्**=

पचास अरोंवाले; **विंशतिप्रत्यराभिः**=बीस सहायक अरोंसे; (तथा) **षड्भिः अष्टकैः**=छः अष्टकोंसे; [**युक्तम्**=युक्त ;] **विश्वरूपैकपाशम्**=अनेक रूपोंवाले एक ही पाशसे युक्त; **त्रिमार्गभेदम्**=मार्गके तीन भेदोंवाले; (तथा) **द्विनिमित्तैकमोहम्**=दो निमित्त और मोहरूपी एक नाभिवाले (चक्रको); [**अपश्यन्**=उन्होंने देखा] ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें विश्वका चक्रके रूपमें वर्णन किया गया है। भाव यह है कि परम देव परमेश्वरकी स्वरूपभूता अचिन्त्य शक्तिका दर्शन करनेवाले वे ऋषिलोग कहते हैं—हमने एक ऐसे चक्रको देखा है, जिसमें एक नेमि है। नेमि उस गोल घेरेको कहते हैं, जो चक्रके अरों और नाभि आदि सब अवयवोंको वेष्टित किये रहती है तथा यथास्थान बनाये रखती है। यहाँ अव्याकृत प्रकृतिको ही 'नेमि' कहा गया है; क्योंकि वही इस व्यक्त जगत्का मूल अथवा आधार है। जिस प्रकार चक्केकी रक्षाके लिये उस नेमिके ऊपर लोहेका घेरा (हाल) चढ़ा रहता है, उसी प्रकार इस संसार-चक्रकी अव्याकृत प्रकृतिरूप नेमिके ऊपर सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण ही तीन घेरे हैं। यह पहले ही कह आये हैं कि भगवान्की वह अचिन्त्यशक्ति तीन गुणोंसे ढकी है। जिस प्रकार चक्केकी नेमि अलग-अलग सिरोंके जोड़से बनती है, उसी प्रकार इस संसाररूप चक्रकी प्रकृतिरूप नेमिके मन, बुद्धि और अहङ्कार तथा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये आठ सूक्ष्म तत्त्व और इनके ही आठ स्थूल रूप—इस प्रकार सोलह सिरे हैं। जिस प्रकार चक्रमें अरे लगे रहते हैं, जो एक ओरसे नेमिके टुकड़ोंमें जुड़े रहते हैं और दूसरी ओरसे चक्केकी नाभिमें जुड़े होते हैं, उसी प्रकार इस संसार-चक्रमें अन्तःकरणकी वृत्तियोंके पचास भेद तो पचास अरोंकी जगह हैं और पाँच महाभूतोंके कार्य— दस इन्द्रियाँ, पाँच विषय और पाँच प्राण—ये बीस सहायक अरोंकी जगह हैं। इस चक्केमें आठ-आठ चीजों* के छः समूह अङ्गरूपमें विद्यमान हैं। इन्हींको छः अष्टकोंके नामसे कहा गया है। जीवोंको इस चक्रमें बाँधकर रखनेवाली अनेक रूपोंमें प्रकट आसक्तिरूप एक फाँसी है। देवयान, पितृयान और इसी लोकमें एक योनिसे दूसरी योनिमें जानेका मार्ग—इस प्रकार ये तीन मार्ग हैं। पुण्यकर्म और पापकर्म—ये दो इस जीवको इस चक्रके साथ-साथ घुमानेमें निमित्त हैं और जिसमें अरे टँगे रहते हैं, उस नाभिके स्थानमें अज्ञान है। जिस प्रकार नाभि ही चक्केका केन्द्र है, उसी प्रकार अज्ञान इस जगत्का केन्द्र है ॥ ४ ॥

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥

पञ्चस्रोतोऽम्बुम्=पाँच सोतोंसे आनेवाले विषयरूप जलसे युक्त; **पञ्चयोन्युग्रवक्राम्**=पाँच स्थानोंसे उत्पन्न होकर भयानक और टेढ़ी-मेढ़ी चालसे चलनेवाली; **पञ्चप्राणोर्मिम्**=पाँच प्राणरूप तरङ्गोंवाली; **पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्**=पाँच प्रकारके ज्ञानके आदि कारण मन ही है मूल जिसका; **पञ्चावर्ताम्**=पाँच भँवरोंवाली; **पञ्चदुःखौघवेगाम्**=पाँच दुःखरूप प्रवाहके वेगसे युक्त; **पञ्चपर्वाम्**=पाँच पर्वोंवाली; (और) **पञ्चाशद्भेदाम्**=पचास भेदोंवाली (नदीको); **अधीमः**=हमलोग जानते हैं ॥ ५ ॥

---

* यहाँ 'अष्टक' शब्दसे क्या अभिप्राय है, ठीक-ठीक पता नहीं चलता। चक्रोंमें भी 'अष्टक' नामका कोई अङ्ग होता है या नहीं, और यदि होता है तो उसका क्या स्वरूप होता है तथा उसे अष्टक क्यों कहते हैं—इसका भी कोई पता नहीं चलता। शाङ्करभाष्यमें भी 'अष्टक' किसे कहते हैं—यह खोलकर नहीं बताया गया। इसीलिये 'षडष्टकम्' पदकी व्याख्या नहीं की जा सकी। शाङ्करभाष्यके अनुसार छः अष्टक इस प्रकार हैं—

(१) गीता (७ । ४) में उल्लिखित आठ प्रकारकी प्रकृति अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार;

(२) शरीरगत आठ धातुएँ अर्थात् त्वचा, चमड़ी, मांस, रक्त, मेद, हड्डी, मज्जा और वीर्य;

(३) अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व—ये आठ प्रकारके ऐश्वर्य;

(४) धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य (राग) और अनैश्वर्य—ये आठ भाव;

(५) ब्रह्मा, प्रजापति, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर और पिशाच—ये आठ प्रकारकी देवयोनियाँ;

और (६) समस्त प्राणियोंके प्रति दया, क्षमा, अनसूया (निन्दा न करना), शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), अनायास, मङ्गल, अकृपणता (उदारता) और अस्पृहा—ये आत्माके आठ गुण।

व्याख्या—इस मन्त्रमें संसारका नदीके रूपमें वर्णन किया गया है। वे ब्रह्मज्ञ ऋषि कहते हैं—हम एक ऐसी नदीको देख रहे हैं, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही पाँच स्रोत हैं। संसारका ज्ञान हमें पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा ही होता है, इन्हींमेंसे होकर संसारका प्रवाह बहता है। इसीलिये इन्द्रियोंको यहाँ स्रोत कहा गया है। ये इन्द्रियाँ पञ्च सूक्ष्मभूतों (तन्मात्रों) से उत्पन्न हुई हैं, इसीलिये इस नदीके पाँच उद्गमस्थान माने गये हैं। इस नदीका प्रवाह बड़ा ही भयङ्कर है। इसमें गिर जानेसे बार-बार जन्म-मृत्युका क्लेश उठाना पड़ता है। संसारकी चाल बड़ी टेढ़ी है, कपटसे भरी है। इसमेंसे निकलना कठिन है। इसीलिये इस संसाररूप नदीको वक्र कहा गया है। जगत्के जीवोंमें जो कुछ भी चेष्टा—हलचल होती है, वह प्राणोंके द्वारा ही होती है। इसीलिये प्राणोंको इस भव-सरिताकी तरङ्गमाला कहा गया है। नदीमें हलचल तरङ्गोंसे ही होती है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले चाक्षुष आदि पाँच प्रकारके ज्ञानोंका आदि कारण मन है; जितने भी ज्ञान हैं, सब मनकी ही तो वृत्तियाँ हैं। मन न हो तो इन्द्रियोंके सचेष्ट रहनेपर भी किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होता। यह मन ही संसाररूप नदीका मूल है। मनसे ही संसारकी सृष्टि होती है। सारा जगत् मनकी ही कल्पना है। मनके अमन हो जानेपर—नाश हो जानेपर जगत्का अस्तित्व ही नहीं रहता। जबतक मन है, तभीतक संसार है। इन्द्रियोंके शब्द-स्पर्श आदि पाँच विषय ही इस संसाररूप नदीमें आवर्त अर्थात् भँवर हैं। इन्हींमें फँसकर जीव जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ जाता है। गर्भका दुःख, जन्मका दुःख, बुढ़ापेका दुःख, रोगका दुःख और मृत्युका दुःख—ये पाँच प्रकारके दुःख ही इस नदीके प्रवाहमें वेगरूप हैं। इन्हींके थपेड़ोंसे जीव व्याकुल रहता है और इस योनिसे उस योनिमें भटकता रहता है। अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (अहङ्कार), राग (प्रियबुद्धि), द्वेष (अप्रियबुद्धि) और अभिनिवेश (मृत्युभय)—ये पञ्चविध क्लेश ही इस संसाररूप नदीके पाँच पर्व अर्थात् विभाग हैं। इन्हीं पाँच विभागोंमें यह जगत् बँटा हुआ है। इन पाँचोंका समुदाय ही संसारका स्वरूप है और अन्तःकरणकी पचास वृत्तियाँ ही इस नदीके पचास भेद अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप हैं। अन्तःकरणकी वृत्तियोंको लेकर ही संसारमें भेदकी प्रतीति होती है ॥ ५ ॥

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥

अस्मिन्=इस; **सर्वाजीवे**=सबके जीविकारूप; **सर्वसंस्थे**=सबके आश्रयभूत; **बृहन्ते**=विस्तृत; **ब्रह्मचक्रे**=ब्रह्मचक्रमें; **हंसः**=जीवात्मा; **भ्राम्यते**=घुमाया जाता है; [**सः**=वह;] **आत्मानम्**=अपने-आपको; **च**=और; **प्रेरितारम्**=सबके प्रेरक परमात्माको; **पृथक्**=अलग-अलग; **मत्वा**=जानकर; **ततः**=उसके बाद; **तेन**=उस परमात्मासे; **जुष्टः**=स्वीकृत होकर; **अमृतत्वम्**=अमृतभावको; **एति**=प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है, जो सबके जीवननिर्वाहका हेतु है और जो समस्त प्राणियोंका आश्रय है, ऐसे इस जगत्रूप ब्रह्मचक्रमें अर्थात् परब्रह्म परमात्माद्वारा संचालित तथा परमात्माके ही विराट् शरीररूप संसारचक्रमें यह जीवात्मा अपने कर्मोंके अनुसार उन परमात्माद्वारा घुमाया जाता है। जबतक यह इसके सञ्चालकको जानकर उनका कृपापात्र नहीं बन जाता, अपनेको उनका प्रिय नहीं बना लेता, तबतक इसका इस चक्रसे छुटकारा नहीं हो सकता। जब यह अपनेको और सबके प्रेरक परमात्माको भलीभाँति पृथक्-पृथक् समझ लेता है कि उन्हींके घुमानेसे मैं इस संसार-चक्रमें घूम रहा हूँ और उन्हींकी कृपासे छूट सकता हूँ, तब वह उन परमेश्वरका प्रिय बनकर उनके द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है (कठ० २। २३; मुण्डक० ३। २। ३)। और फिर तो वह अमृतभावको प्राप्त हो जाता है, जन्म-मरणरूप संसार-चक्रसे सदाके लिये छूट जाता है। परम शान्ति एवं सनातन दिव्य परमधामको प्राप्त हो जाता है (गीता १८। ६१-६२) ॥ ६ ॥

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥ ७ ॥

एतत्=यह; **उद्गीतम्**=वेदवर्णित; **परमम् ब्रह्म**=परब्रह्म; **तु**=ही; **सुप्रतिष्ठा**=सर्वश्रेष्ठ आश्रय; **च**=और; **अक्षरम्**=अविनाशी है; **तस्मिन्**=उसमें; **त्रयम्**=तीनों लोक स्थित हैं; **ब्रह्मविदः**=वेदके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष; **अत्र**=यहाँ (हृदयमें); **अन्तरम्**=अन्तर्यामीरूपसे स्थित उस ब्रह्मको; **विदित्वा**=जानकर; **तत्पराः**=उसीके परायण हो; **ब्रह्मणि**=उस परब्रह्ममें; **लीनाः**=लीन होकर; **योनिमुक्ताः**=सदाके लिये जन्म-मृत्युसे मुक्त हो गये ॥ ७ ॥

व्याख्या—जिनकी महिमाका वेदोंमें गान किया गया है, जो परब्रह्म परमात्मा सबके सर्वोत्तम आश्रय हैं, उन्हींमें तीनों लोकोंका समुदायरूप समस्त विश्व स्थित है। वे ही ऊपर बताये हुए सबके प्रेरक, कभी नाश न होनेवाले परम अक्षर, परम देव हैं। जिन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परमात्माकी दिव्यशक्तिका दर्शन किया था, वे वेदके रहस्यको समझनेवाले ऋषिलोग उन सबके प्रेरक परमात्माको यहाँ—अपने हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान समझकर, उन्हींके परायण होकर अर्थात् सर्वतोभावसे उनकी शरणमें जाकर, उन्हींमें लीन हो गये और सदाके लिये जन्म-मरणरूप योनिसे मुक्त हो गये। उनके मार्ग-का अनुसरण करके हम सब लोग भी उन्हींकी भाँति जन्म-मरणसे छूटकर परमात्मामें लीन हो सकते हैं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब उन परमात्माके स्वरूपका वर्णन करके उन्हें जाननेका फल बताया जाता है—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८ ॥

क्षरम्=विनाशशील जडवर्ग; **च**=एवं; **अक्षरम्**=अविनाशी जीवात्मा; **संयुक्तम्**=(इन दोनोंके) संयुक्त रूप; **व्यक्ताव्यक्तम्**=व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप; **एतत् विश्वम्**=इस विश्वका; **ईशः**=परमेश्वर ही; **भरते**=धारण और पोषण करता है; **च**=तथा; **आत्मा**=जीवात्मा; **भोक्तृभावात्**=इस जगत्के विषयोंका भोक्ता बना रहनेके कारण; **अनीशः**=प्रकृतिके अधीन हो; **बध्यते**=इसमें बँध जाता है; (और) **देवम्**=उस परमदेव परमेश्वरको; **ज्ञात्वा**=जानकर; **सर्वपाशैः**=सब प्रकारके बन्धनोंसे; **मुच्यते**=मुक्त हो जाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—विनाशशील जडवर्ग, जिसे भगवान्की अपरा प्रकृति तथा क्षर-तत्त्व कहा गया है और भगवान्की परा प्रकृतिरूप जीवसमुदाय, जो अक्षरतत्त्वके नामसे पुकारा जाता है—इन दोनोंके संयोगसे बने हुए, प्रकट और अप्रकट रूपमें स्थित इस समस्त जगत्का वे परमपुरुष पुरुषोत्तम ही धारण-पोषण करते हैं, जो सबके स्वामी, सबके प्रेरक तथा सबका यथायोग्य सञ्चालन और नियमन करनेवाले परमेश्वर हैं। जीवात्मा इस जगत्के विषयोंका भोक्ता बना रहनेके कारण प्रकृतिके अधीन हो इसके मोहजालमें फँसा रहता है, उन परमदेव परमात्माकी ओर दृष्टिपात नहीं करता। जब कभी यह उन सर्व-सुहृद् परमात्माकी अहैतुकी दयासे महापुरुषोंका संग पाकर उनको जाननेका अभिलाषी होकर पूर्ण चेष्टा करता है, तब उन परमदेव परमेश्वरको जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—पुनः जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति—इन तीनोंके स्वरूपका पृथक्-पृथक् वर्णन करके, इस तत्त्वको जानकर उपासना करनेका फल दो मन्त्रोंद्वारा बताया जाता है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ ९ ॥

ज्ञाज्ञौ=सर्वज्ञ और अज्ञानी; **ईशनीशौ**=सर्वसमर्थ और असमर्थ; **द्वौ**=ये दो; **अजौ**=अजन्मा आत्मा हैं; (तथा) **भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता**=भोगनेवाले जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग्य-सामग्रीसे युक्त; **हि**=तथा; **अजा**=अनादि प्रकृति; **एका**=एक तीसरी शक्ति है; (इन तीनोंमें जो ईश्वरतत्त्व है, वह शेष दोसे विलक्षण है;) **हि**=क्योंकि; **आत्मा**=वह परमात्मा; **अनन्तः**=अनन्त; **विश्वरूपः**=सम्पूर्ण रूपोंवाला; **च**=और; **अकर्ता**=कर्तापनके अभिमानसे रहित है; **यदा**=जब; (मनुष्य इस प्रकार) **एतत् त्रयम्**= ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनोंको; **ब्रह्मम्**=ब्रह्मरूपमें; **विन्दते**=प्राप्त कर लेता है (तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है) ॥ ९ ॥

व्याख्या—ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्तिवाला है; ये दोनों ही अजन्मा हैं। इनके सिवा एक तीसरी शक्ति भी अजन्मा है, जिसे प्रकृति कहते हैं; यह भोक्ता जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग-सामग्री प्रस्तुत करती है। यद्यपि ये तीनों ही अजन्मा हैं—अनादि हैं, फिर भी ईश्वर शेष दो तत्त्वोंसे विलक्षण हैं; क्योंकि वे परमात्मा हैं, अनन्त हैं। सम्पूर्ण विश्व उन्हींका स्वरूप—विराट् रूप है। वे सब कुछ करते हुए—सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति, पालन और संहार करते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं करते; क्योंकि वे कर्तापनके अभिमानसे रहित हैं। मनुष्य जब इस प्रकार इन तीनोंकी विलक्षणता और

विभिन्नताको समझते हुए भी इन्हें ब्रह्मरूपमें उपलब्ध कर लेता है अर्थात् प्रकृति और जीव तो उन परमेश्वरकी प्रकृतियाँ हैं और परमेश्वर इनके स्वामी हैं—इस प्रकार प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥१०॥

प्रधानम्=प्रकृति तो; **क्षरम्**=विनाशशील है; **हरः**=इसको भोगनेवाला जीवात्मा; **अमृताक्षरम्**= अमृतस्वरूप अविनाशी है; **क्षरात्मानौ**=इन विनाशशील जड-तत्त्व और चेतन आत्मा—दोनोंको; **एकः**=एक; **देवः**= ईश्वर; **ईशते**= अपने शासनमें रखता है; (इस प्रकार जानकर) **तस्य**=उसका; **अभिध्यानात्**=निरन्तर ध्यान करनेसे; **योजनात्**=मनको उसमें लगाये रहनेसे; **च**=तथा; **तत्त्वभावात्**=तन्मय हो जानेसे; **अन्ते**=अन्तमें (उसीको प्राप्त हो जाता है); **भूयः**= फिर; **विश्वमायानिवृत्तिः**=समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १० ॥

व्याख्या—प्रकृति तो क्षर अर्थात् परिवर्तन होनेवाली, विनाशशील है और इसको भोगनेवाला जीवसमुदाय अविनाशी अक्षरतत्त्व है । इन क्षर और अक्षर (जड प्रकृति और चेतन जीवसमुदाय)—दोनों तत्त्वोंपर एक परमदेव परमेश्वर शासन करते हैं, वे ही प्राप्त करनेके और जाननेके योग्य हैं, उन्हें तत्त्वसे जानना चाहिये—इस प्रकार दृढ निश्चय करके उन परमदेव परमात्माका निरन्तर ध्यान करनेसे, उन्हींमें रात-दिन संलग्न रहनेसे और उन्हींमें तन्मय हो जानेसे अन्तमें यह उन्हींको पा लेता है । फिर इसके लिये सम्पूर्ण मायाकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है अर्थात् मायामय जगत्से इसका सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है ॥१०॥

सम्बन्ध—उन परमदेवको जाननेका फल पुनः बताया जाता है—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥११॥

तस्य=उस परमदेवका; **अभिध्यानात्**=निरन्तर ध्यान करनेसे; **देवम्**=उस प्रकाशमय परमात्माको; **ज्ञात्वा**= जान लेनेपर; **सर्वपाशापहानिः**=समस्त बन्धनोंका नाश हो जाता है; (क्योंकि) **क्लेशैः क्षीणैः**=क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण; **जन्ममृत्युप्रहाणिः**=जन्म-मृत्युका सर्वथा अभाव हो जाता है; (अतः वह) **देहभेदे**=शरीरका नाश होनेपर; **तृतीयम्**=तीसरे लोक (स्वर्ग) तकके; **विश्वैश्वर्यम् [त्यक्त्वा]**=समस्त ऐश्वर्यका त्याग करके; **केवलः**=सर्वथा विशुद्ध; **आप्तकामः**=पूर्णकाम हो जाता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—परमपुरुष परमात्माका निरन्तर ध्यान करते-करते जब साधक उन परमदेवको जान लेता है, तब इसके समस्त बन्धनोंका सदाके लिये सर्वथा नाश हो जाता है; क्योंकि अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष और मरणभय—इन पाँचों क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण उसके जन्म-मरणका सदाके लिये अभाव हो जाता है । अतः वह फिर कभी बन्धनमें नहीं पड़ सकता । वह इस शरीरका नाश होनेपर तृतीय लोक अर्थात् स्वर्गके सबसे ऊँचे स्तर—ब्रह्मलोकतकके बड़े-से-बड़े समस्त ऐश्वर्योंका त्याग करके प्रकृतिसे वियुक्त, सर्वथा विशुद्ध कैवल्यपदको प्राप्त हो पूर्णकाम हो जाता है—उसे किसी प्रकारकी कामना नहीं रहती; क्योंकि वह सम्पूर्ण कामनाओंका फल पा लेता है ॥ ११ ॥

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥१२॥

आत्मसंस्थम्=अपने ही भीतर स्थित; **एतत्**=इस ब्रह्मको; **एव**=ही; **नित्यम्**=सर्वदा; **ज्ञेयम्**=जानना चाहिये; **हि**=क्योंकि; **अतः परम्**=इससे बढ़कर; **वेदितव्यम्**=जाननेयोग्य तत्त्व; **किञ्चित्**=दूसरा कुछ भी; **न**=नहीं है; **भोक्ता**= भोक्ता (जीवात्मा); **भोग्यम्**=भोग्य (जडवर्ग); **च**=और; **प्रेरितारम्**=उनके प्रेरक परमेश्वर; **मत्वा**=(इन तीनोंको) जानकर; (मनुष्य) **सर्वम्**=सब कुछ (जान लेता है); **एतत्**=(इस प्रकार) यह; **त्रिविधम्**=तीन भेदोंमें; **प्रोक्तम्**=बताया हुआ ही; **ब्रह्मम्**=ब्रह्म है ॥ १२ ॥

व्याख्या—ये परमदेव परब्रह्म पुरुषोत्तम अपने ही भीतर—हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। इनको जाननेके लिये कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं है। इन्हींको सदा जाननेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि इनसे बढ़कर जानने-योग्य दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इन एकको जाननेसे ही सबका ज्ञान हो जाता है, ये ही सबके कारण और परमाधार हैं। मनुष्य भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जडवर्ग) और इन दोनोंके प्रेरक ईश्वरको जानकर सब कुछ जान लेता है। फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। जिनके ये तीन भेद बताये गये हैं, वे ही समग्र ब्रह्म हैं। अर्थात् जड प्रकृति, चेतन आत्मा और उन दोनोंके आधार तथा नियामक परमात्मा—ये तीनों ब्रह्मके ही रूप हैं ॥ १२ ॥

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥१३॥

यथा=जिस प्रकार; **योनिगतस्य**=योनि अर्थात् आश्रयभूत काष्ठमें स्थित; **वह्नेः**=अग्निका; **मूर्तिः**=रूप; **न दृश्यते**=नहीं दीखता; **च**=और; **लिङ्गनाशः**=उसके चिह्नका (सत्ताका) नाश; **एव**=भी; **न**=नहीं होता; (क्योंकि) **सः**=वह; **भूयः एव**=चेष्टा करनेपर अवश्य ही; **इन्धनयोनिगृह्यः**=ईंधनरूप अपनी योनिमें ग्रहण किया जा सकता है; **वा**=उसी प्रकार; **तत् उभयम्**=वे दोनों (जीवात्मा और परमात्मा); **देहे**=शरीरमें; **वै**=ही; **प्रणवेन**=ॐकारके द्वारा (साधन करनेपर); [**गृह्यते**=ग्रहण किये जा सकते हैं] ॥ १३ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार अपनी योनि अर्थात् प्रकट होनेके स्थानविशेष काष्ठ आदिमें स्थित अग्निका रूप दिखलायी नहीं देता, परंतु इस कारण यह नहीं समझा जाता कि अग्नि नहीं है,—उसका होना अवश्य माना जाता है; क्योंकि उसकी सत्ता मानकर अरणियोंका मन्थन करनेपर ईंधनरूप अपने स्थानमेंसे वह फिर भी ग्रहण किया जा सकता है, उसी प्रकार उपर्युक्त जीवात्मा और परमात्मा हृदयरूप अपने स्थानमें छिपे रहकर प्रत्यक्ष नहीं होते, परन्तु ॐ के जपद्वारा साधन करनेपर इस शरीरमें ही इनका साक्षात्कार किया जा सकता है—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—ॐकारके द्वारा साधक किस प्रकार उन परमात्माका साक्षात् कर लेता है, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥१४॥

स्वदेहम्=अपने शरीरको; **अरणिम्**=नीचेकी अरणि; **च**=और; **प्रणवम्**=प्रणवको; **उत्तरारणिम्**=ऊपरकी अरणि; **कृत्वा**=बनाकर; **ध्याननिर्मथनाभ्यासात्**=ध्यानके द्वारा निरन्तर मन्थन करते रहनेसे; (साधक) **निगूढवत्**=छिपी हुई अग्निकी भाँति; (हृदयमें स्थित) **देवम्**=परमदेव परमेश्वरको; **पश्येत्**=देखे ॥ १४ ॥

व्याख्या—अग्निको प्रकट करनेके लिये जैसे दो अरणियोंका मन्थन किया जाता है, उसी प्रकार अपने शरीरमें परम पुरुष परमात्माको प्राप्त करनेके लिये शरीरको तो नीचेकी अरणि बनाना चाहिये और ॐकारको ऊपरकी अरणि। अर्थात् शरीरको नीचेकी अरणिकी भाँति समभावसे निश्चल स्थित करके ऊपरकी अरणिकी भाँति ॐकारका वाणीद्वारा जप और मनसे उसके अर्थस्वरूप परमात्माका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार इस ध्यानरूप मन्थनके अभ्याससे साधकको काष्ठमें छिपी हुई अग्निकी भाँति अपने हृदयमें छिपे हुए परमदेव परमेश्वरको देख लेना—प्रत्यक्ष कर लेना चाहिये ॥ १४ ॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥१५॥

तिलेषु=तिलोंमें; **तैलम्**=तेल; **दधनि**=दहीमें; **सर्पिः**=घी; **स्रोतःसु**=सोतोंमें; **आपः**=जल; **च**=और; **अरणीषु**=अरणियोंमें; **अग्निः**=अग्नि; **इव**=जिस प्रकार छिपे रहते हैं; **एवम्**=उसी प्रकार; **असौ**=वह; **आत्मा**=परमात्मा; **आत्मनि**=अपने हृदयमें छिपा हुआ है; **यः**=जो कोई साधक; **एनम्**=इसको; **सत्येन**=सत्यके द्वारा; (और) **तपसा**=संयमरूप तपसे; **अनुपश्यति**=देखता रहता है—चिन्तन करता रहता है; [**तेन**=उसके द्वारा;] **गृह्यते**=वह ग्रहण किया जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार तिलोंमें तेल, दहीमें घी, ऊपरसे सूखी हुई नदीके भीतरी सोतोंमें जल तथा अरणियोंमें अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार परमात्मा हमारे हृदयरूप गुफामें छिपे हैं। जिस प्रकार अपने-अपने स्थानोंमें छिपे हुए तेल आदि उनके लिये बताये हुए उपायोंसे उपलब्ध किये जा सकते हैं, उसी प्रकार जो कोई साधक विषयोंसे विरक्त होकर सदाचार, सत्यभाषण तथा संयमरूप तपस्याके द्वारा साधन करता हुआ पूर्वोक्त प्रकारसे उनका निरन्तर ध्यान करता रहता है, उनके द्वारा वे परब्रह्म परमात्मा भी प्राप्त किये जा सकते हैं ॥ १५ ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥
तद् ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥१६॥

क्षीरे=दूधमें; **अर्पितम्**=स्थित; **सर्पिः इव**=घीकी भाँति; **सर्वव्यापिनम्**=सर्वत्र परिपूर्ण; **आत्मविद्यातपोमूलम्**=आत्मविद्या तथा तपसे प्राप्त होनेवाले; **आत्मानम्**=परमात्माको (वह पूर्वोक्त साधक जान लेता है); **तत्**=वह; **उपनिषत्**=उपनिषदोंमें बताया हुआ; **परम्**=परम तत्त्व; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **तत्**=वह; **उपनिषत्**=उपनिषदोंमें बताया हुआ; **परम्**=परमतत्त्व; **ब्रह्म**=ब्रह्म है ॥ १६ ॥

व्याख्या—आत्मविद्या और तप जिनकी प्राप्तिके मूलभूत साधन हैं, तथा जो दूधमें स्थित घीकी भाँति सर्वत्र परिपूर्ण हैं, उन सर्वान्तर्यामी परमात्माको वह पूर्वोक्त साधक जान लेता है। वे ही उपनिषदोंमें वर्णित परम तत्त्व ब्रह्म हैं। वे ही उपनिषदोंमें वर्णित परम तत्त्व ब्रह्म हैं। अन्तिम वाक्यकी पुनरावृत्ति अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ १६ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें परमदेव परमात्माके साक्षात्कारका प्रधान उपाय ध्यान बताया गया। उस ध्यानकी प्रक्रिया बतानेके लिये यह दूसरा अध्याय आरम्भ किया जाता है। इसमें पहले ध्यानकी सिद्धिके लिये पाँच मन्त्रोंमें परमेश्वरसे प्रार्थना करनेका प्रकार बताया जाता है—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ॥ १ ॥

सविता=सबको उत्पन्न करनेवाला परमात्मा; **प्रथमम्**=पहले; **मनः**=हमारे मन; (और) **धियः**=बुद्धियोंको; **तत्त्वाय**=तत्त्वकी प्राप्तिके लिये; **युञ्जानः**=अपने स्वरूपमें लगाते हुए; **अग्नेः**=अग्नि (आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओं) की; **ज्योतिः**=ज्योति (प्रकाशन-सामर्थ्य) को; **निचाय्य**=अवलोकन करके; **पृथिव्याः**=पार्थिव पदार्थोंसे; **अधि**=ऊपर उठाकर; **आभरत**=हमारी इन्द्रियोंमें स्थापित करे ॥ १ ॥

व्याख्या—सबको उत्पन्न करनेवाले परमात्मा पहले हमारे मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको तत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपने दिव्य स्वरूपमें लगायें और अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओंकी जो विषयोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य है, उसे दृष्टिमें रखते हुए बाह्य विषयोंसे लौटाकर हमारी इन्द्रियोंमें स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दें, जिससे हमारी इन्द्रियोंका प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मनकी स्थिरतामें सहायक हो ॥ १ ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या ॥ २ ॥

वयम्=हमलोग; **सवितुः**=सबको उत्पन्न करनेवाले; **देवस्य**=परमदेव परमेश्वरकी; **सवे**=आराधनारूप यज्ञमें; **युक्तेन मनसा**=लगे हुए मनके द्वारा; **सुवर्गेयाय**=स्वर्गीय सुख (भगवत्-प्राप्ति-जनित आनन्द) की प्राप्तिके लिये; **शक्त्या**=पूरी शक्तिसे; [**प्रयतामहै**=प्रयत्न करें] ॥ २ ॥

व्याख्या—हमलोग सबको उत्पन्न करनेवाले परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमें लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दप्राप्तिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करें। अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्‌की आराधनामें लगा रहे और हम भगवत्-प्राप्तिजनित परमानन्दकी अनुभूतिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्नशील रहें ॥ २ ॥

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३ ॥

सविता=सबको उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर; **सुवः**=स्वर्गादि लोकोंमें; (और) **दिवम्**=आकाशमें; **यतः**=गमन करनेवाले; (तथा) **बृहत्**=बड़ा भारी; **ज्योतिः**=प्रकाश; **करिष्यतः**=फैलानेवाले; **तान्**=उन; (मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता) **देवान्**=देवताओंको; **मनसा**=हमारे मन; (और) **धिया**=बुद्धिसे; **युक्त्वाय**=संयुक्त करके; (प्रकाश प्रदान करनेके लिये) **प्रसुवाति**=प्रेरणा करता है अर्थात् करे ॥ ३ ॥

व्याख्या—वे सबको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको, जो स्वर्ग आदि लोकोंमें और आकाशमें विचरनेवाले तथा बड़ा भारी प्रकाश फैलानेवाले हैं, हमारे मन और बुद्धिसे संयुक्त करके हमें प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रेरणा करें, ताकि हम उन परमेश्वरका साक्षात् करनेके लिये ध्यान करनेमें समर्थ हों। हमारे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाश फैला रहे। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यानमें विघ्न न कर सकें ॥ ३ ॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥

विप्राः=(जिसमें) ब्राह्मण आदि; **मनः**=मनको; **युञ्जते**=लगाते हैं; **उत**=और; **धियः**=बुद्धिकी वृत्तियोंको भी; **युञ्जते**=लगाते हैं; **होत्राः विदधे**=(जिसने समस्त) अग्निहोत्र आदि शुभकर्मोंका विधान किया है; (तथा जो) **वयुनावित्**=समस्त जगत्‌के विचारोंको जाननेवाला; (और) **एकः**=एक है; **बृहतः**=(उस) सबसे महान्; **विप्रस्य**=सर्वत्र व्यापक; **विपश्चितः**=सर्वज्ञ; (एवं) **सवितुः**=सबके उत्पादक; **देवस्य**=परम देव परमेश्वरकी; **इत्**=निश्चय ही; (हमें) **मही**=महती; **परिष्टुतिः**=स्तुति (करनी चाहिये) ॥ ४ ॥

व्याख्या—जिन परब्रह्म परमात्मामें श्रेष्ठ बुद्धिवाले ब्राह्मणादि अधिकारी मनुष्य अपने मनको लगाते हैं तथा अपनी सब प्रकारकी बुद्धि-वृत्तियोंको भी नियुक्त करते हैं, जिन्होंने अग्निहोत्र आदि समस्त शुभ कर्मोंका विधान किया है, जो समस्त जगत्‌के विचारोंको जाननेवाले और एक अद्वितीय हैं, उन सबसे महान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सबके उत्पादक परमदेव परमेश्वरकी अवश्य ही हमें भूरि-भूरि स्तुति करनी चाहिये ॥ ४ ॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥

(हे मन और बुद्धि ! मैं) **वाम्**=तुम दोनोंके (स्वामी); **पूर्व्यम्**=सबके आदि; **ब्रह्म**=पूर्णब्रह्म परमात्मासे; **नमोभिः**=बार-बार नमस्कारके द्वारा; **युजे**=संयुक्त होता हूँ; **श्लोकः**=मेरा यह स्तुति-पाठ; **सूरेः**=श्रेष्ठ विद्वान्‌की; **पथ्या इव**=कीर्तिकी भाँति; **व्येतु (वि+एतु)**=सर्वत्र फैल जाय; (जिससे) **अमृतस्य**=अविनाशी परमात्माके; **विश्वे**=समस्त; **पुत्राः**=पुत्र; **ये**=जो; **दिव्यानि**=दिव्य; **धामानि**=लोकोंमें; **आतस्थुः**=निवास करते हैं; **शृण्वन्तु**=सुनें ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे मन और बुद्धि ! मैं तुम दोनोंके स्वामी और समस्त जगत्‌के आदि कारण परब्रह्म परमात्माको बार-बार नमस्कार करके विनयपूर्वक उनकी शरणमें जाकर उनमें संलग्न होता हूँ। मेरे द्वारा जो उन परमेश्वरकी महिमाका वर्णन किया गया है, वह विद्वान् पुरुषकी कीर्तिके समान समस्त जगत्‌में व्याप्त हो जाय। उसे अविनाशी परमात्माके वे सभी लाड़िले, जो दिव्य लोकोंमें निवास करते हैं, भलीभाँति सुनें ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—ध्यानके लिये परमात्मासे स्तुति करनेका प्रकार बतलानेके अनन्तर अब छठे मन्त्रमें उस ध्यानकी स्थितिका वर्णन करके सातवेंमें मनुष्यको उस ध्यानमें लग जानेके लिये आदेश दिया जाता है—

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥ ६ ॥

यत्र=जिस स्थितिमें; **अग्निः**=परमात्मारूप अग्निको; (प्राप्त करनेके उद्देश्यसे) **अभिमथ्यते**=(ॐकारके जप और ध्यानद्वारा) मन्थन किया जाता है; **यत्र**=जहाँ; **वायुः अधिरुध्यते**=प्राणवायुका भलीभाँति विधिपूर्वक निरोध किया जाता है; (तथा) **यत्र**=जहाँ; **सोमः**=आनन्दरूप सोमरस; **अतिरिच्यते**=अधिकतासे प्रकट होता है; **तत्र**=वहाँ (उस स्थितिमें); **मनः**=मन; **संजायते**=सर्वथा विशुद्ध हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिस स्थितिमें अग्नि प्रकट करनेके लिये अरणियोंद्वारा मन्थन करनेकी भाँति अग्निस्थानीय परमात्माको प्राप्त करनेके लिये पहले अध्यायमें कहे हुए प्रकारसे शरीरको नीचेकी अरणि और ॐकारको ऊपरकी अरणि बनाकर उसका जप और उसके अर्थरूप परमात्माका-निरन्तर चिन्तनरूप मन्थन किया जाता है, जहाँ प्राणवायुका विधिपूर्वक भलीभाँति निरोध किया जाता है, जहाँ आनन्दरूप सोमरस अधिकतासे प्रकट होता है, उस ध्यानावस्थामें मनुष्यका मन सर्वथा विशुद्ध हो जाता है ॥ ६ ॥

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥ ७ ॥

सवित्रा=सम्पूर्ण जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले परमात्माके द्वारा; **प्रसवेन**=प्राप्त हुई प्रेरणासे; **पूर्व्यम्**=सबके आदि-कारण; **ब्रह्म जुषेत**=उस परब्रह्म परमेश्वरकी ही सेवा (आराधना) करनी चाहिये; **तत्र**=(तू) उस परमात्मामें ही; **योनिम्**=आश्रय; **कृणवसे**=प्राप्त कर; **हि**=क्योंकि; (यों करनेसे) **ते**=तेरे; **पूर्वम्**=पूर्व संचित कर्म; **न अक्षिपत्**=विघ्नकारक नहीं होंगे ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे साधक ! सम्पूर्ण जगत्‌के उत्पादक सर्वान्तर्यामी परमेश्वरकी प्रेरणासे अर्थात् ऊपर बताये हुए प्रकारसे परमात्माकी स्तुति करके उनसे अनुमति प्राप्तकर तुम्हें उन सबके आदि परब्रह्म परमात्माकी ही सेवा (समाराधना) करनी चाहिये । उन परमेश्वरमें ही आश्रय प्राप्त करना चाहिये—उन्हींकी शरण ग्रहण करके उन्हींमें अपने-आपको विलीन कर देना चाहिये । यों करनेसे तुम्हारे पहले किये हुए समस्त संचित कर्म विघ्नकारक नहीं होंगे—बन्धनरूप नहीं होंगे ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—ध्यानयोगका साधन करनेवालेको किस प्रकार बैठकर कैसे ध्यान करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

विद्वान्=बुद्धिमान् मनुष्य (को चाहिये कि); **त्रिरुन्नतम्**=सिर, गला और छाती—इन तीनों स्थानोंपर उभरे हुए; **शरीरम्**=शरीरको; **समम्**=सीधा; (और) **स्थाप्य**=स्थिर करके; (तथा) **इन्द्रियाणि**=समस्त इन्द्रियोंको; **मनसा**=मनके द्वारा; **हृदि**=हृदयमें; **संनिवेश्य**=निरुद्ध करके; **ब्रह्मोडुपेन**=ॐ काररूप नौकाद्वारा; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **भयावहानि**=भयङ्कर; **स्रोतांसि**=सोतों (प्रवाहों) को; **प्रतरेत**=पार कर जाय ॥ ८ ॥

व्याख्या—जो ध्यानयोगका साधन करे, उस बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि ध्यानके समय जब आसन जमाकर सुखपूर्वक बैठे, उस समय अपने सिर, गले और छातीको ऊँचा उठाये रक्खे, इधर-उधर न झुकने दे; तथा शरीरको सीधा और स्थिर रक्खे । क्योंकि शरीरको सीधा और स्थिर रक्खे बिना तथा सिर, गला और वक्षःस्थल ऊँचा किये बिना आलस्य, निद्रा और विक्षेपरूप विघ्न आ जाते हैं । अतः इन विघ्नोंसे बचनेके लिये उपर्युक्त प्रकारसे ही बैठना चाहिये । इसके बाद समस्त इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर उनका मनके द्वारा हृदयमें निरोध कर लेना चाहिये । फिर ॐकाररूप नौकाका आश्रय लेकर अर्थात् ॐकारका जप और उसके वाच्य परब्रह्म परमात्माका ध्यान करके समस्त भयानक प्रवाहोंको

पार कर लेना चाहिये। भाव यह है कि नाना योनियोंमें ले जानेवाली जितनी वासनाएँ हैं, वे सब जन्म-मृत्युरूप भय देनेवाले स्रोत (प्रवाह) हैं। इन सबका त्याग करके सदाके लिये अमरपदको प्राप्त कर लेना चाहिये ॥ ८ ॥

प्राणान्प्रपीडयेह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

विद्वान्=बुद्धिमान् साधक (को चाहिये कि); **इह**=उपर्युक्त योगसाधनामें; **संयुक्तचेष्टः**=आहार-विहार आदि समस्त चेष्टाओंको यथायोग्य करते हुए; **प्राणान् प्रपीड्य**=विधिवत् प्राणायाम करके; **प्राणे क्षीणे**=प्राणके सूक्ष्म हो जानेपर; **नासिकया**=नासिकाद्वारा; **उच्छ्वसीत**=उनको बाहर निकाल दे; **दुष्टाश्वयुक्तम्**=(इसके बाद) दुष्ट घोड़ोंसे युक्त; **वाहम् इव**=रथको जिस प्रकार सारथि सावधानतापूर्वक गन्तव्य मार्गमें ले जाता है, उसी प्रकार; **एनम्**=इस; **मनः**=मनको; **अप्रमत्तः**=सावधान होकर; **धारयेत**=वशमें किये रहे ॥ ९ ॥

व्याख्या—बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि वह इस योग-साधनाके लिये आहार-विहार आदि समस्त चेष्टाओंको यथायोग्य करता रहे, उन्हें ध्यानयोगके लिये उपयोगी बना ले। तथा योगशास्त्रकी विधिके अनुसार प्राणायाम करते-करते जब प्राण अत्यन्त सूक्ष्म हो जाय, तब नासिकाद्वारा उसे बाहर निकाल दे*। इसके बाद जैसे दुष्ट घोड़ोंसे जुते हुए रथको अच्छा सारथि बड़ी सावधानीसे चलाकर अपने गन्तव्य स्थानपर ले जाता है, उसी प्रकार साधकको चाहिये कि बड़ी सावधानीके साथ अपने मनको वशमें रक्खे, जिससे योगसाधनमें किसी प्रकारका विघ्न न आये और वह परमात्माकी प्राप्तिरूप लक्ष्यपर पहुँच जाय† ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—परब्रह्म परमात्मामें मन लगानेके लिये कैसे स्थानमें कैसी भूमिपर बैठकर साधन करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

समे=समतल; **शुचौ**=सब प्रकारसे शुद्ध; **शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते**=कंकड़, अग्नि और बालूसे रहित; (तथा) **शब्दजलाश्रयादिभिः**=शब्द, जल और आश्रय आदिकी दृष्टिसे; **अनुकूले**=सर्वथा अनुकूल; **तु**=और; **न चक्षुपीडने**=नेत्रोंको पीड़ा न देनेवाले; **गुहानिवाताश्रयणे**=गुहा आदि वायुशून्य स्थानमें; **मनः**=मनको; **प्रयोजयेत्**=ध्यानमें लगानेका अभ्यास करना चाहिये ॥ १० ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें ध्यानयोगके उपयुक्त स्थानका वर्णन है। भाव यह है कि ध्यानयोगका साधन करनेवाले साधकको ऐसे स्थानमें अपना आसन लगाना चाहिये, जहाँकी भूमि समतल हो—ऊँची-नीची, टेढ़ी-मेढ़ी न हो; जो सब प्रकारसे शुद्ध हो,—जहाँपर कूड़ा-कर्कट, मैला आदि न हो, झाड़-बुहारकर साफ किया हुआ हो और स्वभावसे भी पवित्र हो—जैसे कोई देवालय, तीर्थस्थान आदि; जहाँ कंकड़, बालू न हों और अग्नि या धूपकी गर्मी भी न हो; जहाँ कोई मनमें विक्षेप करनेवाला शब्द न होता हो—कोलाहलका सर्वथा अभाव हो; यथावश्यक जल प्राप्त हो सके, किंतु ऐसा जलाशय न हो जहाँ बहुत लोग आते-जाते हों; एवं जहाँ शरीर-रक्षाके लिये उपयुक्त आश्रय हो परंतु ऐसा न हो, जहाँ धर्मशाला आदिकी भाँति बहुत लोग ठहरते हों; तात्पर्य यह कि इन सब विचारोंके अनुसार जो सर्वथा अनुकूल हो और जहाँका दृश्य नेत्रोंको पीड़ा पहुँचानेवाला—भयानक न हो, ऐसे गुफा आदि वायुशून्य एकान्त स्थानमें पहले बताये हुए प्रकारसे आसन लगाकर अपने मनको परमात्मामें लगानेका अभ्यास करना चाहिये ॥ १० ॥

सम्बन्ध—योगाभ्यास करनेवाले साधकका साधन ठीक हो रहा है या नहीं, इसकी पहचान बतायी जाती है—

---

* आठवें और नवें मन्त्रोंमें जो ध्यानके लिये बैठनेकी और साधन करनेकी विधि बतायी गयी है, उसका बड़े सुन्दर ढंगसे सुस्पष्ट वर्णन भगवान्‌ने गीता अध्याय ६ श्लोक ११ से १७ तक किया है।

† कठोपनिषद्‌में (१ । ३ । २ से ८ तक) रथके रूपकका विस्तृत वर्णन है।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥

ब्रह्मणि योगे=परमात्माकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले योगमें; (पहले) **नीहारधूमार्कानिलानलानाम्**= कुहरा, धूआँ, सूर्य, वायु और अग्निके सदृश; (तथा) **खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्**=जुगनू, बिजली, स्फटिक मणि और चन्द्रमाके सदृश; **रूपाणि**=बहुत-से दृश्य; **पुरःसराणि [भवन्ति]**=योगीके सामने प्रकट होते हैं; **एतानि**= ये सब; **अभिव्यक्तिकराणि**= योगकी सफलताको स्पष्टरूपसे सूचित करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या—जब साधक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ध्यानयोगका साधन आरम्भ करता है, तब उसको अपने सामने कभी कुहरेके सदृश रूप दीखता है, कभी धूआँ-सा दिखायी देता है, कभी सूर्यके समान प्रकाश सर्वत्र परिपूर्ण दीखता है, कभी निःशब्द वायुकी भाँति निराकार रूप अनुभवमें आता है, कभी अग्निके सदृश तेज दीख पड़ता है, कभी जुगनूके सदृश टिमटिमाहट-सी प्रतीत होती है, कभी बिजलीकी-सी चकाचौंध पैदा करनेवाली दीप्ति दृष्टिगोचर होती है, कभी स्फटिक-मणिके सदृश उज्ज्वल रूप देखनेमें आता है और कभी चन्द्रमाकी भाँति शीतल प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ दिखायी देता है। ये सब तथा और भी अनेक दृश्य योग-साधनकी उन्नतिके द्योतक हैं। इनसे यह बात समझमें आती है कि साधकका ध्यान ठीक हो रहा है ॥ ११ ॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते=पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँचों महाभूतोंका सम्यक् प्रकारसे उत्थान होनेपर; (तथा) **पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते**=इनसे सम्बन्ध रखनेवाले पाँच प्रकारके योगसम्बन्धी गुणोंकी सिद्धि हो जानेपर; **योगाग्निमयम्**=योगाग्निमय; **शरीरम्**=शरीरको; **प्राप्तस्य**=प्राप्त कर लेनेवाले; **तस्य**= उस साधकको; **न**=न तो; **रोगः**=रोग होता है; **न**=न; **जरा**=बुढ़ापा आता है; **न**=और न; **मृत्युः**=उसकी मृत्यु ही होती है ॥ १२ ॥

व्याख्या—ध्यानयोगका साधन करते-करते जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतोंका उत्थान हो जाता है, अर्थात् जब साधकका इन पाँचों महाभूतोंपर अधिकार हो जाता है, और इन पाँचों महाभूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली योगविषयक पाँचों सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, उस समय योगाग्निमय शरीरको प्राप्त कर लेनेवाले उस योगीके शरीरमें न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है। अभिप्राय यह कि उसकी इच्छाके बिना उसका शरीर नष्ट नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३॥

लघुत्वम्=शरीरका हल्कापन; **आरोग्यम्**=किसी प्रकारके रोगका न होना; **अलोलुपत्वम्**=विषयासक्तिकी निवृत्ति; **वर्णप्रसादम्**=शारीरिक वर्णकी उज्ज्वलता; **स्वरसौष्ठवम्**=स्वरकी मधुरता; **शुभः गन्धः**=(शरीरमें) अच्छी गन्ध; **च**=और; **मूत्रपुरीषम्**=मल-मूत्र; **अल्पम्**=कम हो जाना; (इन सबको) **प्रथमाम् योगप्रवृत्तिम्**=योगकी पहली सिद्धि; **वदन्ति**=कहते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या—भूतोंपर विजय प्राप्त कर लेनेवाले ध्यानयोगीमें पूर्वोक्त शक्तियोंके सिवा और भी शक्तियाँ आ जाती हैं। उदाहरणतः उसका शरीर हल्का हो जाता है, शरीरमें भारीपन या आलस्यका भाव नहीं रहता। वह सदा ही नीरोग रहता है, उसे कभी कोई रोग नहीं होता। भौतिक पदार्थोंमें उसकी आसक्ति नष्ट हो जाती है। कोई भी भौतिक पदार्थ सामने आनेपर उसके मन और इन्द्रियोंका उसकी ओर आकर्षण नहीं होता। उसके शरीरका वर्ण उज्ज्वल हो जाता है। स्वर अत्यन्त

मधुर और स्पष्ट हो जाता है। शरीरमेंसे बहुत अच्छी गन्ध निकलकर सब ओर फैल जाती है। मल और मूत्र बहुत ही स्वल्प मात्रामें होने लगते हैं। ये सब योगमार्गकी प्रारम्भिक सिद्धियाँ हैं—ऐसा योगीलोग कहते हैं ॥ १३ ॥

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥

यथा=जिस प्रकार; **मृदया**=मिट्टीसे; **उपलिप्तम्**=लिप्त होकर मलिन हुआ; [**यत्**=जो;] **तेजोमयम्**=प्रकाशयुक्त; **बिम्बम्**=रत्न है; **तत् एव**=वही; **सुधान्तम्**=भलीभाँति धुल जानेपर; **भ्राजते**=चमकने लगता है; **तत् वा**=उसी प्रकार; **देही**=शरीरधारी (जीवात्मा); **आत्मतत्त्वम्**=(मल आदिसे रहित) आत्म-तत्त्वको; **प्रसमीक्ष्य**=(योगके द्वारा) भलीभाँति प्रत्यक्ष करके; **एकः**=अकेला, कैवल्य अवस्थाको प्राप्त; **वीतशोकः**=सब प्रकारके दुःखोंसे रहित; (तथा) **कृतार्थः**=कृतकृत्य; **भवते**=हो जाता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार कोई तेजोमय रत्न मिट्टीसे लिप्त रहनेके कारण छिपा रहता है, अपने असली रूपमें प्रकट नहीं होता, परंतु वही जब मिट्टी आदिको हटाकर धो-पोंछकर साफ कर लिया जाता है, तब अपने असली रूपमें चमकने लगता है, उसी प्रकार इस जीवात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त स्वच्छ होनेपर भी अनन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे मलिन हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होता; परन्तु जब मनुष्य ध्यानयोगके साधनद्वारा समस्त मलोंको धोकर आत्माके यथार्थ स्वरूपको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह असङ्ग हो जाता है। अर्थात् उसका जो जड पदार्थोंके साथ संयोग हो रहा था, उसका नाश होकर वह कैवल्य अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। तथा उसके सब प्रकारके दुःखोंका अन्त होकर वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है। उसका मनुष्य-जन्म सार्थक हो जाता है ॥ १४ ॥

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५॥

तु=उसके बाद; **यदा**=जब; **युक्तः**=वह योगी; **इह**=यहाँ; **दीपोपमेन**=दीपकके सदृश (प्रकाशमय); **आत्मतत्त्वेन**=आत्मतत्त्वके द्वारा; **ब्रह्मतत्त्वम्**=ब्रह्मतत्त्वको; **प्रपश्येत्**=भलीभाँति प्रत्यक्ष देख लेता है; [**तदा सः**=उस समय वह;] **अजम्**=(उस) अजन्मा; **ध्रुवम्**=निश्चल; **सर्वतत्त्वैः**=समस्त तत्त्वोंसे; **विशुद्धम्**=विशुद्ध; **देवम्**=परमदेव परमात्माको; **ज्ञात्वा**=जानकर; **सर्वपाशैः**=सब बन्धनोंसे; **मुच्यते**=सदाके लिये छूट जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—फिर जब वह योगी इसी स्थितिमें दीपकके सदृश निर्मल प्रकाशमय पूर्वोक्त आत्मतत्त्वके द्वारा ब्रह्मतत्त्वको भलीभाँति देख लेता है—अर्थात् उन परब्रह्म परमात्माको प्रत्यक्ष कर लेता है, तब उन जन्मादि समस्त विकारोंसे रहित, अचल और निश्चित तथा समस्त तत्त्वोंसे असङ्ग—सर्वथा विशुद्ध परम देव परमात्माको तत्त्वसे जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे सदाके लिये छूट जाता है।

इस मन्त्रमें आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको जाननेकी बात कहकर यह भाव दिखाया गया है कि परमात्माका साक्षात्कार मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा नहीं हो सकता। इन सबकी वहाँ पहुँच नहीं है, वे एकमात्र आत्मतत्त्वके द्वारा ही प्रत्यक्ष होते हैं ॥ १५ ॥

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥१६॥

ह=निश्चय ही; **एषः**=यह (ऊपर बताया हुआ); **देवः**=परमदेव परमात्मा; **सर्वाः**=समस्त; **प्रदिशः अनु**=दिशाओं और अवान्तर दिशाओंमें अनुगत (व्याप्त) है; [**सः**] **ह**=वही—प्रसिद्ध परमात्मा; **पूर्वः**=सबसे पहले; **जातः**=हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुआ था; (और) **सः उ**=वही; **गर्भे**=समस्त ब्रह्माण्डरूप गर्भमें; **अन्तः**=अन्तर्यामीरूपसे स्थित है; **सः एव**=वही; **जातः**=इस समय जगत्के रूपमें प्रकट है; **सः**=और वही; **जनिष्यमाणः**=भविष्यमें भी प्रकट होने-

वाला है; [**सः**=वह;] **जनान् प्रत्यङ्**=सब जीवोंके भीतर; (अन्तर्यामीरूपसे) **तिष्ठति**=स्थित है; (और) **सर्वतोमुखः**=सब ओर मुखवाला है ॥ १६ ॥

व्याख्या—निश्चय ही ये ऊपर बताये हुए परमदेव ब्रह्म समस्त दिशा और अवान्तर दिशाओंमें व्याप्त हैं अर्थात् सर्वत्र परिपूर्ण हैं। जगत्में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ वे न हों। वे ही प्रसिद्ध परब्रह्म परमात्मा सबसे पहले हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुए थे। वे ही इस ब्रह्माण्डरूप गर्भमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। वे ही इस समय जगत्के रूपमें प्रकट हैं और भविष्यमें अर्थात् प्रलयके बाद सृष्टिकालमें पुनः प्रकट होनेवाले हैं। वे समस्त जीवोंके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं, तथा सब ओर मुखवाले अर्थात् सबको सब ओरसे देखनेवाले हैं ॥ १६ ॥

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥१७॥

यः=जो; **देवः**=परमदेव परमात्मा; **अग्नौ**=अग्निमें है; **यः**=जो; **अप्सु**=जलमें है; **यः**=जो; **विश्वम् भुवनम् आविवेश**=समस्त लोकोंमें प्रविष्ट हो रहा है; **यः**=जो; **ओषधीषु**=ओषधियोंमें है; (तथा) **यः**=जो; **वनस्पतिषु**=वनस्पतियोंमें है; **तस्मै देवाय**=उन परमदेव परमात्माके लिये; **नमः**=नमस्कार है; **नमः**=नमस्कार है ॥ १७ ॥

व्याख्या—जो सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म परमदेव अग्निमें हैं, जो जलमें हैं, जो समस्त लोकोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो रहे हैं, जो ओषधियोंमें हैं और जो वनस्पतियोंमें हैं, अर्थात् जो सर्वत्र परिपूर्ण हैं, जिनका अनेक प्रकारसे पहले वर्णन कर आये हैं, उन परमदेव परमात्माको नमस्कार है! नमस्कार है। 'नमः' शब्दको दुहरानेका अभिप्राय अध्यायकी समाप्तिको सूचित करना है ॥१७॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥

यः=जो; **एकः**=एक; **जालवान्**=जगत्रूप जालका अधिपति; **ईशनीभिः**=अपनी स्वरूपभूत शासनशक्तियोंद्वारा; **ईशते**=शासन करता है; **ईशनीभिः**=उन विविध शासन-शक्तियोंद्वारा; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **लोकान् ईशते**=लोकोंपर शासन करता है; **यः**=(तथा) जो; **एकः**=अकेला; **एव**=ही; **सम्भवे च उद्भवे**=सृष्टि और उसके विस्तारमें (सर्वथा समर्थ है); **एतत्**=इस ब्रह्मको; **ये**=जो महापुरुष; **विदुः**=जान लेते हैं; **ते**=वे; **अमृताः**=अमर; **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या—जो एक—अद्वितीय परमात्मा जगत्-रूप जालकी रचना करके अपनी स्वरूपभूत शासन-शक्तियोंद्वारा उसपर शासन कर रहे हैं, तथा उन विविध शासन-शक्तियोंद्वारा समस्त लोकों और लोकपालोंका यथायोग्य संचालन कर रहे हैं—जिनके शासनमें ये सब अपने-अपने कर्तव्योंका नियमपूर्वक पालन कर रहे हैं, तथा जो अकेले ही बिना किसी दूसरेकी सहायता लिये समस्त जगत्की उत्पत्ति और उसका विस्तार करनेमें सर्वथा समर्थ हैं, उन परब्रह्म परमेश्वरको जो महापुरुष तत्त्वसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं—जन्म-मृत्युके जालसे सदाके लिये छूट जाते हैं ॥ १ ॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ २ ॥

यः=जो; **ईशनीभिः**=अपनी स्वरूपभूत विविध शासन-शक्तियोंद्वारा; **इमान्**=इन सब; **लोकान् ईशते**=लोकोंपर शासन करता है; [**सः**] **रुद्रः**=वह रुद्र; **एकः हि**=एक ही है; (इसीलिये विद्वान् पुरुषोंने जगत्के कारणका निश्चय करते समय) **द्वितीयाय न तस्थुः**=दूसरेका आश्रय नहीं लिया; [**सः**=वह परमात्मा;] **जनान् प्रत्यङ्**=समस्त

जीवोंके भीतर; **तिष्ठति**=स्थित हो रहा है; **विश्वा**=सम्पूर्ण; **भुवनानि संसृज्य**=लोकोंकी रचना करके; **गोपाः**=उनकी रक्षा करनेवाला परमेश्वर; **अन्तकाले**=प्रलयकालमें; **संचुकोच**=इन सबको समेट लेता है ॥ २ ॥

व्याख्या—जो अपनी स्वरूपभूत विविध शासन-शक्तियोंद्वारा इन सब लोकोंपर शासन करते हैं—उनका नियमानुसार संचालन करते हैं, वे परमेश्वर एक ही हैं। अर्थात् यद्यपि इस विश्वका नियमन करनेवाली शक्तियाँ अनेक हैं, वे सब हैं एक ही परमेश्वरकी शक्तियाँ, अलग-अलग नहीं हैं। इसी कारण, ज्ञानीजनोंने जगत्के कारणका निश्चय करते समय किसी भी दूसरे तत्त्वका आश्रय नहीं लिया। सबने एक स्वरसे यही निश्चय किया कि एक परब्रह्म ही इस जगत्के कारण हैं। वे परमात्मा सब जीवोंके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। इन समस्त लोकोंकी रचना करके उनकी रक्षा करनेवाले परमेश्वर प्रलयकालमें स्वयं ही इन सबको समेट लेते हैं, अर्थात् अपनेमें विलीन कर लेते हैं। उस समय इनकी भिन्न-भिन्न रूपोंमें अभिव्यक्ति नहीं रहती ॥ २ ॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ ३ ॥

विश्वतश्चक्षुः=सब जगह आँखवाला; **उत**=तथा; **विश्वतोमुखः**=सब जगह मुखवाला; **विश्वतोबाहुः**=सब जगह हाथवाला; **उत**=और; **विश्वतस्पात्**=सब जगह पैरवाला; **द्यावाभूमी जनयन्**=आकाश और पृथ्वीकी सृष्टि करनेवाला; [**सः**=वह;] **एकः**=एकमात्र; **देवः**=देव (परमात्मा); **बाहुभ्याम्**=मनुष्य आदि जीवोंको दो-दो बाँहोंसे; **संधमति**=युक्त करता है; (तथा) **पतत्रैः**=(पक्षी-पतंग आदिको) पाँखोंसे; **सं** [**धमति**]=युक्त करता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—वे परमदेव परमेश्वर एक हैं; फिर भी उनकी सब जगह आँखें हैं, सब जगह मुख हैं, सब जगह हाथ हैं और सब जगह पैर हैं। भाव यह कि वे सम्पूर्ण लोकोंमें स्थित समस्त जीवोंके कर्म और विचारोंको तथा समस्त घटनाओंको अपनी दिव्य शक्तिद्वारा निरन्तर देखते रहते हैं, कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रहती। उनका भक्त उनको जहाँ-कहीं भोजनके योग्य वस्तु समर्पित करता है, उसे वे वहीं भोग लगा सकते हैं। वे सब जगह प्रत्येक वस्तुको एक साथ ग्रहण करनेमें और अपने आश्रित जनोंके संकटका नाश करके उनकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं; तथा जहाँ-कहीं उनके भक्त उन्हें बुलाना चाहें, वहीं वे एक साथ पहुँच सकते हैं। संसारमें ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ उनकी ये शक्तियाँ विद्यमान न हों। आकाशसे लेकर पृथ्वीतक समस्त लोकोंकी रचना करनेवाले एक ही परमदेव परमेश्वर मनुष्य आदि प्राणियोंको दो-दो भुजाओंसे और पक्षियोंको पाँखोंसे युक्त करते हैं। भाव यह कि वे समस्त प्राणियोंको आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न शक्तियों एवं साधनोंसे सम्पन्न करते हैं। यहाँ भुजा और पाँखोंका कथन उपलक्षणमात्र है। इससे यह समझ लेना चाहिये कि समस्त प्राणियोंमें जो कुछ भी शक्ति है, वह सब परमात्माकी ही दी हुई है ॥ ३ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ ४ ॥

यः=जो; **रुद्रः**=रुद्र; **देवानाम्**=इन्द्रादि देवताओंकी; **प्रभवः**=उत्पत्तिका हेतु; **च**=और; **उद्भवः**=वृद्धिका हेतु है; **च**=तथा; (जो) **विश्वाधिपः**=सबका अधिपति; (और) **महर्षिः**=महान् ज्ञानी (सर्वज्ञ) है; **पूर्वम्**=(जिसने) पहले; **हिरण्यगर्भम्**=हिरण्यगर्भको; **जनयामास**=उत्पन्न किया था; **सः**=वह परमदेव परमेश्वर; **नः**=हमलोगोंको; **शुभया बुद्ध्या**=शुभ बुद्धिसे; **संयुनक्तु**=संयुक्त करे ॥ ४ ॥

व्याख्या—सबको अपने शासनमें रखनेवाले जो रुद्ररूप परमेश्वर इन्द्रादि समस्त देवताओंको उत्पन्न करते और बढ़ाते हैं तथा जो सबके अधिपति और महान् ज्ञानी—सर्वज्ञ हैं, जिन्होंने सृष्टिके आदिमें हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया था, वे परमदेव परमात्मा हमलोगोंको शुभ बुद्धिसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ ५ ॥

रुद्र=हे रुद्रदेव; **ते**=तेरी; **या**=जो; **अघोरा**=भयानकतासे शून्य (सौम्य); **अपापकाशिनी**=पुण्यसे प्रकाशित होनेवाली; (तथा) **शिवा**=कल्याणमयी; **तनूः**=मूर्ति है; **गिरिशन्त**=हे पर्वतपर रहकर सुखका विस्तार करनेवाले शिव; **तया**=उस; **शन्तमया तनुवा**=परम शान्त मूर्तिसे; (तू कृपा करके) **नः अभिचाकशीहि**=हमलोगोंको देखो ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे रुद्रदेव ! आपकी जो भयानकतासे शून्य तथा पुण्यकर्मोंसे प्रकाशित होनेवाली कल्याणमयी सौम्यमूर्ति है—जिसका दर्शन करके मनुष्य परम आनन्दमें मग्न हो जाता है,—हे गिरिशन्त अर्थात् पर्वतपर निवास करते हुए समस्त लोकोंको सुख पहुँचानेवाले परमेश्वर ! उस परमशान्त मूर्तिसे ही कृपा करके आप हमलोगोंकी ओर देखिये । आपकी कृपादृष्टि पड़ते ही हम सर्वथा पवित्र होकर आपकी प्राप्तिके योग्य बन जायँगे ॥ ५ ॥

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिꣳसीः पुरुषं जगत् ॥ ६ ॥

गिरिशन्त=हे गिरिशन्त !; **याम्**=जिस; **इषुम्**=बाणको; **अस्तवे**=फेंकनेके लिये; (तू) **हस्ते**=हाथमें; **बिभर्षि**=धारण किये हुए है; **गिरित्र**=हे गिरिराज हिमालयकी रक्षा करनेवाले देव !; **ताम्**=उस बाणको; **शिवाम्**=कल्याणमय; **कुरु**=बना ले; **पुरुषम्**=जीव-समुदायरूप; **जगत्**=जगत्को; **मा हिंसीः**=नष्ट न कर (कष्ट न दे) ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे गिरिशन्त—हे कैलासवासी सुखदायक परमेश्वर ! जिस बाणको फेंकनेके लिये आपने हाथमें ले रक्खा है, हे गिरिराज हिमालयकी रक्षा करनेवाले ! आप उस बाणको कल्याणमय बना लें—उसकी क्रूरताको नष्ट करके उसे शान्तिमय बना लें । इस जीवसमुदायरूप जगत्को कष्ट न दें—इसका विनाश न करें ॥ ६ ॥

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥ ७ ॥

ततः=पूर्वोक्त जीव-समुदायरूप जगत्से; **परम्**=परे; (और) **ब्रह्मपरम्**=हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ; **सर्वभूतेषु**=समस्त प्राणियोंमें; **यथानिकायम्**=उनके शरीरोंके अनुरूप होकर; **गूढम्**=छिपे हुए; (और) **विश्वस्य परिवेष्टितारम्**=सम्पूर्ण विश्वको सब ओरसे घेरे हुए; **तम्**=उस; **बृहन्तम्**=महान्, सर्वत्र व्यापक; **एकम्**=एकमात्र देव; **ईशम्**=परमेश्वरको; **ज्ञात्वा**=जानकर; **अमृताः भवन्ति**=(ज्ञानीजन) अमर हो जाते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो पहले कहे हुए जीव-समुदायरूप जगत्से और हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्मासे भी सर्वथा श्रेष्ठ हैं, समस्त प्राणियोंमें उनके शरीरोंके अनुरूप होकर छिपे हुए हैं, समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे हुए हैं, तथा सर्वत्र व्याप्त और महान् हैं, उन एकमात्र परमेश्वरको जानकर ज्ञानीजन सदाके लिये अमर हो जाते हैं; फिर कभी उनका जन्म-मरण नहीं होता ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब इस मन्त्रमें ज्ञानी महापुरुषके अनुभवकी बात कहकर परमात्मज्ञानके फलकी दृढ़ता दिखलाते हैं—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ८ ॥

तमसः परस्तात्=अविद्यारूप अन्धकारसे अतीत; (तथा) **आदित्यवर्णम्**=सूर्यकी भाँति स्वयंप्रकाशस्वरूप; **एतम्**=इस; **महान्तम् पुरुषम्**=महान् पुरुष (परमेश्वर) को; **अहम्**=मैं; **वेद**=जानता हूँ; **तम्**=उसको; **विदित्वा**=जानकर; **एव**=ही; (मनुष्य) **मृत्युम्**=मृत्युको; **अत्येति (अति+एति)**=उल्लङ्घन कर जाता है; **अयनाय**=(परमपदकी) प्राप्तिके लिये; **अन्यः**=दूसरा; **पन्थाः**=मार्ग; **न**=नहीं; **विद्यते**=है ॥ ८ ॥

व्याख्या—कोई ज्ञानी महापुरुष कहता है—'इन महान्से भी महान् परम पुरुषोत्तमको मैं जानता हूँ । वे अविद्या-रूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत हैं तथा सूर्यकी भाँति स्वयंप्रकाशस्वरूप हैं। उनको जानकर ही मनुष्य मृत्युका उल्लङ्घन करनेमें

—इस जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा पानेमें समर्थ होता है। परम पदकी प्राप्तिके लिये इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग अर्थात् उपाय नहीं है ॥ ८ ॥

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ९ ॥

यस्मात् परम्=जिससे श्रेष्ठ; **अपरम्**=दूसरा; **किंचित्**=कुछ भी; **न**=नहीं; **अस्ति**=है; **यस्मात्**=जिससे (बढ़कर); **कश्चित्**=कोई भी; **न**=न तो; **अणीयः**=अधिक सूक्ष्म; **न**=और न; **ज्यायः**=महान् ही; **अस्ति**=है; **एकः**=(जो) अकेला ही; **वृक्षः इव**=वृक्षकी भाँति; **स्तब्धः**=निश्चलभावसे; **दिवि**=प्रकाशमय आकाशमें; **तिष्ठति**=स्थित है; **तेन पुरुषेण**=उस परमपुरुष पुरुषोत्तमसे; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सम्पूर्ण जगत्; **पूर्णम्**=परिपूर्ण है ॥ ९ ॥

व्याख्या—उन परमदेव परमेश्वरसे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है, वे सर्वश्रेष्ठ हैं। जितने भी सूक्ष्म तत्त्व हैं, उन सबसे अधिक सूक्ष्म वे परमेश्वर हैं। उनसे अधिक सूक्ष्म कोई भी नहीं है। इसीसे वे छोटे-से-छोटे जीवके शरीरमें प्रविष्ट होकर स्थित हैं। इसी प्रकार जितने भी महान् व्यापक तत्त्व हैं, उन सबसे महान्—अधिक व्यापक वे परब्रह्म हैं; उनसे बड़ा—उनसे अधिक व्यापक कोई भी नहीं है। इसीसे वे प्रलयकालमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अपने अंदर लीन कर लेते हैं। जो अकेले ही वृक्षकी भाँति निश्चलभावसे परमधामरूप प्रकाशमय दिव्य आकाशमें स्थित हैं, वे परम पुरुष परमेश्वर निराकाररूपसे सारे जगत्में परिपूर्ण हैं ॥ ९ ॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१०॥

ततः=उस पहले बताये हुए हिरण्यगर्भसे; **यत्**=जो; **उत्तरतरम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट है; **तत्**=वह परब्रह्म परमात्मा; **अरूपम्**=आकाररहित; (और) **अनामयम्**=सब प्रकारके दोषोंसे शून्य है; **ये**=जो; **एतत्**=इस परब्रह्म परमात्माको; **विदुः**=जानते हैं; **ते**=वे; **अमृताः**=अमर; **भवन्ति**=हो जाते हैं; **अथ**=परंतु; **इतरे**=इस रहस्यको न जाननेवाले दूसरे लोग; (बार-बार) **दुःखम्**=दुःखको; **एव**=ही; **अपियन्ति**=प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या—उस पहले बताये हुए हिरण्यगर्भसे जो सब प्रकारसे अत्यन्त उत्कृष्ट हैं, वे परब्रह्म परमात्मा आकाररहित और सब प्रकारके विकारोंसे सर्वथा शून्य हैं; जो कोई महापुरुष इन परब्रह्म परमात्माको जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं—सदाके लिये जन्म-मृत्युके दुःखोंसे छूट जाते हैं। परंतु जो इन्हें नहीं जानते, वे सब लोग निश्चयपूर्वक बार-बार दुःखोंको प्राप्त होते हैं। अतः मनुष्यको सदाके लिये दुःखोंसे छूटने और परमानन्दस्वरूप परमात्माको पानेके लिये उन्हें जानना चाहिये ॥१०॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥११॥

सः=वह; **भगवान्**=भगवान्; **सर्वाननशिरोग्रीवः**=सब ओर मुख, सिर और ग्रीवावाला है; **सर्वभूतगुहाशयः**=समस्त प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें निवास करता है; (और) **सर्वव्यापी**=सर्वव्यापी है; **तस्मात्**=इसलिये; **सः**=वह; **शिवः**=कल्याणस्वरूप परमेश्वर; **सर्वगतः**=सब जगह पहुँचा हुआ है ॥ ११ ॥

व्याख्या—उन सर्वेश्वर भगवान्के सभी जगह मुख हैं, सभी जगह सिर और सभी जगह गला हैं। भाव यह कि वे प्रत्येक स्थानपर प्रत्येक अङ्गद्वारा किया जानेवाला कार्य करनेमें समर्थ हैं। वे समस्त प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें निवास करते हैं और सर्वव्यापी हैं, इसलिये वे कल्याणस्वरूप परमेश्वर सभी जगह पहुँचे हुए हैं। अभिप्राय यह कि साधक उनको जिस समय, जहाँ और जिस रूपमें प्रत्यक्ष करना चाहे, उसी समय, उसी जगह और उसी रूपमें वे प्रत्यक्ष हो सकते हैं ॥ ११ ॥

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥१२॥

वै=निश्चय ही; **एषः**=यह; **महान्**=महान्; **प्रभुः**=समर्थ; **ईशानः**=सबपर शासन करनेवाला; **अव्ययः**=अविनाशी; (एवं) **ज्योतिः**=प्रकाशस्वरूप; **पुरुषः**=परमपुरुष पुरुषोत्तम; **इमाम् सुनिर्मलाम् प्राप्तिम् [प्रति]** =अपनी प्राप्तिरूप इस अत्यन्त निर्मल लाभकी ओर; **सत्त्वस्य प्रवर्तकः**=अन्तःकरणको प्रेरित करनेवाला है ॥ १२ ॥

व्याख्या—निश्चय ही ये सबपर शासन करनेवाले, महान् प्रभु तथा अविनाशी और प्रकाशस्वरूप परम पुरुष पुरुषोत्तम पहले बताये हुए इस परम निर्मल लाभके प्रति अर्थात् अपने आनन्दमय विशुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर मनुष्यके अन्तःकरणको प्रेरित करते हैं, हरेक मनुष्यको ये अपनी ओर आकर्षित करते हैं; तथापि यह मूर्ख जीव सब प्रकारका सुयोग पाकर भी उनकी प्रेरणाके अनुसार उनकी प्राप्तिके लिये तत्परतासे चेष्टा नहीं करता, इसी कारण मारा-मारा फिरता है ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१३॥

अङ्गुष्ठमात्रः=(यह) अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; **अन्तरात्मा**=अन्तर्यामी; **पुरुषः**=परम पुरुष (पुरुषोत्तम); **सदा**=सदा ही; **जनानाम्**=मनुष्योंके; **हृदये**=हृदयमें; **संनिविष्टः**=सम्यक् प्रकारसे स्थित है; **मन्वीशः**=मनका स्वामी है; (तथा) **हृदा**=निर्मल हृदय; (और) **मनसा**=विशुद्ध मनसे; **अभिक्लृप्तः**=ध्यानमें लाया हुआ (प्रत्यक्ष होता है); **ये**=जो; **एतत्**=इस परब्रह्म परमेश्वरको; **विदुः**=जान लेते हैं; **ते**=वे; **अमृताः**=अमर; **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या—अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाले अन्तर्यामी परमपुरुष परमेश्वर सदा ही मनुष्योंके हृदयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं और मनके स्वामी हैं, तथा निर्मल हृदय और विशुद्ध मनके द्वारा ध्यानमें लाये जाकर प्रत्यक्ष होते हैं । जो साधक इन परब्रह्म परमेश्वरको जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं, अर्थात् सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाते हैं—अमृतस्वरूप बन जाते हैं । यहाँ परमात्माको अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला इसलिये बताया गया है कि मनुष्यका हृदय अँगूठेके नापका होता है और वही परमात्माकी उपलब्धिका स्थान है । ब्रह्मसूत्रमें भी इस विषयपर विचार करके यही निश्चय किया गया है (ब्र० सू० १ । ३ । २४-२५) ॥ १३ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१४॥

पुरुषः=वह परम पुरुष; **सहस्रशीर्षा**=हजारों सिरवाला; **सहस्राक्षः**=हजारों आँखवाला; **सहस्रपात्**=(और) हजारों पैरवाला है; **सः**=वह; **भूमिम्**=समस्त जगत्को; **विश्वतः**=सब ओरसे; **वृत्वा**=घेरकर; **दशाङ्गुलम् अति**=नाभिसे दस अङ्गुल ऊपर (हृदयमें); **अतिष्ठत्**= स्थित है ॥ १४ ॥

व्याख्या—उन परम पुरुष परमेश्वरके हजारों सिर, हजारों आँखें और हजारों पैर हैं । अर्थात् सब अवयवोंसे रहित होनेपर भी उनके सिर, आँख और पैर आदि सभी अङ्ग अनन्त और असंख्य हैं । वे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर समस्त जगत्को सब ओरसे घेरकर सर्वत्र व्याप्त हुए ही नाभिसे दस अंगुल ऊपर हृदयाकाशमें स्थित हैं । वे सर्वव्यापी और महान् होते हुए ही हृदयरूप एकदेशमें स्थित हैं । वे अनेक विरुद्ध धर्मोंके आश्रय हैं ॥ १४ ॥

पुरुष एवेद्ँ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥१५॥

यत्=जो; **भूतम्**=अबसे पहले हो चुका है; **यत्**=जो; **भव्यम्**=भविष्यमें होनेवाला है; **च**=और; **यत्**=जो; **अन्नेन**=खाद्य पदार्थोंसे; **अतिरोहति**=इस समय बढ़ रहा है; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=समस्त जगत्; **पुरुषः एव**=परम पुरुष परमात्मा ही है; **उत**=और; (वही) **अमृतत्वस्य**=अमृतस्वरूप मोक्षका; **ईशानः**=स्वामी है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जो अबसे पहले हो चुका है, जो भविष्यमें होनेवाला है और जो वर्तमान कालमें अन्नके द्वारा अर्थात् खाद्य पदार्थोंके द्वारा बढ़ रहा है, वह समस्त जगत् परम पुरुष परमात्माका ही स्वरूप है। वे स्वयं ही अपनी स्वरूपभूत अचिन्त्यशक्तिसे इस रूपमें प्रकट होते हैं; तथा वे ही अमृतस्वरूप मोक्षके स्वामी हैं अर्थात् जीवोंको संसार-बन्धनसे छुड़ाकर अपनी प्राप्ति करा देते हैं। अतएव उनकी प्राप्तिके अभिलाषी साधकोंको उन्हींकी शरणमें जाना चाहिये ॥ १५ ॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१६॥

तत्=वह परम पुरुष परमात्मा; **सर्वतःपाणिपादम्**=सब जगह हाथ-पैरवाला; **सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्**=सब जगह आँख, सिर और मुखवाला; (तथा) **सर्वतःश्रुतिमत्**=सब जगह कानोंवाला है; (वही) **लोके**=ब्रह्माण्डमें; **सर्वम्**=सबको; **आवृत्य**=सब ओरसे घेरकर; **तिष्ठति**=स्थित है ॥ १६ ॥

व्याख्या—उन परमात्माके हाथ, पैर, आँखें, सिर, मुख और कान सब जगह हैं। वे सब जगह सब शक्तियोंसे सब कार्य करनेमें समर्थ हैं। उन्होंने सभी जगह अपने भक्तोंकी रक्षा करने तथा उन्हें अपनी ओर खींचनेके लिये हाथ बढ़ा रक्खा है। उनका भक्त उन्हें जहाँ चाहता है, वहीं उन्हें पहुँचा हुआ पाता है। वे सब जगह सब जीवोंद्वारा किये जानेवाले कर्मोंको देख रहे हैं। उनका भक्त जहाँ उन्हें प्रणाम करता है, सर्वत्र व्याप्त होनेके कारण उनके चरण और सिर आदि अङ्ग वहीं मौजूद रहते हैं। अपने भक्तकी प्रार्थना सुननेके लिये उनके कान सर्वत्र हैं और अपने भक्तद्वारा अर्पण की हुई वस्तुका भोग लगानेके लिये उनका मुख भी सर्वत्र विद्यमान है। वे परमेश्वर इस ब्रह्माण्डमें सबको सब ओरसे घेरकर स्थित हैं—इस बातपर विश्वास करके मनुष्यको उनकी सेवामें लग जाना चाहिये। यह मन्त्र गीतामें भी इसी रूपमें आया है (१३ । १३) ॥ १६ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥१७॥

(जो परम पुरुष परमात्मा) **सर्वेन्द्रियविवर्जितम्**=समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी; **सर्वेन्द्रियगुणाभासम्**=समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है; (तथा) **सर्वस्य**=सबका; **प्रभुम्**=स्वामी; **सर्वस्य**=सबका; **ईशानम्**=शासक; (और) **बृहत्**=सबसे बड़ा; **शरणम्**=आश्रय है; [**प्रपद्येत**=उसकी शरणमें जाना चाहिये] ॥ १७ ॥

व्याख्या—जो सर्वशक्तिमान् परम पुरुष परमात्मा समस्त इन्द्रियोंसे रहित—देहेन्द्रियादि भेदसे शून्य होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जानते हैं तथा सबके स्वामी, परम समर्थ, सबका शासन करनेवाले और जीवके लिये सबसे बड़े आश्रय हैं, मनुष्यको सर्वतोभावसे उन्हींकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। यही मनुष्य-शरीरका अच्छे-से-अच्छा उपयोग है। इस मन्त्रका पूर्वार्द्ध गीतामें ज्यों-का-त्यों आया है (१३ । १४) ॥ १७ ॥

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥१८॥

सर्वस्य=सम्पूर्ण; **स्थावरस्य**=स्थावर; **च**=और; **चरस्य**=जङ्गम; **लोकस्य वशी**=जगत्को वशमें रखनेवाला; **हंसः**=वह प्रकाशमय परमेश्वर; **नवद्वारे**=नव द्वारवाले; **पुरे**=शरीररूपी नगरमें; **देही**=अन्तर्यामीरूपसे हृदयमें स्थित देही है; (तथा वही) **बहिः**=बाह्य जगत्में भी; **लेलायते**=लीला कर रहा है ॥ १८ ॥

व्याख्या—सम्पूर्ण स्थावर और जङ्गम जीवोंके समुदायरूप इस जगत्को अपने वशमें रखनेवाले वे प्रकाशमय परमेश्वर दो आँख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, एक गुदा और एक उपस्थ—इस प्रकार नौ दरवाजोंवाले मनुष्य-शरीररूप नगरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं और वे ही इस बाह्य जगत्में भी लीला कर रहे हैं। यों समझकर मन जहाँ सुगमतासे स्थिर हो सके, वहीं उनका ध्यान करना चाहिये ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—पहले जो यह बात कही थी कि वे समस्त इन्द्रियोंसे रहित होकर भी सब इन्द्रियोंके विषयोंको जानते हैं, उसीका स्पष्टीकरण किया जाता है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१९॥

सः=वह परमात्मा; **अपाणिपादः**=हाथ-पैरोंसे रहित होकर भी; **ग्रहीता**=समस्त वस्तुओंको ग्रहण करनेवाला; (तथा) **जवनः**=वेगपूर्वक सर्वत्र गमन करनेवाला है; **अचक्षुः**=आँखोंके बिना ही; **पश्यति**=वह सब कुछ देखता है; (और) **अकर्णः**=कानोंके बिना ही; **शृणोति**=सब कुछ सुनता है; **सः**=वह; **वेद्यम्**=जो कुछ भी जाननेमें आनेवाली वस्तुएँ हैं, उन सबको; **वेत्ति**=जानता है; **च**=और; **तस्य वेत्ता**=उसको जाननेवाला; (कोई) **न**=नहीं; **अस्ति**=है; **तम्**=(ज्ञानी पुरुष) उसे; **महान्तम्**=महान्; **अग्र्यम्**=आदि; **पुरुषम्**=पुरुष; **आहुः**=कहते हैं ॥ १९ ॥

व्याख्या—जिनका प्रकरण चल रहा है, वे परब्रह्म परमात्मा हाथोंसे रहित होनेपर भी सब जगह समस्त वस्तुओंको ग्रहण कर लेते हैं तथा पैरोंसे रहित होकर भी बड़े वेगसे इच्छानुसार सर्वत्र गमनागमन करते हैं। आँखोंसे रहित होनेपर भी सब जगह सब कुछ देखते हैं, कानोंसे रहित होकर भी सब जगह सब कुछ सुनते हैं। वे समस्त जानने योग्य और जाननेमें आनेवाले जड-चेतन पदार्थोंको भलीभाँति जानते हैं, परंतु उनको जाननेवाला कोई नहीं है। जो सबको जाननेवाले हैं, उन्हें भला कौन जान सकता है। उनके विषयमें ज्ञानी महापुरुष कहते हैं कि वे सबके आदि, पुरातन, महान् पुरुष हैं ॥ १९ ॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥२०॥

अणोः अणीयान्=(वह) सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म; (तथा) **महतः महीयान्**=बड़ेसे भी बहुत बड़ा; **आत्मा**=परमात्मा; **अस्य जन्तोः**=इस जीवकी; **गुहायाम्**=हृदयरूप गुफामें; **निहितः**=छिपा हुआ है; **धातुः**=सबकी रचना करनेवाले परमेश्वरकी; **प्रसादात्**=कृपासे; (जो मनुष्य) **तम्**=उस; **अक्रतुम्**=संकल्परहित; **ईशम्**=परमेश्वरको; (और) **महिमानम्**=उसकी महिमाको; **पश्यति**=देख लेता है; (वह) **वीतशोकः**=सब प्रकारके दुःखोंसे रहित; [**भवति**=हो जाता है] ॥ २० ॥

व्याख्या—वे सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म और बड़ेसे भी बहुत बड़े परब्रह्म परमात्मा इस जीवकी हृदयरूप गुफामें छिपे हुए हैं। सबकी रचना करनेवाले उन परमेश्वरकी कृपासे ही मनुष्य उन स्वार्थके संकल्पसे सर्वथा रहित, अकारण कृपा करनेवाले परम सुहृद् परमेश्वरको और उनकी महिमाको जान सकता है। जब उन परम दयालु परम सुहृद् परमेश्वरका यह साक्षात् कर लेता है, तब सदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे रहित होकर उन परम आनन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥२१॥

ब्रह्मवादिनः=वेदके रहस्यका वर्णन करनेवाले महापुरुष; **यस्य**=जिसके; **जन्मनिरोधम्**=जन्मका अभाव; **प्रवदन्ति**=बतलाते हैं; **हि** [**यम्**]=तथा जिसको; **नित्यम्**=नित्य; **प्रवदन्ति**=बतलाते हैं; **एतम्**=इस; **विभुत्वात्**=व्यापक होनेके कारण; **सर्वगतम्**=सर्वत्र विद्यमान; **सर्वात्मानम्**=सबके आत्मा; **अजरम्**=जरा, मृत्यु आदि विकारोंसे रहित; **पुराणम्**=पुराण पुरुष परमेश्वरको; **अहम्**=मैं; **वेद**=जानता हूँ ॥ २१ ॥

व्याख्या—परमात्माको प्राप्त हुए महात्माका कहना है कि 'वेदके रहस्यका वर्णन करनेवाले महापुरुष जिन्हें जन्म-रहित तथा नित्य बताते हैं, व्यापक होनेके कारण जो सर्वत्र विद्यमान हैं—जिनसे कोई भी स्थान खाली नहीं है, जो जरा-

मृत्यु आदि समस्त विकारोंसे सर्वथा रहित हैं और सबके आदि—पुराणपुरुष हैं, उन सबके आत्मा—अन्तर्यामी परब्रह्म परमेश्वरको मैं जानता हूँ ॥ २१ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अध्याय

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १ ॥

यः=जो; **अवर्णः**=रंग, रूप आदिसे रहित होकर भी; **निहितार्थः**=छिपे हुए प्रयोजनवाला होनेके कारण; **बहुधा शक्तियोगात्**=विविध शक्तियोंके सम्बन्धसे; **आदौ**=सृष्टिके आदिमें; **अनेकान्**=अनेक; **वर्णान्**=रूप-रंग; **दधाति**=धारण कर लेता है; **च**=तथा; **अन्ते**=अन्तमें; **विश्वम्**=यह सम्पूर्ण विश्व; (जिसमें) **व्येति (वि+एति)च**= विलीन भी हो जाता है; **सः**=वह; **देवः**=परमदेव (परमात्मा); **एकः**=एक (अद्वितीय) है; **सः**=वह; **नः**=हमलोगोंको; **शुभया बुद्ध्या**=शुभ बुद्धिसे; **संयुनक्तु**=संयुक्त करे ॥ १ ॥

व्याख्या—जो परब्रह्म परमात्मा अपने निराकार स्वरूपमें रूप-रंग आदिसे रहित होकर भी सृष्टिके आदिमें किसी अज्ञात प्रयोजनसे अपनी स्वरूपभूत नाना प्रकारकी शक्तियोंके सम्बन्धसे अनेक रूप-रंग आदि धारण करते हैं तथा, अन्तमें यह सम्पूर्ण जगत् जिनमें विलीन भी हो जाता है—अर्थात् जो बिना किसी अपने प्रयोजनके जीवोंका कल्याण करनेके लिये ही उनके कर्मानुसार इस नाना रंग-रूपवाले जगत्की रचना, पालन और संहार करते हैं, वे परमदेव परमेश्वर वास्तवमें एक—अद्वितीय हैं। उनके अतिरिक्त कुछ नहीं है। वे हमें शुभ बुद्धिसे युक्त करें ॥ १ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रार्थना करनेका प्रकार बताया गया। अब तीन मन्त्रोंद्वारा परमेश्वरका जगत्के रूपमें चिन्तन करते हुए उनकी स्तुति करनेका प्रकार बतलाया जाता है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥ २ ॥

तत् एव=वही; **अग्निः**=अग्नि है; **तत्**=वह; **आदित्यः**=सूर्य है; **तत्**=वह; **वायुः**=वायु है; **उ**=तथा; **तत्**=वही; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा है; **तत्**=वह; **शुक्रम्**=अन्यान्य प्रकाशयुक्त नक्षत्र आदि है; **तत्**=वह; **आपः**=जल है; **तत्**=वह; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; (और) **तत् एव**=वही; **ब्रह्म**=ब्रह्मा है ॥ २ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म ही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, अन्यान्य प्रकाशमय नक्षत्र आदि जल, प्रजापति और ब्रह्मा हैं। ये सब उन एक अद्वितीय परब्रह्म परमेश्वरकी ही विभूतियाँ हैं। इन सबके अन्तर्यामी आत्मा वे ही हैं, अतः ये सब उन्हींके स्वरूप हैं। इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत्के रूपमें उन परमात्माका चिन्तन करना चाहिये ॥ २ ॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ ३ ॥

त्वम्=तू; **स्त्री**=स्त्री है; **त्वम्**=तू; **पुमान्**=पुरुष है; **त्वम्**=तू ही; **कुमारः**=कुमार; **उत वा**=अथवा; **कुमारी**= कुमारी; **असि**=है; **त्वम्**=तू; **जीर्णः**=बूढ़ा होकर; **दण्डेन**=लाठीके सहारे; **वञ्चसि**=चलता है; **उ**=तथा; **त्वम्**=तू ही; **जातः**=विराट्रूपमें प्रकट होकर; **विश्वतोमुखः**=सब ओर मुखवाला; **भवसि**=हो जाता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे सर्वेश्वर ! आप स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी आदि अनेक रूपोंवाले हैं—अर्थात् इन सबके रूपमें आप ही प्रकट हो रहे हैं। आप ही बूढ़े होकर लाठीके सहारे चलते हैं अर्थात् आप ही बुड्ढोंके रूपमें अभिव्यक्त हैं। हे परमात्मन् !

आप ही विराटरूपमें प्रकट होकर सब ओर मुख किये हुए हैं, अर्थात् सम्पूर्ण जगत् आपका ही स्वरूप है। जगत्में जितने भी मुख दिखायी देते हैं, सब आपके ही हैं ॥ ३ ॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

[**त्वम् एव**=तू ही;] **नीलः**=नीलवर्ण; **पतङ्गः**=पतङ्ग है; **हरितः**=हरे रंगका; (और) **लोहिताक्षः**=लाल आँखोंवाला (पक्षी है एवं); **तडिद्गर्भः**=मेघ; **ऋतवः**=वसन्त आदि ऋतुएँ; (तथा) **समुद्राः**=सप्त समुद्ररूप है; **यतः**=क्योंकि; [**त्वत्तः एव**=तुझसे ही;] **विश्वा**=सम्पूर्ण; **भुवनानि**=लोक; **जातानि**=उत्पन्न हुए हैं; **त्वम्**=तू ही; **अनादिमत्**=अनादि (प्रकृतियों) का स्वामी; (और) **विभुत्वेन**=व्यापकरूपसे; **वर्तसे**= सबमें विद्यमान है ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे सर्वान्तर्यामिन्! आप ही नीले रंगके पतङ्ग (भौंरे) तथा हरे रंग और लाल आँखोंवाले पक्षी—तोते हैं; आप ही बिजलीसे युक्त मेघ हैं, वसन्तादि सब ऋतुएँ और सप्त समुद्र भी आपके ही रूप हैं। अर्थात् इन नाना प्रकारके रंग-रूपवाले समस्त जड-चेतन पदार्थोंके रूपमें मैं आपको ही देख रहा हूँ; क्योंकि आपसे ही ये समस्त लोक और उनमें निवास करनेवाले सम्पूर्ण जीव-समुदाय प्रकट हुए हैं। व्यापकरूपसे आप ही सबमें विद्यमान हैं तथा अव्यक्त एवं जीवरूप अपनी दो अनादि प्रकृतियोंके (जिन्हें गीतामें अपरा और परा नामोंसे कहा गया है) स्वामी भी आप ही हैं। अतः एकमात्र आपको ही मैं सबके रूपमें देखता हूँ ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—पूर्वमन्त्रमें परब्रह्म परमेश्वरको जिन दो प्रकृतियोंका स्वामी बताया गया है, वे दोनों अनादि प्रकृतियाँ कौन-सी हैं—इसका स्पष्टीकरण किया जाता है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ ५ ॥

सरूपाः=अपने ही सदृश अर्थात् त्रिगुणमय; **बह्वीः**=बहुत-से; **प्रजाः**=भूत-समुदायोंको; **सृजमानाम्**=रचनेवाली; (तथा) **लोहितशुक्लकृष्णाम्**=लाल, सफेद और काले रंगकी अर्थात् त्रिगुणमयी; **एकाम्**=एक; **अजाम्**=अजा (अजन्मा—अनादि प्रकृति) को; **हि**=निश्चय ही; **एकः**=एक; **अजः**=अज (अज्ञानी जीव); **जुषमाणः**= आसक्त हुआ; **अनुशेते**=भोगता है; (और) **अन्यः**=दूसरा; **अजः**=अज (ज्ञानी महापुरुष); **एनाम्**=इस; **भुक्तभोगाम्**= भोगी हुई प्रकृतिको; **जहाति**=त्याग देता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—पिछले मन्त्रमें जिनका संकेत किया गया है, उन दो प्रकृतियोंमेंसे एक तो वह है, जिसका गीतामें अपरा नामसे उल्लेख हुआ है तथा जिसके आठ भेद किये गये हैं (गीता ७ । ४)। यह अपने अधिष्ठाता परमदेव परमेश्वरकी अध्यक्षतामें अपने ही सदृश अर्थात् त्रिगुणमय असंख्य जीवदेहोंको उत्पन्न करती है। त्रिगुणमयी अथवा त्रिगुणात्मिका होनेसे इसे तीन रंगवाली कहा गया है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण ही इसके तीन रंग हैं। सत्त्वगुण निर्मल एवं प्रकाशक होनेसे उसे श्वेत माना गया है। रजोगुण रागात्मक है, अतएव उसका रंग लाल माना गया है तथा तमोगुण अज्ञानरूप एवं आवरक होनेसे उसे कृष्णवर्ण कहा गया है। इन तीन गुणोंको लेकर ही प्रकृतिको सफेद, लाल एवं काले रंगकी कहा गया है। दूसरी जिसका गीतामें जीवरूप परा अथवा चेतन प्रकृतिके नामसे (७ । ५), क्षेत्रज्ञके नामसे (१३ । १) तथा अक्षर पुरुषके नामसे (१५ । १६) वर्णन किया गया है, उसके दो भेद हैं। एक तो वे जीव, जो उस अपरा प्रकृतिमें आसक्त होकर—उसके साथ एकरूप होकर उसके विचित्र भोगोंको अपने कर्मानुसार भोगते हैं। दूसरा समुदाय उन ज्ञानी महापुरुषोंका है, जिन्होंने इसके भोगोंको भोगकर इसे निःसार और क्षणभङ्गुर समझकर इसका सर्वथा परित्याग कर दिया है। ये दोनों प्रकारके जीव स्वरूपतः अजन्मा तथा अनादि हैं। इसीलिये इन्हें 'अज' कहा गया है ॥५॥*

* सांख्यमतावलम्बियोंने इस मन्त्रको सांख्यशास्त्रका बीज माना है और इसीके आधारपर उक्त दर्शनको श्रुति-सम्मत सिद्ध किया है। सांख्यकारिकाके प्रसिद्ध टीकाकार तथा अन्य दर्शनोंके व्याख्याता सर्वतन्त्रस्वतन्त्र स्वनामधन्य श्रीवाचस्पति मिश्रने अपनी सांख्यतत्त्व-कौमुदी नामक टीकाके आरम्भमें इसी मन्त्रको कुछ परिवर्तनके साथ मङ्गलाचरणके रूपमें उद्धृत करते हुए इसमें वर्णित प्रकृतिकी वन्दना

सम्बन्ध—वह परा प्रकृतिरूप जीवसमुदाय, जो इस प्रकृतिके भोगोंको भोगता है, कब और कैसे मुक्त हो सकता है—इस जिज्ञासापर दो मन्त्रोंमें कहते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ६ ॥

सयुजा=सदा साथ रहनेवाले; (तथा) **सखाया**= परस्पर सख्यभाव रखनेवाले; **द्वा**=दो; **सुपर्णा**=पक्षी (जीवात्मा एवं परमात्मा); **समानम्**=एक ही; **वृक्षम् परिषस्वजाते**=वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं; **तयोः**=उन दोनोंमेंसे; **अन्यः**=एक (जीवात्मा) तो; **पिप्पलम्**=उस वृक्षके फलों (कर्मफलों) को; **स्वादु**=स्वाद ले-लेकर; **अत्ति**=खाता है; **अन्यः**=(किंतु) दूसरा (ईश्वर); **अनश्नन्**=उनका उपभोग न करता हुआ; **अभिचाकशीति**=केवल देखता रहता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार गीता आदिमें जगत्‌का अश्वत्थ-वृक्षके रूपमें वर्णन किया गया है, उसी प्रकार इस मन्त्रमें शरीरको अश्वत्थ-वृक्षका और जीवात्मा तथा परमात्माको पक्षियोंका रूप देकर वर्णन किया गया है। इसी प्रकार कठोपनिषद्‌में जीवात्मा और परमात्माको गुहामें प्रविष्ट छाया और धूपके रूपमें बताकर वर्णन किया गया है। दोनों जगहका भाव प्रायः एक ही है। यहाँ मन्त्रका सारांश यह है कि यह मनुष्य-शरीर मानो एक पीपलका वृक्ष है। ईश्वर और जीव—ये दोनों सदा साथ रहनेवाले दो मित्र मानो दो पक्षी हैं। ये दोनों इस शरीररूप वृक्षमें एक साथ एक ही हृदयरूप घोंसलेमें निवास करते हैं। शरीरमें रहते हुए प्रारब्धानुसार जो सुख-दुःखरूप कर्मफल प्राप्त होते हैं, वे ही मानो इस पीपलके फल हैं। इन फलोंको जीवात्मारूप एक पक्षी तो स्वादपूर्वक खाता है अर्थात् हर्ष-शोकका अनुभव करते हुए कर्मफलको भोगता है। दूसरा ईश्वररूप पक्षी इन फलोंको खाता नहीं, केवल देखता रहता है। अर्थात् इस शरीरमें प्राप्त हुए सुख-दुःखोंको वह भोगता नहीं, केवल उनका साक्षी बना रहता है। परमात्माकी भाँति यदि जीवात्मा भी इनका द्रष्टा बन जाय तो फिर उसका इनसे कोई सम्बन्ध न रह जाय। ऐसे ही जीवात्माके सम्बन्धमें पिछले मन्त्रमें यह कहा गया है कि वह प्रकृतिका उपभोग कर चुकनेके बाद उसे निःसार समझकर उसका परित्याग कर देता है, उससे मुँह मोड़ लेता है। उसके लिये फिर प्रकृति अर्थात् जगत्‌की सत्ता ही नहीं रह जाती। फिर तो वह और उसका मित्र—दो ही रह जाते हैं और परस्पर मित्रताका आनन्द लूटते हैं। यही इस मन्त्रका तात्पर्य मालूम होता है। मुण्डक० ३। १। १ में भी यह मन्त्र इसी रूपमें आया है ॥ ६ ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ ७ ॥

समाने वृक्षे=पूर्वोक्त शरीररूप एक ही वृक्षपर रहनेवाला; **पुरुषः**=जीवात्मा; **निमग्नः**=गहरी आसक्तिमें डूबा हुआ है; (अतः) **अनीशया**=असमर्थ होनेके कारण (दीनतापूर्वक); **मुह्यमानः**=मोहित हुआ; **शोचति**=शोक करता रहता है; **यदा**=जब (यह भगवान्‌की अहैतुकी दयासे); **जुष्टम्**=भक्तोंद्वारा नित्यसेवित; **अन्यम्**=अपनेसे भिन्न; **ईशम्**=परमेश्वरको; (और) **अस्य**=उसकी; **महिमानम्**=आश्चर्यमयी महिमाको; **पश्यति**=प्रत्यक्ष देख लेता है; **इति**=तब; **वीतशोकः**=सर्वथा शोकरहित; [**भवति**=हो जाता है] ॥ ७ ॥

व्याख्या—पहले बतलाये हुए इस शरीररूप एक ही वृक्षपर हृदयरूप घोंसलेमें परमात्माके साथ रहनेवाला यह जीवात्मा जबतक अपने साथ रहनेवाले परम सुहृद् परमेश्वरकी ओर नहीं देखता, इस शरीरमें ही आसक्त होकर मोहमें निमग्न रहता है, अर्थात् शरीरमें अत्यन्त ममता करके उसके द्वारा भोगोंका उपभोग करनेमें ही रचा-पचा रहता है, तबतक असमर्थता और दीनतासे मोहित हुआ नाना प्रकारके दुःखोंको भोगता रहता है। जब कभी इसपर भगवान्‌की अहैतुकी दया होती है,

की है। यहाँ काव्यमयी भाषामें प्रकृतिको एक तिरंगी बकरीके रूपमें चित्रित किया गया है, जो बद्धजीवरूप बकरेके संयोगसे अपनी ही-जैसी तिरंगी—त्रिगुणमयी संतान उत्पन्न करती है। संस्कृतमें 'अजा' बकरीको भी कहते हैं। इसी श्लेषका उपयोग कर प्रकृतिका आलङ्कारिक रूपमें वर्णन किया गया है।

तब यह अपनेसे भिन्न, अपने ही साथ रहनेवाले, परम सुहृद्, परम प्रिय भगवान्‌को पहचान पाता है। जो भक्तजनोंद्वारा निरन्तर सेवित हैं, उन परमेश्वरको तथा उनकी आश्चर्यमयी महिमाको, जो जगत्‌में सर्वत्र भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्रकट हो रही है, जब यह देख लेता है, उस समय तत्काल ही सर्वथा शोकरहित हो जाता है। मुण्डक० ३। १। २ में भी यह मन्त्र इसी रूपमें आया है ॥ ७॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ८॥

यस्मिन्=जिसमें; **विश्वे**=समस्त; **देवाः**=देवगण; **अधि**=भलीभाँति; **निषेदुः**=स्थित हैं; [**तस्मिन्**=उस;] **अक्षरे**=अविनाशी; **परमे व्योमन्**=परम व्योम (परम धाम) में; **ऋचः**=सम्पूर्ण वेद स्थित हैं; **यः**=जो मनुष्य; **तम्**=उसको; **न**=नहीं; **वेद**=जानता; [**सः**=वह;] **ऋचा**=वेदोंके द्वारा; **किम्**=क्या; **करिष्यति**=सिद्ध करेगा; **इत्**=परंतु; ये=जो; **तत्**=उसको; **विदुः**=जानते हैं; **ते**=वे तो; **इमे**=ये; **समासते**=सम्यक् प्रकारसे उसीमें स्थित हैं ॥ ८॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वरके जिस अविनाशी दिव्य चेतन परम आकाशस्वरूप परम धाममें समस्त देवगण अर्थात् उन परमात्माके पार्षदगण उन परमेश्वरकी सेवा करते हुए निवास करते हैं, वहीं समस्त वेद भी पार्षदोंके रूपमें मूर्तिमान् होकर भगवान्‌की सेवा करते हैं। जो मनुष्य उस परम धाममें रहनेवाले परब्रह्म पुरुषोत्तमको नहीं जानता और इस रहस्यको भी नहीं जानता कि समस्त वेद उन परमात्माकी सेवा करनेवाले उन्हींके अङ्गभूत पार्षद हैं, वह वेदोंके द्वारा अपना क्या प्रयोजन सिद्ध करेगा? अर्थात् कुछ सिद्ध नहीं कर सकेगा। परंतु जो उन परमात्माको तत्त्वसे जान लेते हैं, वे तो उस परम धाममें ही सम्यक् प्रकारसे स्थित रहते हैं, अर्थात् वहाँसे कभी नहीं लौटते ॥ ८॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥ ९॥

छन्दांसि=छन्द; **यज्ञाः**=यज्ञ; **क्रतवः**=क्रतु (ज्योतिष्टोम आदि विशेष यज्ञ); **व्रतानि**=नाना प्रकारके व्रत; **च**=तथा; **यत्**=और भी जो कुछ; **भूतम्**=भूत; **भव्यम्**=भविष्य एवं वर्तमानरूपसे; **वेदाः**=वेद; **वदन्ति**=वर्णन करते हैं; **एतत् विश्वम्**=इस सम्पूर्ण जगत्‌को; **मायी**=प्रकृतिका अधिपति परमेश्वर; **अस्मात्**=इस (पहले बताये हुए महाभूतादि तत्त्वोंके समुदाय) से; **सृजते**=रचता है; **च**=तथा; **अन्यः**=दूसरा (जीवात्मा); **तस्मिन्**=उस प्रपञ्चमें; **मायया**=मायाके द्वारा; **संनिरुद्धः**=भलीभाँति बँधा हुआ है ॥ ९॥

व्याख्या—जो समस्त वेदमन्त्ररूप छन्द, यज्ञ, क्रतु अर्थात् ज्योतिष्टोमादि विशेष यज्ञ, नाना प्रकारके व्रत अर्थात् शुभ कर्म, सदाचार और उनके नियम हैं तथा और भी जो कुछ भूत, भविष्य, वर्तमान पदार्थ हैं, जिनका वर्णन वेदोंमें पाया जाता है,—इन सबको वे प्रकृतिके अधिष्ठाता परमेश्वर ही अपने अंशभूत इस पहले बताये हुए पञ्चभूत आदि तत्त्व-समुदायसे रचते हैं; इस प्रकार रचे हुए उस जगत्‌में अन्य अर्थात् पहले बताये हुए ज्ञानी महापुरुषोंसे भिन्न जीवसमुदाय मायाके द्वारा बँधा हुआ है। जबतक वह अपने स्वामी परम देव परमेश्वरको साक्षात् नहीं कर लेता, तबतक उसका इस प्रकृतिसे छुटकारा नहीं हो सकता; अतः मनुष्यको उन परमात्माको जानने और पानेकी उत्कट अभिलाषा रखनी चाहिये ॥ ९॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१०॥

मायाम्=माया; **तु**=तो; **प्रकृतिम्**=प्रकृतिको; **विद्यात्**=समझना चाहिये; **तु**=और; **मायिनम्**=मायापति; **महेश्वरम्**=महेश्वरको समझना चाहिये; **तस्य तु**=उसीके; **अवयवभूतैः**=अङ्गभूत कारण-कार्य-समुदायसे; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सम्पूर्ण; **जगत्**=जगत्; **व्याप्तम्**=व्याप्त हो रहा है ॥ १०॥

व्याख्या—इस प्रकरणमें जिसका मायाके नामसे वर्णन हुआ है, वह तो भगवान्‌की शक्तिरूपा प्रकृति है और उस माया नामसे कही जानेवाली शक्तिरूपा प्रकृतिका अधिपति परब्रह्म परमात्मा महेश्वर है; इस प्रकार इन दोनोंको अलग-अलग

समझना चाहिये । उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अङ्गभूत कारण-कार्यसमुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है ॥ १० ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥११॥

यः=जो; **एकः**=अकेला ही; **योनिम् योनिम् अधितिष्ठति**=प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता हो रहा है; **यस्मिन्**=जिसमें; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=समस्त जगत्; **समेति**=प्रलयकालमें विलीन हो जाता है; **च**=और; **व्येति च**=सृष्टिकालमें विविध रूपोंमें प्रकट भी हो जाता है; **तम्**=उस; **ईशानम्**=सर्वनियन्ता; **वरदम्**=वरदायक; **ईड्यम्**=स्तुति करने योग्य; **देवम्**=परम देव परमेश्वरको; **निचाय्य**=तत्त्वसे जानकर; (मनुष्य) **अत्यन्तम्**=निरन्तर बनी रहनेवाली; **इमाम्**=इस (मुक्तिरूप); **शान्तिम्**=परम शान्तिको; **एति**=प्राप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वर प्रत्येक योनिके एकमात्र अध्यक्ष हैं—जगत्में जितने प्रकारके कारण माने जाते हैं, उन सबके अधिष्ठाता हैं । उनमें किसी कार्यको उत्पन्न करनेकी शक्ति उन्हीं सर्वकारण परमात्माकी है और उन्हींकी अध्यक्षतामें वे उन-उन कार्योंको उत्पन्न करते हैं । वे ही उन सबपर शासन करते हैं—उनकी यथायोग्य व्यवस्था करते हैं । यह समस्त जगत् प्रलयके समय उनमें विलीन हो जाता है तथा पुनः सृष्टि-कालमें उन्हींसे विविध रूपोंमें उत्पन्न हो जाता है । उन सर्वनियन्ता, वरदायक, एकमात्र स्तुति करनेयोग्य, परमदेव, सर्वसुहृद्, सर्वेश्वर परमात्माको जानकर यह जीव निरन्तर बनी रहनेवाली परमनिर्वाणरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है । गीतामें इसका शाश्वती शान्ति (गीता ९ । ३१), परा शान्ति (गीता १८ । ६२) आदि नामोंसे भी वर्णन आता है ॥ ११ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥१२॥

यः=जो; **रुद्रः**=रुद्र; **देवानाम्**=इन्द्रादि देवताओंको; **प्रभवः**=उत्पन्न करनेवाला; **च**=और; **उद्भवः**=बढ़ानेवाला है; **च**=तथा; (जो) **विश्वाधिपः**=सबका अधिपति; **महर्षिः**=(और) महान् ज्ञानी (सर्वज्ञ) है; (जिसने सबसे पहले) **जायमानम्**=उत्पन्न हुए; **हिरण्यगर्भम्**=हिरण्यगर्भको; **पश्यत**=देखा था; **सः**=वह परमदेव परमेश्वर; **नः**=हमलोगोंको; **शुभया बुद्ध्या**=शुभ बुद्धिसे; **संयुनक्तु**=संयुक्त करे ॥ १२ ॥

व्याख्या—सबको अपने शासनमें रखनेवाले जो रुद्ररूप परमेश्वर इन्द्रादि समस्त देवताओंको उत्पन्न करते और बढ़ाते हैं तथा जो सबके अधिपति और महान् ज्ञानसम्पन्न (सर्वज्ञ) हैं, जिन्होंने सृष्टिके आदिमें सबसे पहले उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको देखा था, अर्थात् जो ब्रह्माके भी पूर्ववर्ती हैं, वे परमदेव परमात्मा हमलोगोंको शुभ बुद्धिसे संयुक्त करें, जिससे हम उनकी ओर बढ़कर उन्हें प्राप्त कर सकें । शुभ बुद्धि वही है, जो जीवको परम कल्याणरूप परमात्माकी ओर लगाये । गायत्री-मन्त्रमें भी इसी बुद्धिके लिये प्रार्थना की गयी है ॥ १२ ॥

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः । य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १३ ॥

यः=जो; **देवानाम्**=समस्त देवोंका; **अधिपः**=अधिपति है; **यस्मिन्**=जिसमें; **लोकाः**=समस्त लोक; **अधिश्रिताः**=सब प्रकारसे आश्रित हैं; **यः**=जो; **अस्य**=इस; **द्विपदः**=दो पैरवाले; (और) **चतुष्पदः**=चार पैरवाले समस्त जीवसमुदायका; **ईशे**=शासन करता है; (उस) **कस्मै देवाय**=आनन्दस्वरूप परमदेव परमेश्वरकी; (**हम**) **हविषा**=हविष्य अर्थात् श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भेंट समर्पण करके; **विधेम**=पूजा करें ॥ १३ ॥

व्याख्या—जो सर्वनियन्ता परमेश्वर समस्त देवोंके अधिपति हैं, जिनमें समस्त लोक सब प्रकारसे आश्रित हैं अर्थात् जो स्थूल, सूक्ष्म और अव्यक्त अवस्थाओंमें सदा ही सब प्रकारसे सबके आश्रय हैं, जो दो पैरवाले और चार पैरवाले अर्थात्

सम्पूर्ण जीव-समुदायका अपनी अचिन्त्य शक्तियोंके द्वारा शासन करते हैं, उन आनन्दस्वरूप परमदेव सर्वाधार सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी हम श्रद्धा-भक्तिपूर्वक हविःस्वरूप भेंट समर्पण करके पूजा करें। अर्थात् सब कुछ उन्हें समर्पण करके उन्हींके हो जायँ। यही उनकी प्राप्तिका सहज उपाय है ॥ १३ ॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥१४॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्=(जो) सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म; **कलिलस्य मध्ये**=हृदय-गुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित; **विश्वस्य**=अखिल विश्वकी; **स्रष्टारम्**=रचना करनेवाला; **अनेकरूपम्**=अनेक रूप धारण करनेवाला; (तथा) **विश्वस्य परिवेष्टितारम्**=समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे रखनेवाला है; (उस) **एकम्**=एक (अद्वितीय); **शिवम्**=कल्याणस्वरूप महेश्वरको; **ज्ञात्वा**=जानकर; (मनुष्य) **अत्यन्तम्**=सदा रहनेवाली; **शान्तिम्**=शान्तिको; **एति**=प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—जो परब्रह्म परमात्मा सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं—अर्थात् जो बिना उनकी कृपाके जाने नहीं जाते, जो सबकी हृदय-गुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित हैं अर्थात् जो हमारे अत्यन्त समीप हैं, जो अखिल विश्वकी रचना करते हैं, तथा स्वयं विश्वरूप होकर अनेक रूप धारण किये हुए हैं—यही नहीं, जो निराकाररूपसे समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे रहते हैं, उन सर्वोपरि एक—अद्वितीय कल्याणस्वरूप महेश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली असीम, अविनाशी और अतिशय शान्तिको प्राप्त कर लेता है; क्योंकि वह महापुरुष इस अशान्त जगत्-प्रपञ्चसे सर्वथा सम्बन्धरहित एवं उपरत हो जाता है ॥ १४ ॥

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥१५॥

सः एव=वही; **काले**=समयपर; **भुवनस्य गोप्ता**=समस्त ब्रह्माण्डोंकी रक्षा करनेवाला; **विश्वाधिपः**=समस्त जगत्का अधिपति; (और) **सर्वभूतेषु**=समस्त प्राणियोंमें; **गूढः**=छिपा हुआ है; **यस्मिन्**=जिसमें; **ब्रह्मर्षयः**=वेदज्ञ महर्षिगण; **च**=और; **देवताः**=देवतालोग भी; **युक्ताः**=ध्यानद्वारा संलग्न हैं; **तम्**=उस (परमदेव परमेश्वर) को; **एवम्**=इस प्रकार; **ज्ञात्वा**=जानकर; (मनुष्य) **मृत्युपाशान्**=मृत्युके बन्धनोंको; **छिनत्ति**=काट डालता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जिनका बार-बार वर्णन किया गया है, वे परमदेव परमेश्वर ही समयपर अर्थात् स्थिति-कालमें समस्त ब्रह्माण्डोंकी रक्षा करते हैं, तथा वे ही सम्पूर्ण जगत्के अधिपति और समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे छिपे हुए हैं। उन्हींमें वेदके रहस्यको समझनेवाले महर्षिगण और समस्त देवतालोग भी ध्यानके द्वारा संलग्न रहते हैं। सब उन्हींका स्मरण और चिन्तन करके उन्हींमें जुड़े रहते हैं। इस प्रकार उन परमदेव परमेश्वरको जानकर मनुष्य यमराजके समस्त पाशोंको अर्थात् जन्म-मृत्युके कारणभूत समस्त बन्धनोंको काट डालता है। फिर वह कभी प्रकृतिके बन्धनमें नहीं आता, सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१६॥

शिवम्=कल्याणस्वरूप; **एकम् देवम्**=एक (अद्वितीय) परमदेवको; **घृतात् परम्**=मक्खनके ऊपर रहनेवाले; **मण्डम् इव**=सारभागकी भाँति; **अतिसूक्ष्मम्**=अत्यन्त सूक्ष्म; (और) **सर्वभूतेषु**=समस्त प्राणियोंमें; **गूढम्**=छिपा हुआ; **ज्ञात्वा**=जानकर; (तथा) **विश्वस्य परिवेष्टितारम्**=समस्त जगत्को सब ओरसे घेरकर स्थित हुआ; **ज्ञात्वा**=जानकर; (मनुष्य) **सर्वपाशैः**=समस्त बन्धनोंसे; **मुच्यते**=छूट जाता है ॥ १६ ॥

व्याख्या—जो मक्खनके ऊपर रहनेवाले सारभागकी भाँति सबके सार एवं अत्यन्त सूक्ष्म हैं, उन कल्याणस्वरूप

एकमात्र परमदेव परमेश्वरको समस्त प्राणियोंमें छिपा हुआ तथा समस्त जगत्‌को सब ओरसे घेरकर उसे व्याप्त किये हुए जानकर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे सदाके लिये सर्वथा छूट जाता है ॥ १६ ॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१७॥

एषः=यह; **विश्वकर्मा**=जगत्-कर्ता; **महात्मा**=महात्मा; **देवः**=परमदेव परमेश्वर; **सदा**=सर्वदा; **जनानाम्**=सब मनुष्योंके; **हृदये**=हृदयमें; **संनिविष्टः**=सम्यक् प्रकारसे स्थित है; (तथा) **हृदा**=हृदयसे; **मनीषा**=बुद्धिसे; (और) **मनसा**=मनसे; **अभिक्लृप्तः**=ध्यानमें लाया हुआ; [**आविर्भवति**=प्रत्यक्ष होता है;] **ये**=जो साधक; **एतत्**=इस रहस्यको; **विदुः**=जान लेते हैं; **ते**=वे; **अमृताः**=अमृतस्वरूप; **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ १७ ॥

व्याख्या—ये जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले, महात्मा अर्थात् सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी परमदेव परमेश्वर सदा ही सभी मनुष्योंके हृदयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं । उनके गुण-प्रभावको सुनकर द्रवित और विशुद्ध हुए निर्मल हृदयसे, निश्चय-युक्त बुद्धिसे तथा एकाग्र मनके द्वारा निरन्तर ध्यान करनेपर वे परमात्मा प्रत्यक्ष होते हैं । जो साधक इस रहस्यको जान लेते हैं, वे उन्हें प्राप्त करके अमृतस्वरूप हो जाते हैं, सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाते हैं ॥ १७ ॥

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासञ्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥१८॥

यदा=जब; **अतमः** [**स्यात्**]=अज्ञानमय अन्धकारका सर्वथा अभाव हो जाता है; **तत्**[1]=उस समय (अनुभवमें आनेवाला तत्त्व); **न**=न; **दिवा**=दिन है; **न**=न; **रात्रिः**=रात है; **न**=न; **सत्**=सत् है; **च**=और; **न**=न; **असत्**=असत् है; **केवलः**=एकमात्र, विशुद्ध; **शिवः एव**=कल्याणमय शिव ही है; **तत्**=वह; **अक्षरम्**= सर्वथा अविनाशी है; **तत्**=वह; **सवितुः**=सूर्याभिमानी देवताका भी; **वरेण्यम्**=उपास्य है; **च**=तथा; **तस्मात्**=उसीसे; **पुराणी**=(यह) पुराना; **प्रज्ञा**=ज्ञान; **प्रसृता**=फैला है ॥ १८ ॥

व्याख्या—जिस समय अज्ञानरूप अन्धकारका सर्वथा अभाव हो जाता है, उस समय प्रत्यक्ष होनेवाला तत्त्व न दिन है, न रात है । अर्थात् उसे न तो दिनकी भाँति प्रकाशमय कहा जा सकता है और न रातकी भाँति अन्धकारमय ही; क्योंकि वह इन दोनोंसे सर्वथा विलक्षण है, वहाँ ज्ञान-अज्ञानके भेदकी कल्पनाके लिये स्थान नहीं है । वह न सत् है और न असत् है—उसे न तो 'सत्' कहना बनता है, न 'असत्' ही; क्योंकि वह 'सत्' और 'असत्' नामसे समझे जानेवाले पदार्थोंसे सर्वथा विलक्षण है । एकमात्र कल्याणस्वरूप शिव ही वह तत्त्व हैं । वे सर्वथा अविनाशी हैं । वे सूर्य आदि समस्त देवताओंके उपास्यदेव हैं । उन्हींसे यह सदासे चला आता हुआ अनादि ज्ञान—परमात्माको जानने और पानेका साधन अधिकारियोंको परम्परासे प्राप्त होता चला आ रहा है ॥ १८ ॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥१९॥

एनम्=इस परमात्माको; (कोई भी) **न**=न तो; **ऊर्ध्वम्**=ऊपरसे; **न**=न; **तिर्यञ्चम्**=इधर-उधरसे; (और) **न**=न; **मध्ये**=बीचमेंसे ही; **परिजग्रभत्**=भलीभाँति पकड़ सकता है; **यस्य**=जिसका; **महद्‌यशः**='महान् यश'; **नाम**=नाम है; **तस्य**=उसकी; **प्रतिमा**=कोई उपमा; **न**=नहीं; **अस्ति**=है ॥ १९ ॥

व्याख्या—जिनका पहले कई मन्त्रोंमें वर्णन किया गया है, उन परम प्राप्य परब्रह्मको कोई भी मनुष्य न तो ऊपरसे पकड़ सकता है न नीचेसे पकड़ सकता है, और न बीचमें इधर-उधरसे ही पकड़ सकता है; क्योंकि ये सर्वथा अग्राह्य हैं—ग्रहण करनेमें नहीं आते । इन्हें जानने और ग्रहण करनेकी बात जो शास्त्रोंमें पायी जाती है, उसका रहस्य वही समझ सकता है, जो इन्हें पा लेता है । वह भी वाणीद्वारा व्यक्त नहीं कर सकता; क्योंकि मन और वाणीकी वहाँ पहुँच नहीं है । वे

१. 'तत्' अव्यय पद है, यहाँ 'तदा' के अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है ।

समझने और समझानेमें आनेवाले समस्त पदार्थोंसे सर्वथा विलक्षण हैं। जिनका नाम 'महान् यश' है, जिनका महान् यश सर्वत्र प्रसिद्ध है, उन परात्पर ब्रह्मकी कोई भी उपमा नहीं है, जिसके द्वारा उनको समझा अथवा समझाया जा सके। उनके अतिरिक्त कोई दूसरा हो तो उसकी उपमा दी जाय। अतः मनुष्यको उस परम प्राप्य तत्त्वको जानने और पानेका अभिलाषी बनना चाहिये; क्योंकि जब वह मनुष्यको प्राप्त होता है, तब हमें क्यों नहीं होगा ॥ १९ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२०॥

अस्य=इस परब्रह्म परमात्माका; **रूपम्**=स्वरूप; **संदृशे**=दृष्टिके सामने; **न**=नहीं; **तिष्ठति**=ठहरता; **एनम्**=इस परमात्माको; **कश्चन**=कोई भी; **चक्षुषा**=आँखोंसे; **न**=नहीं; **पश्यति**=देख सकता; **ये**=जो साधकजन; **एनम्**=इस; **हृदिस्थम्**=हृदयमें स्थित अन्तर्यामी परमेश्वरको; **हृदा**=भक्तियुक्त हृदयसे; (तथा) **मनसा**=निर्मल मनके द्वारा; **एवम्**=इस प्रकार; **विदुः**=जान लेते हैं; **ते**=वे; **अमृताः**=अमृतस्वरूप (अमर); **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ २० ॥

व्याख्या—जिनका प्रकरण चल रहा है, उन परम प्राप्य परमात्माका स्वरूप दृष्टिके सामने नहीं ठहरता। जब साधक मनके द्वारा उनका चिन्तन करता है, तब विशुद्ध अन्तःकरणमें किसी-किसी समय उन आनन्दमय परमेश्वरके स्वरूपकी झलक-सी आती है; परंतु वह निश्चल नहीं होती। इन परब्रह्म परमात्माको कोई भी प्राकृत नेत्रोंद्वारा नहीं देख सकता। जिसको वे परमात्मा स्वयं कृपा करके दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं, वही उन्हें दिव्य नेत्रोंसे देख सकता है। जो साधक इस प्रकार इस रहस्यको समझकर अपने हृदयमें स्थित इन अन्तर्यामी परमात्माको उनके गुण, प्रभावका श्रवण करके भक्तिभावसे द्रवित हृदयके द्वारा तथा निर्मल मनके द्वारा निरन्तर उनका चिन्तन करके उन्हें जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं—सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाते हैं ॥ २० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमेश्वरके स्वरूपका और उनकी प्राप्तिके फलका वर्णन करके अब दो मन्त्रोंमें पहले मुक्तिके लिये और पीछे सांसारिक भयसे रक्षाके लिये उन परमात्मासे प्रार्थना करनेका प्रकार बताया जाता है—

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥२१॥

रुद्र=हे रुद्र (संहार करनेवाले देव); **अजातः**=तू अजन्मा है; **इति एवम्**=यों समझकर; **कश्चित्**=कोई; **भीरुः**=जन्म-मरणके भयसे डरा हुआ मनुष्य; **प्रपद्यते**=तेरी शरण लेता है; (मैं भी वैसा ही हूँ, अतः) **ते**=तेरा; **यत्**=जो; **दक्षिणम्**=दाहिना (कल्याणमय); **मुखम्**=मुख है; **तेन**=उसके द्वारा; (तू) **नित्यम्**=सर्वदा; **माम् पाहि**=मेरी जन्म-मृत्युरूप भयसे रक्षा कर ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे रुद्र! अर्थात् सबका संहार करनेवाले परमेश्वर! आप स्वयं अजन्मा हैं, अतः दूसरोंको भी जन्म-मृत्युसे मुक्त कर देना आपका स्वभाव है—यह समझकर कोई जन्म-मरणके भयसे डरा हुआ साधक इस संसारचक्रसे छुटकारा पानेके लिये आपकी शरण लेता है। मैं भी इस संसार-चक्रसे छुटकारा पानेके लिये ही आपकी शरणमें आया हूँ; अतः जो आपका दाहिना मुख है, अर्थात् जो आपका परम शान्त कल्याणमय स्वरूप है, उसके द्वारा आप मेरी इस जन्म-मरणरूप महान् भयसे सदाके लिये रक्षा करें। मुझे सदाके लिये इस भयसे मुक्त कर दें ॥ २१ ॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥२२॥

रुद्र=हे सबकी संहार करनेवाले रुद्रदेव; [**वयम्**=हमलोग;] **हविष्मन्तः**=नाना प्रकारकी भेंट लेकर; **सदम्**=सदा; **इत्**=ही; **त्वा**=तुझे; (रक्षाके लिये) **हवामहे**=बुलाते रहते हैं; (अतः तू) **भामितः**=कुपित

होकर; **मा**=न तो; **नः**=हमारे; **तोके**=पुत्रोंमें; (और) **तनये**=पौत्रोंमें; **मा**=न; **नः**=हमारी; **आयुषि**=आयुमें; **मा**=न; **नः**=हमारी; **गोषु**=गौओंमें; (और) **मा**=न; **नः**=हमारे; **अश्वेषु**=घोड़ोंमें ही; **रीरिषः**=किसी प्रकारकी कमी कर; (तथा) **नः**=हमारे; **वीरान् मा वधीः**=वीर पुरुषोंका भी नाश न कर ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे सबका संहार करनेवाले रुद्रदेव ! हमलोग नाना प्रकारकी भेंट समर्पण करते हुए सदा ही आपको बुलाते रहते हैं। आप ही हमारी रक्षा करनेमें सर्वथा समर्थ हैं; अतः हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप हमपर कभी कुपित न हों तथा कुपित होकर हमारे पुत्र और पौत्रोंको, हमारी आयुको—जीवनको तथा हमारे गौ, घोड़े आदि पशुओंको कभी किसी प्रकारकी क्षति न पहुँचायें। तथा हमारे जो वीर—साहसी पुरुष हैं, उनका भी नाश न करें। अर्थात् सब प्रकारसे हमारी और हमारे धन-जनकी रक्षा करते रहें ॥ २२ ॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम अध्याय

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ १ ॥

यत्र=जिस; **ब्रह्मपरे**=ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ; **गूढे**=छिपे हुए; **अनन्ते**=असीम; **तु**=और; **अक्षरे**=परम अक्षर परमात्मामें; **विद्याविद्ये**=विद्या और अविद्या; **द्वे**=दोनों; **निहिते**=स्थित हैं (वही ब्रह्म है); **क्षरम्**=(यहाँ) विनाशशील जडवर्ग; **तु**=तो; **अविद्या**=अविद्या नामसे कहा गया है; **तु**=और; **अमृतम्**=अविनाशी वर्ग (जीवसमुदाय); **हि**=ही; **विद्या**=विद्या नामसे कहा गया है; **तु**=तथा; **यः**=जो; **विद्याविद्ये ईशते**=उपर्युक्त विद्या और अविद्यापर शासन करता है; **सः**=वह; **अन्यः**=इन दोनोंसे भिन्न—सर्वथा विलक्षण है ॥ १ ॥

व्याख्या—जो परमेश्वर ब्रह्मासे भी अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, अपनी मायाके पर्देमें छिपे हुए हैं, सीमारहित और अविनाशी हैं अर्थात् जो देश-कालसे सर्वथा अतीत हैं तथा जिनका कभी किसी प्रकारसे भी विनाश नहीं हो सकता, तथा जिन परमात्मामें अविद्या और विद्या—दोनों विद्यमान हैं, अर्थात् दोनों ही जिनके आधारपर टिकी हुई हैं, वे पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम हैं। इस मन्त्रमें परिवर्तनशील, घटने-बढ़नेवाले और उत्पत्ति-विनाशशील क्षरतत्त्वको तो अविद्या नामसे कहा गया है; क्योंकि वह जड है, उसमें विद्याका—ज्ञानका सर्वथा अभाव है। उससे भिन्न जो जन्म-मृत्युसे रहित है, जो घटता-बढ़ता नहीं, वह अविनाशी कूटस्थ तत्त्व (जीव-समुदाय) विद्याके नामसे कहा गया है; क्योंकि वह चेतन है, विज्ञानमय है। उपनिषदोंमें जगह-जगह उसका विज्ञानात्माके नामसे वर्णन आया है। यहाँ श्रुतिने स्वयं ही विद्या और अविद्याकी परिभाषा कर दी है, अतः अर्थान्तरकी कल्पना अनावश्यक है। जो इन विद्या और अविद्या नामसे कहे जानेवाले क्षर और अक्षर दोनोंपर शासन करते हैं, दोनोंके स्वामी हैं, दोनों जिनकी शक्तियाँ अथवा प्रकृतियाँ हैं, वे परमेश्वर इन दोनोंसे अन्य—सर्वथा विलक्षण हैं। श्रीगीताजीमें भी कहा है—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' इत्यादि (१५ । १७) ॥ १ ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥ २ ॥

यः=जो; **एकः**=अकेला ही; **योनिम् योनिम्**=प्रत्येक योनिपर; **विश्वानि रूपाणि**=समस्त रूपोंपर; **च**=और; **सर्वाः योनीः**=समस्त कारणोंपर; **अधितिष्ठति**=आधिपत्य रखता है; **यः**=जो; **अग्रे**=पहले; **प्रसूतम्**=उत्पन्न हुए; **कपिलम् ऋषिम्**=कपिल ऋषिको (हिरण्यगर्भको); **ज्ञानैः**=सब प्रकारके ज्ञानोंसे; **बिभर्ति**=पुष्ट करता है; **च**=तथा; (जिसने) **तम्**=उस कपिल (ब्रह्मा) को; **जायमानम्**=(सबसे पहले) उत्पन्न होते; **पश्येत्**=देखा था; (वे ही परमात्मा हैं) ॥ २ ॥

व्याख्या—इस जगत्‌में देव, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि जितनी भी योनियाँ हैं, तथा प्रत्येक

योनिमें जो भिन्न-भिन्न रूप—आकृतियाँ हैं, उन सबके और उनके कारणरूप पञ्च सूक्ष्म महाभूत आदि समस्त तत्त्वोंके जो एकमात्र अधिपति हैं, अर्थात् वे सब-के-सब जिनके अधीन हैं, जो सबसे पहले उत्पन्न हुए कपिल ऋषिको* अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्माको प्रत्येक सर्गके आदिमें सब प्रकारके ज्ञानोंसे पुष्ट करते हैं—सब प्रकारके ज्ञानोंसे सम्पन्न करके उन्नत करते हैं तथा जिन्होंने सबसे पहले उत्पन्न होते हुए उन हिरण्यगर्भको देखा था, वे ही सर्वशक्तिमान् सर्वाधार सबके स्वामी परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं ॥ २ ॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ ३ ॥

एषः=यह; **देवः**=परमदेव (परमेश्वर); **अस्मिन् क्षेत्रे**=इस जगत्-क्षेत्रमें; (सृष्टिके समय) **एकैकम्**=एक-एक; **जालम्**=जालको (बुद्धि आदि और आकाशादि तत्त्वोंको); **बहुधा**=बहुत प्रकारसे; **विकुर्वन्**=विभक्त करके; (उनका) **संहरति**=(प्रलयकालमें) संहार कर देता है; **महात्मा**=(वह) महामना; **ईशः**=ईश्वर; **भूयः**=पुनः (सृष्टिकालमें); **तथा**=पहलेकी भाँति; **पतयः सृष्ट्वा**=(समस्त लोकपालोंकी) रचना करके; **सर्वाधिपत्यम् कुरुते**=(स्वयं) सबपर आधिपत्य करता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—जिनका प्रकरण चल रहा है, वे परमदेव परमेश्वर इस जगत्‌रूप क्षेत्रमें सृष्टिके समय एक-एक जालको अर्थात् बुद्धि आदि और आकाश आदि अपनी प्रकृतियोंको बहुत प्रकारसे विभक्त करके—प्रत्येक प्रकृतिको भिन्न-भिन्न रूप, नाम और शक्तियोंसे युक्त करके उनका विस्तार करते हैं और स्वयं ही प्रलयकालमें उन सबका संहार कर लेते हैं। वे महामना परमेश्वर पुनः सृष्टिकालमें पहलेकी भाँति ही समस्त लोकोंकी और उनके अधिपतियोंकी रचना करके स्वयं उन सबके अधिष्ठाता बनकर उन सबपर शासन करते हैं। उनकी लीला अतर्क्य है, तर्कसे उसका रहस्य समझमें नहीं आ सकता। उनके सेवक ही उनकी लीलाके रहस्यको कुछ समझते हैं ॥ ३ ॥

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ ४ ॥

यत् उ=जिस प्रकार; **अनड्वान्**=सूर्य; (अकेला ही) **सर्वाः**=समस्त; **दिशः**=दिशाओंको; **ऊर्ध्वम् अधः**=ऊपर-नीचे; **च**=और; **तिर्यक्**=इधर-उधर—सब ओरसे; **प्रकाशयन्**=प्रकाशित करता हुआ; **भ्राजते**=देदीप्यमान होता है; **एवम्**=उसी प्रकार; **सः**=वह; **भगवान्**=भगवान्; **वरेण्यः**=भक्ति करनेयोग्य; **देवः**=परमदेव परमेश्वर; **एकः**=अकेला ही; **योनिस्वभावान् अधितिष्ठति**=समस्त कारणरूप अपनी शक्तियोंपर आधिपत्य करता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार यह सूर्य समस्त दिशाओंको ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर—सब ओरसे प्रकाशित करता हुआ देदीप्यमान होता है, उसी प्रकार वे भगवान्—सर्वविध ऐश्वर्यसे सम्पन्न, सबके द्वारा भजनेयोग्य परमदेव परमेश्वर अकेले ही समस्त कारणरूप अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाता होकर उन सबका संचालन करते हैं, सबको अपना-अपना कार्य करनेकी सामर्थ्य देकर यथायोग्य कार्यमें प्रवृत्त करते हैं ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—ऊपर कही हुई बातका इस मन्त्रमें स्पष्टीकरण किया जाता है—

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ॥ ५ ॥

यत्=जो; **विश्वयोनिः**=सबका परम कारण है; **च**=और; **स्वभावम्**=समस्त तत्त्वोंकी शक्तिरूप स्वभावको; **पचति**=(अपने संकल्परूप तपसे) पकाता है; **च**=तथा; **यः**=जो; **सर्वान्**=समस्त; **पाच्यान्**=पकाये जानेवाले पदार्थोंको; **परिणामयेत्**=नाना रूपोंमें परिवर्तित करता है; (और) **यः**=जो; **एकः**=अकेला ही; **सर्वान्**=समस्त; **गुणान्**

* कुछ विद्वानोंने 'कपिल' शब्दको सांख्यशास्त्रके आदि वक्ता एवं प्रवर्तक भगवान् कपिलमुनिका वाचक माना है और इस प्रकार उनके द्वारा उपदिष्ट मतकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता सिद्ध की है।

विनियोजयेत्=गुणोंका जीवोंके साथ यथायोग्य संयोग कराता है; **च**=तथा; **एतत्**=इस; **सर्वम्**=समस्त; **विश्वम् अधितिष्ठति**=विश्वका शासन करता है; (वह परमात्मा है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जो इस सम्पूर्ण विश्वके परम कारण हैं, अर्थात् जिनका और कोई कारण नहीं है, जगत्के कारणरूपसे कहे जानेवाले समस्त तत्त्वोंकी शक्तिरूप स्वभावको जो अपने संकल्परूप तपसे पकाते हैं—अर्थात् उन आकाशादि तत्त्वोंकी जो भिन्न-भिन्न शक्तियाँ प्रलयकालमें लुप्त हो गयी थीं, उन्हें अपने संकल्पद्वारा पुनः प्रकट करते हैं, उन प्रकट की हुई शक्तियोंका नाना रूपोंमें परिवर्तन कर इस विचित्र जगत्की रचना करते हैं, तथा सत्त्व आदि तीनों गुणोंका तथा उनसे उत्पन्न हुए पदार्थोंका जीवोंके साथ उनके कर्मानुसार यथायोग्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं—इस प्रकार जो अकेले ही इस सम्पूर्ण जगत्की सारी व्यवस्था करके इसपर शासन करते हैं, वे ही पूर्वमन्त्रमें कहे हुए सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वर हैं ॥ ५ ॥

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ ६ ॥

तत्=वह; **वेदगुह्योपनिषत्सु**=वेदोंके रहस्यभूत उपनिषदोंमें; **गूढम्**=छिपा हुआ है; **ब्रह्मयोनिम्**=वेदोंके प्राकट्य-स्थान; **तत्**=उस परमात्माको; **ब्रह्मा**=ब्रह्मा; **वेदते**=जानता है; **ये**=जो; **पूर्वदेवाः**=पुरातन देवता; **च**=और; **ऋषयः**=ऋषिलोग; **तत्**=उसको; **विदुः**=जानते थे; **ते**=वे; **वै**=अवश्य ही; **तन्मयाः**=(उसमें) तन्मय होकर; **अमृताः**=अमृतरूप; **बभूवुः**=हो गये ॥ ६ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म परमात्मा वेदोंकी रहस्यविद्यारूप उपनिषदोंमें छिपे हुए हैं अर्थात् उनके स्वरूपका वर्णन उपनिषदोंमें गुप्तरूपसे किया गया है। वेद निकले भी उन्हींसे हैं—उन्हींके निःश्वासरूप हैं—'यस्य निःश्वसितं वेदाः'। इस प्रकार वेदोंमें छिपे हुए और वेदोंके प्राकट्य-स्थान उन परमात्माको ब्रह्माजी जानते हैं। उनके सिवा और भी जिन पूर्ववर्ती देवताओं और ऋषियोंने उनको जाना था, वे सब-के-सब उन्हींमें तन्मय होकर आनन्दस्वरूप हो गये। अतः मनुष्यको चाहिये कि उन सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके अधीश्वर परमात्माको उक्त प्रकारसे मानकर उन्हें जानने और पानेके लिये तत्पर हो जाय ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पाँचवें मन्त्रमें यह बात कही गयी थी कि परमेश्वर सब जीवोंका उनके कर्मानुसार गुणोंके साथ संयोग कराते हैं; अतः जीवात्माका स्वरूप और नाना योनियोंमें विचरनेका कारण आदि बतानेके लिये अलग प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥ ७ ॥

यः गुणान्वयः=जो गुणोंसे बँधा हुआ है; **सः**=वह; **फलकर्मकर्ता**=फलके उद्देश्यसे कर्म करनेवाला जीवात्मा; **एव**=ही; **तस्य**=उस; **कृतस्य**=अपने किये हुए कर्मके फलका; **उपभोक्ता**=उपभोग करनेवाला; **विश्वरूपः**=विभिन्न रूपोंमें प्रकट होनेवाला; **त्रिगुणः**=तीन गुणोंसे युक्त; **च**=और; **त्रिवर्त्मा**=कर्मानुसार तीन मार्गोंसे गमन करनेवाला है; **सः**=वह; **प्राणाधिपः**=प्राणोंका अधिपति (जीवात्मा); **स्वकर्मभिः**=अपने कर्मोंसे प्रेरित होकर; **संचरति**=नाना योनियोंमें विचरता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें प्रकरण आरम्भ करते ही जीवात्माके लिये 'गुणान्वयः' विशेषण देकर यह भाव दिखाया गया है कि जो जीव गुणोंसे सम्बद्ध अर्थात् प्रकृतिमें स्थित है, वही इस जन्म-मरणरूप संसार-चक्रमें घूमता है (गीता १३। २१); जो गुणातीत हो गया है, वह नहीं घूमता। मन्त्रका सारांश यह है कि जो जीवात्मा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे बँधा हुआ है (गीता १४। ५), वह नाना प्रकारके कर्मफलरूप भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे नाना प्रकारके कर्म करता है और अपने किये हुए उन कर्मोंका फल भोगनेके लिये नाना योनियोंमें जन्म लेकर विभिन्न रूपोंमें प्रकट होता है और जहाँ भी जाता है, तीनों गुणोंसे युक्त रहता है। मृत्युके उपरान्त उसकी कर्मानुसार तीन गतियाँ होती हैं। अर्थात् शरीर छोड़नेपर वह तीन मार्गोंसे जाता है। वे तीन मार्ग हैं—देवयान, पितृयान और तीसरा निरन्तर जन्म-मृत्युके चक्रमें

घूमना *। वह प्राणोंका अधिपति जीवात्मा जबतक मुक्त नहीं हो जाता, तबतक अपने किये हुए कर्मोंसे प्रेरित होकर नाना लोकोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी योनियोंको ग्रहण करके इस संसार-चक्रमें घूमता रहता है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—जीवात्माका स्वरूप कैसा है, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ८ ॥

यः=जो; **अङ्गुष्ठमात्रः**=अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; **रवितुल्यरूपः**=सूर्यके समान प्रकाशस्वरूप; (तथा) **संकल्पाहङ्कारसमन्वितः**=संकल्प और अहङ्कारसे युक्त है; **बुद्धेः**=बुद्धिके; **गुणेन**=गुणोंके कारण; **च**=और; **आत्मगुणेन**=अपने गुणोंके कारण; **एव**=ही; **आराग्रमात्रः**=आरेकी नोकके-जैसे सूक्ष्म आकारवाला है; **अपरः**= ऐसा अपर (अर्थात् परमात्मासे भिन्न जीवात्मा); **अपि**=भी; **हि**=निःसंदेह; **दृष्टः**=(ज्ञानियोंद्वारा) देखा गया है ॥ ८ ॥

व्याख्या—मनुष्यका हृदय अँगूठेके नापका माना गया है और हृदयमें ही जीवात्माका निवास है। इसलिये उसे अङ्गुष्ठमात्र—अँगूठेके नापका कहा जाता है। उसका वास्तविक स्वरूप सूर्यकी भाँति प्रकाशमय (विज्ञानमय) है। उसे अज्ञानरूपी अन्धकार छूतक नहीं गया है। वह संकल्प और अहंकार—इन दोनोंसे युक्त हो रहा है, अतः संकल्प आदि बुद्धिके गुणोंसे अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियोंके धर्मोंसे तथा अहंता, ममता और आसक्ति आदि अपने गुणोंसे सम्बद्ध होनेके कारण सूजेकी नोकके समान सूक्ष्म आकारवाला है और परमात्मासे भिन्न है। जीवके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंने गुणोंसे युक्त हुए जीवात्माका स्वरूप ऐसा ही देखा है †। तात्पर्य यह कि आत्माका स्वरूप वास्तवमें अत्यन्त सूक्ष्म है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म जड पदार्थ उसकी तुलनामें स्थूल ही ठहरता है। उसकी सूक्ष्मता किसी भी जड पदार्थके परिमाणसे नहीं मापी जा सकती। केवल उसका लक्ष्य करानेके लिये उसे सम्बद्ध वस्तुके आकारका बताया जाता है। हृदय-देशमें स्थित होनेके कारण उसे अङ्गुष्ठपरिमाण कहा जाता है और बुद्धिगुण तथा आत्मगुणोंके सम्बन्धसे उसे सूजेकी नोकके आकारका बताया जाता है। बुद्धि आदिको सूईकी नोकके समान कहा गया है, इसीसे जीवात्माको यहाँ सूजेकी नोकके सदृश बताया गया है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—पूर्वमन्त्रमें जो जीवात्माका स्वरूप सूजेकी नोकके सदृश सूक्ष्म बताया गया है, उसे पुनः स्पष्ट करते हैं—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ ९ ॥

वालाग्रशतभागस्य=बालकी नोकके सौवें भागके; **च**=पुनः; **शतधा**=सौ भागोंमें; **कल्पितस्य**=कल्पना किये जानेपर; **भागः**=जो एक भाग होता है; **सः**=वही (उसीके बराबर); **जीवः**=जीवका स्वरूप; **विज्ञेयः**=समझना चाहिये; **च**=और; **सः**=वह; **आनन्त्याय**=असीम भाववाला होनेमें; **कल्पते**=समर्थ है ॥ ९ ॥

व्याख्या—पूर्वमन्त्रमें जीवात्माका स्वरूप सूजेकी नोकके सदृश सूक्ष्म बताया गया है; उसको समझनेमें भ्रम हो सकता है, अतः उसे भलीभाँति समझानेके लिये पुनः इस प्रकार कहते हैं। मान लीजिये, एक बालकी नोकके हम सौ टुकड़े कर लें; फिर उसमेंसे एक टुकड़ेके पुनः सौ टुकड़े कर लें। वह जितना सूक्ष्म हो सकता है, अर्थात् बालकी नोकके दस हजार भाग करनेपर उसमेंसे एक भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है, उसके समान जीवात्माका स्वरूप समझना चाहिये। यह कहना

* छान्दोग्य उपनिषद्में ५ । १० । २ से ८ तक और बृहदारण्यक ६ । २ । १५-१६ में इन तीन मार्गोंका वर्णन आया है। देवयान-मार्गसे जानेवाले ब्रह्मलोकतक जाकर वहाँसे लौटते नहीं, ब्रह्माके साथ ही मुक्त हो जाते हैं; पितृयानसे जानेवाले स्वर्गमें जाकर चिरकालतक वहाँके दिव्य सुखोंका उपभोग करते हैं और पुण्य क्षीण हो जानेपर पुनः मृत्युलोकमें ढकेल दिये जाते हैं; और तीसरे मार्गसे जानेवाले कीट-पतङ्गादि क्षुद्र योनियोंमें भटकते रहते हैं।

† गीतामें भी कहा है कि एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेवाले, शरीरमें स्थित रहनेवाले अथवा विषयोंको भोगनेवाले इस गुणान्वित जीवात्माको मूर्ख नहीं जानते, ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानी जानते हैं (१५ । १०)।

भी केवल उसकी सूक्ष्मताका लक्ष्य करानेके लिये ही है। वास्तवमें चेतन और सूक्ष्म वस्तुका स्वरूप जड और स्थूल वस्तुकी उपमासे नहीं समझाया जा सकता; क्योंकि बालकी नोकके दस हजार भागोंमेंसे एक भाग भी आकाशमें जितने देशको रोकता है, उतना भी जीवात्मा नहीं रोकता। चेतन और सूक्ष्म वस्तुका जड और स्थूल देशके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता; वह सूक्ष्म होनेपर भी स्थूल वस्तुमें सर्वत्र व्याप्त रह सकता है। इसी भावको समझानेके लिये अन्तमें कहा गया है कि वह इतना सूक्ष्म होनेपर भी अनन्त भावसे युक्त होनेमें अर्थात् असीम होनेमें समर्थ है। भाव यह कि वह जड जगत्‌में सर्वत्र व्याप्त है। केवल बुद्धिके गुणोंसे और अपने अहंता, ममता आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण ही एकदेशीय बन रहा है ॥ ९ ॥

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥१०॥

एषः=यह जीवात्मा; **न**=न; **एव**=तो; **स्त्री**=स्त्री है; **न**=न; **पुमान्**=पुरुष है; **च**=और; **न**=न; **अयम्**=यह; **नपुंसकः एव**=नपुंसक ही है; **सः**=वह; **यत् यत्**=जिस-जिस; **शरीरम्**=शरीरको; **आदत्ते**=ग्रहण करता है; **तेन तेन**=उस-उससे; **युज्यते**=संबद्ध हो जाता है ॥ १० ॥

व्याख्या—जीवात्मा वास्तवमें न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जब जिस शरीरको ग्रहण करता है, उस समय उससे संयुक्त होकर वैसा ही बन जाता है। जो जीवात्मा आज स्त्री है, वही दूसरे जन्ममें पुरुष हो सकता है; जो पुरुष है, वह स्त्री हो सकता है। भाव यह कि ये स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि भेद शरीरको लेकर हैं; जीवात्मा सर्वभेदशून्य है, सारी उपाधियोंसे रहित है ॥ १० ॥

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥११॥

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः=संकल्प, स्पर्श, दृष्टि और मोहसे; **च**=तथा; **ग्रासाम्बुवृष्ट्या**=भोजन, जलपान और वर्षाके द्वारा; **आत्मविवृद्धिजन्म**=(प्राणियोंके) सजीव शरीरकी वृद्धि और जन्म होते हैं; **देही**=यह जीवात्मा; **स्थानेषु**=भिन्न-भिन्न लोकोंमें; **कर्मानुगानि**=कर्मानुसार मिलनेवाले; **रूपाणि**=भिन्न-भिन्न शरीरोंको; **अनुक्रमेण**=क्रमसे; **अभिसंप्रपद्यते**=बार-बार प्राप्त होता रहता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—संकल्प, स्पर्श, दृष्टि, मोह, भोजन, जलपान और वृष्टि—इन सबसे सजीव शरीरकी वृद्धि और जन्म होते हैं। इसका एक भाव तो यह है कि स्त्री-पुरुषके परस्पर मोहपूर्वक संकल्प, स्पर्श और दृष्टिपातके द्वारा सहवास होनेपर जीवात्मा गर्भमें आता है; फिर माताके भोजन और जलपानसे बने हुए रसके द्वारा उसकी वृद्धि होकर जन्म होता है। दूसरा भाव यह है कि भिन्न-भिन्न योनियोंमें जीवोंकी उत्पत्ति और वृद्धि भिन्न-भिन्न प्रकारसे होती है। किसी योनिमें तो संकल्पमात्रसे ही जीवोंका पोषण होता रहता है, जैसे कछुएके अंडोंका; किसी योनिमें आसक्तिपूर्वक स्पर्शसे होता है, जैसे पक्षियोंके अंडोंका; किसी योनिमें केवल आसक्तिपूर्वक दर्शनमात्रसे ही होता है, जैसे मछली आदिका; किसी योनिमें अन्नभक्षणसे और जलपानसे होता है, जैसे मनुष्य-पशु आदिका; और किसी योनिमें वृष्टिमात्रसे ही हो जाता है, जैसे वृक्ष-लता आदिका। इस प्रकार नाना प्रकारसे सजीव शरीरोंका पालन-पोषण, तुष्टि-पुष्टिरूप वृद्धि और जन्म होते हैं। जीवात्मा अपने कर्मोंके अनुसार उनका फल भोगनेके लिये इसी प्रकार विभिन्न लोकोंमें गमन करता हुआ एकके बाद एकके क्रमसे नाना शरीरोंको बार-बार धारण करता रहता है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—इसका बार-बार नाना योनियोंमें आवागमन क्यों होता है, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥१२॥

देही=जीवात्मा; **क्रियागुणैः**=अपने कर्मोंके (संस्काररूप) गुणोंसे; **च**=तथा; **आत्मगुणैः**=शरीरके गुणोंसे (युक्त होनेके कारण); **स्वगुणैः**=अहंता-ममता आदि अपने गुणोंके वशीभूत होकर; **स्थूलानि**=स्थूल; **च**=और; **सूक्ष्माणि**=

सूक्ष्म; **बहूनि एव**=बहुत-से; **रूपाणि**=रूपों (आकृतियों, शरीरों) को; **वृणोति**=स्वीकार करता है; **तेषाम्**=उनके; **संयोगहेतुः**=संयोगका कारण; **अपरः**=दूसरा; **अपि**=भी; **दृष्टः**=देखा गया है ॥ १२ ॥

व्याख्या—जीवात्मा अपने किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे और बुद्धि, मन, इन्द्रिय तथा पञ्चभूत—इनके समुदायरूप शरीरके धर्मोंसे युक्त होनेके कारण अहंता-ममता आदि अपने गुणोंके वशीभूत होकर अनेकानेक शरीर धारण करता है। अर्थात् शरीरके धर्मोंमें अहंता-ममता करके तद्रूप हो जानेके कारण नाना प्रकारके स्थूल और सूक्ष्म रूपोंको स्वीकार करता है—अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेता है। परंतु इस प्रकार जन्म लेनेमें यह स्वतन्त्र नहीं है, इसके संकल्प और कर्मोंके अनुसार उन-उन योनियोंसे इसका सम्बन्ध जोड़नेवाला कोई दूसरा ही है। वे हैं पूर्वोक्त परमेश्वर, जिन्हें तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंने देखा है। वे इस रहस्यको भलीभाँति जानते हैं। यहाँ कर्मोंके संस्कारोंका नाम क्रिया-गुण है, समस्त तत्त्वोंके समुदायरूप शरीरकी देखना, सुनना, समझना आदि शक्तियोंका नाम आत्मगुण है और इनके सम्बन्धसे जीवात्मामें जो अहंता, ममता, आसक्ति आदि आ जाते हैं—उनका नाम स्वगुण है ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—अनादिकालसे चले आते हुए इस जन्म-मरणरूप बन्धनसे छूटनेका क्या उपाय है, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

कलिलस्य=कलिल (दुर्गम संसार) के; **मध्ये**=भीतर व्याप्त; **अनाद्यनन्तम्**=आदि-अन्तसे रहित; **विश्वस्य स्रष्टारम्**=समस्त जगत्की रचना करनेवाले; **अनेकरूपम्**=अनेकरूपधारी; (तथा) **विश्वस्य परिवेष्टितारम्**=समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे हुए; **एकम्**=एक (अद्वितीय); **देवम्**=परमदेव परमेश्वरको; **ज्ञात्वा**=जानकर; (मनुष्य) **सर्वपाशैः**=समस्त बन्धनोंसे; **मुच्यते**=सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—पूर्वमन्त्रमें जिनको इस जीवात्माका नाना योनियोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला बताया गया है, जो अन्तर्यामीरूपसे मनुष्यके हृदयरूप गुहामें स्थित तथा निराकाररूपसे इस समस्त जगत्में व्याप्त हैं, जिनका न तो आदि है और न अन्त ही है अर्थात् जो उत्पत्ति, विनाश और वृद्धि-क्षय आदि सब प्रकारके विकारोंसे सर्वथा शून्य—सदा एकरस रहनेवाले हैं, तथापि जो समस्त जगत्की रचना करके विविध जीवोंके रूपमें प्रकट होते हैं और जिन्होंने इस समस्त जगत्को सब ओरसे घेर रक्खा है, उन एकमात्र सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबका शासन करनेवाले, सर्वेश्वर परब्रह्म पुरुषोत्तमको जानकर यह जीवात्मा सदाके लिये समस्त बन्धनोंसे सर्वथा छूट जाता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—अब अध्यायके उपसंहारमें ऊपर कही हुई बातको पुनः स्पष्ट करते हुए परमात्माकी प्राप्तिका उपाय बताया जाता है—

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥१४॥

भावग्राह्यम्=श्रद्धा और भक्तिके भावसे प्राप्त होने योग्य; **अनीडाख्यम्**=आश्रयरहित कहे जानेवाले; (तथा) **भावाभावकरम्**=जगत्की उत्पत्ति और संहार करनेवाले; **शिवम्**=कल्याणस्वरूप; (तथा) **कलासर्गकरम्**=सोलह कलाओंकी रचना करनेवाले; **देवम्**=परमदेव परमेश्वरको; **ये**=जो साधक; **विदुः**=जान लेते हैं; **ते**=वे; **तनुम्**=शरीरको; (सदाके लिये) **जहुः**=त्याग देते हैं—जन्म-मृत्युके चक्रसे छूट जाते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म परमेश्वर आश्रयरहित अर्थात् शरीररहित हैं, यह प्रसिद्ध है; तथा वे जगत्की उत्पत्ति और संहार करनेवाले तथा (प्रश्नोपनिषद् ६ । ६ । ४ में बतायी हुई) सोलह कलाओंको भी उत्पन्न करनेवाले हैं। ऐसा होनेपर भी वे कल्याणस्वरूप आनन्दमय परमेश्वर श्रद्धा, भक्ति और प्रेमभावसे पकड़े जा सकते हैं; जो मनुष्य उन परमदेव परमेश्वरको जान लेते हैं, वे शरीरसे अपना सम्बन्ध सदाके लिये छोड़ देते हैं अर्थात् इस संसार-चक्रसे सदाके लिये छूट जाते हैं।

इस रहस्यको समझकर मनुष्यको जितना शीघ्र हो सके, उन परम सुहृद्, परम दयालु, परम प्रेमी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वेश्वर परमात्माको जानने और पानेके लिये व्याकुल हो श्रद्धा और भक्तिभावसे उनकी आराधनामें लग जाना चाहिये ॥ १४॥

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अध्याय

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १ ॥

एके=कितने ही; **कवयः**=बुद्धिमान् लोग; **स्वभावम्**=स्वभावको; **वदन्ति**=जगत्का कारण बताते हैं; **तथा**=उसी प्रकार; **अन्ये**=कुछ दूसरे लोग; **कालम्**=कालको जगत्का कारण बतलाते हैं; [**एते**] **परिमुह्यमानाः** [**सन्ति**]=(वास्तवमें) ये लोग मोहग्रस्त हैं (अतः वास्तविक कारणको नहीं जानते); **तु**=वास्तवमें तो; **एषः**=यह; **देवस्य**=परमदेव परमेश्वरकी; **लोके**=समस्त जगत्में फैली हुई; **महिमा**=महिमा है; **येन**=जिसके द्वारा; **इदम्**=यह; **ब्रह्मचक्रम्**=ब्रह्मचक्र; **भ्राम्यते**=घुमाया जाता है ॥ १ ॥

व्याख्या—कितने ही बुद्धिमान् लोग तो कहते हैं कि इस जगत्का कारण स्वभाव है। अर्थात् पदार्थोंमें जो स्वाभाविक शक्ति है—जैसे अग्निमें प्रकाशन-शक्ति और दाह-शक्ति, वही इस जगत्का कारण है। कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि काल ही जगत्का कारण है; क्योंकि समयपर ही वस्तुगत शक्तिका प्राकट्य होता है, जैसे वृक्षमें फल आदि उत्पन्न करनेकी शक्ति समयपर ही प्रकट होती है। इसी प्रकार स्त्रियोंमें गर्भाधान ऋतुकालमें ही होता है, असमयमें नहीं होता—यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। परंतु अपनेको पण्डित समझनेवाले ये वैज्ञानिक मोहमें पड़े हुए हैं, अतः ये इस जगत्के वास्तविक कारणको नहीं जानते। वास्तवमें तो यह परमदेव सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी ही महिमा है, जगत्की विचित्र रचनाको देखने और उसपर विचार करनेपर उन्हींका महत्त्व प्रकट होता है। वे स्वभाव और काल आदि समस्त कारणोंके अधिपति हैं और उन्हींके द्वारा यह संसार-चक्र घुमाया जाता है। इस रहस्यको समझकर इस चक्रसे छुटकारा पानेके लिये उन्हींकी शरण लेनी चाहिये। संसार-चक्रकी व्याख्या १। ४ में की गयी है ॥ १ ॥

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ २ ॥

येन=जिस परमेश्वरसे; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सम्पूर्ण जगत्; **नित्यम्**=सदा; **आवृतम्**=व्याप्त है; **यः**=जो; **ज्ञः**=ज्ञानस्वरूप परमेश्वर; **हि**=निश्चय ही; **कालकालः**=कालका भी महाकाल; **गुणी**=सर्वगुणसम्पन्न; (और) **सर्ववित्**=सबको जाननेवाला है; **तेन**=उससे; **ह**=ही; **ईशितम्**=शासित हुआ; **कर्म**=यह जगत्रूप कर्म; **विवर्तते**=विभिन्न प्रकारसे यथायोग्य चल रहा है; (और ये) **पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि**=पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश भी (उसीके द्वारा शासित होते हैं); [**इति**=इस प्रकार;] **चिन्त्यम्**=चिन्तन करना चाहिये ॥ २ ॥

व्याख्या—जिन जगन्नियन्ता जगदाधार परमेश्वरसे यह सम्पूर्ण जगत् सदा—सभी अवस्थाओंमें सर्वथा व्याप्त है, जो कालके भी महाकाल हैं—अर्थात् जो कालकी सीमासे परे हैं, जो ज्ञानस्वरूप चिन्मय परमात्मा सुहृद्ता आदि समस्त दिव्य गुणोंसे नित्य सम्पन्न हैं, समस्त गुण जिनके स्वरूपभूत और चिन्मय हैं, जो समस्त ब्रह्माण्डोंको भली प्रकारसे जानते हैं, उन्हींका चलाया हुआ यह जगत्-चक्र नियमपूर्वक चल रहा है। वे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँचों महाभूतोंपर शासन करते हुए इनको अपना-अपना कार्य करनेकी शक्ति देकर इनसे कार्य करवाते हैं। उनकी शक्तिके बिना ये कुछ भी नहीं कर सकते, यह बात केनोपनिषद्में यक्षके आख्यानद्वारा भलीभाँति समझायी गयी है। इस रहस्यको समझकर मनुष्यको उन सवशक्तिमान् परमेश्वरका उपर्युक्तभावसे चिन्तन करना चाहिये ॥ २ ॥

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥ ३ ॥

(परमात्माने ही) **तत्**=उस (जडतत्त्वोंकी रचनारूप); **कर्म**=कर्मको; **कृत्वा**=करके; **विनिवर्त्य**=उसका निरीक्षण कर; **भूयः**=फिर; **तत्त्वस्य**=चेतन तत्त्वका; **तत्त्वेन**=जड तत्त्वसे; **योगम्**=संयोग; **समेत्य**=कराके; **वा**=अथवा यों समझिये कि; **एकेन**=एक (अविद्या) से; **द्वाभ्याम्**=दो (पुण्य और पापरूप कर्मों) से; **त्रिभिः**=तीन गुणोंसे; **च**=और; **अष्टभिः**=आठ प्रकृतियोंके साथ; **च**=तथा; **कालेन**=कालके साथ; **एव**=और; **सूक्ष्मैः आत्मगुणैः**=आत्मसम्बन्धी सूक्ष्म गुणोंके साथ; [**एव**=भी;] [**योगम् समेत्य**=इस जीवका सम्बन्ध कराके] (इस जगत्‌की रचना की है) ॥ ३ ॥

व्याख्या—परमेश्वरने ही अपनी शक्तिभूता मूलप्रकृतिसे पाँचों स्थूल महाभूत आदिकी रचनारूप कर्म करके उसका निरीक्षण किया, फिर जड तत्त्वके साथ चेतन तत्त्वका संयोग कराके नाना रूपोंमें अनुभव होनेवाले विचित्र जगत्‌की रचना की।* अथवा इस प्रकार समझना चाहिये कि एक अविद्या, दो पुण्य और पापरूप संचित कर्म-संस्कार, सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण और एक काल तथा मन, बुद्धि, अहंकार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये आठ प्रकृतिभेद, इन सबसे तथा अहंता, ममता, आसक्ति आदि आत्मसम्बन्धी सूक्ष्म गुणोंसे जीवात्माका सम्बन्ध कराके इस जगत्‌की रचना की। इन दोनों प्रकारके वर्णनोंका तात्पर्य एक ही है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—इस रहस्यको समझकर साधकको क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥ ४ ॥

यः=जो साधक; **गुणान्वितानि**=सत्त्वादि गुणोंसे व्याप्त; **कर्माणि**=कर्मोंको; **आरभ्य**=आरम्भ करके; (उनको) **च**=तथा; **सर्वान्**=समस्त; **भावान्**=भावोंको; **विनियोजयेत्**=परमात्मामें लगा देता है—उसीके समर्पण कर देता है; (उसके इस समर्पणसे) **तेषाम्**=उन कर्मोंका; **अभावे**=अभाव हो जानेपर; (उस साधकके) **कृतकर्मनाशः**=पूर्वसंचित कर्म-समुदायका भी सर्वथा नाश हो जाता है; **कर्मक्षये**=(इस प्रकार) कर्मोंका नाश हो जानेपर; **सः**=वह साधक; **याति**=परमात्माको प्राप्त हो जाता है; (क्योंकि वह जीवात्मा) **तत्त्वतः**=वास्तवमें; **अन्यः**=समस्त जड-समुदायसे भिन्न (चेतन) है ॥ ४ ॥

व्याख्या—जो कर्मयोगी सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे व्याप्त अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुकूल कर्तव्यकर्मोंका आरम्भ करके उनको और अपने सब प्रकारके अहंता, ममता, आसक्ति आदि भावोंको उस परब्रह्म परमेश्वरमें लगा देता है, उनके समर्पण कर देता है, उस समर्पणसे उन कर्मोंके साथ साधकका सम्बन्ध न रहनेके कारण वे उसे फल नहीं देते। इस प्रकार उनका अभाव हो जानेसे पहले किये हुए संचित कर्म-संस्कारोंका भी सर्वथा नाश हो जाता है। इस प्रकार कर्मोंका नाश हो जानेसे वह तुरंत परमात्माको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि यह जीवात्मा वास्तवमें जड-तत्त्वसमुदायसे सर्वथा भिन्न एवं अत्यन्त विलक्षण है। उनके साथ इसका सम्बन्ध अज्ञानजनित अहंता-ममता आदिके कारण ही है, स्वाभाविक नहीं है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—कर्मयोगका वर्णन करके अब उपासनारूप दूसरा साधन बताया जाता है—

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥ ५ ॥

सः=वह; **आदिः**=आदि कारण (परमात्मा); **त्रिकालात् परः**=तीनों कालोंसे सर्वथा अतीत; (एवं) **अकलः**=कलारहित (होनेपर); **अपि**=भी; **संयोगनिमित्तहेतुः**=प्रकृतिके साथ जीवका संयोग करानेमें कारणोंका भी कारण; **दृष्टः**=देखा गया है; **स्वचित्तस्थम्**=अपने अन्तःकरणमें स्थित; **तम्**=उस; **विश्वरूपम्**=सर्वरूप; (एवं) **भवभूतम्**=

* इसका वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद् (ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाक १ और ६) में, ऐतरेयोपनिषद् (अध्याय १ के तीनों खण्डों) में, छान्दोग्योपनिषद् (अध्याय ६, खण्ड २-३) में और बृहदारण्यकोपनिषद् (अध्याय १, ब्राह्मण २) में भी विस्तारपूर्वक आया है।

जगत्‌रूपमें प्रकट; **ईड्यम्**=स्तुति करने योग्य; **पूर्वम्**=पुराणपुरुष; **देवम् उपास्य**=परम देव (परमेश्वर) की उपासना करके (उसे प्राप्त करना चाहिये) ॥ ५ ॥

व्याख्या—वे समस्त जगत्‌के आदि कारण सर्वशक्तिमान् परमेश्वर तीनों कालोंसे सर्वथा अतीत हैं । उनमें कालका कोई भेद नहीं है, भूत और भविष्य भी उनकी दृष्टिमें वर्तमान ही हैं । वे (प्रश्नोपनिषद्‌में बतायी हुई) सोलह कलाओंसे रहित होनेपर भी अर्थात् संसारसे सर्वथा सम्बन्धरहित होते हुए भी प्रकृतिके साथ जीवका संयोग करानेवाले कारणके भी कारण हैं । यह बात इस रहस्यको जाननेवाले ज्ञानी महापुरुषोंद्वारा देखी गयी है । वे ही एकमात्र स्तुति करने योग्य हैं । उन्हें ढूँढ़नेके लिये कहीं दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है । वे हमारे हृदयमें ही स्थित हैं । इस बातपर दृढ़ विश्वास करके सब प्रकारके रूप धारण करनेवाले तथा जगत्‌रूपमें प्रकट हुए, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान् परम देव पुराणपुरुष परमेश्वरकी उपासना करके उन्हें प्राप्त करना चाहिये ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब ज्ञानयोगरूप तीसरा साधन बताया जाता है—

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् ।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥ ६ ॥

यस्मात्=जिससे; **अयम्**=यह; **प्रपञ्चः**=प्रपञ्च (संसार); **परिवर्तते**=निरन्तर चलता रहता है; **सः**=वह (परमात्मा); **वृक्षकालाकृतिभिः**=इस संसारवृक्ष, काल और आकृति आदिसे; **परः**=सर्वथा अतीत; (एवं) **अन्यः**=भिन्न है; (उस) **धर्मावहम्**=धर्मकी वृद्धि करनेवाले; **पापनुदम्**=पापका नाश करनेवाले; **भगेशम्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यके अधिपति; (तथा) **विश्वधाम**=समस्त जगत्‌के आधारभूत परमात्माको; **आत्मस्थम्**=अपने हृदयमें स्थित; **ज्ञात्वा**=जानकर; (साधक) **अमृतम् [एति]**=अमृतस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिनकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे यह प्रपञ्चरूप संसार निरन्तर घूम रहा है—प्रवाहरूपसे सदा चलता रहता है, वे परमात्मा इस संसार-वृक्ष, काल और आकृति आदिसे सर्वथा अतीत और भिन्न हैं । अर्थात् वे संसारसे सर्वथा सम्बन्धरहित, कालका भी ग्रास कर जानेवाले एवं आकाररहित हैं । तथापि वे धर्मकी वृद्धि एवं पापका नाश करनेवाले, समस्त ऐश्वर्योंके अधिपति और समस्त जगत्‌के आधार हैं । यह सम्पूर्ण विश्व उन्हींके आश्रित है, उन्हींकी सत्तासे टिका हुआ है । अन्तर्यामीरूपसे वे हमारे हृदयमें भी हैं । इस प्रकार उन्हें जानकर ज्ञानयोगी उन अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें जिनका वर्णन आया है, वे ध्यानके द्वारा प्रत्यक्ष करनेवाले महात्मालोग कहते हैं—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ ७ ॥

तम्=उस; **ईश्वराणाम्**=ईश्वरोंके भी; **परमम्**=परम; **महेश्वरम्**=महेश्वर; **देवतानाम्**=सम्पूर्ण देवताओंके; **च**=भी; **परमम्**=परम; **दैवतम्**=देवता; **पतीनाम्**=पतियोंके भी; **परमम्**=परम; **पतिम्**=पति; (तथा) **भुवनेशम्**=समस्त ब्रह्माण्डके स्वामी; (एवं) **ईड्यम्**=स्तुति करनेयोग्य; **तम्**=उस; **देवम्**=प्रकाशस्वरूप परमात्माको; (हमलोग) **परस्तात्**=सबसे परे; **विदाम**=जानते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म पुरुषोत्तम समस्त ईश्वरोंके—लोकपालोंके भी महान् शासक हैं, अर्थात् वे सब भी उन महेश्वरके अधीन रहकर जगत्‌का शासन करते हैं । समस्त देवताओंके भी वे परम आराध्य हैं, समस्त पतियों—रक्षकोंके भी परम पति हैं तथा समस्त ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं । उन स्तुति करनेयोग्य प्रकाशस्वरूप परम देव परमात्माको हमलोग सबसे पर जानते हैं । उनसे पर अर्थात् श्रेष्ठ और कोई नहीं है । वे ही इस जगत्‌के सर्वश्रेष्ठ कारण हैं और वे सर्वरूप होकर भी सबसे सर्वथा पृथक् हैं ॥ ७ ॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ ८ ॥

तस्य=उसके; **कार्यम्**=(शरीररूप) कार्य; **च**=और; **करणम्**=अन्तःकरण तथा इन्द्रियरूप करण; **न**=नहीं; **विद्यते**=है; **अभ्यधिकः**=उससे बड़ा; **च**=और; **तत्समः**=उसके समान; **च**=भी; (दूसरा) **न**=नहीं; **दृश्यते**=दीखता; **च**=तथा; **अस्य**=इस परमेश्वरकी; **ज्ञानबलक्रिया**=ज्ञान, बल और क्रियारूप; **स्वाभाविकी**=स्वाभाविक; **परा**=दिव्य; **शक्तिः**=शक्ति; **विविधा**=नाना प्रकारकी; **एव**=ही; **श्रूयते**=सुनी जाती है ॥ ८ ॥

व्याख्या—उन परब्रह्म परमात्माके कार्य और करण—शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं। अर्थात् उनमें देह, इन्द्रिय आदिका भेद नहीं है। तीसरे अध्यायमें यह बात विस्तारपूर्वक बतायी गयी है कि वे इन्द्रियोंके बिना ही समस्त इन्द्रियोंका व्यापार करते हैं। उनसे बड़ा तो दूर रहे, उनके समान भी दूसरा कोई नहीं दीखता; वास्तवमें उनसे भिन्न कोई है ही नहीं। उन परमेश्वरकी ज्ञान, बल और क्रियारूप स्वरूपभूत दिव्य शक्ति नाना प्रकारकी सुनी जाती है ॥ ८ ॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥ ९ ॥

लोके=जगत्‌में; **कश्चित्**=कोई भी; **तस्य**=उस परमात्माका; **पतिः**=स्वामी; **न**=नहीं; **अस्ति**=है; **ईशिता**=उसका शासक; **च**=भी; **न**=नहीं है; **च**=और; **तस्य**=उसका; **लिङ्गम्**=चिह्नविशेष भी; **न एव**=नहीं है; **सः**=वह; **कारणम्**=सबका परम कारण; (तथा) **करणाधिपाधिपः**=समस्त करणोंके अधिष्ठाताओंका भी अधिपति है; **कश्चित्**=कोई भी; **न**=न; **च**=तो; **अस्य**=इसका; **जनिता**=जनक है; **च**=और; **न**=न; **अधिपः**=स्वामी ही है ॥ ९ ॥

व्याख्या—जगत्‌में कोई भी उन परमात्माका स्वामी नहीं है। सभी उनके दास और सेवक हैं। उनका शासक—उनपर आज्ञा चलानेवाला भी कोई नहीं है। सब उन्हींकी आज्ञा और प्रेरणाका अनुसरण करते और उनके नियन्त्रणमें रहते हैं। उनका कोई चिह्नविशेष भी नहीं है; क्योंकि वे सर्वत्र परिपूर्ण, निराकार हैं। तथा वे सबके परम कारण—कारणोंके भी कारण और समस्त अन्तःकरण और इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताओंके भी अधिपति—शासक हैं। इन परब्रह्म परमात्माका न तो कोई जनक—अर्थात् इन्हें उत्पन्न करनेवाला पिता है और न कोई इनका अधिपति ही है। ये अजन्मा, सनातन, सर्वथा स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान् हैं ॥ ९ ॥

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्। स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम् ॥ १० ॥

तन्तुभिः=तन्तुओंद्वारा; **तन्तुनाभः इव**=मकड़ीकी भाँति; **यः एकः देवः**=जिस एक देव (परमात्मा) ने; **प्रधानजैः**=अपनी स्वरूपभूत मुख्य शक्तिसे उत्पन्न अनन्त कार्योंद्वारा; **स्वभावतः**=स्वभावसे ही; **स्वम्**=अपनेको; **आवृणोत्**=आच्छादित कर रक्खा है; **सः**=वह परमेश्वर; **नः**=हमलोगोंको; **ब्रह्माप्ययम्**=अपने परब्रह्मरूपमें आश्रय; **दधात्**=दे ॥ १० ॥

व्याख्या—जिस प्रकार मकड़ी अपनेसे प्रकट किये हुए तन्तुजालसे स्वयं आच्छादित हो जाती है—उसमें अपनेको छिपा लेती है, उसी प्रकार जिन एक देव परमपुरुष परमेश्वरने अपनी स्वरूपभूत मुख्य एवं दिव्य अचिन्त्यशक्तिसे उत्पन्न अनन्त कार्योंद्वारा स्वभावसे ही अपनेको आच्छादित कर रक्खा है, जिसके कारण संसारी जीव उन्हें देख नहीं पाते, वे सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्मा हमलोगोंको सबके परम आश्रयभूत अपने परब्रह्मस्वरूपमें स्थापित करें ॥ १० ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ११ ॥

एकः=(वह) एक; **देवः**=देव ही; **सर्वभूतेषु**=सब प्राणियोंमें; **गूढः**=छिपा हुआ; **सर्वव्यापी**=सर्वव्यापी; (और) **सर्वभूतान्तरात्मा**=समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमात्मा है; **कर्माध्यक्षः**=(वही) सबके कर्मोंका अधिष्ठाता; **सर्वभूताधिवासः**=सम्पूर्ण भूतोंका निवासस्थान; **साक्षी**=सबका साक्षी; **चेता**=चेतनस्वरूप; **केवलः**=सर्वथा विशुद्ध; **च**=और; **निर्गुणः**=गुणातीत है ॥ ११ ॥

व्याख्या—वे एक ही परमदेव परमेश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयरूप गुहामें छिपे हुए हैं, वे सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी परमात्मा हैं। वे ही सबके कर्मोंके अधिष्ठाता—उनको कर्मानुसार फल देनेवाले और समस्त प्राणियोंके निवासस्थान—आश्रय हैं; तथा वे ही सबके साक्षी—शुभाशुभ कर्मको देखनेवाले, परम चेतनस्वरूप तथा सबको चेतना प्रदान करनेवाले, सर्वथा विशुद्ध अर्थात् निर्लेप और प्रकृतिके गुणोंसे अतीत हैं ॥ ११ ॥

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

यः=जो; **एकः**=अकेला ही; **बहूनाम्**=बहुत-से; **निष्क्रियाणाम्**=वास्तवमें अक्रिय जीवोंका; **वशी**=शासक है; (और) **एकम्**=एक; **बीजम्**=प्रकृतिरूप बीजको; **बहुधा**=अनेक रूपोंमें परिणत; **करोति**=कर देता है; **तम्**=उस; **आत्मस्थम्**=हृदयस्थित परमेश्वरको; **ये**=जो; **धीराः**=धीर पुरुष; **अनुपश्यन्ति**=निरन्तर देखते रहते हैं; **तेषाम्**=उन्हींको; **शाश्वतम्**=सदा रहनेवाला; **सुखम्**=परमानन्द प्राप्त होता है; **इतरेषाम्**=दूसरोंको; **न**=नहीं ॥ १२ ॥

व्याख्या—जो विशुद्ध चेतनस्वरूप परमेश्वरके ही अंश होनेके कारण वास्तवमें कुछ नहीं करते, ऐसे अनन्त जीवात्माओंके जो अकेले ही नियन्ता—कर्मफल देनेवाले हैं, जो एक प्रकृतिरूप बीजको बहुत प्रकारसे रचना करके इस विचित्र जगत्‌के रूपमें बनाते हैं, उन हृदयस्थित सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् परमेश्वरको जो धीर पुरुष निरन्तर देखते रहते हैं, निरन्तर उन्हींमें तन्मय हुए रहते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला परम आनन्द प्राप्त होता है; दूसरोंको, जो इस प्रकार उनका निरन्तर चिन्तन नहीं करते, वह परमानन्द नहीं मिलता—वे उससे वञ्चित रह जाते हैं ॥ १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

यः=जो; **एकः**=एक; **नित्यः**=नित्य; **चेतनः**=चेतन (परमात्मा); **बहूनाम्**=बहुत-से; **नित्यानाम्**=नित्य; **चेतनानाम्**=चेतन आत्माओंके; **कामान्** **विदधाति**=कर्मफलभोगोंका विधान करता है; **तत्**=उस; **सांख्ययोगाधिगम्यम्**=ज्ञानयोग और कर्मयोगसे प्राप्त करनेयोग्य; **कारणम्**=सबके कारणरूप; **देवम्**=परमदेव परमात्माको; **ज्ञात्वा**=जानकर; (मनुष्य) **सर्वपाशैः**=समस्त बन्धनोंसे; **मुच्यते**=मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—जो नित्य चेतन सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्मा अकेले ही बहुत-से नित्य चेतन जीवात्माओंके कर्मफल-भोगोंका विधान करते हैं, जिन्होंने इस विचित्र जगत्‌की रचना करके समस्त जीवसमुदायके लिये उनके कर्मानुसार फलभोगकी व्यवस्था कर रक्खी है, उनको प्राप्त करनेके दो साधन हैं—एक ज्ञानयोग, दूसरा कर्मयोग; भक्ति दोनोंमें ही अनुस्यूत है, इस कारण उसका अलग वर्णन नहीं किया गया। उन ज्ञानयोग और कर्मयोगद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य सबके कारणरूप परमदेव परमेश्वरको जानकर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। जो उन्हें जान लेता है और प्राप्त कर लेता है, वह कभी किसी भी कारणसे जन्म-मरणके बन्धनमें नहीं पड़ता। अतः मनुष्यको उन सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्माको प्राप्त करनेके लिये अपनी योग्यता और रुचिके अनुसार ज्ञानयोग या कर्मयोग—किसी एक साधनमें तत्परतापूर्वक लग जाना चाहिये ॥ १३ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१४॥

तत्र=वहाँ; **न**=न तो; **सूर्यः**=सूर्य; **भाति**=प्रकाश फैला सकता है; **न**=न; **चन्द्रतारकम्**=चन्द्रमा और तारागणका समुदाय ही; (और) **न**=न; **इमाः**=ये; **विद्युतः**=बिजलियाँ ही; **भान्ति**= वहाँ प्रकाशित हो सकती हैं; **अयम्**= (फिर) यह; **अग्निः**=लौकिक अग्नि तो; **कुतः**=कैसे प्रकाशित हो सकता है; (क्योंकि) **तम् भान्तम् एव**=उसके प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे); **सर्वम्**=बतलाये हुए सूर्य आदि सब; **अनुभाति**=उसके पीछे प्रकाशित होते हैं; **तस्य**=उसके; **भासा**=प्रकाशसे; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सम्पूर्ण जगत्; **विभाति**=प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—उन परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरके समीप यह सूर्य अपना प्रकाश नहीं फैला सकता; जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशित होनेपर जुगनूका प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार सूर्यका भी तेज वहाँ लुप्त हो जाता है। चन्द्रमा, तारागण और बिजली भी वहाँ अपना प्रकाश नहीं फैला सकते; फिर इस लौकिक अग्निकी तो बात ही क्या है। क्योंकि इस जगत्में जो कोई भी प्रकाशशील तत्त्व हैं, वे उन परम प्रकाशस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्रकाशशक्तिके किसी अंशको पाकर ही प्रकाशित होते हैं। फिर वे अपने प्रकाशकके समीप कैसे अपना प्रकाश फैला सकते हैं। अतः यही समझना चाहिये कि यह सम्पूर्ण जगत् उन जगदात्मा पुरुषोत्तमके प्रकाशसे ही प्रकाशित हो रहा है ॥ १४ ॥

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१५॥

अस्य=इस; **भुवनस्य**=ब्रह्माण्डके; **मध्ये**=बीचमें; (जो) **एकः**=एक; **हंसः**=प्रकाशस्वरूप परमात्मा (परिपूर्ण है); **सः एव**=वही; **सलिले**=जलमें; **संनिविष्टः**=स्थित; **अग्निः**=अग्नि है; **तम्**=उसे; **विदित्वा**=जानकर; **एव**=ही; (मनुष्य) **मृत्युम् अत्येति**=मृत्युरूप संसार-समुद्रसे सर्वथा पार हो जाता है; **अयनाय**=दिव्य परमधामकी प्राप्तिके लिये; **अन्यः**=दूसरा; **पन्थाः**=मार्ग; **न**=नहीं; **विद्यते**=है ॥ १५ ॥

व्याख्या—इस ब्रह्माण्डमें जो एक प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर सर्वत्र परिपूर्ण हैं, वे ही जलमें प्रविष्ट अग्नि हैं। यद्यपि शीतल स्वभावयुक्त जलमें उष्णस्वभाव अग्निका होना साधारण दृष्टिसे समझमें नहीं आता, क्योंकि दोनोंका स्वभाव परस्पर विरुद्ध है, तथापि उसके रहस्यको जाननेवाले वैज्ञानिकोंको वह प्रत्यक्ष दीखता है; अतः वे उसी जलमेंसे बिजलीके रूपमें उस अग्नितत्त्वको निकालकर नाना प्रकारके कार्योंका साधन करते हैं। शास्त्रोंमें भी जगह-जगह यह बात कही गयी है कि समुद्रमें बड़वानल अग्नि है। अपने कार्यमें कारण व्याप्त रहता है—इस न्यायसे भी जलतत्त्वका कारण होनेसे तेजस्तत्त्व-का जलमें व्याप्त होना उचित ही है। किंतु इस रहस्यको न जाननेवाला जलमें स्थित अग्निको नहीं देख पाता। इसी प्रकार परमात्मा इस जड जगत्से स्वभावतः सर्वथा विलक्षण है; क्योंकि वे चेतन, ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ हैं तथा यह जगत् जड और ज्ञेय है। इस प्रकार जगत्से विरुद्ध दीखनेके कारण साधारण दृष्टिसे यह बात समझमें नहीं आती कि वे इसमें किस प्रकार व्याप्त हैं और किस प्रकार इसके कारण हैं। परंतु जो उन परब्रह्मकी अचिन्त्य अद्भुत शक्तिके रहस्यको समझते हैं, उनको वे प्रत्यक्षवत् सर्वत्र परिपूर्ण और सबके एकमात्र कारण प्रतीत होते हैं। उन सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्माको जानकर ही मनुष्य इस मृत्युरूप संसारसमुद्रसे पार हो सकता है—सदाके लिये जन्म-मरणसे सर्वथा छूट सकता है। उनके दिव्य परमधामकी प्राप्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है। अतः हमें उन परमात्माका जिज्ञासु होकर उन्हें जाननेकी चेष्टामें लग जाना चाहिये ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—जिनको जाननेसे जन्म-मरणसे छूटनेकी बात कही गयी है, वे परमेश्वर कैसे हैं—इस जिज्ञासापर उनके स्वरूपका वर्णन किया जाता है—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः सꣳसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥१६॥

सः=वह; **ज्ञः**=ज्ञानस्वरूप परमात्मा; **विश्वकृत्**=सर्वस्रष्टा; **विश्ववित्**=सर्वज्ञ; **आत्मयोनिः**=स्वयं ही अपने प्राकट्य-का हेतु; **कालकालः**=कालका भी महाकाल; **गुणी**=सम्पूर्ण दिव्यगुणोंसे सम्पन्न; (और) **सर्ववित्**=सबको जाननेवाला है; **यः**=जो; **प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः**=प्रकृति और जीवात्माका स्वामी; **गुणेशः**=समस्त गुणोंका शासक; (तथा) **संसारमोक्ष-स्थितिबन्धहेतुः**=जन्म-मृत्युरूप संसारमें बाँधने, स्थित रखने और उससे मुक्त करनेवाला है ॥ १६ ॥

व्याख्या—जिनका प्रकरण चल रहा है, वे ज्ञानस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम सम्पूर्ण जगत्के रचना करनेवाले, सर्वज्ञ और स्वयं ही अपनेको प्रकट करनेमें हेतु हैं। उन्हें प्रकट करनेवाला कोई दूसरा कारण नहीं है। वे कालके भी महाकाल हैं, कालकी भी उनतक पहुँच नहीं है। वे कालातीत हैं। कठोपनिषद्में भी कहा है कि सबका संहार करनेवाला मृत्यु उन महाकालरूप परमात्मा-का उपसेचन—खाद्य है (कठ० १ । २ । २४)। वे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सौहार्द, प्रेम, दया आदि समस्त कल्याणमय दिव्य गुणोंसे

सम्पन्न हैं; संसारमें जितने भी शुभ गुण देखनेमें आते हैं, वे उन दिव्य गुणोंके किसी एक अंशकी झलक हैं। वे समस्त जीवोंको, उनके कर्मोंको और अनन्त ब्रह्माण्डोंके भीतर तीनों कालोंमें घटित होनेवाली छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी घटनाको भलीभाँति जानते हैं। वे प्रकृति और जीव-समुदायके (अपनी अपरा और परा—दोनों प्रकृतियोंके) स्वामी हैं, तथा कार्य-कारणरूपमें स्थित सत्त्व आदि तीनों गुणोंका यथायोग्य नियन्त्रण करते हैं। वे ही इस जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें जीवोंको उनके कर्मानुसार बाँधकर रखते, उनका पालन-पोषण करते और इस बन्धनसे जीवोंको मुक्त भी करते हैं। उनकी कृपासे ही जीव मुक्तिके साधनमें लगकर साधनके परिपक्व होनेपर मुक्त होते हैं ॥ १६ ॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥१७॥

सः हि=वही; **तन्मयः**=तन्मय; **अमृतः**=अमृतस्वरूप; **ईशसंस्थः**=ईश्वरों (लोकपालों) में भी आत्मरूपसे स्थित; **ज्ञः**=सर्वज्ञ; **सर्वगः**=सर्वत्र परिपूर्ण; (और) **अस्य**=इस; **भुवनस्य**=ब्रह्माण्डका; **गोप्ता**=रक्षक है; **यः**=जो; **अस्य**=इस; **जगतः**=सम्पूर्ण जगत्का; **नित्यम्**=सदा; **एव**=ही; **ईशे**=शासन करता है; (क्योंकि) **ईशनाय**=इस जगत्पर शासन करनेके लिये; **अन्यः**=दूसरा कोई भी; **हेतुः**=हेतु; **न**=नहीं; **विद्यते**=है ॥ १७ ॥

व्याख्या—जिनके स्वरूपका पूर्वमन्त्रमें वर्णन हुआ है, वे परब्रह्म परमेश्वर ही तन्मय—स्व-स्वरूपमें स्थित, अमृतस्वरूप—एकरस हैं; इस जगत्के उत्पत्ति-विनाशरूप परिवर्तनसे उनका परिवर्तन नहीं होता। वे समस्त ईश्वरोंमें—समस्त लोकोंका पालन करनेके लिये नियुक्त किये हुए लोकपालोंमें भी अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वर ही इस समस्त ब्रह्माण्डकी रक्षा करते हैं; वे ही इस सम्पूर्ण जगत्का सदा यथायोग्य नियन्त्रण और संचालन करते हैं। दूसरा कोई भी इस जगत्पर शासन करनेके लिये उपयुक्त हेतु नहीं प्रतीत होता; क्योंकि दूसरा कोई भी सबपर शासन करनेमें समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त परमेश्वरको जानने और पानेके लिये साधनके रूपमें उन्हींकी शरण लेनेका प्रकार बताया जाता है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥१८॥

यः=जो परमेश्वर; **वै**=निश्चय ही; **पूर्वम्**=सबसे पहले; **ब्रह्माणम्**=ब्रह्माको; **विदधाति**=उत्पन्न करता है; **च**=और; **यः**=जो; **वै**=निश्चय ही; **तस्मै**=उस ब्रह्माको; **वेदान्**=समस्त वेदोंका ज्ञान; **प्रहिणोति**=प्रदान करता है; **तम् आत्मबुद्धिप्रकाशम्**=उस परमात्मज्ञानविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले; **ह देवम्**=प्रसिद्ध देव परमेश्वरको; **अहम्**=मैं; **मुमुक्षुः**=मोक्षकी इच्छावाला साधक; **शरणम्**=शरणरूपमें; **प्रपद्ये**=ग्रहण करता हूँ ॥ १८ ॥

व्याख्या—उन परमेश्वरको प्राप्त करनेका सार्वभौम एवं सुगम उपाय सर्वतोभावसे उन्हींपर निर्भर होकर उन्हींकी शरणमें चले जाना है। अतः साधकको मनके द्वारा नीचे लिखे भावका चिन्तन करते हुए परमात्माकी शरणमें जाना चाहिये। जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले अपने नाभि-कमलमेंसे ब्रह्माको उत्पन्न करते हैं, उत्पन्न करके उन्हें निःसंदेह समस्त वेदोंका ज्ञान प्रदान करते हैं तथा जो अपने स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये अपने भक्तोंके हृदयमें तदनुरूप विशुद्ध बुद्धिको प्रकट करते हैं (गीता १० । १०), उन पूर्वमन्त्रोंमें वर्णित सर्वशक्तिमान् प्रसिद्ध देव परब्रह्म पुरुषोत्तमकी मैं मोक्षकी अभिलाषासे युक्त होकर शरण ग्रहण करता हूँ—वे ही मुझे इस संसार-बन्धनसे छुड़ायें ॥ १८ ॥

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥१९॥

निष्कलम्=कलाओंसे रहित; **निष्क्रियम्**=क्रियारहित; **शान्तम्**=सर्वथा शान्त; **निरवद्यम्**=निर्दोष; **निरञ्जनम्**=निर्मल; **अमृतस्य**=अमृतके; **परम्**=परम; **सेतुम्**=सेतुरूप; (तथा) **दग्धेन्धनम्**=जले हुए ईंधनसे युक्त; **अनलम् इव**=अग्निकी भाँति (निर्मल ज्योतिःस्वरूप उन परमात्माका मैं चिन्तन करता हूँ) ॥ १९ ॥

व्याख्या—निर्गुण निराकार परमात्माकी उपासना करनेवाले साधकको इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये कि जो (पहले बतायी हुई) सोलह कलाओंसे अर्थात् संसारके सम्बन्धसे रहित, सर्वथा क्रियाशून्य, परम शान्त और सब प्रकारके दोषोंसे रहित हैं, जो अमृतस्वरूप मोक्षके परम सेतु हैं अर्थात् जिनका आश्रय लेकर मनुष्य अत्यन्त सुगमतापूर्वक इस संसार-समुद्रसे पार हो सकता है, जो लकड़ीका पार्थिव अंश जल जानेके बाद धधकते हुए अँगारोंवाली अग्निकी भाँति सर्वथा निर्विकार, निर्मल प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप परम चेतन हैं, उन निर्विशेष निर्गुण निराकार परमात्माको तत्त्वसे जाननेके लिये उन्हींको लक्ष्य बनाकर उनका चिन्तन करता हूँ ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—पहले जो यह बात कही गयी थी कि इस संसार-बन्धनसे छूटनेके लिये उन परमात्माको जान लेनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है, उसीको दृढ़ किया जाता है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥२०॥

यदा=जब; **मानवाः**=मनुष्यगण; **आकाशम्**=आकाशको; **चर्मवत्**=चमड़ेकी भाँति; **वेष्टयिष्यन्ति**=लपेट सकेंगे; **तदा**=तब; **देवम्**=उन परमदेव परमात्माको; **अविज्ञाय**=बिना जाने भी; **दुःखस्य**=दुःख-समुदायका; **अन्तः**=अन्त; **भविष्यति**=हो सकेगा ॥ २० ॥

व्याख्या—जिस प्रकार आकाशको चमड़ेकी भाँति लपेटना मनुष्यके लिये सर्वथा असम्भव है, सारे मनुष्य मिलकर भी इस कार्यको नहीं कर सकते, उसी प्रकार परमात्माको बिना जाने कोई भी जीव इस दुःख-समुद्रसे पार नहीं हो सकता । अतः मनुष्यको दुःखोंसे सर्वथा छूटने और निश्चल परमानन्दकी प्राप्तिके लिये अन्य सब ओरसे मनको हटाकर एकमात्र उन्हीं-को जाननेके साधनमें तीव्र इच्छासे लग जाना चाहिये ॥ २० ॥

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥२१॥

ह=यह प्रसिद्ध है कि; **श्वेताश्वतरः**=श्वेताश्वतर नामक ऋषि; **तपःप्रभावात्**=तपके प्रभावसे; **च**=और; **देवप्रसादात्**=परमदेव परमेश्वरकी कृपासे; **ब्रह्म**=ब्रह्मको; **विद्वान्**=जान सका; **अथ**=तथा; (उसने) **ऋषिसङ्घ-जुष्टम्**=ऋषि-समुदायसे सेवित; **परमम्**=परम; **पवित्रम्**=पवित्र (इस ब्रह्मतत्त्वका); **अत्याश्रमिभ्यः**=आश्रमके अभिमानसे अतीत अधिकारियोंको; **सम्यक्**=उत्तमरूपसे; **प्रोवाच**=उपदेश किया था ॥ २१ ॥

व्याख्या—यह बात प्रसिद्ध है कि श्वेताश्वतर ऋषिने तपके प्रभावसे अर्थात् समस्त विषय-सुखका त्याग करके संयम-मय जीवन बिताते हुए निरन्तर परमात्माके ही चिन्तनमें लगे रहकर उन परमदेव परमेश्वरकी अहैतुकी दयासे उन्हें जान लिया था । फिर उन्होंने ऋषि-समुदायसे सेवित—उनके परम लक्ष्य इस परम पवित्र ब्रह्मतत्त्वका आश्रमके अभिमानसे सर्वथा अतीत हुए देहाभिमानशून्य अधिकारियोंको भलीभाँति उपदेश किया था । इससे इस मन्त्रमें यह बात भी दिखला दी गयी कि देहाभिमानशून्य साधक ही ब्रह्मतत्त्वका उपदेश सुननेके वास्तविक अधिकारी हैं ॥ २१ ॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥२२॥

[**इदम्**=यह;] **परमम्**=परम; **गुह्यम्**=रहस्यमय ज्ञान; **पुराकल्पे**=पूर्वकल्पमें; **वेदान्ते**=वेदके अन्तिम भाग—उपनिषद्में; **प्रचोदितम्**=भलीभाँति वर्णित हुआ; **अप्रशान्ताय**=जिसका अन्तःकरण सर्वथा शान्त न हो गया हो, ऐसे मनुष्यको; **न दातव्यम्**=इसका उपदेश नहीं देना चाहिये; **पुनः**=तथा; **अपुत्राय**=जो अपना पुत्र न हो; **वा**=अथवा; **अशिष्याय**=जो शिष्य न हो, उसे; **न (दातव्यम्)**=नहीं देना चाहिये ॥ २२ ॥

व्याख्या—यह परम रहस्यमय ज्ञान पूर्वकल्पमें भी वेदके अन्तिम भाग—उपनिषदोंमें भलीभाँति वर्णित हुआ था । भाव

यह कि इस ज्ञानकी परम्परा कल्प-कल्पान्तरसे चली आती है, यह कोई नयी बात नहीं है। इसका उपदेश किसे दिया जाय और किसे नहीं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—'जिसका अन्तःकरण विषय-वासनासे शून्य होकर सर्वथा शान्त न हो गया हो, ऐसे मनुष्यको इस रहस्यका उपदेश नहीं देना चाहिये; तथा जो अपना पुत्र न हो अथवा शिष्य न हो, उसे भी नहीं देना चाहिये।' भाव यह है कि या तो जो सर्वथा शान्तचित्त हो, ऐसे अधिकारीको देना चाहिये अथवा जो अपना पुत्र या शिष्य हो, उसे देना चाहिये; क्योंकि पुत्र और शिष्यको अधिकारी बनाना पिता और गुरुका ही काम है; अतः वह पहलेसे ही अधिकारी हो, यह नियम नहीं है ॥ २२ ॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।
प्रकाशन्ते महात्मनः ॥२३॥

यस्य=जिसकी; **देवे**=परमदेव परमेश्वरमें; **परा**=परम; **भक्तिः**=भक्ति है; (तथा) **यथा**=जिस प्रकार; **देवे**=परमेश्वरमें है; **तथा**=उसी प्रकार; **गुरौ**=गुरुमें भी है; **तस्य महात्मनः**=उस महात्मा पुरुषके हृदयमें; **हि**=ही; **एते**=ये; **कथिताः**=बताये हुए; **अर्थाः**=रहस्यमय अर्थ; **प्रकाशन्ते**=प्रकाशित होते हैं; **प्रकाशन्ते महात्मनः**=उसी महात्माके हृदयमें प्रकाशित होते हैं ॥ २३ ॥

व्याख्या—जिस साधककी परमदेव परमेश्वरमें परम भक्ति होती है तथा जिस प्रकार परमेश्वरमें होती है, उसी प्रकार अपने गुरुमें भी होती है, उस महात्मा—मनस्वी पुरुषके हृदयमें ही ये बताये हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं। अतः जिज्ञासुको पूर्ण श्रद्धालु और भक्त बनना चाहिये। जिसमें पूर्ण श्रद्धा और भक्ति है, उसी महात्माके हृदयमें ये गूढ अर्थ प्रकाशित होते हैं। इस मन्त्रमें अन्तिम वाक्यकी पुनरावृत्ति ग्रन्थकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ २३ ॥

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ कठोपनिषद्के आरम्भमें दिया गया है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

छान्दोग्योपनिषद्

यह उपनिषद् सामवेदकी तलवकार शाखाके अन्तर्गत छान्दोग्य ब्राह्मणका भाग है। छान्दोग्य ब्राह्मणमें कुल दस अध्याय हैं, उनमेंसे पहले और दूसरे अध्यायोंको छोड़कर शेष आठ अध्यायोंका नाम छान्दोग्योपनिषद् है।

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ केनोपनिषद्के आरम्भमें दिया जा चुका है।

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

ओंकारकी व्याख्या

ॐरूप इस अक्षरकी उद्गीथ-शब्द-वाच्य परमात्माके रूपमें उपासना करनी चाहिये। क्योंकि यज्ञमें उद्गाता 'ॐ' इस अक्षरका ही सर्व-प्रथम उच्चस्वरसे गान करता है। उस ओंकारकी व्याख्या आरम्भ की जाती है ॥ १ ॥

इन चराचर जीवोंका रस—आधार पृथ्वी है, पृथ्वीका रस—आधार अथवा कारण जल है, जलका रस—उसपर निर्भर करनेवाली ओषधियाँ हैं, ओषधियोंका रस—उनसे पोषण पानेवाला मनुष्य-शरीर है, मनुष्यका रस—प्रधान अङ्ग वाणी है, वाणीका रस—सार ऋचा * है, ऋचाका रस साम है और सामका रस उद्गीथ (ओंकार) है। इनमें जो आठवाँ (सबसे अन्तिम) रस उद्गीथरूप ओंकार है, वह समस्त रसोंमें उत्कृष्ट रस है; अतः यह सर्वश्रेष्ठ एवं परब्रह्म परमात्माका धाम—आश्रय है। अब कौन-कौन ऋचा है, कौन-कौन साम है तथा कौन-कौन उद्गीथ है—यह विचार किया जाता है। वाणी ही ऋचा है, प्राण साम है, 'ॐ' यह अक्षर ही उद्गीथ है। जो वाणी और प्राण तथा ऋचा और साम हैं, यह एक ही जोड़ा है—दो नहीं हैं। अर्थात् वाणी अथवा ऋचा तथा प्राण अथवा साम एक दूसरेके पूरक हैं। वाणी और प्राणका अथवा ऋचा और सामका यह जोड़ा ॐरूप इस अक्षरमें भलीभाँति संयुक्त किया जाता है। जिस समय स्त्री और पुरुष आपसमें प्रेमपूर्वक मिलते हैं, उस समय वे अवश्य ही एक दूसरेकी कामना पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार यह वाणी और प्राणका जोड़ा जब ओंकारमें लगाया जाता है, तब वह सदाके लिये पूर्णकाम—कृतकृत्य हो जाता है। इस रहस्यको जाननेवाला जो कोई उपासक इस उद्गीथस्वरूप अविनाशी परमेश्वरकी उपासना करता है, वह निश्चय ही सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेमें समर्थ होता है ॥ २–७ ॥

यह ॐरूप अक्षर अनुज्ञा अर्थात् अनुमतिसूचक भी है; क्योंकि मनुष्य जब किसी बातके लिये अनुमति देता है तब 'ओम्' इस शब्दका ही उच्चारण करता है। किसीको कुछ

* जिनके अक्षर, पाद और समाप्ति—ये नियत संख्याके अनुसार होते हैं, उन मन्त्रोंको 'ऋक्' कहते हैं; जिनके अक्षर आदिकी कोई नियत संख्या या क्रम न हो, उन्हें 'यजुः' कहते हैं। 'ऋक्' संज्ञक मन्त्रोंमें ही जो गीतप्रधान हैं—गाये जा सकते हैं, उनकी 'साम' संज्ञा है। साम-मन्त्रोंद्वारा विभिन्न देवताओंकी स्तुति की जाती है।

करनेके लिये जो यह अनुज्ञा—अनुमति देना है, वही समृद्धि—बड़प्पनका लक्षण है; अतः इस रहस्यको जाननेवाला जो साधक उद्गीथके रूपमें उस परम अक्षर परमात्माकी उपासना करता है, वह अपनी और दूसरोंकी समस्त कामनाओं—भोग्यवस्तुओं-को बढ़ानेमें समर्थ होता है। ओंकारसे ही ऋक्, यजुः और साम—ये तीनों वेद अथवा इन तीनों वेदोंमें वर्णित यज्ञादि कर्म आरम्भ होते हैं। इस ओंकाररूप अक्षरकी अर्थात् इसके अर्थभूत अविनाशी परमात्माकी पूजा—प्रीतिके लिये, इसीकी महिमा (प्रभाव) एवं रस (शक्ति) से 'ॐ' इस प्रकार कहकर 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् 'आश्रावण' करता है—मन्त्र सुनाता है, 'ॐ' यों कहकर ही होता नामका ऋत्विक् 'शंसन' करता है—मन्त्रोंका पाठ करता है और 'ॐ' यों कहकर ही 'उद्गाता' उद्गीथका गान करता है। जो इस रहस्यको इस प्रकार जानता है और जो नहीं जानता, दोनों इस ओंकारसे ही यज्ञादि कर्म करते हैं; परंतु जानना और न जानना दोनों अलग-अलग हैं। साधक जो कुछ भी श्रद्धापूर्वक, उसके वास्तविक रहस्यको बतानेवाली विद्याके द्वारा अर्थात् उसके तत्त्वको समझकर करता है, वही अधिक-से-अधिक सामर्थ्ययुक्त होता है। यही इस ओंकाररूप अक्षरकी प्रसिद्ध व्याख्या—उसकी महिमाका वर्णन है॥ ८—१०॥

द्वितीय खण्ड

ओंकारकी आध्यात्मिक उपासना

यह प्रसिद्ध है कि प्रजापतिकी संतान—देवता और असुर दोनों जब आपसमें लड़ रहे थे, उसी समय देवताओंने उद्गीथ (ओंकार) को ध्येय बनाकर उसकी उपासनारूप यज्ञ किया। उनका उद्देश्य यह था कि 'इस अनुष्ठानद्वारा हमलोग इन असुरोंको परास्त कर देंगे।' उन्होंने नासिकामें रहनेवाले घ्राणेन्द्रियरूप प्राणको उद्गीथ बनाकर उपासना की। तब उस घ्राणेन्द्रियको असुरोंने राग-द्वेषरूप पापसे युक्त कर दिया। घ्राणेन्द्रिय राग-द्वेषसे युक्त है, इसीलिये उसके द्वारा यह जीव अच्छी और बुरी—दोनों प्रकारकी गन्धको ग्रहण करता है। तदनन्तर उन प्रसिद्ध देवताओंने उद्गीथरूपसे वाणीकी उपासना की। असुरोंने उसे भी राग-द्वेषसे कलुषित कर दिया। वाणी राग-द्वेषसे कलुषित है, इसीलिये उसके द्वारा मनुष्य सत्य और झूठ दोनों बोलता है। इसके बाद देवताओंने उद्गीथरूपसे नेत्रकी उपासना की। उसे भी असुरोंने राग-द्वेषसे मलिन कर दिया। चक्षु-इन्द्रिय राग-द्वेषसे मलिन हो रही है, इसीलिये उसके द्वारा मनुष्य देखनेयोग्य और न देखनेयोग्य—शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके दृश्य देखता है। अबकी बार देवताओंने श्रोत्रकी उद्गीथरूपसे उपासना की। उसे भी असुरोंने राग-द्वेषसे दूषित कर दिया। श्रोत्र-इन्द्रिय राग-द्वेषसे दूषित है, इसीलिये मनुष्य उसके द्वारा सुननेयोग्य और न सुननेयोग्य—दोनों प्रकारके शब्द सुनता है। फिर देवताओंने मनकी उद्गीथरूपसे उपासना की। उसे भी असुरोंने राग-द्वेषसे अभिभूत कर दिया। मन राग-द्वेषसे अभिभूत है, इसीलिये उसके द्वारा मनुष्य मनमें लानेयोग्य और मनमें न लानेयोग्य—दोनों प्रकारके संकल्प करता है। तब देवताओं-ने जो यह मुख्य प्राण है, उसीकी उद्गीथरूपसे उपासना की। उसे भी असुरोंने राग-द्वेषसे युक्त करना चाहा; परंतु उसके समीप जाते ही वे उसी प्रकार छिन्न-भिन्न हो गये, जैसे खोदे न जा सकनेवाले सुदृढ़ पत्थरसे टकराकर मिट्टीका ढेला चूर-चूर हो जाता है। जिस प्रकार अच्छेद्य पत्थरसे टकराकर मिट्टीका ढेला छिन्न-भिन्न हो जाता है, ठीक वैसे ही वह मनुष्य भी विध्वंस हो जाता है, जो उद्गीथका रहस्य जाननेवालेके विषयमें अहित-कामना करता है तथा जो उसे पीड़ा पहुँचाता है; क्योंकि उद्गीथके रहस्यको जाननेवाला मनुष्य मानो अच्छेद्य पत्थर ही है॥ १—८॥

प्राणके द्वारा मनुष्य न तो सुगन्धका अनुभव करता है और न दुर्गन्धका ही; क्योंकि इसके सम्पर्कमें आकर तो राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं। इसके द्वारा मनुष्य जो कुछ खाता और जो कुछ पीता है, उससे वह मन-इन्द्रियादि अन्य प्राणोंकी भी रक्षा करता है। अन्तकालमें इसीको न पाकर अर्थात् इसके न रहनेपर इसके साथ ही अन्य सब प्राणोंको लेकर जीवात्मा भी शरीरसे उत्क्रमण कर जाता है—उसे छोड़कर अन्यत्र चला जाता है। इसीलिये अन्त समयमें जीव अपना मुँह अवश्य खोल देता है। यही प्राणकी महिमा है॥ ९॥

यह प्रसिद्ध है कि अङ्गिरा ऋषिने प्राणको ही प्रतीक बना-कर ओंकारस्वरूप परमात्माकी उपासना की थी। अतः लोग इसीको 'आङ्गिरस'—अङ्गिराका उपास्य मानते हैं; क्योंकि यह समस्त अङ्गोंका रस—पोषक है। इसीसे बृहस्पतिने भी प्राणरूपसे उद्गीथकी—ओंकारवाच्य परमात्माकी उपासना की थी। परंतु लोग प्राणको ही 'बृहस्पति' मानते हैं; क्योंकि वाणीका एक नाम बृहती भी है और उसका यह पति—रक्षक है। इसीसे आयास्य नामके प्रसिद्ध ऋषिने भी प्राणके रूपमें

उद्गीथकी उपासना की थी। परंतु लोग इस प्राणको ही 'आयास्य' मानते हैं; क्योंकि यह आस्य अर्थात् मुखके द्वारा आता-जाता है। दल्भके पुत्र बक नामक ऋषिने प्राणकी उपासनारूप साधनसे उद्गीथ अर्थात् ओंकारके अर्थरूप परमात्माको जाना था। वे प्रसिद्ध ऋषि नैमिषारण्यमें यज्ञ करनेवाले ऋषियोंके उद्गाता हुए थे और उन्होंने इन यज्ञ करनेवालोंके लिये उनकी कामना-पूर्तिके उद्देश्यसे उद्गीथका गान किया था। प्राणके महत्त्वको इस प्रकार जाननेवाला जो उपासक अक्षर—ओंकाररूप उद्गीथकी उपासना करता है, वह निस्संदेह ओंकारके गानद्वारा अपनी मनोवाञ्छित वस्तुको आकर्षित करनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार अध्यात्मविषयक—शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली उपासनाका प्रकरण समाप्त हुआ॥ १०—१४॥

तृतीय खण्ड

ओंकारकी आधिदैविक उपासना

अब ओंकारकी आधिदैविक उपासनाका वर्णन किया जाता है। जो यह सूर्य तपता है, उसीकी उद्गीथके रूपमें उपासना करनी चाहिये। यह सूर्य उदय होते ही मानो समस्त प्रजाके लिये अन्न आदिकी उत्पत्तिके उद्देश्यसे उद्गान करता है—उनकी उन्नतिमें कारण बनता है; इसीलिये यह 'उद्गीथ' है। इतना ही नहीं, यह उदय होते ही अन्धकार और भयका नाश कर देता है। अतः जो इस प्रकार सूर्यके प्रभावको जानता है, वह स्वयं जन्म-मृत्युके भय एवं अज्ञानरूप अन्धकारका नाशक बन जाता है॥ १॥

यह प्राण और वह सूर्य दोनों समान ही हैं; क्योंकि यह मुख्य प्राण उष्ण है और सूर्य भी गरम है। इस प्राणको लोग 'स्वर' (क्रियाशक्तिसम्पन्न) कहकर पुकारते हैं और उस सूर्यको 'स्वर' (स्वयं क्रियाशक्तिवाला) एवं 'प्रत्यास्वर' (दूसरोंको क्रियाशक्ति प्रदान करनेवाला) दोनों नामोंसे पुकारते हैं। इसीलिये इस प्राण एवं उस सूर्यके रूपमें उस उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये॥ २॥

इसके बाद दूसरे प्रकारकी उपासना बतलायी जाती है। व्यानके रूपमें भी उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये। मनुष्य जो श्वासके द्वारा भीतरकी वायुको बाहर निकालता है, वह प्राण है; और जो बाहरकी वायुको भीतर ले जाता है, वह अपान है। तथा जो प्राण और अपानकी संधि है, अर्थात् जिसमें ये दोनों मिल जाते हैं, वह व्यान है। जो व्यान है, वही वाणी है*। इसीलिये मनुष्य श्वासको बाहर निकालने और भीतर खींचनेकी क्रिया न करता हुआ ही वाणीका स्पष्ट उच्चारण करता है। अर्थात् सामान्यतया बोलते समय श्वास-प्रश्वासकी क्रिया बंद हो जाती है॥ ३॥

जो वाणी है, वही ऋचा है; इसलिये मनुष्य प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ ही वेदकी ऋचाओंका भलीभाँति उच्चारण करता है। जो ऋचा है, वही साम है; क्योंकि 'ऋक्'का ही अंशविशेष साम है। इसलिये मनुष्य प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ ही सामका गान करता है। जो साम है, वही उद्गीथ है; क्योंकि सामका ही मुख्य भाग 'उद्गीथ' है। इसलिये मनुष्य प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ ही उच्चस्वरसे उद्गीथका गान करता है। अर्थात् तीनोंमें ही व्यानकी ही प्रधानता है। व्यान ही तीनोंका आधार है। इनके अतिरिक्त जो विशेष सामर्थ्यकी अपेक्षा रखनेवाले कर्म हैं—जैसे काष्ठ-मन्थनद्वारा अग्निको प्रकट करना, एक नियत सीमातक दौड़ लगाना, कठोर धनुषको खींचना इत्यादि—इन सबको मनुष्य प्राण और अपानकी क्रियाको रोककर व्यानके बलसे ही करता है। इस प्रकार व्यानकी श्रेष्ठता सिद्ध हो जानेके कारण व्यानके रूपमें ही उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये॥ ४-५॥

अब एक और प्रकारकी उपासना बतायी जाती है। वह यह है कि 'उद्गीथ' शब्दके जो तीन अक्षर हैं, उनके रूपमें उद्गीथ शब्दवाच्य परमात्माकी उपासना करनी चाहिये। इनमें पहला 'उत्' ही प्राण है; क्योंकि मनुष्य प्राणसे ही उत्थान करता है और 'उत्' उत्थानका वाचक है। दूसरा 'गी' वाणीका द्योतक है; क्योंकि वाणीको 'गीः' इस नामसे पुकारते हैं। और तीसरा 'थ' अन्नका वाचक है; क्योंकि यह समस्त जगत् अन्नके ही आधार स्थित है और 'थ' स्थितिका बोधक है। 'उत्' ही स्वर्गलोक है, 'गी' अन्तरिक्षलोक है और 'थ' भूलोक है। 'उत्' ही आदित्य है, 'गी' वायु है और 'थ' अग्नि है। 'उत्' ही सामवेद है, 'गी' यजुर्वेद है और 'थ' ऋग्वेद है। इस

* प्रथम खण्डमें जिस प्राणकी वाणी और ऋचाके साथ एकता की गयी है, वही प्राण यहाँ व्यानके नामसे कहा गया है। वहाँ 'प्राण' शब्दसे प्राणके समष्टिरूपका वर्णन है, केवल श्वासको बाहर निकालनेकी क्रियाका नाम ही वहाँ प्राण नहीं है—यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये।

प्रकार जाननेवाला जो साधक 'उद्गीथ' शब्दके इन तीनों अक्षरोंकी उद्गीथ—ओंकारवाच्य परमात्माके रूपमें उपासना करता है; उसके लिये वाणी अपना सारा रहस्य प्रकट कर देती है, अर्थात् उसके सामने समस्त वेदोंका तात्पर्य अपने-आप प्रकट हो जाता है। तथा वह सब प्रकारकी भोग-सामग्रीसे एवं उसे भोगनेकी शक्तिसे भी सम्पन्न हो जाता है ॥६-७॥

अब कामनाओंकी उत्तम सिद्धिका निश्चित साधन बताया जाता है। इसके लिये उपासनाके जो सात अङ्ग आगे बताये जानेवाले हैं, उन्हें ध्यानमें रखना चाहिये। उनमेंसे पहला अङ्ग यह है कि जिस सामके द्वारा साधक अपने इष्टदेवकी स्तुति करना चाहता हो, उसे सदा याद रक्खे। दूसरी बात यह है कि वह साम—गाये जानेवाला मन्त्र जिस ऋचामें प्रतिष्ठित हो, उस ऋचाको भी ध्यानमें रक्खे। तीसरी बात यह है कि जिस ऋषिके द्वारा उस मन्त्रका साक्षात्कार किया गया हो, उस ऋषिको स्मरण रक्खे। चौथी बात यह है कि उस सामगानके द्वारा जिस देवताकी स्तुति करना उपासकको अभीष्ट हो, उस देवताका भलीभाँति स्मरण रक्खे। पाँचवीं बात यह है कि जिस छन्दवाले मन्त्रसे वह स्तुति करना चाहता हो, उस छन्दको स्मरण रक्खे और छठी बात यह है कि सामवेदके जिस स्तोत्र-समूहसे स्तुति की जानेवाली हो, उस स्तुति-समूहको भी ध्यानमें रक्खे। सातवीं बात यह है कि जिस ओर मुख करके स्तुति करनेका विचार हो, उस दिशाका भी ध्यान रक्खे। अन्तमें प्रमादरहित अर्थात् सावधान होकर अपनी अभिलाषाको याद रखते हुए परमात्माके समीप जाकर अर्थात् ध्यानके द्वारा उनमें स्थित होकर स्तुति करनी चाहिये। क्योंकि इस प्रकार स्तुति करनेवाला उपासक जिस कामनासे स्तुति करता है, उसकी वह कामना शीघ्र ही पूर्णतया सफल हो जाती है ॥८-१२॥

चतुर्थ खण्ड

ओंकारके आश्रयसे अमृतत्वकी प्राप्ति

'ॐ' यह अक्षर ही उद्गीथ है, यों समझकर इसकी उपासना करनी चाहिये; क्योंकि यज्ञमें उद्गाता नामक ऋत्विज् 'ॐ' इस अक्षरका ही उच्चस्वरसे गान करता है। उस ओंकारकी व्याख्या की जाती है ॥१॥

यह प्रसिद्ध है कि मृत्युसे डरते हुए देवताओंने ऋक्, यजुः और सामरूप तीनों वेदोंमें प्रवेश किया—उनका आश्रय लिया। उन्होंने गायत्री आदि भिन्न-भिन्न छन्दोंके मन्त्रोंसे अपनेको ढक लिया—उन्हें अपना कवच बनाया। उन्होंने जो भिन्न-भिन्न छन्दोंसे युक्त मन्त्रोंद्वारा अपनेको आच्छादित कर लिया, इसीसे वे 'छन्द' कहलाये। जो आच्छादन करे, वही छन्द—यह 'छन्दस्' शब्दकी व्युत्पत्ति है ॥२॥

जिस प्रकार मछली पकड़नेवाला धीवर जलके भीतर भी मछलीको देख लेता है, उसी प्रकार देवताओंको मृत्युने उन ऋक्, साम एवं यजुर्वेदके मन्त्रोंकी ओटमें भी देख लिया—वहाँ भी उसने इनका पिण्ड नहीं छोड़ा। वे देवतालोग भी इस बातको जान गये; अतः ऋक्, साम और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे ऊपर उठकर वे स्वरमें अर्थात् ओंकारमें ही प्रविष्ट हो गये ॥३॥

जब कोई ऋक्का—ऋग्वेदके मन्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब वह निःसंदेह 'ॐ' इस प्रकार ही उच्चस्वरसे उच्चारण करता है। इसी प्रकार सामको और वैसे ही यजुर्वेदको जाननेवाला भी 'ॐ' का ही गान करता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जो यह ओंकाररूप अक्षर अर्थात् उसका वाच्यभूत परमात्मा है, वही ऊपर बताया हुआ स्वर है; वही अमृत—मृत्युसे छुड़ानेवाला एवं भयरहित स्थान है। उसका आश्रय लेकर देवतालोग अमर और निर्भय हो गये। जो ओंकारको इस रूपमें जानकर उसके अर्थभूत अविनाशी परमेश्वरकी स्तुति एवं उपासना करता है तथा एकमात्र इसी अमृतरूप, सर्वथा भयरहित एवं अविनाशी परमात्माके स्वरूपभूत इस स्वरमें प्रविष्ट हो जाता है—उसकी शरणमें चला जाता है; वह उसमें प्रवेश करके उसी अमृतको प्राप्त कर लेता है, जिस अमृतको पूर्वोक्त प्रकारसे देवताओंने प्राप्त किया था ॥४-५॥
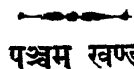
पञ्चम खण्ड

सूर्य एवं प्राणके रूपमें ओंकारकी उपासना

अब ओंकारकी उपासनाका अन्य प्रकार बताया जाता है। निश्चय ही जो उद्गीथ—गाने योग्य परमात्मा है, वही प्रणव—ओंकार है और जो प्रणव है, वही उद्गीथ है—यों समझना चाहिये; क्योंकि नाम और नामीमें कोई भेद नहीं होता।

वह आकाशमें विचरनेवाला सूर्य ही उद्गीथ है और यही प्रणव भी है। अर्थात् सूर्यमें ही परमात्मा और उनके वाचक 'ॐ' की भावना करनी चाहिये; क्योंकि यह 'ॐ' इस प्रकार उच्चारण करता हुआ ही गमन करता है। यहाँ 'स्वरन् एति' (उच्चारण करता हुआ गमन करता है)—इस प्रकार 'सूर्य' शब्दकी व्युत्पत्ति की गयी है ॥ १ ॥

एक बार कौषीतकि ऋषिने अपने पुत्रसे इस प्रकार कहा—'बेटा! मैंने इसी सूर्यको लक्ष्य करके ओंकारका भलीभाँति गान किया था; इसलिये मेरे तू एक पुत्र है। तू सूर्यकी किरणोंका सब ओरसे आवर्तन कर—उन सबके रूपमें ओंकारका बार-बार चिन्तन कर; निःसंदेह तेरे बहुत-से पुत्र हो जायँगे।' इस प्रकार यह आधिदैविक—देवतासम्बन्धी उपासना है ॥ २ ॥

अब पुनः आध्यात्मिक (शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली) उपासनाका प्रकार बताया जाता है। जो यह श्वासके रूपमें चलनेवाला मुख्य प्राण है, उसीके रूपमें उद्गीथकी—गानेयोग्य परमात्माकी उपासना करनी चाहिये; क्योंकि वह 'ॐ' इस प्रकार उच्चारण करता हुआ ही गमन करता है। प्राण सूर्यरूप है, इसीलिये 'स्वरन् एति' इसी प्रकार यहाँ भी व्युत्पत्ति की गयी है। अर्थात् हमारे प्राणके द्वारा निरन्तर ओंकारकी ध्वनि हो रही है—ऐसी भावना करते हुए उसमें ओंकाररूप परमात्माका ध्यान करना चाहिये ॥ ३ ॥

एक बार कौषीतकि ऋषिने अपने पुत्रसे यह बात कही कि "बेटा! मैंने इस प्राणको ही लक्ष्य करके—इसीमें परमात्माकी भावना करते हुए ओंकारका भलीभाँति गान—आवर्तन किया था; इसलिये मेरे तू एक पुत्र है। 'निश्चय ही मेरे बहुत-से पुत्र होंगे' इस संकल्पसे तू अनेक रूपोंमें प्रतिष्ठित प्राणरूप परमात्माका भलीभाँति गान कर—उपासना कर"* ॥ ४ ॥

अब कहते हैं कि निश्चय ही सामका जो उद्गीथ नामक भाग है, वही प्रणव है; क्योंकि प्रणव उसका सार है। और जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। अर्थात् दोनोंमें कोई भेद नहीं है। इस रहस्यको जाननेवाला निःसंदेह होताके आसनसे ही उद्गाताद्वारा किये गये दोषयुक्त उद्गानको प्रणवके उच्चारणसे पीछे सुधार लेता है; क्योंकि भगवान्‌के नामोच्चारणसे यज्ञकी सारी त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। यह इस ज्ञानकी महिमा है ॥ ५ ॥

षष्ठ खण्ड

विविध रूपोंमें उद्गीथोपासना

यह पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि साम है। वह यह अग्निरूप साम इस पृथ्वीरूप ऋक्‌में प्रतिष्ठित है—भलीभाँति स्थित है। इसीलिये ऋक्‌में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। पृथ्वी ही 'सा' है और अग्नि 'अम' है; वे दोनों मिलकर 'साम' हैं। इसी प्रकार अन्तरिक्ष ही ऋक् है और वायु साम है। वह यह वायुरूप साम इस अन्तरिक्षरूप ऋक्‌में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक्‌में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। अन्तरिक्ष ही मानो 'सा' है और वायु 'अम' है; वे दोनों मिलकर साम हैं। पुनः द्युलोक—स्वर्गलोक ही ऋक् और सूर्य ही साम है। वह यह सूर्यरूप साम इस स्वर्गरूप ऋक्‌में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक्‌में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। द्युलोक ही मानो 'सा' है और सूर्य मानो 'अम' है; वे दोनों मिलकर साम हैं। समस्त नक्षत्रमण्डल ही ऋक् है और चन्द्रमा साम है। वही यह चन्द्रमारूप साम इस नक्षत्ररूप ऋक्‌में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक्‌में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। नक्षत्रमण्डल ही मानो 'सा' है और चन्द्रमा 'अम' है; दोनों मिलकर साम हैं ॥१–४ ॥

अब दूसरी बात कहते हैं। जो यह प्रत्यक्ष दीखनेवाली सूर्यकी श्वेत आभा है, वही ऋक् है; तथा जो उसके भीतर छिपा हुआ नीलापन और अतिशय श्यामता है, वह साम है। वह श्याम आभारूप साम इस श्वेत आभारूप ऋक्‌में प्रतिष्ठित है, इसीलिये ऋक्‌में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। इसके सिवा यह जो सूर्यकी श्वेत प्रभा—उज्ज्वल प्रकाश है, वही 'सा' है; तथा जो नील एवं अतिशय श्याम प्रभा है, वह 'अम' है। वे दोनों मिलकर साम हैं। तथा सूर्यमें जो यह उसका अन्तर्यामी स्वर्णसदृश प्रकाशस्वरूप पुरुष दिखायी देता है—जिसकी दाढ़ी सुवर्णकी भाँति प्रकाशमय है तथा केश भी सोनेकी ही भाँति चमचमाते हैं और जो नखके अग्रभागसे लेकर चोटीतक सब-का-सब स्वर्णमय प्रकाशयुक्त है, वह परमपुरुष परमेश्वर ही है। उस सुवर्णसदृश प्रकाशयुक्त पुरुषके दोनों नेत्र ऐसे हैं, जैसे कोई लाल कमल हो। उसका 'उत्'

* जो बात इन्हीं ऋषिने दूसरे मन्त्रमें सूर्यके सम्बन्धमें कही थी, वही यहाँ प्राणके सम्बन्धमें कही गयी है। इससे भी प्राण और सूर्यकी एकता प्रतिपादित होती है। प्रश्नोपनिषद्‌में प्राण और सूर्यकी एकताका भलीभाँति निरूपण हुआ है।

(सबसे ऊपर उठा हुआ) यह नाम है। वह यह परमेश्वर समस्त पापोंसे ऊपर उठा हुआ है। जो कोई उपासक इस प्रकार जानता है; वह निश्चय ही सब पापोंसे ऊपर उठ जाता है ॥ ५–७ ॥

ऋग्वेद और सामवेद उस परमात्माके ही गुणगान हैं; इसलिये वह उद्गीथ है; तथा इसीलिये जो उद्गाता है, वह वास्तवमें उसीका गान करनेवाला है। जो स्वर्गलोकसे भी ऊपरके लोक हैं, उनका भी तथा देवताओंके भोगोंका भी शासन वह परमात्मा ही करता है। यह आधिदैविक उपासना समाप्त हुई ॥ ८ ॥

सप्तम खण्ड

शरीरकी दृष्टिसे उद्गीथोपासना

अब वही बात शरीरकी दृष्टिसे समझायी जाती है। वाक्-इन्द्रिय ही ऋक् है, प्राण साम है। वही यह प्राणरूप साम वाणीरूप ऋक्में प्रतिष्ठित—भलीभाँति स्थित है। इसीलिये ऋक्में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। वाणी ही 'सा' है, प्राण 'अम' है; वे दोनों मिलकर साम हैं। इसी प्रकार नेत्र ही ऋक् है और उसके भीतरकी काली पुतली साम है। वही यह आँखकी पुतलीरूप साम इस नेत्ररूप ऋक्में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक्में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। नेत्र ही 'सा' है और पुतली 'अम' है; वे दोनों मिलकर साम हैं। पुनः श्रोत्र ही ऋक् है, मन साम है। वही यह मनरूप साम श्रोत्ररूप ऋक्में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक्में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। श्रोत्र ही 'सा' है, मन 'अम' है; दोनों मिलकर साम हैं। तथा यह जो नेत्रोंकी श्वेत आभा है, वही ऋक् है; तथा जो नील एवं अतिशय श्याम आभा है, वह साम है। वही यह श्याम आभारूप साम इस श्वेत आभारूप ऋक्में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक्में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। तथा यह जो नेत्रकी श्वेत आभा है, वही 'सा' है; और जो नील और अतिशय श्याम आभा है, वह 'अम' है; उन दोनोंका सम्मिलित रूप साम है। तथा यह जो नेत्रके भीतर पुरुष दिखायी देता है, वही ऋक् है, वही साम है, वही यजुर्वेद है, वही उक्थ—स्तोत्र-समूह है और वही ब्रह्म है। इस पुरुषका वही रूप है, जो छठे खण्डमें वर्णित आदित्यमण्डलमें स्थित पुरुषका रूप है। जो उसके गुणगान हैं, वे ही इसके गुणगान हैं और जो उसका नाम (उत्) है, वही इसका भी नाम है। पृथिवीसे नीचे जो भी लोक हैं, उनका यही पुरुष शासन करता है तथा मनुष्योंके भोग भी उसीके अधीन हैं। इसलिये जो लोग वीणापर गाते हैं, वे इन्हीं परमेश्वरका गुणगान करते हैं; इसीसे वे धनलाभ करते हैं—अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त करते हैं। तथा इस रहस्यको इस रूपमें जाननेवाला जो उपासक साम-गान करता है, वह नेत्रस्थित तथा आदित्यमण्डलवर्ती दोनों ही पुरुषोंका गुणगान करता है; वह उन परमेश्वरसे ही अभीष्ट लाभ करता है। जो भी उस सूर्यलोकसे ऊपरके लोक हैं, उन सबको तथा देवताओंके भोगोंको भी वह प्राप्त कर लेता है। तथा सूर्यलोक अथवा मनुष्यलोकसे नीचेके जो भी लोक हैं, उनको तथा मनुष्योंके भोगोंको भी वह इन परमपुरुषसे ही प्राप्त कर लेता है। इसलिये निस्संदेह इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता यजमानसे यों कहे—'मैं तेरे लिये कौन-सी अभीष्ट वस्तुका गानके द्वारा आवाहन करूँ?' क्योंकि जो इस रहस्यको इस प्रकार जानकर सामका गान करता है, वही वाञ्छित भोगोंका गानद्वारा आवाहन करनेमें समर्थ होता है ॥ १–९ ॥

अष्टम खण्ड

उद्गीथके सम्बन्धमें शिलक और दाल्भ्यका संवाद

प्रसिद्ध है, तीन ऋषि उद्गीथका तत्त्व जाननेमें कुशल थे—एक तो शालावान्के पुत्र शिलक, दूसरे चिकितायनके पुत्र दाल्भ्य* और तीसरे जीवलके पुत्र प्रवाहण। एक बार वे तीनों आपसमें इस प्रकार कहने लगे—'निश्चय ही हमलोग उद्गीथविद्यामें कुशल हैं; इसलिये यदि सबकी सम्मति हो तो हम उद्गीथके विषयमें बातचीत करें।' 'बहुत ठीक है, ऐसा ही हो' यों कहकर वे सब एक स्थानपर सुखसे बैठ गये। तब प्रसिद्ध राजर्षि जीवलके पुत्र प्रवाहण ऋषि शेष दोनोंसे

* दाल्भ्यका अर्थ है दल्भकी सन्तान। यहाँ उनके पिताका नाम चिकितायन दिया गया है। ऐसी दशामें सम्भव है ये दल्भ-गोत्रमें उत्पन्न रहे हों, इसीलिये दाल्भ्य कहलाये हों। अथवा सम्भव है, ये द्व्यामुष्यायण रहे हों। 'द्व्यामुष्यायण' उन्हें कहते हैं, जो किसी दूसरेके गोद आये हों और जिन्होंने अपने जन्म देनेवाले पिताका उत्तराधिकार भी न छोड़ा हो। इस प्रकार वे दो पिताओंके पुत्र होते हैं। दो पिताओंके पुत्रकी ही हिंदू धर्म-शास्त्रोंमें 'द्व्यामुष्यायण' संज्ञा है।

बोले—'पहले आप दोनों पूज्यजन बातचीत आरम्भ करें। उपदेश देते हुए आप दोनों ब्राह्मणोंके वचनोंको मैं सुनूँगा।' यों कहकर वे चुप हो गये ॥ १-२ ॥

कहा जाता है, तब वे शालावान्‌के पुत्र शिलक ऋषि चिकितायनके पुत्र दाल्भ्यसे बोले—'कहिये तो मैं ही आपसे प्रश्न करूँ?' इसपर दाल्भ्यने कहा—'पूछो।' शिलकने पूछा—'सामका आश्रय कौन है?' दाल्भ्यने कहा—'स्वर ही सामका आश्रय है।' 'स्वरका आश्रय कौन है?' इस प्रकार पूछे जानेपर उन्होंने कहा—'प्राण ही स्वरका आश्रय है।' फिर प्रश्न हुआ—'प्राणका आश्रय कौन है?' उत्तर मिला—'अन्न ही प्राणका आश्रय है।' शिलकने फिर प्रश्न किया—'अन्नका आश्रय कौन है?, दाल्भ्यने उत्तर दिया—'जल ही अन्नका आश्रय है।' शिलकने पुनः पूछा—'जलका आश्रय कौन है?' दाल्भ्यने कहा—'स्वर्गलोक ही जलका आश्रय है।' 'उस लोकका आश्रय कौन है?' शिलक पूछते ही गये। इसपर दाल्भ्य बोले—'स्वर्गलोकसे आगे नहीं जाना चाहिये, उसके परेकी बात नहीं पूछनी चाहिये। हम स्वर्गलोकमें ही सामकी पूर्णतया स्थिति मानते हैं, क्योंकि सामको स्वर्गलोक कहकर ही उसकी स्तुति की जाती है'* ॥ ३-५ ॥

चिकितायन-पुत्र दाल्भ्यसे शालावान्‌के पुत्र सुप्रसिद्ध शिलक ऋषिने कहा—'दाल्भ्य! तुम्हारा बताया हुआ साम निःसंदेह प्रतिष्ठाहीन है अर्थात् तुमने जो सामका अन्तिम आश्रय स्वर्ग बताया, वह ठीक नहीं है। स्वर्गका भी कोई और आश्रय अवश्य होना चाहिये। यदि कोई सामके तत्त्वको जाननेवाला विद्वान् तुम्हारे इस अधूरे उत्तरपर झुँझलाकर तुम्हें यह कह दे कि तुम्हारा सिर गिर जायगा, तो उसके यों कहते ही तुम्हारा सिर गिर पड़ेगा—यह निश्चय समझो।' दाल्भ्यने कहा—'क्या मैं सामका तत्त्व श्रीमान्‌से जान सकता हूँ?' शिलकने कहा—'हाँ, जानो।' तब दाल्भ्यने पूछा—'स्वर्गलोकका आधार कौन है?' 'यह मनुष्यलोक ही उसका आधार है,' शिलकने स्पष्ट उत्तर दिया। 'मनुष्यलोकका आधार कौन है?' दाल्भ्यका अगला प्रश्न था। इसपर शिलक बोले—'जो सबकी प्रतिष्ठा है, उस लोकसे आगे प्रश्न नहीं करना चाहिये। सबकी प्रतिष्ठारूप मनुष्यलोकमें ही हम सामकी भलीभाँति स्थिति मानते हैं; क्योंकि सामको सबकी प्रतिष्ठारूप पृथ्वी कहकर ही उसकी स्तुति की जाती है।'† तब जीवल-पुत्र प्रवाहणने शिलकसे कहा—'शालावान्‌के पुत्र शिलक! तुम्हारा समझा हुआ साम भी निःसन्देह अन्तवाला ही है। अतः यदि ऐसी स्थितिमें कोई सामके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष तुम्हें शाप दे दे कि तुम्हारा सिर गिर जायगा तो उसके यों कहते ही तुम्हारा सिर गिर सकता है।' इसपर शिलकने कहा—'क्या मैं इस रहस्यको श्रीमान्‌से जान सकता हूँ?' प्रवाहणने उत्तर दिया—'जान लो' ॥ ६-८ ॥

नवम खण्ड

उद्गीथके सम्बन्धमें शिलक और प्रवाहणका संवाद

शिलकने प्रवाहणसे पूछा—'इस मनुष्यलोकका आश्रय कौन है?' इसपर प्रवाहणने उत्तर दिया—'आकाश अर्थात् सर्वत्र प्रकाशित परमात्मा ही इसके आश्रय हैं। निःसंदेह ये समस्त जीव आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं और आकाशमें ही विलीन होते हैं; क्योंकि आकाश ही इन सबसे बड़ा है और आकाश ही सबका परम आश्रय है। वे आकाशस्वरूप परमात्मा ही बड़े-से-बड़े और उद्गीथ (गानेयोग्य) हैं। वे सर्वथा असीम हैं। जो कोई उपासक इस प्रकार समझकर इस बड़े-से-बड़े उद्गीथरूप परमेश्वरकी उपासना करता है, उसका जीवन निःसंदेह ऊँचे-से-ऊँचा हो जाता है और वह निश्चय ही बड़े-से-बड़े लोकोंको जीत लेता है—प्राप्त कर लेता है।' एक बार शुनकके पुत्र अतिधन्वा नामक ऋषिने उदरशाण्डिल्य नामके ऋषिको इस ऊपर बताये हुए उद्गीथका रहस्य बताकर कहा था—'तेरी संतानोंमें लोग जबतक इस उद्गीथको जानते रहेंगे, तबतक इस लोकमें उनका जीवन इन सब साधारण मनुष्योंसे अवश्य ही अत्यन्त श्रेष्ठ बना रहेगा। तथा मरनेके बाद उन्हें उस लोकमें—परलोकमें उत्तम स्थान मिलेगा।' इस प्रकार समझना चाहिये। इस रहस्यको जाननेवाला जो कोई पुरुष उद्गीथकी उपासना करता है, उसका जीवन इस मनुष्यलोकमें निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ हो जाता है। तथा मरनेके बाद परलोकमें उसे सर्वोपरि स्थान मिलता है—यह निश्चित बात है ॥१-४॥

---

* श्रुति कहती है—'स्वर्गो वै लोकः सामवेदः।'

† श्रुतिका वचन है—'इयं वै रथन्तरम्' (यह पृथ्वी ही रथन्तरसाम है)।

दशम खण्ड

उषस्तिका आख्यान

एक बार ओले गिरनेसे कुरुदेशकी खेती चौपट हो गयी थी। उन दिनों चक्र मुनिके पुत्र उषस्ति ऋषि अपनी धर्मपत्नी आटिकीके साथ (जिसने अभी युवावस्थामें प्रवेश नहीं किया था) बड़ी दीन अवस्थामें—पराश्रित होकर किसी हाथीवानोंके गाँवमें रहते थे। एक दिन अन्नके लिये भीख माँगते हुए उषस्तिने अत्यन्त निकृष्ट कोटिके उड़द खाते हुए एक महावतसे याचना की। उन प्रसिद्ध मुनिसे हाथीवान् इस प्रकार बोला कि 'जितने और जो उड़द मेरे इस पात्रमें रक्खे हैं, उनके सिवा और उड़द मेरे पास नहीं हैं।' ऋषिने कहा—'इन्हींमेंसे मुझे दे दे।' महावतने अपने पात्रमें बचे हुए सारे उड़द उन्हें दे दिये। महावत बोला—'उड़द खाकर जल भी पी लीजिये।' इसपर ऋषिने उत्तर दिया—'नहीं, ऐसा करनेपर मेरेद्वारा तुम्हारा जूठा जल पिया जायगा।' 'क्या ये उड़द भी जूठे नहीं हैं?' महावतके यों पूछनेपर उन प्रसिद्ध ऋषिने उत्तर दिया—'अवश्य ही इन उड़दोंको न खानेपर मैं जीवित न रहता। पर पीनेका जल तो मुझे यथेष्ट मिल जाता है' ॥ १–४ ॥

उषस्ति ऋषि खानेसे बचे हुए उड़दोंको अपनी पत्नीके लिये ले आये। उसने पहले ही अच्छी भिक्षा पा ली थी, इसलिये उसने उन उड़दोंको अपने पतिसे लेकर रख दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल शय्यात्याग करते समय उषस्तिने कहा—'हाय, यदि हमें थोड़ा-सा भी अन्न मिल जाता तो हम कुछ धन कमा लाते। अमुक राजा यज्ञ करनेवाला है। वह मुझे ऋत्विजोंके सभी प्रकारके कार्योंके लिये वरण कर लेगा।' ऋषिसे उनकी पत्नीने कहा—'स्वामिन्! लीजिये; कल जो उड़द आप मुझे दे गये थे, वे ही मेरे पास बचे हुए हैं।' बस, उन्हें खाकर उषस्ति उस विशाल यज्ञमें चले गये ॥ ५–७ ॥

उस यज्ञमें पहुँचकर जहाँ उद्गातालोग स्तुति करते हैं, उस स्थानपर स्तुति करनेके लिये उद्यत उद्गाता आदि ऋत्विजोंके समीप वे बैठ गये। फिर उन्होंने स्तुति करनेवाले प्रस्तोता ऋत्विक्से कहा—'प्रस्तोता! जिस देवताका प्रस्तावसे सम्बन्ध है, अर्थात् जिनकी तुम स्तुति करने जा रहे हो, उसे बिना जाने यदि तुम स्तुति करोगे तो याद रखना, तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' इसी प्रकार उन्होंने उद्गातासे कहा—'उद्गाता! जिस देवताका उद्गीथसे सम्बन्ध है, अर्थात् जिसका तुम उद्गीथद्वारा गान करने जा रहे हो, उसे बिना जाने यदि तुम उद्गान करोगे तो निश्चय समझो, तुम्हारा मस्तक गिर पड़ेगा।' तदनन्तर उन्होंने प्रतिहर्तासे कहा—'प्रतिहर्ता! जिस देवताका प्रतिहारसे सम्बन्ध है, उसे न जानते हुए यदि तुम प्रतिहार-क्रिया करोगे तो समझ लो कि तुम्हारा सिर तुम्हारी गर्दनपर नहीं रहेगा।' इसपर वे सब ऋत्विक् अपने-अपने कार्यसे उपरत होकर चुपचाप बैठ गये ॥ ८–११ ॥

एकादश खण्ड

प्रस्ताव आदि कर्मोंसे सम्बद्ध देवताओंका वर्णन

तब इन उषस्ति ऋषिसे यज्ञ करानेवाले राजाने कहा—'मैं श्रीमान्का ठीक-ठीक परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ।' इसपर ऋषिने उत्तर दिया—'मैं चक्रका पुत्र उषस्ति नामका ऋषि हूँ।' राजाने कहा—'सच मानिये, मैंने इन समस्त ऋत्विज्-सम्बन्धी कर्मोंके लिये श्रीमान्की सब जगह खोज की थी। श्रीमान्के न मिलनेपर ही मैंने दूसरे ऋत्विजोंको चुना है। परंतु अब मेरे सम्पूर्ण ऋत्विज्-सम्बन्धी कर्मोंपर श्रीमान् ही रहें।' ऋषिने 'बहुत अच्छा' कहकर राजाके प्रस्तावका अनुमोदन किया और फिर कहा—'तब मेरी आज्ञा पाकर ये पहलेवाले ऋत्विज् ही स्तुति आरम्भ करें। परंतु एक बात है—जितना धन आप इन लोगोंको दें, उतना ही मुझे भी दें।' राजाने 'यही होगा' कहकर अपनी स्वीकृति दे दी ॥ १–३ ॥

तदनन्तर प्रस्तोता उन प्रसिद्ध ऋषिके पास आकर बोला—"श्रीमान्ने मुझे यह कहा था कि 'प्रस्तोता! जिस देवताकी तुम स्तुति करने जा रहे हो, उसे बिना जाने यदि तुम स्तुति-पाठ करोगे तो तुम्हारा सिर धड़से अलग हो जायगा।' सो वह देवता कौन है—मैं यह जानना चाहता हूँ।" इसपर ऋषि बोले—"वह देवता प्राण है। निःसंदेह ये समस्त प्राणी प्रलयके समय प्राणमें ही प्राणरूप होकर विलीन हो जाते हैं और पुनः सृष्टिकालमें प्राणसे ही प्रकट होते हैं। वही यह प्राण प्रस्ताव अर्थात् स्तुतिमें अनुगत देवता है; उसको बिना जाने यदि तुम स्तुति आरम्भ कर देते तो मेरे यह कहनेपर कि 'तुम्हारा सिर धड़से अलग हो जाय,' वैसा अवश्य हो जाता" ॥ ४-५ ॥

तदनन्तर उद्गाता उषस्तिके पास आकर बोला—"श्रीमान्ने मुझसे यह कहा था कि 'उद्गाता! जो उद्गीथसे

सम्बन्ध रखनेवाला देवता है, उसे न जानकर यदि तुम उद्गान करोगे तो तुम्हारा सिर धड़से अलग हो जायगा।' अतः वह देवता कौन है—यह मैं आपसे जानना चाहता हूँ।" इसपर उन प्रसिद्ध ऋषि उषस्तिने कहा—"वह देवता सूर्य है। निश्चय ही ये समस्त प्राणी आकाशमें स्थित सूर्यका यशोगान किया करते हैं। वही यह सूर्य उद्गीथसे सम्बन्ध रखनेवाला देवता है। उसे बिना जाने यदि तुमने उद्गान किया होता तो मेरे यह कहनेपर कि 'तुम्हारा सिर धड़से अलग हो जाय' वैसा अवश्य हो जाता" ॥ ६-७ ॥

इसके बाद प्रतिहर्ता उषस्तिके पास आकर यों कहने लगा—"श्रीमान्‌ने मुझसे यह कहा था कि 'प्रतिहर्ता! जो प्रतिहारसे सम्बन्ध रखनेवाला देवता है, उसे बिना जाने यदि तुम प्रतिहार-की क्रिया करोगे तो तुम्हारा सिर अलग होकर गिर पड़ेगा।' अतः वह देवता कौन है, यह मैं आपसे जानना चाहता हूँ।" ऋषिने प्रतिहर्ताके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार दिया—"जिस देवताकी बात तुमने पूछी है, वह अन्न है। निःसंदेह ये समस्त प्राणी अन्नको ही खाकर जीवन धारण करते हैं। वही यह अन्न प्रतिहारसे सम्बन्ध रखनेवाला देवता है। उसे बिना जाने यदि तुम प्रतिहारकी क्रिया करते तो मेरे यह कहनेपर कि 'तुम्हारा सिर धड़से अलग हो जाय' वैसा अवश्य हो जाता" ॥ ८-९ ॥

द्वादश खण्ड

शौव उद्गीथका वर्णन

अब यहाँसे कुत्ते (का रूप धारण करनेवाले ऋषियों) द्वारा प्रत्यक्ष किये हुए उद्गीथका वर्णन किया जाता है। यह बात इस रूपमें प्रसिद्ध है कि दल्भ ऋषिके पुत्र बक अथवा मित्राके पुत्र ग्लाव ऋषि स्वाध्याय करनेके लिये गाँवसे बाहर किसी निर्जन स्थानमें गये। उक्त ऋषिपर अनुग्रह करनेके लिये वहाँ श्वेत रंगका एक अलौकिक कुत्ता (कुत्तेके रूपमें ऋषि) प्रकट हुआ। तत्पश्चात् दूसरे भी कई कुत्ते उस पहले प्रकट हुए कुत्तेके पास आकर उससे बोले—'श्रीमान् उद्गीथका गान करके हमारे लिये अन्न प्रस्तुत करें; क्योंकि हमलोग निश्चित ही भूखे हैं।' उनसे वह श्वेत रंगका कुत्ता बोला—'कल प्रातः इसी स्थानमें तुमलोग मेरे पास आना।' उनकी इस बातको सुनकर दल्भपुत्र बक अथवा मित्रापुत्र ग्लाव ऋषि कौतूहलसे भर गये और यह देखनेके लिये कि वह कुत्ता किस प्रकार अन्न जुटाता है, वहीं उसके द्वारा निर्दिष्ट समयकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ १—३ ॥

निर्दिष्ट समयपर वे अलौकिक कुत्ते वहाँ एकत्रित हुए और जिस प्रकार यज्ञकर्ममें उद्गाता बहिष्पवमान नामक स्तोत्र-द्वारा स्तुति आरम्भ करनेसे पूर्व एक दूसरेसे मिलकर चलते हैं, ठीक उसी प्रकार वे भी एक दूसरेसे जुड़कर परिभ्रमण करने लगे, फिर उन्होंने एक जगह आरामसे बैठकर हिंकार आरम्भ किया। अर्थात् 'हिं' स्तोभ* का प्रयोग करते हुए साम-गान आरम्भ किया। गान इस आशयका था—

'हे सबकी रक्षा करनेवाले परमात्मन्! हम भोजन और जलपानके इच्छुक हैं। परमात्मन्! आप प्रकाशस्वरूप देव हैं, अभीष्ट वस्तुकी वर्षा करनेवाले वरुण हैं, समस्त प्रजाका पालन करनेवाले प्रजापति हैं और सबको उत्पन्न करनेवाले सविता हैं। अतः हमारे लिये यहाँ अन्न ला दीजिये। हे अन्नके स्वामी! यहाँ अन्न लाइये, परमेश्वर! यहाँ अन्न प्रस्तुत कीजिये' ॥ ४-५ ॥

त्रयोदश खण्ड

तेरह प्रकारके स्तोभोंका वर्णन

इस प्रकरणमें बताये जानेवाले तेरह प्रकारके स्तोभोंमें निश्चय ही 'हाउ' शब्द मनुष्यलोकका वाचक है, 'हाइ' वायुलोक है, 'अथ' चन्द्रलोक है, 'इह' आत्मा है और 'ई' अग्निरूप है। इनके अतिरिक्त 'ऊ' सूर्यरूप है, 'ए' आवाहनका बोधक है, 'औहोयि' विश्वेदेवा हैं, 'हिं' प्रजापति-स्वरूप है, 'स्वर' प्राणरूप है, 'या' अन्नरूप है तथा 'वाक्' विराटरूप है। तेरहवाँ और अन्तिम स्तोभ 'हुं' है, वह सबमें व्याप्त रहनेवाला वर्णनातीत निर्विशेष ब्रह्म है ॥ १—३ ॥

जो सामके रहस्यको जान लेता है, उसके लिये वाणी स्वयं अपना रहस्य प्रकट कर देती है। वह भोग-सामग्रीसे तथा उसे भोगनेकी सामर्थ्यसे युक्त हो जाता है ॥ ४ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

* साम-गान करते समय उसके स्वर और लयकी पूर्तिके लिये जो 'हा ३ उ' आदि तेरह प्रकारके शब्द उपयोगमें लाये जाते हैं, उन्हें 'स्तोभ' कहते हैं। इनका अर्थ अगले खण्डमें बताया गया है। 'हिं' प्रजापतिरूप है और प्रजापति ही अन्नका स्वामी है, इसलिये उनकी प्रार्थनामें 'हिं'का प्रयोग किया गया है।

ॐ

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

साधु-दृष्टिसे समस्त सामकी उपासना

ॐ समस्त सामकी उपासना निश्चय ही साधु है। जो साधु होता है, उसको साम कहते हैं और जो असाधु होता है, वह असाम कहलाता है। इसी विषयमें कहते हैं—[जब कहा जाय कि अमुक पुरुष] इस [राजा आदि] के पास साम-द्वारा गया तो [ऐसा कहकर] लोग यही कहते हैं कि वह इसके पास साधुभावसे गया और [जब यों कहा जाय कि] वह इसके पास असामद्वारा गया तो [इससे] लोग यही कहते हैं कि वह इसके यहाँ असाधुभावसे प्राप्त हुआ। इसके अनन्तर ऐसा भी कहते हैं कि हमारा साम (शुभ) हुआ। अर्थात् जब शुभ होता है तो 'अहा! बड़ा अच्छा हुआ' ऐसा कहते हैं; और ऐसा भी कहते हैं—'हमारा असाम हुआ' अर्थात् जब अशुभ होता है तो 'अरे! बुरा हुआ!' ऐसा कहते हैं। इसे इस प्रकार जाननेवाला जो पुरुष 'साम साधु है' ऐसी उपासना करता है, उसके समीप साधु धर्म शीघ्र ही आ जाते हैं और उसके प्रति विनम्र हो जाते हैं॥ १–४॥

द्वितीय खण्ड

पञ्चविध सामोपासना

लोकोंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करनी चाहिये। पृथ्वी हिंकार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, आदित्य प्रतिहार है और द्युलोक निधन है—इस प्रकार ऊपरके लोकोंमें सामदृष्टि करे। अब अधोगत लोकोंमें सामोपासनाका निरूपण किया जाता है—द्युलोक हिंकार है, आदित्य प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, अग्नि प्रतिहार है और पृथ्वी निधन है। जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष लोकोंमें पञ्चविध सामकी उपासना करता है, उसके प्रति ऊर्ध्व और अधोमुख लोक भोग्यरूपसे उपस्थित होते हैं॥ १–३॥

तृतीय खण्ड

वृष्टिमें सामोपासना

वृष्टिमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे। पूर्ववायु हिंकार है, मेघ उत्पन्न होता है यह प्रस्ताव है, बरसता है यह उद्गीथ है, चमकता और गर्जन करता है यह प्रतिहार है, जल ग्रहण करता है यह निधन है। जो इसे (इस उपासनाको) इस प्रकार जाननेवाला पुरुष वृष्टिमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है उसके लिये वर्षा होती है और वह स्वयं भी वर्षा करा लेता है॥ १–२॥

चतुर्थ खण्ड

जलमें सामोपासना

सब प्रकारके जलोंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे। मेघ जो घनीभावको प्राप्त होता है यह हिंकार है, वह जो बरसता है यह प्रस्ताव है, [नदियाँ] जो पूर्वकी ओर बहती हैं वह उद्गीथ है तथा जो पश्चिमकी ओर बहती हैं वह प्रतिहार है और समुद्र निधन है। जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष सब प्रकारके जलोंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है वह जलमें नहीं मरता और जलवान् होता है॥ १–२॥

पञ्चम खण्ड

ऋतुओंमें सामोपासना

ऋतुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे। वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरत् प्रतिहार है और हेमन्त निधन है। जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ऋतुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है उसे ऋतुएँ अपने अनुरूप भोग देती हैं और वह ऋतुमान् (ऋतुसम्बन्धी भोगोंसे सम्पन्न) होता है॥ १–२॥

षष्ठ खण्ड

पशुओंमें सामोपासना

पशुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे । बकरे हिंकार हैं, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, अश्व प्रतिहार हैं और पुरुष निधन है । जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष पशुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है उसे पशु प्राप्त होते हैं और वह पशुमान् होता है ॥ १-२ ॥

सप्तम खण्ड

प्राणोंमें सामोपासना

प्राणोंमें पाँच प्रकारके परोवरीय गुणविशिष्ट सामकी उपासना करे । उनमें प्राण हिंकार है, वाक् प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और मन निधन है । ये उपासनाएँ निश्चय ही परोवरीय (उत्तरोत्तर उत्कृष्ट) हैं । जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष प्राणोंमें पाँच प्रकारके उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर सामकी उपासना करता है उसका जीवन उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होता जाता है और वह उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर लोकोंको जीत लेता है । यह पाँच प्रकारकी सामोपासनाका निरूपण किया गया ॥ १-२ ॥

अष्टम खण्ड

वाणीमें सप्तविध सामोपासना

अब सप्तविध सामकी उपासना [प्रारम्भ की जाती] है—वाणीमें सप्तविध सामकी उपासना करनी चाहिये । वाणीमें जो कुछ 'हुं' ऐसा स्वरूप है वह हिंकार है, जो कुछ 'प्र' ऐसा स्वरूप है वह प्रस्ताव है और जो कुछ 'आ' ऐसा स्वरूप है वह आदि है, जो कुछ 'उत्' ऐसा शब्दरूप है वह उद्गीथ है, जो कुछ 'प्रति' ऐसा शब्द है वह प्रतिहार है, जो कुछ 'उप' ऐसा शब्द है वह उपद्रव है और जो कुछ 'नि' ऐसा शब्दरूप है वह निधन है । जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष वाणीमें सात प्रकारके सामकी उपासना करता है उसे वाणी, जो कुछ वाणीका दोह (सार) है उसे देती है तथा वह प्रचुर अन्नसे सम्पन्न और उसका भोक्ता होता है ॥१-३॥

नवम खण्ड

आदित्य-दृष्टिसे सप्तविध सामोपासना

अब निश्चय ही इस आदित्यकी दृष्टिसे सप्तविध सामकी उपासना करनी चाहिये । आदित्य सर्वदा सम है, इसलिये वह साम है । मेरे प्रति, मेरे प्रति ऐसा होनेके कारण वह सबके प्रति सम है, इसलिये साम है । उस आदित्यमें ये सम्पूर्ण भूत अनुगत हैं—ऐसा जाने । जो उस आदित्यके उदयसे पूर्व है वह हिंकार है । उस सूर्यका जो हिंकाररूप है उसके पशु अनुगत हैं, इसीसे वे हिंकार करते हैं । अतः वे ही इस आदित्यरूप सामके हिंकार-भाजन हैं । तथा सूर्यके पहले-पहल उदित होनेपर जो रूप होता है वह प्रस्ताव है । उसके उस रूपके मनुष्य अनुगामी हैं अतः वे प्रस्तुति (प्रत्यक्षस्तुति) और प्रशंसा (परोक्षस्तुति) की इच्छावाले हैं, क्योंकि वे इस सामकी प्रस्तावभक्तिका सेवन करनेवाले हैं । तत्पश्चात् आदित्यका जो रूप सङ्गववेलामें (सूर्योदयके तीन मुहूर्त्त पश्चात् कालमें) रहता है वह आदि है । उसके उस रूपके अनुगत पक्षिगण हैं । क्योंकि वे इस सामके आदिका भजन करनेवाले हैं, इसलिये वे अन्तरिक्षमें अपनेको निराधाररूपसे सब ओर ले जाते हैं । तथा अब जो मध्यदिवसमें आदित्यका रूप होता है वह उद्गीथ है । इसके उस रूपके देवतालोग अनुगत हैं । इसीसे वे प्रजापतिसे उत्पन्न हुए प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे इस सामकी उद्गीथभक्तिके भागी हैं । तथा आदित्यका जो रूप मध्याह्नके पश्चात् और अपराह्णके पूर्व होता है वह प्रतिहार है । उसके उस रूपके अनुगामी गर्भ हैं । इसीसे वे ऊपरकी ओर आकृष्ट किये जानेपर नीचे नहीं गिरते, क्योंकि वे इस सामकी प्रतिहारभक्तिके पात्र हैं । तथा आदित्यका जो रूप अपराह्णके पश्चात् और सूर्यास्तसे पूर्व होता है वह उपद्रव है । उसके उस रूपके अनुगामी वन्य पशु हैं । इसीसे वे पुरुषको देखकर भयवश अरण्य अथवा गुहामें भाग जाते हैं, क्योंकि वे इस सामकी उपद्रवभक्तिके भागी हैं ।

तथा आदित्यका जो रूप सूर्यास्तसे पूर्व होता है वह निधन है। उसके उस रूपके अनुगत पितृगण हैं; इसीसे [श्राद्ध-कालमें] उन्हें [पितृ-पितामह आदि रूपसे दर्भपर] स्थापित करते हैं; क्योंकि वे पितृगण निश्चय ही इस सामकी निधन-भक्तिके पात्र हैं। इसी प्रकार इस आदित्यरूप सात प्रकारके सामकी उपासना करते हैं ॥ १—८ ॥

दशम खण्ड

मृत्युसे अतीत सप्तविध सामोपासना

अब निश्चय ही [यह बतलाया जाता है कि] अपने समान अक्षरोंवाले मृत्युसे अतीत सप्तविध सामकी उपासना करे। 'हिंकार' यह तीन अक्षरोंवाला है तथा 'प्रस्ताव' यह भी तीन अक्षरोंवाला हैं, अतः उसके समान है। 'आदि' यह दो अक्षरोंवाला नाम है, और 'प्रतिहार' यह चार अक्षरोंवाला नाम है। इसमेंसे एक अक्षर निकालकर आदिमें मिलानेसे वे समान हो जाते हैं। 'उद्गीथ' यह तीन अक्षरोंका और 'उपद्रव' यह चार अक्षरोंका नाम है। ये दोनों तीन-तीन अक्षरोंमें तो समान हैं; किंतु एक अक्षर बच रहता है। अतः ['अक्षर' होनेके कारण] तीन अक्षरोंवाला होनेसे तो वह [एक] भी उनके समान ही है। 'निधन' यह नाम तीन अक्षरोंका है, अतः यह उनके समान ही है। वे ही ये बाईस अक्षर हैं। इक्कीस अक्षरोंद्वारा साधक आदित्यलोक प्राप्त करता है, क्योंकि इस लोकसे आदित्य निश्चय ही इक्कीसवाँ है। बाईसवें अक्षरद्वारा वह आदित्यसे परे उस दुःखहीन एवं शोकरहित लोकको जीत लेता है। [वह पुरुष] आदित्यलोक-की जय प्राप्त करता है तथा उसे आदित्यविजयसे भी उत्कृष्ट जय प्राप्त होती है। जो इस उपासनाको इस प्रकार जाननेवाला होकर आत्मसंमित और मृत्युसे अतीत सप्तविध सामकी उपासना करता है—सामकी उपासना करता है ॥ १—६ ॥

एकादश खण्ड

गायत्र-सामोपासना

मन हिंकार है, वाक् प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और प्राण निधन है। यह गायत्रसंज्ञक साम प्राणोंमें प्रतिष्ठित है। वह, जो इस प्रकार गायत्रसंज्ञक सामको प्राणोंमें प्रतिष्ठित जानता है, प्राणवान् होता है, पूर्ण आयुका उपभोग करता है, प्रशस्त जीवनलाभ करता है, प्रजा और पशुओंद्वारा महान् होता है तथा कीर्तिके द्वारा भी महान् होता है। वह महान् मनस्वी होवे—यही उसका व्रत है ॥ १-२ ॥

द्वादश खण्ड

रथन्तर-सामोपासना

अभिमन्थन करता है यह हिंकार है, धूम उत्पन्न होता है यह प्रस्ताव है, प्रज्वलित होता है यह उद्गीथ है, अङ्गार होते हैं यह प्रतिहार है तथा शान्त होने लगता है यह निधन है और सर्वथा शान्त हो जाता है यह भी निधन है। यह रथन्तरसाम अग्निमें प्रतिष्ठित है। वह, जो पुरुष इस प्रकार इस रथन्तर-सामको अग्निमें अनुस्यूत जानता है, ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और अन्नका भोक्ता होता है, पूर्ण जीवनका उपभोग करता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण महान् होता है। अग्निकी ओर मुख करके भक्षण न करे और न थूके ही—यह व्रत है ॥ १-२ ॥

त्रयोदश खण्ड

वामदेव्य-सामोपासना

स्त्री-पुरुषका संकेत हिंकार है, पारस्परिक सन्तोष प्रस्ताव है, सहशयन उद्गीथ है, अभिमुखशयन प्रतिहार है, समाप्ति निधन है, इस प्रकार जोड़ेसे वामदेव्यसामकी उपासना की जाती है। वह, जो पुरुष इस प्रकार मिथुनमें वामदेव्यसामको स्थित जानता है, सदा जोड़ेसे रहता है, उसका कभी वियोग नहीं होता, मिथुनीभावसे उसके सन्तान उत्पन्न होती है। वह पूर्ण आयुका उपभोग करता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण महान् होता है। किसी भी पर-स्त्रीका कभी कहींसे भी अपहरण न करे, कदापि व्यभिचारी न हो—यह व्रत है ॥ १-२ ॥

चतुर्दश खण्ड

बृहत्सामोपासना

उदित होता हुआ सूर्य हिंकार है, उदित हुआ प्रस्ताव है, मध्याह्नकालिक सूर्य उद्गीथ है, अपराह्णकालिक प्रतिहार है और जो अस्तमित होनेवाला सूर्य है वह निधन है। यह बृहत्साम सूर्यमें स्थित है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस बृहत्सामको सूर्यमें स्थित जानता है, तेजस्वी और अन्नका भोग करनेवाला होता है। वह पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है। तपते हुए सूर्यकी निन्दा न करे—यह व्रत है ॥ १-२ ॥

पञ्चदश खण्ड

वैरूप-सामोपासना

बादल एकत्रित होते हैं यह हिंकार है। मेघ उत्पन्न होता है यह प्रस्ताव है। जल बरसता है यह उद्गीथ है। बिजली चमकती और कड़कती है यह प्रतिहार है तथा वृष्टिका उपसंहार होता है यह निधन है। यह वैरूपसाम मेघमें अनुस्यूत है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस वैरूपसामको पर्जन्यमें अनुस्यूत जानता है, विरूप और सुरूप पशुओंका अवरोध करता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण महान् होता है। बरसते हुए मेघकी निन्दा न करे—यह व्रत है ॥ १-२ ॥

षोडश खण्ड

वैराज-सामोपासना

वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरद् ऋतु प्रतिहार है, हेमन्त निधन है—यह वैराजसाम ऋतुओंमें अनुस्यूत है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस वैराजसामको ऋतुओंमें अनुस्यूत जानता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण शोभित होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है। ऋतुओंकी निन्दा न करे—यह व्रत है ॥ १-२ ॥

सप्तदश खण्ड

शक्वरी-सामोपासना

पृथ्वी हिंकार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, द्युलोक उद्गीथ है, दिशाएँ प्रतिहार हैं और समुद्र निधन है—यह शक्वरीसाम लोकोंमें अनुस्यूत है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस शक्वरीसामको लोकोंमें अनुस्यूत जानता है, लोकवान् होता है। वह सम्पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है। लोकोंकी निन्दा न करे—यह व्रत है ॥ १-२ ॥

अष्टादश खण्ड

रेवती-सामोपासना

बकरी हिंकार है, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं और पुरुष निधन है—यह रेवतीसाम पशुओंमें अनुस्यूत है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस रेवतीसामको पशुओंमें अनुस्यूत जानता है, पशुमान् होता है। वह पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है। पशुओंकी निन्दा न करे—यह व्रत है ॥ १-२ ॥

एकोनविंश खण्ड

यज्ञायज्ञीय-सामोपासना

लोम हिंकार है, त्वचा प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, अस्थि प्रतिहार है और मज्जा निधन है। यह यज्ञायज्ञीय साम अङ्गोंमें अनुस्यूत है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस यज्ञायज्ञीय सामको अङ्गोंमें अनुस्यूत जानता है, अङ्गवान् होता है। वह अङ्गोंसे टेढ़ा-मेढ़ा नहीं होता, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है। वर्ष भरतक मांसभक्षण न करे—यह व्रत है, अथवा कभी भी मांसभक्षण न करे—ऐसा व्रत है ॥ १-२ ॥

विंश खण्ड

राजन-सामोपासना

अग्नि हिंकार है, वायु प्रस्ताव है, आदित्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रतिहार हैं, चन्द्रमा निधन है—यह राजनसाम देवताओंमें अनुस्यूत है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस राजनसामको देवताओंमें अनुस्यूत जानता है, उन्हीं देवताओंके सालोक्य, सार्ष्टित्व (तुल्य ऐश्वर्य) और सायुज्यको प्राप्त हो जाता है। वह पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके द्वारा महान् होता है तथा कीर्तिके द्वारा भी महान् होता है। ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे—यह व्रत है ॥ १-२ ॥

एकविंश खण्ड

सबमें अनुस्यूत सामकी उपासना

त्रयीविद्या हिंकार है, ये तीन लोक प्रस्ताव हैं, अग्नि, वायु और आदित्य ये उद्गीथ हैं। नक्षत्र, पक्षी और किरणें ये प्रतिहार हैं। सर्प, गन्धर्व और पितृगण—ये निधन हैं। यह सामोपासना सबमें अनुस्यूत है। वह, जो इस प्रकार सबमें अनुस्यूत इस सामको जानता है, सर्वरूप हो जाता है। इस विषयमें यह मन्त्र भी है—जो पाँच प्रकारके तीन-तीन बतलाये गये हैं, उनसे श्रेष्ठ तथा उनके अतिरिक्त और कोई नहीं है। जो उसे जानता है वह सब कुछ जानता है। उसे सभी दिशाएँ बलि समर्पित करती हैं। 'मैं सब कुछ हूँ' इस प्रकार उपासना करे—यह व्रत है, यह व्रत है ॥ १-४ ॥

द्वाविंश खण्ड

अग्नि-सम्बन्धी उद्गीथ

सामके 'विनर्दि' नामक गानका वरण करता हूँ; वह पशुओंके लिये हितकर है और अग्निदेवतासम्बन्धी उद्गीथ है। प्रजापतिका उद्गीथ अनिरुक्त है, सोम निरुक्त है, वायुका मृदुल और श्लक्ष्ण (सरलतासे उच्चारण किये जाने योग्य) है, इन्द्रका श्लक्ष्ण और बलवान् है, बृहस्पतिका क्रौञ्च (क्रौञ्चपक्षीके शब्दके समान) है और वरुणका अपध्वान्त (भ्रष्ट) है। इन सभी उद्गीथोंका सेवन करे; केवल वरुण-सम्बन्धी उद्गीथका ही परित्याग कर दे। मैं देवताओंके लिये अमृतत्वका आगान (साधन) करूँ—इस प्रकार चिन्तन करते हुए आगान करे। पितृगणके लिये स्वधा, मनुष्योंके लिये आशा (उनकी इष्ट वस्तुओं), पशुओंके लिये तृण और जल, यजमानके लिये स्वर्गलोक और अपने लिये अन्नका आगान करूँ—इस प्रकार इनका मनसे ध्यान करते हुए प्रमादरहित होकर स्तुति करे। सम्पूर्ण स्वर इन्द्रके आत्मा हैं, समस्त ऊष्मवर्ण प्रजापतिके आत्मा हैं, समस्त स्पर्शवर्ण मृत्युके आत्मा हैं। [इस प्रकार जाननेवाले] उस उद्गाताको यदि कोई पुरुष स्वरोंके उच्चारणमें दोष प्रदर्शित करे तो वह उससे कहे कि 'मैं इन्द्रके शरणागत हूँ वही तुझे इसका उत्तर देगा।' और यदि कोई इसे ऊष्मवर्णोंके उच्चारणमें दोष प्रदर्शित करे तो उससे कहे कि 'मैं प्रजापतिके शरणागत था वही तेरा मर्दन करेगा।' और यदि कोई इसे स्पर्शोंके उच्चारणमें उलाहना दे तो उससे कहे कि 'मैं मृत्युकी शरणको प्राप्त था, वही तुझे दग्ध करेगा।' सम्पूर्ण स्वर घोषयुक्त और बलयुक्त उच्चारण किये जाने चाहिये; अतः [उनका उच्चारण करते समय] 'मैं इन्द्रमें बलका आधान करूँ' ऐसा [चिन्तन करना चाहिये]। सारे ऊष्मवर्ण अग्रस्त, अनिरस्त एवं विवृतरूपसे उच्चारण किये जाते हैं [अतः उन्हें बोलते समय ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि] 'मैं प्रजापतिको आत्मदान करूँ।' समस्त स्पर्शवर्णोंको एक-दूसरेसे तनिक भी मिलाये बिना ही बोलना चाहिये और उस समय 'मैं मृत्युसे अपना परिहार करूँ' [ऐसा चिन्तन करना चाहिये] ॥ १-५ ॥

त्रयोविंश खण्ड

धर्मके तीन स्कन्ध, ओंकारकी सर्वरूपता

धर्मके तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान—यह पहला स्कन्ध है। तप ही दूसरा स्कन्ध है। आचार्यकुलमें रहनेवाला ब्रह्मचारी, जो आचार्यकुलमें अपने शरीरको अत्यन्त क्षीण कर देता है, तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्यलोकके भागी होते हैं। ब्रह्ममें सम्यक् प्रकारसे स्थित [चतुर्थाश्रमी संन्यासी] अमृतत्वको प्राप्त होता है। प्रजापतिने लोकोंके उद्देश्यसे ध्यानरूप तप किया। उन अभितप्त लोकोंसे त्रयी विद्याकी उत्पत्ति हुई तथा उस अभितप्त त्रयी विद्यासे 'भूः, भुवः और स्वः' ये अक्षर उत्पन्न हुए। [फिर प्रजापतिने] उन अक्षरोंका आलोचन किया। उन आलोचित अक्षरोंसे ओङ्कार उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार शङ्कुओं (नसों) द्वारा सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार ओङ्कारसे सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है। ओङ्कार ही यह सब कुछ है—ओङ्कार ही यह सब कुछ है ॥ १–३ ॥

चतुर्विंश खण्ड

तीनों कालका सवन

ब्रह्मवादी कहते हैं कि प्रातःसवन वसुओंका है, मध्याह्नसवन रुद्रोंका है तथा तृतीय सवन आदित्य और विश्वेदेवोंका है। तो फिर यजमानका लोक कहाँ है ? जो यजमान उस लोकको नहीं जानता वह किस प्रकार यज्ञानुष्ठान करेगा ? अतः उसे जाननेवाला ही यज्ञ करेगा ॥ १-२ ॥

प्रातरनुवाकका आरम्भ करनेसे पूर्व वह (यजमान) गार्हपत्याग्निके पीछेकी ओर उत्तराभिमुख बैठकर वसुदेवता-सम्बन्धी सामका गान करता है। [हे अग्ने !] तुम इस लोकका द्वार खोल दो; जिससे कि हम राज्यप्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन कर लें। तदनन्तर [यजमान इस मन्त्रद्वारा] हवन करता है—पृथिवीमें रहनेवाले इहलोकनिवासी अग्निदेवको नमस्कार है। मुझ यजमानको तुम [पृथिवी] लोककी प्राप्ति कराओ। यह निश्चय ही यजमानका लोक है, मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ। इस लोकमें यजमान 'मैं आयु समाप्त होनेके अनन्तर [पुण्यलोकको प्राप्त होऊँगा] स्वाहा'—ऐसा कहकर हवन करता है, और 'परिघ (अर्गला) को नष्ट करो' ऐसा कहकर उत्थान करता है। वसुगण उसे प्रातःसवन प्रदान करते हैं ॥ ३–६ ॥

मध्याह्नसवनका आरम्भ करनेसे पूर्व यजमान दक्षिणाग्निके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर रुद्रदेवतासम्बन्धी सामका गान करता है। [हे वायो !] तुम अन्तरिक्षलोकका द्वार खोल दो, जिससे कि वैराज्यपदकी प्राप्तिके लिये हम तुम्हारा दर्शन कर सकें। तदनन्तर [यजमान इस मन्त्रद्वारा] हवन करता है—'अन्तरिक्षमें रहनेवाले अन्तरिक्षलोकनिवासी वायुदेवको नमस्कार है। मुझ यजमानको तुम [अन्तरिक्ष] लोककी प्राप्ति कराओ। यह निश्चय ही यजमानका लोक है; मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ। यहाँ यजमान, 'मैं आयु समाप्त होनेपर [अन्तरिक्षलोक प्राप्त करूँगा] स्वाहा' ऐसा कहकर हवन करता है और 'लोकद्वारकी अर्गलाको दूर करो' ऐसा कहकर उत्थान करता है। रुद्रगण उसे मध्याह्नसवन प्रदान करते हैं ॥ ७–१० ॥

तृतीय सवनका आरम्भ करनेसे पूर्व यजमान आहवनीयाग्निके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर आदित्य और विश्वेदेवसम्बन्धी सामका गान करता है। लोकका द्वार खोल दो, जिससे हम स्वाराज्यप्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन कर सकें। यह आदित्यसम्बन्धी साम है; अब विश्वेदेवसम्बन्धी साम कहते हैं—लोकका द्वार खोल दो, जिससे हम साम्राज्यप्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन कर सकें। तत्पश्चात् [यजमान इस मन्त्रद्वारा] हवन करता है—स्वर्गमें रहनेवाले द्युलोकनिवासी आदित्योंको और विश्वेदेवोंको नमस्कार है। मुझ यजमानको तुम पुण्यलोककी प्राप्ति कराओ। यह निश्चय ही यजमानका लोक है; मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ। यहाँ यजमान 'आयु समाप्त होनेपर [मैं इसे प्राप्त करूँगा] स्वाहा'—ऐसा कहकर हवन करता है और 'लोकद्वारकी अर्गलाको दूर करो'—ऐसा कहकर उत्थान करता है। उस (यजमान) को आदित्य और विश्वेदेव तृतीय सवन प्रदान करते हैं। जो इस प्रकार जानता है, जो इस प्रकार जानता है वह निश्चय ही यज्ञकी मात्रा (यज्ञके यथार्थ स्वरूप) को जानता है ॥ ११–१६ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

ॐ

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

आदित्यकी मधुरूपमें कल्पना

ॐ यह आदित्य निश्चय ही देवताओंका मधु है। द्युलोक ही उसका तिरछा बाँस है [जिसपर कि वह लटका हुआ है], अन्तरिक्ष छत्ता है और किरणें [उसमें रहनेवाले] मक्खियोंके बच्चे हैं। उस आदित्यकी जो पूर्वदिशाकी किरणें हैं, वे ही इस (अन्तरिक्षरूप छत्ते) के पूर्वदिशावर्ती छिद्र हैं। ऋक् ही मधुकर हैं, ऋग्वेद ही पुष्प हैं, वे सोम आदि अमृत ही जल हैं। उन इन ऋक् [-रूप मधुकरों] ने ही इस ऋग्वेदका अभिताप किया। उस अभितप्त ऋग्वेदसे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ। वह (यश आदि रस) विशेषरूपसे गया। उसने [जाकर] आदित्यके [पूर्व] भागमें आश्रय लिया। यह जो आदित्यका लाल रूप है, वही यह (रस) है॥ १-४॥

द्वितीय खण्ड

आदित्यकी दक्षिणस्थित किरणोंमें मधुनाडी-दृष्टि

तथा इसकी जो दक्षिण दिशाकी किरणें हैं, वे ही इसकी दक्षिणदिशावर्तिनी मधुनाडियाँ हैं, यजुःश्रुतियाँ ही मधुकर हैं, यजुर्वेद ही पुष्प है तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही जल है। उन इन यजुःश्रुतियोंने इस यजुर्वेदका अभिताप किया। उस अभितप्त यजुर्वेदसे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ। उस रसने विशेषरूपसे गमन किया और आदित्यके [दक्षिण] भागमें आश्रय लिया। यह जो आदित्यका शुक्ल रूप है, यह वही है॥ १-३॥

तृतीय खण्ड

पश्चिम ओरकी किरणोंमें मधुनाडी-दृष्टि

तथा ये जो इसकी पश्चिम ओरकी रश्मियाँ हैं, वे ही इसकी पश्चिमीय मधुनाडियाँ हैं। सामश्रुतियाँ ही मधुकर हैं, सामवेद-विहित कर्म ही पुष्प है तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही जल है। उन इन सामश्रुतियोंने ही इस सामवेदविहित कर्मका अभिताप किया। उस अभितप्त सामवेदसे ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ। उस रसने विशेषरूपसे गमन किया और आदित्यके [पश्चिम] भागमें आश्रय लिया। यह जो आदित्यका कृष्ण तेज है, यह वही है॥ १-३॥

चतुर्थ खण्ड

उत्तर दिशाकी किरणोंमें मधुनाडी-दृष्टि

तथा इसकी जो उत्तर दिशाकी किरणें हैं, वे ही इसकी उत्तर दिशाकी मधुनाडियाँ हैं। अथर्वाङ्गिरस श्रुतियाँ ही मधुकर हैं, इतिहास-पुराण ही पुष्प हैं तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही जल है। उन इन अथर्वाङ्गिरस श्रुतियोंने ही इस इतिहास-पुराणको अभितप्त किया। उस अभितप्त हुए [इतिहास-पुराणरूप पुष्प] से ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रसकी उत्पत्ति हुई। उस रसने विशेषरूपसे गमन किया और आदित्यके [उत्तर] भागमें आश्रय लिया। यह जो आदित्यका अत्यन्त कृष्ण रूप है, यह वही है॥ १-३॥

पञ्चम खण्ड

ऊर्ध्वरश्मियोंमें मधुनाडी-दृष्टि

तथा इसकी जो ऊर्ध्वरश्मियाँ हैं, वे ही इसकी ऊपरकी ओरकी मधुनाडियाँ हैं। गुह्य आदेश ही मधुकर हैं, [प्रणवरूप] ब्रह्म ही पुष्प है तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही जल है। उन इन गुह्य आदेशोंने ही इस [प्रणवसंज्ञक] ब्रह्मको अभितप्त किया। उस अभितप्त ब्रह्मसे ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ। उस रसने विशेषरूपसे

गमन किया और वह आदित्यके [ऊर्ध्व] भागमें आश्रित हुआ। यह जो आदित्यके मध्यमें क्षुब्ध-सा होता है यही वह (मधु) है। वे ये [पूर्वोक्त लोहितादि रूप] ही रसोंके रस हैं, वेद ही रस हैं और ये उनके भी रस हैं। वे ही ये अमृतोंके अमृत हैं—वेद ही अमृत हैं और ये उनके भी अमृत हैं ॥ १–४ ॥

षष्ठ खण्ड

वसुओंके जीवनाधार प्रथम अमृतकी उपासना

इनमें जो पहला अमृत है, उससे वसुगण अग्निप्रधान होकर जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते ही हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। वे देवगण इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन हो जाते हैं और फिर इसीसे उत्साहित होते हैं। वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, वसुओंमेंसे ही कोई एक होकर अग्निकी ही प्रधानतासे इसे देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपको लक्ष्य करके ही उदासीन होता है और इस रूपसे ही उत्साहित होता है। जितने समयमें आदित्य पूर्व दिशासे उदित होता है और पश्चिम दिशामें अस्त होता है, उतनी ही देर वह वसुओंके आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ १-४ ॥

सप्तम खण्ड

रुद्रोंके जीवनाधार द्वितीय अमृतकी उपासना

अब, जो दूसरा अमृत है, रुद्रगण इन्द्रप्रधान होकर उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। वे इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन हो जाते हैं और इसीसे उद्यमशील होते हैं। वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, रुद्रोंमेंसे ही कोई एक होकर इन्द्रकी ही प्रधानतासे इस अमृतको ही देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपसे ही उदासीन हो जाता है और इस रूपसे ही उद्यमशील होता है। जितने समयमें आदित्य पूर्वसे उदित होता और पश्चिममें अस्त होता है, उससे दुगुने समयमें वह दक्षिणसे उदित होता है और उत्तरमें अस्त हो जाता है। इतने समयपर्यन्त वह रुद्रोंके ही आधिपत्य एवं स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ १-४ ॥

अष्टम खण्ड

आदित्योंके जीवनाधार तृतीय अमृतकी उपासना

तदनन्तर जो तीसरा अमृत है, आदित्यगण वरुणप्रधान होकर उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। वे इस रूपको ही लक्षित करके उदासीन होते हैं और इसीसे उद्यमशील हो जाते हैं। वह, जो इस अमृतको जानता है, आदित्योंमेंसे ही कोई एक होकर वरुणकी ही प्रधानतासे इस अमृतको देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपसे ही उदासीन होता है और इसीसे उद्योगी हो जाता है। वह आदित्य जितने समयमें दक्षिणसे उदित होता और उत्तरमें अस्त होता है, उससे दूने समयमें पश्चिमसे उदित होता और पूर्वमें अस्त होता है। इतने समय वह आदित्योंके ही आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ १-४ ॥

नवम खण्ड

मरुतोंके जीवनाधार चतुर्थ अमृतकी उपासना

तथा जो चौथा अमृत है, मरुद्गण सोमकी प्रधानतासे उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। वे इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन होते हैं और इसीसे उद्यमशील हो जाते हैं। वह, जो इस अमृतको जानता है, मरुतोंमेंसे ही कोई एक होकर सोमकी प्रधानतासे ही इस अमृतको देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपसे ही उदासीन होता है और इस रूपसे ही उत्साहित होता है। वह आदित्य जितने समयमें पश्चिमसे उदित होता और पूर्वमें अस्त होता है, उससे दूनी देरमें उत्तरसे उदित होता और दक्षिणमें अस्त होता है। इतने काल वह मरुद्गणके ही आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ १-४ ॥

दशम खण्ड

साध्योंके जीवनाधार पञ्चम अमृतकी उपासना

तथा जो पाँचवाँ अमृत है, साध्यगण ब्रह्माकी प्रधानतासे उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। वे इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन होते हैं और इसीसे उद्यमशील हो जाते हैं। वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, साध्यगणमेंसे ही कोई एक होकर ब्रह्माकी ही प्रधानतासे इस अमृतको ही देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपको लक्ष्य करके ही उदासीन होता है और इस रूपसे ही उत्साहित हो जाता है। वह आदित्य जितने समयमें उत्तरसे उदित होता है और दक्षिणमें अस्त होता है, उससे दूने समयतक ऊपरकी ओर उदित होता है और नीचेकी ओर अस्त होता है। इतने कालतक वह साध्योंके ही आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ १-४ ॥

एकादश खण्ड

मधुविज्ञान तथा ब्रह्मविज्ञानके अधिकारी

फिर उसके पश्चात् वह ऊर्ध्वगत होकर उदित होनेपर फिर न तो उदित होगा और न अस्त ही होगा; बल्कि अकेला ही मध्यमें स्थित रहेगा। उसके विषयमें यह श्लोक है। वहाँ निश्चय ही ऐसा नहीं होता। वहाँ [सूर्यका] न कभी अस्त होता है और न उदय होता है। हे देवगण! इस सत्यके द्वारा मैं ब्रह्मसे विरुद्ध न होऊँ। जो इस प्रकार इस ब्रह्मोपनिषद् (वेदरहस्य) को जानता है उसके लिये न तो सूर्यका उदय होता है और न अस्त होता है। उसके लिये सर्वदा दिन ही रहता है। वह यह मधुज्ञान ब्रह्माने प्रजापतिसे कहा था, प्रजापतिने मनुको सुनाया और मनुने प्रजावर्गके प्रति कहा। तथा यह ब्रह्मविज्ञान अपने ज्येष्ठ पुत्र अरुणनन्दन उद्दालकको उसके पिताने सुनाया था। अतः इस ब्रह्मविज्ञानका पिता अपने ज्येष्ठ पुत्रको अथवा सुयोग्य शिष्यको उपदेश करे। किसी दूसरेको नहीं बतलावे, यद्यपि इस आचार्यको यह समुद्र-परिवेष्टित और धनसे परिपूर्ण सारी पृथिवी दे [तो भी किसी दूसरेको इस विद्याका उपदेश न करे, क्योंकि] उससे यही अधिकतर फल देनेवाला है, यही अधिकतर फल देनेवाला है ॥ १-६ ॥

द्वादश खण्ड

गायत्रीकी सर्वरूपता

गायत्री ही ये सब भूत—प्राणिवर्ग हैं। जो कुछ भी ये स्थावर-जंगम प्राणी हैं, वे गायत्री ही हैं। वाक् ही गायत्री है और वाक् ही ये सब प्राणी हैं, क्योंकि यही गायत्री (उनका नामोच्चारण करती) और उनकी [भय आदिसे] रक्षा करती है। जो वह गायत्री है वह यही है, जो कि यह पृथिवी है; क्योंकि इसीमें ये सब भूत स्थित हैं और इसीका वे कभी अतिक्रमण नहीं करते। जो भी यह पृथिवी है वह यही है जो कि इस पुरुषमें शरीर है; क्योंकि इसीमें ये प्राण स्थित हैं और इसीको वे कभी नहीं छोड़ते। जो भी इस पुरुषमें शरीर है वह यही है जो कि इस अन्तःपुरुषमें हृदय है; क्योंकि इसीमें ये प्राण प्रतिष्ठित हैं और इसीका अतिक्रमण नहीं करते। वह यह गायत्री चार चरणोंवाली और छः प्रकारकी है। वह यह [गायत्र्याख्य ब्रह्म] मन्त्रोंद्वारा प्रकाशित किया गया है। [ऊपर जो कुछ कहा गया है] उतनी ही इस (गायत्र्याख्य ब्रह्म) की महिमा है; तथा [निर्विकार] पुरुष इससे भी उत्कृष्ट है। सम्पूर्ण भूत इसका एक पाद हैं और इसका [पुरुषसंज्ञक] त्रिपाद् अमृत प्रकाशमय स्वात्मामें स्थित है। जो भी वह [त्रिपाद् अमृतरूप] ब्रह्म है वह यही है, जो कि यह पुरुषसे बाहर आकाश है; और जो भी यह पुरुषसे बाहर आकाश है वह यही है, जो कि यह पुरुषके भीतर आकाश है; तथा जो भी यह पुरुषके भीतर आकाश है वह यही है, जो कि हृदयके अन्तर्गत आकाश है। वह यह हृदयाकाश पूर्ण और कहीं भी प्रवृत्त न होनेवाला है। जो पुरुष ऐसा जानता है, वह पूर्ण और कहीं प्रवृत्त न होनेवाली सम्पत्ति प्राप्त करता है ॥ १—९ ॥

त्रयोदश खण्ड

पञ्चप्राणोंकी उपासना

उस इस प्रसिद्ध हृदयके पाँच देवसुषि हैं। इसका जो पूर्वदिशावर्ती सुषि (छिद्र) है वह प्राण है; वह चक्षु है, वह आदित्य है, वही यह तेज और अन्नाद्य है—इस प्रकार उपासना करे। जो इस प्रकार जानता है [अर्थात् इस प्रकार इनकी उपासना करता है] वह तेजस्वी और अन्नका भोक्ता होता है। तथा इसका जो दक्षिण छिद्र है वह व्यान है, वह श्रोत्र है, वह चन्द्रमा है और वही यह श्री एवं यश है—इस प्रकार उसकी उपासना करे। जो ऐसा जानता है वह श्रीमान् और यशस्वी होता है। तथा इसका जो पश्चिम छिद्र है वह अपान है, वह वाक् है, वह अग्नि है और वही यह ब्रह्मतेज एवं अन्नाद्य है—इस प्रकार उसकी उपासना करे। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्मतेजस्वी और अन्नका भोक्ता होता है। तथा इसका जो उत्तरी छिद्र है वह समान है, वह मन है, वह मेघ है, और वही यह कीर्ति और व्युष्टि (देहका लावण्य) है—इस प्रकार उसकी उपासना करे। जो इस प्रकार जानता है वह कीर्तिमान् और कान्तिमान् होता है। तथा इसका जो ऊर्ध्व छिद्र है वह उदान है, वह वायु है, वह आकाश है और वही यह ओज और तेज है—इस प्रकार उसकी उपासना करे। जो इस प्रकार जानता है वह ओजस्वी और तेजस्वी होता है। वे ये पाँच ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोकके द्वारपाल हैं। वह जो कोई भी स्वर्गलोकके द्वारपाल इन पाँच ब्रह्मपुरुषोंको जानता है उसके कुलमें वीर उत्पन्न होता है। जो इस प्रकार स्वर्गलोकके द्वारपाल इन पाँच पुरुषोंको जानता है वह स्वर्गलोकको प्राप्त होता है। तथा इस द्युलोकसे परे जो परम ज्योति विश्वके पृष्ठपर यानी सबके ऊपर, जिनसे उत्तम कोई दूसरा लोक नहीं है ऐसे उत्तम लोकोंमें प्रकाशित हो रही है वह निश्चय यही है जो कि इस पुरुषके भीतर ज्योति है। उस इस (हृदयस्थित पुरुष) का यही दर्शनोपाय है जब कि [मनुष्य] इस शरीरमें स्पर्शद्वारा उष्णताको जानता है तथा यही उसका श्रवणोपाय है जब कि यह कानोंको मूँदकर निनद (रथके घोष), नदथु (बैलके डकराने)और जलते हुए अग्निके शब्दके समान श्रवण करता है, वह यह ज्योति दृष्ट और श्रुत है—इस प्रकार इसकी उपासना करे। जो उपासक ऐसा जानता है [इस प्रकार उपासना करता है] वह दर्शनीय और विश्रुत (विख्यात) होता है ॥ १–८ ॥

चतुर्दश खण्ड

जगत्की एवं आत्माकी ब्रह्मरूपमें उपासना

यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है, यह उसीसे उत्पन्न होनेवाला, उसीमें लीन होनेवाला और उसीमें चेष्टा करनेवाला है—इस प्रकार शान्त [राग-द्वेषरहित] होकर उपासना करे, क्योंकि पुरुष निश्चय ही क्रतुमय—निश्चयात्मक है; इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है वैसा ही यहाँसे मरकर जानेपर होता है। अतः उसे [पुरुषको] निश्चय करना चाहिये [वह ब्रह्म] मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसंकल्प, आकाशशरीर, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस सम्पूर्ण जगत्को सब ओरसे व्याप्त करनेवाला, वाक्रहित और संभ्रमशून्य है, हृदयकमलके भीतर यह मेरा आत्मा धानसे, यवसे, सरसोंसे, श्यामाकसे अथवा श्यामाकतण्डुलसे भी सूक्ष्म है तथा हृदयकमलके भीतर यह मेरा आत्मा पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकोंकी अपेक्षा भी बड़ा है जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस सबको सब ओरसे व्याप्त करनेवाला, वाक्रहित और सम्भ्रमशून्य है वह मेरा आत्मा हृदयकमलके मध्यमें स्थित है। यही ब्रह्म है, इस शरीरसे मरकर जानेपर मैं इसीको प्राप्त होऊँगा। जिसका ऐसा निश्चय है, और जिसे इस विषयमें कोई सन्देह भी नहीं है [उसे इसी ब्रह्मभावकी ही प्राप्ति होती है] ऐसा शाण्डिल्यने कहा है ॥ १—४ ॥

पञ्चदश खण्ड

विराट्रूप कोशकी उपासना

अन्तरिक्ष जिसका उदर है, वह कोश पृथिवीरूप मूलवाला है। वह जीर्ण नहीं होता। दिशाएँ इसके कोण हैं, आकाश ऊपरका छिद्र है। वह यह कोश वसुधान है। उसीमें यह सारा विश्व स्थित है। उस कोशकी पूर्व दिशा 'जुहू' नामवाली है, दक्षिण दिशा 'सहमाना' नामकी है, पश्चिम दिशा 'राज्ञी' नामवाली है तथा उत्तर दिशा 'सुभूता' नामकी है। उन दिशाओंका वायु वत्स है। वह, जो इस प्रकार इस वायुको दिशाओंके वत्सरूपसे जानता है, पुत्रके निमित्तसे रोदन नहीं

करता। वह मैं इस प्रकार इस वायुको दिशाओंके वत्सरूपसे जानता हूँ; अतः मैं पुत्रके कारण न रोऊँ। मैं अमुक अमुक अमुकके सहित अविनाशी कोशकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके सहित प्राणकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके सहित भूःकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके सहित भुवःकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके सहित स्वःकी शरण हूँ। * वह मैंने जो कहा कि 'मैं प्राणकी शरण हूँ' सो यह जो कुछ सम्पूर्ण भूतसमुदाय है प्राण ही है, उसीकी मैं शरण हूँ तथा मैंने जो कहा कि 'मैं भूःकी शरण हूँ' इससे मैंने यही कहा है कि 'मैं पृथिवीकी शरण हूँ, अन्तरिक्षकी शरण हूँ और द्युलोककी शरण हूँ' फिर मैंने जो कहा कि 'मैं भुवःकी शरण हूँ' इससे यह कहा गया है कि 'मैं अग्निकी शरण हूँ, वायुकी शरण हूँ और आदित्यकी शरण हूँ' तथा मैंने जो कहा कि 'मैं स्वःकी शरण हूँ' इससे 'मैं ऋग्वेदकी शरण हूँ, यजुर्वेदकी शरण हूँ और सामवेदकी शरण हूँ' यही मैंने कहा है ॥ १—७ ॥

षोडश खण्ड

पुरुषकी यज्ञरूपमें उपासना

निश्चय पुरुष ही यज्ञ है। उसके (उसकी आयुके) जो चौबीस वर्ष हैं, वे प्रातःसवन हैं। गायत्री चौबीस अक्षरोंवाली है; और प्रातःसवन गायत्री-छन्दसे संबद्ध है। उस इस प्रातःसवनके वसुगण अनुगत हैं। प्राण ही वसु हैं, क्योंकि ये ही इस सबको बसाये हुए हैं। यदि इस प्रातःसवनसम्पन्न आयुमें उसे कोई कष्ट पहुँचावे तो उसे इस प्रकार कहना चाहिये, 'हे प्राणरूप वसुगण! मेरे इस प्रातःसवनको माध्यन्दिनसवनके साथ एकरूप कर दो; यज्ञस्वरूप मैं आप प्राणरूप वसुओंके मध्यमें विलुप्त (नष्ट) न होऊँ।' तब उस कष्टसे मुक्त होकर वह नीरोग हो जाता है ॥ १-२ ॥

इसके पश्चात् जो चौवालीस वर्ष हैं, वे माध्यन्दिनसवन हैं। त्रिष्टुप्-छन्द चौवालीस अक्षरोंवाला है और माध्यन्दिनसवन त्रिष्टुप्-छन्दसे सम्बद्ध है। उस माध्यन्दिनसवनके रुद्रगण अनुगत हैं। प्राण ही रुद्र हैं, क्योंकि ये ही इस सम्पूर्ण प्राणिसमुदायको रुलाते हैं। यदि उस यज्ञकर्ताको इस आयुमें कोई [रोगादि] सन्तप्त करे तो उसे इस प्रकार कहना चाहिये, 'हे प्राणरूप रुद्रगण! मेरे इस मध्याह्नकालिक सवनको तृतीय सवनके साथ एकीभूत कर दो। यज्ञस्वरूप मैं प्राणरूप रुद्रोंके मध्यमें कभी विच्छिन्न (नष्ट) न होऊँ।' ऐसा कहनेसे वह उस कष्टसे छूट जाता है और नीरोग हो जाता है ॥ ३-४ ॥

इसके पश्चात् जो अड़तालीस वर्ष हैं, वे तृतीय सवन हैं। जगती-छन्द अड़तालीस अक्षरोंवाला है तथा तृतीय सवन जगती-छन्दसे सम्बन्ध रखता है। इस सवनके आदित्यगण अनुगत हैं। प्राण ही आदित्य हैं, क्योंकि ये ही इस सम्पूर्ण विषयजातको ग्रहण करते हैं। उस उपासकको यदि इस आयुमें कोई [रोगादि] सन्तप्त करे तो उसे इस प्रकार कहना चाहिये, 'हे प्राणरूप आदित्यगण! मेरे इस तृतीय सवनको आयुके साथ एकीभूत कर दो। यज्ञस्वरूप मैं प्राणरूप आदित्योंके मध्यमें विनष्ट न होऊँ।' ऐसा कहनेसे वह उस कष्टसे मुक्त होकर नीरोग हो जाता है ॥ ५-६ ॥

इस प्रसिद्ध विद्याको जाननेवाले ऐतरेय महिदासने कहा था—'[अरे रोग!] तू मुझे क्यों कष्ट देता है, जो मैं कि इस रोगद्वारा मृत्युको प्राप्त नहीं हो सकता।' वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहा था; जो इस प्रकार इस सवन-विद्याको जानता है वह (नीरोग होकर) एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहता है ॥ ७ ॥

सप्तदश खण्ड

आत्मयज्ञके अन्य अङ्ग

वह [पुरुष] जो भोजन करनेकी इच्छा करता है, जो पीनेकी इच्छा करता है और जो रममाण (प्रसन्न) नहीं होता—वही इसकी दीक्षा है। फिर वह जो खाता है, जो पीता है और जो रतिका अनुभव करता है—वह उपसदोंकी सदृशताको प्राप्त होता है। तथा वह जो हँसता है, जो भक्षण करता है और जो मैथुन करता है—वे सब स्तुतशस्त्रकी ही समानताको प्राप्त होते हैं। तथा जो तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन हैं, वे ही इसकी दक्षिणा हैं। इसीसे कहते हैं कि 'प्रसूता होगी' अथवा 'प्रसूता हुई' वह इसका पुनर्जन्म ही है; तथा मरण ही अवभृथस्नान है। घोर आङ्गिरस ऋषिने देवकीपुत्र कृष्णको यह यज्ञदर्शन सुनाकर, जिससे कि वह अन्य विद्याओंके विषयमें तृष्णाहीन

* इसमें जहाँ-जहाँ 'अमुक' शब्द आया है, वहाँ अपने पुत्रके नामको उच्चारण करना चाहिये।

हो गया था, कहा—'उसे अन्तकालमें इन तीन मन्त्रोंका जप करना चाहिये (१) तू अक्षित (अक्षय) है, (२) अच्युत (अविनाशी) है और (३) अति सूक्ष्म प्राण है।' तथा इसके विषयमें ये दो ऋचाएँ हैं। ['आदित्प्रत्नस्य रेतसः' यह एक मन्त्र है और 'उद्वयं तमसस्परि' इत्यादि दूसरा है। इनमें पहला मन्त्र इस प्रकार है—'आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि' इसका अर्थ यह है—] पुरातन कारणका प्रकाश देखते हैं; यह सर्वत्र व्याप्त प्रकाश, जो परब्रह्ममें स्थित परम तेज देदीप्यमान है, उसका है। [अब 'उद्वयं तमसस्परि' इत्यादि दूसरे मन्त्रका अर्थ करते हैं—] अज्ञानरूप अन्धकारसे अतीत उत्कृष्ट ज्योतिको देखते हुए तथा आत्मीय उत्कृष्ट तेजको देखते हुए हम सम्पूर्ण देवोंमें प्रकाशवान् सर्वोत्तम ज्योतिःस्वरूप सूर्यको प्राप्त हुए ॥१–७॥

अष्टादश खण्ड

मन और आकाशकी ब्रह्मरूपमें उपासना

'मन ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करे। यह अध्यात्मदृष्टि है। तथा 'आकाश ब्रह्म है' यह अधिदैवत दृष्टि है। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनोंका उपदेश किया गया। वह यह (मनःसंज्ञक) ब्रह्म चार पादोंवाला है। वाक् पाद है, प्राण पाद है, चक्षु पाद है और श्रोत्र पाद है। यह अध्यात्म है। अब अधिदैवत कहते हैं—अग्नि पाद है, वायु पाद है, आदित्य पाद है और दिशाएँ पाद हैं। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनोंका उपदेश किया जाता है। वाक ही ब्रह्मका चौथा पाद है; वह अग्निरूप ज्योतिसे दीप्त होता है और तपता है। जो ऐसा जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजके कारण देदीप्यमान होता और तपता है। प्राण ही मनोमय ब्रह्मका चौथा पाद है। वह वायुरूप ज्योतिसे प्रकाशित होता और तपता है। जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और तपता है। चक्षु ही मनःसंज्ञक ब्रह्मका चौथा पाद है। वह आदित्यरूप ज्योतिसे प्रकाशित होता और तपता है। जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और तपता है। श्रोत्र ही मनोरूप ब्रह्मका चौथा पाद है। वह दिशारूप ज्योतिसे प्रकाशित होता और तपता है। जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और तपता है ॥ १–६ ॥

एकोनविंश खण्ड

आदित्यकी ब्रह्मरूपमें उपासना

आदित्य ब्रह्म है—ऐसा उपदेश है; उसीकी व्याख्या की जाती है। पहले यह असत् ही था। वह सत् (कार्याभिमुख) हुआ। वह अङ्कुरित हुआ। वह एक अण्डेमें परिणत हो गया। वह एक वर्षपर्यन्त उसी प्रकार पड़ा रहा। फिर वह फूटा; वे दोनों अण्डेके खण्ड रजत और सुवर्णरूप हो गये। उनमें जो खण्ड रजत हुआ, वह यह पृथिवी है और जो सुवर्ण हुआ, वह द्युलोक है। उस अण्डेका जो जरायु (स्थूल गर्भवेष्टन) था [वही] वे पर्वत हैं, जो उल्ब (सूक्ष्म गर्भवेष्टन) था, वह मेघोंके सहित कुहरा है, जो धमनियाँ थीं, वे नदियाँ हैं तथा जो वस्तिगत जल था, वह समुद्र है। फिर उससे जो उत्पन्न हुआ, वह यह आदित्य है। उसके उत्पन्न होते ही बड़े जोरोंका शब्द हुआ तथा उसीसे सम्पूर्ण प्राणी और सारे भोग हुए हैं। इसीसे उसका उदय और अस्त होनेपर दीर्घ-शब्दयुक्त घोष उत्पन्न होते हैं तथा सम्पूर्ण प्राणी और सारे भोग भी उत्पन्न होते हैं। वह जो इस प्रकार जाननेवाला होकर आदित्यकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है [वह आदित्यरूप हो जाता है, तथा] उसके समीप शीघ्र ही सुन्दर घोष आते हैं और उसे सुख देते हैं, सुख देते हैं ॥ १–४ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

यज्ञशालामें उषस्ति

रैक्व और जानश्रुति

ॐ

चतुर्थ अध्याय

प्रथम खण्ड

राजा जानश्रुति और रैक्कका उपाख्यान

जो श्रद्धापूर्वक देनेवाला एवं बहुत दान करनेवाला था और जिसके यहाँ [दान करनेके लिये] बहुत-सा अन्न पकाया जाता था ऐसा कोई जनश्रुतके कुलमें उत्पन्न हुआ उसके पुत्रका पौत्र था। उसने; इस आशयसे कि लोग सब जगह मेरा ही अन्न खायँगे, सर्वत्र निवासस्थान (धर्मशालाएँ) बनवा दिये थे ॥ १ ॥

उसी समय [एक दिन] रात्रिमें उधरसे हंस उड़कर गये। उनमेंसे एक हंसने दूसरे हंससे कहा—'अरे ओ भल्लाक्ष ! ओ भल्लाक्ष ! देख, जानश्रुति पौत्रायणका तेज द्युलोकके समान फैला हुआ है; तू उसका स्पर्श न कर, वह तुझे भस्म न कर डाले।' उससे दूसरे [अग्रगामी] हंसने कहा—'अरे ! तू किस महत्त्वसे युक्त रहनेवाले इस राजाके प्रति इस तरह सम्मानित वचन कह रहा है ? क्या तू इसे गाड़ीवाले रैक्वके समान बतलाता है ?' [इसपर उसने पूछा—] 'यह जो गाड़ीवाला रैक्व है, कैसा है ?' 'जिस प्रकार [द्यूतक्रीडामें] कृतनामक पासेके द्वारा जीतनेवाले पुरुषके अधीन उससे निम्न श्रेणीके सारे पासे हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रजा जो कुछ सत्कर्म करती है वह सब उस (रैक्व) को प्राप्त हो जाता है। जो बात वह रैक्व जानता है, उसे जो कोई भी जानता है, उसके विषयमें भी मुझसे यह कह दिया गया' ॥ २-४ ॥

इस बातको जानश्रुति पौत्रायणने सुन लिया। [दूसरे दिन प्रातःकाल] उठते ही उसने सेवकसे कहा—'अरे भैया ! तू गाड़ीवाले रैक्वके समान मेरी स्तुति क्या करता है ?' [इसपर सेवकने पूछा—] 'यह जो गाड़ीवाला रैक्व है, कैसा है ?' [राजाने कहा—] 'जिस प्रकार कृतनामक पासेके द्वारा जीतनेवाले पुरुषके अधीन उसके निम्नवर्ती समस्त पासे हो जाते हैं, उसी प्रकार उस रैक्वको; जो कुछ भी प्रजा सत्कर्म करती है, वह सब प्राप्त हो जाता है। तथा जो कुछ (वह रैक्व) जानता है, उसे जो कोई जानता है, वह भी इस कथनद्वारा मैंने बतला दिया' ॥ ५-६ ॥

वह सेवक उसकी खोज करनेके अनन्तर 'मैं उसे नहीं पा सका' ऐसा कहता हुआ लौट आया। तब उससे राजाने कहा—'अरे ! जहाँ ब्राह्मणकी खोज की जाती है वहाँ उसके पास जा।' उसने एक छकड़ेके नीचे खाज खुजलाते हुए [रैक्वको देखा]। वह रैक्वके पास बैठ गया और बोला—'भगवन् ! क्या आप ही गाड़ीवाले रैक्व हैं ?' रैक्वने 'अरे ! हाँ, मैं ही हूँ' ऐसा कहकर स्वीकार किया। तब वह सेवक यह समझकर कि 'मैंने उसे पहचान लिया है' लौट आया ॥ ७-८ ॥

द्वितीय खण्ड

जानश्रुतिका रैक्वके पास उपदेशके लिये जाना

तब वह जानश्रुति पौत्रायण छः सौ गौएँ, एक हार और एक खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ लेकर उसके पास आया और बोला—'रैक्व ! ये छः सौ गौएँ, यह हार और यह खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ मैं आपके लिये लाया हूँ। आप इस धनको स्वीकार कीजिये और भगवन् ! आप मुझे उस देवताका उपदेश दीजिये, जिसकी आप उपासना करते हैं।' उस रैक्वने कहा—'अरे शूद्र ! गौओंके सहित यह हारयुक्त रथ तेरे ही पास रहे।' तब वह जानश्रुति पौत्रायण एक सहस्र गौएँ, एक हार, खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ और अपनी कन्या—इतना धन लेकर फिर उसके पास आया और उससे बोला—'रैक्व ! ये एक सहस्र गौएँ, यह हार, यह खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ, यह पत्नी और यह ग्राम, जिसमें कि आप रहते हैं, स्वीकार कीजिये और भगवन् ! मुझे अवश्य उपदेश कीजिये।' तब उस (राजकन्या) के मुखको ही [विद्याग्रहणका द्वार] समझते हुए रैक्वने कहा—'अरे शूद्र ! तू ये (गौएँ आदि) लाया है [सो ठीक है;] तू इस विद्याग्रहणके द्वारसे ही मुझसे भाषण कराता है।' इस प्रकार जहाँ वह रैक्व रहता था, वहाँ रैक्वपर्णनामक ग्राम महावृष देशमें प्रसिद्ध है। तब उसने उससे कहा ॥ १-५ ॥

तृतीय खण्ड

वायु और प्राणकी उपासना

वायु ही संवर्ग है। जब अग्नि बुझता है तो वायुमें ही लीन होता है, जब सूर्य अस्त होता है तो वायुमें ही लीन होता है, और जब चन्द्रमा अस्त होता है तो वायुमें ही लीन हो जाता है। जिस समय जल सूखता है वह वायुमें ही लीन

हो जाता है। वायु ही इन सब जलोंको अपनेमें लीन कर लेता है। यह अधिदैवत दृष्टि है ॥ १-२ ॥

अब अध्यात्मदर्शन कहा जाता है—प्राण ही संवर्ग है। जिस समय यह पुरुष सोता है; प्राणको ही वाक्-इन्द्रिय प्राप्त हो जाती है; प्राणको ही चक्षु, प्राणको ही श्रोत्र और प्राणको ही मन प्राप्त हो जाता है। प्राण ही इन सबको अपनेमें लीन कर लेता है। वे ये दो ही संवर्ग हैं—देवताओंमें वायु और इन्द्रियोंमें प्राण ॥ ३-४ ॥

एक बार कपिगोत्रज शौनक और कक्षसेनके पुत्र अभिप्रतारीसे, जब कि उन्हें भोजन परोसा जा रहा था, एक ब्रह्मचारीने भिक्षा माँगी; किंतु उन्होंने उसे भिक्षा नहीं दी। तब उसने कहा—'भुवनोंके रक्षक उस एक देव प्रजापतिने चार महात्माओंको ग्रस लिया है। कापेय! अभिप्रतारिन्! मनुष्य अनेक प्रकारसे निवास करते हुए उस एक देवको नहीं देखते; तथा जिसके [ब्रह्मचारीके रूपमें आये हुए भगवान्के] लिये यह अन्न है उसे ही नहीं दिया गया।' उस वाक्यका कपिगोत्रोत्पन्न शौनकने मनन किया और फिर उस [ब्रह्मचारी] के पास आकर कहा—'जो देवताओंका आत्मा, प्रजाओंका उत्पत्तिकर्ता, हिरण्यदंष्ट्र, भक्षणशील और मेधावी है, जिसकी बड़ी महिमा कही गयी है, जो स्वयं दूसरोंसे न खाया जानेवाला और जो वस्तुतः अन्न नहीं हैं उनको भी भक्षण कर जाता है, ब्रह्मचारिन्! उसीकी हम उपासना करते हैं।' [ऐसा कहकर उसने सेवकोंको आज्ञा दी कि] 'इस ब्रह्मचारीको भिक्षा दो' ॥ ५-७ ॥

तब उन्होंने उसे भिक्षा दे दी। वे ये [अग्न्यादि और वायु] पाँच [वागादिसे] अन्य हैं तथा इनसे [वागादि और प्राण] ये पाँच अन्य हैं। इस प्रकार ये सब दस होते हैं। ये दस कृत (कृतनामक पासेसे उपलक्षित द्यूत) हैं। अतः सम्पूर्ण दिशाओंमें ये अन्न ही दस कृत हैं। यह विराट् ही अन्नादी (अन्न भक्षण करनेवाला) है। उसके द्वारा यह सब देखा जाता है। जो ऐसा जानता है उसके द्वारा यह सब देख लिया जाता है और वह अन्न भक्षण करनेवाला होता है ॥८॥

चतुर्थ खण्ड

जबालापुत्र सत्यकामद्वारा गुरुकी आज्ञाका पालन

जबालाके पुत्र सत्यकामने अपनी माता जबालाको सम्बोधित करके निवेदन किया—'पूज्ये! मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक [गुरुकुलमें] निवास करना चाहता हूँ; बता मैं किस गोत्रवाला हूँ?' उसने उससे कहा—'हे बेटा! तू जिस गोत्रवाला है उसे मैं नहीं जानती। युवावस्थामें, जब कि मैं बहुत कार्य करनेवाली परिचारिणी थी, मैंने तुझे प्राप्त किया था। मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्रवाला है? मैं तो जबाला नामवाली हूँ और तू सत्यकाम नामवाला है। अतः तू अपनेको 'सत्यकाम जाबाल' बतला देना।' उसने हारिद्रुमत गौतमके पास जाकर कहा—'मैं पूज्य श्रीमान्के यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करूँगा; इसीसे आपकी सन्निधिमें आया हूँ।' उससे [गौतमने] कहा—'सोम्य! तू किस गोत्रवाला है?' उसने कहा—"भगवन्! मैं जिस गोत्रवाला हूँ उसे नहीं जानता। मैंने मातासे पूछा था। उसने मुझे यह उत्तर दिया कि 'युवावस्थामें, जब कि मैं बहुत काम-धन्धा करनेवाली परिचारिणी थी, मैंने तुझे प्राप्त किया था। मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्रवाला है? मैं जबाला नामवाली हूँ और तू सत्यकाम नामवाला है।' अतः गुरो! मैं सत्यकाम जाबाल हूँ।" उससे गौतमने कहा—'ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता। अतः सोम्य! तू समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन कर दूँगा, क्योंकि तूने सत्यका त्याग नहीं किया।' तब उसका उपनयन कर चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा—'सोम्य! तू इन गौओंके पीछे जा।' उन्हें ले जाते समय उसने कहा—'इनकी एक सहस्र गायें हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा।' जबतक कि वे एक सहस्र हुईं वह बहुत वर्षोंतक वनमें ही रहा ॥ १-५ ॥

पञ्चम खण्ड

सत्यकामको वृषभद्वारा ब्रह्मके एक पादका उपदेश

तब उससे साँडने 'सत्यकाम!' ऐसा कहा। उसने 'भगवन्!' ऐसा उत्तर दिया। [वह बोला—] 'हे सोम्य! हम एक सहस्र हो गये हैं, अब तू हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दे।' [साँडने कहा] '[क्या] मैं तुझे ब्रह्मका एक पाद बतलाऊँ?' तब [सत्यकामने] कहा—'भगवन्! मुझे [अवश्य] बतलावें।' साँड उससे बोला—'पूर्व दिक्कला,

पश्चिम दिक्कला, दक्षिण दिक्कला और उत्तर दिक्कला, हे सोम्य ! यह ब्रह्मका 'प्रकाशवान्' नामक चार कलाओंवाला पाद है।' वह, जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'प्रकाशवान्' इस गुणसे युक्त उपासना करता है, इस लोकमें प्रकाशवान् होता है और प्रकाशवान् लोकोंको जीत लेता है ॥ १–३ ॥

षष्ठ खण्ड

अग्निद्वारा द्वितीय पादका उपदेश

'अग्नि तुझे [दूसरा] पाद बतलावेगा'—ऐसा कहकर वृषभ मौन हो गया। दूसरे दिन उसने गौओंको गुरुकुलकी ओर हाँक दिया। वे सायंकालमें जहाँ एकत्रित हुईं वहीं अग्नि प्रज्वलित कर गौओंको रोक समिधाधान कर अग्निके पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। उससे अग्निने 'सत्यकाम !' ऐसा कहा। तब उसने 'भगवन् !' ऐसा प्रत्युत्तर दिया। 'सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका एक पाद बतलाऊँ ?' [अग्निने कहा, तब] [सत्यकामने कहा—] 'भगवन् ! मुझे [अवश्य] बतलावें।' तब उसने उससे कहा—'पृथ्वी कला है, अन्तरिक्ष कला है, द्युलोक कला है और समुद्र कला है। सोम्य ! यह ब्रह्मका चतुष्कल पाद 'अनन्तवान्' नामवाला है।' वह, जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'अनन्तवान्' इस गुणसे युक्त उपासना करता है, इस लोकमें अनन्तवान् होता है और अनन्तवान् लोकोंको जीत लेता है।१–४।

सप्तम खण्ड

हंसद्वारा तृतीय पादका उपदेश

'हंस तुझे [तीसरा] पाद बतलावेगा' ऐसा [कहकर अग्नि निवृत्त हो गया]। दूसरे दिन उसने गौओंको आचार्यकुलकी ओर हाँक दिया। वे सायङ्कालमें जहाँ एकत्रित हुईं वह उसी जगह अग्नि प्रज्वलित कर, गौओंको रोक और समिधाधान कर अग्निके पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठा। तब हंसने उसके समीप उतरकर कहा—'सत्यकाम !' उसने उत्तर दिया—'भगवन् !' [हंसने कहा—] 'सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका पाद बतलाऊँ !' [सत्यकाम बोला—] 'भगवन् ! मुझे बतलावें।' तब वह उससे बोला—'अग्नि कला है, सूर्य कला है, चन्द्रमा कला है और विद्युत् कला है। सोम्य ! यह ब्रह्मका चतुष्कल पाद 'ज्योतिष्मान्' नामवाला है।' जो कोई इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादको 'ज्योतिष्मान्' ऐसे गुणसे युक्त उपासना करता है, वह इस लोकमें ज्योतिष्मान् होता है तथा ज्योतिष्मान् लोकोंको जीत लेता है ॥ १–४ ॥

अष्टम खण्ड

मद्गुद्वारा चतुर्थ पादका उपदेश

'मद्गु तुझे [चौथा] पाद बतलावेगा' ऐसा [कहकर हंस चला गया]। दूसरे दिन उसने गौओंको गुरुकुलकी ओर हाँक दिया। वे सायंकालमें जहाँ एकत्रित हुईं वहीं अग्नि प्रज्वलित कर गायोंको रोक समिधाधान कर अग्निके पीछे पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। मद्गुने उसके पास उतरकर कहा—'सत्यकाम !' तब उसने उत्तर दिया—'भगवन् !' [मद्गु बोला—] 'सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका पाद बतलाऊँ ?' [सत्यकाम बोला—] 'भगवन् ! मुझे अवश्य बतलावें।' वह उससे बोला—'प्राण कला है, चक्षु कला है, श्रोत्र कला है और मन कला है। सोम्य ! यह ब्रह्मका चतुष्कल पाद 'आयतनवान्' नामवाला है।' वह, जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'आयतनवान्' ऐसे गुणसे युक्त उपासना करता है, इस लोकमें आयतनवान् होता है और आयतनवान् लोकोंको जीत लेता है ॥ १–४ ॥

नवम खण्ड

सत्यकामका आचार्यसे पुनः उपदेश-ग्रहण

सत्यकाम आचार्यकुलमें पहुँचा। उससे आचार्यने कहा—'सत्यकाम !' तब उसने उत्तर दिया—'भगवन् !' 'सोम्य ! तू ब्रह्मवेत्ता-सा दिखलायी दे रहा है; तुझे किसने उपदेश दिया है ?' ऐसा [आचार्यने पूछा]। तब उसने उत्तर दिया,

'मनुष्योंसे भिन्न [देवताओं] ने मुझे उपदेश दिया है; अब मेरी इच्छाके अनुसार आप पूज्यपाद ही मुझे विद्याका उपदेश करें। मैंने श्रीमान्-जैसे ऋषियोंसे सुना है कि आचार्यसे जानी गयी विद्या ही अतिशय साधुताको प्राप्त होती है।' तब आचार्यने उसे उसी विद्याका उपदेश किया। उसमें कुछ भी न्यून नहीं हुआ, न्यून नहीं हुआ [अर्थात् उसकी विद्या पूर्ण ही रही] ॥ १-३ ॥

दशम खण्ड

उपकोसलको अग्नियोंद्वारा ब्रह्मविद्याका उपदेश

उपकोसल नामसे प्रसिद्ध कमलका पुत्र सत्यकाम जाबालके यहाँ ब्रह्मचर्य ग्रहण करके रहता था। उसने बारह वर्षतक उस आचार्यके अग्नियोंकी सेवा की; किंतु आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियोंका तो समावर्तन संस्कार कर दिया, किंतु केवल इसीका नहीं किया। आचार्यसे उसकी भार्याने कहा—'यह ब्रह्मचारी खूब तपस्या कर चुका है, इसने अच्छी तरह अग्नियोंकी सेवा की है। देखिये, अग्नियाँ आपकी निन्दा न करें। अतः इसे विद्याका उपदेश कर दीजिये।' किंतु वह उसे उपदेश किये बिना ही बाहर चला गया। उस उपकोसलने मानसिक खेदसे अनशन करनेका निश्चय किया। उससे आचार्यपत्नीने कहा—'अरे ब्रह्मचारिन्! तू भोजन कर, क्यों नहीं भोजन करता?' वह बोला—'माताजी! इस मनुष्यमें अनेक ओर जानेवाली बहुत-सी कामनाएँ रहती हैं। मैं व्याधियोंसे परिपूर्ण हूँ, इसलिये भोजन नहीं करूँगा' ॥ १-३ ॥

फिर अग्नियोंने एकत्रित होकर कहा—'यह ब्रह्मचारी तपस्या कर चुका है; इसने हमारी अच्छी तरह सेवा की है। अच्छा, हम इसे उपदेश करें' ऐसा निश्चयकर वे उससे बोले—'प्राण' ब्रह्म है, 'क' ब्रह्म है, 'ख' ब्रह्म है। वह बोला—'यह तो मैं जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है; किंतु 'क' और 'ख' को नहीं जानता।' तब वे बोले— 'निश्चय जो 'क' है वही 'ख' है और जो 'ख' है वही 'क' है।' इस प्रकार उन्होंने उसे प्राण और उसके [आश्रयभूत] आकाशका उपदेश किया ॥ ४-५ ॥

एकादश खण्ड

अकेले गार्हपत्याग्निद्वारा शिक्षा

फिर उसे गार्हपत्याग्निने शिक्षा दी—'पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य—ये मेरे चार शरीर हैं। आदित्यके अन्तर्गत जो यह पुरुष दिखायी देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।' वह पुरुष, जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, पापकर्मोंको नष्ट कर देता है, अग्निलोकवान् होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है तथा इसके उत्तरवर्ती पुरुष क्षीण नहीं होते। तथा जो इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है उसका हम इस लोक और परलोकमें भी पालन करते हैं ॥ १-२ ॥

द्वादश खण्ड

अन्वाहार्यपचन नामक दूसरे अग्निद्वारा शिक्षा

फिर उसे अन्वाहार्यपचनने शिक्षा दी—'जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा—ये मेरे चार शरीर हैं। चन्द्रमामें जो यह पुरुष दिखायी देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।' वह पुरुष, जो इसे इस प्रकार जानकर इस (चार भागोंमें विभक्त अग्नि) की उपासना करता है, पापकर्मोंका नाश कर देता है, लोकवान् होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है और उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है। उसके पीछे होनेवाले पुरुष क्षीण नहीं होते तथा जो इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है हम उसका इस लोक और परलोकमें भी पालन करते हैं ॥ १-२ ॥

त्रयोदश खण्ड

आहवनीय-अग्निद्वारा शिक्षा

तदनन्तर उसे आहवनीयाग्निने उपदेश किया—'प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत्—ये मेरे चार शरीर हैं। यह जो विद्युत्में पुरुष दिखायी देता है, वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।' वह पुरुष, जो इसे इस प्रकार जानकर इस (चार भागोंमें विभक्त अग्नि) की उपासना करता है, पापकर्मको नष्ट कर देता है, लोकवान् होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है तथा उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है। जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, उसके पश्चाद्वर्ती पुरुष क्षीण नहीं होते तथा उसका हम इस लोक और परलोकमें भी पालन करते हैं ॥ १-२ ॥

चतुर्दश खण्ड

आचार्य और उपकोसलका संवाद

उन्होंने कहा—'उपकोसल ! सोम्य ! यह अपनी विद्या और आत्मविद्या तेरे प्रति कही। आचार्य तुझे इनके फलकी प्राप्तिका मार्ग बतलायेंगे।' तदनन्तर उसके आचार्य आये। उससे आचार्यने कहा—'उपकोसल !' उसने 'भगवन् !' ऐसा उत्तर दिया। [आचार्य बोले—] 'सोम्य ! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान जान पड़ता है; तुझे किसने उपदेश किया है ?' 'गुरुजी ! मुझे कौन उपदेश करता' ऐसा कहकर वह मानो उसे छिपाने लगा। [फिर अग्नियोंकी ओर संकेत करके बोला—] 'निश्चय इन्हींने उपदेश किया है जो अन्य प्रकारके थे और अब ऐसे हैं'—ऐसा कहकर उसने अग्नियोंको बतलाया। [तब आचार्यने पूछा—] 'सोम्य ! इन्होंने तुझे क्या बतलाया है ?' तब उसने 'यह बतलाया है' ऐसा कहकर उत्तर दिया। [इसपर आचार्यने कहा—] 'हे सोम्य ! इन्होंने तो तुझे केवल लोकोंका ही उपदेश किया है; अब मैं तुझे वह बतलाता हूँ जिसे जाननेवालेसे पाप-कर्मका उसी प्रकार सम्बन्ध नहीं होता जैसे कमलपत्रसे जलका सम्बन्ध नहीं होता।' वह बोला—'भगवन् ! मुझे बतलावें।' तब आचार्य उससे बोले ॥ १–३ ॥

पञ्चदश खण्ड

आचार्यद्वारा उपदेश; ब्रह्मवेत्ताकी गतिका वर्णन

'यह जो नेत्रमें पुरुष दिखायी देता है, यह आत्मा है'—ऐसा उसने कहा 'यह अमृत है, अभय है और ब्रह्म है। उस (पुरुषके स्थानरूप नेत्र) में यदि घृत या जल डाले तो वह पलकोंमें ही चला जाता है। इसे 'संयद्वाम' ऐसा कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओरसे इसीको प्राप्त होती हैं; जो इस प्रकार जानता है, उसे सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओरसे प्राप्त होती हैं। यही वामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण वामोंका वहन करता है। जो ऐसा जानता है, वह सम्पूर्ण वामोंको वहन करता है। यही भामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण लोकोंमें भासमान होता है। जो ऐसा जानता है, वह सम्पूर्ण लोकोंमें भासमानी होता है ॥ १–४ ॥

अब [श्रुति पूर्वोक्त ब्रह्मवेत्ताकी गति बतलाती है—] इसके लिये शवकर्म करें अथवा न करें—वह अर्चि-अभिमानी देवताको ही प्राप्त होता है। फिर अर्चि-अभिमानी देवतासे दिवसाभिमानी देवताको, दिवसाभिमानीसे शुक्लपक्षाभिमानी देवताको और शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे उत्तरायणके छः मासोंको प्राप्त होता है। मासोंसे संवत्सरको, संवत्सरसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होता है। वहाँसे अमानव पुरुष इसे ब्रह्मको प्राप्त करा देता है। यह देवमार्ग—ब्रह्ममार्ग है। इससे जानेवाले पुरुष इस मानव-मण्डलमें नहीं लौटते, नहीं लौटते ॥ ५ ॥

षोडश खण्ड

पवनकी यज्ञरूपमें उपासना

यह जो चलता है निश्चय यज्ञ ही है। यह चलता हुआ निश्चय ही इस सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करता है; क्योंकि यह गमन करता हुआ इस समस्त संसारको पवित्र कर देता है इसलिये यही यज्ञ है। मन और वाक्—ये दोनों इसके मार्ग हैं। इनमेंसे एक मार्गका ब्रह्मा मनके द्वारा संस्कार करता है तथा होता, अध्वर्यु और उद्गाता ये वाणीद्वारा दूसरे मार्गका संस्कार करते हैं। यदि प्रातरनुवाकके आरम्भ हो जानेपर परिधानीया ऋचाके उच्चारणसे पूर्व ब्रह्मा बोल उठता है तो वह केवल एक मार्गका ही संस्कार करता है, दूसरा मार्ग नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार एक पैरसे चलनेवाला पुरुष अथवा एक पहियेसे चलनेवाला रथ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार इसका यज्ञ भी नाशको प्राप्त हो जाता है। यज्ञके नष्ट होनेके पश्चात् यजमानका नाश होता है; इस प्रकारका यज्ञ करनेपर वह और भी अधिक पापी हो जाता है। और यदि प्रातरनुवाकका आरम्भ होनेके अनन्तर परिधानीया ऋचासे पूर्व ब्रह्मा नहीं बोलता है तो समस्त ऋत्विक् मिलकर दोनों ही मार्गोंका संस्कार कर देते हैं। तब कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार दोनों पैरोंसे चलनेवाला पुरुष अथवा दोनों पहियोंसे चलनेवाला रथ स्थित रहता है इसी प्रकार इसका यज्ञ स्थित रहता है, यज्ञके स्थित रहनेपर यजमान भी स्थित रहता है। वह ऐसा यज्ञ करके श्रेष्ठ होता है ॥ १—५ ॥

सप्तदश खण्ड

यज्ञमें योग्य ब्रह्माकी आवश्यकता

प्रजापतिने लोकोंको लक्ष्य बनाकर ध्यानरूप तप किया। उन तप किये जाते हुए लोकोंसे उसने रस निकाले। पृथ्वीसे अग्नि, अन्तरिक्षसे वायु और द्युलोकसे आदित्यको निकाला। फिर उसने इन तीन देवताओंको लक्ष्य करके तप किया। उन तप किये जाते हुए देवताओंसे उसने रस निकाले। अग्निसे ऋक्, वायुसे यजुः और आदित्यसे साम ग्रहण किये। तदनन्तर उसने इस त्रयीविद्याको लक्ष्य करके तप किया। उस तप की जाती हुई विद्यासे उसने रस निकाले। ऋक-श्रुतियोंसे भूः, यजुःश्रुतियोंसे भुवः तथा सामश्रुतियोंसे स्वः इन रसोंको ग्रहण किया। उस यज्ञमें यदि ऋक्-श्रुतियोंके सम्बन्धसे क्षत हो तो 'भूः स्वाहा' ऐसा कहकर गार्हपत्याग्निमें हवन करे। इस प्रकार वह ऋचाओंके रससे ऋचाओंके वीर्यद्वारा ऋक्सम्बन्धी यज्ञके क्षतकी पूर्ति करता है। और यदि यजुःश्रुतियोंके कारण क्षत हो तो 'भुवः स्वाहा' ऐसा कहकर दक्षिणाग्निमें हवन करे। इस प्रकार वह यजुओंके रससे यजुओंके वीर्यद्वारा यज्ञके यजुःसम्बन्धी क्षतकी पूर्ति करता है। और यदि सामश्रुतियोंके कारण क्षत हो तो 'स्वः स्वाहा' ऐसा कहकर आहवनीयाग्निमें हवन करे। इस प्रकार वह सामके रससे सामके वीर्यद्वारा यज्ञके सामसम्बन्धी क्षतिकी पूर्ति करता है। इस विषयमें ऐसा समझना चाहिये कि जिस प्रकार लवण (क्षार) से सुवर्णको, सुवर्णसे चाँदीको, चाँदीसे त्रपुको, त्रपुसे सीसेको, सीसेसे लोहेको और लोहेसे काष्ठको अथवा चमड़ेसे काष्ठको जोड़ा जाता है। उसी प्रकार इन लोक, देवता और त्रयीविद्याके वीर्यसे यज्ञके क्षतका प्रतिसन्धान किया जाता है। जिसमें इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ निश्चय ही मानो ओषधियोंद्वारा संस्कृत होता है। जहाँ इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ उदक्प्रवण होता है। इस प्रकार जाननेवाले ब्रह्माके उद्देश्यसे ही यह गाथा प्रसिद्ध है कि 'जहाँ-जहाँ कर्म आवृत्त होता है वहीं वह पहुँच जाता है' ॥ १—९ ॥

एक मानव ब्रह्मा ही ऋत्विक् है। जिस प्रकार युद्धमें घोड़ी योद्धाओंकी रक्षा करती है उसी प्रकार ऐसा जाननेवाला ब्रह्मा यज्ञ, यजमान और अन्य समस्त ऋत्विजोंकी भी सब ओरसे रक्षा करता है। अतः इस प्रकार जाननेवालेको ही ब्रह्मा बनावे, ऐसा न जाननेवालेको नहीं, ऐसा न जाननेवाले-को नहीं ॥ १० ॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

ॐ
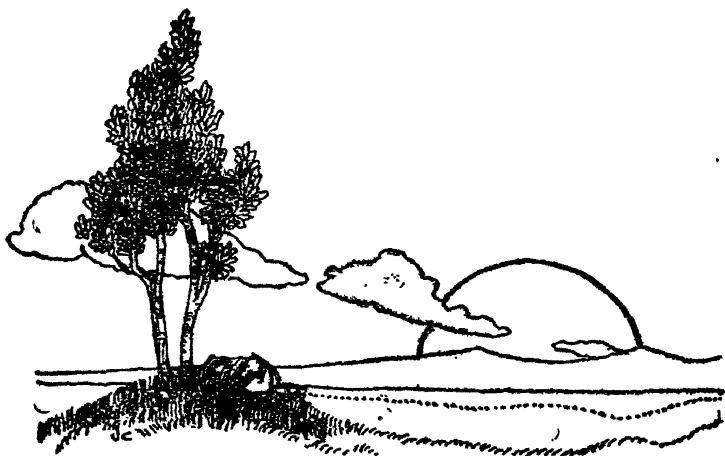
पञ्चम अध्याय

प्रथम खण्ड

प्राणकी सर्वश्रेष्ठता

जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है, वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। निश्चय ही प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो कोई वसिष्ठको जानता है, वह स्वजातीयोंमें वसिष्ठ होता है; निश्चय वाक् ही वसिष्ठ है। जो कोई प्रतिष्ठाको जानता है, वह इस लोक और परलोकमें प्रतिष्ठित होता है; चक्षु ही प्रतिष्ठा है। जो कोई सम्पद्को जानता है, उसे दैव और मानुष भोग सम्यक् प्रकारसे प्राप्त होते हैं। श्रोत्र ही सम्पद् है। जो आयतनको जानता है, वह स्वजातीयोंका आयतन—आश्रय होता है। निश्चय मन ही आयतन है ॥ १–५ ॥

एक बार प्राण (इन्द्रियाँ) 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार अपनी श्रेष्ठताके लिये विवाद करने लगे। उन प्राणोंने अपने पिता प्रजापतिके पास जाकर कहा—'भगवन्! हममें कौन श्रेष्ठ है?' प्रजापतिने उनसे कहा—'तुममेंसे जिसके उत्क्रमण करनेपर शरीर अत्यन्त पापिष्ठ-सा दिखायी देने लगे, वही तुममें श्रेष्ठ है।' तब वाक्-इन्द्रियने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार गूँगेलोग बिना बोले प्राणसे प्राणनक्रिया करते, नेत्रसे देखते, कानसे सुनते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे।' ऐसा सुनकर वाक्-इन्द्रियने शरीरमें प्रवेश किया। फिर चक्षुने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार अन्धेलोग बिना देखे प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, कानसे सुनते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे।' ऐसा सुनकर चक्षु-ने प्रवेश किया। तदनन्तर श्रोत्रने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार बहरे मनुष्य बिना सुने प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे।' यह सुनकर श्रोत्रने शरीरमें प्रवेश किया। तत्पश्चात् मनने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष प्रवास कर फिर लौटकर कहा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार बच्चे, जिनका कि मन विकसित नहीं होता, प्राणसे प्राणनक्रिया करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते और कानसे सुनते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे।' यह सुनकर मनने भी प्रवेश किया। फिर प्राणने उत्क्रमण करनेकी इच्छा की। उसने, जिस प्रकार अच्छा घोड़ा अपने पैर बाँधनेके कीलोंको उखाड़ डालता है, उसी प्रकार अन्य प्राणोंको भी उखाड़ दिया। तब उन सबने उसके सामने जाकर कहा—'भगवन्! आप [हमारे स्वामी] रहें, आप ही हम सबमें श्रेष्ठ हैं, आप उत्क्रमण न करें' ॥ ६–१२ ॥

फिर उससे वाक्-इन्द्रियने कहा—'मैं जो वसिष्ठ हूँ सो तुम्हीं वसिष्ठ हो।' तदनन्तर उससे चक्षुने कहा—'मैं जो प्रतिष्ठा हूँ सो तुम्हीं प्रतिष्ठा हो।' फिर उससे श्रोत्रने कहा—'मैं जो सम्पद् हूँ सो तुम्हीं सम्पद् हो।' तत्पश्चात् उससे मन बोला—'मैं जो आयतन हूँ, सो तुम्हीं आयतन हो।' [लोकमें समस्त इन्द्रियोंको] न वाक्, न चक्षु, न श्रोत्र और न मन ही कहते हैं; परंतु 'प्राण' ऐसा कहते हैं, क्योंकि ये सब प्राण ही हैं ॥ १३–१५ ॥

द्वितीय खण्ड

महत्त्वप्राप्तिके लिये मन्थोपासना

उसने कहा—'मेरा अन्न क्या होगा?' तब वागादिने कहा—'कुत्तों और पक्षियोंसे लेकर सब जीवोंका यह जो कुछ अन्न है [सब तुम्हारा अन्न है]', सो यह सब अन (प्राण) का अन्न है। 'अन' यह प्राणका प्रत्यक्ष नाम है। इस प्रकार जाननेवालेके लिये भी कुछ अनन्न (अभक्ष्य) नहीं होता है। उसने कहा—'मेरा वस्त्र क्या होगा?' तब वागादि बोले—'जल'। इसीसे भोजन करनेवाले पुरुष भोजनके पूर्व और पश्चात् इसका जलसे आच्छादन करते हैं। ऐसा करनेसे वह वस्त्र प्राप्त करनेवाला और अनग्न होता है ॥ १-२ ॥

उस इस (प्राणदर्शन) को सत्यकाम जाबालने वैयाघ्रपद्य गो-श्रुतिके प्रति निरूपित करके कहा—'यदि इसे सूखे ठूँठके प्रति कहे तो उसमें शाखा उत्पन्न हो जायगी और पत्ते फूट आवेंगे' ॥ ३ ॥

अब यदि वह महत्त्वको प्राप्त होना चाहे तो उसे

अमावस्याको दीक्षित होकर पूर्णिमाकी रात्रिको सर्वौषधके दधि और मधुसम्बन्धी मन्थका मन्थन कर 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा' ऐसा कहते हुए अग्निमें घृतका हवन कर मन्थपर उसका अवशेष डालना चाहिये। इसी प्रकार 'वसिष्ठाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्राव डाले; 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्राव डाले; 'संपदे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्राव डाले तथा 'आयतनाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्राव डाले। तदनन्तर अग्निसे कुछ दूर हटकर मन्थको अञ्जलिमें ले वह 'अमो नामासि' इत्यादि मन्त्रका जप करे। [अमो नामासि आदि मन्त्रका अर्थ—] 'हे मन्थ ! तू 'अम' नामवाला है, क्योंकि यह सारा जगत् [अपने प्राणभूत] तेरे साथ अवस्थित है। वह तू ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, राजा (दीप्तिमान्) और सबका अधिपति है। वह तू मुझे ज्येष्ठत्व, श्रेष्ठत्व, राज्य और आधिपत्यको प्राप्त करा। मैं ही यह सर्वरूप हो जाऊँ।' फिर वह इस ऋचासे* पादशः [उस मन्थका] भक्षण करता है। 'तत्सवितुर्वृणीमहे' ऐसा कहकर भक्षण करता है; 'वयं देवस्य भोजनम्' ऐसा कहकर भक्षण करता है; 'श्रेष्ठꣳसर्वधातमम्' ऐसा कहकर भोजन करता है; तथा 'तुरं भगस्य धीमहि' ऐसा कहकर कंस (कटोरे) या चमस (चम्मच) को धोकर सारा मन्थलेप पी जाता है। तत्पश्चात् वह अग्निके पीछे चर्म अथवा स्थण्डिल (पवित्र यज्ञभूमि) पर वाणीका संयम कर [अनिष्ट स्वप्नदर्शनसे] अभिभूत न होता हुआ शयन करता है। उस समय यदि वह [स्वप्नमें] स्त्रीको देखे तो ऐसा समझे कि कर्म सफल हो गया। इस विषयमें यह श्लोक है—जिस समय काम्यकर्मोंमें स्वप्नमें स्त्रीको देखे तो उस स्वप्न-दर्शनके होनेपर उस कर्ममें समृद्धि जाने ॥ ४–८ ॥

तृतीय खण्ड

श्वेतकेतु और प्रवाहणका संवाद; श्वेतकेतुके पिताका राजासे उपदेश माँगना

आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालदेशीय लोगोंकी सभामें आया। उससे जीवलके पुत्र प्रवाहणने कहा—'कुमार ! क्या पिताने तुझे शिक्षा दी है ?' इसपर उसने कहा—'हाँ, भगवन् !' ॥ १ ॥

'क्या तुझे मालूम है कि इस लोकसे जानेपर प्रजा कहाँ जाती है ?' [श्वेतकेतु—] 'भगवन् ! नहीं।' [प्रवाहण—] 'क्या तू जानता है कि वह फिर इस लोकमें कैसे आती है ?' [श्वेतकेतु—] 'नहीं, भगवन् !' [प्रवाहण—] 'देवयान और पितृयान—इन दोनों मार्गोंका पारस्परिक वियोगस्थान तुझे मालूम है ?' [श्वेतकेतु—] 'नहीं भगवन् !' [प्रवाहण—] 'तुझे मालूम है, यह पितृलोक भरता क्यों नहीं है ?' [श्वेतकेतु—] 'भगवन् ! नहीं।' [प्रवाहण—] 'क्या तू जानता है कि पाँचवीं आहुतिके हवन कर दिये जानेपर आप (सोमघृतादि रस) 'पुरुष' संज्ञाको कैसे प्राप्त होते हैं ?' [श्वेतकेतु—] 'नहीं, भगवन् ! नहीं।' 'तो फिर तू अपनेको 'मुझे शिक्षा दी गयी है' ऐसा क्यों कहता था ? जो इन बातोंको नहीं जानता वह अपनेको शिक्षित कैसे कह सकता है ?' तब वह त्रस्त होकर अपने पिताके स्थानपर आया और उससे बोला—'श्रीमान्‌ने मुझे शिक्षा दिये बिना ही कह दिया था कि मैंने तुझे शिक्षा दे दी है। उस क्षत्रियबन्धुने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे; किंतु मैं उनमेंसे एकका भी विवेचन नहीं कर सका।' पिताने कहा—'तुमने उस समय (आते ही) जैसे ये प्रश्न मुझे सुनाये हैं उनमेंसे मैं एकको भी नहीं जानता। यदि मैं इन्हें जानता होता तो तुम्हें क्यों न बतलाता ?' ॥ २—५ ॥

तब वह गौतम गोत्रोत्पन्न ऋषि राजा (जैबलि) के स्थानपर आया। राजाने अपने यहाँ आये हुए उसकी पूजा की। [दूसरे दिन] प्रातःकाल होते ही राजाके सभामें पहुँचनेपर वह गौतम उसके पास गया। राजाने उससे कहा—'भगवन् गौतम ! आप मनुष्यसम्बन्धी धनका वर माँग लीजिये।' उसने कहा—'राजन् ! ये मनुष्यसम्बन्धी धन आपहीके पास रहें; आपने मेरे पुत्रके प्रति जो बात प्रश्नरूपसे कही थी वही मुझे बतलाइये।' तब वह सङ्कटमें पड़ गया। उसे 'यहाँ चिरकालतक रहो' ऐसी आज्ञा दी, और उससे कहा—'गौतम ! जिस प्रकार तुमने मुझसे कहा है [उससे तुम यह समझो कि] पूर्वकालमें तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणोंके पास नहीं गयी। इसीसे सम्पूर्ण लोकोंमें [इस विद्याद्वारा] क्षत्रियोंका ही [शिष्योंके प्रति] अनुशासन होता रहा है।' ऐसा कहकर वह गौतमसे बोला—॥ ६—७ ॥

* इस ऋचाका अर्थ इस प्रकार है—'हम प्रकाशमान सविताके उस सर्वविषयक श्रेष्ठतम भोजनकी प्रार्थना करते हैं और शीघ्र ही सविता देवताके स्वरूपका ध्यान करते हैं।'

चतुर्थ खण्ड

द्युलोककी अग्निके रूपमें उपासना

हे गौतम ! यह प्रसिद्ध द्युलोक ही अग्नि है । उसका आदित्य ही समिध् है; किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) हैं । उस इस द्युलोकरूप अग्निमें देवगण श्रद्धाका हवन करते हैं । उस आहुतिसे सोम राजाकी उत्पत्ति होती है ॥ १-२ ॥

पञ्चम खण्ड

पर्जन्यकी अग्निके रूपमें उपासना

गौतम ! पर्जन्य ही अग्नि है; उसका वायु ही समिध् है, बादल धूम है, विद्युत् ज्वाला है, वज्र अङ्गार है तथा गर्जन विस्फुलिङ्ग हैं । उस अग्निमें देवगण राजा सोमका हवन करते हैं; उस आहुतिसे वर्षा होती है ॥ १-२ ॥

षष्ठ खण्ड

पृथिवीकी अग्निके रूपमें उपासना

गौतम ! पृथिवी ही अग्नि है । उसका संवत्सर ही समिध् है, आकाश धूम है, रात्रि ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गारे हैं तथा अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं । उस इस अग्निमें देवगण वर्षाका हवन करते हैं; उस आहुतिसे अन्न होता है ॥१-२॥

सप्तम खण्ड

पुरुषकी अग्निके रूपमें उपासना

गौतम ! पुरुष ही अग्नि है । उसकी वाक् ही समिध् है, प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अङ्गारे हैं और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं । उस इस अग्निमें देवगण अन्नका होम करते हैं । उस आहुतिसे वीर्य उत्पन्न होता है ॥ १-२ ॥

अष्टम खण्ड

स्त्रीकी अग्निके रूपमें उपासना

गौतम ! स्त्री ही अग्नि है । उसका उपस्थ ही समिध् है, पुरुष जो उपमन्त्रण करता है वह धूम है, योनि ज्वाला है तथा जो भीतरकी ओर करता है, वह अङ्गारे हैं और उससे जो सुख होता है, वह विस्फुलिङ्ग हैं । उस इस अग्निमें देवगण वीर्यका हवन करते हैं; उस आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है ॥ १-२ ॥

नवम खण्ड

पाँचवीं आहुतिसे 'पुरुष' की उत्पत्ति

इस प्रकार पाँचवीं आहुतिके दिये जानेपर आप 'पुरुष' शब्दवाची हो जाते हैं । वह जरायुसे आवृत हुआ गर्भ दस या नौ महीने अथवा जबतक पूर्णाङ्ग नहीं होता तबतक माताकी कुक्षिके भीतर ही शयन करनेके अनन्तर फिर उत्पन्न होता है । इस प्रकार उत्पन्न होनेपर वह आयुपर्यन्त जीवित रहता है । फिर मरनेपर कर्मवश परलोकको प्रस्थित हुए उस जीवको अग्निके प्रति ही ले जाते हैं, जहाँसे कि वह आया था और जिससे उत्पन्न हुआ था ॥ १-२ ॥

दशम खण्ड

जीवोंकी त्रिविध गति

वे जो इस प्रकार जानते हैं तथा वे जो वनमें श्रद्धा और तप इनकी उपासना करते हैं [प्राणप्रयाणके अनन्तर] अर्चि-अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं; अर्चि-अभिमानी देवताओंसे दिवसाभिमानी देवताओंको; दिवसाभिमानियोंसे

शुक्लपक्षाभिमानी देवताओंको; शुक्लपक्षाभिमानियोंसे जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तरकी ओर जाता है, उन छः महीनोंको; उन महीनोंसे संवत्सरको; संवत्सरसे आदित्यको; आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होते हैं। वहाँ एक अमानव पुरुष है, वह उन्हें ब्रह्मको प्राप्त करा देता है। यह देवयान-मार्ग है ॥ १-२ ॥

तथा जो ये गृहस्थलोग ग्राममें इष्ट, पूर्त और दत्त—ऐसी उपासना करते हैं वे धूमको प्राप्त होते हैं; धूमसे रात्रिको; रात्रिसे कृष्णपक्षको तथा कृष्णपक्षसे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण मार्गसे जाता है उनको प्राप्त होते हैं। ये लोग संवत्सरको प्राप्त नहीं होते। दक्षिणायनके महीनोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको और आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। यह चन्द्रमा राजा सोम है। वह देवताओंका अन्न है, देवतालोग उसका भक्षण करते हैं। वहाँ कर्मोंका क्षय होनेतक रहकर वे फिर इसी मार्गसे जिस प्रकार गये थे उसी प्रकार लौटते हैं। [वे पहले] आकाशको प्राप्त होते हैं और आकाशसे वायुको, वायु होकर वे धूम होते हैं और धूम होकर अभ्र होते हैं। वह अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है। तब वे जीव इस लोकमें धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल और उड़द आदि होकर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह निष्क्रमण निश्चय ही अत्यन्त कष्टप्रद है। उस अन्नको जो-जो भक्षण करता है और जो-जो वीर्यसेचन करता है तद्रूप ही वह जीव हो जाता है ॥ ३–६ ॥

उन (अनुशयी जीवों) में जो अच्छे आचरणवाले होते हैं वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं। वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं तथा जो अशुभ आचरणवाले होते हैं वे तत्काल अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं। वे कुत्तेकी योनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

इनमेंसे वे किसी मार्गद्वारा नहीं जाते। वे ये क्षुद्र और बारंबार आने-जानेवाले प्राणी होते हैं। 'उत्पन्न होओ और मरो' यही उनका तृतीय स्थान होता है। इसी कारण यह परलोक नहीं भरता। अतः [इस संसारगतिसे] घृणा करनी चाहिये। इस विषयमें यह मन्त्र है—सुवर्णका चोर, मद्य पीनेवाला, गुरुस्त्रीगामी, ब्रह्महत्यारा—ये चारों पतित होते हैं और पाँचवाँ उनके साथ संसर्ग करनेवाला भी। किंतु जो इस प्रकार इन पञ्चाग्नियोंको जानता है वह उनके साथ आचरण (संसर्ग) करता हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता। वह शुद्ध पवित्र और पुण्यलोकका भागी होता है, जो इस प्रकार जानता है, जो इस प्रकार जानता है ॥ ८–१० ॥

एकादश खण्ड

प्राचीनशाल आदिका राजा अश्वपतिसे वैश्वानर आत्माके सम्बन्धमें प्रश्न

उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लविके पुत्रका पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्वका पुत्र बुडिल—ये महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्रित होकर परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है ? ॥ १ ॥

उन पूजनीयोंने स्थिर किया कि यह अरुणका पुत्र उद्दालक इस समय इस वैश्वानर आत्माको जानता है; अतः हम उसके पास चलें। ऐसा निश्चय कर वे उसके पास गये। उसने निश्चय किया कि 'ये परम श्रोत्रिय महागृहस्थ मुझसे प्रश्न करेंगे; किंतु मैं इन्हें पूरी तरहसे नहीं बतला सकूँगा; अतः मैं इन्हें दूसरा उपदेष्टा बतला दूँ।' उसने इनसे कहा—'हे पूजनीयगण! इस समय केकयकुमार अश्वपति इस वैश्वानरसंज्ञक आत्माको अच्छी तरह जानता है। आइये, हम उसीके पास चलें।' ऐसा कहकर वे उसके पास चले गये ॥ २—४ ॥

अपने पास आये हुए उन ऋषियोंका राजाने अलग-अलग सत्कार कराया। [दूसरे दिन] प्रातःकाल उठते ही उसने कहा—'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर ही है तथा न अदाता, मद्यप, अनाहिताग्नि, अविद्वान् और परस्त्रीगामी ही है; फिर कुलटा स्त्री तो आयी ही कहाँसे ? हे पूज्यगण! मैं भी यज्ञ करनेवाला हूँ। मैं एक-एक ऋत्विक्को जितना धन दूँगा, उतना ही आपको भी दूँगा; अतः आपलोग यहीं ठहरिये।' वे बोले—'जिस प्रयोजनसे कोई पुरुष कहीं जाता है उसे चाहिये कि वह अपने उसी प्रयोजनको कहे। इस समय आप वैश्वानर आत्माको जानते हैं, उसीका आप हमारे प्रति वर्णन कीजिये।' वह उनसे बोला—'अच्छा, मैं प्रातःकाल आपलोगोंको इसका उत्तर दूँगा।' तब दूसरे दिन पूर्वाह्णमें वे हाथमें समिधाएँ लेकर राजाके पास गये। उनका उपनयन न करके ही राजाने उन्हें उस विद्याका उपदेश किया ॥ ५—७ ॥

सत्यकाम और उपकोशल

राजा अश्वपतिके भवनमें उद्दालक

द्वादश खण्ड

अश्वपति और औपमन्यवका संवाद

[राजाने कहा—] 'उपमन्युकुमार ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' 'पूज्य राजन् ! मैं द्युलोककी ही उपासना करता हूँ' ऐसा उसने उत्तर दिया। [राजा—] 'तुम जिस आत्माकी उपासना करते हो यह निश्चय ही 'सुतेजा' नामसे प्रसिद्ध वैश्वानर आत्मा है, इसीसे तुम्हारे कुलमें सुत, प्रसुत और आसुत दिखायी देते हैं। तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो इस वैश्वानर आत्माकी इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। यह वैश्वानर आत्माका मस्तक है।' ऐसा राजाने कहा, और यह भी कहा कि—'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता' ॥ १-२ ॥

त्रयोदश खण्ड

अश्वपति और सत्ययज्ञका संवाद

फिर उसने पुलुषके पुत्र सत्ययज्ञसे कहा—'प्राचीनयोग्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' वह बोला—'पूज्य राजन् ! मैं आदित्यकी ही उपासना करता हूँ।' [राजाने कहा—] 'यह निश्चय ही विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है, जिस आत्माकी तुम उपासना करते हो; इसीसे तुम्हारे कुलमें बहुत-सा विश्वरूप साधन दिखायी देता है। खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ और दासियोंके सहित हार प्राप्त है। तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो इस प्रकार इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। किंतु यह आत्माका नेत्र ही है।' ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि—'यदि तुम मेरे पास न आते तो अन्धे हो जाते' ॥१-२॥

चतुर्दश खण्ड

अश्वपति और इन्द्रद्युम्नका संवाद

तदनन्तर राजाने भाल्लवेय इन्द्रद्युम्नसे कहा—'वैयाघ्रपद्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' वह बोला—'पूज्य राजन् ! मैं वायुकी ही उपासना करता हूँ।' [राजाने कहा—] 'जिस आत्माकी तुम उपासना करते हो वह निश्चय ही पृथग्वर्त्मा वैश्वानर आत्मा है; इसीसे तुम्हारे प्रति पृथक्-पृथक् उपहार आते हैं और तुम्हारे पीछे पृथक्-पृथक् रथकी पङ्क्तियाँ चलती हैं। तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो कोई इस प्रकार इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है, यह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। किंतु यह आत्माका प्राण ही है।' ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि—'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा प्राण उत्क्रमण कर जाता' ॥ १-२ ॥

पञ्चदश खण्ड

अश्वपति और जनका संवाद

तदनन्तर राजाने जनसे कहा—'शार्कराक्ष्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' उसने कहा—'पूज्य राजन् ! मैं आकाशकी ही उपासना करता हूँ।' [राजा बोला—] 'यह निश्चय ही बहुलसंज्ञक वैश्वानर आत्मा है जिसकी कि तुम उपासना करते हो। इसीसे तुम प्रजा और धनके कारण बहुल हो। तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो इस प्रकार इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। किंतु यह आत्माका संदेह (शरीरका मध्यभाग) ही है।' ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि—'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा संदेह (शरीरका मध्यभाग) नष्ट हो जाता' ॥ १-२ ॥

षोडश खण्ड

अश्वपति और बुडिलका संवाद

फिर उसने अश्वतराश्वके पुत्र बुडिलसे कहा—'वैयाघ्रपद्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' उसने कहा—'पूज्य राजन् ! मैं तो जलकी ही उपासना करता हूँ ।' [राजा बोला—] 'जिसकी तुम उपासना करते हो वह निश्चय ही रयिसंज्ञक वैश्वानर आत्मा है; इसीसे तुम रयिमान् (धनवान्) और पुष्टिमान् हो । तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो । जो पुरुष इस वैश्वानर आत्माकी इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है; किंतु यह आत्माका बस्ति ही है ।' ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि—'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा बस्तिस्थान फट जाता' ॥ १-२ ॥

सप्तदश खण्ड

अश्वपति और उद्दालकका संवाद

तत्पश्चात् राजाने अरुणके पुत्र उद्दालकसे कहा—'गौतम ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' उसने कहा—'पूज्य राजन् ! मैं तो पृथिवीकी ही उपासना करता हूँ ।' [राजा बोला—] 'जिसकी तुम उपासना करते हो वह निश्चय ही प्रतिष्ठासंज्ञक वैश्वानर आत्मा है । इसीसे तुम प्रजा और पशुओंके कारण प्रतिष्ठित हो । तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो । जो कोई इस वैश्वानर आत्माकी इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है । किन्तु यह आत्माके चरण ही हैं ।' ऐसा उसने कहा और यह भी कहा कि—'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारे चरण शिथिल हो जाते' ॥ १-२ ॥

अष्टादश खण्ड

अश्वपतिका वैश्वानर आत्माके सम्बन्धमें उपदेश

राजाने उनसे कहा—'तुम सब लोग इस वैश्वानर आत्माको अलग-सा जानकर अन्न भक्षण करते हो । जो कोई 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अभिमानका विषय होनेवाले इस प्रादेशमात्र वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है वह समस्त लोकोंमें, समस्त प्राणियोंमें और समस्त आत्माओंमें अन्न भक्षण करता है । उस इस वैश्वानर आत्माका मस्तक ही सुतेजा (द्युलोक) है, चक्षु विश्वरूप (सूर्य) है, प्राण पृथग्वर्त्मा (वायु) है, देहका मध्यभाग बहुल (आकाश) है, बस्ति ही रयि (जल) है, पृथिवी ही दोनों चरण हैं, वक्षःस्थल वेदी है, लोम दर्भ हैं, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन है और मुख आहवनीय है' ॥ १-२ ॥

एकोनविंश खण्ड

'प्राणाय स्वाहा' से पहली आहुति

अतः जो अन्न पहले आवे उसका हवन करना चाहिये, उस समय वह भोक्ता जो पहली आहुति दे उसे 'प्राणाय स्वाहा' ऐसा कहकर दे । इस प्रकार प्राण तृप्त होता है । प्राणके तृप्त होनेपर नेत्रेन्द्रिय तृप्त होती है, नेत्रेन्द्रियके तृप्त होनेपर सूर्य तृप्त होता है, सूर्यके तृप्त होनेपर द्युलोक तृप्त होता है तथा द्युलोकके तृप्त होनेपर जिस किसीपर द्युलोक और आदित्य (स्वामिभावसे) अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है और उसकी तृप्ति होनेपर स्वयं भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ १-२ ॥

विंश खण्ड

'व्यानाय स्वाहा' से दूसरी आहुति

तत्पश्चात् जो दूसरी आहुति दे उसे 'व्यानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये । इससे व्यान तृप्त होता है । व्यानके तृप्त होनेपर श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होती है, श्रोत्रके तृप्त होनेपर चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमाके तृप्त होनेपर दिशाएँ तृप्त होती हैं तथा

दिशाओंके तृप्त होनेपर जिस किसीपर चन्द्रमा और दिशाएँ [स्वामिभावसे] अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है। उसकी तृप्तिके पश्चात् वह भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ १-२ ॥

एकविंश खण्ड

'अपानाय स्वाहा' से तीसरी आहुति

फिर जो तीसरी आहुति दे उसे 'अपानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये। इससे अपान तृप्त होता है। अपानके तृप्त होनेपर वागिन्द्रिय तृप्त होती है, वाक्‌के तृप्त होनेपर अग्नि तृप्त होता है, अग्निके तृप्त होनेपर पृथिवी तृप्त होती है तथा पृथिवीके तृप्त होनेपर जिस किसीपर पृथिवी और अग्नि [स्वामिभावसे] अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है; एवं उसकी तृप्तिके पश्चात् भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ १-२ ॥

द्वाविंश खण्ड

'समानाय स्वाहा' से चौथी आहुति

तदनन्तर जो चौथी आहुति दे उसे 'समानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये। इससे समान तृप्त होता है। समानके तृप्त होनेपर मन तृप्त होता है, मनके तृप्त होनेपर पर्जन्य तृप्त होता है, पर्जन्यके तृप्त होनेपर विद्युत् तृप्त होती है तथा विद्युत्‌के तृप्त होनेपर जिस किसीके ऊपर विद्युत् और पर्जन्य अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है; एवं उसकी तृप्तिके अनन्तर भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ १-२ ॥

त्रयोविंश खण्ड

'उदानाय स्वाहा' से पाँचवीं आहुति

फिर जो पाँचवीं आहुति दे उसे 'उदानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये। इससे उदान तृप्त होता है। उदानके तृप्त होनेपर त्वचा तृप्त होती है, त्वचाके तृप्त होनेपर वायु तृप्त होता है, वायुके तृप्त होनेपर आकाश तृप्त होता है तथा आकाशके तृप्त होनेपर जिस किसीपर वायु और आकाश [स्वामिभावसे] अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है, और उसकी तृप्तिके पश्चात् स्वयं भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ १-२ ॥

चतुर्विंश खण्ड

भोजनकी अग्निहोत्रत्वसिद्धिके लिये इस प्रकार हवन करनेका फल

वह, जो कि इस वैश्वानरविद्याको न जानकर हवन करता है उसका वह हवन ऐसा है, जैसे अङ्गारोंको हटाकर भस्ममें हवन करे; क्योंकि जो इस (वैश्वानर) को इस प्रकार जाननेवाला पुरुष अग्निहोत्र करता है उसका समस्त लोक, सारे भूत और सम्पूर्ण आत्माओंमें हवन हो जाता है ॥ १-२ ॥

इस विषयमें यह दृष्टान्त भी है—जिस प्रकार सींकका अग्रभाग अग्निमें धुला देनेसे तत्काल जल जाता है उसी प्रकार जो इस प्रकार जाननेवाला होकर अग्निहोत्र करता है उसके समस्त पाप भस्म हो जाते हैं। अतः वह इस प्रकार जाननेवाला यदि चाण्डालको उच्छिष्ट भी दे तो भी उसका वह अन्न वैश्वानर आत्मामें ही हुत होगा। इस विषयमें यह मन्त्र है। जिस प्रकार इस लोकमें भूखे बालक सब प्रकार माताकी उपासना करते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणी अग्निहोत्रकी उपासना करते हैं, अग्निहोत्रकी उपासना करते हैं ॥ ३-५ ॥

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

ॐ

षष्ठ अध्याय

प्रथम खण्ड

आरुणिका अपने पुत्र श्वेतकेतुसे प्रश्न

अरुणका सुप्रसिद्ध पौत्र श्वेतकेतु था; उससे पिताने कहा—'श्वेतकेतो ! तू ब्रह्मचर्यवास कर; क्योंकि सोम्य ! हमारे कुलमें उत्पन्न हुआ कोई भी पुरुष अध्ययन न करके ब्रह्मबन्धु-सा नहीं होता' ॥ १ ॥

वह श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें उपनयन करा चौबीस वर्षका होनेपर सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर अपनेको बड़ा बुद्धिमान् और व्याख्यान करनेवाला मानते हुए अनम्रभावसे घर लौटा। उससे पिताने कहा—'सोम्य ! तू जो ऐसा महामना, पाण्डित्यका अभिमानी और अविनीत है सो क्या तूने वह आदेश पूछा है जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है; अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेषरूपसे ज्ञात हो जाता है।' [यह सुनकर श्वेतकेतुने पूछा—] 'भगवन्! वह आदेश कैसा है ?' ॥ २-३ ॥

[पिताने कहा—] 'सोम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिकाके पिण्डके द्वारा सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है। सोम्य! जिस प्रकार एक लोहमणिका ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण लोहमय (सुवर्णमय) पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है। सोम्य ! जिस प्रकार एक नखकृन्तन (नहन्ना) के ज्ञानसे सम्पूर्ण लोहेके पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित केवल नाममात्र है, सत्य केवल लोहा ही है; सोम्य ! ऐसा ही वह आदेश भी है' ॥ ४–६ ॥

[श्वेतकेतुने कहा—] 'निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे। यदि वे जानते तो मुझसे क्यों न कहते। अब आप ही मुझे वह बतलाइये।' तब पिताने कहा—'अच्छा, सोम्य ! बतलाता हूँ' ॥ ७ ॥

द्वितीय खण्ड

सत्‌रूप परमात्मासे जगत्‌की उत्पत्ति

सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसीके विषयमें किन्हींने ऐसा भी कहा है कि आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय असत् ही था। उस असत्से सत्की उत्पत्ति होती है। किंतु हे सोम्य ! ऐसा कैसे हो सकता है, भला असत्से सत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतः हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था, ऐसे [आरुणिने] कहा। उस (सत्) ने ईक्षण किया 'मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ'। इस प्रकार [ईक्षणकर] उसने तेज उत्पन्न [किया। उस तेजने ईक्षण किया, 'मैं बहुत हो जाऊँ—नाना प्रकारसे उत्पन्न होऊँ'। इस प्रकार [ईक्षणकर] उसने जलकी रचना की। इसीसे जहाँ कहीं पुरुष शोक (सन्ताप) करता है उसे पसीने आ जाते हैं। उस समय वह तेजसे ही जलकी उत्पत्ति होती है। उस जलने ईक्षण किया, 'हम बहुत हो जायँ—अनेक रूपसे उत्पन्न हों।' उसने अन्नकी रचना की। इसीसे जहाँ कहीं वर्षा होती है वहीं बहुत-सा अन्न होता है। वह अन्नाद्य जलसे ही उत्पन्न होता है ॥ १–४ ॥

तृतीय खण्ड

आण्डज, जीवज और उद्भिज्जरूपमें त्रिविध सृष्टि

उन इन [पक्षी आदि] प्रसिद्ध प्राणियोंके तीन ही बीज होते हैं—आण्डज, जीवज और उद्भिज्ज। उस इस ['सत्' नामवाली देवताने ईक्षण किया, 'मैं इस जीवात्मरूपसे इन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेश कर नाम और रूपकी अभिव्यक्ति करूँ और उनमेंसे एक-एक देवताको त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ।' ऐसा विचारकर उस इस देवताने इस जीवात्मरूपसे ही उन तीन देवताओंमें अनुप्रवेश कर नाम-रूपका व्याकरण किया। उस देवताने उनमेंसे प्रत्येकको त्रिवृत्-त्रिवृत् किया। सोम्य ! जिस प्रकार ये तीनों देवता एक-एक करके प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हैं वह मेरेद्वारा जान ॥ १–४ ॥

चतुर्थ खण्ड

त्रिवृत्करण

अग्निका जो रोहित (लाल) रूप है वह तेजका ही रूप है; जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण है वह अन्नका है। इस प्रकार अग्निसे अग्नित्व निवृत्त हो गया, क्योंकि [अग्निरूप] विकार वाणीसे कहनेके लिये नाममात्र है; केवल तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है। आदित्यका जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है। इस प्रकार आदित्यसे आदित्यत्व निवृत्त हो गया, क्योंकि [आदित्यरूप] विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है। चन्द्रमाका जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है। इस प्रकार चन्द्रमासे चन्द्रत्व निवृत्त हो गया, क्योंकि [चन्द्रमारूप] विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है। विद्युत्का जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है। इस प्रकार विद्युत्से विद्युत्त्वकी निवृत्ति हो गयी, क्योंकि [विद्युत्रूप] विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है ॥ १–४ ॥

इस (त्रिवृत्करण) को जाननेवाले पूर्ववर्ती महागृहस्थ और महाश्रोत्रियोंने यह कहा था कि इस समय हमारे कुलमें कोई बात अश्रुत, अमत अथवा अविज्ञात है—ऐसा कोई नहीं कह सकेगा, क्योंकि इन अग्नि आदिके दृष्टान्तद्वारा वे सब कुछ जानते थे। जो कुछ रोहित-सा है वह तेजका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना है; जो शुक्ल-सा है वह जलका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना है तथा जो कृष्ण-सा है वह अन्नका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना है। तथा जो कुछ विज्ञात-सा है वह इन देवताओंका ही समुदाय है—ऐसा उन्होंने जाना है। सोम्य ! अब तू मेरेद्वारा यह जान कि किस प्रकार ये तीनों देवता पुरुषको प्राप्त होकर उनमेंसे प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाती है ॥ ५–७ ॥

पञ्चम खण्ड

मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाक् तेजोमय है

खाया हुआ अन्न तीन प्रकारका हो जाता है। उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग होता है, वह मल हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मांस हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म होता है वह मन हो जाता है। पीया हुआ जल तीन प्रकारका हो जाता है। उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह मूत्र हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह रक्त हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग है वह प्राण हो जाता है। खाया हुआ [घृतादि] तेज तीन प्रकारका हो जाता है। उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह हड्डी हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मज्जा हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग है वह वाक् हो जाता है। [इसलिये] सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है। ऐसा कहे जानेपर श्वेतकेतु बोला—'भगवन् ! आप मुझे फिर समझाइये।' तब आरुणिने 'अच्छा सोम्य !' ऐसा कहा ॥ १–४ ॥

षष्ठ खण्ड

मथे जाते हुए दहीका दृष्टान्त

सोम्य ! मथे जाते हुए दहीका जो सूक्ष्म भाग होता है वह ऊपर इकट्ठा हो जाता है; वह घृत होता है। उसी प्रकार हे सोम्य ! खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्म अंश होता है वह सम्यक् प्रकारसे ऊपर आ जाता है; वह मन होता है। सोम्य ! पीये हुए जलका जो सूक्ष्म भाग होता है वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है; वह प्राण होता है। सोम्य ! भक्षण किये हुए तेजका जो सूक्ष्म भाग होता है वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है, और वह वाणी होता है। इस प्रकार हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाणी तेजोमयी है—ऐसा [आरुणिने कहा]। [तब श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये।' इसपर आरुणिने कहा—'सोम्य ! अच्छा' ॥ १–५ ॥

सप्तम खण्ड

मनकी अन्नमयताका निश्चय

सोम्य ! पुरुष सोलह कलाओंवाला है। तू पंद्रह दिन भोजन मत कर; केवल यथेच्छ जलपान कर। प्राण जलमय है; इसलिये जल पीते रहनेसे उसका नाश नहीं होगा। उसने पंद्रह दिन भोजन नहीं किया। तत्पश्चात् वह उस (आरुणि) के पास आया [और बोला]—'भगवन् ! क्या बोलूँ ?' [पिताने कहा—] 'सोम्य ! ऋक्, यजुः और सामका पाठ करो।' तब उसने कहा—'भगवन् ! मुझे उनका स्फुरण नहीं होता।' वह उससे बोला—'सोम्य ! जिस प्रकार बहुत-से ईंधनसे प्रज्वलित हुए अग्निका एक जुगनूके बराबर अङ्गारा रह जाय तो वह उससे अधिक दाह नहीं कर सकता, उसी प्रकार सोम्य ! तेरी सोलह कलाओंमेंसे केवल एक ही कला रह गयी है। उसके द्वारा इस समय तू वेदका अनुभव नहीं कर सकता। अच्छा, अब भोजन कर; तब तू मेरी बात समझ जायगा' ॥ १–३ ॥

उसने भोजन किया और फिर उसके (आरुणिके) पास आया। तब उसने जो कुछ पूछा वह सब उसे उपस्थित हो गया। उससे [आरुणिने] कहा—'सोम्य ! जिस प्रकार बहुत-से ईंधनसे बढ़े हुए अग्निका एक खद्योतमात्र अङ्गारा रह जाय और उसे तृणसे सम्पन्नकर प्रज्वलित कर दिया जाय तो वह उसकी (अपने पूर्व परिमाणकी) अपेक्षा भी अधिक दाह कर सकता है। इसी प्रकार सोम्य ! तेरी सोलह कलाओंमेंसे एक कला अवशिष्ट रह गयी थी। वह अन्नद्वारा वृद्धिको प्राप्त अर्थात् प्रज्वलित कर दी गयी। अब उसीसे तू वेदोंका अनुभव कर रहा है। अतः हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है।' इस प्रकार [श्वेतकेतु] उसके इस कथनको विशेषरूपसे समझ गया, समझ गया ॥ ४–६ ॥

अष्टम खण्ड

सत्–आत्मा ही सबका मूल है

उद्दालक नामसे प्रसिद्ध अरुणके पुत्रने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहा—'सोम्य ! तू मेरेद्वारा स्वप्नान्त (सुषुप्ति अथवा स्वप्नके स्वरूप) को विशेषरूपसे समझ ले; जिस अवस्थामें यह पुरुष 'सोता है' ऐसा कहा जाता है उस समय सोम्य ! यह सत्से सम्पन्न हो जाता है—यह अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। इसीसे इसे 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं; क्योंकि उस समय यह स्व—अपनेको ही प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार डोरीमें बँधा हुआ पक्षी दिशा-विदिशाओंमें उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलनेपर अपने बन्धनस्थानका ही आश्रय लेता है उसी प्रकार निश्चय ही सोम्य ! यह मन दिशा-विदिशाओंमें उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलनेसे प्राणका ही आश्रय लेता है, क्योंकि सोम्य ! मन प्राणरूप बन्धनवाला ही है ॥ १–२ ॥

'सोम्य ! तू मेरेद्वारा भूख और प्यासको जान। जिस समय यह पुरुष 'अशिशिषति' (खाना चाहता है) ऐसे नामवाला होता है उस समय जल ही इसके भक्षण किये हुए अन्नको ले जाता है। जिस प्रकार लोकमें [गौ ले जानेवालेको] गोनाय, [अश्व ले जानेवालेको] अश्वनाय और [पुरुषोंको ले जानेवाले राजा या सेनापतिको] पुरुषनाय कहते हैं उसी प्रकार जलको 'अशनाय' ऐसा कहकर पुकारते हैं। हे सोम्य ! उस जलसे ही तू इस [शरीररूप] शुङ्ग (अङ्कुर) को उत्पन्न हुआ समझ, क्योंकि यह निर्मूल (कारणरहित) नहीं हो सकता। अन्नको छोड़कर इसका मूल और कहाँ हो सकता है ? इसी प्रकार सोम्य ! तू अन्नरूप अङ्कुरके द्वारा जलरूप मूलको खोज और हे सोम्य ! जलरूप अङ्कुरके द्वारा तेजोरूप मूलको खोज तथा तेजोरूप अङ्कुरके द्वारा सद्रूप मूलका अनुसन्धान कर। सोम्य ! इस प्रकार यह सारी प्रजा सन्मूलक है तथा सत् ही इसका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है ॥ ३-४ ॥

अब जिस समय यह पुरुष 'पिपासति' (पीना चाहता है) ऐसे नामवाला होता है तो उसके पीये हुए जलको तेज ही ले जाता है। अतः जिस प्रकार गोनाय, अश्वनाय एवं पुरुषनाय कहलाते हैं उसी प्रकार उस तेजको 'उदन्या' ऐसा कहकर पुकारते हैं। हे सोम्य ! उस (जलरूप मूल) से यह शरीररूप अङ्कुर उत्पन्न हुआ है—ऐसा जान, क्योंकि यह मूलरहित नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

सोम्य ! उस (जलके परिणामभूत शरीर) का जलके सिवा और कहाँ मूल हो सकता है ? हे प्रियदर्शन ! जलरूप अङ्कुरके द्वारा तू तेजोरूप मूलकी खोज कर और हे सोम्य ! तेजोरूप अङ्कुरके द्वारा सद्रूप मूलकी शोध कर। हे सोम्य ! यह सम्पूर्ण प्रजा सन्मूलक तथा सद्रूप आयतन और सद्रूप प्रतिष्ठा (लयस्थान) वाली है। हे सोम्य ! जिस प्रकार ये तीनों देवताएँ पुरुषको प्राप्त होकर उनमेंसे प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत्

हो जाती हैं वह मैंने पहले ही कह दिया । हे सोम्य ! मरणको प्राप्त होते हुए इस पुरुषकी वाक् मनमें लीन हो जाती है तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन हो जाता है । वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ ६-७ ॥

नवम खण्ड

मधुका दृष्टान्त

सोम्य ! जिस प्रकार मधुमक्खियाँ मधु निष्पन्न करती हैं तो नाना दिशाओंके वृक्षोंका रस लाकर एकताको प्राप्त करा देती हैं । वे रस जिस प्रकार उस मधुमें इस प्रकारका विवेक प्राप्त नहीं कर सकते कि 'मैं इस वृक्षका रस हूँ और मैं इस वृक्षका रस हूँ' हे सोम्य ! ठीक इसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजा सत्को प्राप्त होकर यह नहीं जानती कि हम सत्को प्राप्त हो गये हैं । वे इस लोकमें व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, शूकर, कीट, पतङ्ग, डाँस अथवा मच्छर जो-जो भी [सुषुप्ति आदिसे पूर्व] होते हैं वे ही पुनः हो जाते हैं ॥ १—३ ॥

वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ ४ ॥

दशम खण्ड

नदियोंका दृष्टान्त

सोम्य ! ये नदियाँ पूर्ववाहिनी होकर पूर्वकी ओर बहती हैं तथा पश्चिमवाहिनी होकर पश्चिमकी ओर । वे समुद्रसे निकलकर फिर समुद्रमें ही मिल जाती हैं और वह समुद्र ही हो जाता है । वे सब जिस प्रकार वहाँ (समुद्रमें) यह नहीं जानतीं कि 'यह मैं हूँ, यह मैं हूँ' । ठीक इसी प्रकार सोम्य ! ये सम्पूर्ण प्रजाएँ सत्से आनेपर यह नहीं जानतीं कि हम सत्के पाससे आयी हैं । इस लोकमें वे व्याघ्र, सिंह, शूकर, कीट, पतङ्ग, डाँस अथवा मच्छर जो-जो भी होते हैं वे ही फिर हो जाते हैं । वह जो यह अणिमा है, एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' [तब आरुणिने] 'अच्छा सोम्य !' ऐसा कहा ॥ १—३ ॥

एकादश खण्ड

वृक्षका दृष्टान्त

हे सोम्य ! यदि कोई इस महान् वृक्षके मूलमें आघात करे तो यह जीवित रहते हुए केवल रसस्राव करेगा और यदि इसके अग्रभागमें आघात करे तो भी यह जीवित रहते हुए ही रसस्राव करेगा । यह वृक्ष जीव—आत्मासे ओतप्रोत है और जलपान करता हुआ आनन्दपूर्वक स्थित है । यदि इस वृक्षकी एक शाखाको जीव छोड़ देता है तो वह सूख जाती है; यदि दूसरीको छोड़ देता है तो वह सूख जाती है और तीसरीको छोड़ देता है तो वह भी सूख जाती है, इसी प्रकार यदि सारे वृक्षको छोड़ देता है तो सारा वृक्ष सूख जाता है । 'सोम्य ! ठीक इसी प्रकार तू जान कि जीवसे रहित होनेपर यह शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता'—ऐसा [आरुणिने] कहा, 'वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है ।' [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये !' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ १—३ ॥

द्वादश खण्ड

वट-बीजका दृष्टान्त

इस (सामनेवाले वटवृक्ष) से एक बड़का फल ले आ । [श्वेतकेतु—] 'भगवन् ! यह ले आया ।' [आरुणि—] 'इसे फोड़ ।' [श्वेत०—] 'भगवन् ! फोड़ दिया ।' [आरुणि—] 'इसमें क्या देखता है ?' [श्वेत०—] 'भगवन् ! इसमें ये

अणुके समान दाने हैं।' [आरुणि—] 'अच्छा वत्स! इनमेंसे एकको फोड़।' [श्वेत०—] 'फोड़ दिया भगवन्!' [आरुणि—] 'इसमें क्या देखता है?' [श्वेत०—] 'कुछ नहीं भगवन्!' तब उससे [आरुणिने] कहा—'हे सोम्य! इस वटबीजकी जिस अणिमाको तू नहीं देखता, सोम्य! उस अणिमाका ही यह इतना बड़ा वटवृक्ष खड़ा हुआ है। हे सोम्य! तू [इस कथनमें] श्रद्धा कर।' वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतो! वही तू है। [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य!' ऐसा कहा ॥ १-३ ॥

त्रयोदश खण्ड

नमकका दृष्टान्त

'इस नमकको जलमें डालकर कल प्रातःकाल मेरे पास आना।' आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतुने वैसा ही किया। तब आरुणिने उससे कहा—'वत्स! रात तुमने जो नमक जलमें डाला था उसे ले आओ।' किंतु उसने ढूँढनेपर उसे उसमें न पाया। [आरुणि—] 'जिस प्रकार वह नमक इसीमें विलीन हो गया है [इसलिये तू उसे नेत्रसे नहीं देख सकता, उसे यदि जानना चाहता है तो] इस जलको ऊपरसे आचमन कर।' [उसके आचमन करनेपर आरुणिने पूछा—] 'कैसा है?' [श्वेत०—] 'नमकीन है।' [आरुणि—] 'बीचमेंसे आचमन कर' 'अब कैसा है?' [श्वेत०—] 'नमकीन है।' [आरुणि—] 'नीचेसे आचमन कर' 'अब कैसा है?' [श्वेत०—] 'नमकीन है।' [आरुणि—] 'अच्छा, अब इस जलको फेंककर मेरे पास आ।' उसने वैसा ही किया, [और बोला—] 'उस जलमें नमक सदा ही विद्यमान था।' तब उससे पिताने कहा—'सोम्य! [इसी प्रकार] वह सत् भी निश्चय यहीं विद्यमान है, तू उसे देखता नहीं है; परन्तु वह निश्चय यहीं विद्यमान है।' वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतो! वही तू है। [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य!' ऐसा कहा ॥ १-३ ॥

चतुर्दश खण्ड

आँख बँधे हुए पुरुषका दृष्टान्त

हे सोम्य! जिस प्रकार [कोई चोर] जिसकी आँखें बँधी हुई हों ऐसे किसी पुरुषको गान्धार देशसे लाकर जनशून्य स्थानमें छोड़ दे। उस जगह जिस प्रकार वह पूर्व, उत्तर, दक्षिण अथवा पश्चिमकी ओर मुख करके चिल्लावे कि 'मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाया गया है और आँखें बँधे हुए ही छोड़ दिया गया है।' उस पुरुषके बन्धनको खोलकर जैसे कोई कहे कि 'गान्धार देश इस दिशामें है, अतः इसी दिशाको जा,' तो वह बुद्धिमान् और समझदार पुरुष एक ग्रामसे दूसरा ग्राम पूछता हुआ गान्धारमें ही पहुँच जाता है, इसी प्रकार इस लोकमें आचार्यवान् पुरुष ही [सत्को] जानता है; उसके लिये [मोक्ष होनेमें] उतना ही विलम्ब है जबतक कि वह [देहबन्धनसे] मुक्त नहीं होता। उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न (ब्रह्मको प्राप्त) हो जाता है। वह जो यह अणिमा है, एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य!' ऐसा कहा ॥ १-३ ॥

पञ्चदश खण्ड

मुमूर्षुका दृष्टान्त

सोम्य! [ज्वरादिसे] सन्तप्त [मुमूर्षु] पुरुषको चारों ओरसे घेरकर उसके बान्धवगण पूछा करते हैं—'क्या तू मुझे जानता है? क्या तू मुझे पहचानता है?' जबतक उसकी वाणी मनमें लीन नहीं होती तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन नहीं होता तबतक वह पहचान लेता है। फिर जिस समय उसकी वाणी मनमें लीन हो जाती है तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन हो जाता है, तब वह नहीं पहचानता। वह जो यह अणिमा है;

एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य!' ऐसा कहा ॥ १-३ ॥

षोडश खण्ड

मिथ्या ज्ञानी और सच्चे ज्ञानीकी पहचान

हे सोम्य! [राजकर्मचारी] किसी पुरुषको हाथ बाँधकर लाते हैं [और कहते हैं—] 'इसने धनका अपहरण किया है, चोरी की है इसके लिये परशु तपाओ।' वह यदि उसका (चोरीका) करनेवाला होता है तो अपनेको मिथ्यावादी प्रमाणित करता है। वह मिथ्याभिनिवेशवाला पुरुष अपनेको मिथ्यासे छिपाता हुआ तपे हुए परशुको ग्रहण करता है; किंतु वह उससे दग्ध होता है और मारा जाता है। और यदि वह उस (चोरी)का करनेवाला नहीं होता तो उसीसे वह अपनेको सत्य प्रमाणित करता है। वह सत्याभिसन्ध अपनेको सत्यसे आवृत कर उस तपे हुए परशुको पकड़ लेता है। वह उससे नहीं जलता और तत्काल छोड़ दिया जाता है। वह जिस प्रकार उस [परीक्षाके] समय नहीं जलता [उसी प्रकार विद्वान्‌का पुनरावर्तन नहीं होता और अविद्वान्‌का होता है]। यह सब एतद्रूप ही है; वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। तब वह (श्वेतकेतु) उसे जान गया—उसे जान गया ॥ १-३ ॥

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

ॐ
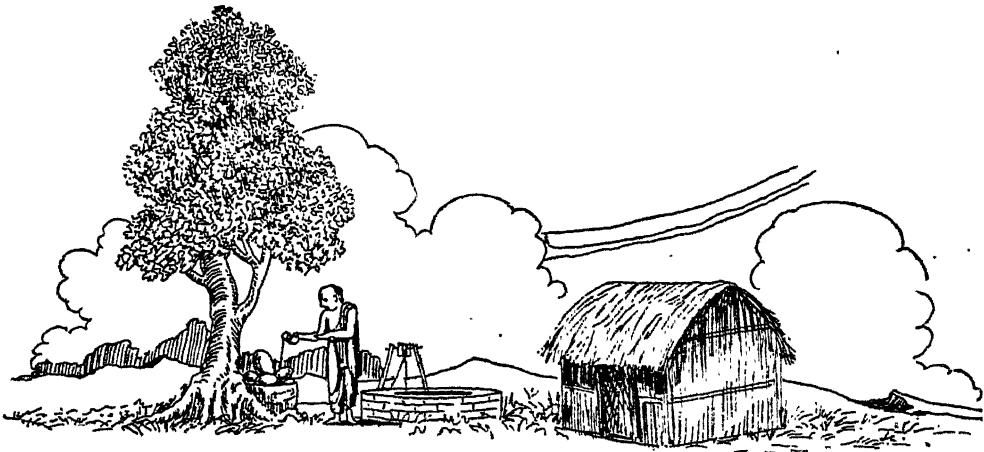
सप्तम अध्याय

प्रथम खण्ड

नामकी ब्रह्मरूपमें उपासना

'भगवन् ! मुझे उपदेश कीजिये' ऐसा कहते हुए नारदजी सनत्कुमारजीके पास गये। उनसे सनत्कुमारजीने कहा—'तुम जो कुछ जानते हो उसे बतलाते हुए मेरे प्रति उपसन्न होओ; तब मैं तुम्हें उससे आगे बतलाऊँगा।' तब नारदने कहा—॥ १॥

'भगवन् ! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ, [इनके सिवा] इतिहास-पुराणरूप पाँचवाँ वेद, वेदोंका वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या (गारुड मन्त्र) और देवजनविद्या—नृत्य-संगीत आदि—हे भगवन् ! यह सब मैं जानता हूँ। हे भगवन् ! वह मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ। मैंने आप-जैसोंसे सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पार कर लेता है, परंतु भगवन् ! मैं शोक करता हूँ; ऐसे मुझको हे भगवन् ! शोकसे पार कर दीजिये।' तब सनत्कुमारने उनसे कहा—'तुम यह जो कुछ जानते हो वह नाम ही है। ऋग्वेद नाम है तथा यजुर्वेद, सामवेद, चौथा आथर्वण वेद, पाँचवाँ वेद इतिहास-पुराण, वेदोंका वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुड, संगीतादि कला और शिल्पविद्या—ये सब भी नाम ही हैं। तुम नामकी उपासना करो। वह जो कि नामकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, उसकी जहाँतक नामकी गति होती है वहाँतक यथेच्छ गति हो जाती है, जो कि नामकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है।' [नारद—] 'भगवन् ! क्या नामसे भी अधिक कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'नामसे भी अधिक है।' [नारद—]'तो भगवन् ! मुझे वही बतलावें।'२–५

द्वितीय खण्ड

वाक्की ब्रह्मरूपमें उपासना

वाक् ही नामसे बढ़कर है; वाक् ही ऋग्वेदको विज्ञापित करती है तथा यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ आथर्वण वेद, पञ्चम वेद इतिहास-पुराण, वेदोंके वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातशास्त्र, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीति, निरुक्त, वेदविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुड, संगीतशास्त्र, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण-वनस्पति, श्वापद (हिंस्र जन्तु), कीट-पतंग, पिपीलिका-पर्यन्त प्राणी, धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य, साधु और असाधु, मनोज्ञ और अमनोज्ञ जो कुछ भी है [उसे वाक् ही विज्ञापित करती है]। यदि वाणी न होती तो न धर्मका और न अधर्मका ही ज्ञान होता; तथा न सत्य, न असत्य, न साधु, न असाधु, न मनोज्ञ और न अमनोज्ञका ही ज्ञान हो सकता। वाणी ही इन सबका ज्ञान कराती है; अतः तुम वाक्की उपासना करो। वह जो वाणीकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है उसकी जहाँतक वाणीकी गति है वहाँतक स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि वाणीकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन् ! क्या वाणीसे भी बढ़कर कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'वाणीसे भी बढ़कर है ही।' [नारद—] 'भगवन् ! वह मुझे बतलाइये' ॥ १-२ ॥

तृतीय खण्ड

मनकी ब्रह्मरूपमें उपासना

मन ही वाणीसे उत्कृष्ट है। जिस प्रकार दो आँवले, दो बेर अथवा दो बहेड़े मुट्ठीमें आ जाते हैं, उसी प्रकार वाक् और नामका मनमें अन्तर्भाव हो जाता है। यह पुरुष जिस समय मनसे विचार करता है कि 'मन्त्रोंका पाठ करूँ' तभी पाठ करता है, जिस समय सोचता है 'काम करूँ' तभी काम करता है, जब विचारता है 'पुत्र और पशुओंकी इच्छा करूँ' तभी उनकी इच्छा करता है और जब ऐसा संकल्प करता है कि 'इस लोक और परलोकको कामना करूँ' तभी उनकी

कामना करता है। मन ही आत्मा है, मन ही लोक है और मन ही ब्रह्म है; तुम मनकी उपासना करो। वह जो कि मनकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, उसकी जहाँतक मनकी गति है वहाँतक स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि मनकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या मनसे भी बढ़कर कोई है?' [सनत्कुमार—] 'मनसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवन्! मेरे प्रति उसीका उपदेश करें' ॥ १-२ ॥

चतुर्थ खण्ड

संकल्पकी ब्रह्मरूपमें उपासना

सङ्कल्प ही मनसे बढ़कर है। जिस समय पुरुष संकल्प करता है, तभी वह मनस्यन करता है और फिर वाणीको प्रेरित करता है। वह उसे नामके प्रति प्रवृत्त करता है; नाममें सब मन्त्र एकरूप हो जाते हैं और मन्त्रोंमें कर्मोंका अन्तर्भाव हो जाता है। वे ये (मन आदि) एकमात्र संकल्परूप लयस्थानवाले, संकल्पमय और संकल्पमें ही प्रतिष्ठित हैं। द्युलोक और पृथ्वीने मानो संकल्प किया है। वायु और आकाशने संकल्प किया है, जल और तेजने संकल्प किया। उनके संकल्पके लिये वृष्टि समर्थ होती है, [अर्थात् उन द्युलोकादिके संकल्पसे वृष्टि होती है] वृष्टिके संकल्पके लिये अन्न समर्थ होता है, अन्नके संकल्पके लिये प्राण समर्थ होते हैं, प्राणोंके संकल्पके लिये मन्त्र समर्थ होते हैं, मन्त्रोंके संकल्पके लिये कर्म समर्थ होते हैं, कर्मोंके संकल्पके लिये लोक (फल) समर्थ होता है और लोकोंके संकल्पके लिये सब समर्थ होते हैं। वह (ऐसा) यह संकल्प है; तुम संकल्पकी उपासना करो। वह जो कि संकल्पकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है [विधाताके] रचे हुए ध्रुवलोकोंको स्वयं ध्रुव होकर, प्रतिष्ठित लोकोंको स्वयं प्रतिष्ठित होकर तथा व्यथा न पानेवाले लोकोंको स्वयं व्यथा न पाता हुआ सब प्रकार प्राप्त करता है। जहाँतक संकल्पकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि संकल्पकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या संकल्पसे भी बढ़कर कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'संकल्पसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १-३ ॥

पञ्चम खण्ड

चित्तकी ब्रह्मरूपमें उपासना

चित्त ही सङ्कल्पसे उत्कृष्ट है। जिस समय पुरुष चेतनावान् होता है तभी वह संकल्प करता है, फिर मनन करता है, तत्पश्चात् वाणीको प्रेरित करता है, उसे नाममें प्रवृत्त करता है। नाममें मन्त्र एकरूप होते हैं और मन्त्रोंमें कर्म। वे ये [संकल्पादि] एकमात्र चित्तरूप लयस्थानवाले, चित्तमय तथा चित्तमें ही प्रतिष्ठित हैं। इसीसे यद्यपि कोई मनुष्य बहुज्ञ भी हो तो भी यदि वह अचित्त होता है तो लोग कहने लगते हैं कि 'यह तो कुछ भी नहीं है, यदि यह कुछ जानता अथवा विद्वान् होता तो ऐसा अचित्त न होता।' और यदि कोई अल्पज्ञ होनेपर भी चित्तवान् हो तो उसीसे वे सब श्रवण करना चाहते हैं। अतः चित्त ही इनका एकमात्र आश्रय है, चित्त ही आत्मा है और चित्त ही प्रतिष्ठा है, तुम चित्तकी उपासना करो। वह जो कि चित्तकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है [अपने लिये] उपचित हुए ध्रुवलोकोंको स्वयं ध्रुव होकर, प्रतिष्ठित लोकोंको स्वयं प्रतिष्ठित होकर तथा व्यथा न पानेवाले लोकोंको स्वयं व्यथा न पाता हुआ सब प्रकार प्राप्त करता है। जहाँतक चित्तकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि चित्तकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या चित्तसे बढ़कर भी कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'चित्तसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १-३ ॥

षष्ठ खण्ड

ध्यानकी ब्रह्मरूपमें उपासना

ध्यान ही चित्तसे बढ़कर है। पृथ्वी मानो ध्यान करती है, अन्तरिक्ष मानो ध्यान करता है, द्युलोक मानो ध्यान करता है, जल मानो ध्यान करते हैं, पर्वत मानो ध्यान करते हैं तथा देवता और मनुष्य भी मानो ध्यान करते हैं। अतः जो लोग यहाँ मनुष्योंमें महत्त्व प्राप्त करते हैं वे मानो ध्यानके लाभका ही अंश पाते हैं; किंतु जो क्षुद्र होते हैं वे कलहप्रिय, चुगलखोर

और दूसरोंके मुँहपर ही उनकी निन्दा करनेवाले होते हैं। तथा जो सामर्थ्यवान् हैं वे भी ध्यानके लाभका ही अंश प्राप्त करनेवाले हैं। अतः तुम ध्यानकी उपासना करो। वह जो कि ध्यानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, जहाँतक ध्यानकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि ध्यानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या ध्यानसे भी उत्कृष्ट कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'ध्यानसे भी उत्कृष्ट है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १-२ ॥

सप्तम खण्ड

विज्ञानकी ब्रह्मरूपमें उपासना

विज्ञान ही ध्यानसे श्रेष्ठ है। विज्ञानसे ही पुरुष ऋग्वेद समझता है; तथा विज्ञानसे ही वह यजुर्वेद, सामवेद, चौथे आथर्वण वेद; वेदोंमें पाँचवें वेद इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुड और शिल्पविद्या, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, कीट-पतंग-पिपीलिकापर्यन्त सम्पूर्ण जीव, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, साधु, असाधु, मनोज्ञ, अमनोज्ञ, अन्न, रस तथा इहलोक और परलोकको जानता है। तुम विज्ञानकी उपासना करो। वह जो कि विज्ञानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसे विज्ञानवान् एवं ज्ञानवान् लोकोंकी प्राप्ति होती है। जहाँतक विज्ञानकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि विज्ञानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या विज्ञानसे भी श्रेष्ठ कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'विज्ञानसे श्रेष्ठ भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे वही बतलावें' ॥ १-२ ॥

अष्टम खण्ड

बलकी ब्रह्मरूपमें उपासना

बल ही विज्ञानकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। सौ विज्ञानवानोंको भी एक बलवान् हिला देता है। जिस समय यह पुरुष बलवान् होता है तभी उठनेवाला भी होता है, उठकर [अर्थात् उठनेवाला होनेपर] ही परिचर्या करनेवाला होता है तथा परिचर्या करनेवाला होनेपर ही उपसदन (समीप गमन) करनेवाला होता है और उपसदन करनेपर ही दर्शन करनेवाला होता है, श्रवण करनेवाला होता है, मनन करनेवाला होता है, बोधवान् होता है, कर्ता होता है एवं विज्ञाता होता है। बलसे ही पृथ्वी स्थित है; बलसे ही अन्तरिक्ष, बलसे ही द्युलोक, बलसे ही पर्वत, बलसे ही देवता और मनुष्य, बलसे ही पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद और कीट-पतंग एवं पिपीलिकापर्यन्त समस्त प्राणी स्थित हैं तथा बलसे ही लोक स्थित है। तुम बलकी उपासना करो। वह जो कि बलकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसकी, जहाँतक बलकी गति है, स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि बलकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या बलसे भी उत्कृष्ट कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'बलसे उत्कृष्ट भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मेरे प्रति उसीका वर्णन करें' ॥ १-२ ॥

नवम खण्ड

अन्नकी ब्रह्मरूपमें उपासना

अन्न ही बलसे उत्कृष्ट है। इसीसे यदि दस दिन भोजन न करे और जीवित भी रह जाय तो भी वह अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्ता और अविज्ञाता हो ही जाता है। फिर अन्नकी प्राप्ति होनेपर ही वह द्रष्टा होता है, श्रोता होता है, मनन करनेवाला होता है, बोद्धा होता है, कर्ता होता है और विज्ञाता होता है। तुम अन्नकी उपासना करो। वह जो कि अन्नकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसे अन्नवान् और पानवान् लोकोंकी प्राप्ति होती है। जहाँतक अन्नकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि अन्नकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या अन्नसे बढ़कर भी कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'अन्नसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १-२ ॥

सनत्कुमार-नारद-संवाद

दशम खण्ड

जलकी ब्रह्मरूपमें उपासना

जल ही अन्नकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। इसीसे जब सुवृष्टि नहीं होती तो प्राण [इसलिये] दुःखी हो जाते हैं कि अन्न थोड़ा होगा और जब सुवृष्टि होती है तो यह सोचकर कि खूब अन्न होगा, प्राण प्रसन्न हो जाते हैं। यह जो पृथ्वी है मूर्तिमान् जल ही है तथा जो अन्तरिक्ष, जो द्युलोक, जो पर्वत, जो देव-मनुष्य, जो पशु और पक्षी तथा जो तृण, वनस्पति, श्वापद और कीट-पतंग-पिपीलिकापर्यन्त प्राणी हैं वे भी मूर्तिमान् जल ही हैं। अतः तुम जलकी उपासना करो। वह जो कि जलकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और तृप्तिमान् होता है। जहाँतक जलकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि जलकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या जलसे भी श्रेष्ठ कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'जलसे श्रेष्ठ भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १–२ ॥

एकादश खण्ड

तेजकी ब्रह्मरूपमें उपासना

तेज ही जलकी अपेक्षा उत्कृष्टतर है। वह यह तेज जिस समय वायुको निश्चल कर आकाशको सब ओरसे तप्त करता है उस समय लोग कहते हैं—'गर्मी हो रही है, बड़ा ताप है, वर्षा होगी।' इस प्रकार तेज ही पहले अपनेको उद्भूत हुआ दिखलाकर फिर जलकी उत्पत्ति करता है। वह यह तेज ऊर्ध्वगामी और तिर्यक्-गामी विद्युत्के सहित गड़गड़ाहटका शब्द फैला देता है। इसीसे लोग कहते हैं—'बिजली चमकती है, बादल गर्जता है, वर्षा होगी।' इस प्रकार तेज ही पहले अपनेको प्रदर्शित कर फिर जलको उत्पन्न करता है। अतः तेजकी उपासना करो। वह जो कि तेजकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है वह तेजस्वी होकर तेजःसम्पन्न, प्रकाशमान और तमोहीन लोकोंको प्राप्त करता है। जहाँतक तेजकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि तेजकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या तेजसे भी बढ़कर कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'तेजसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १–२ ॥

द्वादश खण्ड

आकाशकी ब्रह्मरूपमें उपासना

आकाश ही तेजसे बढ़कर है। आकाशमें ही सूर्य, चन्द्र ये दोनों तथा विद्युत्, नक्षत्र और अग्नि स्थित हैं। आकाशके द्वारा ही एक-दूसरेको पुकारते हैं, आकाशसे ही सुनते हैं, आकाशसे ही प्रतिश्रवण करते हैं, आकाशमें ही रमण करते हैं, आकाशमें ही रमण नहीं करते, आकाशमें ही [सब पदार्थ] उत्पन्न होते हैं और आकाशकी ओर ही [सब बीज एवं अङ्कुरादि] बढ़ते हैं। तुम आकाशकी उपासना करो। वह जो कि आकाशकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है वह आकाशवान्, प्रकाशवान्, पीडारहित और विस्तारवाले लोकोंको प्राप्त करता है। जहाँतक आकाशकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि आकाशकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या आकाशसे बढ़कर भी कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'आकाशसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १–२ ॥

त्रयोदश खण्ड

स्मरणकी ब्रह्मरूपमें उपासना

स्मर (स्मरण) ही आकाशसे बढ़कर है। इसीसे यद्यपि बहुत-से लोग [एक स्थानपर] बैठे हों तो भी स्मरण न करनेपर वे न कुछ सुन सकते हैं, न मनन कर सकते हैं और न जान ही सकते हैं। जिस समय वे स्मरण करते हैं, उसी समय सुन सकते हैं, उसी समय मनन कर सकते हैं और उसी समय जान सकते हैं। स्मरण करनेसे ही पुरुष पुत्रोंको

पहचानता है और स्मरणसे ही पशुओंको । तुम स्मरकी उपासना करो । वह जो कि स्मरकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, उसकी जहाँतक स्मरकी गति है, वहाँतक स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि स्मरकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या स्मरसे भी श्रेष्ठ कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'स्मरसे भी श्रेष्ठ है ही ।' [नारद—] 'भगवान् मेरे प्रति उसका वर्णन करें' । ॥ १-२ ॥

चतुर्दश खण्ड

आशाकी ब्रह्मरूपसे उपासना

आशा ही स्मरणकी अपेक्षा उत्कृष्ट है । आशासे दीप्त हुआ स्मरण ही मन्त्रोंका पाठ करता है, कर्म करता है, पुत्र और पशुओंकी इच्छा करता है तथा इस लोक और परलोककी कामना करता है । तुम आशाकी उपासना करो । वह जो कि आशाकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, उसकी सब कामनाएँ आशासे समृद्ध होती हैं । उसकी प्रार्थनाएँ सफल होती हैं । जहाँतक आशाकी गति है, वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि आशाकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या आशासे बढ़कर भी कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'आशासे बढ़कर भी है ही ।' [नारद—] 'भगवान् मुझे वह बतलावें' ॥ १-२ ॥

पञ्चदश खण्ड

प्राणकी ब्रह्मरूपसे उपासना

प्राण ही आशासे बढ़कर है । जिस प्रकार रथचक्रकी नाभिमें अरे समर्पित रहते हैं, उसी प्रकार इस प्राणमें सारा जगत् समर्पित है । प्राण प्राण (अपनी शक्ति) के द्वारा गमन करता है; प्राण प्राणको देता है और प्राणके लिये ही देता है । प्राण ही पिता है, प्राण माता है, प्राण भाई है, प्राण बहिन है, प्राण आचार्य है और प्राण ही ब्राह्मण है । यदि कोई पुरुप अपने पिता, माता, भ्राता, भगिनी, आचार्य अथवा ब्राह्मणके लिये कोई अनुचित बात कहता है तो [उसके समीपवर्ती लोग] उससे कहते हैं—'तुझे धिक्कार है, तू निश्चय ही पिताका हनन करनेवाला है, तू तो माताका वध करनेवाला है, तू तो भाईको मारनेवाला है, तू तो बहिनकी हत्या करनेवाला है, तू तो आचार्यका घात करनेवाला है, तू निश्चय ही ब्रह्मघाती है । किंतु जिनके प्राण उत्क्रमण कर गये हैं, उन पिता आदि [के प्राणहीन शरीर] को यदि वह शूलसे एकत्रित और छिन्न-भिन्न करके जला दे तो भी उससे 'तू पिताकी हत्या करनेवाला है' 'तू माताकी हत्या करनेवाला है' 'तू भ्राताकी हत्या करनेवाला है' 'तू बहिनकी हत्या करनेवाला है' 'तू आचार्यका घात करनेवाला है' अथवा 'तू ब्रह्मघाती है' ऐसा कुछ नहीं कहते । प्राण ही ये सब [पिता आदि] हैं । वह जो इस प्रकार देखनेवाला, इस प्रकार चिन्तन करनेवाला और इस प्रकार जाननेवाला है, अतिवादी होता है । उससे यदि कोई कहे कि 'तू अतिवादी है' तो उसे यही कहना चाहिये कि 'हाँ, अतिवादी हूँ' उसे छिपाना नहीं चाहिये ॥ १–४ ॥

षोडश खण्ड

सत्य ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जो सत्य (परमार्थ सत्य आत्माके विज्ञान) के कारण अतिवदन करता है, वही निश्चय अतिवदन करता है ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं तो परमार्थ सत्य विज्ञानके कारण ही अतिवदन करता हूँ ।' [सनत्कुमार—] 'सत्यकी ही तो विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं विशेषरूपसे सत्यकी जिज्ञासा करता हूँ' ॥ १ ॥

सप्तदश खण्ड

विज्ञान ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जिस समय पुरुष सत्यको विशेषरूपसे जानता है, तभी वह सत्य बोलता है, बिना जाने सत्य नहीं बोलता; अपितु विशेषरूपसे जाननेवाला ही सत्यका कथन करता है । अतः विज्ञानकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं विज्ञानको विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ' ॥ १ ॥

अष्टादश खण्ड

मति ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जिस समय मनुष्य मनन करता है, तभी वह विशेषरूपसे जानता है; बिना मनन किये कोई नहीं जानता, अपितु मनन करनेपर ही जानता है। अतः मतिकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये।' [नारद—] 'भगवन्! मैं मतिके विज्ञानकी इच्छा करता हूँ' ॥ १ ॥

एकोनविंश खण्ड

श्रद्धा ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जिस समय मनुष्य श्रद्धा करता है, तभी वह मनन करता है; बिना श्रद्धा किये कोई मनन नहीं करता। अपितु श्रद्धा करनेवाला ही मनन करता है। अतः श्रद्धाकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये।' [नारद—] 'भगवन्! मैं श्रद्धाके विज्ञानकी इच्छा करता हूँ' ॥ १ ॥

विंश खण्ड

निष्ठा ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जिस समय पुरुषकी निष्ठा होती है, तभी वह श्रद्धा करता है; बिना निष्ठाके कोई श्रद्धा नहीं करता, अपितु निष्ठा करनेवाला ही श्रद्धा करता है। अतः निष्ठाको ही विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये।' [नारद—] 'भगवन्! मैं निष्ठाको विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ' ॥ १ ॥

एकविंश खण्ड

कृति ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जिस समय मनुष्य करता है, उस समय वह निष्ठा भी करने लगता है; बिना किये किसीकी निष्ठा नहीं होती, पुरुष करनेपर ही निष्ठावान् होता है। अतः कृतिकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये।' [नारद—] 'भगवन्! मैं कृतिकी विशेषरूपसे जिज्ञासा करता हूँ' ॥ १ ॥

द्वाविंश खण्ड

सुख ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जब मनुष्यको सुख प्राप्त होता है, तभी वह करता है; बिना सुख मिले कोई नहीं करता, अपितु सुख मिलनेपर ही करता है; अतः सुखकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये।' [नारद—] 'भगवन्! मैं सुखकी विशेषरूपसे जिज्ञासा करता हूँ' ॥ १ ॥

त्रयोविंश खण्ड

भूमा ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'निश्चय जो भूमा है, वही सुख है, अल्पमें सुख नहीं है। सुख भूमा ही है। भूमाकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये।' [नारद—] 'भगवन्! मैं भूमाकी विशेषरूपसे जिज्ञासा करता हूँ' ॥ १ ॥

चतुर्विंश खण्ड

भूमा ही अमृत है

[सनत्कुमार—] 'जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता, वह भूमा है। किंतु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वही अमृत है

और जो अल्प है, वह मर्त्य है ।' [नारद—] 'भगवन् ! वह (भूमा) किसमें प्रतिष्ठित है ?' [सनत्कुमार—] 'अपनी महिमामें, अथवा अपनी महिमामें भी नहीं है । इस लोकमें गौ, अश्व आदिको महिमा कहते हैं तथा हाथी, सुवर्ण, दास, भार्या, क्षेत्र और घर इनका नाम भी महिमा है; किन्तु मेरा ऐसा कथन नहीं है; क्योंकि अन्य पदार्थ अन्यमें प्रतिष्ठित होता है । मैं तो यह कहता हूँ'—ऐसा सनत्कुमारजीने कहा ॥ १-२ ॥

पञ्चविंश खण्ड

भूमा ही सर्वत्र सब कुछ और आत्मा है

वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है और वही यह सब है । अब उसीमें अहङ्कारादेश किया जाता है—मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दायीं ओर हूँ, मैं ही बायीं ओर हूँ और मैं ही यह सब हूँ ॥ १ ॥

अब आत्मरूपसे ही भूमाका आदेश किया जाता है । आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायीं ओर है, आत्मा ही बायीं ओर है और आत्मा ही यह सब है । वह यह इस प्रकार देखनेवाला, इस प्रकार मनन करनेवाला तथा विशेषरूपसे इस प्रकार जाननेवाला आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होता है; वह स्वराट् है; सम्पूर्ण लोकोंमें उसकी यथेच्छ गति होती है । किंतु जो इससे विपरीत जानते हैं वे अन्यराट (जिनका राजा अपनेसे भिन्न कोई और है, ऐसे) और क्षय्यलोक (क्षयशील लोकोंको प्राप्त होनेवाले) होते हैं । उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें स्वेच्छागति नहीं होती ॥ २ ॥

षड्विंश खण्ड

आत्मदर्शनसे सबकी प्राप्ति; आहारशुद्धिसे क्रमशः अविद्याकी निवृत्ति

उस इस प्रकार देखनेवाले, इस प्रकार मनन करनेवाले और इस प्रकार जाननेवाले इस विद्वान्‌के लिये आत्मासे प्राण, आत्मासे आशा, आत्मासे स्मृति, आत्मासे आकाश, आत्मासे तेज, आत्मासे जल, आत्मासे आविर्भाव और तिरोभाव, आत्मासे अन्न, आत्मासे बल, आत्मासे विज्ञान, आत्मासे ध्यान, आत्मासे चित्त, आत्मासे संकल्प, आत्मासे मन, आत्मासे वाक्, आत्मासे नाम, आत्मासे मन्त्र, आत्मासे कर्म और आत्मासे ही यह सब हो जाता है ॥ १ ॥

इस विषयमें यह मन्त्र है—विद्वान् न तो मृत्युको देखता है, न रोगको और न दुःखत्वको ही । वह विद्वान् सबको [आत्मरूप ही] देखता है, अतः सबको प्राप्त हो जाता है । वह एक होता है फिर वही तीन, पाँच, सात और नौ रूप हो जाता है । फिर वही ग्यारह कहा गया है तथा वही सौ, दस, एक, सहस्र और बीस भी होता है । आहारशुद्धि (विषयोपलब्धिरूप विज्ञानकी शुद्धि) होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है; अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर निश्चल स्मृति होती है तथा स्मृतिकी प्राप्ति होनेपर सम्पूर्ण ग्रन्थियोंकी निवृत्ति हो जाती है । [इस प्रकार] जिनकी वासनाएँ क्षीण हो गयी थीं, उन (नारदजी) को भगवान् सनत्कुमारने अज्ञानान्धकारका पार दिखलाया । उन (सनत्कुमारजी) को 'स्कन्द' ऐसा कहते हैं, 'स्कन्द' ऐसा कहते हैं ॥ २ ॥

॥ सप्तम अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

ॐ

अष्टम अध्याय

प्रथम खण्ड

आत्मा ही सत्य है

अब इस ब्रह्मपुरके भीतर और जो यह सूक्ष्म कमलाकार स्थान है, इसमें जो सूक्ष्म आकाश है और उसके भीतर जो वस्तु है, उसका अन्वेषण करना चाहिये और उसीकी जिज्ञासा करनी चाहिये। उस (गुरु) से यदि [शिष्यगण] कहें कि इस ब्रह्मपुरमें जो सूक्ष्म कमलाकार गृह है, उसमें जो अन्तराकाश है, उसके भीतर क्या वस्तु है, जिसका अन्वेषण करना चाहिये अथवा जिसकी जिज्ञासा करनी चाहिये?—तो [इस प्रकार कहनेवाले शिष्योंके प्रति] वह आचार्य यों कहें ॥ १-२ ॥

जितना यह [भौतिक] आकाश है, उतना ही हृदयान्तर्गत आकाश है। द्युलोक और पृथिवी ये दोनों लोक सम्यक् प्रकारसे इसके भीतर ही स्थित हैं। इसी प्रकार अग्नि और वायु—ये दोनों, सूर्य और चन्द्रमा—ये दोनों तथा विद्युत् और नक्षत्र एवं इस आत्माका जो कुछ इस लोकमें है और जो नहीं है, वह सब सम्यक् प्रकारसे इसीमें स्थित है ॥ ३ ॥

उस आचार्यसे यदि शिष्यगण कहें कि यदि इस ब्रह्मपुरमें यह सब समाहित है तथा सम्पूर्ण भूत और समस्त कामनाएँ भी सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं तो जिस समय यह वृद्धावस्थाको प्राप्त होता अथवा नष्ट हो जाता है, उस समय क्या शेष रह जाता है? तो उसे कहना चाहिये 'इस (देह) की जरावस्थासे यह (आकाशाख्य ब्रह्म) जीर्ण नहीं होता। इसके बधसे उसका नाश नहीं होता। यह ब्रह्मपुर सत्य है; इसमें [सम्पूर्ण] कामनाएँ सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं; यह आत्मा है, धर्माधर्मसे शून्य है तथा जराहीन, मृत्युहीन, शोकरहित, भोजनेच्छारहित, पिपासाशून्य, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है; जिस प्रकार इस लोकमें प्रजा राजाकी आज्ञाका अनुवर्तन करती है तो वह जिस-जिस सन्निहित वस्तुकी कामना करती है तथा जिस-जिस देश या भूभागकी इच्छा करती है, उसी-उसीके आश्रित जीवन धारण करती है। जिस प्रकार यहाँ कर्मसे प्राप्त किया हुआ लोक क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार परलोकमें पुण्योपार्जित लोक क्षीण हो जाता है। जो लोग इस लोकमें आत्माको और इन सत्य कामनाओंको बिना जाने ही परलोकगामी होते हैं, उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छगति नहीं होती। परंतु जो इस लोकमें आत्माको तथा सत्य कामनाओंको जानकर [परलोकमें] जाते हैं, उनकी समस्त लोकोंमें यथेच्छगति होती है' ॥ ४–६ ॥

द्वितीय खण्ड

आत्मज्ञानीकी सङ्कल्पसिद्धि

वह यदि पितृलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही पितृगण वहाँ उपस्थित होते हैं [अर्थात् उसके आत्मसम्बन्धी हो जाते हैं,] उस पितृलोकसे सम्पन्न होकर वह महिमान्वित होता है। और यदि वह मातृलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही माताएँ वहाँ उपस्थित हो जाती हैं। उस मातृलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह भ्रातृलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही भ्रातृगण वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उस भ्रातृलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह भगिनीलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही बहनें वहाँ उपस्थित हो जाती हैं। उस भगिनीलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह सखाओंके लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही सखा लोग वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उन सखाओंके लोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह गन्धमाल्यलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही गन्धमाल्यादि वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उस गन्धमाल्यलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह अन्नपानसम्बन्धी लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही अन्नपान उसके पास उपस्थित हो जाते हैं। उस अन्न-पान-लोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह गीतवाद्यसम्बन्धी लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही गीत-वाद्य वहाँ प्राप्त हो जाते हैं। उस गीतवाद्यलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह स्त्री-लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पमात्रसे ही स्त्रियाँ उसके पास उपस्थित हो जाती हैं। उस स्त्री-लोकसे सम्पन्न हो वह महिमान्वित होता है। वह जिस-जिस प्रदेशकी कामना करनेवाला होता है और जिस-जिस भोगकी इच्छा करता है वह सब उसके संकल्पसे ही उसको प्राप्त हो जाता है। उससे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ १–१० ॥

तृतीय खण्ड

ब्रह्मकी प्राप्तिसे सबकी प्राप्ति, ब्रह्म हृदयमें ही है

वे ये सत्यकाम अनृतके आच्छादनसे युक्त हैं। सत्य होनेपर भी अनृत उनका अपिधान (आच्छादन करनेवाला) है, क्योंकि इस प्राणीका जो-जो [सम्बन्धी] यहाँसे मरकर जाता है, वह-वह उसे फिर देखनेके लिये नहीं मिलता। तथा इस लोकमें अपने जिन जीवित अथवा जिन मृतक [पुत्रादि] को और जिन अन्य पदार्थोंको यह इच्छा करते हुए भी प्राप्त नहीं करता; उन सबको यह इस (हृदयाकाशस्थित ब्रह्म) में जाकर प्राप्त कर लेता है; क्योंकि यहाँ इसके ये सत्यकाम अनृतसे ढके हुए रहते हैं। इस विषयमें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार पृथिवीमें गड़े हुए सुवर्णके खजानेको उस स्थानसे अनभिज्ञ पुरुष ऊपर-ऊपर विचरते हुए भी नहीं जानते, इसी प्रकार यह सारी प्रजा नित्यप्रति ब्रह्मलोकको जाती हुई उसे नहीं पाती, क्योंकि यह अनृतके द्वारा हर ली गयी है ॥ १-२ ॥

वह यह आत्मा हृदयमें है। 'हृदि अयम्' (यह हृदयमें है) यही इसका निरुक्त (व्युत्पत्ति) है। इसीसे यह 'हृदय' है। इस प्रकार जाननेवाला पुरुष प्रतिदिन स्वर्गलोकको जाता है ॥ ३ ॥

यह जो सम्प्रसाद है, वह इस शरीरसे उत्थान कर परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपसे युक्त हो जाता है। यह आत्मा है, यही अमृत एवं अभय है और यही ब्रह्म है—ऐसा आचार्यने कहा। उस इस ब्रह्मका 'सत्य' यह नाम है ॥ ४ ॥

वे ये 'सकार' 'तकार' और 'यम्' तीन अक्षर हैं। उनमें जो 'सकार' है, वह अमृत है, जो 'तकार' है, वह मर्त्य है और जो 'यम्' है, उससे वह दोनोंका नियमन करता है; क्योंकि इससे वह उन दोनोंका नियमन करता है; इसलिये 'यम्' इस प्रकार जाननेवाला प्रतिदिन ही स्वर्गलोकको जाता है ॥ ५ ॥

चतुर्थ खण्ड

आत्माकी महिमा और ब्रह्मचर्यसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति

जो आत्मा है, वह इन लोकोंके असम्भेद (पारस्परिक असंघर्ष) के लिये इन्हें विशेषरूपसे धारण करनेवाला सेतु है। इस सेतुका दिन-रात अतिक्रमण नहीं करते। इसे न जरा, न मृत्यु, न शोक और न सुकृत या दुष्कृत ही प्राप्त हो सकते हैं। सम्पूर्ण पाप इससे निवृत्त हो जाते हैं; क्योंकि यह ब्रह्मलोक पापशून्य है। इसलिये इस सेतुको तरकर पुरुष अन्धा होनेपर भी अन्धा नहीं होता, विद्ध होनेपर भी अविद्ध होता है, उपतापी होनेपर भी अनुपतापी होता है, इसीसे इस सेतुको तरकर अन्धकाररूप रात्रि भी दिन ही हो जाती है, क्योंकि यह ब्रह्मलोक सर्वदा प्रकाशस्वरूप है। ऐसा होनेके कारण जो इस ब्रह्मलोकको ब्रह्मचर्यके द्वारा [शास्त्र एवं आचार्यके उपदेशके अनुसार] जानते हैं, उन्हींको यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है तथा उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छगति हो जाती है ॥ १-३ ॥

पञ्चम खण्ड

ब्रह्मचर्यकी महिमा

अब [लोकमें] जिसे 'यज्ञ' (परम पुरुषार्थका साधन) कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जो ज्ञाता है वह ब्रह्मचर्यके द्वारा ही उस (ब्रह्मलोक) को प्राप्त होता है। और जिसे 'इष्ट' ऐसा कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यके द्वारा पूजन करके ही पुरुष आत्माको प्राप्त होता है। तथा जिसे 'सत्त्रायण' ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यके द्वारा ही सत्—परमात्मासे अपना त्राण प्राप्त करता है। इसके सिवा जिसे 'मौन' ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है; क्योंकि ब्रह्मचर्यके द्वारा ही आत्माको जानकर पुरुष मनन करता है। तथा जिसे अनाशकायन (नष्ट न होना) कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जिसे [साधक] ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त होता है वह यह आत्मा नष्ट नहीं होता। और जिसे अरण्यायन ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है; क्योंकि इस ब्रह्मलोकमें 'अर' और 'ण्य' ये दो समुद्र हैं, यहाँसे तीसरे द्युलोकमें ऐरंमदीय सरोवर है, सोमसवन नामका अश्वत्थ है, वहाँ ब्रह्माकी अपराजिता पुरी है और प्रभुका विशेषरूपसे निर्माण किया हुआ सुवर्णमय

मण्डप है। उस ब्रह्मलोकमें जो लोग ब्रह्मचर्यके द्वारा इन 'अर' और 'ण्य' दोनों समुद्रोंको प्राप्त करते हैं उन्हींको इस ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छ गति हो जाती है ॥ १-४ ॥

षष्ठ खण्ड

हृदयगत नाडियाँ ही उत्क्रमणका मार्ग हैं

अब ये जो हृदयकी नाडियाँ हैं वे पिंगलवर्ण सूक्ष्म रसकी हैं। वे शुक्ल, नील, पीत और लोहित रसकी हैं; क्योंकि यह आदित्य पिंगलवर्ण है, यह शुक्ल है, यह नील है, यह पीत है और यह लोहितवर्ण है। इस विषयमें यह दृष्टान्त है कि जिस प्रकार कोई विस्तीर्ण महापथ इस (समीपवर्ती) और उस (दूरवर्ती) दोनों गाँवोंको जाता है, उसी प्रकार ये सूर्यकी किरणें इस पुरुषमें और उस आदित्यमण्डलमें दोनों लोकोंमें प्रविष्ट हैं। वे निरन्तर इस आदित्यसे ही निकली हैं और इन नाडियोंमें व्याप्त हैं तथा जो इन नाडियोंसे निकलती हैं वे इस आदित्यमें व्याप्त हैं। ऐसी अवस्थामें जिस समय यह सोया हुआ—भली प्रकार लीन हुआ पुरुष सम्यक् प्रकारसे प्रसन्न होकर स्वप्न नहीं देखता, उस समय यह इन नाडियोंमें चला जाता है, तब इसे कोई पाप स्पर्श नहीं करता और यह तेजसे व्याप्त हो जाता है ॥ १-३ ॥

अब जिस समय यह जीव शरीरकी दुर्बलताको प्राप्त होता है, उस समय उसके चारों ओर बैठे हुए [बन्धुजन] कहते हैं—'क्या तुम मुझे जानते हो ? क्या तुम मुझे जानते हो ?' वह जबतक इस शरीरसे उत्क्रमण नहीं करता, तबतक उन्हें जानता है। फिर जिस समय यह इस शरीरसे उत्क्रमण करता है, उस समय इन किरणोंसे ही ऊपरकी ओर चढ़ता है। वह 'ॐ' ऐसा [कहकर आत्माका ध्यान करता हुआ] ऊर्ध्वलोक अथवा अधोलोकको जाता है। वह जितनी देरमें मन जाता है, उतनी ही देरमें आदित्यलोकमें पहुँच जाता है। यह [आदित्य] निश्चय ही लोकद्वार है। यह विद्वानोंके लिये ब्रह्मलोकप्राप्तिका द्वार है और अविद्वानोंका निरोधस्थान है। इस विषयमें यह मन्त्र है—हृदयकी एक सौ एक नाडियाँ हैं। उनमेंसे एक मस्तककी ओर निकल गयी है। उसके द्वारा ऊपरकी ओर जानेवाला जीव अमरत्वको प्राप्त होता है; शेष इधर-उधर जानेवाली नाडियाँ केवल उत्क्रमणका कारण होती हैं, उत्क्रमणका कारण होती हैं [उनसे अमरत्वकी प्राप्ति नहीं होती] ॥ ४-६ ॥

सप्तम खण्ड

इन्द्र और विरोचनको प्रजापतिका उपदेश

जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, [इन आठ स्वरूपभूत गुणोंसे युक्त है] उसे खोजना चाहिये और उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। जो उस आत्माको शास्त्र और गुरुके उपदेशानुसार खोजकर जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है—ऐसा प्रजापतिने कहा। प्रजापतिके इस वाक्यको देवता और असुर दोनोंने ही परम्परासे जान लिया। वे कहने लगे—'हम उस आत्माको जानना चाहते हैं, जिसे जाननेपर जीव सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है'—ऐसा निश्चयकर देवताओंका राजा इन्द्र और असुरोंका राजा विरोचन—ये दोनों परस्पर ईर्ष्या करते हुए हाथोंमें समिधाएँ लेकर प्रजापतिके पास आये। उन्होंने बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्य-वास किया। तब उनसे प्रजापतिने कहा—'तुम यहाँ किस इच्छासे रहे हो ?' उन्होंने कहा—'जो आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधाहीन, तृषाहीन, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, उसका अन्वेषण करना चाहिये और उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। जो उस आत्माका अन्वेषणकर उसे विशेषरूपसे जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है—इस श्रीमान्के वाक्यको शिष्टजन बतलाते हैं। उसी आत्माको जाननेकी इच्छा करते हुए हम यहाँ रहे हैं' ॥ १-३ ॥

उनसे प्रजापतिने कहा—'यह जो पुरुष नेत्रोंमें दिखायी देता है, आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है।' [तब उन्होंने पूछा—] 'भगवन् ! यह जो जलमें सब ओर प्रतीत होता है और जो दर्पणमें दिखायी देता है, उनमें आत्मा कौन-सा है ?' इसपर प्रजापतिने कहा—'मैंने जिस नेत्रान्तर्गत पुरुषका वर्णन किया है, वही इन सबमें सब ओर प्रतीत होता है' ॥ ४ ॥

अष्टम खण्ड

विरोचनका भ्रमपूर्ण सिद्धान्त लेकर लौट जाना

'जलपूर्ण शकोरेमें अपनेको देखकर तुम आत्माके विषयमें जो न जान सको वह मुझे बतलाओ' ऐसा [प्रजापतिने कहा।] उन्होंने जलके शकोरेमें देखा। उनसे प्रजापतिने कहा—'तुम क्या देखते हो?' उन्होंने कहा—'भगवन्! हम अपने इस समस्त आत्माको लोम और नखपर्यन्त ज्यों-का-त्यों देखते हैं।' उन दोनोंसे प्रजापतिने कहा—'तुम अच्छी तरह अलङ्कृत होकर, सुन्दर वस्त्र पहनकर और परिष्कृत होकर जलके शकोरेमें देखो।' तब उन्होंने अच्छी तरह अलङ्कृत हो, सुन्दर वस्त्र धारणकर और परिष्कृत होकर जलके शकोरेमें देखा। उनसे प्रजापतिने पूछा, 'तुम क्या देखते हो?' उन दोनोंने कहा—'भगवन्! जिस प्रकार हम दोनों उत्तम प्रकारसे अलङ्कृत, सुन्दर वस्त्र धारण किये और परिष्कृत हैं, उसी प्रकार हे भगवन्! ये दोनों भी उत्तम प्रकारसे अलङ्कृत, सुन्दर वस्त्रधारी और परिष्कृत हैं।' तब प्रजापतिने कहा—'यह आत्मा है, यह अमृत और अभय है और यही ब्रह्म है।' तब वे दोनों शान्तचित्तसे चले गये ॥ १-३ ॥

प्रजापतिने उन्हें [दूर गया] देखकर कहा—'ये दोनों आत्माको उपलब्ध किये बिना—उसका साक्षात्कार किये बिना ही जा रहे हैं; देवता हों या असुर—जो कोई ऐसे निश्चयवाले होंगे, उन्हींका पराभव होगा।' वह जो विरोचन था, शान्तचित्तसे असुरोंके पास पहुँचा और उनको यह आत्मविद्या सुनायी—'इस लोकमें यह आत्मा (शरीर) ही पूजनीय है और शरीर ही सेवनीय है। शरीरकी ही पूजा और परिचर्या करनेवाला पुरुष इस लोक और परलोक दोनों लोकोंको प्राप्त कर लेता है।' इसीसे इस लोकमें जो दान न देनेवाला, श्रद्धा न करनेवाला और यजन न करनेवाला पुरुष होता है, उसे शिष्टजन 'अरे! यह तो आसुर (आसुरीस्वभाववाला) ही है' ऐसा कहते हैं। यह उपनिषद् असुरोंकी ही है। वे ही मृतक पुरुषके शरीरको भिक्षा [गन्ध-पुष्प-अन्नादि], वस्त्र और अलङ्कारसे सुसज्जित करते हैं और इसके द्वारा हम परलोक प्राप्त करेंगे—ऐसा मानते हैं ॥ ४-५ ॥

नवम खण्ड

इन्द्रका प्रजापतिके पास पुनः आगमन और प्रश्न

किन्तु इन्द्रको देवताओंके पास बिना पहुँचे ही यह भय दिखायी दिया। जिस प्रकार इस शरीरके अच्छी प्रकार अलङ्कृत होनेपर यह (छायात्मा) अच्छी तरह अलङ्कृत होता है, सुन्दर वस्त्रधारी होनेपर सुन्दर वस्त्रधारी होता है और परिष्कृत होनेपर परिष्कृत होता है, उसी प्रकार इसके अन्धे होनेपर अन्धा हो जाता है, स्राम होनेपर स्राम हो जाता है और खण्डित होनेपर खण्डित हो जाता है तथा इस शरीरका नाश होनेपर यह भी नष्ट हो जाता है। 'इस [छायात्मदर्शन] में मैं कोई भोग्य नहीं देखता।' इसलिये इन्द्र समित्पाणि होकर फिर प्रजापतिके पास आये। उनसे प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! तुम तो विरोचनके साथ शान्तचित्त होकर गये थे, अब किस इच्छासे पुनः आये हो?' उन्होंने कहा—'भगवन्! जिस प्रकार यह (छायात्मा) इस शरीरके अच्छी तरह अलङ्कृत होनेपर अच्छी तरह अलङ्कृत होता है, सुन्दर वस्त्रधारी होनेपर सुन्दर वस्त्रधारी होता है और परिष्कृत होनेपर परिष्कृत हो जाता है, उसी प्रकार इसके अन्धे होनेपर अन्धा, स्राम होनेपर स्राम और खण्डित होनेपर खण्डित भी हो जाता है तथा इस शरीरका नाश होनेपर यह नष्ट भी हो जाता है, मुझे इसमें कोई फल दिखायी नहीं देता' ॥ १-२ ॥

'हे इन्द्र! यह बात ऐसी ही है' ऐसा प्रजापतिने कहा, 'मैं तुम्हारे प्रति इसकी पुनः व्याख्या करूँगा। अब तुम बत्तीस वर्ष यहाँ और रहो।' इन्द्रने वहाँ बत्तीस वर्ष और [ब्रह्मचर्यसे] निवास किया। तब प्रजापतिने उससे कहा ॥ ३ ॥

दशम खण्ड

स्वप्नके दृष्टान्तसे आत्माके स्वरूपका कथन

'जो यह स्वप्नमें पूजित होता हुआ विचरता है, यह आत्मा है' ऐसा प्रजापतिने कहा 'यह अमृत है, अभय है और यही ब्रह्म है।' ऐसा सुनकर वे (इन्द्र) शान्तहृदयसे चले गये। किन्तु देवताओंके पास बिना पहुँचे ही उन्हें यह भय दिखायी दिया 'यद्यपि यह शरीर अन्धा होता है तो भी वह (स्वप्नशरीर) अनन्ध होता है, और यदि यह स्राम होता है तो भी वह अस्राम होता है। इस प्रकार यह इसके दोषसे दूषित नहीं होता। यह इस देहके वधसे नष्ट भी नहीं होता

और न इसकी रुग्णतासे रुग्ण होता है। किन्तु इसे मानो कोई मारता हो, कोई ताडित करता हो, यह मानो अप्रियका अनुभव करता हो और रुदन करता हो—ऐसा हो जाता है; अतः इसमें (इस प्रकारके आत्मदर्शनमें) मैं कोई फल नहीं देखता' ॥१-२॥

[अतः] वे समित्पाणि होकर फिर [प्रजापतिके पास] आये। उनसे प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! तुम तो शान्तचित्त होकर गये थे, अब किस इच्छासे पुनः आये हो?' उन्होंने कहा—'भगवन्! यद्यपि यह शरीर अन्धा होता है तो भी वह (स्वप्नशरीर) अनन्ध रहता है और यह रुग्ण होता है तो भी वह नीरोग रहता है; इस प्रकार वह इसके दोषसे दूषित नहीं होता। न इसके वधसे उसका वध होता है और न इसकी रुग्णतासे वह रुग्ण होता है; किन्तु उसे मानो कोई मारते हों, कोई ताडित करते हों और [उसके कारण] मानो वह अप्रियका अनुभव करता हो और रुदन करता हो—[ऐसा अनुभव होनेके कारण] इसमें मैं कोई फल नहीं देखता।' तब प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! यह बात ऐसी ही है; मैं तुम्हारे इस (आत्मतत्त्व) की पुनः व्याख्या करूँगा, तुम बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचर्यवास करो।' इन्द्रने वहाँ बत्तीस वर्ष और निवास किया; तब उनसे प्रजापतिने कहा—॥ ३-४ ॥

एकादश खण्ड

इन्द्र एक सौ एक वर्षके ब्रह्मचर्यके बाद उपदेशके अधिकारी हुए

'जिस अवस्थामें यह सोया हुआ दर्शनवृत्तिसे रहित और सम्यक्रूपसे आनन्दित हो स्वप्नका अनुभव नहीं करता, वह आत्मा है'—ऐसा प्रजापतिने कहा 'यह अमृत है, यह अभय है और यही ब्रह्म है।' यह सुनकर इन्द्र शान्तचित्तसे चले गये; किन्तु देवताओंके पास पहुँचे बिना ही उन्हें यह भय दिखायी दिया—"उस अवस्थामें तो इसे निश्चय ही यह भी ज्ञान नहीं होता कि 'यह मैं हूँ' और न यह इन अन्य भूतोंको ही जानता है; उस समय तो यह मानो विनाशको प्राप्त हो जाता है। इसमें मुझे इष्टफल दिखायी नहीं देता" वे समित्पाणि होकर पुनः प्रजापतिके पास आये। उनसे प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! तुम तो शान्तचित्तसे गये थे, अब किस इच्छासे तुम्हारा पुनः आगमन हुआ है।' इन्द्रने कहा—'भगवन्! इस अवस्थामें तो निश्चय ही इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि 'यह मैं हूँ' और न यह इन अन्य भूतोंको ही जानता है, यह मानो विनाश-को प्राप्त हो जाता है। इसमें मुझे इष्टफल दिखायी नहीं देता।' 'हे इन्द्र! यह बात ऐसी ही है'—ऐसा प्रजापतिने कहा 'मैं तुम्हारे प्रति इसकी पुनः व्याख्या करूँगा। आत्मा इससे भिन्न नहीं है। अभी पाँच वर्ष और ब्रह्मचर्यवास करो।' उन्होंने पाँच वर्ष और वहीं निवास किया। ये सब मिलाकर एक सौ एक वर्ष हो गये। इसीसे ऐसा कहते हैं कि इन्द्रने प्रजापतिके यहाँ एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्यवास [करके अधिकार प्राप्त] किया। तब उनसे प्रजापतिने कहा—॥ १-३ ॥

द्वादश खण्ड

इन्द्रके प्रति प्रजापतिका उपदेश

'इन्द्र! यह शरीर मरणशील ही है; यह मृत्युसे ग्रस्त है। यह इस अमृत, अशरीरी आत्माका अधिष्ठान है। सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय और अप्रियसे ग्रस्त है। सशरीर रहते हुए इसके प्रियाप्रियका नाश नहीं हो सकता और अशरीर होने-पर इसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते। वायु अशरीर है; अभ्र, विद्युत् और मेघध्वनि—ये सब अशरीर हैं। जिस प्रकार ये सब उस आकाशसे उत्पन्न होकर सूर्यकी परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, उसी प्रकार यह सम्प्रसाद इस शरीरसे समुत्थान कर परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। वह उत्तम पुरुष है। उस अवस्थामें वह हँसता, क्रीडा करता और स्त्री, यान अथवा ज्ञातिजनके साथ रमण करता है और अपने साथ उत्पन्न हुए इस शरीरको स्मरण न करता हुआ सब ओर विचरता है। जिस प्रकार घोड़ा या बैल गाड़ीमें जुता रहता है, उसी प्रकार यह प्राण इस शरीरमें जुता हुआ है ॥ १-३ ॥

जिसमें यह चक्षुद्वारा उपलक्षित आकाश अनुगत है वह चाक्षुष पुरुष है; उसके रूप-ग्रहणके लिये नेत्रेन्द्रिय है। जो ऐसा अनुभव करता है कि मैं इसे सूँघूँ, वह आत्मा है; उसके गन्धग्रहणके लिये नासिका है। जो ऐसा समझता है कि मैं यह शब्द बोलूँ, वही आत्मा है; उसके शब्दोच्चारणके लिये वागिन्द्रिय है। जो ऐसा जानता है कि मैं यह श्रवण करूँ,

वह भी आत्मा है, उसके श्रवण करनेके लिये श्रोत्रेन्द्रिय है। और जो यह जानता है कि मैं मनन करूँ, वह आत्मा है। मन उसका दिव्य नेत्र है; वह यह आत्मा इस दिव्य चक्षुके द्वारा भोगोंको देखता हुआ रमण करता है ॥ ४-५ ॥

जो ये भोग इस ब्रह्मलोकमें हैं उन्हें यह देखता हुआ रमण करता है। इस आत्माकी देवगण उपासना करते हैं। इसीसे उन्हें सम्पूर्ण लोक और समस्त भोग प्राप्त हैं। जो उस आत्माको शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार जानकर साक्षात् रूपसे अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है। ऐसा प्रजापतिने कहा, प्रजापतिने कहा ॥ ६ ॥

त्रयोदश खण्ड

श्याम ब्रह्मसे शबल ब्रह्मकी प्राप्तिका उपदेश

मैं श्याम (हृदयस्थ) ब्रह्मसे शबल ब्रह्मको प्राप्त होऊँ और शबलसे श्यामको प्राप्त होऊँ। अश्व जिस प्रकार रोएँ झाड़कर निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार मैं पापोंको झाड़कर तथा राहुके मुखसे निकले हुए चन्द्रमाके समान शरीरको त्यागकर कृतकृत्य हो अकृत (नित्य) ब्रह्मलोकको प्राप्त होता हूँ, ब्रह्मलोकको प्राप्त होता हूँ ॥ १ ॥

चतुर्दश खण्ड

आकाश नामक ब्रह्मका उपदेश

आकाश नामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूपका निर्वाह करनेवाला है। वे (नाम और रूप) जिसके अन्तर्गत हैं, वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वही आत्मा है। मैं प्रजापतिके सभागृहको प्राप्त होता हूँ; मैं यशःसंज्ञक आत्मा हूँ; मैं ब्राह्मणोंके यश, क्षत्रियोंके यश और वैश्योंके यश (यशःस्वरूप आत्मा) को प्राप्त होना चाहता हूँ। वह मैं यशोंका यश हूँ; मैं बिना दाँतोंके भक्षण करनेवाले रोहितवर्ण पिच्छिल स्त्री-चिह्नको प्राप्त न होऊँ, प्राप्त न होऊँ ॥ १ ॥

पञ्चदश खण्ड

आत्मज्ञानकी परम्परा, नियम और उसका फल

इस पूर्वोक्त आत्मज्ञानका ब्रह्माने प्रजापतिके प्रति वर्णन किया, प्रजापतिने मनुसे कहा, मनुने प्रजावर्गको सुनाया। नियमानुसार गुरुके कर्तव्यकर्मोंको समाप्त करता हुआ वेदका अध्ययन करके आचार्यकुलसे लौटकर गृहस्थाश्रममें स्थित होता है, फिर पवित्र स्थानमें स्वाध्याय करता हुआ [पुत्र एवं शिष्यादिको] धार्मिक बनाकर, सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने अन्तःकरणमें स्थापित कर शास्त्रकी आज्ञासे अन्यत्र प्राणियोंकी हिंसा न करता हुआ और आयुकी समाप्तिपर्यन्त इस प्रकार बर्तता हुआ [अन्तमें] वह निश्चय ही ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है; और फिर नहीं लौटता, फिर नहीं लौटता ॥ १ ॥

॥ अष्टम अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

॥ सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ केनोपनिषद्के आरम्भमें दिया जा चुका है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

बृहदारण्यकोपनिषद्

बृहदारण्यक उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदकी काण्वी शाखाके वाजसनेयि ब्राह्मणके अन्तर्गत है। आकारमें यह सबसे बृहत् (बड़ी) है एवं अरण्य (वनमें) अध्ययन की जानेसे इसे आरण्यक कहा जाता है। इस प्रकार 'बृहत्' और 'आरण्यक' होनेके कारण इसका 'बृहदारण्यक' नाम हो गया

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ ईशावास्योपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है।

प्रथम अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

यज्ञकी अश्वके रूपमें कल्पना

ॐ उषा (ब्राह्ममुहूर्त्त) यज्ञसम्बन्धी अश्वका सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख है और संवत्सर यज्ञिय अश्वका आत्मा है। द्युलोक उसका पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखनेका स्थान है, दिशाएँ पार्श्वभाग हैं, अवान्तर दिशाएँ पसलियाँ हैं, ऋतुएँ अङ्ग हैं, मास और अर्द्धमास पर्व (सन्धिस्थान) हैं, दिन और रात्रि प्रतिष्ठा (पाद) हैं, नक्षत्र अस्थियाँ हैं, आकाश (आकाशस्थित मेघ) मांस हैं, बालू ऊवध्य (उदरस्थित अर्धजीर्ण अन्न) है, नदियाँ गुदा—नाडियाँ हैं, पर्वत यकृत् और हृदयगत मांसखण्ड हैं, ओषधि और वनस्पतियाँ रोम हैं, उदय होता हुआ सूर्य नाभिसे ऊपरका भाग और अस्त होता हुआ सूर्य कटिसे नीचेका भाग है। उसका जमुहाई लेना बिजलीका चमकना है और शरीर हिलाना मेघका गर्जन है। वह जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है और हिनहिनाना ही उसकी वाणी है ॥ १ ॥

अश्वके सामने महिमारूपसे दिन प्रकट हुआ; उसकी पूर्वसमुद्र योनि है। रात्रि इसके पीछे महिमारूपसे प्रकट हुई; उसकी अपर (पश्चिम—) समुद्र योनि है। ये ही दोनों इस अश्वके आगे-पीछेके महिमासंज्ञक ग्रह हुए। इसने हय होकर देवताओंको, वाजी होकर गन्धर्वोंको, अर्वा होकर असुरोंको और अश्व होकर मनुष्योंको वहन किया है। समुद्र ही इसका बन्धु है और समुद्र ही उद्गमस्थान है ॥ २ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

प्रलयके अनन्तर सृष्टिकी उत्पत्ति

पहले यहाँ कुछ भी नहीं था। यह सब मृत्युसे—प्रलयसे ही आवृत था। यह अशनाया (क्षुधा) से आवृत था। अशनाया ही मृत्यु है। उसने 'मैं आत्मा (मन) से युक्त होऊँ' ऐसा मन—संकल्प किया। उसने अर्चन (पूजन) करते हुए आचरण किया। उसके अर्चन करनेसे आप (सूक्ष्म जल) हुआ। अर्चन करते हुए मेरे लिये क (जल) प्राप्त हुआ है, अतः यही अर्कका[1] अर्कत्व है। जो इस प्रकार अर्कके इस अर्कत्वको जानता है उसे निश्चय क (सुख) होता है ॥ १ ॥

---

[1]. 'अर्चते कम् अर्कम्' अर्थात् जिसके अर्चन करनेवालेको क (जल या सुख) हो उसका नाम अर्क है। इस व्युत्पत्तिसे 'अर्क' अग्निको कहते हैं।

आप (जल) ही अर्क हैं । उन आपोंका जो शर (स्थूलभाग) था, वह एकत्रित हो गया । वह पृथिवी हो गयी । उसके उत्पन्न होनेपर वह [मृत्यु] थक गया । उस थके और तपे हुए प्रजापतिके शरीरसे उसका सारभूत तेज अग्नि प्रकट हुआ ॥ २ ॥

उस अग्निने अपनेको तीन प्रकारसे विभक्त किया । उसने आदित्यको तीसरा भाग किया और वायुको तीसरा । इस प्रकार यह प्राण तीन भागोंमें हो गया । उसका पूर्व दिशा सिर है तथा इधर-उधरकी (ईशानी और आग्नेयी) विदिशाएँ बाहु हैं । इसी प्रकार पश्चिम दिशा इसका पुच्छ है तथा इधर-उधरकी (वायव्य और नैर्ऋत्य) विदिशाएँ जङ्घाएँ हैं । दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पार्श्व हैं, द्युलोक पृष्ठभाग है, अन्तरिक्ष उदर है, यह (पृथिवी) हृदय है । यह (अग्निरूप विराट् प्रजापति) जलमें स्थित है । इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष जहाँ-कहीं जाता है, वहीं प्रतिष्ठित होता है ॥ ३ ॥

उसने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो; अतः उस अशनायारूप मृत्युने मनसे वेदत्रयीरूप मिथुनकी भावना की । उससे जो रेत (बीज) हुआ, वह संवत्सर हुआ । इससे पूर्व संवत्सर नहीं था । उस संवत्सरको, जितना संवत्सरका काल होता है, उतने समयतक वह (मृत्युरूप प्रजापति) गर्भमें धारण किये रहा । इतने समयके पीछे उसने उसको उत्पन्न किया । उस उत्पन्न हुए कुमारके प्रति मुख फैलाया । इससे उसने 'भाण्' ऐसा शब्द किया । वही (नाद) वाक् हुआ । उसने विचार किया, 'यदि मैं इसे मार डालूँगा तो यह थोड़ा-सा ही अन्न [भोजन] करूँगा ।' अतः उसने उस वाणी और उस मनके द्वारा इन सबको रचा, जो कुछ भी ये ऋक्, यजुः, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा और पशु हैं । उसने जिस-जिसकी रचना की उसी-उसीको खानेका विचार किया । वह सबको खाता है, यही उस अदितिका अदितित्व है । जो इस प्रकार इस अदितिके अदितित्वको जानता है वह इस सबका अत्ता (भोक्ता) होता है और यह सब उसका अन्न (भोग्य) होता है ॥ ४-५ ॥

उसने यह कामना की कि मैं पुनः महान् यज्ञसे यजन करूँ । इससे वह श्रमित हो गया । उसने तप किया । उस थके और तपे हुए मृत्युका यश और वीर्य निकल गया । प्राण ही यश और वीर्य हैं । तब प्राणोंके निकल जानेपर शरीरने फूलना आरम्भ किया । किंतु उसका मन शरीरमें ही रहा ॥ ६ ॥

उसने कामना की कि मेरा यह शरीर मेध्य (यज्ञिय) हो; मैं इसके द्वारा शरीरवान् होऊँ । क्योंकि वह शरीर अश्वत् अर्थात् फूल गया था, इसलिये वह अश्व हो गया और वह मेध्य हुआ । अतः यही अश्वमेधका अश्वमेधत्व है । जो इसे इस प्रकार जानता है वही अश्वमेधको जानता है । उसने उसे अवरोधरहित (बन्धनशून्य) ही चिन्तन किया । उसने संवत्सरके पश्चात् उसका अपने ही लिये (अर्थात् इसका देवता प्रजापति है—इस भावसे) आलभन किया, तथा अन्य पशुओंको भी देवताओंके प्रति पहुँचाया । अतः याज्ञिकलोग मन्त्रद्वारा संस्कार किये हुए सर्व-देवसम्बन्धी प्राजापत्य पशुका आलभन करते हैं । यह जो [सूर्य] तपता है वही अश्वमेध है । उसका संवत्सर शरीर है, यह अग्नि अर्क है, तथा उसके ये लोक आत्मा हैं । ये ही दोनों (अग्नि और आदित्य) अर्क और अश्वमेध हैं । किंतु वे मृत्युरूप एक ही देवता हैं । जो इस प्रकार जानता है, वह पुनर्मृत्युको जीत लेता है; उसे मृत्यु नहीं पा सकता, मृत्यु उसका आत्मा ही हो जाता है तथा वह इन देवताओंमेंसे ही एक हो जाता है ॥ ७ ॥

तृतीय ब्राह्मण

प्राण-महिमा

प्रजापतिके दो प्रकारके पुत्र थे—देव और असुर । उनमें देव थोड़े ही थे और असुर अधिक थे । इन लोकोंमें वे परस्पर स्पर्धा (डाह) करने लगे । उनमेंसे देवताओंने कहा, 'हम यज्ञमें उद्गीथके द्वारा असुरोंका अतिक्रमण करें' ॥ १ ॥

उन देवताओंने वाक्से कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो ।' वाक्ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उनके लिये उद्गान किया । उसने जो वाणीमें भोग था, उसे देवताओंके लिये आगान किया और जो शुभ भाषण करती थी, उसे अपने लिये गाया । तब असुरोंने जाना कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे । अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया । यह वाणी जो अनुचित (असत्य-कटुवचनादि) भाषण करती है, वही वह पाप है, वही वह पाप है । फिर उन्होंने [प्राणरूप] प्राणसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो ।' तब प्राणने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये

उद्गान किया। प्राणमें जो भोग है, उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और जो कुछ वह शुभ गन्ध सूँघता है, उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके समीप जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित सूँघता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। फिर उन्होंने चक्षुसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' तब चक्षुने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। चक्षुमें जो भोग है, उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और जो कुछ वह शुभ दर्शन करता है, उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित (निषिद्ध पदार्थोंको) देखता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। फिर उन्होंने श्रोत्रसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' तब श्रोत्रने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। श्रोत्रमें जो भोग है, उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और वह जो शुभ श्रवण करता है, उसे अपने लिये गाया। असुरोंने जाना कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उसके पास जाकर उन्होंने उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित (ईश्वरनिन्दा, परनिन्दा, आत्म-प्रशंसा आदि) श्रवण करता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। फिर उन्होंने मनसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' तब मनने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। मनमें जो भोग है, उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और वह जो शुभ सङ्कल्प करता है, उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उसके पास जाकर उन्होंने उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित (काम-क्रोध-लोभ-वैर-हिंसा आदिके) सङ्कल्प करता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। इस प्रकार निश्चय ही इन देवताओंको पापका संसर्ग हुआ और ऐसे ही [असुरोंने] इन्हें पापसे विद्ध किया॥२–६॥

फिर अपने मुखमें रहनेवाले प्राणसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर इस प्राणने उनके लिये उद्गान किया। असुरोंने जाना कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध करना चाहा। किंतु जिस प्रकार पत्थरसे टकराकर मिट्टीका ढेला नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वे विध्वस्त होकर अनेक प्रकारसे नष्ट हो गये। तब देवगण [विजेता होकर] प्रकृतिस्थ हो गये और असुरोंका पराभव हुआ। जो इस प्रकार जानता है, वह प्रजापतिरूपसे स्थित होता है और उससे द्वेष करनेवाले भ्रातृव्य (सौतेले भाई) का पराभव होता है॥ ७॥

वे बोले, 'जिसने हमें इस प्रकार देवभावको प्राप्त करवाया है, वह कहाँ है?' [उन्होंने विचार करके निश्चय किया कि] 'यह आस्य (मुख) के भीतर है, अतः यह अयास्य आङ्गिरस है, क्योंकि यह अङ्गोंका सार—रस है।' इस पूर्वोक्त देवताका 'दूर्' नाम है, क्योंकि इससे मृत्यु दूर है। जो ऐसा जानता है, उससे मृत्यु दूर रहता है॥ ८-९॥

उस इस प्राणदेवताने इन वागादि देवताओंके पापरूप मृत्युको हटाकर जहाँ इन दिशाओंका अन्त है वहाँ पहुँचा दिया। वहाँ इनके पापको उसने तिरस्कारपूर्वक स्थापित कर दिया। अतः 'मैं पापरूप मृत्युसे संश्लिष्ट न हो जाऊँ' इस भयसे अन्त्यजनोंके पास न जाय और अन्त दिशामें भी न जाय। उस इस प्राणदेवताने इन देवताओंके पापरूप मृत्युको दूरकर फिर इन्हें मृत्युके पार [अग्न्यादि देवतात्म-भावको प्राप्त] कर दिया। उस प्रसिद्ध प्राणने प्रधान वाग्देवताको [मृत्युके] पार पहुँचाया। वह वाक् जिस समय मृत्युसे पार हुई, यह अग्नि हो गयी। वह यह अग्नि मृत्युसे परे उसका अतिक्रमण करके देदीप्यमान है। फिर प्राणका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ, यह वायु हो गया। वह यह अतिक्रान्त वायु मृत्युसे परे बहता है। फिर चक्षुका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ, यह आदित्य हो गया। वह यह अतिक्रान्त आदित्य मृत्युसे परे तपता है। फिर श्रोत्रका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ, यह दिशा हो गया। वे ये अतिक्रान्त दिशाएँ मृत्युसे परे हैं। फिर मनका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ, यह चन्द्रमा हो गया। वह यह अतिक्रान्त चन्द्रमा मृत्युसे परे प्रकाशमान है। इसी प्रकार यह देवता उसका मृत्युसे अतिवहन करती है जो कि इसे इस प्रकार जानता है। फिर उसने अपने लिये अन्नाद्यरूपी खाद्यका आवाहन किया, क्योंकि जो भी कुछ अन्न खाया जाता है, वह प्राणके ही द्वारा खाया जाता है तथा उस अन्नमें प्राण प्रतिष्ठित होता है॥ १०–१७॥

वे देवगण बोले, 'यह जो अन्न है, वह सब तो इतना ही है; उसे तुमने अपने लिये आवाहन कर लिया है। अतः

अब पीछेसे हमें भी इस अन्नमें भागी बनाओ ।' [प्राणने कहा] 'वे तुमलोग सब ओरसे मुझमें प्रवेश कर जाओ ।' तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर वे सब ओरसे उसमें प्रवेश कर गये । अतः प्राणके द्वारा पुरुष जो अन्न खाता है उससे ये प्राण भी तृप्त होते हैं । अतः जो इस प्रकार जानता है उसका ज्ञातिजन सब ओरसे आश्रय ग्रहण करते हैं, वह स्वजनोंका भरण करनेवाला, उनमें श्रेष्ठ और उनके आगे चलनेवाला होता है तथा अन्न भक्षण करनेवाला और सबका अधिपति होता है । ज्ञातियोंमेंसे जो भी इस प्रकार जाननेवालेके प्रति प्रतिकूल होना चाहता है वह अपने आश्रितोंका पोषण करनेमें समर्थ नहीं होता; और जो भी इसके अनुकूल रहता है—जो भी इसके अनुसार रहकर अपने आश्रितोंका भरण करना चाहता है वह निश्चय ही अपने आश्रितोंके भरणमें समर्थ होता है ॥ १८ ॥

वह प्राण अयास्य आङ्गिरस है, क्योंकि वह अङ्गोंका रस (सार) है । प्राण ही अङ्गोंका रस है; निश्चय प्राण ही अङ्गोंका रस है, क्योंकि जिस किसी अङ्गसे प्राण उत्क्रमण कर जाता है, वह उसी जगह सूख जाता है; अतः यही अङ्गोंका रस है । यही बृहस्पति है । वाक् ही बृहती है, उसका यह पति है; इसलिये यह बृहस्पति है । यही ब्रह्मणस्पति है । वाक् ही ब्रह्म—वेद है, उसका यह पति है; इसलिये यह ब्रह्मणस्पति है । यही साम है । वाक् ही 'सा' है और यह (प्राण) अम है । 'सा' और 'अम' ही साम हैं । यही सामका सामत्व है । क्योंकि यह प्राण मक्खीके समान है, मच्छरके समान है, हाथीके समान है, इस त्रिलोकीके समान है और इस सभीके समान है, इसीसे यह साम है । जो इस सामको इस प्रकार जानता है वह सामका सायुज्य और उसकी सलोकता प्राप्त करता है । यही उद्गीथ है । प्राण ही उत् है; प्राणके द्वारा ही यह सब उत्तब्ध—धारण किया हुआ है । वाक् ही गीथा है । वह उत् है और गीथा भी है; इसलिये उद्गीथ है ॥ १९–२३ ॥

उस [प्राण] के विषयमें यह आख्यायिका भी है—चैकितानेय ब्रह्मदत्तने यज्ञमें सोम भक्षण करते हुए कहा, 'यदि अयास्य और आङ्गिरसनामक मुख्य प्राणने वाणीसे युक्त प्राणसे भिन्न अन्य देवताद्वारा उद्गान किया हो तो यह सोम मेरा सिर गिरा दे ।' अतः उसने प्राण और वाक्के ही द्वारा उद्गान किया था—ऐसा निश्चय होता है ॥ २४ ॥

जो इस पूर्वोक्त सामशब्दवाच्य मुख्य प्राणके स्व (धन) को जानता है उसे धन प्राप्त होता है । निश्चय स्वर ही उसका धन है । अतः ऋत्विक् कर्म करनेवालेको वाणीमें स्वरकी इच्छा करनी चाहिये । उस स्वरसम्पन्न वाणीसे ऋत्विक् कर्म करे । इसीसे यज्ञमें स्वरवान् उद्गाताको देखनेकी इच्छा करते ही हैं । लोकमें भी जिसके पास धन होता है [उसे ही देखना चाहते हैं] । जो इस प्रकार इस सामके धनको जानता है उसे धन प्राप्त होता है । जो उस सामके सुवर्णको जानता है उसे सुवर्ण प्राप्त होता है । उसका स्वर ही सुवर्ण है । जो इस प्रकार इस सामके सुवर्णको जानता है उसे सुवर्ण मिलता है । जो उस सामकी प्रतिष्ठाको जानता है वह प्रतिष्ठित होता है । उसकी वाणी ही प्रतिष्ठा है । निश्चय वाणीमें प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गाया जाता है । कोई-कोई यह कहते हैं कि 'वह अन्नमें प्रतिष्ठित होकर गाया जाता है' ॥ २५–२७ ॥

अब आगे पवमान नामक सामोंका ही अभ्यारोह कहा जाता है । वह प्रस्तोता निश्चय सामका ही प्रस्ताव (आरम्भ) करता है । जिस समय वह प्रस्ताव करे उस समय इन मन्त्रोंको जपे—'असतो मा सद्गमय', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' ।* वह जिस समय कहता है—'मुझे असत्से सत्की ओर ले जाओ' यहाँ मृत्यु ही असत् है और अमृत सत् है । अतः वह यही कहता है कि मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ अर्थात् मुझे अमर कर दो । जब कहता है—'मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जाओ' तो यहाँ मृत्यु ही अन्धकार है और अमृत ज्योति है । यानी उसका यही कथन है कि मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ—मुझे अमर कर दो । मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ—इसमें तो कोई बात छिपी है ही नहीं । इनके पीछे जो अन्य स्तोत्र हैं उनमें अपने लिये अन्नाद्यका आगान करे । उनका गान किये जानेपर यजमान वर माँगे और जिस भोगकी इच्छा हो, उसे माँगे । इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता अपने या यजमानके लिये जिस भोगकी कामना करता है उसीका आगान करता है । वह यह प्राणदर्शन लोकप्राप्तिका साधन है । जो इस प्रकार इस सामको जानता है उसे लोक-प्राप्ति न होनेकी आशा तो होती ही नहीं ॥ २८ ॥

---

* 'मुझे असत्से सत्की ओर ले जाओ', 'मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जाओ', 'मुझे मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले जाओ ।'

चतुर्थ ब्राह्मण

ब्रह्मकी सर्वरूपता और चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि

पहले यह पुरुषाकार आत्मा ही था। उसने आलोचना करनेपर अपनेसे भिन्न और कोई न देखा। उसने आरम्भमें 'अहमस्मि'[1] ऐसा कहा, इसलिये उसका 'अहम्' नाम हुआ। इसीसे अब भी पुकारे जानेपर पहले 'अयमहम्'[2] ऐसा ही कहकर उसके पश्चात् अपना जो दूसरा नाम होता है वह बतलाता है। क्योंकि इस सबसे पूर्ववर्ती उस [आत्मासंज्ञक प्रजापति] ने समस्त पापोंको उषन—दग्ध कर दिया था इसलिये यह पुरुष हुआ। जो ऐसी उपासना करता है, वह उसे दग्ध कर देता है, जो उससे पहले प्रजापति होना चाहता है॥ १॥

वह भयभीत हो गया। इसीसे अकेला पुरुष भय मानता है। उसने यह विचार किया 'यदि मेरे सिवा कोई दूसरा नहीं है तो मैं किससे डरता हूँ?' तभी उसका भय निवृत्त हो गया। किंतु उसे भय क्यों हुआ? क्योंकि भय तो दूसरेसे ही होता है। वह [अकेला] रमण नहीं करता था। इसी कारण अब भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरेकी इच्छा की। जिस प्रकार परस्पर आलिङ्गित स्त्री और पुरुष होते हैं, वैसा ही उसका परिमाण हो गया। उसने इस अपनी देहको ही दो भागोंमें विभक्त कर डाला। उससे पति और पत्नी हुए। इसलिये यह शरीर अर्द्धबृगल (द्विदल अन्नके एक दल) के समान है—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। इसलिये यह [पुरुषार्द्ध] आकाश स्त्रीसे पूर्ण होता है। वह उस (स्त्री) से संयुक्त हुआ; उसीसे मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। उस (शतरूपा) ने यह विचार किया कि 'अपनेसे ही उत्पन्न करके यह मुझसे क्यों समागम करता है? अच्छा, मैं छिप जाऊँ' अतः वह गौ हो गयी, तब दूसरा यानी मनु वृषभ होकर उससे सम्भोग करने लगा, इससे गाय-बैल उत्पन्न हुए। तब वह घोड़ी हो गयी और मनु अश्वश्रेष्ठ हो गया। फिर वह गर्दभी हो गयी और मनु गर्दभ हो गया और उससे समागम करने लगा। इससे एक खुरवाले पशु उत्पन्न हुए। तदनन्तर शतरूपा बकरी हो गयी और मनु बकरा हो गया। फिर वह भेड़ हो गयी और मनु भेड़ा होकर उससे समागम करने लगा। इससे बकरी और भेड़ोंकी उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार चींटीसे लेकर ये जितने मिथुन (स्त्री-पुरुषरूप जोड़े) हैं, उन सभीकी उन्होंने रचना कर डाली॥ २—४॥

उस प्रजापतिने 'मैं ही सृष्टि हूँ' ऐसा जाना। मैंने इस सबको रचा है। इस कारण वह 'सृष्टि' नामवाला हुआ। जो ऐसा जानता है वह इस (प्रजापति) की सृष्टिमें [स्रष्टा] होता है। फिर उसने इस प्रकार मन्थन किया। उसने मुखरूप योनिसे दोनों हाथोंद्वारा [मन्थन करके] अग्निको रचा। इसलिये ये दोनों भीतरकी ओरसे रोमरहित हैं, क्योंकि योनि भी भीतरसे रोमरहित ही होती है। अतः [याज्ञिक लोग अग्नि, इन्द्र आदिको] एक-एक (भिन्न-भिन्न) देवता मानते हुए जो ऐसा कहते हैं कि 'इस (अग्नि) का यजन करो, इस (इन्द्र) का यजन करो' सो वह तो इस एक ही देवकी विसृष्टि है। यह [प्रजापति] ही सर्वदेवरूप है। इसके बाद जो कुछ यह द्रवरूप है, उसे उसने वीर्यसे उत्पन्न किया, वही सोम है। इतना ही यह सब अन्न और अन्नाद है। सोम ही अन्न है और अग्नि ही अन्नाद है। यह ब्रह्माकी अतिसृष्टि है कि उसने अपनेसे उत्कृष्ट देवताओंकी रचना की—स्वयं मर्त्य होनेपर भी अमृतोंको उत्पन्न किया। इसलिये यह अतिसृष्टि है। जो इस प्रकार जानता है वह इसकी इस अतिसृष्टिमें ही हो जाता है॥ ५—६॥

यह पूर्वोक्त जगत् उस समय (उत्पत्तिसे पूर्व) अव्याकृत था। वह नाम-रूपके योगसे व्यक्त हुआ; अर्थात् 'यह इस नाम और इस रूपवाला है' इस प्रकार व्यक्त हुआ। अतः इस समय भी यह अव्याकृत वस्तु 'इस नाम और इस रूपवाली है' इस प्रकार व्यक्त होती है। वह यह (व्याकर्ता) इस (शरीर) में नखाग्रपर्यन्त प्रवेश किये हुए है, जिस प्रकार कि छुरा छुरेके घरमें छिपा रहता है अथवा विश्वका भरण करनेवाला अग्नि अग्निके आश्रय (काष्ठादि) में गुप्त रहता है। परंतु उसे लोग देख नहीं सकते। वह असम्पूर्ण है; प्राणनक्रियाके कारण ही वह प्राण है, बोलनेके कारण वाक् है, देखनेके कारण चक्षु है, सुननेके कारण श्रोत्र है और मनन करनेके कारण मन है। ये इसके कर्मानुसारी नाम ही हैं। अतः इनमेंसे जो एक-एककी उपासना करता है, वह नहीं जानता। वह असम्पूर्ण ही है। वह एक-एक विशेषणसे ही युक्त होता है। अतः 'आत्मा है' इस प्रकार ही उसकी उपासना करे, क्योंकि इस (आत्मा) में ही वे सब एक हो जाते हैं। यह जो आत्मा है, वही इन सबका प्राप्तव्य है; क्योंकि यह

१. मैं हूँ। २. यह मैं हूँ।

आत्मा है, इस आत्माके ज्ञात होनेसे ही मनुष्य इस सब जगत्को जानता है। जिस प्रकार पदों (खुर आदिके चिह्नों) द्वारा [खोये हुए पशुको] प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार जो ऐसा जानता है, वह इसके द्वारा यश और इष्ट पुरुषोंका सहवास प्राप्त करता है। वह यह आत्मतत्त्व पुत्रसे अधिक प्रिय है; धनसे अधिक प्रिय है, और अन्य सबसे भी अधिक प्रिय है; क्योंकि यह आत्मा उनकी अपेक्षा अन्तरतर है। वह जो आत्मप्रियदर्शी है, यदि आत्मासे भिन्न (अनात्मा) को प्रिय कहनेवाले पुरुषसे कहे कि 'तेरा प्रिय नष्ट हो जायगा' तो वैसा ही हो जायगा, क्योंकि वह समर्थ होता है। अतः आत्मारूप प्रियकी ही उपासना करे। जो आत्मारूप प्रियकी ही उपासना करता है उसका प्रिय अत्यन्त मरणशील नहीं होता ॥ ७-८ ॥

[ब्राह्मणोंने] यह कहा कि ब्रह्मविद्याके द्वारा मनुष्य "हम सर्व हो जायँगे ऐसा मानते हैं; [सो] उस ब्रह्मने क्या जाना जिससे वह सर्व हो गया ?" ॥ ९ ॥

पहले यह ब्रह्म ही था; उसने अपनेको ही जाना कि मैं 'ब्रह्म हूँ'। अतः वह सर्व हो गया। उसे देवोंमेंसे जिस-जिसने जाना, वही तद्रूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमेंसे भी [जिसने उसे जाना, वह तद्रूप हो गया]। उसे आत्मरूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना—'मैं मनु हुआ और सूर्य भी।' उस इस ब्रह्मको इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', वह यह सर्व हो जाता है। उसके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है। और जो अन्य देवताकी 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार उपासना करता है, वह नहीं जानता। जैसे पशु होता है, वैसे ही वह देवताओंका पशु है। जैसे लोकमें बहुत-से पशु मनुष्यका पालन करते हैं, उसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओंका पालन करता है। एक पशुका ही हरण किये जानेपर अच्छा नहीं लगता, फिर बहुतोंका हरण होनेपर तो कहना ही क्या है ? इसलिये देवताओंको वह प्रिय नहीं है कि मनुष्य [ब्रह्मात्मतत्त्वको] जानें ॥ १० ॥

आरम्भमें यह एक ब्रह्म ही था। अकेला होनेके कारण वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने अतिशयतासे क्षत्र इस प्रशस्त रूपकी रचना की। अर्थात् देवताओंमें क्षत्रिय जो ये इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि हैं, उन्हें उत्पन्न किया। अतः क्षत्रियसे उत्कृष्ट कोई नहीं है। इसीसे राजसूय-यज्ञमें ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रियकी उपासना करता है, वह क्षत्रियमें ही अपने यशको स्थापित करता है। यह जो ब्राह्मण है, क्षत्रियकी योनि है। इसलिये यद्यपि राजा उत्कृष्टताको प्राप्त होता है तो भी [राजसूयके] अन्तमें वह ब्राह्मणका ही आश्रय लेता है। अतः जो क्षत्रिय इस (ब्राह्मण) की हिंसा करता है, वह अपनी योनिका ही नाश करता है। जिस प्रकार श्रेष्ठकी हिंसा करनेसे पुरुष पापी होता है, उसी प्रकार वह पापी होता है ॥ ११ ॥

वह (ब्रह्म) विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने वैश्यजातिकी रचना की। जो ये वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् इत्यादि देवगण गणशः कहे जाते हैं [उन्हें उत्पन्न किया]। [फिर भी] वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने शूद्रवर्णकी रचना की। पूषा शूद्रवर्ण है। यह पृथिवी ही पूषा है, क्योंकि यह जो कुछ है, यही उसका पोषण करती है ॥ १२-१३ ॥

तब भी वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने अतिशयतासे श्रेयोरूप धर्मको रचा। यह जो धर्म है, क्षत्रियका भी नियन्ता है। अतः धर्मसे उत्कृष्ट कुछ नहीं है। इसलिये जिस प्रकार राजाकी सहायतासे [प्रबल शत्रुको भी जीतनेकी शक्ति आ जाती है] उसी प्रकार धर्मके द्वारा निर्बल पुरुष भी बलवान्को जीतनेकी इच्छा करने लगता है। वह जो धर्म है, निश्चय सत्य ही है। इसीसे सत्य बोलनेवालेके विषयमें कहते हैं कि 'यह धर्म भाषण करता है' तथा धर्म भाषण करनेवालेसे कहते हैं कि 'यह सत्य भाषण करता है', क्योंकि ये दोनों यही (धर्म ही) हैं १४ ॥

वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। [इन्हें उत्पन्न करनेवाला] ब्रह्म अग्निरूपसे देवताओंमें ब्राह्मण हुआ। तथा मनुष्योंमें ब्राह्मणरूपसे ब्राह्मण, क्षत्रियरूपसे क्षत्रिय, वैश्यरूपसे वैश्य और शूद्ररूपसे शूद्र हुआ। इसीसे अग्निमें ही [कर्म करके] देवताओंके बीच कर्मफलकी इच्छा करते हैं तथा मनुष्योंके बीच ब्राह्मणजातिमें ही कर्मफलकी इच्छा करते हैं, क्योंकि ब्रह्म इन दो रूपोंसे ही व्यक्त हुआ था। तथा जो कोई इस लोकसे आत्माका दर्शन किये बिना ही चला जाता है, उसका यह अविदित आत्मलोक [शोक-मोहादिकी निवृत्तिके द्वारा] वैसे ही पालन नहीं करता, जैसे कि बिना अध्ययन किया हुआ वेद अथवा बिना अनुष्ठान किया हुआ कोई अन्य कर्म। इस प्रकार (आत्माको) न जाननेवाला पुरुष यदि इस लोकमें कोई महान् पुण्यकर्म भी करे, तो भी अन्तमें उसका वह कर्म क्षीण हो ही जाता है; अतः

आत्मलोककी ही उपासना करनी चाहिये। जो पुरुष आत्मलोककी ही उपासना करता है, उसका कर्म क्षीण नहीं होता। इस आत्मासे पुरुष जिस-जिस वस्तुकी कामना करता है, उसी-उसीको प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

यह आत्मा (गृही कर्माधिकारी) समस्त जीवोंका लोक (भोग्य) है। वह जो हवन और यज्ञ करता है, उससे देवताओंका भोग्य होता है; जो स्वाध्याय करता है, उससे ऋषियोंका; जो पितरोंके लिये पिण्डदान करता है और सन्तानकी इच्छा करता है, उससे पितरोंका; जो मनुष्योंको वासस्थान और भोजन देता है, उससे मनुष्योंका और जो पशुओंको तृण एवं जलादि पहुँचाता है, उससे पशुओंका भोग्य होता है। इसके घरमें जो [कुत्ते-बिल्ली आदि] श्वापद, पक्षी और चींटीपर्यन्त जीव-जन्तु इसके आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं, उससे यह उनका भोग्य होता है। जिस प्रकार लोकमें सब अपने शरीरका अविनाश चाहते हैं, उसी प्रकार यों जाननेवालेका सब जीव अविनाश चाहते हैं। इस (हवन आदि) कर्मकी अवश्यकर्तव्यता [पञ्चमहायज्ञप्रकरणमें] ज्ञात है और [अवदानप्रकरणमें] इसकी मीमांसा की गयी है ॥ १६ ॥

पहले एक यह आत्मा ही था। उसने कामना की कि 'मेरे स्त्री हो, फिर मैं सन्तानरूपसे उत्पन्न होऊँ। तथा मेरे धन हो, फिर मैं कर्म करूँ।' बस, इतनी ही कामना है। इच्छा करनेपर इससे अधिक कोई नहीं पाता। इसीसे अब भी एकाकी पुरुष यह कामना करता है कि मेरे स्त्री हो, फिर मैं सन्तानरूपसे उत्पन्न होऊँ तथा मेरे धन हो तो फिर मैं कर्म करूँ। वह जबतक इनमेंसे एकको भी प्राप्त नहीं करता, तबतक वह अपनेको अपूर्ण ही मानता है। उसकी पूर्णता इस प्रकार होती है—मन ही इसका आत्मा है; वाणी स्त्री है; प्राण सन्तान है और नेत्र मानुष-वित्त है, क्योंकि वह नेत्रसे ही गौ आदि मानुष-वित्तको जानता है। श्रोत्र दैव-वित्त है; क्योंकि श्रोत्रसे ही वह उसे (दैव-वित्तको) सुनता है। आत्मा (शरीर) ही इसका कर्म है; क्योंकि आत्मासे ही यह कर्म करता है। यह आत्मदर्शनरूप यज्ञ पाङ्क्त है, पशु पाङ्क्त है, पुरुष पाङ्क्त है तथा यह कर्म एवं साधनरूप जो कुछ है, सब पाङ्क्त है। जो ऐसा जानता है, वह इन सभीको प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

अन्नकी उत्पत्ति और उपासना; मन, वाणी और प्राणके रूपमें सृष्टिका विभाग

पिता (प्रजापति) ने विज्ञान और कर्मके द्वारा जिन सात अन्नोंकी रचना की, उनमेंसे इसका एक अन्न साधारण है (अर्थात् वह सभी प्राणियोंका भोग्य है); दो अन्न उसने देवताओंको बाँट दिये; तीन अपने लिये रक्खे, एक पशुओंको दिया। उस (पशुओंको दिये हुए अन्न) में, जो प्राणनक्रिया करते हैं और जो नहीं करते, वे सभी प्रतिष्ठित हैं। ये अन्न सर्वदा खाये जानेपर भी क्षीण क्यों नहीं होते? जो इस (अन्नके) अक्षयभावको जानता है, वह मुखरूप प्रतीकके द्वारा अन्न भक्षण करता है। वह देवताओंको प्राप्त होता है तथा अमृतका भोक्ता होता है। इस विषयमें ये श्लोक (मन्त्र) हैं—॥ १ ॥

'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता' इसका यह अर्थ प्रसिद्ध है कि पिताने ज्ञान और कर्मके द्वारा ही अन्नोंको उत्पन्न किया। उसका एक अन्न साधारण है। अर्थात् यह जो खाया जाता है, वही इसका साधारण अन्न है। जो इसीके परायण रहता है, वह पापसे दूर नहीं होता; क्योंकि यह अन्न मिश्र (समस्त प्राणियोंका सम्मिलित धन) है। दो अन्न उसने देवताओंको बाँटे—वे हुत और प्रहुत हैं। इसलिये गृहस्थ पुरुष देवताओंके लिये हवन और बलि अर्पण करता है। कोई ऐसा भी कहते हैं कि ये देवताओंके दो अन्न दर्श और पूर्णमास हैं; इसलिये इन्हें कामनापूर्वक न करे। एक अन्न पशुओंको दिया, वह दुग्ध है। मनुष्य और पशु पहले दुग्धके ही आश्रय जीवन धारण करते हैं, इसलिये उत्पन्न हुए बालकको पहले घृत चटाते हैं, या स्तनपान कराते हैं; तथा उत्पन्न हुए बछड़ेको भी अतृणाद (तृण भक्षण न करनेवाला) कहते हैं। जो प्राणनक्रिया करते हैं और जो नहीं करते, वे सब इस (पश्वन्न) में ही प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् जो प्राणन करते हैं और जो नहीं करते, वे सब हवि दुग्धमें ही प्रतिष्ठित हैं। अतः ऐसा जो कहते हैं कि एक सालतक दुग्धसे हवन करनेवाला पुरुष अपमृत्युको जीत लेता है, सो ऐसा नहीं समझना चाहिये; क्योंकि वह जिस दिन हवन करता है, उसी दिन अपमृत्युको जीत लेता है [एक सालकी अपेक्षा नहीं करता]। इस प्रकार जाननेवाला (उपासना करनेवाला) पुरुष देवताओंको सम्पूर्ण अन्नाद्य प्रदान करता है; किंतु सर्वदा खाये जानेपर भी वे अन्न क्षीण क्यों नहीं होते? इसका कारण यह है कि पुरुष अविनाशी है, वही पुनः-पुनः इस अन्नको

उत्पन्न कर देता है । जो भी इस अक्षयभावको जानता है अर्थात् पुरुष ही क्षयरहित है, वही इस अन्नको ज्ञान और कर्मद्वारा उत्पन्न कर देता है, यदि वह इसे उत्पन्न न करता तो यह क्षीण हो जाता—[ऐसा जो जानता है] वह प्रतीकके द्वारा—मुख ही प्रतीक है, अतः मुखके द्वारा अन्न भक्षण करता है। वह देवताओंको प्राप्त होता है और अमृतका भोक्ता होता है। यह (फलश्रुति) प्रशंसा है ॥ २ ॥

उसने तीन अन्न अपने लिये किये अर्थात् मन, वाणी और प्राणको उसने अपने लिये नियत किया। 'मेरा मन अन्यत्र था, इसलिये मैंने नहीं देखा; मेरा मन अन्यत्र था, इसलिये मैंने नहीं सुना' [ऐसा जो मनुष्य कहता है, इससे निश्चय होता है कि] वह मनसे ही देखता है और मनसे ही सुनता है। काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धारणशक्ति), अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—ये सब मन ही हैं। इसीसे पीछेसे स्पर्श किये जानेपर मनुष्य मनसे जान लेता है। जो कुछ भी शब्द है—वह वाक् ही है; क्योंकि यह वाच्यार्थके कथनमें रत है, इसलिये प्रकाश्य नहीं, प्रकाशक है। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और अन—ये सब प्राण ही हैं। यह आत्मा (शरीर) वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय ही है ॥ ३ ॥

तीनों लोक ये ही हैं। वाक् ही यह लोक है, मन अन्तरिक्षलोक है और प्राण वह (स्वर्ग) लोक है। तीनों वेद ये ही हैं। वाक् ही ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है। देवता, पितृगण और मनुष्य ये ही हैं। वाक् ही देवता हैं, मन पितृगण है और प्राण मनुष्य हैं। पिता, माता और सन्तान ये ही हैं। मन ही पिता है, वाक् माता है और प्राण सन्तान है। विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात ये ही हैं। जो कुछ विज्ञात है वह वाक्का रूप है। वाक् ही विज्ञाता है। वाक् इस (अपने ज्ञाता) की विज्ञात होकर रक्षा करती है। जो कुछ जिज्ञासाके योग्य है, वह मनका रूप है। मन ही विजिज्ञास्य है। मन विजिज्ञास्य होकर इसकी रक्षा करता है। जो कुछ अविज्ञात है, वह प्राणका रूप है। प्राण ही अविज्ञात है। प्राण अविज्ञात होकर इसकी रक्षा करता है ॥ ४–१० ॥

उस वाक्का पृथिवी शरीर है और यह अग्नि ज्योतीरूप है। इनमें जितनी वाक् है, उतनी ही पृथिवी है और उतना ही यह अग्नि है। तथा इस मनका द्युलोक शरीर है, ज्योतीरूप वह आदित्य है; इनमें जितना मन है, उतना ही द्युलोक और उतना ही वह आदित्य है। वे (आदित्य और अग्नि) मिथुन (पारस्परिक संसर्ग) को प्राप्त हुए। तब प्राण उत्पन्न हुआ। वह इन्द्र है और वह असपत्न—शत्रुहीन है; दूसरा [अर्थात् प्रतिपक्षी] ही सपत्न होता है। जो ऐसा जानता है, उसका सपत्न नहीं होता। तथा इस प्राणका जल शरीर है, वह चन्द्रमा ज्योतीरूप है। इनमें जितना प्राण है, उतना ही जल है और उतना ही वह चन्द्रमा है। ये सभी समान हैं और सभी अनन्त हैं। जो कोई इन्हें अन्तवान् समझकर उपासना करता है, वह अन्तवान् लोकपर जय प्राप्त करता है और जो इन्हें अनन्त समझकर उपासना करता है, वह अनन्त लोकपर जय प्राप्त करता है ॥ ११–१३ ॥

इस संवत्सररूप प्रजापतिकी सोलह कलाएँ (अङ्ग) हैं। उसकी तिथियाँ ही पंद्रह कलाएँ हैं, इसकी सोलहवीं कला ध्रुवा (नित्य) है। वह तिथियोंके द्वारा ही [शुक्लपक्षमें] वृद्धिको प्राप्त होता है तथा [कृष्णपक्षमें] क्षीण होता है। अमावास्याकी रात्रिमें वह (चन्द्रमा) इस सोलहवीं कलासे इन सब प्राणियोंमें अनुप्रविष्ट हो फिर [दूसरे दिन] प्रातःकालमें उत्पन्न होता है। अतः इस रात्रिमें किसी प्राणीके प्राणका विच्छेद न करे, यहाँतक कि इसी देवताकी पूजाके लिये [इस रात्रिमें] गिरगिटके भी प्राण न ले ॥ १४ ॥

जो भी यह सोलह कलाओंवाला संवत्सर प्रजापति है, यह वही है जो कि इस प्रकार जाननेवाला पुरुष है। वित्त ही उसकी पंद्रह कलाएँ हैं तथा आत्मा (शरीर) ही उसकी सोलहवीं कला है। वह वित्तसे ही बढ़ता और क्षीण होता है। यह जो आत्मा (पिण्ड) है, वह नभ्य (रथचक्रकी नाभिरूप) है और वित्त प्रधि (रथचक्रका बाहरका घेरा—नेमि) है। इसलिये यदि पुरुष सर्वस्वहरणके कारण ह्रासको प्राप्त हो जाय, किंतु शरीरसे जीवित रहे, तो यही कहते कि केवल प्रधिसे ही क्षीण हुआ है ॥ १५ ॥

अब मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक—ये ही तीन लोक हैं। वह यह मनुष्यलोक पुत्रके द्वारा ही जीता जा सकता है, किसी अन्य कर्मसे नहीं। तथा पितृलोक कर्मसे और देवलोक विद्या (उपासना) से जीते जा सकते हैं। लोकोंमें देवलोक ही श्रेष्ठ है; इसलिये विद्याकी प्रशंसा करते हैं ॥ १६ ॥

अब सम्प्रत्ति [कही जाती है—] जब पिता यह समझता है कि मैं मरनेवाला हूँ तब वह पुत्रसे कहता है—'तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है।' वह पुत्र बदलेमें कहता

है—'मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं लोक हूँ।' जो कुछ भी स्वाध्याय है, उस सबकी 'ब्रह्म' यह एकता है। जो कुछ भी यज्ञ हैं, उनकी 'यज्ञ' यह एकता है। और जो कुछ भी लोक हैं, उनकी 'लोक' यह एकता है। यह इतना ही गृहस्थ पुरुषका सारा कर्तव्य है। [फिर पिता यह मानने लगता है कि] यह मेरे इस भारको लेकर इस लोकसे जानेपर मेरा पालन करेगा। अतः इस प्रकार अनुशासन किये हुए पुत्रको 'लोक्य' (लोकप्राप्तिमें हितकर) कहते हैं। इसीसे पिता उसका अनुशासन करता है। इस प्रकार जाननेवाला वह पिता जब इस लोकसे जाता है, तब अपने इन्हीं प्राणोंके सहित पुत्रमें व्याप्त हो जाता है। यदि किसी कोणच्छिद्र (प्रमाद) से उस (पिता) के द्वारा कोई कर्तव्य नहीं किया होता है तो उस सबसे पुत्र उसे मुक्त कर देता है। इसीसे उसका नाम 'पुत्र' है। वह पिता पुत्रके द्वारा ही इस लोकमें प्रतिष्ठित होता है। फिर उसमें ये हिरण्यगर्भसम्बन्धी अमृत प्राण प्रवेश करते हैं ॥ १७ ॥

पृथिवी और अग्निसे इसमें दैवी वाक्का आवेश होता है। दैवी वाक् वही है, जिससे पुरुष जो-जो भी बोलता है, वही-वही हो जाता है। द्युलोक और आदित्यसे इसमें दैव मनका आवेश हो जाता है। दैव मन वही है, जिससे यह सुखी ही होता है, कभी शोक नहीं करता। जल और चन्द्रमासे इसमें दैव प्राणका आवेश हो जाता है। दैव प्राण वही है, जो सञ्चार करते और सञ्चार न करते हुए भी व्यथित नहीं होता और न नष्ट ही होता है। इस प्रकार जाननेवाला वह समस्त भूतोंका आत्मा हो जाता है। जैसा यह देवता (हिरण्यगर्भ) है, वैसा ही वह हो जाता है। जिस प्रकार समस्त प्राणी इस देवताका पालन करते हैं, उसी प्रकार ऐसी उपासना करनेवालेका समस्त भूत पालन करते हैं। जो कुछ ये जीव शोक करते हैं, वह (शोकादिजनित दुःख) उन्हींके साथ रहता है। इसे तो पुण्य ही प्राप्त होता है, क्योंकि देवताओंके पास पाप नहीं जाता ॥ १८–२० ॥

अब यहाँसे व्रतका विचार किया जाता है। प्रजापतिने कर्मों (कर्मके साधनभूत वागादि करणों) की रचना की। रचे जानेपर वे एक दूसरेसे स्पर्धा करने लगे। वाक्ने व्रत किया कि 'मैं बोलती ही रहूँगी' तथा 'मैं देखता ही रहूँगा' ऐसा नेत्रने और 'मैं सुनता ही रहूँगा' ऐसा श्रोत्रने व्रत किया। इसी प्रकार अपने-अपने कर्मके अनुसार अन्य इन्द्रियोंने भी व्रत किया। तब मृत्युने श्रम होकर उनसे सम्बन्ध किया और उनमें व्याप्त हो गया। उनमें व्याप्त होकर मृत्युने उनका अवरोध किया। इसीसे वाक् श्रमित होती ही है, नेत्र श्रमित होता ही है, श्रोत्र श्रमित होता ही है; किंतु यह जो मध्यम प्राण है, इसमें वह (मृत्यु) व्याप्त न हो सका। तब उन इन्द्रियोंने उसे जाननेका निश्चय किया। 'निश्चय यही हममें श्रेष्ठ है, जो सञ्चार करते और सञ्चार न करते हुए भी व्यथित नहीं होता और न क्षीण ही होता है। अच्छा, हम सब भी इसीके रूप हो जायँ'—ऐसा निश्चयकर वे सब इसीके रूप हो गयीं। अतः वे इसीके नामसे 'प्राण' इस प्रकार कही जाती हैं। इसीसे जो ऐसा जानता है, वह जिस कुलमें होता है, वह कुल उसीके नामसे बोला जाता है। तथा जो ऐसे विद्वान्से स्पर्धा करता है, वह सूख जाता है और सूखकर अन्तमें मर जाता है। यह अध्यात्म-प्राणदर्शन है॥ २१॥

अब अधिदैवदर्शन कहा जाता है—अग्निने व्रत किया कि 'मैं जलता ही रहूँगा।' सूर्यने नियम किया, 'मैं तपता ही रहूँगा।' तथा चन्द्रमाने निश्चय किया, 'मैं प्रकाशित ही होता रहूँगा।' इसी प्रकार अन्य देवताओंने भी यथादैवत (जिस देवताका जो व्यापार था, उसीके अनुसार) व्रत किया। जिस प्रकार इन वागादि प्राणोंमें मध्यम प्राण है, उसी प्रकार इन देवताओंमें वायु है; क्योंकि अन्य देवगण तो अस्त हो जाते हैं, किंतु वायु अस्त नहीं होता। यह जो वायु है, अस्त न होनेवाला देवता है ॥ २२ ॥

इसी अर्थका प्रतिपादक यह मन्त्र है—'जिस (वायुदेवता) से (चक्षुरूप) सूर्य उदय होता है और जिसमें वह अस्त होता है' इत्यादि। यह प्राणसे ही उदित होता है और प्राणमें ही अस्त हो जाता है। उस धर्मको देवताओंने धारण किया है। वही आज है और वही कल भी रहेगा। देवताओंने जो व्रत उस समय धारण किया था, वही आज भी करते हैं। अतः एक ही व्रतका आचरण करे। प्राण और अपान-व्यापार करे। मुझे कहीं पापी मृत्यु व्याप्त न कर ले—इस भयसे [इस व्रतका आचरण करे]। और यदि इसका आचरण करे तो इसे समाप्त करनेकी भी इच्छा रक्खे। इससे वह प्राणरूप इस देवतासे सायुज्य और सालोक्य प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

नाम-रूप और कर्म

यह नाम, रूप और कर्म—तीनका समुदाय है। उन नामोंकी 'वाक्' यह उक्थ (कारण) है, क्योंकि सारे नाम इसीसे उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है। यही सब नामोंमें समान है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त नामोंको धारण करती है। अब, रूपोंका चक्षु समन्वय है; यह इसका उक्थ है। इसीसे सारे रूप उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है, क्योंकि यह समस्त रूपोंके प्रति सम है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त रूपोंको धारण करता है। अब, कर्मोंका समन्वय आत्मा (शरीर) है। यह इनका उक्थ है। इसीसे सब कर्म उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है, क्योंकि यह समस्त कर्मोंके प्रति सम है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त कर्मोंको धारण करता है। ये तीन होते हुए भी एक आत्मा हैं और आत्मा भी एक होते हुए इन तीन रूपोंमें है। वह यह अमृत सत्यसे आच्छादित है। प्राण ही अमृत है और नाम-रूप सत्य हैं, उनसे यह प्राण आच्छादित है ॥ १–३ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

ॐ
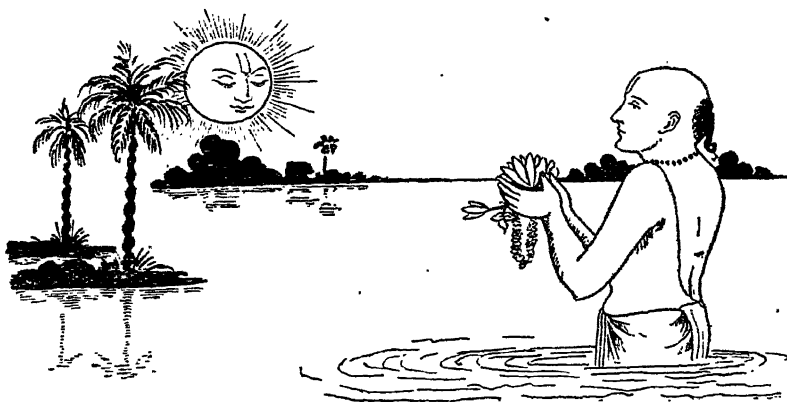
द्वितीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

गार्ग्य और अजातशत्रुका संवाद; अजातशत्रुका गार्ग्यको आत्माका स्वरूप समझाना

ॐ गार्ग्य-गोत्रोत्पन्न बालाकि नामक एक पुरुष बड़ा घमंडी और बहुत बोलनेवाला था। उसने काशिराज अजातशत्रुके पास जाकर कहा—'मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करूँ।' अजातशत्रुने कहा, 'इस वचनके लिये मैं आपको सहस्र [गौएँ] देता हूँ; लोग 'जनक, जनक' यों कहकर दौड़ते हैं। (अर्थात् सब लोग यही कहते हैं कि 'जनक बड़ा दानी है, जनक बड़ा श्रोता है।' ये दोनों बातें आपने अपने वचनसे मेरे लिये सुलभ कर दी हैं। इसलिये मैं आपको सहस्र गौएँ देता हूँ)' ॥१॥

गार्ग्यने कहा, 'यह जो आदित्यमें पुरुष है; इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। यह सबका अतिक्रमण करके स्थित है, समस्त भूतोंका मस्तक है और राजा (दीप्तिमान्) है—इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सबका अतिक्रमण करके स्थित, समस्त भूतोंका मस्तक और राजा होता है।' गार्ग्य बोला, 'यह जो चन्द्रमामें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। यह महान्, शुक्ल-वस्त्रधारी, सोम राजा है—इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके लिये नित्यप्रति सोम सुत और प्रसुत होता है, अर्थात् प्रकृति-विकृतिमय दोनों प्रकारके यज्ञानुष्ठानमें वह समर्थ हो जाता है। तथा उसका अन्न क्षीण नहीं होता।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो विद्युत्में पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसकी चर्चा मत करो; इसकी तो मैं तेजस्वीरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है तथा उसकी सन्तान भी तेजस्विनी होती है।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो आकाशमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। मैं उसकी पूर्ण और अप्रवर्तिरूपसे उपासना करता हूँ जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सन्तान और पशुओंसे पूर्ण होता है और इस लोकमें उसकी सन्ततिका उच्छेद नहीं होता।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो वायुमें पुरुष है, इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं इन्द्र, वैकुण्ठ और अपराजिता सेना—इस रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह विजयी, कभी न हारनेवाला और शत्रुविजेता होता है।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो अग्निमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं विषासहिरूपसे[1] उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय सहन करनेवाला होता है और उसकी सन्तति भी सहन करनेवाली होती है।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो जलमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी मैं 'प्रतिरूप' रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके पास प्रतिरूप ही आता है, अप्रतिरूप नहीं आता और उससे प्रतिरूप [पुत्र] उत्पन्न होता है' ॥ २–८ ॥

गार्ग्य बोला, 'यह जो दर्पणमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं रोचिष्णु (दीप्तिमान्) रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय दीप्तिमान् होता है, उसकी सन्तान भी दीप्तिमान् होती है और उसका जिनसे संगम होता है, उन सबसे बढ़कर वह दीप्तिमान् होता है।' वह गार्ग्य बोला, 'जानेवालेके पीछे जो यह शब्द उत्पन्न होता है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं प्राणरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना

---

१. अग्निमें जो हविष्य डाला जाता है उसे वह भस्म करके सहन कर लेता है, इसलिये अग्नि विषासहि—सहन करनेवाला है।

करता है वह इस लोकमें पूर्ण आयु प्राप्त करता है, इसे प्राण समयसे पहले नहीं छोड़ता' ॥ ९-१० ॥

गार्ग्य बोला, 'यह जो दिशाओंमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं; इसके विषयमें बात मत करो; मैं इसकी द्वितीय और वियुक्तरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह द्वितीयवान् (साथीवाला) होता है और उससे गणका (पुत्रादि समूहका) विच्छेद नहीं होता' ।११।

गार्ग्य बोला, 'यह जो छायामय पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं मृत्युरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह इस लोकमें पूर्ण आयु प्राप्त करता है और इसके पास समयसे पहले मृत्यु नहीं आती' ॥ १२ ॥

गार्ग्य बोला, 'यह जो आत्मामें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो; इसकी तो मैं आत्मवान्‌रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय आत्मवान् होता है और उसकी सन्तान भी आत्मवान् होती है।' तब वह गार्ग्य चुप हो गया ॥१३॥

[उसे मौन देखकर] वह अजातशत्रु बोला, 'बस, क्या इतना ही है ?' [गार्ग्य—] 'हाँ, इतना ही है।' [अजातशत्रु—] 'इतनेसे तो ब्रह्म नहीं जाना जाता।' वह गार्ग्य बोला, 'मैं आपकी शिष्यभावसे शरण लेता हूँ' ॥ १४ ॥

अजातशत्रुने कहा, 'ब्राह्मण क्षत्रियके प्रति, इस उद्देश्यसे कि यह मुझे ब्रह्मका उपदेश करेगा, शिष्यभावसे शरण हो—यह तो विपरीत है। तो भी मैं आपको उसका ज्ञान कराऊँगा ही।' तब अजातशत्रु उसके हाथ पकड़कर उठा और वे दोनों एक सोये हुए पुरुषके पास गये। अजातशत्रुने उसे 'हे ब्रह्म! हे पाण्डरवास! हे सोम राजन्!' इन नामोंसे पुकारा। परंतु वह न उठा। तब उसे हाथसे दबा-दबाकर जगाया तो वह उठ बैठा ॥ १५ ॥

अजातशत्रुने कहा, 'यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब सोया हुआ था, तब कहाँ था ? और यह कहाँसे आया ?' किंतु गार्ग्य यह न जान सका ॥ १६ ॥

उस अजातशत्रुने कहा, 'यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब यह सोया हुआ था, उस समय यह विज्ञानके द्वारा इन इन्द्रियोंकी ज्ञानशक्तिको ग्रहणकर यह जो हृदयके भीतर आकाश है उसमें शयन करता है। जिस समय यह उन ज्ञानशक्तियोंको ग्रहण कर लेता है, उस समय इस पुरुषका 'स्वपिति' नाम होता है। उस समय घ्राणेन्द्रिय् लीन रहती है, वाणी लीन रहती है, चक्षु लीन रहता है, श्रोत्र लीन रहता है और मन भी लीन रहता है। जिस समय यह आत्मा स्वप्नवृत्तिसे बर्तता है, उस समय इसके वे लोक (दृश्य) उत्पन्न होते हैं। वहाँ कभी यह महाराज होता है, कभी महाब्राह्मण होता है अथवा ऊँची-नीची [गतियों] को प्राप्त होता है। जिस प्रकार कोई महाराज अपने प्रजाजनोंको लेकर (अधीन कर) अपने देशमें यथेच्छ विचरता है, उसी प्रकार यह प्राणोंको ग्रहणकर अपने शरीरमें यथेच्छ विचरता है। इसके पश्चात् जब वह गाढ़ निद्रामें होता है, जिस समय कि वह किसीके विषयमें कुछ भी नहीं जानता, उस समय हिता नामकी जो बहत्तर हजार नाडियाँ हृदयसे सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होकर स्थित हैं, उनके द्वारा बुद्धिके साथ जाकर वह शरीरमें व्याप्त होकर शयन करता है। जिस प्रकार कोई बालक अथवा महाराज किंवा महाब्राह्मण आनन्दकी दुःखनाशिनी अवस्थाको प्राप्त होकर शयन करे, उसी प्रकार यह शयन करता है ॥१७—१९॥

जिस प्रकार वह ऊर्णनाभि (मकड़ा) तन्तुओंपर ऊपरकी ओर जाता है तथा जैसे अग्निसे अनेकों क्षुद्र चिनगारियाँ उड़ती हैं, उसी प्रकार इस आत्मासे समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण और समस्त भूत विविध रूपसे उत्पन्न होते हैं। 'सत्यका सत्य' यह उस आत्माका नाम है। प्राण ही सत्य हैं। उन्हींका यह सत्य है ॥ २० ॥

द्वितीय ब्राह्मण

शिशु नामसे मध्यम प्राणकी उपासना

जो कोई आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और दाम (बन्धन-रज्जु) के सहित शिशुको जानता है, वह अपनेसे द्वेष करनेवाले सात भ्रातृव्योंका अवरोध करता है। यह जो मध्यम प्राण है, वही शिशु है; उसका यह (शरीर) ही आधान (अधिष्ठान) है, यह (सिर) ही प्रत्याधान है, प्राण स्थूणा (अन्न-पानजनित शक्ति) है और अन्न दाम है ॥ १ ॥

उसका ये सात अक्षितियाँ (नेत्रोंके अङ्क) उपस्थान (स्तवन) करती हैं—उनमेंसे जो ये आँखमें लाल रेखाएँ हैं उनके द्वारा रुद्र इस मध्यप्राणके अनुगत है, नेत्रमें जो जल है उसके द्वारा मेघ, जो दर्शनशक्ति है उसके द्वारा आदित्य,जो कालिमा है उसके द्वारा अग्नि और जो शुक्लता है उसके द्वारा इन्द्र अनुगत है। नीचेके पलकद्वारा पृथिवी इसके अनुगत है एवं ऊपरके पलकद्वारा द्युलोक। जो इस प्रकार जानता है, उसका अन्न क्षीण नहीं होता ॥ २ ॥

इस विषयमें यह मन्त्र है—'चमस नीचेकी ओर छिद्र-वाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ होता है, उसमें विश्वरूप यश निहित है, उसके तीरपर सात ऋषिगण (दो कान, दो नेत्र, दो नासिका और एक रसना) और वेदके द्वारा संवाद करनेवाली आठवीं वाणी रहती है। जो नीचेकी ओर छिद्र-वाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ चमस है, वह सिर है; क्योंकि यही नीचेकी ओर छिद्रवाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ है। उसमें विश्वरूप यश निहित है—प्राण ही विश्वरूप यश हैं; प्राणोंके विषयमें ही मन्त्र ऐसा कहता है। उसके तीरपर सात ऋषि रहते हैं, प्राण ही ऋषि हैं, प्राणोंके विषयमें ही मन्त्र ऐसा कहता है। वेदके द्वारा संवाद करनेवाली वाक् आठवीं है, वही वेदके द्वारा संवाद करती है। ये दोनों [कान] ही गोतम और भरद्वाज हैं; यह ही गोतम है और यह [दूसरा] भरद्वाज है। ये दोनों [नेत्र] ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं; यह ही विश्वामित्र है और यह दूसरा जमदग्नि है। ये दोनों [नासारन्ध्र] ही वसिष्ठ और कश्यप हैं; यह ही वसिष्ठ है और यह दूसरा कश्यप है। तथा वाक् ही अत्रि है, क्योंकि वागिन्द्रियद्वारा ही अन्न भक्षण किया जाता है। जिसे अत्रि कहते हैं, उसका निश्चय 'अत्ति' ही नाम है। जो इस प्रकार जानता है, वह सबका अत्ता (भोक्ता) होता है, सब उसका अन्न (भोग्य) हो जाता है ॥ ३-४ ॥

तृतीय ब्राह्मण

ब्रह्मके दो रूप

ब्रह्मके दो (द्विविध) रूप हैं—मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित और यत् (चर) तथा सत् और त्यत्। जो वायु और अन्तरिक्षसे भिन्न है, वह मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है और यह सत् है। उस इस मूर्तका, इस मर्त्यका, इस स्थितका, इस सत्का यह रस है, जो कि यह तपता है। यह सत्का ही रस है। तथा वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त हैं; ये अमृत हैं; ये यत् हैं और ये ही त्यत् हैं। उस इस अमूर्तका, इस अमृतका, इस यत्का, इस त्यत्का यह सार है, जो कि इस मण्डलमें पुरुष है, यही इस त्यत्का सार है। यह अधि-दैवत-दर्शन है। अब अध्यात्म मूर्तामूर्तका वर्णन किया जाता है। जो प्राणसे तथा यह जो देहान्तर्गत आकाश है, उससे भिन्न है, यही मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है, यह सत् है। यह जो नेत्र है, वही इस मूर्तका, इस मर्त्यका, इस स्थितका एवं इस सत्का सार है। यह सत्का ही सार है। अब अमूर्तका वर्णन करते हैं—प्राण और इस शरीरके अन्तर्गत जो आकाश है, वे अमूर्त हैं, यह अमृत है, यह यत् है और यही त्यत् है। उस इस अमूर्तका, इस अमृतका, इस यत्का, इस त्यत्का यह रस है जो कि यह दक्षिण नेत्रान्तर्गत पुरुष है, यह त्यत्का ही रस है ॥ १—५ ॥

उस इस पुरुषका रूप-चमत्कार ऐसा है जैसा कुसुंभेसे रँगा हुआ वस्त्र हो, जैसा सफेद ऊनी वस्त्र हो, जैसा इन्द्रगोप (बीरबहूटी) हो, जैसी अग्निकी ज्वाला हो, जैसा श्वेत कमल हो, और जैसे बिजलीकी चमक हो। जो ऐसा जानता है, उसकी श्री बिजलीकी चमकके समान [सर्वत्र एक साथ फैलनेवाली] होती है। अब इसके पश्चात् 'नेति-नेति' यह ब्रह्मका निर्देश है। 'नेति-नेति' इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है। 'सत्यका सत्य' यह उसका नाम है। प्राण ही सत्य हैं, उनका यह सत्य है ॥६॥

चतुर्थ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद; याज्ञवल्क्यका मैत्रेयीको अमृतत्वके साधनरूपमें परमात्म-तत्त्वका उपदेश

'अरी मैत्रेयि !' ऐसा याज्ञवल्क्यने [अपनी पत्नीसे] कहा। 'मैं इस स्थान (गार्हस्थ्य-आश्रम) से ऊपर (संन्यास-आश्रममें) जानेवाला हूँ। अतः [तेरी अनुमति लेता हूँ और चाहता हूँ] इस (दूसरी पत्नी) कात्यायनीके साथ तेरा बँटवारा कर दूँ' ॥ १ ॥

मैत्रेयीने कहा, 'भगवन्! यदि यह धनसे सम्पन्न

सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमर हो सकती हूँ ?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'नहीं, भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा। धनसे अमृतत्वकी तो आशा है ही नहीं' ॥ २ ॥

मैत्रेयीने कहा, 'जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उन भोगोंको लेकर मैं क्या करूँगी ? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्वका साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें' ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्यजीने कहा, 'धन्य! अरी मैत्रेयि, तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और इस समय भी मुझे प्रिय लगने-वाली ही बात कह रही है। अच्छा आ, बैठ जा; मैं तेरे प्रति उस (अमरत्व) की व्याख्या करूँगा, तू व्याख्यान किये हुए मेरे वाक्योंके अर्थका चिन्तन करना' ॥ ४ ॥

उन्होंने कहा—'अरी मैत्रेयि! यह निश्चय है कि पतिके प्रयोजनके लिये पति प्रिय नहीं होता, आत्माके अपने ही प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है; स्त्रीके प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया नहीं होती,अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया होती है; पुत्रोंके प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन-के लिये पुत्र प्रिय होते हैं; धनके प्रयोजनके लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये धन प्रिय होता है; ब्राह्मणके प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय होता है; क्षत्रियके प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय होता है; लोकोंके प्रयोजनके लिये लोक प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये लोक प्रिय होते हैं; देवताओंके प्रयोजनके लिये देवता प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये देवता प्रिय होते हैं; प्राणियोंके प्रयोजनके लिये प्राणी प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये प्राणी प्रिय होते हैं; तथा सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं। अरी मैत्रेयि! यह आत्मा—अपना-आप ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। मैत्रेयि! इस आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञानसे इस सबका ज्ञान हो जाता है ॥ ५ ॥

ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मणजातिको आत्मासे भिन्न जानता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रियजातिको आत्मासे भिन्न देखता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोकोंको आत्मासे भिन्न देखता है। देवगण उसे परास्त कर देते हैं, जो देवताओंको आत्मासे भिन्न देखता है। भूतगण उसे परास्त कर देते हैं, जो भूतोंको आत्मासे भिन्न देखता है। सभी उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मासे भिन्न देखता है। यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और ये सब जो कुछ भी हैं, सब आत्मा ही है ॥ ६ ॥

इसमें दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार बजती हुई दुन्दुभि (नक्कारे) के बाह्य शब्दोंको कोई पकड़ नहीं सकता, किंतु दुन्दुभि या दुन्दुभिके आघातको पकड़ लेनेसे उसका शब्द भी पकड़ लिया जाता है। वह [दूसरा दृष्टान्त] ऐसा है—जैसे कोई बजाये जाते हुए शङ्खके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होता, किंतु शङ्खके अथवा शङ्खके बजानेको ग्रहण करनेसे उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है। वह [तीसरा दृष्टान्त] ऐसा है—जैसे कोई बजायी जाती हुई वीणाके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होता; किंतु वीणा या वीणाके स्वरका ग्रहण होनेपर उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है। वह [चौथा दृष्टान्त है—] जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए अग्निसे पृथक् धूआँ निकलता है, हे मैत्रेयि! इसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं, वे सब इस परमात्माके ही निःश्वास हैं ॥ ७–१० ॥

दृष्टान्त है—जिस प्रकार समस्त जलोंका समुद्र एक अयन (आश्रय-स्थान) है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शोंका त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धोंका दोनों नासिकाएँ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसोंका जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपोंका चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दोंका श्रोत्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त संकल्पोंका मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओंका हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मोंका हस्त एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनन्दोंका उपस्थ एक अयन है और इसी प्रकार समस्त विसर्गोंका पायु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त मार्गोंका चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदोंका वाणी एक अयन है ॥ ११ ॥

इसमें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार जलमें डाला हुआ नमकका डला जलमें ही घुल-मिल जाता है, उसे जलसे निकालनेके लिये कोई समर्थ नहीं होता तथा जहाँ-जहाँसे भी जल लिया जाय वह नमकीन ही जान पड़ता है, हे मैत्रेयि! उसी प्रकार यह परमात्म-तत्त्व अनन्त, अपार और विज्ञानघन ही है। यह इन [सत्यशब्दवाच्य] भूतोंसे प्रकट होकर उन्हींके

साथ अदृश्य हो जाता है; देहेन्द्रियभावसे मुक्त होनेपर इसकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती। हे मैत्रेयि! ऐसा मैं तुझसे कहता हूँ'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा ॥ १२ ॥

उस मैत्रेयीने कहा, 'शरीरपातके अनन्तर कोई संज्ञा नहीं रहती—ऐसा कहकर ही श्रीमान्‌ने मुझे मोहमें डाल दिया है।' याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे मैत्रेयि! मैं मोहका उपदेश नहीं कर रहा हूँ, अरी! यह तो उस परमात्माका विज्ञान करानेके लिये पर्याप्त है' ॥ १३ ॥

जहाँ (अविद्यावस्थामें) द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यका अभिवादन करता है, अन्य अन्यका मनन करता है तथा अन्य अन्यको जानता है; किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने? अरी मैत्रेयि! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने? ॥ १४ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

मधुविद्याका उपदेश; आत्माका विविध रूपोंमें वर्णन

यह पृथिवी समस्त भूतोंका मधु है और सब भूत इस पृथिवीके मधु हैं। इस पृथिवीमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्मशारीर तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ये जल समस्त भूतोंके मधु हैं और समस्त भूत इन जलोंके मधु हैं। इन जलोंमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म रैतस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह अग्नि समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस अग्निके मधु हैं। इस अग्निमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म वाङ्मय तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह वायु समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस वायुके मधु हैं। इस वायुमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्मप्राणरूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह आदित्य समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस आदित्यके मधु हैं। यह जो इस आदित्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म चाक्षुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ये दिशाएँ समस्त भूतोंका मधु हैं तथा समस्त भूत इन दिशाओंके मधु हैं। यह जो इन दिशाओंमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म श्रोत्रसम्बन्धी प्रातिश्रुत्क (प्रत्येक श्रवणवेलामें रहनेवाला) तेजोमय अमृतमय पुरुष है; यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह चन्द्रमा समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस चन्द्रमाके मधु हैं। यह जो इस चन्द्रमामें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म मनःसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह विद्युत् समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस विद्युत्के मधु हैं। यह जो इस विद्युत्में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म तैजस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह मेघ समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस मेघके मधु हैं। यह जो इस मेघमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म शब्द एवं स्वरसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह आकाश समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस आकाशके मधु हैं। यह जो इस आकाशमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-हृदयाकाशरूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है] यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह धर्म समस्त

भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस धर्मके मधु हैं। इस धर्ममें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-धर्मसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह सत्य समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस सत्यके मधु हैं। यह जो इस सत्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-सत्यसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह मनुष्यजाति समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस मनुष्यजातिके मधु हैं। यह जो इस मनुष्यजातिमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-मानुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस श्रुतिद्वारा बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह आत्मा (देह) समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस आत्माके मधु हैं। यह जो इस आत्मामें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। वह यह आत्मा समस्त भूतोंका अधिपति एवं समस्त भूतोंका राजा है। इस विषयमें दृष्टान्त—जिस प्रकार रथकी नाभि और रथकी नेमिमें सारे अरे समर्पित रहते हैं, इसी प्रकार इस परमात्मामें समस्त भूत, समस्त देव, समस्त लोक, समस्त जीवन और ये सभी आत्माएँ समर्पित हैं [सभी उस परमात्मासे जुड़े हुए और उसीके सहारे स्थित हैं।] ॥ १—१५ ॥

इस पूर्वोक्त मधुको दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिने अश्विनीकुमारोंसे कहा था। इस मधुको देखते हुए ऋषि (मन्त्र) ने कहा—मेघ जिस प्रकार वृष्टि करता है, उसी प्रकार हे नराकार अश्विनीकुमारो ! मैं लाभके लिये किये हुए तुम दोनोंका वह उग्र दंस कर्म प्रकट किये देता हूँ, जिस मधुका दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिने तुम्हारे प्रति अश्वके सिरसे वर्णन किया था ॥ १६ ॥

उस इस मधुका दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनीकुमारोंको उपदेश किया। इसे देखते हुए ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) ने कहा है—हे अश्विनीकुमारो ! तुम दोनों आथर्वण दध्यङ्के लिये घोड़ेका सिर लाये। उसने सत्यपालन करते हुए तुम्हें त्वाष्ट्र (सूर्यसम्बन्धी) मधुका उपदेश किया तथा हे शत्रुहिंसक ! जो [आत्मज्ञानसम्बन्धी] गोपनीय मधु था [वह भी तुमसे कहा] ॥ १७ ॥

इस पूर्वोक्त मधुका दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनीकुमारोंको उपदेश किया। इसे देखते हुए ऋषिने कहा—परमात्माने दो पैरोंवाले शरीर बनाये और चार पैरोंवाले शरीर बनाये। पहले वह पुरुष—परमात्मा पक्षी होकर शरीरोंमें प्रविष्ट हो गया। वह यह पुरुष समस्त पुरों (शरीरों) में पुरिशय है। ऐसा कुछ भी नहीं है, जो परमात्मासे न ढका हो तथा ऐसा भी कुछ नहीं है, जिसमें परमात्माका प्रवेश न हुआ हो—जो उससे व्याप्त न हो ॥ १८ ॥

इस पूर्वोक्त मधुका दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनीकुमारोंको उपदेश किया। यह देखते हुए ऋषिने कहा—वह रूप-रूपके प्रतिरूप हो गया। इसका वह रूप प्रतिख्यापन (प्रकट) करनेके लिये है। ईश्वर मायासे अनेकरूप प्रतीत होता है। [शरीररूप रथमें जोड़े हुए] इसके घोड़े सौ (नाड़ियाँ) और दस (इन्द्रियाँ) हैं। यह (परमेश्वर) ही हरि (इन्द्रिय-रूप अश्व) है; यही दस, सहस्र, अनेक और अनन्त है। वह यह ब्रह्म अपूर्व (कारणरहित), अनपर (कार्यरहित), अनन्तर (विजातीय द्रव्यसे रहित) और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है। यही समस्त वेदान्तोंका अनुशासन (उपदेश) है ॥ १९ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

मधुविद्याकी परम्पराका वर्णन

अब [मधुकाण्डका] वंश बतलाया जाता है—पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने पौतिमाष्यसे, पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने कौशिकसे, कौशिकने कौण्डिन्यसे, कौण्डिन्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कौशिकसे और गौतमसे, गौतमने आग्निवेश्यसे, आग्निवेश्यने शाण्डिल्यसे और आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने गौतमसे, गौतमने सैतव और प्राचीनयोग्यसे, सैतव और प्राचीनयोग्यने पाराशर्यसे, पाराशर्यने

भारद्वाजसे, भारद्वाजने भारद्वाजसे और गौतमसे, गौतमने भारद्वाजसे; भारद्वाजने पाराशर्यसे; पाराशर्यने बैजवापायनसे; बैजवापायनने कौशिकायनिसे, कौशिकायनिने घृतकौशिकसे, घृतकौशिकने पाराशर्यायणसे, पाराशर्यायणने पाराशर्यसे, पाराशर्यने जातूकर्ण्यसे, जातूकर्ण्यने आसुरायणसे और यास्कसे, आसुरायणने त्रैवणिसे, त्रैवणिने औपजन्धनिसे, औपजन्धनिने आसुरिसे; आसुरिने भारद्वाजसे, भारद्वाजने आत्रेयसे, आत्रेयने माण्टिसे, माण्टिने गौतमसे, गौतमने गौतमसे, गौतमने वात्स्यसे, वात्स्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कैशोर्य काप्यसे, कैशोर्य काप्यने कुमारहारितसे, कुमारहारितने गालवसे, गालवने विदर्भीकौण्डिन्यसे, विदर्भीकौण्डिन्यने वत्सनपात् बाभ्रवसे, वत्सनपात् बाभ्रवने पन्था सौभरसे, पन्था सौभरने अयास्य आङ्गिरससे; अयास्य आङ्गिरसने आभूति त्वाष्ट्रसे, आभूति त्वाष्ट्रने विश्वरूप त्वाष्ट्रसे, विश्वरूप त्वाष्ट्रने अश्विनीकुमारोंसे, अश्विनीकुमारोंने दध्यङ्ङाथर्वणसे, दध्यङ्ङाथर्वणने अथर्वा दैवसे, अथर्वा दैवने प्राध्वंसन-मृत्युसे, प्राध्वंसन-मृत्युने प्रध्वंसनसे, प्रध्वंसनने एकर्षिसे, एकर्षिने विप्रचित्तिसे, विप्रचित्तिने व्यष्टिसे, व्यष्टिने सनारुसे; सनारुने सनातनसे, सनातनने सनगसे; सनगने परमेष्ठीसे और परमेष्ठीने ब्रह्मासे [इसे प्राप्त किया] । ब्रह्मा स्वयम्भू—है; ब्रह्माको नमस्कार है ॥ १—३ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

ॐ

तृतीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

जनकके यज्ञमें याज्ञवल्क्य और अश्वलका संवाद

विदेहदेशमें रहनेवाले राजा जनकने एक बड़ी दक्षिणावाले यज्ञद्वारा यजन किया। उसमें कुरु और पाञ्चाल देशोंके ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस राजा जनकको यह जाननेकी इच्छा हुई कि 'इन ब्राह्मणोंमें अनुवचन (प्रवचन) करनेमें सबसे बढ़कर कौन है?' इसलिये उसने एक सहस्र गौएँ गोशालामें रोक लीं। उनमेंसे प्रत्येकके सींगोंमें दस-दस पाद सुवर्ण बँधे हुए थे॥ १॥

उसने उनसे कहा—'पूज्य ब्राह्मणगण! आपमें जो ब्रह्मनिष्ठ हो, वह इन गौओंको ले जाय।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ। तब याज्ञवल्क्यने अपने ही ब्रह्मचारीसे कहा, 'हे सोम्य सामश्रवा! तू इन्हें ले जा।' तब वह उन्हें ले चला। इससे वे ब्राह्मण 'यह हम सबमें अपनेको ब्रह्मनिष्ठ कैसे कहता है' इस प्रकार कहते हुए क्रुद्ध हो गये। विदेहराज जनकका होता अश्वल था, उसने याज्ञवल्क्यसे पूछा, 'याज्ञवल्क्य! हम सबमें क्या तुम ही ब्रह्मनिष्ठ हो?' उसने कहा, 'ब्रह्मनिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं, हम तो गौओंकी ही इच्छावाले हैं।' इसीसे होता अश्वलने उससे प्रश्न करनेका निश्चय किया॥ २॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह सब जो मृत्युसे व्याप्त है, मृत्युद्वारा स्वाधीन किया हुआ है, उस मृत्युकी व्याप्तिका यजमान किस साधनसे अतिक्रमण करता है?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'वह यजमान होता ऋत्विक्रूप अग्निसे और वाक्से उसका अतिक्रमण कर सकता है। वाक् ही यज्ञका होता है; यह जो वाक् है, वही यह अग्नि है; वह होता है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है'॥ ३॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह जो कुछ है, सब दिन और रात्रिसे व्याप्त है, सब दिन और रात्रिके अधीन है। तब किस साधनके द्वारा यजमान दिन और रात्रिकी व्याप्तिका अतिक्रमण कर सकता है?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'अध्वर्यु ऋत्विक् और चक्षुरूप आदित्यके द्वारा। अध्वर्यु यज्ञका चक्षु ही है। अतः यह जो चक्षु है, वह यह आदित्य है और वह अध्वर्यु है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है'॥ ४॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह जो कुछ है, सब पूर्वपक्ष और अपरपक्षसे व्याप्त है; सब पूर्वपक्ष और अपरपक्षद्वारा वशमें किया हुआ है। किस उपायसे यजमान पूर्वपक्ष और अपरपक्षकी व्याप्तिसे पार होकर मुक्त होता है?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'उद्गाता-ऋत्विक्से और वायुरूप प्राणसे; क्योंकि उद्गाता यज्ञका प्राण ही है। तथा यह जो प्राण है, वही वायु है, वही उद्गाता है, वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है'॥ ५॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह जो अन्तरिक्ष है, वह निरालम्ब-सा है। अतः यजमान किस आलम्बनसे स्वर्गलोकमें चढ़ता है?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'ब्रह्मा-ऋत्विजके द्वारा और मनरूप चन्द्रमासे। ब्रह्मा यज्ञका मन ही है। और यह जो मन है; वही यह चन्द्रमा है, वह ब्रह्मा है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है।' इस प्रकार अतिमोक्षोंका वर्णन हुआ, अब सम्पदोंका निरूपण किया जाता है॥ ६॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज कितनी ऋचाओंके द्वारा होता इस यज्ञमें शस्त्र-शंसन करेगा?' [याज्ञवल्क्यने कहा—] 'तीनके द्वारा।' [अश्वल—] 'वे तीन कौन-सी हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या।' [अश्वल—] 'इनसे यजमान किसको जीतता है?' [याज्ञवल्क्य—] 'यह जितना भी प्राणिसमुदाय है [उस सबको जीत लेता है]'॥ ७॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज इस यज्ञमें यह अध्वर्यु कितनी आहुतियाँ होम करेगा?' [याज्ञवल्क्य—] 'तीन।' [अश्वल—] 'वे तीन कौन-कौन-सी हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो होम की जानेपर प्रज्वलित होती हैं, जो होम की जानेपर अत्यन्त शब्द करती हैं और जो होम की जानेपर पृथ्वीके ऊपर लीन हो जाती हैं।' [अश्वल—] 'इनके द्वारा यजमान किसको जीतता है?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो होम की जानेपर प्रज्वलित होती हैं, उनसे यजमान देवलोकको ही जीत लेता है, क्योंकि देवलोक मानो देदीप्यमान हो रहा है। जो होम की जानेपर अत्यन्त शब्द करती हैं, उनसे वह पितृलोकको ही जीत लेता है; क्योंकि पितृलोक मानो अत्यन्त

ब्रह्मचारियोंको याज्ञवल्क्यका आदेश

शब्द करनेवाला है । जो होम की जानेपर पृथ्वीपर लीन हो जाती हैं; उनसे मनुष्यलोकको ही जीतता है; क्योंकि मनुष्यलोक अधोवर्ती-सा है' ॥ ८ ॥

'याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज यह ब्रह्मा यज्ञमें दक्षिणकी ओर बैठकर कितने देवताओंद्वारा यज्ञकी रक्षा करता है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'एकके द्वारा ।' [अश्वल—] 'वह एक देवता कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'वह मन ही है । मन अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त हैं; अतः उस मनसे यजमान अनन्त लोकको जीत लेता है' ॥ ९ ॥

'याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज इस यज्ञमें उद्गाता कितनी स्तोत्रिया ऋचाओंका स्तवन करेगा ?' [याज्ञवल्क्य—] 'तीनका ।' [अश्वल—] 'वे तीन कौन-सी हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या ।' [अश्वल—] 'इनमें जो शरीरान्तर्वर्ती हैं, वे कौन-सी हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'प्राण ही पुरोनुवाक्या है; अपान याज्या है और व्यान शस्या है ।' [अश्वल—] 'इनसे यजमान किनपर जय प्राप्त करता है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'पुरोनुवाक्यासे पृथिवीलोकपर ही जय प्राप्त करता है, तथा याज्यासे अन्तरिक्ष-लोकपर और शस्यासे द्युलोकपर विजय प्राप्त करता है ।' इसके पश्चात् होता अश्वल चुप हो गया ॥ १० ॥

द्वितीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और आर्तभागका संवाद

फिर उस (याज्ञवल्क्य) से जारत्कारव आर्तभागने पूछा; वह बोला, 'याज्ञवल्क्य ! ग्रह कितने हैं और अतिग्रह कितने हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं ।' [आर्तभाग—] 'वे जो आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं, वे कौन-से हैं ?' ॥ १ ॥

प्राण ही ग्रह है, वह अपानरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी अपानसे ही गन्धोंको सूँघता है । वाक् ही ग्रह है, वह नामरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी वाक्से ही नामोंका उच्चारण करता है । जिह्वा ही ग्रह है, वह रसरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी जिह्वासे ही रसोंको विशेषरूपसे जानता है । चक्षु ही ग्रह है, वह रूप-रूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी चक्षुसे ही रूपोंको देखता है । श्रोत्र ही ग्रह है, वह शब्दरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी श्रोत्रसे ही शब्दोंको सुनता है । मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी मनसे ही कामोंकी कामना करता है । हस्त ही ग्रह हैं, वे कर्मरूप अतिग्रहसे गृहीत हैं; क्योंकि प्राणी हस्तसे ही कर्म करता है । त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्शरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी त्वचासे ही स्पर्शोंको जानता है । इस प्रकार ये आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं ॥ २–९ ॥

'याज्ञवल्क्य !' ऐसा आर्तभागने कहा, 'यह जो कुछ है सब मृत्युका खाद्य है; सो वह देवता कौन है, जिसका खाद्य मृत्यु है ?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'अग्नि ही मृत्यु है, वह जलका खाद्य है । [इस प्रकारके ज्ञानसे] पुनर्मृत्युका पराजय होता है' ॥ १० ॥

'याज्ञवल्क्य !' ऐसा आर्तभागने कहा, 'जिस समय यह मनुष्य मरता है, उस समय इसके प्राणोंका उत्क्रमण होता है या नहीं ?' 'नहीं, नहीं' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'वे यहाँ ही लीन हो जाते हैं । वह फूल जाता है अर्थात् वायुको भीतर खींचता है और वायुसे पूर्ण हुआ ही मृत होकर पड़ा रहता है' ॥ ११ ॥

'याज्ञवल्क्य !' ऐसा आर्तभागने कहा, 'जिस समय यह पुरुष मरता है, उस समय इसे क्या नहीं छोड़ता ?' [याज्ञवल्क्य—] 'नाम नहीं छोड़ता, नाम अनन्त ही हैं, विश्वेदेव भी अनन्त ही हैं; इस आनन्त्यदर्शनके द्वारा वह अनन्त लोकको ही जीत लेता है' ॥ १२ ॥

'याज्ञवल्क्य !' ऐसा आर्तभागने कहा, 'जिस समय इस मृतपुरुषकी वाणी अग्निमें लीन हो जाती है तथा प्राण वायुमें, चक्षु आदित्यमें, मन चन्द्रमामें, श्रोत्र दिशामें, शरीर पृथिवीमें, हृदयाकाश भूताकाशमें, रोम ओषधियोंमें और केश वनस्पतियोंमें लीन हो जाते हैं तथा रक्त और वीर्य जलमें स्थापित हो जाते हैं, उस समय यह पुरुष कहाँ रहता है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'प्रियदर्शन आर्तभाग ! तू मुझे अपना हाथ पकड़ा, हम दोनों ही इस प्रश्नका उत्तर जानेंगे; यह प्रश्न जनसमुदायमें होने योग्य नहीं है ।' तब उन दोनोंने उठकर [एकान्तमें] विचार किया । उन्होंने जो कुछ कहा, वह कर्म ही कहा, तथा जिसकी प्रशंसा की, वह कर्मकी ही प्रशंसा की । वह यह कि पुरुष पुण्यकर्मसे पुण्यवान् होता है और पापकर्मसे पापी होता है । इसके पीछे जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया ॥ १३ ॥

तृतीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और लाह्यायनि भुज्युका संवाद

फिर इस याज्ञवल्क्यसे लाह्यायनि भुज्युने पूछा; वह बोला, 'याज्ञवल्क्य ! हम व्रताचरण करते हुए मद्रदेशमें विचर रहे थे कि कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चलके घर पहुँचे। उसकी पुत्री गन्धर्वसे गृहीत थी। (अर्थात् उसपर गन्धर्वका आवेश था) हमने उससे पूछा, 'तू कौन है ?' वह बोला, 'आङ्गिरस सुधन्वा हूँ।' जब उससे लोकोंके अन्तके विषयमें पूछा तो हमने उससे यों कहा, 'पारिक्षित कहाँ रहे ? पारिक्षित कहाँ रहे ?' सो हम तुमसे पूछते हैं कि 'पारिक्षित कहाँ रहे ?' ॥१॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'उस गन्धर्वने निश्चय यह कहा था कि वे वहाँ चले गये, जहाँ अश्वमेध यज्ञ करनेवाले जाते हैं।' [भुज्यु—] 'अच्छा तो, अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं ?' [याज्ञवल्क्य–] 'यह लोक बत्तीस देवरथाह्न्य* है। उसे चारों ओरसे दूनी पृथिवी घेरे हुए है। उस पृथिवीको सब ओरसे दूना समुद्र घेरे हुए है। सो जितनी पतली छुरेकी धार होती है, अथवा जितना सूक्ष्म मक्खीका पंख होता है, उतना उन अण्डकपालोंके मध्यमें आकाश है। इन्द्र (चित्य अग्नि) ने पक्षी होकर उन पारिक्षितोंको वायुको दिया। उन्हें वायु अपने स्वरूपमें स्थापितकर वहाँ ले गया, जहाँ अश्वमेधयाजी रहते हैं; इस प्रकार उस गन्धर्वने वायुकी ही प्रशंसा की थी। अतः वायु ही व्यष्टि है और वायु ही समष्टि है। जो ऐसा जानता है, वह पुनर्मृत्युको जीत लेता है।' तब लाह्यायनि भुज्यु चुप हो गया ॥ २ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और चाक्रायण उषस्तका संवाद

फिर उस याज्ञवल्क्यसे चाक्रायण उषस्तने पूछा; वह बोला, 'याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी मेरे प्रति व्याख्या करो।' [याज्ञवल्क्य–] 'यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है।' [उषस्त–] 'याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है ?' [याज्ञवल्क्य–] 'जो प्राणसे प्राणक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो अपानसे अपान-क्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो व्यानसे व्यानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो उदानसे उदानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है' ॥ १ ॥

उस चाक्रायण उषस्तने कहा, 'जिस प्रकार कोई [चलना और दौड़ना दिखाकर] कहे कि यह (चलनेवाला) बैल है, यह (दौड़नेवाला) घोड़ा है, उसी प्रकार तुम्हारा यह कथन है; अतः जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसे तुम स्पष्टतया बतलाओ।' [याज्ञवल्क्य–] 'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।' [उषस्त–] 'हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है ?' [याज्ञवल्क्य–] 'तुम दृष्टिके द्रष्टाको नहीं देख सकते, श्रुतिके श्रोताको नहीं सुन सकते, मतिके मन्ताका मनन नहीं कर सकते, विज्ञातिके विज्ञाताको नहीं जान सकते। तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न आर्त (नाशवान्) है।' इसके पश्चात् चाक्रायण उषस्त चुप हो गया ॥ २ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और कहोलका संवाद; ब्रह्म और आत्माकी व्याख्या

फिर इस याज्ञवल्क्यसे कौषीतकेय कहोलने पूछा; उसने 'याज्ञवल्क्य !' इस प्रकार सम्बोधित करके कहा—'जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मेरे प्रति व्याख्या करो।' [यह सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'यह तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है।' [कहोल–] 'याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है ?' [याज्ञवल्क्य–] 'जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे परे है, उस पूर्वोक्त आत्माको ही जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे अलग हटकर भिक्षाचर्यासे विचरते हैं। जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है। ये दोनों ही [साध्य—साधनेच्छाएँ] एषणाएँ ही हैं। अतः ब्राह्मण पाण्डित्य (आत्मज्ञान) का पूर्णतया सम्पादन करके आत्मज्ञानरूप बलसे स्थित रहनेकी इच्छा करे।

* सूर्यके रथकी गतिसे एक दिनमें संसारका जितना भाग नापा जाय उसे 'देवरथाह्न्य' कहते हैं।

फिर बाल्य और पाण्डित्यको पूर्णतया प्राप्तकर वह मुनि होता है तथा अमौन और मौनका पूर्णतया सम्पादन करके ब्राह्मण (कृतकृत्य) होता है। वह किस प्रकार ब्राह्मण होता है? जिस प्रकार भी हो; ऐसा ही ब्राह्मण होता है; इससे भिन्न और सब आर्त (नाशवान्) है।' तब कौषीतकेय कहोल चुप हो गया ॥ १ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और गार्गीका संवाद

फिर इस याज्ञवल्क्यसे वचक्नुकी पुत्री गार्गीने पूछा; वह बोली, 'याज्ञवल्क्य ! यह जो कुछ है, सब जलमें ओतप्रोत है; किंतु वह जल किसमें ओतप्रोत है?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! वायुमें।' [गार्गी—] 'वायु किसमें ओतप्रोत है?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! अन्तरिक्षलोकोंमें।' [गार्गी—] 'अन्तरिक्षलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! गन्धर्वलोकोंमें।' [गार्गी—] 'गन्धर्वलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! आदित्यलोकोंमें।' [गार्गी—] 'आदित्यलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! चन्द्रलोकोंमें।' [गार्गी—] 'चन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! नक्षत्रलोकोंमें।' [गार्गी—] 'नक्षत्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! देवलोकोंमें।' [गार्गी—] 'देवलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! इन्द्रलोकोंमें।' [गार्गी—] 'इन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! प्रजापतिलोकोंमें।' [गार्गी—] 'प्रजापतिलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! ब्रह्मलोकोंमें।' [गार्गी—] 'ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'हे गार्गि ! अतिप्रश्न मत कर। तेरा मस्तक न गिर जाय ! तू, जिसके विषयमें अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये, उस देवताके विषयमें अतिप्रश्न कर रही है। हे गार्गि ! तू अतिप्रश्न न कर।' तब वचक्नुकी पुत्री गार्गी उपरत हो गयी ॥ १ ॥

सप्तम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य तथा आरुणि उद्दालकका संवाद; आत्माके स्वरूपका वर्णन

फिर इस याज्ञवल्क्यसे आरुणि उद्दालकने पूछा; वह बोला, 'याज्ञवल्क्य ! हम मद्रदेशमें यज्ञशास्त्रका अध्ययन करते हुए कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चलके घर रहते थे। उसकी भार्या गन्धर्वद्वारा गृहीत थी। हमने उस (गन्धर्व) से पूछा, 'तू कौन है?' उसने कहा, 'मैं आथर्वण कबन्ध हूँ।' उसने कपिगोत्रीय पतञ्चल और उसके याज्ञिकोंसे पूछा, 'काप्य ! क्या तुम उस सूत्रको जानते हो, जिसके द्वारा यह लोक, परलोक और सारे भूत ग्रथित हैं?' तब उस काप्य पतञ्चलने कहा, 'भगवन् ! मैं उसे नहीं जानता।' उसने पतञ्चल काप्य और याज्ञिकोंसे कहा, 'काप्य ! क्या तुम उस अन्तर्यामीको जानते हो जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतोंको भीतरसे नियमित करता है?' उस पतञ्चल काप्यने कहा, 'भगवन् ! मैं उसे नहीं जानता।' उसने पतञ्चल काप्य और याज्ञिकोंसे कहा, 'काप्य ! जो कोई उस सूत्र और उस अन्तर्यामीको जानता है, वह ब्रह्मवेत्ता है, वह लोकवेत्ता है, वह देववेत्ता है, वह वेदवेत्ता है, वह भूतवेत्ता है, वह आत्मवेत्ता है और वह सर्ववेत्ता है।' तथा इसके पश्चात् गन्धर्वने उन (काप्य आदि) से सूत्र और अन्तर्यामीको बताया। उसे मैं जानता हूँ। हे याज्ञवल्क्य ! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामीको न जाननेवाले होकर ब्रह्मवेत्ताकी स्वभूत गौओंको ले जाओगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गौतम ! मैं उस सूत्र और अन्तर्यामीको जानता हूँ।' [उद्दालक—] 'ऐसा तो जो कोई भी कह सकता है—'मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ' [किंतु यों व्यर्थ ढोल पीटनेसे क्या लाभ ? यदि वास्तवमें तुम्हें उसका ज्ञान है तो] जिस प्रकार तुम जानते हो वह कहो' ॥ १ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'गौतम ! वायु ही वह सूत्र है; गौतम ! वायुरूप सूत्रके द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूतसमुदाय गुथे हुए हैं। हे गौतम ! इसीसे मरे हुए पुरुषको ऐसा कहते हैं कि इसके अंग विस्रस्त (विशीर्ण) हो गये हैं; क्योंकि हे गौतम ! वे वायुरूप सूत्रसे ही संग्रथित होते हैं।' [आरुणि—] 'हे याज्ञवल्क्य ! ठीक है, यह तो ऐसा ही है; अब तुम अन्तर्यामीका वर्णन करो' ॥ २ ॥

जो पृथिवीमें रहनेवाला पृथिवीके भीतर है, जिसे पृथिवी

नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथिवीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो जलमें रहनेवाला जलके भीतर है, जिसे जल नहीं जानता, जल जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर जलका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो अग्निमें रहनेवाला अग्निके भीतर है, जिसे अग्नि नहीं जानता, अग्नि जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर अग्निका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो अन्तरिक्षमें रहनेवाला अन्तरिक्षके भीतर है, जिसे अन्तरिक्ष नहीं जानता, अन्तरिक्ष जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर अन्तरिक्षका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो वायुमें रहनेवाला वायुके भीतर है, जिसे वायु नहीं जानता, वायु जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वायुका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो द्युलोकमें रहनेवाला द्युलोकके भीतर है, जिसे द्युलोक नहीं जानता, द्युलोक जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर द्युलोकका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो आदित्यमें रहनेवाला आदित्यके भीतर है, जिसे आदित्य नहीं जानता, आदित्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आदित्यका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो दिशाओंमें रहनेवाला दिशाओंके भीतर है, जिसे दिशाएँ नहीं जानतीं, दिशाएँ जिसका शरीर हैं और जो भीतर रहकर दिशाओंका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो चन्द्रमा और ताराओंमें रहनेवाला चन्द्रमा और ताराओंके भीतर है, जिसे चन्द्रमा और ताराएँ नहीं जानतीं, चन्द्रमा और ताराएँ जिसका शरीर हैं और जो भीतर रहकर चन्द्रमा और ताराओंका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो आकाशमें रहनेवाला आकाशके भीतर है, जिसे आकाश नहीं जानता, आकाश जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आकाशका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो तममें रहनेवाला तमके भीतर है, जिसे तम नहीं जानता, तम जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तमका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो तेजमें रहनेवाला तेजके भीतर है, जिसे तेज नहीं जानता, तेज जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तेजका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिदैवत-दर्शन हुआ, आगे अधिभूत-दर्शन है॥ ३–१४ ॥

जो समस्त भूतोंमें स्थित रहनेवाला समस्त भूतोंके भीतर है, जिसे समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिसके शरीर हैं और जो भीतर रहकर समस्त भूतोंका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिभूतदर्शन है, अब अध्यात्मदर्शन कहा जाता है। जो प्राणमें रहनेवाला प्राणके भीतर है, जिसे प्राण नहीं जानता, प्राण जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर प्राणका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो वाणीमें रहनेवाला वाणीके भीतर है, जिसे वाणी नहीं जानती, वाणी जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वाणीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो नेत्रमें रहनेवाला नेत्रके भीतर है, जिसे नेत्र नहीं जानता, नेत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर नेत्रका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो श्रोत्रमें रहनेवाला श्रोत्रके भीतर है, जिसे श्रोत्र नहीं जानता, श्रोत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर श्रोत्रका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो मनमें रहनेवाला मनके भीतर है, जिसे मन नहीं जानता, मन जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर मनका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो त्वक्‌में रहनेवाला त्वक्‌के भीतर है, जिसे त्वक् नहीं जानती, त्वक् जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर त्वक्‌का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो विज्ञानमें रहनेवाला विज्ञानके भीतर है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर विज्ञानका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो वीर्यमें रहनेवाला वीर्यके भीतर है, जिसे वीर्य नहीं जानता, वीर्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वीर्यका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। वह दिखायी न देनेवाला किंतु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला किंतु सुननेवाला है, मननका विषय न होनेवाला किंतु मनन करनेवाला है और विशेषतया ज्ञात न होनेवाला किंतु विशेषरूपसे जाननेवाला है; यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सब नाशवान् है। इसके पश्चात् अरुणका पुत्र उद्दालक प्रश्न करनेसे निवृत्त हो गया॥ १५–२३ ॥

अष्टम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-गार्गीका संवाद: अक्षरके नामसे आत्मस्वरूपका वर्णन

फिर वाचक्नवीने कहा, 'पूजनीय ब्राह्मणगण ! अब मैं इनसे दो प्रश्न पूछूँगी । यदि ये मेरे उन प्रश्नोंका उत्तर दे देंगे तो फिर आपमेंसे कोई भी इन्हें ब्रह्मसम्बन्धी वादमें नहीं जीत सकेगा ।' [ब्राह्मण—] 'अच्छा गार्गि ! पूछ' ॥ १ ॥

वह बोली, 'याज्ञवल्क्य ! जिस प्रकार काशी या विदेह-का रहनेवाला कोई वीर-वंशज पुरुष प्रत्यञ्चाहीन धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रुओंको अत्यन्त पीड़ा देनेवाले दो फलवाले शर हाथमें लेकर खड़ा होता है, उसी प्रकार मैं दो प्रश्न लेकर तुम्हारे सामने उपस्थित होती हूँ; तुम मुझे उनका उत्तर दो ।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा, 'गार्गि ! पूछ' ॥ २ ॥

वह बोली, 'याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोकसे ऊपर है, जो पृथिवीसे नीचे है और जो द्युलोक और पृथिवीके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे किसमें ओतप्रोत हैं ?' ॥ ३ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'गार्गि ! जो द्युलोकसे ऊपर, पृथिवीसे नीचे और जो द्युलोक एवं पृथिवीके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान एवं भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे सब आकाशमें ओतप्रोत हैं' ॥ ४ ॥

वह बोली, 'याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार है, जिन्होंने मुझे इस प्रश्नका उत्तर दे दिया; अब आप दूसरे प्रश्नके लिये तैयार हो जाइये ।' [याज्ञवल्क्य—] 'गार्गि ! पूछ' ॥ ५ ॥

वह बोली, 'याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोकसे ऊपर है, जो पृथिवीसे नीचे है और जो द्युलोक और पृथिवीके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे किसमें ओतप्रोत हैं ?' ॥ ६ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'गार्गि ! जो द्युलोकसे ऊपर, पृथिवीसे नीचे और जो द्युलोक एवं पृथिवीके मध्यमें है तथा स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं और जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे सब आकाशमें ही ओतप्रोत हैं ।' [गार्गी—] 'किंतु आकाश किसमें ओतप्रोत है ?' ॥ ७ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'गार्गि ! उस इस तत्त्वको तो ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं; वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम (अन्धकार) है, न वायु है, न आकाश है, न संगवान् है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न भीतर है, न बाहर है; वह कुछ भी नहीं खाता, उसे कोई भी नहीं खाता' ॥ ८ ॥

'गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें सूर्य और चन्द्रमा विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं । हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें द्युलोक और पृथिवी विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं । हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें निमेष, मुहूर्त, दिन-रात, अर्धमास (पक्ष), मास, ऋतु और संवत्सर विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं । हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें पूर्ववाहिनी एवं अन्य नदियाँ श्वेत पर्वतोंसे बहती हैं तथा अन्य पश्चिमवाहिनी नदियाँ जिस-जिस दिशाको बहने लगती हैं, उसीका अनुसरण करती रहती हैं । हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें मनुष्य दाताकी प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमानका और पितृगण दर्वीहोमका अनुवर्तन करते हैं । गार्गि ! जो कोई इस लोकमें इस अक्षरको न जानकर हवन करता, यज्ञ करता और अनेकों सहस्र वर्षपर्यन्त तप करता है, उसका वह सब कर्म अन्तवाला ही होता है । जो कोई भी इस अक्षरको बिना जाने इस लोकसे मरकर जाता है, वह कृपण (दीन) है और हे गार्गि ! जो इस अक्षरको जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है । हे गार्गि ! यह अक्षर स्वयं दृष्टिका विषय नहीं, किन्तु द्रष्टा है; श्रवणका विषय नहीं, किन्तु श्रोता है; मननका विषय नहीं, किन्तु मन्ता है; स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरोंका विज्ञाता है । इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है और इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है । हे गार्गि ! निश्चय इस अक्षरमें ही आकाश ओत-प्रोत है' ॥ ९—११ ॥

उस गार्गीने कहा, 'पूज्य ब्राह्मणगण ! आपलोग इसीको

बहुत मानें कि इन याज्ञवल्क्यजीसे आपको नमस्कारद्वारा ही छुटकारा मिल जाय। आपमेंसे कोई भी कभी इन्हें ब्रह्मविषयक वादमें जीतनेवाला नहीं है।' तदनन्तर वचक्नुकी पुत्री गार्गी चुप हो गयी ॥ १२ ॥

नवम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-शाकल्यका संवाद और याज्ञवल्क्यकी विजय

इसके पश्चात् इस याज्ञवल्क्यसे शाकल्य विदग्धने पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देवगण हैं ?' तब याज्ञवल्क्यने इस आगे कही जानेवाली निविद्से ही उनकी संख्याका प्रतिपादन किया। 'वैश्वदेवकी निविद्में अर्थात् देवताओंकी संख्या बतानेवाले मन्त्रपदोंमें जितने बतलाये गये हैं, वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र (तीन हजार तीन सौ छः) हैं।' [तब शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा। फिर पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'तैंतीस'। [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा 'तो, याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'छः'। [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और फिर पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'तीन।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पुनः पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'दो।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'डेढ़।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'एक।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा 'वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र देव कौन-से हैं ?' ॥ १ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'ये तो इनकी महिमाएँ ही हैं। देवगण तो तैंतीस ही हैं।' [शाकल्य—] 'वे तैंतीस देव कौन-से हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य—ये इकतीस देवगण हैं तथा इन्द्र और प्रजापतिके सहित तैंतीस हैं' ॥ २ ॥

[शाकल्य—] 'वसु कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र—ये वसु हैं; इन्हींमें यह सब जगत् निहित है, इसीसे ये वसु हैं' ॥ ३ ॥

[शाकल्य—] 'रुद्र कौन हैं' [याज्ञवल्क्य—] 'पुरुषमें ये दस प्राण (इन्द्रियाँ) और ग्यारहवाँ आत्मा (मन)। ये जिस समय इस मरणशील शरीरसे उत्क्रमण करते हैं, उस समय रुलाते हैं; अतः उत्क्रमणकालमें अपने सम्बन्धियोंको रुलाते हैं; इसलिये रोदनके कारण होनेसे 'रुद्र' कहलाते हैं' ॥ ४ ॥

[शाकल्य—] 'आदित्य कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'संवत्सरके अवयवभूत ये बारह मास ही आदित्य हैं; क्योंकि ये इस सबका आदान (ग्रहण) करते हुए चलते हैं, इसलिये आदित्य हैं' ॥ ५ ॥

[शाकल्य—] 'इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'स्तनयित्नु (विद्युत्) ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है।' [शाकल्य—] 'स्तनयित्नु कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'वज्र।' [शाकल्य—] 'यज्ञ कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'पशुगण' ॥ ६ ॥

[शाकल्य—] 'छः देवगण कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्युलोक—ये छः देवगण हैं। ये वसु आदि तैंतीस देवताओंके रूपमें अग्नि आदि छः ही हैं' ॥ ७ ॥

[शाकल्य—] 'वे तीन देव कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'ये तीन लोक ही तीन देव हैं। इन्हींमें ये सब देव अन्तर्भूत हैं।' [शाकल्य—] 'वे दो देव कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'अन्न और प्राण।' [शाकल्य—] 'डेढ़ देव कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो यह बहता है' ॥ ८ ॥

यहाँ ऐसा कहते हैं—'यह जो वायु है, एकही-सा बहता है; फिर यह अध्यर्ध—डेढ़ किस प्रकार है ?' [उत्तर—] 'क्योंकि इसीमें यह सब ऋद्धिको प्राप्त होता है, इसलिये यह अध्यर्ध (डेढ़) है।' [शाकल्य—] 'एक देव कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'प्राण; वह ब्रह्म है, उसीको 'त्यत्' ऐसा कहते हैं' ॥ ९ ॥

[शाकल्य—] 'पृथिवी ही जिसका आयतन है तथा अग्नि लोक (दर्शनशक्ति) और मन ज्योति (संकल्प-विकल्पका साधन) है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता (पण्डित) है। याज्ञवल्क्य ! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !]।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण-संघातका परम आश्रय बतलाते हो,

उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। यह जो शारीर-पुरुष है, वही यह है। शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'अच्छा, उसका देवता कौन है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'अमृत' ऐसा कहा ॥ १० ॥

[शाकल्य—] 'काम ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुषको जो भी सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण-समूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। याज्ञवल्क्य ! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !] ।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण-संघातका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह काममय पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है ?' तब याज्ञवल्क्यने कहा—'स्त्रियाँ' ॥ ११ ॥

[शाकल्य—] 'रूप ही जिसका आयतन है, चक्षु लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !] ।' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह आदित्यमें पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका देवता कौन है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'सत्य' ऐसा कहा॥ १२ ॥

[शाकल्य—] 'आकाश ही जिसका आयतन है, श्रोत्र लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य ! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !] ।' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय कहते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह श्रोत्रसम्बन्धी प्रातिश्रुत्क पुरुष है, यही वह है; हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'दिशाएँ' ऐसा कहा ॥ १३ ॥

[शाकल्य—] 'तम ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है, मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है, याज्ञवल्क्य ! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !] ।' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्य-करण-समूहका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह छायामय पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'मृत्यु' ऐसा कहा ॥ १४ ॥

[शाकल्य—] 'रूप ही जिसका आयतन है, नेत्र लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुषको जो भी सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य ! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !] ।' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह आदर्श (दर्पण) के भीतर पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका देवता कौन है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'असु' ऐसा कहा ॥ १५ ॥

[शाकल्य—] 'जल ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुषको जो भी सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य ! [तुम तो बिना जाने ही विद्वान् होनेका अभिमान कर रहे हो !] ।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह जलमें पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'वरुण' ऐसा कहा ॥ १६ ॥

[शाकल्य—] 'वीर्य ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य ! [तुम तो बिना जाने ही विद्वान् होनेका अभिमान कर रहे हो !]' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह पुत्ररूप पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'प्रजापति' ऐसा कहा ॥ १७ ॥

'शाकल्य !' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'इन ब्राह्मणोंने निश्चय ही तुम्हें अंगारे निकालनेका चिमटा बना रक्खा है'॥ १८॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा शाकल्यने कहा, 'यह जो तुम इन कुरुपाञ्चालदेशीय ब्राह्मणोंपर आक्षेप करते हो सो क्या तुम ब्रह्मवेत्ता हो—ऐसा समझकर करते हो ?' [याज्ञवल्क्य—मेरा ब्रह्मज्ञान यह है कि] 'मैं देवता और प्रतिष्ठाके सहित

दिशाओंका ज्ञान रखता हूँ।' [शाकल्य—] 'यदि तुम देवता और प्रतिष्ठाके सहित दिशाओंको जानते हो [तो बताओ] इस पूर्वदिशामें तुम किस देवतासे युक्त हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'वहाँ मैं आदित्य (सूर्य) देवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'नेत्रमें।' [शाकल्य—] 'नेत्र किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'रूपोंमें, क्योंकि पुरुष नेत्रसे ही रूपोंको देखता है।' [शाकल्य—] 'रूप किसमें प्रतिष्ठित है?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'हृदयमें, क्योंकि पुरुष हृदयसे ही रूपोंको जानता है, अतः हृदयमें ही रूप प्रतिष्ठित हैं।' [शाकल्य—] 'हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ १९-२० ॥

'इस दक्षिण दिशामें तुम कौन-से देवतावाले हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'यमदेवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह यमदेवता किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'यज्ञमें।' [शाकल्य—] 'यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'दक्षिणामें।' [शाकल्य—] 'दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'श्रद्धामें; क्योंकि जब पुरुष श्रद्धा करता है, तभी दक्षिणा देता है, अतः श्रद्धामें ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है।' [शाकल्य—] 'श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'हृदयमें; क्योंकि हृदयसे ही पुरुष श्रद्धाको जानता है, अतः हृदयमें ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है।' [शाकल्य—] 'याज्ञवल्क्य यह बात ऐसी ही है' ॥ २१ ॥

'इस पश्चिम दिशामें तुम कौन-से देवतावाले हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'वरुणदेवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह वरुण किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] ' ' [शाकल्य—] 'जल किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'वीर्यमें।' [शाकल्य—] 'वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'हृदयमें; इसीसे पिताके अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्रको लोग कहते हैं कि यह मानो पिताके हृदयसे ही निकला है, मानो पिताके हृदयसे ही बना है; क्योंकि हृदयमें ही वीर्य स्थित रहता है।' [शाकल्य—] 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ २२ ॥

'इस उत्तर दिशामें तुम किस देवतावाले हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'सोमदेवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह सोम किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'दीक्षामें।' [शाकल्य—] 'दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'सत्यमें; इसीसे दीक्षित पुरुषसे कहते हैं कि सत्य बोलो; क्योंकि सत्यमें ही दीक्षा प्रतिष्ठित है।' [शाकल्य—] 'सत्य किसमें प्रतिष्ठित है?' 'हृदयमें।' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। 'क्योंकि पुरुष हृदयसे ही सत्यको जानता है, अतः हृदयमें ही सत्य प्रतिष्ठित है।' [शाकल्य—] 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है' ॥ २३ ॥

'इस ध्रुवा दिशामें तुम कौन देवतावाले हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'अग्निदेवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'वाक्में।' [शाकल्य—] 'वाक् किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'हृदयमें।' [शाकल्य—] 'हृदय किसमें प्रतिष्ठित है?' ॥ २४ ॥

याज्ञवल्क्यने 'अहल्लिक ! (प्रेत !)' ऐसा सम्बोधन करके कहा—'जिस समय तुम इसे हमसे अलग मानते हो, उस समय यदि यह (हृदय—आत्मा) हमसे अलग हो जाय तो इस शरीरको कुत्ते खा जायँ अथवा इसे पक्षी चोंच मारकर मथ डालें' ॥ २५ ॥

'तुम (शरीर) और आत्मा (हृदय) किसमें प्रतिष्ठित हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'प्राणमें।' [शाकल्य—] 'प्राण किसमें प्रतिष्ठित है?' 'अपानमें।' 'अपान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'व्यानमें।' 'व्यान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'उदानमें।' 'उदान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'समानमें।' 'जिसका [मधुकाण्डमें] 'नेति-नेति' ऐसा कहकर निरूपण किया गया है, वह आत्मा अगृह्य है—वह ग्रहण नहीं किया जा सकता, अशीर्य है—वह शीर्ण (नष्ट) नहीं होता, असङ्ग है—वह संसक्त नहीं होता, असित है—वह व्यथित और हिंसित नहीं होता। ये आठ (पृथिवी आदि) आयतन हैं, आठ (अग्नि आदि) लोक हैं, आठ (अमृतादि) देव हैं और आठ (शारीरादि) पुरुष हैं। वह जो उन पुरुषोंको निश्चयपूर्वक जानकर उनका अपने हृदयमें उपसंहार करके औपाधिक धर्मोंका अतिक्रमण किये हुए है, उस औपनिषद पुरुषको मैं पूछता हूँ; यदि तुम मुझे उसे स्पष्टतया न बतला सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' याज्ञवल्क्यने यों कहा, किंतु शाकल्य उसे नहीं जानता था, इसलिये बता नहीं सका एवं उसका मस्तक गिर गया। यही नहीं, अपितु चोरलोग उसकी हड्डियोंको कुछ और समझकर चुरा ले गये ॥ २६ ॥

फिर याज्ञवल्क्यने कहा, 'पूजनीय ब्राह्मणगण ! आपमेंसे जिसकी इच्छा हो, वह मुझसे प्रश्न करे। अथवा आप सभी मुझसे प्रश्न करें। इसी प्रकार आपमेंसे जिसकी इच्छा हो, उससे मैं प्रश्न करता हूँ या आप सभीसे मैं प्रश्न करता हूँ।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ ॥ २७ ॥

याज्ञवल्क्यने उनसे इन श्लोकोंद्वारा प्रश्न किया—वनस्पति (विशालता आदि गुणोंसे युक्त) वृक्ष जैसा (जिन धर्मोंसे युक्त) होता है, पुरुष (जीवका शरीर) भी वैसा ही (उन्हीं धर्मोंसे सम्पन्न) होता है—यह बिल्कुल सत्य है। वृक्षके पत्ते होते हैं और पुरुषके शरीरमें पत्तोंकी जगह रोम होते हैं; पुरुषके शरीरमें जो त्वचा (चाम) है, उसकी समतामें इस वृक्षके बाहरी भागमें छाल होती है। पुरुषकी त्वचासे ही रक्त निकलता है और वृक्षकी भी त्वचा (छाल) से ही गोंद निकलता है। वृक्ष और पुरुषकी इस समानताके कारण ही जिस प्रकार आघात लगनेपर वृक्षसे रस निकलता है, उसी प्रकार चोट खाये हुए पुरुष-शरीरसे रक्त प्रवाहित होता है। पुरुषके शरीरमें मांस होते हैं और वनस्पतिके शकर (छालका भीतरी अंश); पुरुषके स्नायु (शिरा) होते हैं और वृक्षमें किनाट (शकरके भी भीतरका अंशविशेष) । वह किनाट स्नायुकी ही भाँति स्थिर होता है। पुरुषके स्नायु-जालके भीतर जैसे हड्डियाँ होती हैं, वैसे ही वृक्षमें किनाटके भीतर काष्ठ हैं तथा मज्जा तो दोनोंमें मज्जाके ही समान निश्चित की गयी है। किंतु यदि वृक्षको काट दिया जाता है तो वह अपने मूलसे पुनः और भी नवीन होकर अङ्कुरित हो आता है; इसी प्रकार यदि मनुष्यको मृत्यु काट डाले तो वह (वृक्षकी भाँति) किस मूलसे उत्पन्न होगा ? । वह वीर्यसे उत्पन्न होता है—ऐसा तो मत कहो; क्योंकि वीर्य तो जीवित पुरुषमें ही उत्पन्न होता है [मृत पुरुषसे नहीं]। वृक्ष भी [केवल तनेसे ही नहीं उत्पन्न होता;] बीजमें भी उत्पन्न होता है; किंतु बीजसे उत्पन्न होनेवाला वृक्ष भी कट जानेके पश्चात् पुनः अङ्कुरित होकर उत्पन्न होता है; यह प्रत्यक्ष देखा गया है। पर यदि वृक्षको जड़सहित उखाड़ दिया जाय तो वह फिर उत्पन्न नहीं होगा; इसी प्रकार यदि मनुष्यका मृत्यु छेदन कर दे तो वह किस मूलसे उत्पन्न होता है ? । [यदि ऐसा माना जाय कि] पुरुष तो उत्पन्न हो ही गया है, अतः फिर उत्पन्न नहीं होता [तो वह ठीक नहीं; क्योंकि वह मरकर पुनः उत्पन्न होता ही है] ऐसी दशामें मृत्युके पश्चात् इसे पुनः कौन उत्पन्न करेगा ? [यह प्रश्न है; ब्राह्मणोंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, इसलिये श्रुति स्वयं ही उसका निर्देश करती है—] विज्ञान आनन्द ब्रह्म है, वह धनदाता (कर्म करनेवाले यजमान) की परम गति है और ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ताका भी परम आश्रय है ॥ १–७ ॥ ॥ २८ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

ॐ

चतुर्थ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद

विदेह जनक आसनपर स्थित था। तभी उसके पास याज्ञवल्क्यजी आये। उनसे [जनकने] कहा, 'याज्ञवल्क्यजी ! कैसे पधारे ? पशुओंकी इच्छासे, अथवा सूक्ष्मान्त [प्रश्न श्रवण करने] के लिये ?' 'राजन् ! मैं दोनोंके लिये आया हूँ' ऐसा [याज्ञवल्क्यने] कहा ॥ १ ॥

[याज्ञवल्क्य—] 'तुमसे किसी आचार्यने जो कहा है, वह हम सुनें।' [जनक—] 'मुझसे शिलिनके पुत्र जित्वाने कहा है कि वाक् ही ब्रह्म है।' [याज्ञवल्क्य—] "जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस शिलिनके पुत्रने 'वाक् ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है, क्योंकि न बोलनेवालेको क्या लाभ हो सकता है ? किन्तु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं ?" [जनक—] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य—] 'राजन् ! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्यजी ! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य—] "वाक् ही उसका आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है; उसकी 'प्रज्ञा' इस प्रकार उपासना करे।" [जनक—] 'याज्ञवल्क्यजी ! प्रज्ञता क्या है ?' 'राजन् ! वाक् ही प्रज्ञता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे सम्राट् ! वाक्से ही बन्धुका ज्ञान होता है और राजन् ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित (भूखेको अन्न खिलानेसे होनेवाले धर्म), पायित (प्यासेको पानी पिलानेसे होनेवाले धर्म), यह लोक, परलोक और समस्त भूत वाक्से ही जाने जाते हैं। हे सम्राट् ! वाक् ही परब्रह्म है। इस प्रकार उपासना करनेवालेको वाक् नहीं त्यागती, सम्पूर्ण भूत उसको उपहार देते हैं। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' विदेहराज जनकने कहा—'मैं आपको—जिनसे हाथीके समान बैल उत्पन्न हों ऐसी—सहस्र गौएँ देता हूँ।' उस याज्ञवल्क्यने कहा—'मेरे पिताजीका सिद्धान्त था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ २ ॥

[याज्ञवल्क्य—] 'तुमसे किसी [आचार्य] ने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक—] "मुझसे शुल्वके पुत्र उदङ्कने 'प्राण ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है।" [याज्ञवल्क्य—] "जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस शुल्वके पुत्रने 'प्राण ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है, क्योंकि प्राणक्रिया न करनेवालेको क्या लाभ हो सकता है ? किन्तु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं ?" [जनक—] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य—] 'राजन् ! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्यजी ! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य—] "प्राण ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, उसकी 'प्रिय' इस रूपसे उपासना करे।" [जनक—] 'याज्ञवल्क्यजी ! प्रियता क्या है ?' 'हे सम्राट् ! प्राण ही प्रियता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'राजन् ! प्राणके लिये ही लोग अयाज्यसे यजन कराते हैं, प्रतिग्रह न लेनेयोग्यसे प्रतिग्रह लेते हैं तथा जिस दिशामें जाते हैं, उसमें ही वधकी आशंका करते हैं। हे सम्राट् ! यह सब प्राणके लिये ही होता है। हे राजन् ! प्राण ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसे प्राण नहीं त्यागता, उसको सब भूत उपहार देते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ३ ॥

[याज्ञवल्क्य—] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक—] "मुझसे वृष्णके पुत्र बर्कुने कहा है कि 'चक्षु ही ब्रह्म है'।" [याज्ञवल्क्य—] "जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस वार्ष्णने 'चक्षु ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है, क्योंकि न देखनेवालेको क्या लाभ हो सकता है ? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं ?" [जनक—] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य—] 'हे सम्राट् ! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्यजी ! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य—] "चक्षु ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, इसकी 'सत्य' इस रूपसे उपासना करे।" [जनक—] 'हे याज्ञवल्क्य ! सत्यता क्या है ?' 'हे राजन् ! चक्षु ही सत्यता

है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। ''हे सम्राट्! चक्षुसे देखनेवालेसे ही 'क्या तूने देखा' ऐसा जब कहा जाता है और वह कहता है कि 'मैंने देखा' तो वह सत्य होता है। राजन्! चक्षु ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसका चक्षु त्याग नहीं करता, सब भूत उसको उपहार देते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।'' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ४ ॥

[याज्ञवल्क्य–] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक–] ''मुझसे भारद्वाज-गोत्रोत्पन्न गर्दभीविपीतने कहा है कि 'श्रोत्र ही ब्रह्म है'।'' [याज्ञवल्क्य–] ''जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे; उसी प्रकार उस भारद्वाजने 'श्रोत्र ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; क्योंकि न सुननेवालेको क्या लाभ हो सकता है? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?'' [जनक–] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य–] 'हे सम्राट्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक–] 'हे याज्ञवल्क्य! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य–] ''श्रोत्र ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, तथा इसकी 'अनन्त' इस रूपसे उपासना करें।'' [जनक–] 'हे याज्ञवल्क्य! अनन्तता क्या है?' 'हे सम्राट्! दिशाएँ ही अनन्तता हैं' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'इसीसे हे सम्राट्! कोई भी जिस किसी दिशाको जाता है, वह उसका अन्त नहीं पाता; क्योंकि दिशाएँ अनन्त हैं और हे सम्राट्! दिशाएँ ही श्रोत्र हैं। श्रोत्र ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, श्रोत्र उसका त्याग नहीं करता, सब भूत उसको उपहार देते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ५ ॥

[याज्ञवल्क्य–] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक–] ''मुझसे जबालाके पुत्र सत्यकामने कहा है कि 'मन ही ब्रह्म है'।'' [याज्ञवल्क्य–] ''जैसे मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस जबालाके पुत्रने 'मन ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; क्योंकि मनोहीनको क्या लाभ हो सकता है? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा बतलाये हैं।'' [जनक–] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य–] 'हे सम्राट्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक–] 'हे याज्ञवल्क्य! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य–] ''मन ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, इसकी 'आनन्द' इस रूपसे उपासना करे।'' [जनक–] 'याज्ञवल्क्य! आनन्दता क्या है?' 'हे सम्राट्! मन ही आनन्दता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे राजन्! मनसे ही स्त्रीकी इच्छा करता है; उसमें अनुरूप पुत्र उत्पन्न होता है, वह आनन्द है। हे सम्राट्! मन ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसे मन नहीं त्यागता, सब भूत उसका उपकार करते हैं तथा वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ६ ॥

[याज्ञवल्क्य–] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है वह हम सुनें।' [जनक–] ''मुझसे विदग्ध शाकल्यने कहा है कि 'हृदय ही ब्रह्म है'।'' [याज्ञवल्क्य–] ''जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुष उपदेश करे, उसी प्रकार उस शाकल्यने 'हृदय ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; क्योंकि हृदयहीनको क्या मिल सकता है? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?'' [जनक–] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य–] 'हे सम्राट्! यह तो एक पादवाला ही ब्रह्म है।' [जनक–] 'याज्ञवल्क्य! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य–] ''हृदय ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है तथा इसकी 'स्थिति' इस रूपसे उपासना करे।'' [जनक–] 'याज्ञवल्क्य! स्थितता क्या है?' 'हे सम्राट्! हृदय ही स्थितता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'राजन्! हृदय ही समस्त भूतोंका आयतन है, हृदय ही सब भूतोंकी प्रतिष्ठा है और हृदयमें ही समस्त भूत प्रतिष्ठित होते हैं। हे सम्राट्! हृदय ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसका हृदय त्याग नहीं करता, सब भूत उसको उपहार समर्पण करते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' वैदेह जनकने कहा, 'मैं आपको हाथीके समान

हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ।' याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये विना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ७ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्यका जनकको उपदेश

विदेहराज जनकने कूर्च [नामक एक विशेष प्रकारके आसन] से उठकर [याज्ञवल्क्यके] समीप जाकर कहा, 'याज्ञवल्क्यजी! आपको नमस्कार है, मुझे उपदेश कीजिये।' उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा, 'राजन्! जिस प्रकार लंबे मार्गको जानेवाला पुरुष सम्यक् प्रकारसे रथ या नौकाका आश्रय ले, उसी प्रकार तुम इन उपनिषदों (उपासनाओं) से युक्त प्राणादि ब्रह्मोंकी उपासना कर समाहितचित्त हो गये हो। इस प्रकार तुम पूज्य, श्रीमान्, अधीतवेद और उक्तोपनिषत्क (जिसे आचार्यने उपनिषद्का उपदेश कर दिया है—ऐसे) हो गये हो। इतना होनेपर भी बताओ तुम इस शरीरसे छूटकर कहाँ जाओगे?' [जनक—] 'भगवन्! मैं कहाँ जाऊँगा, सो मुझे मालूम नहीं है।' [याज्ञवल्क्य—] 'अब मैं तुम्हें यही बतलाऊँगा जहाँ तुम जाओगे।' [जनक—] 'भगवान् मुझे बतलावें' ॥ १ ॥

'यह जो दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, इन्ध नामवाला है; उसी इस पुरुषको इन्ध होते हुए भी परोक्षरूपसे इन्द्र कहते हैं; क्योंकि देवगण मानो परोक्षप्रिय हैं, प्रत्यक्षसे द्वेष करनेवाले हैं। और यह जो बायें नेत्रमें पुरुषरूप है, वह इस (इन्द्र) की पत्नी विराट् (अन्न) है; उन दोनोंका यह संस्ताव (मिलनका स्थान) है जो कि यह हृदयान्तर्गत आकाश है। उन दोनोंका यह अन्न है जो कि यह हृदयान्तर्गत लाल पिण्ड है। उन दोनोंका यह प्रावरण है जो कि यह हृदयान्तर्गत जाल-सा है। उन दोनोंका यह मार्ग—सञ्चार करनेका द्वार है जो कि यह हृदयसे ऊपरकी ओर नाडी जाती है। जिस प्रकार सहस्र भागोंमें विभक्त हुआ केश होता है, वैसी ही ये हिता नामकी नाडियाँ हृदयके भीतर स्थित हैं। इन्हींके द्वारा जाता हुआ यह अन्न [शरीर] में जाता है; इसीसे इस (स्थूलशरीराभिमानी वैश्वानर) से यह (सूक्ष्मदेहाभिमानी तैजस) सूक्ष्मतर आहार ग्रहण करनेवाला ही होता है ॥ २-३ ॥

उस विद्वान्के पूर्वदिशा पूर्व प्राण हैं, दक्षिणदिशा दक्षिण प्राण हैं, पश्चिमदिशा पश्चिम प्राण हैं, उत्तरदिशा उत्तर प्राण हैं, ऊपरकी दिशा ऊपरके प्राण हैं, नीचेकी दिशा नीचेके प्राण हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ सम्पूर्ण प्राण हैं। वह यह 'नेति-नेति' रूपसे वर्णन किया हुआ आत्मा अगृह्य है—वह ग्रहण नहीं किया जाता; वह अशीर्य है—शीर्ण (नष्ट) नहीं होता, असङ्ग है—उसका सङ्ग नहीं होता; वह अबद्ध है—व्यथित नहीं होता और क्षीण नहीं होता। हे जनक! तू निश्चय अभयको प्राप्त हो गया है'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। उस विदेहराज जनकने कहा, 'भगवन् याज्ञवल्क्य! जिन आपने मुझे अभय ब्रह्मका ज्ञान कराया है, उन आपको अभय प्राप्त हो, आपको नमस्कार है, ये विदेह देश और यह मैं आपके अधीन हैं' ॥४॥

तृतीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्यके द्वारा आत्माके स्वरूपका कथन

विदेहराज जनकके पास याज्ञवल्क्य गये। उनका विचार था मैं कुछ उपदेश नहीं करूँगा। किंतु पहले कभी विदेहराज जनक और याज्ञवल्क्यने अग्निहोत्रके विषयमें परस्पर संवाद किया था, उस समय याज्ञवल्क्यने उसे वर दिया था और उसने इच्छानुसार प्रश्न करना ही माँगा था। यह वर याज्ञवल्क्यने उसे दे दिया था; अतः उनसे पहले राजाने ही प्रश्न किया—॥ १ ॥

'याज्ञवल्क्यजी! यह पुरुष किस ज्योतिवाला है?' 'हे सम्राट्! यह आदित्यरूप ज्योतिवाला है'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'यह आदित्यरूप ज्योतिसे ही बैठता, सब ओर जाता, कर्म करता और लौट आता है।' 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है'। [जनक—] 'याज्ञवल्क्य! आदित्यके अस्त हो जानेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है?' [याज्ञवल्क्य—] 'उस समय चन्द्रमा ही इसकी ज्योति होता है; चन्द्रमारूप ज्योतिके द्वारा ही यह बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है। याज्ञवल्क्यजी! आदित्यके अस्त हो जानेपर तथा चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है?' 'अग्नि ही इसकी ज्योति होता है। यह अग्निरूप ज्योतिके द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है।'
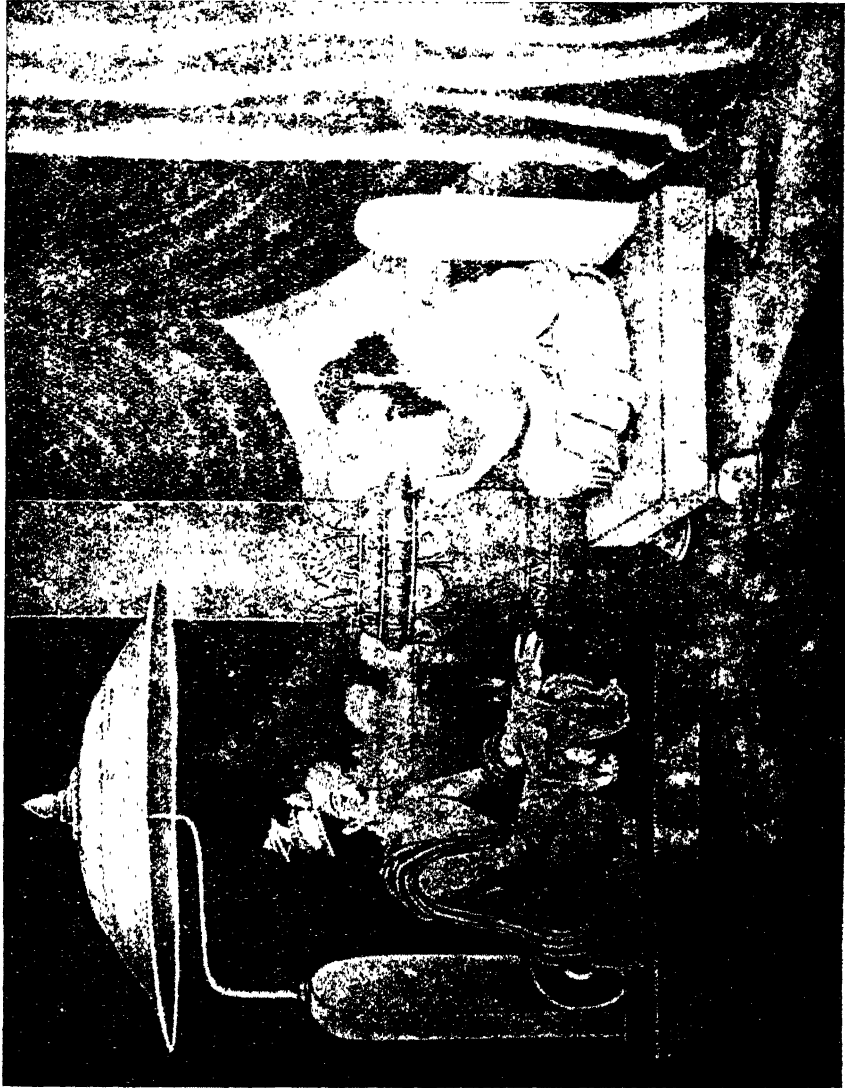
जनक-याज्ञवल्क्य

'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । याज्ञवल्क्यजी ! आदित्यके अस्त होनेपर, चन्द्रमाके अस्त होनेपर और अग्निके शान्त होनेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ?' 'वाक् ही इसकी ज्योति होती है । यह वाक्रूप ज्योतिके द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है । इसीसे हे सम्राट् ! जहाँ अपना हाथ भी नहीं जाना जाता, वहाँ ज्यों ही वाणीका उच्चारण किया जाता है कि पास चला जाता है ।' 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । याज्ञवल्क्यजी ! आदित्यके अस्त होनेपर, चन्द्रमाके अस्त होनेपर, अग्निके शान्त होनेपर और वाक्के भी शान्त होनेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला रहता है ?' 'आत्मा ही इसकी ज्योति होता है । यह आत्मज्योतिके द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और फिर लौट आता है' ॥ २–६ ॥

[जनक—] 'आत्मा कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'यह जो प्राणोंमें बुद्धिवृत्तियोंके भीतर रहनेवाला विज्ञानमय ज्योतिःस्वरूप पुरुष है, वह समान (बुद्धिवृत्तियोंके सदृश) हुआ इस लोक और परलोक दोनोंमें सञ्चार करता है । वह [बुद्धिवृत्तिके अनुसार] मानो चिन्तन करता है और [प्राणवृत्तिके अनुरूप होकर] मानो चेष्टा करता है । वही स्वप्न होकर इस लोक (देहेन्द्रिय-सङ्घात) का अतिक्रमण करता है और [शरीर तथा इन्द्रियरूप] मृत्युके रूपोंका भी अतिक्रमण करता है । वह यह पुरुष जन्म लेते समय शरीरको आत्मभावसे प्राप्त होता हुआ पापोंसे (देह और इन्द्रियोंसे) संश्लिष्ट हो जाता है तथा मरते समय—उत्क्रमण करते समय पापोंको त्याग देता है ॥ ७–८ ॥

उस इस पुरुषके दो ही स्थान हैं—यह लोक, परलोक-सम्बन्धी स्थान और तीसरा स्वप्नस्थान सन्ध्यस्थान है । उस सन्ध्यस्थानमें स्थित रहकर यह इस लोकरूप स्थान और परलोकस्थान—इन दोनोंको देखता है । यह पुरुष परलोकस्थानके लिये जैसे साधनसे सम्पन्न होता है, उस साधनका आश्रय लेकर यह पाप (पापका फलरूप दुःख) और आनन्द दोनोंको ही देखता है । जिस समय यह सोता है, उस समय इस सर्वावान् लोककी मात्रा (एकदेश) को लेकर, स्वयं इस स्थूलशरीरको अचेत करके तथा स्वयं ही अपने वासनामय देहको रचकर, अपने प्रकाशसे अर्थात् अपने ज्योतिःस्वरूपसे शयन करता है; इस स्वप्न-अवस्थामें यह पुरुष स्वयं ज्योतिःस्वरूप होता है ॥ ९ ॥

उस अवस्थामें न रथ हैं, न रथमें जोते जानेवाले [अश्वादि] हैं और न मार्ग ही हैं । परंतु यह रथ, रथमें जोते जानेवाले [अश्वादि] और रथके मार्गोंकी रचना कर लेता है । उस अवस्थामें आनन्द, मोद और प्रमोद भी नहीं हैं; किंतु यह आनन्द, मोद और प्रमोदकी रचना कर लेता है । वहाँ छोटे-छोटे कुण्ड, सरोवर और नदियाँ नहीं हैं; यह कुण्ड, सरोवर और नदियोंकी रचना कर लेता है—वही उनका कर्ता है ॥ १० ॥

इस विषयमें ये श्लोक हैं—आत्मा स्वप्नके द्वारा शरीरको निश्चेष्ट करके स्वयं न सोता हुआ सोये हुए समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है । वह शुद्ध—इन्द्रियमात्रारूपको लेकर पुनः जागरित-स्थानमें आता है । हिरण्मय (ज्योतिःस्वरूप) पुरुष अकेला ही [दोनों स्थानोंमें] जानेवाला है । इस निकृष्ट शरीरकी प्राणसे रक्षा करता हुआ वह अमृतधर्मा शरीरसे बाहर विचरता है । वह अकेला विचरनेवाला हिरण्मय अमृत पुरुष, जहाँ वासना होती है, वहीं चला जाता है । वह देव स्वप्नावस्थामें ऊँच-नीच भावोंको प्राप्त होता हुआ बहुत-से रूप बना लेता है । इसी प्रकार वह स्त्रियोंके साथ आनन्द मानता हुआ, [मित्रोंके साथ] हँसता हुआ तथा [व्याघ्रादि] भय देखता हुआ-सा रहता है । सब लोग उसके आराम (क्रीडाकी सामग्री) को ही देखते हैं, उसे कोई नहीं देखता । उस सोये हुए आत्माको सहसा न जगावे—ऐसा [वैद्यलोग] कहते हैं । जिस इन्द्रिय-प्रदेशमें यह सोया होता है, उसमें प्राप्त न होनेसे इसका शरीर दुश्चिकित्स्य हो जाता है । इसीसे अवश्य ही कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि यह (स्वप्नस्थान) इसका जागरित देश ही है; क्योंकि जिन पदार्थोंको यह जागनेपर देखता है, उन्हींको सोया हुआ भी देखता है [किंतु यह ठीक नहीं है]; क्योंकि इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंज्योति होता है ।' [जनक—] 'वह मैं जनक श्रीमान्‌को सहस्र मुद्रा देता हूँ, अब आगे मुझे मोक्षके लिये उपदेश कीजिये' ॥ ११—१४ ॥

[याज्ञवल्क्य—] 'वह यह आत्मा इस सुषुप्तिमें रमण और विहार करके पुण्य और पापको केवल देखकर, जैसे आया था और जहाँसे आया था, पुनः स्वप्नस्थानको ही लौट आता है । वहाँ वह जो कुछ देखता है, उससे असम्बद्ध रहता है; क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है ।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है; मैं श्रीमान्‌को सहस्र मुद्रा देता हूँ; इससे आगे भी मोक्षके लिये ही उपदेश कीजिये' ॥ १५ ॥

[याज्ञवल्क्य—] 'वह यह आत्मा इस स्वप्नावस्थामें रमण और विहार करके तथा पुण्य और पापको देखकर ही फिर जिस प्रकार आया था और जहाँसे आया था, उस जागरित-

स्थानको ही लौट जाता है। वह वहाँ जो कुछ देखता है, उससे असंश्लिष्ट रहता है; क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है। मैं श्रीमान्‌को सहस्र मुद्रा भेंट करता हूँ; इससे आगे आप मोक्षके लिये ही उपदेश कीजिये।' [याज्ञवल्क्य—] 'वह यह पुरुष इस जागरित-अवस्थामें रमण और विहार करके तथा पुण्य और पापको देखकर फिर जिस प्रकार आया था, उसी मार्गसे यथास्थान स्वप्नस्थानको ही लौट जाता है' ॥ १६-१७ ॥

जिस प्रकार कोई बड़ा भारी मत्स्य नदीके पूर्व और अपर दोनों तीरोंपर क्रमशः विचरण करता है, उसी प्रकार यह पुरुष स्वप्नस्थान और जागरितस्थान इन दोनों ही स्थानोंमें क्रमशः विचरण करता है। जिस प्रकार इस आकाशमें श्येन (बाज) अथवा सुपर्ण (तेज उड़नेवाला बाज) सब ओर उड़कर थक जानेपर पंखोंको फैलाकर घोंसलेकी ओर ही उड़ता है, उसी प्रकार यह पुरुष इस स्थानकी ओर दौड़ता है, जहाँ सोनेपर यह किसी भोगकी इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है ॥ १८-१९ ॥

उसकी वे ये हिता नामकी नाडियाँ, जो सहस्र भागोंमें विभक्त केशके सदृश सूक्ष्मतासे रहती हैं, शुक्ल, नील, पीत, हरित और लाल रंगके रससे पूर्ण हैं। सो जहाँ इस पुरुषको मानो [शत्रु] मारते, मानो अपने वशमें करते और जहाँ मानो इसे हाथी खदेड़ता है अथवा जहाँ यह मानो गड्ढेमें गिरता है; इस प्रकार जो कुछ भी जाग्रदवस्थाके भय देखता है, उसीको इस स्वप्नावस्थामें अविद्यासे मानता-जानता है। और जहाँ यह देवताके समान, राजाके समान अथवा मैं ही यह सब हूँ—ऐसा मानता है, वह इसका परम धाम है ॥ २० ॥

वह इसका कामरहित, पापरहित और अभय रूप है। व्यवहारमें जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्याको आलिङ्गन करनेवाले पुरुषको न कुछ बाहरका ज्ञान रहता है और न भीतरका, इसी प्रकार यह पुरुष प्राज्ञात्मासे आलिङ्गित होनेपर न कुछ बाहरका विषय जानता है और न भीतरका; यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है। इस सुषुप्तावस्थामें पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है, लोक अलोक हो जाते हैं, देव अदेव हो जाते हैं और वेद अवेद हो जाते हैं। यहाँ चोर अचोर हो जाता है, भ्रूणहत्या करनेवाला अभ्रूणहा हो जाता है तथा चाण्डाल अचाण्डाल, पौल्कस अपौल्कस, श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाते हैं। उस समय यह पुरुष पुण्यसे असम्बद्ध तथा पापसे भी असम्बद्ध होता है और हृदयके सम्पूर्ण शोकोंको पार कर जाता है ॥ २१-२२ ॥

वह जो नहीं देखता सो देखता हुआ ही नहीं देखता। द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस समय उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसे देखे। वह जो नहीं सूँघता सो सूँघता हुआ ही नहीं सूँघता; सूँघनेवालेकी गन्धग्रहणशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसे वह सूँघे। वह जो रसास्वाद नहीं करता, सो रसास्वाद करता हुआ ही नहीं करता। रसास्वाद करनेवालेकी रसग्रहणशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं, जिसका रस ग्रहण करे। वह जो नहीं बोलता सो बोलता हुआ ही नहीं बोलता। वक्ताकी वचनशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न दूसरा कुछ है ही नहीं, जिसके विषयमें वह बोले। वह जो नहीं सुनता सो सुनता हुआ ही नहीं सुनता। श्रोताकी श्रवणशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसके विषयमें वह सुने। वह जो मनन नहीं करता सो मनन करता हुआ ही मनन नहीं करता। मनन करनेवालेकी मननशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसके विषयमें वह मनन करे। वह जो स्पर्श नहीं करता सो स्पर्श करता हुआ ही स्पर्श नहीं करता। स्पर्श करनेवालेकी स्पर्शशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं, जिसे वह स्पर्श करे। वह जो नहीं जानता सो नहीं जानता हुआ ही नहीं जानता। विज्ञाताकी विज्ञाति (विज्ञानशक्ति) का सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ ही नहीं होता, जिसे वह विशेषरूपसे जाने ॥ २३—३० ॥

जहाँ (जागरित या स्वप्नावस्थामें) आत्मासे भिन्न अन्य-सा होता है, वहाँ अन्य अन्यको देख सकता है, अन्य अन्यको सूँघ सकता है, अन्य अन्यको चख सकता है, अन्य अन्यको बोल सकता है, अन्य अन्यको सुन सकता है, अन्य अन्यका मनन कर सकता है, अन्य अन्यका

स्पर्श कर सकता है; अन्य अन्यको जान सकता है। परंतु जैसे जलमें वैसे ही सुषुप्तिमें एक अद्वैत द्रष्टा है। हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है'—ऐसा याज्ञवल्क्यने जनकको उपदेश दिया। 'यह इस (पुरुष) की परमगति है, यह इसकी परम सम्पत्ति है, यह इसका परमलोक है, यह इसका परमानन्द है। इस आनन्दकी मात्राके आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं ॥ ३१-३२ ॥

वह जो मनुष्योंमें सब अङ्गोंसे पूर्ण समृद्ध, दूसरोंका अधिपति और मनुष्यसम्बन्धी सम्पूर्ण भोगसामग्रियोंद्वारा सबसे अधिक सम्पन्न होता है, वह मनुष्योंका परम आनन्द है। अब जो मनुष्योंके सौ आनन्द हैं, वह पितृलोकको जीतनेवाले पितृगणका एक आनन्द है। और जो पितृलोकको जीतनेवाले पितरोंके सौ आनन्द हैं, वह गन्धर्वलोकका एक आनन्द है। तथा जो गन्धर्वलोकके सौ आनन्द हैं, वह कर्मदेवोंका, जो कि कर्मके द्वारा देवत्वको प्राप्त होते हैं, एक आनन्द है। जो कर्मदेवोंके सौ आनन्द हैं, वह आजान (जन्मसिद्ध) देवोंका एक आनन्द है; और जो निष्पाप, निष्काम श्रोत्रिय है [उसका भी वह आनन्द है]। जो आजानदेवोंके सौ आनन्द हैं, वह प्रजापति-लोकका एक आनन्द है; और जो निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय है [उसका भी वह आनन्द है]। जो प्रजापतिलोकके सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मलोकका एक आनन्द है; और जो निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय है [उसका भी वह आनन्द है] तथा यही परम आनन्द है। हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। [जनक बोले—] 'मैं श्रीमान्‌को सहस्र [गौएँ] देता हूँ, अब आगे भी आप मोक्षके लिये ही उपदेश करें।' यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी डर गये कि इस बुद्धिमान् राजाने तो मुझे सम्पूर्ण प्रश्नोंके निर्णयपर्यन्त [उत्तर देनेको] बाँध लिया ॥ ३३ ॥

वह यह पुरुष इस स्वप्नान्तमें रमण और विहार करके तथा पुण्य और पापको देखकर ही पुनः गये हुए मार्गसे ही यथास्थान जागरित-अवस्थाको ही लौट आता है ॥ ३४ ॥

लोकमें जिस प्रकार बहुत अधिक बोझ लादा हुआ छकड़ा शब्द करता हुआ चलता है, उसी प्रकार यह देही आत्मा प्राज्ञात्मासे अधिष्ठित [हो मरण कालमें] शब्द करता हुआ जाता है, जब कि यह ऊपरके श्वास छोड़नेवाला हो जाता है। वह यह देह जिस समय कृशताको प्राप्त होता है, वृद्धावस्था अथवा ज्वरादि रोगके कारण कृश हो जाता है, उस समय जैसे आम, गूलर अथवा पिप्पल-फल बन्धन (डंठल) से छूट जाता है, वैसे ही यह पुरुष इन अङ्गोंसे छूटकर, फिर जिस मार्गसे आया था, उसीसे प्रत्येक योनिमें प्राणकी विशेष अभिव्यक्तिके लिये ही चला जाता है ॥ ३५-३६ ॥

अतः जिस प्रकार आते हुए राजाकी उग्रकर्मा एवं पापकर्म-में नियुक्त सूत और गाँवके नेतालोग अन्न, पान और निवासस्थान तैयार रखकर 'ये आये, ये आये' इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं, उसी प्रकार इस कर्मफलवेत्ताकी सम्पूर्ण भूत 'यह ब्रह्म आता है, यह आता है' इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार जानेके लिये तैयार हुए राजाके अभिमुख होकर उग्रकर्मा और पापकर्ममें नियुक्त सूत एवं गाँवके नेतालोग जाते हैं, उसी प्रकार जब यह ऊपरके श्वास लेने लगता है तो अन्तकालमें सारे प्राण इस आत्माके अभिमुख होकर इसके साथ जाते हैं ॥ ३८ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

कामना-नाशसे ब्रह्म-प्राप्ति

वह यह आत्मा जिस समय दुर्बलताको प्राप्त हो मानो सम्मोहित हो जाता है, तब ये वागादि प्राण इसके प्रति अभिमुखतासे आते हैं। वह इन [प्राणोंकी] तेजोमात्राको सम्यक् प्रकारसे ग्रहण करके हृदयमें ही अनुक्रान्त (अभिव्यक्त ज्ञानवान्) होता है। जिस समय यह चाक्षुष पुरुष सब ओरसे व्यावृत्त होता है, उस समय मुमूर्षु रूपज्ञानहीन हो जाता है ॥ १ ॥

[चक्षु-इन्द्रिय लिङ्गात्मासे] एकरूप हो जाती है तो लोग 'नहीं देखता' ऐसा कहते हैं; [घ्राणेन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं सूँघता' ऐसा कहते हैं; [रसनेन्द्रिय] एक-रूप हो जाती है तो 'नहीं चखता' ऐसा कहते हैं; [वागिन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं बोलता' ऐसा कहते हैं; [श्रोत्रेन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं सुनता' ऐसा कहते हैं; [मन] एकरूप हो जाता है तो 'मनन नहीं करता' ऐसा कहते हैं; [त्वगिन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'स्पर्श नहीं करता' ऐसा कहते हैं; और यदि [बुद्धि लिङ्गात्मासे] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं जानता' ऐसा कहते हैं। उस इस हृदयका अग्र (बाहर जानेका मार्ग) अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है, उसीसे यह आत्मा नेत्रसे, मूर्द्धासे अथवा शरीरके किसी अन्य

भागसे बाहर निकलता है। उसके उत्क्रमण करनेपर उसके साथ ही प्राण उत्क्रमण करता है, प्राणके उत्क्रमण करनेपर सम्पूर्ण प्राण (इन्द्रियवर्ग) उत्क्रमण करते हैं। उस समय यह आत्मा विशेष विज्ञानवान् होता है और विज्ञानयुक्त प्रदेशको ही जाता है। उस समय उसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वप्रज्ञा (अनुभूत विषयोंकी वासना) भी जाते हैं ॥ २ ॥

वह दृष्टान्त है—जिस प्रकार जोंक एक तृणके अन्तमें पहुँचकर दूसरे तृणरूप आश्रयको पकड़कर अपनेको सकोड़ लेती है,उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीरको मारकर—अविद्या (अचेतनावस्था) को प्राप्त कराकर दूसरे आधारका आश्रय ले अपना उपसंहार कर लेता है। उसमें दृष्टान्त—जिस प्रकार सुनार सुवर्णका भाग लेकर दूसरे नवीन और कल्याणतर (अधिक सुन्दर) रूपकी रचना करता है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीरको नष्टकर—अचेतनावस्थाको प्राप्त करके दूसरे पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य भूतोंके नवीन और सुन्दर रूपकी रचना करता है ॥ ३-४ ॥

वह यह आत्मा ब्रह्म है। वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है। जो कुछ इदंमय (प्रत्यक्ष) और अदोमय (परोक्ष) है, वह वही है। वह जैसा करनेवाला और जैसे आचरणवाला होता है, वैसा ही हो जाता है। शुभ कर्म करनेवाला शुभ होता है और पापकर्मा पापी होता है। पुरुष पुण्यकर्मसे पुण्यात्मा होता है और पापकर्मसे पापी होता है। कोई-कोई कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है; वह जैसी कामनावाला होता है वैसा ही संकल्प करता है, जैसे संकल्पवाला होता है वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

उस विषयमें यह मन्त्र है—इसका लिङ्ग अर्थात् मन जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है, उसी फलको यह साभिलाष होकर कर्मके सहित प्राप्त करता है। इस लोकमें यह जो कुछ करता है, उस कर्मका फल प्राप्तकर उस लोकसे कर्म करनेके लिये पुनः इस लोकमें आ जाता है; अवश्य ही कामना करनेवाला पुरुष ही ऐसा करता है। अब जो कामना न करनेवाला पुरुष है [उसके विषयमें कहते हैं]—जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

उसी अर्थमें यह मन्त्र है—जिस समय इसके हृदयमें आश्रित सम्पूर्ण कामनाओंका नाश हो जाता है उस समय यह मरणधर्मा अमृत हो जाता है और यहीं (इसी शरीरमें) उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। इसमें दृष्टान्त—जिस प्रकार सर्पकी केंचुली बाँबीके ऊपर मृत और सर्पद्वारा परित्याग की हुई पड़ी रहती है, उसी प्रकार यह शरीर पड़ा रहता है और यह अशरीर अमृत प्राण तो ब्रह्म ही है—तेज ही है।' तब विदेहराज जनकने कहा, 'वह मैं जनक श्रीमान्‌को सहस्र गौएँ देता हूँ' ॥ ७ ॥

उस विषयमें ये मन्त्र हैं—यह ज्ञानमार्ग सूक्ष्म, विस्तीर्ण और पुरातन है। वह मुझे स्पर्श किये हुए है और मैंने ही उसका फलसाधक ज्ञान प्राप्त किया है। धीर ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस लोकमें जीते-जी ही मुक्त होकर शरीर-त्यागके बाद उसी मार्गसे स्वर्गलोक अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

उस मार्गके विषयमें मतभेद है। कोई उसमें शुक्ल और कोई नीलवर्ण बतलाते हैं तथा कोई पिङ्गलवर्ण, कोई हरित और कोई लाल कहते हैं; किंतु यह मार्ग साक्षात् ब्रह्मद्वारा अनुभूत है। इस मार्गसे पुण्य करनेवाला परमात्मतेजःस्वरूप ब्रह्मवेत्ता ही जाता है ॥ ९ ॥

जो (भोगासक्त मनुष्य) अविद्या (भोगोंके साधनरूप कर्म) की उपासना करते हैं, वे अज्ञानस्वरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो (मिथ्याज्ञानी) विद्या (कर्तव्यकर्मका त्याग करके केवल ज्ञानके अभिमान) में रत हैं, वे उससे भी अधिकतर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। वे अनन्द (असुख) नामके निकृष्ट योनि और नरकरूप लोक अज्ञान और दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं; वे अविद्वान् और अज्ञानीलोग मरकर उन्हींको प्राप्त होते हैं। यदि पुरुष आत्माको 'मैं यह हूँ' इस प्रकार विशेषरूपसे जान जाय तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनासे शरीरके पीछे सन्तप्त हो ? जिस पुरुषको इस अनेकों अनर्थोंसे पूर्ण और विवेक-विज्ञानके विरोधी विषम शरीरमें प्रविष्ट हुआ आत्मा प्राप्त और ज्ञात हो गया है, वही कृतकृत्य है। वही सब [शुभों] का कर्ता है, उसीका लोक (मोक्षधाम) है और स्वयं वही लोक (मोक्षरूप) भी है। हम इस शरीरमें रहते हुए ही यदि उसे जान लेते हैं [तो कृतार्थ हो गये], यदि उसे नहीं जाना तो बड़ी हानि है। जो उसे जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं; किंतु दूसरे लोग तो दुःखको ही प्राप्त होते हैं। जब भूत और भविष्यत्‌के स्वामी इस

प्रकाशमान अथवा कर्म-फलदाता आत्माको मनुष्य साक्षात् जान लेता है तो वह उससे अपनी रक्षा करनेकी इच्छा नहीं करता *॥ १०–१५ ॥

जिसके नीचे संवत्सरचक्र अहोरात्रादि अवयवोंके सहित चक्कर लगाता रहता है, उस आदित्यादि ज्योतियोंके ज्योतिःस्वरूप अमृतकी देवगण 'आयु' इस प्रकार उपासना करते हैं। जिसमें पाँच पञ्चजन और [अव्याकृतसंज्ञक] आकाश भी प्रतिष्ठित है, उस आत्माको ही मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ। उस ब्रह्मको जाननेवाला मैं अमृत ही हूँ ॥ १६–१७ ॥

जो उसे प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र तथा मनका मन जानते हैं, वे उस सनातन और मुख्य ब्रह्मको जानते हैं। ब्रह्मको आचार्योपदेशपूर्वक मनसे ही देखना चाहिये। इसमें नानात्व कुछ भी नहीं है। जो इसमें नानाके समान देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है। उस ब्रह्मको [आचार्योपदेशके] अनन्तर एक प्रकारसे ही देखना चाहिये। यह ब्रह्म अप्रमेय, ध्रुव, निर्मल, [अव्याकृतरूप] आकाशसे भी सूक्ष्म, अजन्मा, आत्मा, महान् और अविनाशी है। बुद्धिमान् ब्राह्मणको उसे ही जानकर उसीमें प्रज्ञा करनी चाहिये। बहुत शब्दोंका अनुध्यान (निरन्तर चिन्तन) न करे; वह तो वाणीका श्रम ही है ॥ १८—२१ ॥

वह यह महान् अजन्मा आत्मा, जो कि यह प्राणोंमें विज्ञानमय है, जो यह हृदयमें आकाश है, उसमें शयन करता है। वह सबको वशमें रखनेवाला, सबका शासन करनेवाला और सबका अधिपति है। वह शुभ कर्मसे बढ़ता नहीं और अशुभ कर्मसे छोटा नहीं होता। यह सर्वेश्वर है, यह भूतोंका अधिपति और भूतोंका पालन करनेवाला है। इन लोकोंकी मर्यादा भङ्ग न हो—इस प्रयोजनसे वह इनको धारण करनेवाला सेतु है। [उपनिषदोंमें जिसके स्वरूपका दिग्दर्शन कराया गया है] उस इस आत्माको ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तपके द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं। इसीको जानकर मुनि होता है। इस आत्मलोककी ही इच्छा करते हुए त्यागी पुरुष सब कुछ त्यागकर चले जाते (संन्यासी हो जाते) हैं। इस संन्यासमें कारण यह है—पूर्ववर्ती विद्वान् सन्तान [तथा सकाम कर्म आदि] की इच्छा नहीं करते थे। [वे सोचते थे—] हमें सन्तानसे क्या लेना है, जिन हमको कि यह आत्मलोक अभीष्ट है। अतः वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे व्युत्थान कर फिर भिक्षाचर्या करते थे। जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है। ये दोनों एषणाएँ ही हैं। वह यह 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा अग्राह्य है, वह ग्रहण नहीं किया जाता; वह अशीर्य है, उसका नाश नहीं होता; वह असङ्ग है, कहीं आसक्त नहीं होता; बँधा नहीं है, इसलिये व्यथित नहीं होता तथा उसका क्षय नहीं होता। इस आत्मज्ञको ये दोनों (पाप-पुण्यसम्बन्धी शोक-हर्ष) प्राप्त नहीं होते। अतः इस निमित्तसे मैंने पाप किया है [ऐसा पश्चात्ताप] और इस निमित्तसे मैंने पुण्य किया है [ऐसा हर्ष] इन दोनोंको ही वह पार कर जाता है। इसे किया हुआ और न किया हुआ नित्यकर्म [फलप्रदान और प्रत्यवायके द्वारा] ताप नहीं देता ॥ २२ ॥

यही बात ऋचाद्वारा कही गयी है—यह ब्रह्मवेत्ताकी नित्य महिमा है, जो कर्मसे न तो बढ़ती है और न घटती ही है। उस महिमाके ही स्वरूपको जाननेवाला होना चाहिये, उसे जानकर पापकर्मसे लिप्त नहीं होता। अतः इस प्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें ही आत्माको देखता है, सभीको आत्मा देखता है। उसे [पुण्य-पापरूप] पापकी प्राप्ति नहीं होती, यह सम्पूर्ण पापोंको पार कर जाता है। इसे पाप ताप नहीं पहुँचाता, यह सारे पापोंको संतप्त करता है। यह पापरहित, निष्काम, निःसंशय ब्राह्मण हो जाता है। सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है, तुम इसे पहुँचा दिये गये हो'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा।

---

* अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥
अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधो जनाः॥
आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥
यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मास्मिन् संदेह्ये गहने प्रविष्टः।
स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकाः स उ लोक एव॥
इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥
यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥
(बृह० ४। ४। १०–१५)

[तब जनकने कहा—] 'वह मैं श्रीमान्को विदेह देश देता हूँ, साथ ही आपकी दासता (सेवा) करनेके लिये अपने-आपको भी समर्पण करता हूँ' ॥ २३ ॥

वह यह महान् अजन्मा आत्मा अन्न भक्षण करनेवाला और कर्मफल देनेवाला है। जो ऐसा जानता है, उसे सम्पूर्ण कर्मोंका फल प्राप्त होता है। वही यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्म है। अभय ही ब्रह्म है; जो ऐसा जानता है, वह अभय ब्रह्म ही हो जाता है॥ २४-२५॥

पञ्चम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद

यह प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्यकी मैत्रेयी और कात्यायनी—ये दो पत्नियाँ थीं। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी साधारण स्त्रियोंकी-सी बुद्धिवाली ही थी। तब याज्ञवल्क्यने दूसरे प्रकारकी चर्याका आरम्भ करनेकी इच्छासे [कहा—] 'अरी मैत्रेयि !' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा—'मैं इस स्थान (गार्हस्थ्य-आश्रम) से अन्यत्र सब कुछ त्यागकर जानेवाला हूँ, अर्थात् मेरा संन्यास लेनेका विचार है। इसलिये [मैं तेरी अनुमति लेता हूँ और चाहता हूँ] इस कात्यायनीके साथ तेरा बँटवारा कर दूँ'। उस मैत्रेयीने कहा, 'भगवन् ! यदि यह धनसे सम्पन्न सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ, अथवा नहीं ?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'नहीं, भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा, धनसे अमृतत्वकी तो आशा है ही नहीं।' उस मैत्रेयीने कहा, 'जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्व-का साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें।' उन याज्ञवल्क्यजीने कहा, 'निश्चय ही तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और इस समय भी तूने मेरे प्रिय (प्रसन्नता) को बढ़ाया है। अतः देवि ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तेरे प्रति इस (अमृतत्वके साधन) की व्याख्या करूँगा। तू मेरे व्याख्या किये हुए विषयका चिन्तन करना' ॥ १—५ ॥

उन्होंने कहा—'अरी मैत्रेयि ! यह निश्चय है कि पतिके प्रयोजनके लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है; स्त्रीके प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया होती है; पुत्रोंके प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय होते हैं; धनके प्रयोजनके लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये धन प्रिय होता है; पशुओंके प्रयोजनके लिये पशु प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पशु प्रिय होते हैं; ब्राह्मणके प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय होता है; क्षत्रियके प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय होता है; लोकोंके प्रयोजनके लिये लोक प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये लोक प्रिय होते हैं; देवोंके प्रयोजनके लिये देव प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये देव प्रिय होते हैं; वेदोंके प्रयोजनके लिये वेद प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये वेद प्रिय होते हैं; भूतोंके प्रयोजनके लिये भूत प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये भूत प्रिय होते हैं; सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं; अतः अरी मैत्रेयि ! आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और निदिध्यासन (ध्यान) करनेयोग्य है। अरी मैत्रेयि ! निश्चय ही आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जानेपर इस सबका ज्ञान हो जाता है' ॥ ६ ॥

ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मणजातिको आत्मासे भिन्न समझता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रियजातिको आत्मासे भिन्न जानता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोकोंको आत्मासे भिन्न जानता है। देवता उसे परास्त कर देते हैं, जो देवताओंको आत्मासे भिन्न समझता है। वेद उसे परास्त कर देते हैं, जो वेदोंको आत्मासे भिन्न जानता है। भूत उसे परास्त कर देते हैं, जो भूतोंको आत्मासे भिन्न समझते हैं। सब उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मासे भिन्न जानता है। यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देव, ये वेद, ये भूत और ये सब जो कुछ भी हैं, यह सब आत्मा ही है। वह दृष्टान्त ऐसा है कि जिसपर लकड़ी आदिसे आघात किया जाता है, उस दुन्दुभि (नक्कारे) के बाह्य शब्दोंको जिस प्रकार कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु दुन्दुभि या दुन्दुभिके आघातको ग्रहण करनेसे उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है। वह [दूसरा] दृष्टान्त ऐसा है कि जैसे मुँहसे फूँके जाते हुए शङ्खके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें कोई समर्थ नहीं होता, किन्तु शङ्ख या शङ्खके बजानेको ग्रहण करनेसे उस शब्दका भी

ग्रहण हो जाता है। वह [तीसरा] दृष्टान्त ऐसा है कि जैसे बजायी जाती हुई वीणाके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें कोई समर्थ नहीं होता, किन्तु वीणा या वीणाके बजानेको ग्रहण करनेसे उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है ॥ ७—१० ॥

वह [चौथा] दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए अग्निसे पृथक् धूएँ निकलते हैं, उसी प्रकार हे मैत्रेयि ! ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक (ब्राह्मण-मन्त्र), सूत्र (वैदिक वस्तुसंग्रहवाक्य), सूत्रोंकी व्याख्या, मन्त्रोंकी व्याख्या, इ (यज्ञ), हुत (हवन किया हुआ), आशित (खिलाया हुआ), पायित (पिलाया हुआ), यह लोक, परलोक और सम्पूर्ण भूत हैं—सब इसीके निःश्वास हैं। वह [पाँचवाँ] दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार समस्त जलोंका समुद्र एक अयन (आश्रयस्थान) है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शोंका त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धोंका दोनों नासिकाएँ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसोंका जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपोंका चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दोंका श्रोत्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त संकल्पोंका मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओंका हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मोंका दोनों हाथ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनन्दोंका उपस्थ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विसर्गोंका पायु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त मार्गोंका दोनों चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदोंका वाक् एक अयन है ॥ ११-१२ ॥

उसमें [छठा] दृष्टान्त इस प्रकार है—जिस प्रकारनमकका डला भीतर और बाहरसे रहित सम्पूर्ण रसघन ही है, हे मैत्रेयि ! उसी प्रकार यह आत्मा अन्तर-बाह्य-भेदसे शून्य सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है। यह इन भूतोंसे [विशेषरूपसे] उत्थित होकर उन्हींके साथ नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मर जानेपर इसकी संज्ञा नहीं रहती। हे मैत्रेयि ! इस प्रकार मैं कहता हूँ'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा ॥ १३ ॥

वह मैत्रेयी बोली, 'यहीं श्रीमान्‌ने मुझे मोहको प्राप्त करा दिया है। मैं इसे विशेषरूपसे नहीं समझती ।' उन्होंने कहा, 'अरी मैत्रेयि ! मैं मोहकी बात नहीं कह रहा हूँ। अरी ! यह आत्मा निश्चय ही अविनाशी और अनुच्छेदरूप धर्मवाला है ॥ १४ ॥

जहाँ [अविद्यावस्थामें] द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यका रसास्वादन करता है, अन्य अन्यका अभिवादन करता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यका मनन करता है, अन्य अन्यका स्पर्श करता है और अन्य अन्यको विशेषरूपसे जानता है। किन्तु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसका रसास्वादन करे, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका मनन करे, किसके द्वारा किसका स्पर्श करे और किसके द्वारा किसे जाने ? जिसके द्वारा पुरुष इस सबको जानता है, उसे किस साधनसे जाने ? वह यह 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा अग्राह्य है—उसका ग्रहण नहीं किया जाता; अशीर्य है—उसका विनाश नहीं होता; असङ्ग है—आसक्त नहीं होता; अबद्ध है—वह व्यथित और क्षीण नहीं होता। हे मैत्रेयि ! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने ? इस प्रकार तुझे उपदेश कर दिया गया। अरी मैत्रेयि ! निश्चय जान, इतना ही अमृतत्व है।' ऐसा कहकर याज्ञवल्क्यजी परिव्राजक (संन्यासी) हो गये ॥ १५ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

याज्ञवल्कीय काण्डकी परम्परा

अब [याज्ञवल्कीय काण्डका] वंश बतलाया जाता है—पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने पौतिमाष्यसे, पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने कौशिकसे, कौशिकने कौण्डिन्यसे, कौण्डिन्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कौशिकसे और गौतमसे, तथा गौतमने आग्निवेश्यसे, आग्निवेश्यने गार्ग्यसे, गार्ग्यने गार्ग्यसे, गार्ग्यने गौतमसे, गौतमने सैतवसे, सैतवने पाराशर्यायणसे, पाराशर्यायणने गार्ग्यायणसे, गार्ग्यायणने उद्दालकायनसे, उद्दालकायनने जाबालायनसे, जाबालायनने

माध्यन्दिनायनसे, माध्यन्दिनायनने सौकरायणसे, सौकरायणने काषायणसे, काषायणने सायकायनसे, सायकायनने कौशिकायनिसे, कौशिकायनिने घृतकौशिकसे, घृतकौशिकने पाराशर्यायणसे, पाराशर्यायणने पाराशर्यसे, पाराशर्यने जातूकर्ण्यसे, जातूकर्ण्यने आसुरायणसे और यास्कसे, आसुरायणने त्रैवणिसे, त्रैवणिने औपजन्धनिसे, औपजन्धनिने आसुरिसे, आसुरिने भारद्वाजसे, भारद्वाजने आत्रेयसे, आत्रेयने माण्टिसे, माण्टिने गौतमसे, गौतमने गौतमसे, गौतमने वात्स्यसे, वात्स्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कैशोर्य काप्यसे, कैशोर्य काप्यने कुमारहारितसे, कुमारहारितने गालवसे, गालवने विदर्भीकौण्डिन्यसे, विदर्भीकौण्डिन्यने वत्सनपाद् बाभ्रवसे, वत्सनपाद् बाभ्रवने पन्था सौभरसे, पन्था सौभरने अयास्य आङ्गिरससे, अयास्य आङ्गिरसने आभूति त्वाष्ट्रसे, आभूति त्वाष्ट्रने विश्वरूप त्वाष्ट्रसे, विश्वरूप त्वाष्ट्रने अश्विनीकुमारोंसे, अश्विनीकुमारोंने दध्यङ्ङाथर्वणसे, दध्यङ्ङाथर्वणने अथर्वा दैवसे, अथर्वा दैवने मृत्यु प्राध्वंसनसे, मृत्यु प्राध्वंसनने प्रध्वंसनसे, प्रध्वंसनने एकर्षिसे, एकर्षिने विप्रचित्तिसे, विप्रचित्तिने व्यष्टिसे, व्यष्टिने सनारुसे, सनारुने सनातनसे, सनातनने सनगसे, सनगने परमेष्ठीसे, परमेष्ठीने ब्रह्मासे [यह विद्या प्राप्त की] । ब्रह्मा स्वयम्भू है; ब्रह्माको नमस्कार है ॥ १–३ ॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

ॐ
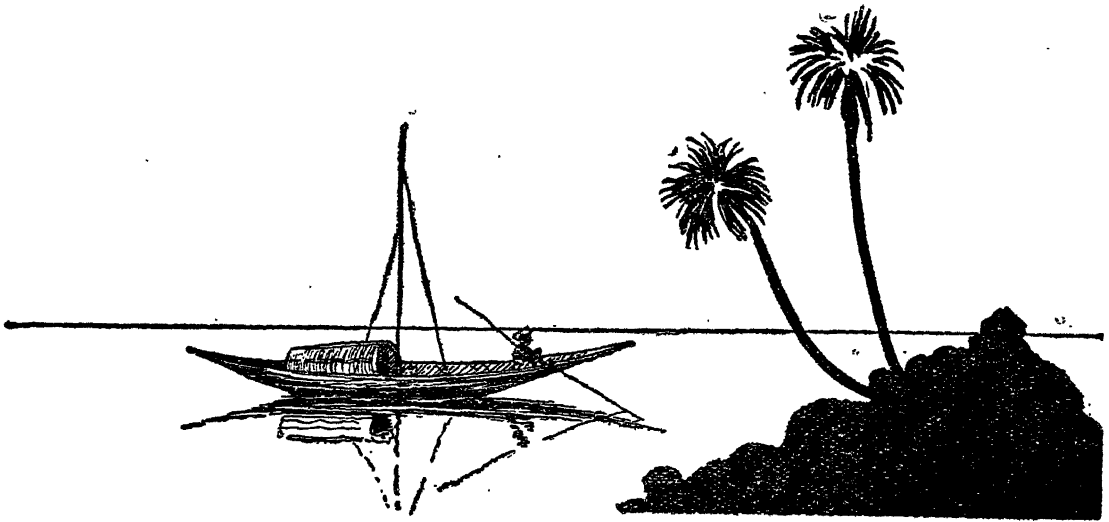
पञ्चम अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

आकाशकी ब्रह्मरूपमें उपासना

वह परब्रह्म पूर्ण है और यह (जगत् भी) पूर्ण है। उस पूर्णब्रह्मसे ही यह पूर्ण उत्पन्न होता है। इस पूर्णके पूर्णको निकाल लेनेपर भी पूर्ण ही बच रहता है। आकाश-ब्रह्म ॐकार है। आकाश [यहाँ जड नहीं;] सनातन [परमात्मा] है। 'जिसमें वायु रहता है, वह आकाश ही ख है'—ऐसा कौरव्यायणीपुत्रने कहा है। यह ओङ्कार वेद है—ऐसा ब्राह्मण जानते हैं; क्योंकि जो ज्ञातव्य है, उसका इसीसे ज्ञान होता है ॥ १ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

'द-द-द' से दम-दान और दयाका उपदेश

देव, मनुष्य और असुर—प्रजापतिके इन तीन पुत्रोंने पिता प्रजापतिके यहाँ ब्रह्मचर्यवास किया। ब्रह्मचर्यवास कर चुकनेपर देवोंने कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे प्रजापतिने 'द' यह अक्षर कहा और पूछा, 'समझ गये क्या ?' इसपर उन्होंने कहा, ''समझ गये; आपने हमसे 'दमन करो' ऐसा कहा है।'' तब प्रजापतिने कहा, 'ठीक है, तुम समझ गये' ॥ १ ॥

फिर प्रजापतिसे मनुष्योंने कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे भी प्रजापतिने 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा, 'समझ गये क्या ?' मनुष्योंने कहा, ''समझ गये; आपने हमसे 'दान करो' ऐसा कहा है।'' तब प्रजापतिने 'हाँ, समझ गये' ऐसा कहा ॥ २ ॥

फिर प्रजापतिसे असुरोंने कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे भी प्रजापतिने 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा, 'समझ गये क्या ?' असुरोंने कहा, ''समझ गये; आपने हमसे 'दया करो' ऐसा कहा है।'' तब प्रजापतिने 'हाँ, समझ गये' ऐसा कहा। इस प्रजापतिके अनुशासनकी मेघगर्जनारूपी दैवी वाणी आज भी द-द-द—इस प्रकार अनुवाद करती है, अर्थात् भोगप्रधान देवो ! इन्द्रियोंका दमन करो, संग्रहप्रधान मनुष्यो ! भोगसामग्रीका दान करो, क्रोध-हिंसाप्रधान असुरो ! जीवोंपर दया करो—यों कहती है। अतः दम, दान और दया—इन तीनोंको सीखे ॥ ३ ॥

तृतीय ब्राह्मण

हृदयकी ब्रह्मरूपसे उपासना

जो हृदय है, वह प्रजापति है। यह ब्रह्म है, यह सर्व है, यह हृदय तीन अक्षरवाला नाम है। 'हृ' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसके प्रति स्वजन और अन्यजन बलि समर्पण करते हैं। 'द' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसे स्वजन और अन्यजन देते हैं। 'यम्' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, वह स्वर्गलोकको जाता है ॥ १ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

सत्यकी ब्रह्मरूपसे उपासना

वही—वह हृदय-ब्रह्म ही वह था—जो कि सत्य ही है। जो भी इस महत्, यक्ष (पूज्य), सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवालेको यह 'सत्य ब्रह्म है' ऐसा जानता है, वह इन लोकोंको जीत लेता है। [उसका शत्रु] उसके अधीन हो जाता है—असत् (अभावरूप) हो जाता है। जो इस प्रकार इस महत्, यक्ष (पूजनीय), प्रथम उत्पन्न होनेवालेको 'सत्य ब्रह्म'—इस प्रकार जानता है [उसे उपर्युक्त फल मिलता है]; क्योंकि ब्रह्म सत्य ही है ॥ १ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

सत्यकी आदित्यरूपमें उपासना

यह [व्यक्त जगत्] पहले आप (जल) ही था। उस आपने सत्यकी रचना की। अतः सत्य ब्रह्म है। ब्रह्मने प्रजापति (विराट्) को और प्रजापतिने देवताओंको उत्पन्न किया। वे देवगण सत्यकी ही उपासना करते हैं। वह यह 'सत्य' तीन अक्षरवाला नाम है। 'स' यह एक अक्षर है, 'ति' यह एक अक्षर है और 'यम्' यह एक अक्षर है। इनमें प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य है और मध्यका अनृत है। वह यह अनृत दोनों ओरसे सत्यसे परिगृहीत है। इसलिये यह सत्य-बहुल ही है। इस प्रकार जाननेवालेको अनृत नहीं मारता। वह जो सत्य है, सो यह आदित्य है। जो इस आदित्यमण्डलमें पुरुष है और जो भी यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, वे ये दोनों पुरुष एक-दूसरेमें प्रतिष्ठित हैं। आदित्य रश्मियोंके द्वारा चाक्षुष पुरुषमें प्रतिष्ठित है और चाक्षुष पुरुष प्राणोंके द्वारा उसमें प्रतिष्ठित है। जिस समय यह (चाक्षुष पुरुष) उत्क्रमण करने लगता है, उस समय यह इस मण्डलको शुद्ध ही देखता है। फिर ये रश्मियाँ इसके पास नहीं आतीं॥ १-२॥

इस मण्डलमें जो यह पुरुष है, उसका 'भूः' यह सिर है; सिर एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजा है; भुजाएँ दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा (चरण) है; प्रतिष्ठा (चरण) दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'अहर्' यह उसका उपनिषद् (गूढ़ नाम) है; जो ऐसा जानता है, वह पापको मारता है और उसे त्याग देता है। जो यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, उसका 'भूः' यह सिर है; सिर एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजा है; भुजाएँ दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा है; प्रतिष्ठा (चरण) दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'अहम्' यह उसका उपनिषद् (गूढ़ नाम) है; जो ऐसा जानता है, वह पापको मारता और त्याग देता है॥ ३-४॥

षष्ठ ब्राह्मण

मनोमय पुरुषकी उपासना

प्रकाश ही जिसका सत्य (स्वरूप) है, ऐसा यह पुरुष मनोमय है। वह उस अन्तर्हृदयमें जैसा व्रीहि (धान) या यव (जौ) होता है, उतने ही परिमाणवाला है। वह यह सबका स्वामी और सबका अधिपति है; तथा यह जो कुछ है, सभीका प्रकर्षतया शासन करता है॥ १॥

सप्तम ब्राह्मण

विद्युत्की ब्रह्मरूपमें उपासना

विद्युत् ब्रह्म है—ऐसा कहते हैं। विदान (खण्डन या विनाश) करनेके कारण विद्युत् है। जो 'विद्युत् ब्रह्म है' ऐसा जानता है, वह इस आत्माके प्रतिकूलभूत पापोंका नाश कर देता है; क्योंकि विद्युत् ही ब्रह्म है॥ १॥

अष्टम ब्राह्मण

वाक्की धेनुरूपमें उपासना

वाक्रूप धेनुकी उपासना करे। उसके चार स्तन हैं—स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार। उसके दो स्तन स्वाहाकार और वषट्कारके भोक्ता देवगण हैं, हन्तकारके भोक्ता मनुष्य हैं और स्वधाकारके पितृगण। उस धेनुका प्राण वृषभ है और मन बछड़ा है॥ १॥

नवम ब्राह्मण

अन्तरस्थ वैश्वानर अग्नि

जो यह पुरुषके भीतर है, यह अग्नि वैश्वानर है, जिससे कि यह अन्न, जो कि भक्षण किया जाता है, पकाया जाता है। उसीका यह घोष होता है, जिसे पुरुष कानोंको मूँदकर सुनता है। जिस समय पुरुष उत्क्रमण करनेवाला होता है, उस समय इस घोषको नहीं सुनता॥ १॥

दशम ब्राह्मण

मरणोत्तर ऊर्ध्वगतिका वर्णन

जिस समय यह पुरुष इस लोकसे मरकर जाता है, उस समय वह वायुको प्राप्त होता है। वहाँ वह वायु उसके लिये छिद्रयुक्त हो जाता—मार्ग दे देता है, जैसा कि रथके पहियेका छिद्र होता है। उसके द्वारा वह ऊर्ध्व होकर चढ़ता है। वह सूर्यलोकमें पहुँच जाता है। वहाँ सूर्य उसके लिये वैसा ही छिद्ररूप मार्ग देता है, जैसा कि लम्बर नामके बाजेका छिद्र होता है। उसमें होकर वह ऊपरकी ओर चढ़ता है। वह चन्द्रलोकमें पहुँच जाता है। वहाँ चन्द्रमा भी उसके लिये छिद्रयुक्त हो मार्ग देता है, जैसा कि दुन्दुभिका छिद्र होता है। उसके द्वारा वह ऊपरकी ओर चढ़ता है। वह अशोक (शारीरिक दुःखसे रहित) और अहिम (मानसिक दुःखशून्य) लोकमें पहुँच जाता है और उसमें सदा—अनन्त कालतक अर्थात् ब्रह्माके अनेक कल्पोंतक निवास करता है ॥ १ ॥

एकादश ब्राह्मण

व्याधिमें और मृत पुरुषके श्मशान-गमन आदिमें तपकी भावनाका फल

व्याधियुक्त पुरुषको जो ताप होता है, वह निश्चय ही परम तप है; जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है। मृत पुरुषको जो वनको ले जाते हैं, यह निश्चय ही परम तप है; जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है। मरे हुए मनुष्यको सब प्रकार जो अग्निमें रखते हैं, यह निश्चय ही परम तप है; जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है ॥ १ ॥

द्वादश ब्राह्मण

अन्न एवं प्राणकी ब्रह्मरूपसे उपासना

कोई कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है; किंतु ऐसी बात नहीं है। क्योंकि प्राणके बिना अन्न सड़ जाता है। कोई कहते हैं—प्राण ब्रह्म है; किंतु ऐसी बात नहीं है। क्योंकि अन्नके बिना प्राण सूख जाता है। परंतु ये दोनों देव एकरूपताको प्राप्त होकर परम भावको प्राप्त होते हैं—ऐसा निश्चयकर प्रातृद ऋषिने अपने पितासे कहा था—'इस प्रकार जाननेवालेका मैं क्या शुभ करूँ अथवा क्या अशुभ करूँ? [क्योंकि कृतकृत्य हो जानेके कारण उसका तो न कोई शुभ किया जा सकता है और न अशुभ ही।]' पिताने हाथसे निवारण करते हुए कहा—'प्रातृद! ऐसा मत कहो। इन दोनोंकी एकरूपताको प्राप्त होकर कौन परमताको प्राप्त होता है?' अतः उससे उस (प्रातृदके पिता) ने 'वि' ऐसा कहा। 'वि' यही अन्न है। वि-रूप अन्नमें ही ये सब भूत प्रविष्ट हैं। 'रम्' यह प्राण है, क्योंकि रं अर्थात् प्राणमें ही ये सब भूत रमण करते हैं। जो ऐसा जानता है, उसमें ये सब भूत प्रविष्ट होते हैं और सभी भूत रमण करते हैं ॥ १ ॥

त्रयोदश ब्राह्मण

प्राणकी विविध रूपोंमें उपासना

'उक्थ' इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही उक्थ है; क्योंकि प्राण ही सब इन्द्रियोंको उत्थापित करता है। इस उपासकसे उक्थवेत्ता पुत्र उत्पन्न होता है। जो ऐसी उपासना करता है, वह प्राणके सायुज्य और सालोक्यको प्राप्त करता है। 'यजुः' इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही यजु है, क्योंकि प्राणमें ही इन सब भूतोंका योग होता है। सम्पूर्ण भूत इसकी श्रेष्ठताके कारण इससे संयुक्त होते हैं। जो ऐसी उपासना करता है, वह यजुके सायुज्य और सलोकताको प्राप्त होता है। 'साम' इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही साम है, क्योंकि प्राणमें ही ये सब भूत सुसंगत होते हैं। समस्त भूत उसके लिये सुसंगत होते हैं, तथा उसकी श्रेष्ठतामें कारण होते हैं। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह सामके सायुज्य और सलोकताको प्राप्त होता है। प्राण 'क्षत्र' है—इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही क्षत्र है। प्राण ही क्षत्र है—यह प्रसिद्ध है। प्राण इस

देहकी शस्त्रादिजनित क्षतसे रक्षा करता है। अत्रम्—अन्य किसीसे त्राण न पानेवाले क्षत्र (प्राण) को प्राप्त होता है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह क्षत्रके सायुज्य और सलोकताको जीत (प्राप्त कर) लेता है ॥ १-४ ॥

चतुर्दश ब्राह्मण

गायत्री-उपासना

भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्रीका एक (प्रथम) पाद है। यह (भूमि आदि) ही इस गायत्रीका प्रथम पाद है। इस प्रकार इसके इस पदको जो जानता है, वह इस त्रिलोकीमें जितना कुछ है, उस सबको जीत (प्राप्त कर) लेता है। 'ऋचः, यजूंषि, सामानि'—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्रीका एक (द्वितीय) पाद है। यह (ऋक् आदि) ही इस गायत्रीका द्वितीय पाद है। जो इस प्रकार इसके इस पादको जानता है, वह जितनी यह त्रयीविद्या है (अर्थात् त्रयीविद्याका जितना फल है,) उस सभीको जीत लेता है। प्राण, अपान, व्यान—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्रीका एक (तृतीय) पाद है। यह प्राणादि ही इस गायत्रीका 'तृतीय' पाद है। जो गायत्रीके इस पदको इस प्रकार जानता है, वह जितना यह प्राणिसमुदाय है, सबको जीत लेता है। और यह जो तपता (प्रकाशित होता) है वही इसका तुरीय, दर्शत, परोरजा पद है। जो चतुर्थ होता है, वही 'तुरीय' कहलाता है। 'दर्शतं पदम्' इसका अर्थ है—मानो [यह आदिमण्डलस्थ पुरुष] दीखता है। 'परोरजाः' इसका अर्थ है—यह सभी रज (यानी लोकों) के ऊपर-ऊपर रहकर प्रकाशित होता है। जो गायत्रीके इस चतुर्थ पदको इस प्रकार जानता है, वह इसी प्रकार शोभा और कीर्तिसे प्रकाशित होता है। वह यह गायत्री इस चतुर्थ दर्शत परोरजा पदमें प्रतिष्ठित है। वह पद सत्यमें प्रतिष्ठित है। चक्षु ही सत्य है, चक्षु ही सत्य है—यह प्रसिद्ध है। इसीसे यदि दो पुरुष 'मैंने देखा है', 'मैंने सुना है' इस प्रकार विवाद करते हुए आयें तो जो यह कहता होगा कि 'मैंने देखा है' उसीका हमें विश्वास होगा। वह तुरीय पादका आश्रयभूत सत्य बलमें प्रतिष्ठित है। प्राण ही बल है, वह सत्य प्राणमें प्रतिष्ठित है। इसीसे कहते हैं कि सत्यकी अपेक्षा बल ओजस्वी है। इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म-प्राणमें प्रतिष्ठित है। इस पूर्वोक्त गायत्रीने गयोंका त्राण किया था। प्राण ही गय हैं, उन प्राणोंका इसने त्राण किया। इसने गयोंका त्राण किया था, इसीसे इसका 'गायत्री' नाम हुआ। आचार्यने आठ वर्षके वटुके प्रति उपनयनके समय जिस सावित्रीका उपदेश किया था, वह यही है। वह जिस-जिस वटुको इसका उपदेश करता है, यह उसके-उसके प्राणोंकी रक्षा करती है ॥ १-४ ॥

कोई शाखावाले इस पूर्वोक्त अनुष्टुप् छन्दवाली सावित्रीका उपदेश करते हैं (गायत्रीछन्दवाली सावित्रीका उपदेश न करके अनुष्टुप्छन्दकी[1] सावित्रीका उपदेश करते हैं)। वे कहते हैं कि वाक् अनुष्टुप् है, इसलिये हम वाक्का ही उपदेश करते हैं। किंतु ऐसा नहीं करना चाहिये। गायत्रीछन्दवाली सावित्रीका ही उपदेश करे। ऐसा जाननेवाला जो बहुत-सा भी प्रतिग्रह करे तो भी वह गायत्रीके एक पदके बराबर भी नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

जो इन तीन पूर्ण लोकोंका प्रतिग्रह करता है, उसका वह (प्रतिग्रह) इस गायत्रीके इस प्रथम पादको व्याप्त करता है। और जितनी यह त्रयीविद्या है, उसका जो प्रतिग्रह करता है, वह (प्रतिग्रह) इसके इस द्वितीय पादको व्याप्त करता है। और जितने ये प्राणी हैं, उनका जो प्रतिग्रह करता है, वह (प्रतिग्रह) इसके इस तृतीय पदको व्याप्त करता है। और यही इसका तुरीय दर्शत परोरजा पद है, जो कि यह तपता है; यह किसीके द्वारा प्राप्य नहीं है, क्योंकि इतना प्रतिग्रह कोई कहाँसे कर सकता है? ॥ ६ ॥

उस गायत्रीका उपस्थान—हे गायत्रि! तू [त्रैलोक्यरूप प्रथम पादसे] एकपदी है, [तीनों वेदरूप द्वितीय पादसे] द्विपदी है, [प्राण, अपान और व्यानरूप तीसरे पादसे] त्रिपदी है [और तुरीय पादसे] चतुष्पदी है। [इन सबसे परे निरुपाधिक स्वरूपसे तू] अपद है; क्योंकि तू जानी नहीं जाती। अतः व्यवहारके अविषयभूत एवं समस्त लोकोंसे ऊपर विराजमान तेरे दर्शनीय तुरीय पदको नमस्कार है। यह पापरूपी शत्रु

१. अनुष्टुप्छन्द चार पादोंका होता है और गायत्रीछन्द तीन पादोंका। दोनोंके पाद आठ-आठ अक्षरके ही होते हैं। अनुष्टुप्छन्दमें जो मन्त्र उपलब्ध होता है, उसका भी देवता सविता ही है; इसलिये कुछ लोग उसे ही सावित्री कहते हैं। अनुष्टुप्छन्दवाला मन्त्र इस प्रकार है—

'तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्। श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि।'

इस [विघ्नाचरणरूप] कार्यमें सफलता नहीं प्राप्त करे। इस प्रकार यह (विद्वान्) जिससे द्वेष करता हो, 'उसकी कामना पूर्ण न हो' ऐसा कहकर उपस्थान करे। जिसके लिये इस प्रकार उपस्थान किया जाता है, उसकी कामना पूर्ण नहीं होती। अथवा 'मैं इस वस्तुको प्राप्त करूँ' ऐसी कामनासे उपस्थान करे ॥ ७ ॥

उस विदेह जनकने बुडिल अश्वतराश्विसे यही बात कही थी कि 'तूने जो अपनेको गायत्रीविद् (गायत्री-तत्त्वका ज्ञाता) कहा था, तो फिर [प्रतिग्रहके दोषसे] हाथी होकर भार क्यों ढोता है ?' इसपर उसने 'सम्राट्! मैं इसका मुख ही नहीं जानता था' ऐसा कहा। [तब जनकने कहा—] 'इसका अग्नि ही मुख है। यदि अग्निमें लोग बहुत-सा ईंधन रख दें तो वह उस सभीको जला डालता है। इसी प्रकार ऐसा जाननेवाला बहुत-सा पाप करता रहा हो, तो भी वह उस सबको भक्षण करके शुद्ध, पवित्र, अजर, अमर हो जाता है ॥ ८ ॥

पञ्चदश ब्राह्मण

अन्तसमयकी प्रार्थना

हे सबका भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर ! आप सत्यस्वरूप सर्वेश्वरका श्रीमुख ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप पात्रसे ढका हुआ है। आपकी भक्तिरूप सत्यधर्मका अनुष्ठान करनेवाले मुझको अपने दर्शन करानेके लिये आप उस आवरणको हटा लीजिये। हे भक्तोंका पोषण करनेवाले ! मुख्य ज्ञानस्वरूप ! सबके नियन्ता ! भक्तों और ज्ञानियोंके परम लक्ष्य ! प्रजापतिके प्रिय ! इन रश्मियोंको एकत्र कीजिये—हटा लीजिये; इस तेजको समेट लीजिये। आपका जो अतिशय कल्याणमय दिव्यस्वरूप है, उसको मैं आपकी कृपासे [ध्यानके द्वारा] देख रहा हूँ। वह जो (सूर्यका आत्मा) है, वह परम पुरुष [आपका स्वरूप है;] वही मैं भी हूँ। अब ये प्राण और इन्द्रियाँ अविनाशी समष्टि वायुतत्त्वमें [प्रविष्ट हो जायँ], यह स्थूलशरीर अग्निमें जलकर भस्मरूप [हो जाय]। हे सच्चिदानन्दघन यज्ञमय भगवन्! [आप मुझ भक्तका] स्मरण करें, मेरे द्वारा किये हुए (भक्तिरूप) कर्मोंका स्मरण करें। हे यज्ञमय भगवन्! [आप मुझ भक्तको] स्मरण करें, (मेरे) कर्मोंको स्मरण करें। हे अग्नि ! (अग्निके अधिष्ठातृ देवता) हमें परम धनरूप परमेश्वरकी सेवामें पहुँचानेके लिये सुन्दर शुभ (उत्तरायण) मार्गसे ले चलिये। हे देव ! [आप हमारे] सम्पूर्ण कर्मोंको जाननेवाले हैं, अतः हमारे इस मार्गके प्रतिबन्धक पापको दूर कर दीजिये। आपको हम बार-बार नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

ॐ

षष्ठ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

प्राणकी सर्वश्रेष्ठता

जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है, वह अपने ज्ञातिजनोंमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो ऐसी उपासना करता है, वह अपने ज्ञातिजनोंमें तथा और जिनमें होना चाहता है, उनमें भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। जो वसिष्ठाको जानता है, वह स्वजनोंमें वसिष्ठ होता है। वाक् ही वसिष्ठा है। जो ऐसी उपासना करता है, वह स्वजनों-में तथा और जिनमें चाहता है, उनमें वसिष्ठ होता है। जो प्रतिष्ठाको जानता है, वह समान देश-कालमें प्रतिष्ठित होता है और दुर्गममें भी प्रतिष्ठित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है। चक्षुसे ही समान और दुर्गम देश-कालमें प्रतिष्ठित होता है। जो ऐसी उपासना करता है, वह समान और दुर्गममें प्रतिष्ठित होता है। जो सम्पद्को जानता है, वह जिस भोगकी इच्छा करता है, वही उसे सम्यक् प्रकारसे प्राप्त हो जाता है। श्रोत्र ही सम्पद् है। श्रोत्रमें ही ये सब वेद सब प्रकार निष्पन्न हैं। जो ऐसी उपासना करता है, वह जिस भोगकी इच्छा करता है, वही उसे सम्यक् प्रकारसे प्राप्त हो जाता है। जो आयतनको जानता है, वह स्वजनोंका आयतन (आश्रय) होता है तथा अन्य जनोंका भी आयतन होता है। मन ही आयतन है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वजनोंका आयतन होता है तथा अन्य जनोंका भी आयतन होता है। जो भी प्रजातिको जानता है, वह प्रजा—सन्तान और पशुओंद्वारा प्रजात (वृद्धिको प्राप्त) होता है। रेतस् ही प्रजाति है। जो ऐसा जानता है, वह प्रजा और पशुओंद्वारा प्रजात होता है ॥ १–६ ॥

ये पूर्वोक्त प्राण (इन्द्रिय, मन आदि) 'मैं श्रेष्ठ हूँ' 'मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार विवाद करते हुए ब्रह्माके पास गये। उससे बोले, 'हममें कौन वसिष्ठ है?' उसने कहा, 'तुममेंसे जिसके उत्क्रमण करनेपर (शरीरसे पृथक् हो जानेपर) यह शरीर अपनेको अधिक पापी मानता है, वही तुममें वसिष्ठ है' ॥ ७ ॥

[पहले] वाक्ने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके थे?' यह सुनकर उन्होंने कहा, 'जैसे गूँगे मनुष्य वाणीसे न बोलते हुए भी प्राणसे प्राणक्रिया करते, नेत्रसे देखते, श्रोत्रसे सुनते, मनसे जानते और रेतस्से प्रजा (सन्तान) की उत्पत्ति करते हुए [जीवित रहते हैं,] वैसे ही हम जीवित रहे।' यह सुनकर वाक्ने शरीरमें प्रवेश किया। चक्षुने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे?' वे बोले—'जिस प्रकार अन्धे लोग नेत्रसे न देखते हुए प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, श्रोत्रसे सुनते, मनसे जानते और रेतस्से प्रजा उत्पन्न करते हुए [जीवित रहते हैं,] उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर चक्षुने प्रवेश किया। श्रोत्रने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे?' वे बोले—'जिस प्रकार बहरे आदमी कानोंसे न सुनते हुए भी प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते, मनसे जानते और रेतस्से प्रजा उत्पन्न करते हुए [जीवित रहते हैं,] उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर श्रोत्रने प्रवेश किया। मनने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे?' वे बोले, 'जिस प्रकार मुग्ध पुरुष मनसे न समझते हुए भी प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते, कानसे सुनते और रेतस्से प्रजा उत्पन्न करते हुए [जीवित रहते हैं,] उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर मनने शरीरमें प्रवेश किया। रेतसने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर फिर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे?' वे बोले, 'जिस प्रकार नपुंसकलोग रेतस्से प्रजा उत्पन्न न करते हुए प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते, श्रोत्रसे सुनते और मनसे जानते हुए [जीवित रहते हैं,] उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर वीर्यने शरीरमें प्रवेश किया। फिर प्राण उत्क्रमण करने लगा तो जिस प्रकार सिन्धुदेशीय महान् अश्व पैर बाँधनेके खूँटोंको उखाड़ डालता है, उसी प्रकार वह इन सब प्राणों (इन्द्रियों) को स्थानच्युत करने लगा। उन्होंने कहा, 'भगवन्! आप उत्क्रमण न करें, आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकते।' प्राणने कहा, 'अच्छा, तो

मुझे बलि (भेंट) दिया करो ।' [इन्द्रियोंने कहा—] 'बहुत अच्छा' ॥ ८-१३ ॥

उस वागिन्द्रियने कहा, 'मैं जो वसिष्ठा हूँ, सो तुम ही उस वसिष्ठगुणसे युक्त हो ।' 'मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, सो तुम ही उस प्रतिष्ठासे युक्त हो' ऐसा नेत्रने कहा । 'मैं जो सम्पद् हूँ, सो तुम ही उस सम्पद्से युक्त हो' ऐसा श्रोत्रने कहा । 'मैं जो आयतन हूँ, सो तुम्हीं वह आयतन हो' ऐसा मनने कहा । 'मैं जो प्रजाति हूँ, सो तुम ही उस प्रजातिसे युक्त हो' ऐसा रेतस्ने कहा । [प्राणने कहा—] 'किंतु ऐसे गुणोंसे युक्त मेरा अन्न क्या है और वस्त्र क्या है ?' [वागादि बोले—] 'कुत्ते, कृमि और कीट-पतङ्गोंसे लेकर यह जो कुछ भी है, वह सब तुम्हारा अन्न है और जल ही वस्त्र है ।' [उपासनाका फल—] 'जो इस प्रकार प्राणके अन्नको जानता है, उसके द्वारा अभक्ष्य-भक्षण नहीं होता और अभक्ष्यका प्रतिग्रह (संग्रह) भी नहीं होता । ऐसा जाननेवाले श्रोत्रिय भोजन करनेसे पूर्व आचमन करते हैं तथा भोजन करके आचमन करते हैं । इसीको वे उस प्राणको अनग्न (वस्त्रयुक्त) करना मानते हैं' ॥ १४ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

पञ्चाग्निविद्या और उसे जाननेका फल; त्रिविध गतिका वर्णन

प्रसिद्ध है कि आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालोंकी सभामें आया । वह जीवलके पुत्र प्रवाहणके पास पहुँचा, जो [सेवकोंसे] परिचर्या करा रहा था । उसे देखकर प्रवाहणने कहा, 'ओ कुमार !' वह बोला, 'जी !' [प्रवाहण—] 'क्या पिताने तुझे शिक्षा दी है ?' तब श्वेतकेतुने 'हाँ !' ऐसा उत्तर दिया ॥ १ ॥

'जिस प्रकार मरनेपर यह प्रजा विभिन्न मार्गोंसे जाती है—सो क्या तू जानता है ?' श्वेतकेतु बोला, 'नहीं !' [राजा–] 'जिस प्रकार वह पुनः इस लोकमें आती है—सो क्या तुझे मालूम है ?' 'नहीं,' ऐसा श्वेतकेतुने उत्तर दिया । [राजा–] 'इस प्रकार पुनः-पुनः बहुतोंके मरकर जानेपर भी जिस प्रकार वह लोक भरता नहीं है—सो क्या तू जानता है ?' 'नहीं,' ऐसा उसने कहा । [राजा—] 'क्या तू जानता है कि कितने बारकी आहुतिके हवन करनेपर आप (जल) पुरुष-शब्दवाच्य हो उठकर बोलने लगता है ?' 'नहीं,' ऐसा श्वेतकेतुने कहा । 'क्या तू देवयानमार्गका कर्मरूप साधन अथवा पितृयानका कर्मरूप साधन जानता है, जिसे करके लोग देवयानमार्गको प्राप्त होते हैं अथवा पितृयानमार्गको ? हमने तो मन्त्रका यह वचन सुना है—मैंने पितरोंका और देवोंका, इस प्रकार दो मार्ग सुने हैं; ये दोनों मनुष्योंसे सम्बन्ध रखनेवाले मार्ग हैं । इन दोनों मार्गोंसे जानेवाला जगत् सम्यक् प्रकारसे जाता है । तथा ये मार्ग [द्युलोक और पृथिवीरूप] पिता और माताके मध्यमें हैं ।' इसपर श्वेतकेतुने 'मैं इनमेंसे एक भी नहीं जानता,' ऐसा उत्तर दिया ॥ २ ॥

फिर राजाने श्वेतकेतुसे ठहरनेके लिये प्रार्थना की । किंतु वह कुमार ठहरनेकी परवा न करके चल दिया । वह सीधा अपने पिताके पास आया और उससे बोला, 'आपने यही कहा था न कि मुझे सब विषयोंकी शिक्षा दे दी गयी है ?' [पिता—] 'हे सुन्दर धारणाशक्तिवाले ! क्या हुआ ?' [पुत्र—] 'मुझसे एक क्षत्रियबन्धुने पाँच प्रश्न पूछे थे, उनमेंसे मैं एकको भी नहीं जानता ।' [पिता—] 'वे कौन-से थे ?' [पुत्र—] 'ये थे' ऐसा कहकर उसने उन प्रश्नोंके प्रतीक बतलाये ॥ ३ ॥

पिताने कहा, 'हे तात ! तू हमारे कथनानुसार ऐसा समझ कि हम जो कुछ जानते थे, वह सब हमने तुझसे कह दिया था । अब हम दोनों वहीं चलें और ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक उसके यहाँ निवास करेंगे ।' [पुत्र—] 'आप ही जाइये ।' तब वह गौतम जहाँ जैवलि प्रवाहणकी बैठक थी, वहाँ आया । उसके लिये आसन लाकर राजाने जल मँगवाया और उसे अर्घ्यदान किया । फिर बोला, 'मैं पूज्य गौतमको वर देता हूँ ।' (आप जिस उद्देश्यसे यहाँ पधारे हैं, वह बतलाइये । मैं उसकी पूर्ति करूँगा ।) उसने कहा, 'आपने मुझे जो वर देनेके लिये प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार आपने कुमारसे जो बात पूछी थी, वह मुझसे कहिये ।' उसने कहा, 'गौतम ! वह वर तो दैव वरोंमेंसे है, तुम मनुष्यसम्बन्धी वरोंमेंसे कोई वर माँगो' ॥ ४-६ ॥

गौतमने कहा, 'आप जानते हैं, वह तो मेरे पास है । मुझे सुवर्ण तथा गौ, अश्व, दासी, परिवार और वस्त्र भी प्राप्त है । आप महान्, अनन्त और निःसीम धनके दाता होकर मेरे लिये अदाता न हों ।' [राजा—]

'तो गौतम ! तुम शास्त्रोक्त विधिसे उसे पानेकी इच्छा करो ।' [गौतम—] 'अच्छा, मैं आपके प्रति शिष्यभावसे उपसन्न (प्राप्त) होता हूँ । पहले ब्राह्मणलोग वाणीसे ही क्षत्रियादिके प्रति उपसन्न होते रहे हैं ।' इस प्रकार उपसत्तिका वाणीसे कथनमात्र करके गौतम वहाँ रहने लगा [सेवा आदिके द्वारा नहीं] । उस राजाने कहा, 'गौतम ! जिस प्रकार तुम्हारे पितामहोंने हमारे पूर्वजोंका अपराध नहीं माना, उसी प्रकार तुम भी हमारा अपराध न मानना । इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मणके यहाँ नहीं रही । उसे मैं तुम्हारे ही प्रति कहता हूँ । भला, इस प्रकार विनयपूर्वक बोलनेवाले तुमको निषेध करनेमें (विद्या देनेसे अस्वीकार करनेमें) कौन समर्थ हो सकता है ?' ॥ ७-८ ॥

गौतम ! वह लोक (द्युलोक) ही अग्नि है । उसका आदित्य ही समिध् (ईंधन) है, किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गार हैं, अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) हैं । उस इस अग्निमें देवगण श्रद्धाको हवन करते हैं; उस आहुतिसे सोम राजा होता है । गौतम ! पर्जन्य-देवता ही अग्नि है । उसका संवत्सर ही समिध् है, बादल धूम हैं, विद्युत् ज्वाला है, अशनि (इन्द्रका वज्र) अङ्गार हैं, मेघ-गर्जन विस्फुलिङ्ग है । उस इस अग्निमें देवगण सोम राजाको हवन करते हैं । उस आहुतिसे वृष्टि होती है । गौतम ! यह लोक ही अग्नि है । इसकी पृथिवी ही समिध् है, अग्नि धूम है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं । उस इस अग्निमें देवता वृष्टिको होमते हैं, उस आहुतिसे अन्न होता है । गौतम ! पुरुष ही अग्नि है । उसका खुला हुआ मुख ही समिध् है, प्राण धूम है, वाक् ज्वाला है, नेत्र अङ्गार हैं, श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं । उस इस अग्निमें देवगण अन्नको होमते हैं । उस आहुतिसे वीर्य होता है । गौतम ! स्त्री ही अग्नि है । उपस्थ ही उसकी समिध् है, लोम धूम हैं, योनि ज्वाला है, जो मैथुनव्यापार है वह अङ्गार है, आनन्दलेश विस्फुलिङ्ग है । उस इस अग्निमें देवगण वीर्य होमते हैं । उस आहुतिसे पुरुष उत्पन्न होता है । वह जीवित रहता है । जबतक कर्मशेष रहते हैं, वह जीवित रहता है; और जब मरता है, तब उसे अग्निके पास ले जाते हैं । उस (आहुतिभूत पुरुष) का अग्नि ही अग्नि होता है, समिध् समिध् होती है, धूम धूम होता है, ज्वाला ज्वाला होती है, अँगारे अङ्गार होते हैं और विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्ग होते हैं । उस इस अग्निमें देवगण पुरुषको होमते हैं । उस आहुतिसे पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है ॥ ९-१४ ॥

वे जो [गृहस्थ] इस प्रकार इस (पञ्चाग्निविद्या) को जानते हैं तथा जो [संन्यासी या वानप्रस्थ] वनमें श्रद्धायुक्त होकर सत्य (सगुण ब्रह्म) की उपासना करते हैं, वे ज्योतिके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं; ज्योतिके अभिमानी देवताओंसे दिनके अभिमानी देवताको, दिनके अभिमानी देवतासे शुक्लपक्षाभिमानी देवताको और शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तरकी ओर रहकर चलता है, उन उत्तरायणके छः महीनोंके अभिमानी देवताओंको [प्राप्त होते हैं]; षण्मासाभिमानी देवताओंसे देवलोकको, देवलोकसे आदित्यको और आदित्यसे विद्युत्सम्बन्धी देवताओंको प्राप्त होते हैं । उन वैद्युत देवोंके पास एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकोंमें ले जाता है । वे उन ब्रह्मलोकोंमें अनन्त संवत्सरपर्यन्त रहकर [भगवान्‌को प्राप्त हो जाते] हैं ! उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती ॥ १५ ॥

और जो [सकाम] यज्ञ, दान, तपके द्वारा लोकोंको जीतते हैं, वे धूम (धूमाभिमानी देवता) को प्राप्त होते हैं; धूमसे रात्रिदेवताको, रात्रिसे अपक्षीयमाणपक्ष (कृष्णपक्षाभिमानी देवता) को, अपक्षीयमाणपक्षसे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिणकी ओर होकर जाता है, उन छः मासके देवताओंको, छः मासके देवताओंसे पितृलोकको और पितृलोकसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं । चन्द्रमामें पहुँचकर वे अन्न हो जाते हैं । वहाँ जैसे ऋत्विक्-गण सोम राजाको 'आप्यायस्व-अपक्षीयस्व' ऐसा कहकर चमसमें भरकर पी जाते हैं, उसी प्रकार इन्हें देवगण भक्षण कर जाते हैं । जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं तो वे इस आकाशको ही प्राप्त होते हैं । आकाशसे वायुको, वायुसे वृष्टिको और वृष्टिसे पृथिवीको प्राप्त होते हैं । पृथिवीको प्राप्त होकर वे अन्न हो जाते हैं । फिर वे पुरुषरूप अग्निमें हवन किये जाते हैं । उससे वे लोकके प्रति उत्थान करनेवाले होकर स्त्रीरूप अग्निमें उत्पन्न होते हैं । वे इसी प्रकार पुनः-पुनः परिवर्तित होते रहते हैं और जो इन दोनों मार्गोंको नहीं जानते, वे कीट, पतंग और डाँस-मच्छर आदि होते हैं ॥ १६ ॥

तृतीय ब्राह्मण

मन्थविद्या और उसकी परम्परा

जो ऐसा चाहता हो कि मैं महत्त्व प्राप्त करूँ, वह उत्तरायणमें शुक्लपक्षकी पुण्य-तिथिपर बारह दिन उपसद्व्रती (पयोव्रती) होकर गूलरकी लकड़ीके कंस (कटोरे) या चमसमें सर्वौषध, फल तथा अन्य सामग्रियोंको एकत्रितकर, [जहाँ हवन करना हो, उस स्थानका] परिसमूहन* एवं परिलेपन† करके अग्निस्थापन करता है और फिर अग्निके चारों ओर कुशा बिछाकर गृह्योक्त विधिसे घृतका शोधन करके, जिसका नाम पुँल्लिङ्ग हो उस [हस्त आदि] नक्षत्रमें मन्थको (औषध-फल आदिके पिण्डको) [अपने और अग्निके] बीचमें रखकर हवन करता है। ['यावन्तो' इत्यादि प्रथम मन्त्रका अर्थ—] हे जातवेदः ! तेरे वशवर्ती जितने देवता वक्रमति होकर पुरुषकी कामनाओंका प्रतिबन्ध करते हैं, उनके उद्देश्यसे यह आज्यभाग मैं तुझमें हवन करता हूँ। वे तृप्त होकर मुझे समस्त कामनाओंसे तृप्त करें—स्वाहा‡। ['या तिरश्ची' इत्यादि द्वितीय मन्त्रका अर्थ—]'मैं सबकी मृत्युको धारण करनेवाला हूँ' ऐसा समझकर जो कुटिलमति देवता तेरा आश्रय करके रहता है, सब साधनोंकी पूर्ति करनेवाले उस देवताके लिये मैं घृतकी धारासे यजन करता हूँ—स्वाहा ॥ १ ॥

'ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको (स्रुवामें बचे हुए घृतको) मन्थमें डाल देता है। 'प्राणाय स्वाहा, वसिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'वाचे स्वाहा, प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'चक्षुषे स्वाहा, सम्पदे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'श्रोत्राय स्वाहा, आयतनाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'मनसे स्वाहा, प्रजात्यै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'रेतसे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है ॥ २ ॥

'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'सोमाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भूः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भुवः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'स्वः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'ब्रह्मणे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'क्षत्राय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भूताय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भविष्यते स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'विश्वाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'सर्वाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'प्रजापतये स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् उस मन्थको 'भ्रमदसि' इत्यादि मन्त्रद्वारा स्पर्श करता है। [मन्थद्रव्यका अधिष्ठातृदेव प्राण है, इसलिये प्राणसे एकरूप होनेके कारण वह सर्वात्मक है। 'भ्रमदसि' इत्यादि मन्त्रका अर्थ इस प्रकार है—] तू [प्राणरूपसे सम्पूर्ण देहोंमें] घूमनेवाला है, [अग्निरूपसे सर्वत्र] प्रज्वलित होनेवाला है, [ब्रह्मरूपसे] पूर्ण है, [आकाशरूपसे] अत्यन्त स्तब्ध (निष्कम्प) है, [सबसे अविरोधी होनेके कारण] तू यह जगद्रूप एक सभाके समान है, तू ही [यज्ञके आरम्भमें प्रस्तोताके द्वारा] हिङ्कृत है, तथा [उसी प्रस्तोताद्वारा यज्ञमें] तू ही हिङ्क्रियमाण है, [यज्ञारम्भमें उद्गाताद्वारा] तू ही उच्च स्वरसे गाया जानेवाला उद्गीथ है और [यज्ञके मध्यमें उसके द्वारा] तू ही उद्गीयमान है। तू ही [अध्वर्युद्वारा] श्रावित और [आग्नीध्रद्वारा] प्रत्याश्रावित है; आर्द्र (अर्थात् मेघ) में सम्यक् प्रकारसे दीप्त है, तू विभु (विविधरूप होनेवाला) है और प्रभु (समर्थ) है, तू [भोक्ता अग्निरूपसे] ज्योति है, [कारणरूपसे] सबका प्रलयस्थान है तथा [सबका संहार करनेवाला होनेसे] संवर्ग है ॥ ४ ॥

फिर 'आमꣳसि आमꣳहि' इत्यादि मन्त्रसे इसे ऊपर उठाता है। [इस मन्त्रका अर्थ—] 'आमंसि'—तू सब जानता है,

* कुशोंसे बुहारना।

† गोबर और जलसे वेदीको लीपना।

‡ जहाँ-जहाँ 'स्वाहा' आये, वहाँ आहुति देनी चाहिये।

'आमंहि ते महि'—मैं तेरी महिमाको अच्छी तरह जानता हूँ। वह प्राण राजा, ईशान (ईश्वर) और अधिपति है। वह मुझे राजा, ईशान और अधिपति करे ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यादि मन्त्रसे इस मन्थको भक्षण करता है। ['तत्सवितुः' इत्यादि मन्त्रका अर्थ—] 'तत्सवितुर्वरेण्यम्'—सूर्यके उस वरेण्य—श्रेष्ठ पदका मैं ध्यान करता हूँ। 'वाता मधु ऋतायते'—पवन मधुर, मन्द गतिसे बह रहा है। 'सिन्धवः मधु क्षरन्ति'—नदियाँ मधु-रसका स्राव कर रही हैं। 'नः ओषधीः माध्वीः सन्तु'—हमारे लिये ओषधियाँ मधुर हों। 'भूः स्वाहा' [यहाँतकके मन्त्रसे मन्थका पहला ग्रास भक्षण करे।] 'देवस्य भर्गः धीमहि'—हम सवितादेवके तेजका ध्यान करते हैं। 'नक्तमुत उषसः मधु'—रात और दिन सुखकर हों। 'पार्थिवं रजः मधुमत्'—पृथिवीके धूलिकण उद्वेग न करनेवाले हों। 'द्यौः पिता नः मधु अस्तु'—पिता द्युलोक हमारे लिये सुखकर हो। 'भुवः स्वाहा' [यहाँतकके मन्त्रसे दूसरा ग्रास भक्षण करे]। 'यः नः धियः प्रचोदयात्'—जो सवितादेव हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करता है। 'नः वनस्पतिः मधुमान्'—हमारे लिये वनस्पति (सोम) मधुर रसमय हो। 'सूर्यः मधुमान् अस्तु'—सूर्य हमारे लिये मधुमान् हो। 'गावः नः माध्वीः भवन्तु'—किरणें अथवा दिशाएँ हमारे लिये सुखकर हों। 'स्वः स्वाहा' [यहाँतकके मन्त्रसे तृतीय ग्रास भक्षण करे]। इसके पश्चात् सम्पूर्ण सावित्री (गायत्रीमन्त्र), 'मधु वाता ऋतायते' इत्यादि समस्त मधुमती ऋचा और 'अहमेवेदं सर्वं भूयासम्' (यह सब मैं ही हो जाऊँ) 'भूर्भुवः स्वाहा'—इस प्रकार कहकर अन्तमें समस्त मन्थको भक्षण-कर, दोनों हाथ धो, अग्निके पश्चिम भागमें पूर्वकी ओर सिर करके बैठता है। प्रातःकालमें 'दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं ······ भूयासम्' इस मन्त्रद्वारा आदित्यका उपस्थान (नमस्कार) करता है। फिर जिस मार्गसे गया होता है, उसीसे लौटकर अग्निके पश्चिम भागमें बैठकर [आगे कहे जानेवाले] वंशको जपता है ॥ ६ ॥

उस इस मन्थका उद्दालक आरुणिने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्यको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इस मन्थको सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका वाजसनेय याज्ञवल्क्यने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्यको उपदेश करके कहा था, यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका मधुक पैङ्ग्यने अपने शिष्य चूल भागवित्तिको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।'

उस इस मन्थका चूल भागवित्तिने अपने शिष्य जानकि आयस्थूणको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका जानकि आयस्थूणने अपने शिष्य सत्यकाम जाबालको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका सत्यकाम जाबालने अपने शिष्योंको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका, जो पुत्र या शिष्य न हो, उसे उपदेश न करे ॥ ७–१२ ॥

यह मन्थकर्म चतुरौदुम्बर (चार औदुम्बरकाष्ठके बने पदार्थोंवाला) है। इसमें औदुम्बरकाष्ठ (गूलरकी लकड़ी) का स्रुव, औदुम्बरकाष्ठका चमस, औदुम्बरकाष्ठका इध्म और औदुम्बरकाष्ठकी दो उपमन्थनी होती हैं। इसमें व्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु (सावाँ), प्रियङ्गु (काँगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (बाल) और खलकुल (कुलथी)—ये दस ग्रामीण अन्न उपयुक्त होते हैं। उन्हें पीसकर दही, मधु और घृतमें मिलाकर घृतसे हवन करता है ॥ १३ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

सन्तानोत्पत्ति-विज्ञान

(इच्छानुसार सद्गुणयुक्त सन्तान उत्पन्न करने, सर्वथा न उत्पन्न करने तथा संयमयुक्त जीवन-निर्माण करनेकी युक्ति बतलानेके लिये इस ब्राह्मणका आरम्भ किया जाता है; मन्थाख्य कर्मकर्ता प्राणदर्शी पुरुषका ही इसमें अधिकार है।)

चराचर समस्त भूतोंका रस—सार अथवा आधार पृथिवी है, पृथिवीका रस जल है, जलका रस—उसपर निर्भर करनेवाली ओषधियाँ हैं, ओषधियोंका रस—सार पुष्प है, पुष्पका रस फल है, फलका रस—आधार पुरुष है, पुरुषका रस—सार

१. तू दिशाओंका एक पुण्डरीक (अर्थात् अखण्ड श्रेष्ठ) है, मैं मनुष्योंमें एक पुण्डरीक होऊँ।

शुक्र है। प्रसिद्ध प्रजापतिने विचार किया कि इस शुक्रकी उपयुक्त प्रतिष्ठाके लिये कोई आधार चाहिये; इसलिये उसने स्त्रीकी सृष्टि की और उसके अधोभाग-सेवनका विधान किया। (यहाँ यदि यह कहा जाय कि इस पाशविक क्रियामें तो प्राणिमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इसके लिये विधान क्यों किया गया, तो इसका उत्तर यह है कि यह विधान इसीलिये बनाया गया कि जिसमें पुरुषोंकी स्वेच्छाचारिताका निरोध हो और इस विज्ञानसे परिचित पुरुषोंके द्वारा केवल श्रेष्ठ सन्तानोत्पत्तिके लिये ही इसका सेवन किया जाय।) इसके लिये प्रजापतिने प्रजननेन्द्रियको उत्पन्न किया। अतएव इस विषयसे घृणा नहीं करनी चाहिये। अरुणके पुत्र विद्वान् उद्दालक और नाक-मौद्गल्य तथा कुमारहारीत ऋषिने भी कहा है कि बहुत-से ऐसे मरणधर्मा, नामके ब्राह्मण हैं जो निरिन्द्रिय, सुकृतहीन, मैथुन-विज्ञानसे अपरिचित होकर भी मैथुन-कर्ममें आसक्त होते हैं; उनकी परलोकमें दुर्गति होती है। (इससे अशास्त्रीय तथा अबाध मैथुन-कर्मका पापहेतुत्व सूचित किया गया है।)

इस प्रकार मन्थ-कर्म करके ब्रह्मचर्यधारणपूर्वक पुरुषको पत्नीके ऋतुकालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। यदि इस बीचमें स्वप्नदोषादिके द्वारा शुक्र क्षरण हो जाय तो उसकी पुनः प्राप्ति तथा वृद्धिके लिये **'यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः, इदमहं तद्रेत आददे ।'** तथा **'पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः। पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्ताम्।'** इन मन्त्रोंका पाठ करे। (इससे स्वप्नदोषादि व्याधियोंका नाश होता है।)

यदि कदाचित् जलमें अपनी छाया दीख जाय तो **'मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳ सुकृतम्।'** (मुझे तेज, इन्द्रिय-शक्ति, यश, धन और पुण्यकी प्राप्ति हो) इस मन्त्रको पढ़े। ऋतु-कालकी तीन रात बीतनेपर जब पत्नी स्नान करके शुद्ध हो जाय, तब **'स्त्रियोंमें मेरी यह पत्नी लक्ष्मीके समान है, इसलिये निर्मल वस्त्र पहने हुए है'** यह विचारकर उस यशस्विनी पत्नीके समीप जाकर **'हम दोनों सन्तानोत्पादनके लिये क्रिया करेंगे'** कहकर आमन्त्रण करे। लज्जा अथवा हठवश स्त्री यदि मिथुन-धर्मके लिये अस्वीकार करे तो उसे आभरणादिद्वारा तथा अभिशापादि-द्वारा प्रेरित करे। पुरुषके **'इन्द्रियेण ते यशसा यश आददे'** इस मन्त्रयुक्त अभिशापसे स्त्री अयशस्विनी—वन्ध्या हो जाती है। परंतु यदि स्त्री अपने स्वामीकी अभिलाषा पूर्ण करती है तो स्वामीके **'इन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामि'** इस मन्त्रपाठपूर्वक उपगत होनेसे पत्नी निश्चय ही यशस्विनी—पुत्रवती होती है।

मन्थोपासक अपनी पत्नीको कामनापरायण करना चाहे तो उस समय वह **'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे। स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धमिव मादयेमाममूं मयि।'** मन्त्रका जप करे।

यदि किसी कारणवश गर्भनिरोधकी आवश्यकता हो तो उस समय **'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे'** मन्त्रका जाप करे। ऐसा करनेपर पत्नी गर्भवती नहीं होगी *। और यदि यह इच्छा हो कि पत्नी गर्भधारण करे तो उस समय **'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामि'** इस मन्त्रका पाठ करे; इससे वह निश्चय ही गर्भवती हो जायगी।

यदि कभी अपनी भार्याके साथ किसी जारका सम्बन्ध हो जाय और उसे दण्ड देना हो तो पहले कच्ची मिट्टीके बरतनमें अग्नि स्थापन करके समस्त कर्मोंको विपरीत रीतिसे करे और कुछ सरके तिनकोंके अग्रभागको घीमें भिगोकर विपरीत क्रमसे ही उनका होम करे। आहुतिके पहले **'मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसौ'** आदि मन्त्रोंका पाठ करके अन्तमें प्रत्येक बार **'असौ'** बोलकर उसका नाम ले। इस प्रकार करनेसे वह पुण्य-से स्खलित होकर मृत्युको प्राप्त हो जाता है।

ऋतुमती पत्नीका त्रिरात्र व्रत (तीन रात्रियोंका पृथक् निवासादि) समाप्त होनेपर स्नान करनेके बाद उसे धान कूटना आदि गृहस्थीका काम करना चाहिये। तीन दिनोंतक उसे अलग रहना चाहिये, किसीका स्पर्श नहीं करना चाहिये।

जो पुरुष चाहता हो कि मेरा पुत्र गौरवर्ण हो, एक वेदका अध्ययन करनेवाला हो और पूरे सौ वर्षोंतक जीवित रहे, उसको दूध-चावलकी खीर बनाकर उसमें घी मिलाकर पत्नी-सहित खाना चाहिये। जो कपिलवर्ण, दो वेदोंका अध्ययन करनेवाला और पूर्णायु पुत्र चाहता हो, उसको दहीमें चावल पकाकर पत्नीसहित खाना चाहिये। जो श्यामवर्ण, रक्तनेत्र, वेदत्रयीका अध्ययन करनेवाले, पूर्णायु पुत्रकी इच्छा करता हो, उसे जलमें चावल (भात) पकाकर घी मिलाकर पत्नीसहित खाना चाहिये। जो चाहता हो कि मेरे पूर्ण आयुवाली विदुषी कन्या हो, उसे तिल-चावलकी खिचड़ी बनाकर पत्नी-सहित खाना चाहिये। और जो चाहता हो कि मेरा पुत्र

* आजकल गर्भनिरोधके लिये कैसी-कैसी तामसी क्रियाएँ की जाती हैं; पर ये होती हैं प्रायः असंयमकी वृद्धिके लिये। और यह वैदिक प्रक्रिया थी अपनी धर्मपत्नीको कभी गर्भधारण न कराना हो तो उसके लिये। संयमी पुरुष ही ऐसा कर सकते थे।

प्रसिद्ध पण्डित, वेदवादियोंकी सभामें जानेवाला, सुन्दर वाणी बोलनेवाला, सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करनेवाला और पूर्ण आयुष्मान् हो, वह उड़द-चावलकी खिचड़ी पकाकर उसमें 'उक्षन्'* अथवा 'ऋषभ'† नामक बल-वीर्यवर्द्धक ओषधि मिलाकर घृतसहित पति-पत्नी दोनों भोजन करें ।

गर्भाधान करनेवालेको प्रातःकाल ही स्थालीपाकविधिके अनुसार घीका संस्कार (शोधन) करके और चरुपाक बनाकर **'अग्नये स्वाहा', 'अनुमतये स्वाहा'** एवं **'देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा'** इन मन्त्रोंसे अग्निमें आहुतियाँ देनी चाहिये । होम समाप्त करके चरुमें बचा हुआ भोजन करके शेष पत्नीको भोजन कराना चाहिये । फिर हाथ धोकर जलका कलश भरके **'उत्तिष्ठातोविश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सह'** मन्त्रके द्वारा पत्नीका तीन बार अभ्युक्षण (अभिषेचन) करना चाहिये ।

तदनन्तर पति अपनी कामनाके अनुसार पत्नीको भोजन कराके शयनके समय बुलाकर कहे कि "देखो, मैं अम (प्राण) हूँ और तुम प्राणरूप मेरे अधीन वाक् हो । मैं साम हूँ और तुम सामका आधाररूप ऋक् हो, मैं आकाश हूँ और तुम पृथिवी हो । अतएव आओ, तुम-हम दोनों मिलें, जिससे हमें पुत्र-सन्तान और तदनुगत धनकी प्राप्ति हो । इसके पश्चात् 'द्यावा पृथिवी' इत्यादि मन्त्रसे सम्बोधन करके 'विष्णुर्योनि' इत्यादि मन्त्रके अनुसार प्रार्थना करे "भगवान् विष्णु तुम्हारी जननेन्द्रियको पुत्रोत्पादनमें समर्थ करें, त्वष्टा सूर्य रूपोंको दर्शन-योग्य करें, विराट् पुरुष प्रजापति रेतःसेचन करायें, सूत्रात्मा विधाता तुममें अभिन्नभावसे स्थित होकर गर्भ धारण करें । सिनीवाली नामकी अत्यन्त सुन्दर देवता तुममें अभेदरूपसे एवं पृथुष्टुका नामकी महान् स्तुतिशाली देवता भी तुममें हैं । मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि 'हे सिनीवालि ! हे पृथुष्टुके ! तुम इस गर्भको धारण करो ।' दोनों अश्विनीकुमार अथवा चन्द्र-सूर्य तुम्हारे साथ रहकर इस गर्भको धारण करें ।"

"दोनों अश्विनीकुमार हिरण्मय दो अरणियोंके द्वारा मन्थन करते हैं । मैं दसवें मासमें प्रसव होनेके लिये गर्भाधान करता हूँ । पृथ्वी जैसे अग्निगर्भा है, आकाश जैसे सूर्यके द्वारा गर्भवती है, दिशाएँ जैसे वायुके द्वारा गर्भवती हैं, मैं तुमको उसी प्रकार गर्भ अर्पण करके गर्भवती करता हूँ ।" यों कहकर गर्भाधान करे ।

तदनन्तर सुखपूर्वक प्रसव हो जाय, इसके लिये 'यथावायुः' इत्यादि मन्त्रके द्वारा आसन्नप्रसवा पत्नीका अभिषेचन करे और कहे—'जैसे वायु पुष्करिणीको सब ओरसे हिला देता है, वैसे ही तुम्हारा गर्भ भी अपने स्थानसे खिसककर जेरके साथ बाहर निकल आये । तुम्हारे तेजस्वी गर्भका मार्ग रुका हुआ है और चारों ओर जेरसे घिरा है । गर्भके साथ उस जेरको

---

* 'उक्षन्' शब्दके कोषमें दो प्रकारके अर्थ मिलते हैं । कलकत्तेसे प्रकाशित 'वाचस्पत्य' नामक बृहत् संस्कृताभिधानमें उसे अष्टवर्गान्तर्गत 'ऋषभ' नामक ओषधिका पर्याय माना गया है—'ऋषभौषधौ च' । प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् सर मोनियर विलियम्सने अपने बृहत् संस्कृत-अंग्रेजी कोषमें इसे 'सोम' नामक पौधेका पर्याय माना है ।

† 'ऋषभ' नामक ओषधिका आयुर्वेदके अत्यन्त प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थ 'सुश्रुत-संहिता' के 'सूत्रस्थान' नामक प्रथम खण्डके ३८ वें अध्यायमें (जो द्रव्यसंग्रहणीयाध्याय भी कहलाता है) सैंतीस द्रव्यगणोंके अन्तर्गत उल्लेख हुआ है । 'भावप्रकाश' नामक प्रसिद्ध संग्रह-ग्रन्थमें उसका वर्णन इस रूपमें आया है—

जीवकर्षभकौ ज्ञेयौ हिमाद्रिशिखरोद्भवौ ।
रसोनकन्दवत्कन्दौ निःसारौ सूक्ष्मपत्रकौ ॥
..................................ऋषभो वृषशृङ्गवत् ।
... ... ॥
ऋषभो वृषभो वीरो विषाणी श्राद्ध इत्यपि ।
जीवकर्षभकौ बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ ।
मधुरौ पित्तदाहघ्नौ कासवातक्षयापहौ ॥

'जीवक और ऋषभक (ऋषभ) नामकी ओषधियाँ हिमालयके शिखरपर उत्पन्न होती हैं । उनकी जड़ लहसुनके सदृश होती है । दोनोंमें ही गूदा नहीं होता, केवल त्वचा होती है; दोनोंमें छोटी-छोटी पत्तियाँ होती हैं । इनमेंसे ऋषभ बैलके सींगकी आकृतिका होता है । इसके दूसरे नाम हैं—वृषभ, वीर, विषाणी, श्राद्ध आदि । जीवक और ऋषभ दोनों ही बलकारक, शीतवीर्य, वीर्य और कफ बढ़ानेवाले, मधुर, पित्त और दाहका शमन करनेवाले तथा खाँसी, वायु एवं यक्ष्माको दूर करनेवाले हैं ।

ऋषभकी प्रसिद्ध अष्टवर्ग नामक ओषधियोंमें गणना है । भावप्रकाशकार लिखते हैं—

जीवकर्षभकौ मेदे काकोल्यौ ऋद्धिवृद्धिके ।
अष्टवर्गोऽष्टभिर्द्रव्यैः कथितश्चरकादिभिः ॥

भी निकाल बाहर करें; और गर्भ निकलनेके समय जो मांस-पेशी बाहर निकला करती है, वह भी निकल जाय।'

पश्चात् पुत्रका जन्म हो जानेपर अग्निस्थापन करके पुत्र-को गोदमें ले और आज्यस्थालीमें दही मिला हुआ घृत रख-कर उसे थोड़ा-थोड़ा लेकर यह कहता हुआ बार-बार अग्निमें होम करे कि 'इस अपने घरमें मैं पुत्ररूपसे बढ़कर सहस्रों मनुष्यों-का पालन करूँ; मेरे इस पुत्रके वंशमें सन्तान-लक्ष्मी तथा पशु-सम्पत्ति लगातार बनी रहे; मुझमें (पितामें) जो प्राण (इन्द्रियाँ) हैं, वे सभी मन-ही-मन मैं तुम्हें (पुत्रको) दे रहा हूँ; मेरे इस कर्ममें कोई न्यूनाधिकता हो गयी हो तो विद्वान् एवं वाञ्छापूरक अग्नि उसे पूर्ण कर दें।'

तदनन्तर पिता बालकके दाहिने कानमें अपना मुख लगाकर 'वाक्, वाक्, वाक्' इस प्रकार तीन बार जप करे। तदनन्तर दधि, मधु और घृत मिलाकर पास ही रक्खे हुए सोनेके पात्रके द्वारा क्रमशः—

'भूस्ते दधामि', 'भुवस्ते दधामि', 'स्वस्ते दधामि', 'भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि'

—यों कहकर चार बार उसे चटाये। फिर पिता उस पुत्रका 'वेदोऽसि' बोलकर 'नामकरण' करे—'वेद' यह नाम रक्खे। उसका यह नाम अत्यन्त गोपनीय होता है। इसे सर्व-साधारणमें प्रकट नहीं करना चाहिये। इसके बाद गोदमें स्थित उस शिशुको माताकी गोदमें रखकर तथा स्तन देकर इस मन्त्रका पाठ करे—

'यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः।'

अर्थात् 'हे सरस्वति! तुम्हारा जो स्तन दूधका अक्षय भंडार तथा सौख्यका आधार है, जो रत्नोंकी खान है तथा सम्पूर्ण धन-राशिका ज्ञाता एवं उदार दानी है, और जिसके द्वारा तुम समस्त वरणीय पदार्थोंका पोषण करती हो, तुम इस सत्पुत्रके जीवन-धारणार्थ उस स्तनको मेरी भार्यामें प्रविष्ट करा दो।'

तदनन्तर बालककी माताको इस प्रकार अभिमन्त्रित करे—उसे सम्बोधन करके कहे, 'तुम ही स्तुतिके योग्य मैत्रा-वरुणी (अरुन्धती) हो; हे वीरे! तुमने वीर पुत्रको जन्म देकर हमें वीरवान्—वीर पुत्रका पिता बनाया है, अतः तुम वीर-वती होओ। इसे लोग कहें—तू सचमुच अपने पितासे भी आगे बढ़ गया, तू निस्सन्देह अपने पितामहसे भी श्रेष्ठ निकला।'

इस प्रकारके विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न ब्राह्मणके जो पुत्र होता है, वह श्री, यश और ब्रह्मतेजके द्वारा सर्वोच्च स्थितिको प्राप्त कर लेता है॥ १—२८॥

पञ्चम ब्राह्मण

समस्त प्रवचनकी परम्पराका वर्णन

अब वंश (परम्परा)का वर्णन किया जाता है—पौतिमाषी-पुत्रने कात्यायनीपुत्रसे, कात्यायनीपुत्रने गौतमीपुत्रसे, गौतमी-पुत्रने भारद्वाजीपुत्रसे, भारद्वाजीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरी-पुत्रने औपस्वस्तीपुत्रसे, औपस्वस्तीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने कात्यायनीपुत्रसे, कात्यायनीपुत्रने कौशिकीपुत्रसे, कौशिकीपुत्रने आलम्बीपुत्रसे और वैयाघ्रपदीपुत्रसे, वैयाघ्रपदी-पुत्रने काण्वीपुत्रसे तथा कापीपुत्रसे, कापीपुत्रने आत्रेयीपुत्रसे, आत्रेयीपुत्रने गौतमीपुत्रसे, गौतमीपुत्रने भारद्वाजीपुत्रसे, भारद्वाजीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने वात्सीपुत्रसे, वात्सी-पुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने वार्कारुणीपुत्रसे, वार्कारुणी-पुत्रने वार्कारुणीपुत्रसे, वार्कारुणीपुत्रने आर्तभागीपुत्रसे, आर्तभागीपुत्रने शौङ्गीपुत्रसे, शौङ्गीपुत्रने साङ्कृतीपुत्रसे, साङ्कृती-पुत्रने आलम्बायनीपुत्रसे, आलम्बायनीपुत्रने आलम्बीपुत्रसे, आलम्बीपुत्रने जायन्तीपुत्रसे, जायन्तीपुत्रने माण्डूकायनीपुत्रसे, माण्डूकायनीपुत्रने माण्डूकीपुत्रसे, माण्डूकीपुत्रने शाण्डिलीपुत्रसे, शाण्डिलीपुत्रने राथीतरीपुत्रसे, राथीतरीपुत्रने भालुकीपुत्रसे, भालुकीपुत्रने दो क्रौञ्चिकीपुत्रोंसे, दोनों क्रौञ्चिकीपुत्रोंने वैदभृती-पुत्रसे, वैदभृतीपुत्रने कार्शकेयीपुत्रसे, कार्शकेयीपुत्रने प्राचीन-योगीपुत्रसे, प्राचीनयोगीपुत्रने साञ्जीवीपुत्रसे, साञ्जीवीपुत्रने आसुरिवासी प्राश्नीपुत्रसे, प्राश्नीपुत्रने आसुरायणसे, आसुरायण-ने आसुरिसे, आसुरिने याज्ञवल्क्यसे, याज्ञवल्क्यने उद्दालक-से, उद्दालकने अरुणसे, अरुणने उपवेशिसे, उपवेशिने कुश्रिसे, कुश्रिने वाजश्रवासे, वाजश्रवाने जिह्वावान् बाध्योगसे, जिह्वावान् बाध्योगने असित वार्षगणसे, असित वार्षगणने हरित कश्यपसे, हरित कश्यपने शिल्प कश्यपसे, शिल्प कश्यपने कश्यप

नैध्रुविसे, कश्यप नैध्रुविने वाक्‌से, वाक्‌ने अम्भिणीसे, अम्भिणीने आदित्यसे, आदित्यसे प्राप्त हुई ये शुक्लयजुःश्रुतियाँ वाजसनेय याज्ञवल्क्यद्वारा प्रसिद्ध की गयीं । साञ्जीवी पुत्रपर्यन्त यह एक ही वंश है । साञ्जीवीपुत्रने माण्डूकायनिसे, माण्डूकायनिने माण्डव्यसे, माण्डव्यने कौत्ससे, कौत्सने माहित्थिसे, माहित्थिने वामकक्षायणसे, वामकक्षायणने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने वात्स्यसे, वात्स्यने कुश्रिसे, कुश्रिने यज्ञवचा राजस्तम्बायनसे, यज्ञवचा राजस्तम्बायनने तुर कावषेयसे, तुर कावषेयने प्रजापतिसे और प्रजापतिने ब्रह्मसे । ब्रह्म स्वयम्भू है, स्वयम्भू ब्रह्मको नमस्कार है ॥ १–४ ॥

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

॥ शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यकोपनिषद् समाप्त ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ ईशावास्योपनिषद्‌के प्रारम्भमें दिया जा चुका है
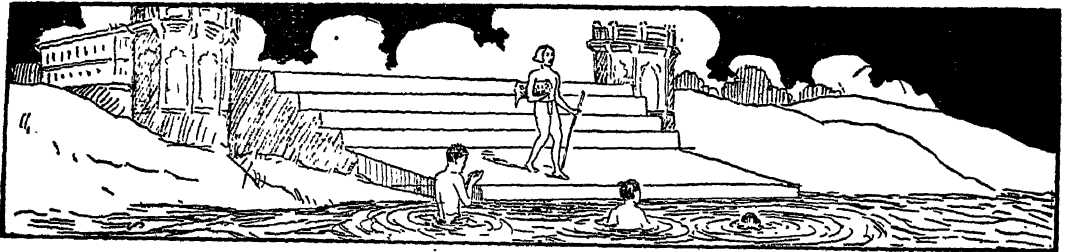
॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ ऐतरेयोपनिषद्के आरम्भमें छप चुका है ।

प्रथम अध्याय

पर्यङ्क-विद्या

गर्गके प्रपौत्र सुप्रसिद्ध महात्मा चित्र यज्ञ करनेवाले थे । इसके लिये उन्होंने अरुणके पुत्र उद्दालकको प्रधान ऋत्विक्के रूपमें वरण किया । परंतु उन प्रसिद्ध उद्दालक मुनिने स्वयं न पधारकर अपने पुत्र श्वेतकेतुको भेजा और कहा—'वत्स ! तुम जाकर चित्रका यज्ञ कराओ ।' श्वेतकेतु यज्ञमें पधारकर एक ऊँचे आसनपर विराजमान हुए । उन्हें आसनपर बैठे देख चित्रने पूछा—'गौतम-कुमार ! इस लोकमें कोई ऐसा आवृत (आवरणयुक्त) स्थान है, जिसमें मुझे ले जाकर रक्खोगे ? अथवा कोई उससे भिन्न—सर्वथा विलक्षण आवरण-शून्य पद है, जिसे जानकर तुम उसी लोकमें मुझे स्थापित करोगे ?'

श्वेतकेतुने कहा—'मैं यह सब नहीं जानता । किंतु यह प्रश्न सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई है । मेरे पिता आचार्य हैं—वे शास्त्रके गूढ अर्थका ज्ञान रखते, दूसरे लोगोंको शास्त्रीय आचारमें लगाते और स्वयं भी शास्त्रके अनुकूल ही आचरण करते हैं; अतः उन्हींसे यह बात पूछूँगा ।' यों कहकर वे अपने पिता आरुणि (उद्दालक) के पास गये और प्रश्नको सामने रखते हुए बोले—'पिताजी ! चित्रने इस-इस प्रकारसे मुझसे प्रश्न किया है । सो इसके सम्बन्धमें मैं किस प्रकार उत्तर दूँ ?' उद्दालकने कहा—'वत्स ! मैं भी इस प्रश्नका उत्तर नहीं जानता । अब हमलोग महाभाग चित्रकी यज्ञशालामें ही इस तत्त्वका अध्ययन करके इस विद्याको प्राप्त करेंगे । जब दूसरे लोग हमें विद्या और धन देते हैं तो चित्र भी देंगे ही । इसलिये आओ, हम दोनों चित्रके पास चलें ।'

वे प्रसिद्ध आरुणि मुनि हाथमें समिधा ले जिज्ञासुके वेषमें गर्गके प्रपौत्र चित्रके यहाँ गये । 'मैं विद्या ग्रहण करनेके लिये तुम्हारे पास आया हूँ' इस भावनाको व्यक्त करते हुए उन्होंने चित्रके समीप गमन किया । उन्हें इस प्रकार आया देख चित्रने कहा—'गौतम ! तुम ब्राह्मणोंमें पूजनीय एवं ब्रह्मविद्याके अधिकारी हो; क्योंकि मेरे-जैसे लघु व्यक्तिके पास आते समय तुम्हारे मनमें अपने बड़प्पनका अभिमान नहीं हुआ है । इसलिये आओ, तुम्हें निश्चय ही इस पूछे हुए विषयका स्पष्ट ज्ञान कराऊँगा' ॥ १ ॥

सुप्रसिद्ध यज्ञकर्ता चित्रने इस प्रकार उपदेश आरम्भ किया—'ब्रह्मन् ! जो कोई भी अग्निहोत्रादि सत्कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले लोग हैं, वे सब-के-सब जब इस लोकसे प्रयाण करते हैं तो (क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन आदिके अभिमानी देवताओंके अधिकारमें होते हुए अन्ततोगत्वा) चन्द्रलोक अर्थात् स्वर्गमें ही जाते हैं । उनके प्राणों (इन्द्रियों और प्राणों) से चन्द्रमा शुक्लपक्षमें पुष्टिको प्राप्त होते हैं । वे (चन्द्रमा) कृष्णपक्षमें उन स्वर्गवासी जीवोंकी तृप्ति नहीं कर पाते ।

निश्चय ही यह स्वर्गलोकका द्वार है, जो कि चन्द्रमाके नामसे प्रसिद्ध है। जो अधिकारी (दैवी-सम्पत्तिसे युक्त होनेके कारण) उस स्वर्गरूपी चन्द्रमाका प्रत्याख्यान कर देता है अर्थात् जहाँसे पुनः नीचे गिरना पड़ता है, ऐसा स्वर्गलोक मुझे नहीं चाहिये—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके जो निष्काम धर्मका अनुष्ठान करते हुए चन्द्रलोकको त्याग देता है, उस पुरुषको उसका वह शुभ संकल्प चन्द्रलोकसे भी ऊपर नित्य ब्रह्मलोकमें पहुँचा देता है। परंतु जो स्वर्गीय सुखके प्रति ही आसक्त होनेके कारण उस चन्द्रलोकको अस्वीकार नहीं करता, उस सकामकर्मी स्वर्गवासी-को, उसके पुण्य-भोगकी समाप्ति होनेपर, देववर्ग वृष्टिके रूपमें परिणत करके इस लोकमें ही पुनः बरसा देता है।

वह वर्षाके रूपमें यहाँ आया हुआ अनुशयी जीव अपनी पूर्व-वासनाके अनुसार कीट अथवा पतङ्ग या पक्षी, अथवा व्याघ्र या सिंह अथवा मछली, या साँप-बिच्छू अथवा मनुष्य या दूसरा कोई जीव होकर इनके अनुकूल शरीरोंमें अपने कर्म और विद्या—उपासनाके अनुसार जहाँ-कहीं उत्पन्न होता है।

(इस प्रकार संसारकी स्वर्ग-नरकरूपा दुर्गतिको समझ-कर जो उससे विरक्त हो चुका है और ज्ञानोपदेशके लिये गुरुदेवकी शरणमें आया है) उस अपने समीप आये हुए शिष्यसे दयालु एवं तत्त्वज्ञ गुरु इस प्रकार पूछे—'वत्स ! तुम कौन हो ?' गुरुके इस प्रकार प्रश्न करनेपर शिष्य (अपनेको देहादि-संघातरूप मानकर) यों उत्तर दे—'हे देवगण ! जो पञ्चदशकलात्मक—शुक्ल और कृष्णपक्षके हेतुभूत, श्रद्धाद्वारा प्रकट, पितृलोकस्वरूप एवं नाना प्रकारके भोग प्रदान करनेमें समर्थ हैं, उन चन्द्रमाके निकटसे प्रादुर्भूत होकर पुरुषरूप अग्निमें स्थापित हुआ जो श्रद्धा, सोम, वृष्टि और अन्नका परिणाम-भूत वीर्य है, उस वीर्यके ही रूपमें स्थित हुए मुझ अनुशयी जीवको तुमने वीर्याधान करनेवाले पुरुषमें प्रेरित किया। तत्पश्चात् गर्भाधान करनेवाले पुरुष (पिता) के द्वारा तुमने मुझे माताके गर्भमें भी स्थापित करवाया। कुछ संवत्सरोंतक जीवन धारण करनेवाले पिताके साथ मैं एकताको प्राप्त हुआ था। मैं स्वयं भी कुछ संवत्सरोंतक ही जीवन धारण करनेवाला होकर ब्रह्मज्ञान अथवा उसके विपरीत मिथ्याज्ञानके निमित्त योनिविशेष-में शरीर धारण करके स्थित हूँ। इसलिये अब मुझे अमृतत्वकी प्राप्तिके साधनभूत ब्रह्मज्ञानके लिये अनेक ऋतुओं (वर्षों) तक अक्षय रहनेवाली दीर्घ आयु प्रदान करें—ब्रह्मसाक्षात्कार-पर्यन्त मेरे दीर्घजीवनके लिये चिरस्थायिनी आयुकी पुष्टि करें। क्योंकि यह जानकर मैं देवताओंसे प्रार्थना करता हूँ, अतः उसी सत्यसे, उसी तपस्यासे, जिनका मैं अभी उल्लेख कर आया हूँ, मैं ऋतु हूँ—संवत्सरादिरूप मरणधर्मा मनुष्य हूँ। आर्तव हूँ—ऋतु अर्थात् रज-वीर्यसे उत्पन्न देह हूँ। यदि ऐसी बात नहीं है तो आप ही कृपापूर्वक बतायें, मैं कौन हूँ ? क्या जो आप हैं, वही मैं भी हूँ ?' उसके इस प्रकार कहनेपर संसार-भयसे डरे हुए उस शिष्यको गुरु ब्रह्मविद्याके उपदेश-द्वारा भवसागरसे पार करके बन्धनमुक्त कर देता है ॥ २ ॥

वह परब्रह्मका उपासक पूर्वोक्त देवयान-मार्गपर पहुँचकर पहले अग्निलोकमें आता है, फिर वायुलोकमें आता है; वहाँसे वह सूर्यलोकमें आता है, तदनन्तर वरुणलोकमें आता है; तत्पश्चात् वह इन्द्रलोकमें आता है, इन्द्रलोकसे प्रजापति-लोकमें आता है तथा प्रजापतिलोकसे ब्रह्मलोकमें आता है। इस प्रसिद्ध ब्रह्मलोकके प्रवेश-पथपर पहले 'आर' नामसे प्रसिद्ध एक महान् जलाशय है। (यह उस मार्गका विघ्न है, काम-क्रोधादि अरियों—शत्रुओंद्वारा निर्मित होनेसे ही उसका नाम 'आर' पड़ा है।) उस जलाशयसे आगे मुहूर्ताभिमानी* देवता हैं, जो काम-क्रोध आदिकी प्रवृत्ति उत्पन्न करके ब्रह्म-लोक-प्राप्तिके अनुकूल की हुई उपासना और यज्ञ-यागादिके पुण्यको नष्ट करनेके कारण 'येष्टिह†' कहलाते हैं। उससे आगे विजरा नदी है, जिसके दर्शनमात्रसे जरावस्था दूर हो जाती है। (यह नदी उपासनारूपा ही है।) उससे आगे 'इल्य' नामक वृक्ष है। 'इला' पृथिवीका नाम है, उसका ही स्वरूप होनेसे उसका नाम 'इल्य' है। उससे आगे अनेक देवताओं-द्वारा सेव्यमान उद्यान, बावली, कुएँ, तालाब और नदी आदि भाँति-भाँतिके जलाशयोंसे युक्त एक नगर है, जिसके एक ओर तो विरजा नदी है और दूसरी ओर प्रत्यञ्चाके आकारका (अर्द्धचन्द्राकार) एक परकोटा है। उसके आगे ब्रह्माजीका निवासभूत विशाल मन्दिर है, जो 'अपराजित' नामसे प्रसिद्ध है। सूर्यके समान तेजोमय होनेके कारण वह कभी किसीके द्वारा पराजित नहीं होता। मेघ और यज्ञरूपसे उपलक्षित वायु और आकाशरूप इन्द्र और प्रजापति उस ब्रह्म-मन्दिरके द्वाररक्षक हैं।

वहाँ 'विभुप्रमित' नामक सभामण्डप है (जो अहङ्कार-स्वरूप है)। उसके मध्यभागमें जो वेदी (चबूतरा) है, वह 'विचक्षणा' नामसे प्रसिद्ध है। (बुद्धि और महत्तत्त्व आदि

* दो घड़ी (४८ मिनट) के कालको मुहूर्त कहते हैं।

† य इष्टिं घ्नन्ति (जो इष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचाते हैं।)

नामोंसे भी उसका प्रतिपादन होता है।) वह अत्यन्त विलक्षण है। जिसके बलका कोई माप नहीं है, वह 'अमितौजाः' प्राण ही ब्रह्माजीका सिंहासन—पलँग है। मानसी (प्रकृति) उनकी प्रिया है। वह मनकी कारणभूता अथवा मनको आनन्दित करनेवाली होनेसे ही मानसी कहलाती है। उसके आभूषण भी उसीके स्वरूपभूत हैं। उसकी छायामूर्ति 'चाक्षुषी' नामसे प्रसिद्ध है। वह तैजस नेत्रोंकी प्रकृति होनेके कारण अत्यन्त तेजोमयी है। उसके आभूषणादि भी उसीके समान तेजोमय हैं। जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज—इन चतुर्विध प्राणियोंका नाम जगत् है। यह सम्पूर्ण जगत्—जड-चेतन-समुदाय ब्रह्माजीकी वाटिकाके पुष्प तथा उनके धौत एवं उत्तरीयरूप युगल वस्त्र हैं। वहाँकी अप्सराएँ—साधारण युवतियाँ 'अम्बा' और 'आम्बायवी' नामसे प्रसिद्ध हैं। जगज्जननी श्रुतिरूपा होनेसे वे 'अम्बा' कहलाती हैं। तथा 'अम्ब' (अधिक) और अयव (न्यून) भावसे रहित बुद्धि-रूपा होनेसे उनका नाम 'आम्बायवी' है। इसके सिवा वहाँ 'अम्बया' नामकी नदियाँ बहती हैं। अम्बक (नेत्र) रूप ब्रह्मज्ञानकी ओर ले जानेके कारण उनकी 'अम्बया' (अम्बम्—अम्बकम् लक्ष्यीकृत्य यान्ति) संज्ञा है। उस ब्रह्मलोकको जो इस प्रकार जानता है, वह उसीको प्राप्त होता है। उसे जब कोई अमानव पुरुष आदित्यलोकसे ले आता है, उस समय ब्रह्माजी अपने परिचारकों और अप्सराओंसे कहते हैं—'दौड़ो, उस महात्मा पुरुषका मेरे यशके—मेरी प्रतिष्ठाके अनुकूल स्वागत करो; मेरे लोकमें ले आनेवाली उपासना आदिसे निश्चय ही यह उस विजरा नदीके समीपतक आ पहुँचा है, अवश्य ही अब यह कभी जरावस्थाको नहीं प्राप्त होगा' ॥ ३ ॥

ब्रह्माजीका यह आदेश मिलनेपर उसके पास स्वागतके लिये पाँच सौ अप्सराएँ जाती हैं। उनमेंसे सौ अप्सराएँ तो हाथोंमें हल्दी, केसर और रोली आदिके चूर्ण लिये रहती हैं। सौके हाथोंमें भाँति-भाँतिके दिव्य वस्त्र एवं अलङ्कार होते हैं। सौ अप्सराएँ हाथोंमें फल लिये होती हैं। सौके हाथोंमें नाना प्रकारके दिव्य अङ्गराग होते हैं। तथा सौ अप्सराएँ अपने हाथोंमें भाँति-भाँतिकी मालाएँ लिये होती हैं। वे उस महात्माको ब्रह्मोचित अलङ्कारोंसे अलङ्कृत करती हैं। वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्माजीके योग्य अलङ्कारोंसे अलङ्कृत हो ब्रह्माजीके स्वरूपको ही प्राप्त कर लेता है। फिर वह 'आर' नामक जलाशयके पास आता है और उसे मनके द्वारा—सङ्कल्पसे ही लाँघ जाता है। उस जलाशयतक पहुँचनेपर भी अज्ञानी मनुष्य उसमें डूब जाते हैं। फिर वह ब्रह्मवेत्ता मुहूर्ताभिमानी 'येष्टिह' नामक देवताओंके पास आता है; किंतु वे विघ्नकारी देवता उसके पाससे भाग खड़े होते हैं। तत्पश्चात् वह विजरा नदीके तटपर आता है और उसे भी सङ्कल्पसे ही पार कर लेता है। वहाँ वह पुण्य और पापोंको झाड़ देता है।

जो उसके प्रिय कुटुम्बी होते हैं, वे तो उसका पुण्य पाते हैं; और जो उससे द्वेष करनेवाले होते हैं, उन्हें उसका पाप मिलता है। उस विषयमें यह दृष्टान्त है। रथसे यात्रा करने-वाला पुरुष रथको दौड़ाता हुआ रथके दोनों चक्कोंको देखता है; उस समय रथचक्रोंका जो भूमिसे संयोग-वियोग होता है, वह उस द्रष्टाको नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार वह ब्रह्मवेत्ता रात और दिनको देखता है, पुण्य और पापको देखता है, तथा अन्य समस्त द्वन्द्वोंको देखता है; द्रष्टा होनेके कारण ही उसका इनसे सम्बन्ध नहीं होता। अतएव यह पुण्य और पापसे रहित होता है। फलतः वह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको ही प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

तब वह इल्य वृक्षके पास आता है, उसकी नासिकामें ब्रह्मगन्धका प्रवेश होता है। (वह गन्ध इतनी दिव्य है कि उसके सामने अन्य लोकोंकी सुगन्ध दुर्गन्धवत् प्रतीत होती है।) फिर वह सालज्य नगरके समीप आता है; वहाँ उसकी रसनामें उस दिव्यातिदिव्य ब्रह्मरसका प्रवेश (अनुभव) होता है, जिसका उसे पहले कभी अनुभव नहीं हुआ रहता। फिर वह 'अपराजित' नामक ब्रह्म-मन्दिरके समीप आता है, वहाँ उसमें ब्रह्मतेज प्रवेश करता है। तत्पश्चात् वह द्वार-रक्षक इन्द्र और प्रजापतिके पास आता है; वे उसके सामनेसे मार्ग छोड़कर हट जाते हैं। तदनन्तर वह 'विभुप्रमित' नामक सभा-मण्डपमें आता है; वहाँ उसमें ब्रह्मयश प्रवेश करता है। फिर वह 'विचक्षणा' नामक वेदीके पास आता है। 'बृहत्' और 'रथन्तर'—ये दो साम उसके दोनों अगले पाये हैं और 'श्यैत' एवं 'नौधस' नामक साम उसके दोनों पिछले पाये हैं। 'वैरूप' और 'वैराज' नामक साम उसके दक्षिण और उत्तर पार्श्व हैं तथा 'शाक्कर' और 'रैवत' साम उसके पूर्व एवं पश्चिम पार्श्व हैं। वह समष्टि-बुद्धिरूपा है। वह ब्रह्मवेत्ता उस बुद्धिके द्वारा विशेष दृष्टि प्राप्त कर लेता है। फिर वह 'अमितौजाः' नामक पलँग (या सिंहासन) के पास आता है, वह पर्यङ्क प्राणस्वरूप है। भूत और भविष्य—ये दोनों काल उसके अगले पाये हैं और श्रीदेवी एवं भूदेवी—ये दोनों उसके पिछले पाये हैं। उसके दक्षिण-उत्तर भागमें जो 'अनूच्य' नामके दीर्घ खटवाङ्ग हैं, वे 'बृहत्' और 'रथन्तर' नामक साम हैं और पूर्व-

पश्चिम भागमें जो छोटे खट्वाङ्ग हैं, जिनपर मस्तक और पैर रक्खे जाते हैं, वे 'भद्र' और 'यज्ञायज्ञीय' नामक साम हैं। (सिरकी ओरका भाग ऊँचा और पैरकी ओरका भाग कुछ नीचा है।) पूर्वसे पश्चिमको जो बड़ी-बड़ी पाटियाँ लगी हैं, वे ऋक् और सामके प्रतीक हैं। तथा दक्षिण-उत्तरकी ओर जो आड़ी-तिरछी पाटियाँ हैं, वे यजुर्वेदस्वरूपा हैं। चन्द्रमाकी कोमल किरणें ही उस पलँगका नरम-नरम गद्दा हैं। उद्गीथ ही उसपर बिछी हुई उपश्री (श्वेत चादर) है। लक्ष्मीजी तकिया हैं। ऐसे दिव्य पर्यङ्कपर ब्रह्माजी विराजमान होते हैं। इस तत्त्वको इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मवेत्ता उस पलँगपर पहले पैर रखकर चढ़ता है।

तब ब्रह्माजी उससे पूछते हैं—'तुम कौन हो?' उनके प्रश्नका वह इस प्रकार उत्तर दे—॥ ५ ॥

'मैं वसन्त आदि ऋतुरूप हूँ। ऋतुसम्बन्धी हूँ। कारण-भूत अव्याकृत आकाश एवं स्वयंप्रकाश परब्रह्म परमात्मासे उत्पन्न हुआ हूँ। जो भूत (अतीत), भूत (यथार्थ कारण), भूत (जडचेतनमय चतुर्विध सर्ग) और भूत (पञ्चमहाभूतस्वरूप) है, उस संवत्सरका तेज हूँ। आत्मा हूँ। आप आत्मा हैं, जो आप हैं, वही मैं हूँ।' इस प्रकार उत्तर देनेपर ब्रह्माजी पुनः पूछते हैं—'मैं कौन हूँ?' इसके उत्तरमें कहे—'आप सत्य हैं।' 'जो सत्य है, जिसे तुम सत्य कहते हो, वह क्या है?' ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर दे—"जो सम्पूर्ण देवताओं तथा प्राणोंसे भी सर्वथा भिन्न—विलक्षण हो, वह 'सत्' है और जो देवता एवं प्राणरूप है, वह 'त्य' है। वाणीके द्वारा जिसे 'सत्य' कहते हैं, वह यही है। इतना ही यह सब कुछ है। आप यह सब कुछ हैं, इसलिये सत्य हैं" ॥ ६ ॥

यही बात ऋक्सम्बन्धी मन्त्रद्वारा भी बतायी गयी है—"यजुर्वेद जिसका उदर है, सामवेद मस्तक है तथा ऋग्वेद सम्पूर्ण शरीर है, वह अविनाशी परमात्मा 'ब्रह्मा' के नामसे जाननेयोग्य है। वह ब्रह्ममय—ब्रह्मरूप महान् ऋषि है।" तदनन्तर पुनः ब्रह्माजी उस उपासकसे पूछते हैं—'तुम मेरे पुरुषवाचक नामोंको किससे प्राप्त करते हो?' वह उत्तर दे—'प्राणसे।' (प्र०) 'स्त्रीवाचक नामोंको किससे ग्रहण करते हो?' (उ०) 'वाणीसे।' (प्र०) 'नपुंसकवाचक नामोंको किससे ग्रहण करते हो?' (उ०) 'मनसे।' (प्र०) 'गन्धका अनुभव किससे करते हो?' (उ०) 'प्राणसे—घ्राणेन्द्रियसे।' इस प्रकार कहे। (प्र०) 'रूपोंको ग्रहण किससे करते हो?' (उ०) 'नेत्रसे।' (प्र०) 'शब्दोंको किससे सुनते हो?' (उ०) 'कानोंसे।' (प्र०) 'अन्नके रसोंका आस्वादन किससे करते हो?' (उ०) 'जिह्वासे।' (प्र०) 'कर्म किससे करते हो?' (उ०) 'हाथोंसे।' (प्र०) 'सुख-दुःखोंका अनुभव किससे करते हो?' (उ०) 'शरीरसे।' * (प्र०) 'रतिका परिणामरूप आनन्द, रति (मैथुनका आनन्द) और प्रजोत्पत्तिका सुख किससे उठाते हो?' (उ०) 'उपस्थ-इन्द्रियसे' यों कहे। (प्र०) 'गमनकी क्रिया किससे करते हो?' (उ०) 'दोनों पैरोंसे।' (प्र०) 'बुद्धि-वृत्तियोंको, ज्ञातव्य विषयोंको और विविध मनोरथोंको किससे ग्रहण करते हो?' (उ०) 'प्रज्ञासे' यों कहे।

तब ब्रह्मा उससे कहते हैं—'जल आदि प्रसिद्ध पाँच महाभूत मेरे स्थान हैं; अतः यह मेरा लोक भी जलादि-तत्त्व-प्रधान ही है। तुम मुझसे अभिन्न मेरे उपासक हो, अतः यह तुम्हारा भी लोक है।'

वह जो ब्रह्माजीकी सुप्रसिद्ध विजय (सबपर नियन्त्रण करनेकी शक्ति) तथा सर्वत्र व्याप्ति—सर्वव्यापकता है, उस विजयको तथा उस सर्वव्यापकताको भी वह उपासक प्राप्त कर लेता है, जो इस प्रकार जानता (उपासना करता) है। अर्थात् ब्रह्माजीकी भाँति ही वह सबका शासक एवं सर्वव्यापक बन जाता है ॥ ७ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

* यद्यपि सुख-दुःखका ज्ञान अन्तःकरणके द्वारा ही होता है, तथापि 'मेरे पैरमें पीड़ा है, सिरमें दर्द है' इत्यादि प्रतीतिके अनुसार 'शरीरसे' यह उत्तर दिया गया है।

ॐ

द्वितीय अध्याय

प्राणोपासना

'प्राण ब्रह्म है' यह सुप्रसिद्ध ऋषि कौषीतकि* कहते हैं। उन प्रसिद्ध प्राणमय ब्रह्मकी यहाँ राजाके रूपमें कल्पना की गयी है। उनका मन ही दूत है, वाणी परोसनेवाली स्त्री (रानी) है, चक्षु संरक्षक (मन्त्री) है, श्रोत्रेन्द्रिय संदेश सुनानेवाला द्वारपाल है। उन सुप्रसिद्ध प्राणमय ब्रह्मको विना माँगे ही ये सम्पूर्ण इन्द्रियाभिमानी देवतागण भेंट समर्पित करते हैं—उनके अधीन होकर रहते हैं। इसी प्रकार जो इस प्रकार जानता है, उसको भी सम्पूर्ण चराचर प्राणी विना माँगे ही भेंट देते हैं। उस प्राणोपासकके लिये यह गूढ़ व्रत है कि 'वह किसीसे कुछ भी न माँगे'—ठीक उसी तरह, जैसे कोई भिक्षु गाँवमें भीख माँगनेपर भी जब कुछ नहीं पाता तो हताश होकर बैठ रहता और कुपित होकर यह प्रतिज्ञा कर लेता है कि 'अबसे इस गाँववाले लोगोंके देनेपर भी यहाँका अन्न नहीं खाऊँगा।' तात्पर्य यह कि वह भिक्षु जिस दृढ़तासे अपनी बातपर डटा रहता है, उसी प्रकार उसको भी अपने व्रतपर अटल रहना चाहिये। जो लोग पहले इस पुरुषको कुछ देनेसे अस्वीकार कर चुके होते हैं, वे ही कुछ न माँगनेका निश्चय कर लेनेपर इसे देनेके लिये निमन्त्रित करते हैं और कहते हैं, 'आओ, हम तुम्हें देते हैं।' दीनतापूर्वक दूसरोंके सामने प्रार्थना करना—यह याचकका धर्म होता है। अर्थात् याचना करनेवालेको ही दैन्य-प्रदर्शन करना पड़ता है। याचना और दैन्य-प्रदर्शनसे दूर रहनेपर ही उसे लोग यों निमन्त्रण देते हैं कि 'आओ, हम तुम्हें देंगे'॥ १॥

'प्राण ब्रह्म है'—प्रसिद्ध महात्मा पैङ्ग्य भी यही कहते हैं। उन प्रसिद्ध प्राणमय ब्रह्मके लिये वाणीसे परे चक्षु-इन्द्रिय है, जो वागिन्द्रियको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है। (अतः चक्षु वागिन्द्रियकी अपेक्षा आन्तरिक है; क्योंकि जैसा कहा गया हो, वैसा ही नेत्रसे भी देख लिया जाय तो विवादकी सम्भावना नहीं रहती—वह वस्तु यथार्थ समझ ली जाती है।) चक्षुसे परे श्रवणेन्द्रिय है, जो चक्षुको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है; (क्योंकि चक्षुसे कहीं-कहीं भ्रान्त-दर्शन भी होता है, जैसे सीपमें चाँदीका दर्शन। परंतु कानसे विद्यमान अथवा प्रस्तुत वचनका ही श्रवण होता है।) श्रवणेन्द्रियसे परे मन है, जो श्रवणेन्द्रियको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है; क्योंकि मनके सावधान रहनेपर ही श्रवणेन्द्रिय सुन पाती है। मनसे परे प्राण है, जो मनको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है। (प्राण ही मनको बाँध रखनेवाला है—यह बात प्रसिद्ध है। प्राण न रहे तो मन भी नहीं रह सकता; अतः सबकी अपेक्षा पर एवं आन्तरिक आत्मा होनेके कारण प्राणका ब्रह्म होना उचित ही है।) उस प्राणमय ब्रह्मको ये सम्पूर्ण देवता उसके न माँगनेपर भी उपहार समर्पित करते हैं। इसी प्रकार जो यों जानता है, उस उपासकको भी सम्पूर्ण प्राणी बिना माँगे ही भाँति-भाँतिके उपहार भेंट करते हैं। उसका यह गूढ़ व्रत है कि वह किसीसे याचना न करे। इस विषयमें यह दृष्टान्त भी है—कोई भिक्षु गाँवमें भीख माँगनेपर भी जब कुछ नहीं पाता तो हताश होकर बैठ रहता और यह प्रतिज्ञा कर लेता है कि 'अब यहाँ किसीके देनेपर भी अन्न ग्रहण नहीं करूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा कर लेनेपर जो लोग पहले उसे कुछ देनेसे अस्वीकार कर चुके होते हैं, वे ही उसे यों कहकर निमन्त्रित करते हैं कि 'आओ, हम तुम्हें देते हैं'॥ २॥

(प्राणोपासकको धन-प्राप्तिकी इच्छा होनेपर उसके लिये कर्तव्यका उपदेश करते हैं—) अब एकमात्र धन (प्राण) के निरोधकी बात बतायी जाती है। यदि एकमात्र धनका (अथवा प्राणका) चिन्तन करे तो पूर्णिमाको या अमावास्याको अथवा शुक्ल या कृष्णपक्षकी किसी भी पुण्य-तिथिको पवित्र नक्षत्रमें अग्निकी स्थापना, (वेदीका) परिसमूहन (संस्कार), कुशोंका आस्तरण (बिछाना), मन्त्रपूत जलसे अग्नि-वेदी आदिका अभिषेक तथा अग्निपर रक्खे हुए पात्रस्थ घृतका उत्पवन (शोधन) करके दाहिना घुटना पृथ्वीपर टेककर स्रुवासे, चमससे अथवा काँसेकी करछुल आदिसे निम्नाङ्कित मन्त्रोंद्वारा घृतकी ये आहुतियाँ दे—

वाङ् नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् ( )
इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

अर्थात् 'वाक्' नामसे प्रसिद्ध देवी अवरोधिनी—उपासककी अभीष्टसिद्धि करनेवाली है, वह मुझ प्राणोपासकके लिये अमुक व्यक्तिसे इस अभीष्ट अर्थकी सिद्धि कराये; उसके लिये यह घृतकी आहुति सादर समर्पित है। (उपर्युक्त

* जिसकी दृष्टिमें सांसारिक सुख अत्यन्त हेय हो, उसे 'कुषीतक' (कुत्सितं सीतं यस्य सः) कहते हैं और कुषीतकके पुत्रको 'कौषीतकि' कहते हैं।

मन्त्रका उच्चारण करके 'अमुष्मात्'के आगे दिये हुए कोष्ठकमें उस व्यक्तिके नामका उल्लेख करे, जिससे अभीष्ट अर्थ प्राप्त करना है। तथा 'इदम्'के स्थानपर अभीष्ट अर्थका उच्चारण करे। आगेके मन्त्रोंका अर्थ भी इसी प्रकार समझना चाहिये।)

प्राणो नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

चक्षुर्नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

श्रोत्रं नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

मनो नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

प्रज्ञा नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

इस प्रकार आहुतियाँ देनेके पश्चात् धूमगन्धको सूँघकर होमावशिष्ट घृतके लेपसे अपने अङ्गोंका अनुमार्जन (लेपन) करके मौनभावसे धनस्वामीके पास जाय और अभीष्ट अर्थके विषयमें कहे कि 'इतने धनकी मुझे आवश्यकता है, सो आपके यहाँसे मिल जाना चाहिये।' अथवा यदि धनस्वामी दूर हो तो उक्त संदेश कहलानेके लिये उसके पास दूत भेज दे। यों करनेसे निश्चय ही वह अभीष्ट धन प्राप्त कर लेता है॥ ३॥

(इस प्रकार धन-प्राप्तिका उपाय बताकर अब उपासकके लिये वशीकरणका उपाय बतलाते हैं—)

अब इसके बाद वाक् आदि देवताओंद्वारा साध्य मनोरथकी सिद्धिका प्रकार बताया जाता है। जिस किसीका प्रिय होना चाहे, निश्चय ही उन सबका प्रिय होनेके लिये पहले प्राणोपासकको वाक् आदि देवताओंका ही प्रिय बनना चाहिये। किसी एक पर्वके दिन पूर्वोक्त रीतिसे शुभ पुण्यतिथि एवं मुहूर्तमें पहले बताये अनुसार ही अग्निकी स्थापना, परिसमूहन, कुशोंका आस्तरण, अग्निवेदी आदिका अभिषेक, घृतका उत्पवन आदि करके निम्नाङ्कित मन्त्रोंसे ये घृतकी आहुतियाँ दे—

वाचं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।

(इस मन्त्रका उच्चारण करनेके पहले उस व्यक्तिका नाम लेना चाहिये, जिसको वशमें करना हो; यथा—'अमुकगोत्रस्य अमुकनामधेयस्य राज्ञः, अमुकगोत्राया अमुकनामधेयाया राज्ञ्या वा वाचं ते मयि जुहोमि असौ स्वाहा' यों कहकर घृतकी आहुति डालनी चाहिये। 'असौ' के बाद कार्यका उल्लेख करना आवश्यक है—'यथा असौ कामः सिद्ध्यतु—स्वाहा)।

मन्त्रार्थ—मैं तुम्हारी वाक्-इन्द्रियका अपनेमें हवन करता हूँ, मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जाय—इस उद्देश्यसे यह आहुति है। (इसी प्रकार अन्य मन्त्रोंका भी अर्थ समझना चाहिये।)

प्राणं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
चक्षुस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
श्रोत्रं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
मनस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
प्रज्ञां ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।

इसके बाद होम-धूमकी गन्ध सूँघकर होमावशिष्ट घृतके लेपसे अपने अङ्गोंका अनुमार्जन (लेपन) करके मौनभावसे अभीष्ट व्यक्तिके पास गमन करे और उसके संपर्कमें जानेकी इच्छा करे। अथवा ऐसी जगह खड़ा रहकर वार्तालाप करे, जहाँ वायुकी सहायतासे उसके शब्द अभीष्ट व्यक्तिके कानोंमें पड़ें। फिर तो निश्चय ही वह उसका प्रिय हो जाता है। इतना ही नहीं, उस स्थानसे हट जानेपर वहाँके लोग उसका सदा स्मरण करते हैं॥ ४॥

आध्यात्मिक अग्निहोत्र

अब इसके बाद दिवोदासके पुत्र प्रतर्दनद्वारा अनुष्ठित, अतएव 'प्रातर्दन' नामसे विख्यात और संयमसे पूर्ण होनेसे 'सांयमन' कहलानेवाले आध्यात्मिक अग्निहोत्रका वर्णन करते हैं। निश्चय ही मनुष्य जबतक कोई वाक्य बोलता है, तबतक पूर्णतया श्वास नहीं ले सकता। उस समय वह प्राणका वाणीरूप अग्निमें हवन कर देता है। जबतक पुरुष श्वास खींचता है, तबतक बोल नहीं सकता; उस समय वह वाणीका प्राणरूप अग्निमें हवन कर देता है।

ये वाक् और प्राणरूप दो आहुतियाँ अनन्त एवं अमृत हैं। (वाक् और प्राणके व्यापारोंका जीवनमें कभी अन्त नहीं होता, इसलिये ये अनन्त हैं। तथा इनके व्यापारोंका जो एक-दूसरेमें लय होता है, उसमें अग्निहोत्र-बुद्धि हो जानेसे ये आहुतियाँ अमृतत्वरूप फलको देनेवाली होती हैं; इसलिये इन्हें 'अमृत' कहा गया है।) जाग्रत् और स्वप्नकालमें भी पुरुष सदा अविच्छिन्नरूपसे इन आहुतियोंका होम करता रहता है। इसके सिवा अर्थात् वाक्-प्राणरूपा आहुतियोंके अतिरिक्त जो दूसरी द्रव्यमयी आहुतियाँ हैं, वे कर्ममयी हैं

(स्वरूपसे और फलकी दृष्टिसे भी कृत्रिम हैं; वे पूर्वोक्त आहुतियोंकी भाँति अनन्त एवं अमृत नहीं हैं ।) यह प्रसिद्ध है कि इस रहस्यको जाननेवाले पूर्ववर्ती विद्वान् केवल कर्ममय अग्निहोत्रका अनुष्ठान नहीं करते थे ॥ ५ ॥

'उक्थ (प्राण) ब्रह्म है'—यह बात सुप्रसिद्ध महात्मा शुष्कभृङ्गार कहते हैं । वह उक्थ 'ऋक्' है, इस बुद्धिसे उपासना करे । जो प्राणरूप उक्थमें ऋग्बुद्धि कर लेता है, उसकी सम्पूर्ण प्राणी श्रेष्ठताके लिये—श्रेष्ठ बननेके लिये अर्चना करते हैं । वह उक्थ 'यजुर्वेद' है, इस बुद्धिसे उपासना करे । इससे सम्पूर्ण प्राणी श्रेष्ठताके लिये उसके साथ सहयोग करते हैं । वह उक्थ 'साम' है, इस बुद्धिसे उपासना करे । उस उपासकके समक्ष सम्पूर्ण प्राणी श्रेष्ठताके लिये मस्तक झुकाते हैं । वह उक्थ 'श्री' है, इस बुद्धिसे उपासना करे । वह 'यश' है, इस भावसे उपासना करे । वह 'तेज' है, इस भावसे उपासना करे । इस विषयमें यह दृष्टान्त है—जैसे यह दिव्य धनुष सम्पूर्ण आयुधोंमें अत्यन्त श्रीसम्पन्न, परम यशस्वी और परम तेजस्वी होता है, उसी प्रकार जो इस प्रकार जानता है वह विद्वान् सम्पूर्ण भूतोंमें सबसे अधिक श्रीसम्पन्न, परम यशस्वी तथा परम तेजस्वी होता है ।

(जो यहाँ ईंटोंकी बनी हुई वेदी अथवा कुण्डमें स्थापित किया गया है, वह यज्ञकर्मका साधनभूत अग्नि भी प्राणस्वरूप ही है; क्योंकि प्राण ही ऋग्वेदादिरूप है । यह प्राण ही ऋग्वेदादि-साध्य कर्मोंका निष्पादक तथा मुझ अध्वर्युका भी स्वरूप है । इसलिये ऋग्वेदादिस्वरूप सर्वात्मा प्राण मैं हूँ, यह अग्नि भी मेरा ही स्वरूप है—इस बुद्धिसे अध्वर्यु अपना संस्कार करता है । इसी अभिप्रायसे कहते हैं—) इस प्राणको तथा ईंटोंकी वेदीपर संचित कर्ममय अग्निको भी अभिन्न एवं आत्मस्वरूप मानकर अध्वर्यु नामक ऋत्विक् अपना संस्कार करता है । उस प्राणमें ही वह यजुर्वेदसाध्य कर्मोंका विस्तार करता है । यजुर्वेदसाध्य कर्म-वितानमें होता ऋग्वेदसाध्य कर्मोंका विस्तार करता है । ऋग्वेदसाध्य कर्म-वितानमें उद्गाता सामवेदसाध्य कर्मोंका विस्तार करता है । वह अध्वर्युरूप यह प्राण सम्पूर्ण त्रयी-विद्याका आत्मा है । यह प्रत्यक्षगोचर प्राण ही इस त्रयी-विद्याका आत्मा बताया गया है । जो इस प्राणको इस रूपमें जानता है, वह भी प्राणरूप हो जाता है ॥ ६ ॥

विविध उपासनाओंका वर्णन

अब सर्वविजयी कौषीतकिके द्वारा अनुभवमें लायी हुई तीन बार की जानेवाली उपासना बतायी जाती है । यज्ञोपवीतको सव्यभावसे—बायें कंधेपर रखकर, आचमन करके जलपात्रको तीन बार शुद्ध-स्वच्छ जलसे पूर्णतः भरकर उदयकालमें भगवान् सूर्यका उपस्थान करे, उनकी आराधनाके लिये खड़ा होकर अर्घ्य दे (अर्घ्य देते समय इस मन्त्रका उच्चारण करे—) 'वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धि ।' (आत्मज्ञान होनेके कारण सम्पूर्ण जगत्को आप तृणकी भाँति त्याग देते हैं, इसलिये 'वर्ग' कहलाते हैं; मेरे पापको मुझसे दूर कीजिये ।) इसी प्रकार मध्याह्नकालमें भी भगवान् सूर्यका उपस्थान करे । (उस समय इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये—) 'उद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे उद्वृङ्धि ।' (इस मन्त्रका अर्थ भी पूर्ववत् ही है ।) फिर इसी प्रकार सायंकालमें अस्त होते हुए भगवान् सूर्यका निम्नाङ्कित मन्त्रसे उपस्थान करे—'संवर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्धि ।' इस उपासनाका फल यह है कि मनुष्य दिन और रातमें जो पाप करता है, उसका पूर्णतः परित्याग कर देता है ॥ ७ ॥

अब दूसरी उपासना बतायी जाती है । प्रत्येक मासकी अमावास्या तिथिको, जब सूर्यके पश्चिमभागमें उनकी सुषुम्णा नामक किरणमें चन्द्रमा स्थित दिखायी देते हैं (लौकिक नेत्रोंसे न दिखायी देनेपर भी शास्त्रतः देखे जाते हैं), उस समय उनका पूर्वोक्त प्रकारसे ही उपस्थान करे । विशेषता इतनी ही है कि अर्घ्यपात्रमें दो हरी दूबके अङ्कुर भी रख ले और उससे अर्घ्य देते हुए चन्द्रमाके प्रति 'यत्ते' इत्यादि मन्त्ररूपा वाणीका प्रयोग करे । (वह मन्त्र इस प्रकार है—)

यत्ते सुसीमं हृदयमधि चन्द्रमसि श्रितं तेनामृतत्वस्येशानं माहं पौत्रमघं रुदम् ।

'हे सोममण्डलकी अधिष्ठात्री देवि ! जिसकी सीमा बहुत ही सुन्दर है, ऐसा जो तुम्हारा हृदय—हृदयस्थित आनन्दमय स्वरूप चन्द्रमण्डलमें विराजित है, उसके द्वारा तुम अमृतत्व (परमानन्दमय मोक्ष) पर भी अधिकार रखती हो । ऐसी कृपा करो, जिससे मुझे पुत्रके शोकसे न रोना पड़े ।' (पुत्रका पहलेसे ही अभाव होना, पुत्रका पैदा होकर मर जाना या रुग्ण रहना अथवा पुत्रका कुपुत्र हो जाना आदिके कारण जो घोर दुःख होता है, यही पुत्र-शोक है; इन सबसे छूटनेके लिये इस मन्त्रमें प्रार्थना की गयी है ।)

यों करनेवाले उपासकको यदि पुत्र प्राप्त हो चुका हो तो उसके उस पुत्रकी उससे पहले मृत्यु नहीं होती । यदि उसके कोई पुत्र न हुआ हो, तो वह भी पहलेकी ही भाँति

सब कार्य करके अर्घ्यपात्रमें दो हरी दूबके अङ्कुर भी रख ले और निम्नाङ्कित ऋचाओंका जप करे—

'आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यं भवा वाजस्य संगथे।'१
'सं ते पयांसि समु यन्तु वाजा संवृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व ॥'२
'यमादित्या अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षितयः पिबन्ति।
तेन नो राजा वरुणो बृहस्पतिराप्याययन्तु भुवनस्य गोपाः ॥'३

—इन तीन ऋचाओंका जप करनेके पश्चात् चन्द्रमाके सम्मुख दाहिना हाथ उठाये और निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ करे—

मास्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिराप्याययिष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिराप्यायस्व इति दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावृतमन्वावर्ते इति।४

—यों कहकर अपनी दाहिनी बाँहका अन्वावर्तन करे—बारंबार घुमाये। तत्पश्चात् बाँह खींच ले ॥ ८ ॥

अब अन्य प्रकारकी उपासना बतायी जाती है—पूर्णिमाको सायंकालमें जब प्राची दिशाके अङ्कमें चन्द्रदेवका दर्शन होने लगे, उस समय इसी रीतिसे (जो पहले बतायी गयी है) चन्द्रमाका उपस्थान करे—उन्हें अर्घ्य प्रदान करे। उपस्थानके समय निम्नाङ्कित मन्त्रोंका पाठ भी करे—

सोमो राजासि विचक्षणः पञ्चमुखोऽसि प्रजापतिर्ब्राह्मणस्त एकं मुखं तेन मुखेन राज्ञोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। राजा त एकं मुखं तेन मुखेन विशोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। श्येनस्त एकं मुखं तेन मुखेन पक्षिणोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। अग्निष्ट एकं मुखं तेन मुखेनेमं लोकमत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। त्वयि पञ्चमं मुखं तेन मुखेन सर्वाणि भूतान्यत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। मास्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षेष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षीयस्वेति, दैवीमावृतमावर्त, आदित्यस्यावृतमन्वावर्ते।५

इस प्रकार मन्त्रपाठ करते हुए दाहिनी बाँहका अन्वावर्तन करे ॥ ९ ॥

इस तरह सोमकी प्रार्थनाके पश्चात् (गर्भाधानके लिये)

---

१. हे स्त्रीरूप सोम! तुम पुरुषरूप सूर्यके तेजसे वृद्धिको प्राप्त होओ। पुरुषकी उत्पत्तिका हेतुभूत जो वीर्य—अग्निसम्बन्धी तेज है, वह तुममें स्थापित हो। (तुम अन्न आदि ओषधियोंके भी स्वामी हो, अतः) सब ओरसे अन्नकी प्राप्तिमें निमित्त बनो।

२. हे सोम! तुम सोममयी प्रकृति हो; तुम्हारा उत्तम दुग्ध अथवा जल (जो माताके स्तनोंमें दुग्धरूपसे, चन्द्रमण्डलमें सोमरस अथवा सुधारूपसे तथा मेघमण्डलमें स्वादिष्ट जलके रूपमें स्थित है) पुरुषमात्रके लिये अत्यन्त उपकारक है तथा उसका सेवन करनेवाले पुरुषोंको पुष्टि प्रदान करके उनके शत्रुओंका पराभव करानेमें भी समर्थ है। वे दुग्ध और जल अन्नसे जीवन-निर्वाह करनेवाले—निरामिषभोजी जीवोंको सुगमतापूर्वक प्राप्त होते रहें। आग्नेय तेजसे आह्लादको प्राप्त होते हुए तुम अमृतत्वकी प्राप्तिमें सहायक बनो और स्वर्गलोकमें उत्तम यशको धारण करो।

३. द्वादश आदित्यरूप पुरुष जिस स्त्री-प्रकृतिमय अमृतांशु सोमको अपने तेजसे आह्लाद प्रदान करते हैं तथा स्वयं अक्षीण रहकर कभी क्षीण न होनेवाले जिस सोमका (दुग्ध और जलके रूपमें) पान करते हैं, उस सोममय अंशुसे, त्रिभुवनकी रक्षा करनेवाले राजा वरुण और बृहस्पति हमलोगोंको आनन्द एवं पुष्टि प्रदान करें।

४. 'हे सोम! तुम हमारे प्राण, संतान और पशुओंसे अपनी पुष्टि एवं तृप्ति न करो; अपितु जो हमसे द्वेष रखता है, अतएव हम भी जिससे द्वेष रखते हैं, उसके प्राणसे, संतानसे और पशुओंसे अपनी पुष्टि एवं तृप्ति करो। इस प्रकार इस मन्त्रके अर्थभूत देवतासे सम्पादित होनेवाली संचरण-क्रियाका मैं अनुवर्तन करता हूँ—उसीका चलाया हुआ चलता हूँ। अग्नीषोमात्मक सोम! मैं तुम्हारी संचरणक्रियाका अनुवर्तन करता हूँ, अर्थात् तुम्हारी ही गतिका अनुसरण करता हूँ।'

५. विश्वकी स्त्री-पुरुषरूपा प्रकृति—उमाके साथ वर्तमान तुम सोम राजा हो। विचक्षण—सम्पूर्ण लौकिक, वैदिक कार्योंके साधनमें कुशल हो। तुम पञ्चमुख—पाँच मुखवाले हो। प्रजापति—समस्त प्रजाका पालन करनेवाले हो। ब्राह्मण तुम्हारा एक मुख है, उस मुखसे तुम क्षत्रियोंका भक्षण करते हो—दमन करते हो; उस मुखके द्वारा तुम मुझे अन्नको खाने और पचानेकी शक्तिसे सम्पन्न बनाओ। क्षत्रिय तुम्हारा एक मुख है, उस मुखसे तुम वैश्योंका भक्षण—शासन करते हो; उस मुखसे तुम मुझे अन्नका भक्षण करने और उसे पचानेकी शक्तिसे सम्पन्न बनाओ। बाज तुम्हारा एक मुख है, उस मुखसे तुम पक्षियोंका भक्षण—संहार करते हो; उस मुखसे मुझे अन्नका भोक्ता बनाओ। अग्नि तुम्हारा एक मुख है, उस मुखसे तुम इस लोकका भक्षण करते हो, उस मुखसे मुझे भी अन्नका भोक्ता बनाओ। पाँचवाँ मुख तो तुममें ही है, उस मुखसे तुम सम्पूर्ण प्राणियोंका भक्षण—संहार करते हो, उस मुखसे मुझे भी अन्नका भोक्ता बनाओ। तुम प्राण, संतान और पशुओंसे हमें क्षीण न करो; अपितु जो हमसे द्वेष रखता है, अतएव हम भी जिससे द्वेष रखते हैं, उसे प्राण, संतान एवं पशुओंसे क्षीण करो। (शेष मन्त्रका अर्थ ऊपरकी तरह समझना चाहिये।)

पत्नीके समीप बैठनेसे पूर्व उसके हृदयका स्पर्श करे। उस समय निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ करना चाहिये—

यत्ते सुसीमे हृदये हितमन्तः प्रजापतौ। मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं तेन माहं पौत्रमघं रुदम्।

'हे सुन्दर सीमन्त (माँग) वाली सुन्दरी! तुम सोममयी हो, तुम्हारा हृदय (स्तन-मण्डल) प्रजा—संततिका पालक (पोषक) है; उसके भीतर जो चन्द्रमण्डलकी ही भाँति अमृतराशि निहित है, उसे मैं जानता हूँ, अपनेको उसका जाननेवाला मानता हूँ। इस सत्यके प्रभावसे मैं कभी पुत्र-सम्बन्धी शोकसे रोदन न करूँ (मुझे पुत्रशोक कभी देखना न पड़े)।'

इस प्रकार प्रार्थना करनेसे उस उपासकके पहले उसकी संतानकी मृत्यु नहीं होती ॥ १० ॥

अब दूसरी उपासना बतायी जाती है—परदेशमें रहकर वहाँसे लौटा हुआ पुरुष पुत्रके मस्तकका स्पर्श करे और इस मन्त्रको पढ़े—

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा त्वं पुत्र* माऽऽविथ स जीव शरदः शतम् असौ॥

'अमुक नामवाले पुत्र! तुम नरकसे तारनेवाले हो। मेरे अङ्ग-अङ्गसे प्रकट हुए हो। मेरे हृदयसे तुम्हारा आविर्भाव हुआ है। तुम मेरे अपने ही स्वरूप हो। तुमने मेरी (नरकसे) रक्षा की है। तुम सौ वर्षोंतक जीवित रहो।'

यहाँ 'असौ' के स्थानपर पुत्रका नाम उच्चारण करना चाहिये और नामोच्चारणके समय निम्नाङ्कित मन्त्र पढ़ना चाहिये—

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव। तेजो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् असौ।' †

यहाँ पुनः 'असौ' के स्थानपर पुत्रका नाम लेना चाहिये। साथ ही निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ भी करना चाहिये—

'येन प्रजापतिः प्रजाः पर्यगृह्णादरिष्ट्यै तेन त्वा परिगृह्णामि असौ।*

यहाँ भी 'असौ' के स्थानपर पुत्रका नामोच्चारण करे। तत्पश्चात् पुत्रके दाहिने कानमें इस मन्त्रका जप करे—

अस्मै प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्, इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि।†

फिर इसी मन्त्रको बायें कानमें भी जपे। तदनन्तर पुत्रका मस्तक सूँघे और इस मन्त्रको पढ़े—

माच्छित्था मा व्यथिष्ठाः शतं शरद आयुषो जीव पुत्र ते नाम्ना मूर्धानमवजिघ्रामि, असौ।

'बेटा! संतान-परम्पराका उच्छेद न करना। मन, वाणी और शरीरसे तुम्हें कभी पीड़ा न हो। तुम सौ वर्षोंतक जीवित रहो। मैं तुम्हारा अमुक नामसे प्रसिद्ध पिता तुम्हारा नाम लेकर तुम्हारे मस्तकको सूँघ रहा हूँ।' (यहाँ 'असौ' के स्थानपर पिता अपना नाम ले।) इस मन्त्रको पढ़कर तीन बार पुत्रका मस्तक सूँघना चाहिये। इसके बाद नीचे लिखा मन्त्र पढ़कर मस्तकके सब ओर तीन बार हिंकार ('हिम्' शब्दका) उच्चारण करे। मन्त्र इस प्रकार है—

गवां त्वा हिङ्कारेणाभि हिङ्करोमि।

'वत्स! गौएँ अपने बछड़ेको बुलानेके लिये जैसे रँभाती हैं, उसी प्रकार—वैसे ही प्रेमसे मैं भी तुम्हारे लिये हिङ्कार करता हूँ—हिङ्कारद्वारा तुम्हें अपने पास बुलाता हूँ' ॥ ११ ॥

दैवपरिमररूपमें प्राणकी उपासना

अब इसके बाद देव-सम्बन्धी 'परिमर' का वर्णन किया जाता है। (यहाँ अग्नि और वाक् आदि ही देवता हैं; ये देवता प्राणके सब ओर मृत्युको प्राप्त होते हैं, अतः ब्रह्मस्वरूप प्राणको ही यहाँ 'परिमर' कहा गया है।) यह जो प्रत्यक्ष रूपमें अग्नि प्रज्वलित है, इस रूपमें ब्रह्म ही देदीप्यमान हो रहा है। जब अग्नि प्रज्वलित नहीं होती, उस अवस्थामें यह मर जाती है—बुझ जाती है। उस बुझी हुई अग्निका तेज सूर्यमें ही मिल जाता है और प्राण वायुमें प्रवेश कर जाता है।

---

* पुत्रका अर्थ ही है—पुत् नामके नरकसे रक्षा करनेवाला (पुन्नाम्नः नरकात् त्रायते)।

† मन्त्रार्थ इस प्रकार है—'वत्स! तुम पत्थर बनो, कुठार बनो और बिछा हुआ सुवर्ण बनो (अर्थात् तुम्हारा शरीर पत्थरके समान सुगठित, बलवान्, स्वस्थ एवं नीरोग हो। तुम कुठारकी भाँति शत्रुओंका नाश करनेवाले बनो और सब ओर फैली हुई सुवर्णराशिकी भाँति सबके प्रिय बनो। समस्त अङ्गोंका सारभूत, संसार-वृक्षका बीजरूप जो तेज है, वह तुम्हीं हो; तुम सैकड़ों वर्ष जीवित रहो।'

* वत्स! प्रजापति ब्रह्माजी अपनी सृष्टिको विनाशसे बचानेके लिये उसे जिस तेजसे सम्पन्न करके परिगृहीत अथवा अनुगृहीत करते हैं, उसी तेजसे सम्पन्न करके मैं तुम्हें सब ओरसे ग्रहण करता हूँ।

† मघवन्! आप सरल भावका अवलम्बन करके इस पुत्रकी रक्षा करें। इन्द्र! इसे श्रेष्ठ धन प्रदान करें।

यह जो सूर्य दृष्टिगोचर होता है, निश्चय ही इस रूपमें ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब यह नहीं दिखायी देता, तब मानो मर जाता है। उस समय उसका तेज चन्द्रमाको ही प्राप्त होता और प्राण वायुमें मिल जाता है। यह जो चन्द्रमा दिखायी देता है, निश्चय ही इसके रूपमें ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। फिर जब यह नहीं दिखायी देता, तब मानो यह मर जाता है। उस समय उसका तेज विद्युत्को ही और प्राण वायुको प्राप्त हो जाता है। यह जो बिजली कौंधती है, निश्चय ही इसके रूपमें यह ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। फिर जब यह नहीं कौंधती, तब मानो मर जाती है; उस समय उसका तेज वायुको प्राप्त होता है और प्राण भी वायुमें ही प्रवेश कर जाता है।

वे प्रसिद्ध अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत्-स्वरूप सम्पूर्ण देवता वायुमें ही प्रवेश करके स्थित होते हैं। वायु (आधिदैविक प्राण) में विलीन होकर वे विनष्ट नहीं होते; क्योंकि पुनः उस वायुसे ही उनका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार आधिदैविक दृष्टि है। अब आध्यात्मिक दृष्टि बतायी जाती है ॥ १२ ॥

मनुष्य वाणीसे जो बातचीत करता है, यह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब यह नहीं बोलता, उस समय मानो यह वाक्-इन्द्रिय मर जाती है। उस समय वाणीका तेज नेत्रको प्राप्त हो जाता है और प्राण प्राणवायुमें मिल जाता है। यह मनुष्य नेत्रद्वारा जो देखता है, यह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब नेत्रसे नहीं देखता, उस समय मानो नेत्रेन्द्रिय मर जाती है। उस समय नेत्रका तेज श्रवणेन्द्रियको प्राप्त हो जाता है तथा प्राण प्राणमें ही मिल जाता है। यह जो श्रवणद्वारा सुनता है, यह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है; जब यह नहीं सुनता, तब मानो श्रवणेन्द्रिय मर जाती है। उस समय उसका तेज मनको ही प्राप्त हो जाता है और प्राण प्राणमें मिल जाता है। यह जो मनसे ध्यान (चिन्तन) करता है, यह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब चिन्तन नहीं करता, तब मानो मन मर जाता है। उस समय उसका तेज प्राणको ही प्राप्त हो जाता है और प्राण भी प्राणमें ही मिल जाता है।

इस प्रकार ये सम्पूर्ण वाक् आदि देवता प्राणमें ही प्रवेश करके स्थित होते हैं। प्राणमें लीन होकर वे नष्ट नहीं होते। अतएव पुनः प्राणसे ही उनका प्रादुर्भाव होता है।

उस दैव-परिमर (प्राण) का सम्यग्ज्ञान हो जानेपर यदि वे ज्ञानी पुरुष ऐसे दो ऊँचे पर्वतोंको, जो भूमण्डलके उत्तरी सिरेसे लेकर दक्षिणी सिरेतक फैले हों, अपनी इच्छाके अनुसार चलनेको प्रेरित करें तो वे पर्वत इन ज्ञानी महापुरुषोंकी हिंसा—उनकी आज्ञाका परित्याग अर्थात् उनकी अवहेलना नहीं कर सकते।

इसके सिवा, जो लोग इस 'दैवपरिमर' के ज्ञाता पुरुषसे द्वेष करते हैं, अथवा वह स्वयं जिन लोगोंसे द्वेष रखता हो, वे सब-के-सब सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ॥ १३ ॥

मोक्षके लिये सर्वश्रेष्ठ प्राणकी उपासना

इसके पश्चात् अब मोक्ष-साधनके गुणसे विशिष्ट सर्वश्रेष्ठ प्राणकी उपासना बतायी जाती है। एक समय वाक् आदि सम्पूर्ण देवता अहङ्कारवश अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये विवाद करने लगे। वे सब प्राणके साथ ही इस शरीरसे निकल गये। उनके निकल जानेपर वह शरीर काठकी भाँति निश्चेष्ट होकर सो गया। तदनन्तर उस शरीरमें वाक्-इन्द्रियने प्रवेश किया। तब वह वाणीसे बोलने तो लगा, परंतु उठ न सका, सोया ही रह गया। तत्पश्चात् चक्षु-इन्द्रियने उस शरीरमें प्रवेश किया। तथापि वह वाणीसे बोलता और नेत्रसे देखता हुआ भी सोता ही रहा, उठ न सका। तब उस शरीरमें श्रवण-इन्द्रियने प्रवेश किया। उस समय भी वह वाणीसे बोलता, नेत्रसे देखता और कानोंसे सुनता हुआ भी सोता ही रहा, उठकर बैठ न सका। तदनन्तर उस शरीरमें मनने प्रवेश किया। तब भी वह शरीर वाणीसे बोलता, नेत्रसे देखता, कानसे सुनता और मनसे चिन्तन करता हुआ भी पड़ा ही रहा। तत्पश्चात् प्राणने उस शरीरमें प्रवेश किया। फिर तो उसके प्रवेश करते ही वह शरीर उठ बैठा। तब उन वाक् आदि देवताओंने प्राणमें ही मोक्ष-साधनकी शक्ति जानकर तथा प्रज्ञास्वरूप प्राणको ही सब ओर व्याप्त समझकर इन प्राण-अपान आदि समस्त प्राणोंके साथ ही इस शरीररूप लोकसे उत्क्रमण किया।

वे वायुमें—आधिदैविक प्राणमें स्थित हो आकाशस्वरूप होकर स्वर्गलोकमें गये—अपने अधिष्ठातृ-देवता अग्नि आदिके स्वरूपको प्राप्त हो गये। उसी प्रकार इस रहस्यको जाननेवाला विद्वान् सम्पूर्ण भूतोंके प्राणको ही प्रज्ञात्मारूपसे प्राप्तकर इन प्राण-अपान आदि समस्त प्राणोंके साथ इस शरीरसे उत्क्रमण करता है। तथा वह वायुमें प्रतिष्ठित हो आकाशस्वरूप होकर स्वर्गलोकको गमन करता है। वह विद्वान् वहाँ उस सुप्रसिद्ध प्राणका स्वरूप हो जाता है जिसमें कि ये वाक् आदि देवता स्थित होते हैं। उस प्राणस्वरूपको प्राप्तकर वह विद्वान् प्राणके उस अमृतत्व-गुणसे युक्त हो

जाता है; जिस अमृतत्व-गुणसे वे वाक् आदि देवता भी संयुक्त होते हैं ॥ १४ ॥

प्राणोपासकका सम्प्रदान-कर्म

अब इसके पश्चात् पिता-पुत्रका सम्प्रदान-कर्म बतलाते हैं (पिता पुत्रको अपनी जीवन-शक्ति प्रदान करता है; अतएव इसको पितापुत्रीय सम्प्रदान-कर्म कहते हैं) । पिता यह निश्चय करके कि अब मुझे इस लोकसे प्रयाण करना है, पुत्रको अपने समीप बुलाये । नूतन कुश-कास आदि तृणोंसे अग्निशालाको आच्छादित करके विधिपूर्वक अग्निकी स्थापना करे । अग्निके उत्तर या पूर्वभागमें जलसे भरा हुआ कलश स्थापित करे । कलशके ऊपर धान्यसे भरा हुआ पात्र भी होना चाहिये । स्वयं भी नवीन धौत (धोती) और उत्तरीय धारण करे । इस प्रकार श्वेत वस्त्र और माला आदिसे अलङ्कृत हो घरमें आकर पुत्रको पुकारे । जब पुत्र समीप आ जाय तो सब ओरसे उसके ऊपर पड़ जाय अर्थात् उसे अङ्कमें भर ले और अपनी इन्द्रियोंसे उसकी इन्द्रियोंका स्पर्श करे (तात्पर्य यह कि नेत्रसे नेत्रका, नाकसे नाकका तथा अन्य इन्द्रियोंसे उसकी अन्य इन्द्रियोंका स्पर्श करे) । अथवा केवल पुत्रके सम्मुख बैठ जाय और उसे अपनी वाक्-इन्द्रिय आदिका दान करे ।

पिता कहे—'वाचं मे त्वयि दधानि' (बेटा ! मैं तुममें अपनी वाक्-इन्द्रिय स्थापित करता हूँ) ।

पुत्र उत्तर दे—'वाचं ते मयि दधे' (पिताजी ! मैं आपकी वाक्-इन्द्रियको अपनेमें धारण करता हूँ) ।

पिता—'प्राणं मे त्वयि दधानि' (मैं अपने प्राणको तुममें स्थापित करता हूँ) ।

पुत्र—'प्राणं ते मयि दधे' (आपके प्राण—घ्राणेन्द्रियको अपनेमें धारण करता हूँ) ।

पिता—'चक्षुर्मे त्वयि दधानि' (अपनी चक्षु-इन्द्रियको तुममें स्थापित करता हूँ) ।

पुत्र—'चक्षुस्ते मयि दधे' (आपके चक्षुको अपनेमें धारण करता हूँ) ।

पिता—'श्रोत्रं मे त्वयि दधानि' (अपने श्रोत्रको तुममें स्थापित करता हूँ) ।

पुत्र—'श्रोत्रं ते मयि दधे' (आपके श्रोत्रको अपनेमें धारण करता हूँ) ।

पिता—'अन्नरसान्मे त्वयि दधानि' (अपने अन्नके रसोंको तुममें स्थापित करता हूँ) ।

पुत्र—'अन्नरसांस्ते मयि दधे' (आपके अन्नरसोंको अपनेमें धारण करता हूँ) ।

पिता—'कर्माणि मे त्वयि दधानि' (अपने कर्मोंको तुममें स्थापित करता हूँ) ।

पुत्र—'कर्माणि ते मयि दधे' (आपके कर्मोंको अपनेमें धारण करता हूँ) ।

पिता—'सुखदुःखे मे त्वयि दधानि' (अपने सुख और दुःखको तुममें स्थापित करता हूँ) ।

पुत्र—'सुखदुःखे ते मयि दधे' (आपके सुख और दुःखको अपनेमें धारण करता हूँ) ।

पिता—'आनन्दं रतिं प्रजातिं मे त्वयि दधानि' (मैथुन-जनित आनन्द, रति और सन्तानोत्पत्तिकी शक्ति तुममें स्थापित करता हूँ) ।

पुत्र—'आनन्दं रतिं प्रजातिं ते मयि दधे' (आपकी वह शक्ति मैं अपनेमें धारण करता हूँ) ।

पिता—'इत्या मे त्वयि दधानि' (अपनी गतिशक्ति मैं तुममें स्थापित करता हूँ) ।

पुत्र—'इत्यास्ते मयि दधे' (आपकी गतिशक्ति अपनेमें धारण करता हूँ) ।

पिता—'धियो विज्ञातव्यं कामान् मे त्वयि दधानि' (अपनी बुद्धि-वृत्तियोंको, बुद्धिके द्वारा ज्ञातव्य विषयको तथा विशेष कामनाओंको तुममें स्थापित करता हूँ) ।

पुत्र—'धियो विज्ञातव्यं कामांस्ते मयि दधे' (आपकी बुद्धि-वृत्तियोंको, बुद्धिके द्वारा ज्ञातव्य विषयोंको तथा कामनाओं-को मैं अपनेमें धारण करता हूँ) ।

तदनन्तर पुत्र पिताकी प्रदक्षिणा करते हुए पूर्व दिशाकी ओर पिताके समीपसे निकलता है । उस समय पिता पीछेसे पुत्रको सम्बोधित करके कहते हैं—

'यशो ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यं कीर्तिस्त्वा जुषताम् ।'

'यश, ब्रह्मतेज, अन्नको खाने और पचानेकी शक्ति तथा उत्तम कीर्ति—ये समस्त सद्गुण तुम्हारा सेवन करें।'

पिताके यों कहनेपर पुत्र अपने बायें कन्धेकी ओर दृष्टि घुमाकर देखे और हाथसे ओट करके अथवा कपड़ेसे आड़ करके पिताको उत्तर दे—

'स्वर्गान् लोकान् कामान् अवाप्नुहि'

'आप अपनी इच्छाके अनुसार कमनीय स्वर्गलोक तथा वहाँके भोगोंको प्राप्त करें।'

इसके बाद यदि पिता नीरोग हो तो वह पुत्रके प्रभुत्वमें ही वहाँ निवास करे (पुत्रको घरका स्वामी समझे और अपनेको उसके आश्रित माने)। अथवा सब कुछ त्यागकर घरसे निकल जाय—संन्यासी हो जाय। अथवा यदि वह परलोकगामी हो जाय तो जिन-जिन वाक् आदि इन्द्रियोंको उसने पुत्रमें स्थापित किया था; उन सभीकी शक्तियोंका वह पुत्र उसी प्रकार आश्रय हो जाता है। वे सभी शक्तियाँ उसे प्राप्त होती हैं (यही सच्चा उत्तराधिकार है)॥ १५॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

ॐ

तृतीय अध्याय

इन्द्र-प्रतर्दन-संवाद; प्रज्ञास्वरूप प्राणकी महिमा

ॐ यह प्रसिद्ध है कि राजा दिवोदासके पुत्र प्रतर्दन (देवासुर-संग्राममें देवताओंकी सहायता करनेके लिये) देवराज इन्द्रके प्रिय धाम स्वर्गलोकमें गये। वहाँ उनकी अनुपम युद्धकला और पुरुषार्थसे संतुष्ट होकर इन्द्रने उनसे कहा—'प्रतर्दन! बोलो, मैं तुम्हें क्या वर दूँ?' तब वे प्रसिद्ध वीर प्रतर्दन बोले—'देवराज! जिस वरको आप मनुष्य-जातिके लिये परम कल्याणमय मानते हों, वैसा कोई वर मेरे लिये आप स्वयं ही वरण करें।' यह सुनकर इन्द्रने कहा—'राजन्! लोकमें यह सर्वत्र विदित है कि कोई भी दूसरेके लिये वर नहीं माँगता; अतः तुम्हीं अपने लिये कोई वर माँगो।' प्रतर्दन बोला—'तब तो मेरे लिये वरका अभाव ही रह गया।' (क्योंकि आप स्वयं तो वर माँगेंगे नहीं; और 'मुझे क्या माँगना चाहिये'—इसका मुझको ज्ञान ही नहीं है। ऐसी दशामें मुझे वर मिलनेसे रहा।) प्रतर्दनके ऐसा कहनेपर निश्चय ही देवराज इन्द्र अपने सत्यसे विचलित नहीं हुए; (वे वर देनेकी प्रतिज्ञा कर चुके थे, अतः प्रतर्दनके न माँगनेपर भी अपनी ही ओरसे वर देनेको उद्यत हो गये।) क्योंकि इन्द्र सत्यस्वरूप हैं।

उन प्रसिद्ध देवता इन्द्रने कहा—'प्रतर्दन! तुम मुझे ही जानो—मेरे ही यथार्थ स्वरूपको समझो। इसे ही मैं मनुष्य-जातिके लिये परमकल्याणमय वर मानता हूँ कि वह मुझे भलीभाँति जाने।'

(यदि कहो, आपमें ऐसी क्या विशेषता है? तो सुनो; मैंने प्राणब्रह्मके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लिया है; अतएव मुझमें कर्तापनका अभिमान नहीं है, मेरी बुद्धि कहीं भी लिप्त नहीं होती। कर्मफलकी इच्छा मेरे मनमें कभी उत्पन्न ही नहीं होती, अतएव कोई भी कर्म मुझे बन्धनमें नहीं डालता।* इसी अभिप्रायसे कहते हैं—)

'मैंने त्वष्टा प्रजापतिके पुत्र विश्वरूपको, जिसके तीन मस्तक थे, वज्रसे मार डाला! कितने ही (मिथ्या) संन्यासियोंको, जो अपने आश्रमोचित आचारसे भ्रष्ट एवं बहिर्मुख (ब्रह्मविचारसे विमुख) हो चुके थे, टुकड़े-टुकड़े करके भेड़ियोंको बाँट दिया। कितनी ही बार प्रह्लादके परिचारक दैत्य राजाओंको मौतके घाट उतार दिया। पुलोमासुरके परिचारक दानवों तथा पृथिवीपर रहनेवाले कालखाञ्ज नामक बहुत-से असुरोंका भी समस्त विघ्न-बाधाओंका अतिक्रम करके संहार कर डाला। परंतु इतनेपर भी (अहङ्कार और कर्मफलकी कामनासे शून्य होनेके कारण) मुझ प्रसिद्ध देवराज इन्द्रके एक रोमको भी हानि नहीं पहुँची। मेरा एक बाल भी बाँका नहीं हुआ। इसी प्रकार जो मुझे भलीभाँति जान ले, उसके पुण्यलोकको किसी भी कर्मसे हानि नहीं पहुँचती।

'मेरे स्वरूपका ज्ञान रखनेवाले पुरुषको बड़े-से-बड़ा पाप भी हानि नहीं पहुँचा सकता। अधिक क्या कहूँ, उसे पाप लगता ही नहीं। पाप करनेकी इच्छा होनेपर भी उसके मुखसे नील आभा नहीं प्रकट होती—उसका मुँह काला नहीं होता'॥ १॥

(यह कथन अहङ्कारसे सर्वथा शून्य ब्रह्मज्ञानीकी महत्ता बतलानेके लिये है, न कि पाप कर्मोंका समर्थन करनेके लिये। वस्तुतः अहङ्काररहित राग-द्वेषशून्य पुरुषसे पापकार्य बननेका ही कोई हेतु नहीं होता।)

वे प्रसिद्ध देवराज इन्द्र बोले—"मैं प्रज्ञास्वरूप प्राण हूँ। उस प्राण एवं प्रज्ञात्मारूपमें विदित मुझ इन्द्रकी तुम 'आयु और अमृत' रूपसे उपासना करो।" (अर्थात् समस्त प्राणियोंकी आयु एवं जीवनभूत जो प्राण है, जो मृत्युसे रहित अमृतपद है, वह मुझ इन्द्रसे भिन्न नहीं है—यों समझकर मेरी उपासना करो।)

'आयु प्राण है। प्राण ही आयु है तथा प्राण ही अमृत है। जबतक इस शरीरमें प्राण निवास करता है, तबतक ही आयु है। प्राणसे ही प्राणी परलोकमें अमृतत्वके सुखका अनुभव करता है।

'प्रज्ञासे मनुष्य सत्यका निश्चय और संकल्प-विकल्प करता है। जो 'आयु' और 'अमृत' रूपसे मुझ इन्द्रकी उपासना करता है, वह इस लोकमें पूरी आयुतक जीवित रहता है

---

* न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥
(गीता ४। १४; १८। १७)

तथा स्वर्गलोकमें जानेपर अक्षय अमृतत्वका सुख भोगता है।'

'इस प्राणके विषयमें निश्चय ही कोई-कोई विद्वान् इस प्रकार कहते हैं—अवश्य ही सब प्राण (वाक् आदि समस्त इन्द्रियाँ और प्राण) एकीभावको प्राप्त होते हैं। कोई भी मनुष्य एक ही समय वाणीसे नाम सूचित करने, नेत्रसे रूप देखने, कानसे शब्द सुनने और मनसे चिन्तन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता; इससे सिद्ध होता है कि अवश्य ही समस्त प्राण एकीभावको प्राप्त होते हैं—एक होकर कार्य करते हैं। ये सब एक-एक विषयका बारी-बारीसे अनुभव कराते हैं।

'जब वाणी बोलने लगती है, उस समय अन्य सब प्राण मौन होकर उसका अनुमोदन करते हैं। जब नेत्र देखने लगता है, तब अन्य सब प्राण भी उसके पीछे रहकर देखते हैं। जब कान सुनने लगता है, तब अन्य सब प्राण भी उसका अनुसरण करते हुए सुनते हैं, जब मन चिन्तन करने लगता है, तो अन्य सब प्राण भी उसके साथ रहकर चिन्तन करते हैं तथा मुख्य प्राण जब अपना व्यापार करता है, तब अन्य प्राण भी उसके साथ-साथ वैसी ही चेष्टा करते हैं।'—प्रतर्दनने कहा।

'यह बात ऐसी ही है'—इस प्रकार उन सुप्रसिद्ध देवराज इन्द्रने उत्तर दिया। ''सब प्राण एक होते हुए भी जो पाँच प्राण हैं, वे निःश्रेयस (परम कल्याण) -रूप हैं; निःसंदेह ऐसी ही बात है ॥ २ ॥

''वाक्-इन्द्रियसे वञ्चित होनेपर भी मनुष्य जीवित रहता है; क्योंकि हमलोग गूँगोंको प्रत्यक्ष देखते हैं। नेत्रहीन मनुष्य भी जीवित रहता है; क्योंकि हमलोग अंधोंको जीवित देखते हैं। श्रवण-इन्द्रियसे रहित होनेपर भी मनुष्य जीवित रहता है; क्योंकि हमलोग बहरोंको जीवित देखते हैं। मनःशक्तिसे शून्य होनेपर भी मनुष्य जीवन धारण कर सकता है; क्योंकि हमलोग छोटे शिशुओंको जीवित देखते हैं। इतना ही नहीं; प्राण-शक्तिके रहनेपर बाँह कट जानेपर भी मनुष्य जीवित रहता है, जाँघ कट जानेपर भी वह जीवन धारण कर सकता है (परंतु प्राणके न रहनेपर तो एक क्षण भी जीवित रहना असम्भव है।)—यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं।

''अतः क्रियाशक्तिका उद्बोधक प्राण ही ज्ञानशक्तिका उद्बोधक प्रज्ञात्मा है। (अतएव यह निःश्रेयसरूप है।) यही इस शरीरको सब ओरसे पकड़कर उठाता है। इसीलिये इस प्राणकी ही 'उक्थ' रूपसे उपासना करनी चाहिये। (उत्थापनके कारण ही वह उक्थ है।) निश्चय ही जो प्रसिद्ध प्राण है, वही प्रज्ञा है। अथवा जो प्रज्ञा बतायी गयी है, वही प्राण है; क्योंकि ये प्रज्ञा और प्राण दोनों साथ-साथ ही इस शरीरमें रहते हैं और जीवात्मासे मिलकर साथ-ही-साथ यहाँसे उत्क्रमण करते हैं। इस प्राणमय परमात्माका यही दर्शन (ज्ञान) है, यही विज्ञान है कि जिस अवस्थामें यह सोया हुआ पुरुष किसी स्वप्नको नहीं देखता, उस समय वह इस मुख्य प्राणमें ही एकीभावको प्राप्त हो जाता है। उस अवस्थामें वाक् सम्पूर्ण नामोंके साथ इस प्राणमें ही लीन हो जाती है। नेत्र समस्त रूपोंके साथ इसमें ही लीन हो जाता है। कान समग्र शब्दोंके साथ इसमें ही लीन हो जाता है तथा मन सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयोंके साथ इसमें ही लयको प्राप्त हो जाता है।

वह पुरुष जब जाग उठता है, उस समय, जैसे जलती हुई आगसे सब दिशाओंकी ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस प्राणस्वरूप आत्मासे समस्त वाक् आदि प्राण निकलकर अपने-अपने योग्य स्थानकी ओर जाते हैं। फिर प्राणोंसे उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता प्रकट होते हैं और देवताओंसे लोक—नाम आदि विषय प्रकट होते हैं।

इस प्राणस्वरूप आत्माकी यह आगे बतायी जानेवाली ही सिद्धि है, यही विज्ञान है कि जिस अवस्थामें पुरुष रोगसे आर्त हो मरणासन्न हो जाता है, अत्यन्त निर्बलताको पहुँचकर अचेत हो जाता है—किसीको पहचान नहीं पाता, उस समय कहते हैं कि इसका चित्त (मन) उत्क्रमण कर गया। इसीलिये यह न तो सुनता है, न देखता है, न वाणीसे कुछ बोलता है और न चिन्तन ही करता है। उस समय इस प्राणमें ही वह एकीभावको प्राप्त हो जाता है। उस अवस्थामें वाक् सम्पूर्ण नामोंके साथ इसमें लीन हो जाती है। नेत्र समस्त रूपोंके साथ इसमें लीन हो जाता है। कान समग्र शब्दोंके साथ इसमें लीन हो जाता है तथा मन सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयोंके साथ इसमें लीन हो जाता है। वह पुरुष मृत्युके बाद जब पुनः जागता है—जन्मान्तर ग्रहण करता है, उस समय जैसे जलती हुई आगसे सब दिशाओंकी ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस प्राणस्वरूप आत्मासे वाक् आदि प्राण प्रकट हो अपने-अपने योग्य स्थान-की ओर चल देते हैं। फिर प्राणोंसे उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता प्रकट होते हैं और देवताओंसे लोक—नाम आदि विषय प्रकट होते हैं ॥ ३ ॥

वह मुमूर्षु पुरुष जब इस शरीरसे उत्क्रमण करता है, उस समय इन सब इन्द्रियोंके साथ ही उत्क्रमण करता है। वाक्-इन्द्रिय इस पुरुषके पास सब नामोंका त्याग कर देती है (अतः वह नामोंको ग्रहण नहीं कर पाता); क्योंकि वाक्-इन्द्रियसे ही मनुष्य नामोंको ग्रहण कर पाता है। घ्राण-इन्द्रिय उसके निकट समस्त गन्धोंका त्याग कर देती है (अतः वह गन्धसे भी वञ्चित हो जाता है); क्योंकि घ्राण-इन्द्रियसे ही मनुष्य सब प्रकारके गन्धोंका अनुभव करता है। नेत्र उसके समीप सब रूपोंको त्याग देता है; नेत्रसे ही मनुष्य सब रूपोंको ग्रहण करता है। कान उसके समीप समस्त शब्दोंको त्याग देता है; कानसे ही मनुष्य सब प्रकारके शब्दोंको ग्रहण करता है। मन उसके समीप समस्त चिन्तनीय विषयोंको त्याग देता है; मनसे ही मनुष्य सब प्रकारके चिन्तनीय विषयोंको ग्रहण करता है। यही प्राणस्वरूप आत्मामें सब इन्द्रियों और विषयोंका समर्पित हो जाना है।

निश्चय ही जो प्राण है, वही प्रज्ञा है अथवा जो प्रज्ञा है, वही प्राण है; क्योंकि ये दोनों इस शरीरमें साथ-साथ ही रहते हैं और साथ-साथ ही इससे उत्क्रमण करते हैं।

अब निश्चय ही जिस प्रकार इस प्रज्ञामें सम्पूर्ण भूत एक हो जाते हैं, इसकी हम स्पष्ट शब्दोंमें व्याख्या करेंगे ॥ ४ ॥

अवश्य ही वाक्-इन्द्रियने इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित भूतमात्रा (पञ्चभूतोंका अंश-विशेष) नाम—शब्द है। निश्चय ही प्राण (घ्राणेन्द्रिय) ने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूत-मात्रा है, वह गन्ध है। निश्चय ही नेत्रने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह रूप है। निश्चय ही कानने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह शब्द है। निश्चय ही जिह्वाने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह अन्नका रस है। निश्चय ही हाथोंने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उनके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह कर्म है। निश्चय ही शरीरने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह सुख और दुःख है। निश्चय ही उपस्थने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है, बाहरकी ओर इसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह आनन्द, रति और प्रजोत्पत्ति है। निश्चय ही पैरोंने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उनके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह गमन-क्रिया है। अवश्य ही प्रज्ञाने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह बुद्धिके द्वारा अनुभव करने योग्य वस्तु और कामनाएँ हैं ॥ ५ ॥

प्रज्ञासे वाक्-इन्द्रियपर आरूढ़ होकर मनुष्य वाणीके द्वारा नामोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे प्राण (घ्राणेन्द्रिय) पर आरूढ़ होकर उसके द्वारा समस्त गन्धोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे नेत्रपर आरूढ़ होकर नेत्रसे सब रूपोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे श्रवण-इन्द्रियपर आरूढ़ होकर उसके द्वारा सब प्रकारके शब्दोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे जिह्वापर आरूढ़ होकर जिह्वासे सम्पूर्ण अन्नरसोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे हाथोंपर आरूढ़ होकर हाथोंसे समस्त कर्मोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे शरीरपर आरूढ़ होकर शरीरसे भोग और पीडाजनित सुख-दुःखोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे उपस्थपर आरूढ़ होकर उपस्थसे आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे पैरोंपर आरूढ़ होकर पैरोंसे सम्पूर्ण गमन-क्रियाओं-को ग्रहण करता है। तथा प्रज्ञासे ही बुद्धिपर आरूढ़ होकर उस-के द्वारा अनुभव करनेयोग्य वस्तु एवं कामनाओंको ग्रहण करता है ॥ ६ ॥

प्रज्ञासे रहित होनेपर वाक्-इन्द्रिय किसी भी नामका बोध नहीं करा सकती; क्योंकि उस अवस्थामें मनुष्य यों कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था। मैं इस नामको नहीं समझ सका।' प्रज्ञासे पृथक् होनेपर घ्राण-इन्द्रिय किसी भी गन्धका बोध नहीं करा सकती। उस दशामें मनुष्य यों कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस गन्ध-को नहीं जान सका।' प्रज्ञासे पृथक् होकर नेत्र किसी भी रूपका ज्ञान नहीं करा सकता। उस दशामें मनुष्य यों कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस रूप-को नहीं पहचान सका।' प्रज्ञासे पृथक् रहकर कान किसी भी शब्दका ज्ञान नहीं करा सकता। उस दशामें मनुष्य यह कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस शब्द-को नहीं समझ सका।' प्रज्ञासे पृथक् रहकर जिह्वा किसी भी

अन्न-रसका अनुभव नहीं करा सकती। उस दशामें मनुष्य यह कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस अन्न-रसका अनुभव न कर सका।' प्रज्ञासे पृथक् होकर हाथ किसी भी कर्मका ज्ञान नहीं करा सकते। उस दशामें मनुष्य यह कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस कर्मको नहीं जान सका।' प्रज्ञासे पृथक् होकर शरीर किसी सुख-दुःखका ज्ञान नहीं करा सकता। उस दशामें मनुष्य कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इन सुख-दुःखोंको नहीं जान सका।' प्रज्ञासे पृथक् हो उपस्थ किसी भी आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिका ज्ञान नहीं करा सकता; उस दशामें मनुष्य कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सका।' प्रज्ञासे पृथक् रहकर दोनों पैर किसी भी गमन-क्रियाका बोध नहीं करा सकते; उस दशामें मनुष्य यह कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस गमन-क्रियाका अनुभव नहीं कर सका।' कोई भी बुद्धिवृत्ति प्रज्ञासे पृथक् होनेपर नहीं सिद्ध हो सकती, उसके द्वारा ज्ञातव्य वस्तुका बोध नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

वाणीको जाननेकी इच्छा न करे; वक्ताको—वाणीके प्रेरक आत्माको जाने। गन्धको जाननेकी इच्छा न करे; जो गन्धको ग्रहण करनेवाला आत्मा है, उसको जाने। रूपको जाननेकी इच्छा न करे; रूपके ज्ञाता साक्षी आत्माको जाने। शब्दको जाननेकी इच्छा न करे; उसे सुननेवाले आत्माको जाने। अन्नके रसको जाननेकी इच्छा न करे; उस अन्नरसके ज्ञाता आत्माको जाने। कर्मको जाननेकी इच्छा न करे; कर्ता (आत्मा) को जाने। सुख-दुःखको जाननेकी इच्छा न करे; सुख-दुःखके विज्ञाता (साक्षी आत्मा) को जाने। आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिको जाननेकी इच्छा न करे; आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिके ज्ञाता (आत्मा) को जाने। गमन-क्रियाको जाननेकी इच्छा न करे; गमन करनेवाले (साक्षी आत्मा) को जाने। मनको जाननेकी इच्छा न करे; मनन करनेवाले (आत्मा) को जाने।

वे ये दस ही भूतमात्राएँ (नाम आदि विषय) हैं, जो प्रज्ञामें स्थित हैं तथा प्रज्ञाकी भी दस ही मात्राएँ (वाक् आदि इन्द्रियरूप) हैं, जो भूतोंमें स्थित हैं। यदि वे प्रसिद्ध भूतमात्राएँ न हों तो प्रज्ञाकी मात्राएँ भी नहीं रह सकतीं और प्रज्ञाकी मात्राएँ न हों तो भूतमात्राएँ भी नहीं रह सकतीं। इन दोमेंसे किसी भी एकके द्वारा किसी भी रूप (विषय अथवा इन्द्रिय) की सिद्धि नहीं हो सकती। (तात्पर्य यह कि इन्द्रियसे विषयकी और विषयसे इन्द्रियकी सत्ता जानी जाती है; यदि केवल विषय हो तो विषयसे विषयका ज्ञान नहीं हो सकता अथवा यदि केवल इन्द्रिय रहे तो उससे भी इन्द्रियका ज्ञान होना सम्भव नहीं है; अतः दोनोंका—भूतमात्रा और प्रज्ञामात्राका (विषय तथा इन्द्रियका) होना आवश्यक है।

(विषय और इन्द्रियोंमें जो परस्पर भेद है, वैसा प्रज्ञामात्रा और भूतमात्रामें भेद नहीं है—इस आशयसे कहते हैं—) इनमें नानात्व नहीं है। अर्थात् प्रज्ञामात्रा और भूतमात्राका जो स्वरूप है, उसमें भेद नहीं है। वह इस प्रकार समझना चाहिये। जैसे रथकी नेमि अरोंमें और अरे रथकी नाभिके आश्रित हैं, इसी प्रकार ये भूतमात्राएँ प्रज्ञामात्राओंमें स्थित हैं और प्रज्ञामात्राएँ प्राणमें प्रतिष्ठित हैं। वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्दमय, अजर और अमृतरूप है। वह न तो अच्छे कर्मसे बढ़ता है और न खोटे कर्मसे छोटा ही होता है। यह प्राण एवं प्रज्ञारूप चेतन परमात्मा ही इस देहाभिमानी पुरुषसे साधु कर्म करवाता है। वह भी उसीसे करवाता है, जिसे इन प्रत्यक्ष लोकोंसे ऊपर ले जाना चाहता है; तथा जिसे वह इन लोकोंकी अपेक्षा नीचे ले जाना चाहता है, उससे असाधु कर्म करवाता है। यह लोकपाल है, यह लोकोंका अधिपति है और यह सर्वेश्वर है। इन सब गुणोंसे युक्त वह प्राण ही मेरा आत्मा है—इस प्रकार जाने। वह मेरा आत्मा है, इस प्रकार जाने ॥ ८ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

ॐ

चतुर्थ अध्याय

अजातशत्रु और गार्ग्यका संवाद

गर्गगोत्रमें उत्पन्न एवं गार्ग्य नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जो बलाकाके पुत्र थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन तो किया ही था, वे वेदोंके अच्छे वक्ता भी थे। उन दिनों संसारमें सब ओर उनकी बड़ी ख्याति थी। वे उशीनर देशके निवासी थे, परंतु सदा विचरण करते रहनेके कारण कभी मत्स्यदेशमें, कभी कुरु-पाञ्चालमें और कभी काशी तथा मिथिला-प्रान्तमें रहते थे। इस प्रकार वे सुप्रसिद्ध गार्ग्य एक दिन काशीके विद्वान् राजा अजातशत्रुके पास गये और अभिमानपूर्वक बोले—'राजन्! मैं तुम्हारे लिये ब्रह्मतत्त्वका उपदेश करूँगा।' गार्ग्यके यों कहनेपर उन प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'ब्रह्मन्! आपकी इस बातपर हम आपको एक हजार गौएँ देते हैं। निश्चय ही आजकल लोग जनक-जनक कहते हुए ही उनके समीप दौड़े जाते हैं (अर्थात् राजा जनक ही ब्रह्मविद्याके श्रोता और दानी हैं, ऐसा कहकर प्रायः लोग उन्हींके निकट जाते हैं; आज आपने हमारे पास इसी उद्देश्यसे आकर राजा जनकके समान ही हमारा गौरव बढ़ाया है। अतः हम आपको एक हजार गौएँ देते हैं)॥ १॥

तब वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य बोले—'राजन्! यह जो सूर्यमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। निश्चय ही यह सबसे महान् और शुक्ल वस्त्र धारण करनेवाला है।* यह सबका अतिक्रमण करके-सबसे ऊँची स्थितिमें स्थित है तथा यह सबका मस्तक है। इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह मनुष्य भी, जो इस प्रसिद्ध सूर्यमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, सबका अतिक्रमण करके—सबसे ऊँची स्थितिमें स्थित होता है तथा समस्त भूतोंका मस्तक माना जाता है'॥ २-३॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो चन्द्र-मण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है; इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह सोम राजा है और अन्नका आत्मा है। निश्चय ही इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध चन्द्रमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, अन्नका आत्मा होता है (अन्न-राशिसे सम्पन्न होता है)'॥४॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो विद्युन्मण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह तेजका आत्मा है—निश्चय ही इस भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध विद्युन्मण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, तेजका आत्मा (महान् तेजस्वी) होता है'॥ ५॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो मेघ-मण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह शब्दका आत्मा है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध मेघ-मण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, शब्दका आत्मा (समस्त वाङ्मयके चरम तात्पर्यका ज्ञाता) हो जाता है'॥ ६॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो आकाश-मण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह पूर्ण, प्रवृत्तिशून्य (निष्क्रिय) और ब्रह्म (सबसे बृहत्) है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध आकाशमण्डलान्तर्गत पुरुषकी

---

* सूर्यकी तेजोमयी किरणें भास्वर शुक्लवर्णकी मानी गयी हैं; अतः उनसे आवृत होनेके कारण सूर्यमण्डलके अधिष्ठाता पुरुषको 'पाण्डरवासा' कहा गया। अथवा 'पाण्डरवासाः' पद चन्द्रमाका विशेषण है। चन्द्रमा स्वभावतः शुक्ल रश्मियोंसे आच्छादित है तथा सूर्यकी जो सुषुम्ना नामकी किरण है, वह चन्द्रमारूप ही मानी गयी है। बृहदारण्यक उपनिषद्में द्वितीय अध्यायके प्रथम ब्राह्मणमें भी यह प्रसङ्ग आया है; वहाँ 'पाण्डरवासाः' यह विशेषण चन्द्रमाके लिये ही आया है।

इस रूपमें उपासना करता है, प्रजा और पशुसे पूर्ण होता है। इसके सिवा, न तो स्वयं वह उपासक और न उसकी संतान ही समयसे (मनुष्यके लिये नियत सामान्य आयुसे) पहले मृत्युको प्राप्त होती है' ॥ ७ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो वायुमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह इन्द्र (परम ऐश्वर्यसे सम्पन्न), वैकुण्ठ (कहीं भी कुण्ठित न होनेवाला) और कभी परास्त न होनेवाली सेना है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध वायुमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, अवश्य ही विजयशील, दूसरोंसे पराजित न होनेवाला और शत्रुओंपर विजय पानेवाला होता है' ॥ ८ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो अग्निमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह विषासहि[1] (दूसरोंके आक्रमणको सह सकनेवाला) है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह उपासक भी, जो इस प्रसिद्ध अग्निमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, यह उपासनाके पश्चात् विषासहि (दूसरोंका वेग सह सकनेवाला) होता है' ॥ ९ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो जलमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह नामका आत्मा[2] है (अर्थात् जितने भी नामधारी जीव हैं, उन सबका आत्मा—जीवनरूप है)—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध जलमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, नामधारी जीवमात्रका आत्मा होता है। यह अधिदैवत उपासना बतायी गयी। अब अध्यात्म-उपासना बतायी जाती है ॥ १० ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो दर्पणमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह प्रतिरूप[1] है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस दर्पणान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, उस प्रतिरूपगुणसे विभूषित होता है। उसकी संततिमें सब उसके अनुरूप ही जन्म लेते हैं, प्रतिकूल रूप और स्वभाववाले नहीं ॥ ११ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो प्रतिध्वनिमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह द्वितीय[2] और अनपग है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रतिध्वनिगत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, अपने सिवा द्वितीय (स्त्री-पुत्रादि) को प्राप्त करता है तथा सदा द्वितीयवान् बना रहता है (अर्थात् उन स्त्री-पुत्र आदिसे उसका वियोग नहीं होता)' ॥ १२ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो जाते हुए पुरुषके पीछे ध्वन्यात्मक शब्द उसका अनुसरण करता है, उसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह प्राणरूप[3] है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, न तो स्वयं पूरी आयुके पहले मृत्युको प्राप्त होता है और न उसकी संतान ही पूर्ण आयुके पहले निधनको प्राप्त होती है' ॥ १३ ॥

---

१. विषका अर्थ यहाँ हविष्य है। अग्निमें जो हविष्य डाला जाता है, उसे वह भस्म करके सहन कर लेता है; इसलिये अग्नि विषासहि अर्थात् सहन करनेवाला है।

२. जलके बिना जीवन-रक्षा असम्भव है; अतः उसे नामधारी जीवमात्रका आत्मा कहा गया है।

१. रूपका ठीक वैसा ही प्रतिबिम्ब उपस्थित करनेके कारण उसे 'प्रतिरूप' कहा गया है।

२. प्रतिध्वनि एक ध्वनिकी ही पुनरावृत्ति है, अतएव वह द्वितीय है। प्रतिध्वनिमें गतिका अभाव है, इसलिये वह 'अनपग' है।

३. चलते या दौड़ते समय श्वासकी गति कुछ तीव्र हो जाती है; उससे जो अव्यक्त शब्द होता है, उसीको यहाँ 'प्राण' रूप बताया गया प्रतीत होता है।

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो छायामय पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह मृत्युरूप[1] है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, न तो स्वयं ही समयसे (मनुष्यके लिये सामान्यतः नियत आयुसे) पहले मृत्युको प्राप्त होता है और न उसकी सन्तान ही समयसे पहले जीवनसे हाथ धोती है' ॥ १४ ॥

उन सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्यने कहा—'यह जो शरीरान्तर्वर्ती पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह प्रजापति[2]-रूप है—निश्चय ही इस भावसे ही मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, प्रजा और पशुओंसे सम्पन्न होता है' ॥ १५ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो प्रज्ञासे नित्य संयुक्त प्राणरूप आत्मा है, जिससे एकताको प्राप्त होकर यह सोया हुआ पुरुष स्वप्नमार्गसे विचरता है (नाना प्रकारके स्वप्नोंका अनुभव करता है), उसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह यम[3] राजा है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, उस उपासककी श्रेष्ठताके लिये यह सारा जगत् नियमपूर्वक चेष्टा करता है' ॥ १६ ॥

उन सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्यने कहा—'यह जो दाहिने नेत्रमें पुरुष है, उसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह नामका आत्मा, अग्निका आत्मा तथा ज्योति[1]का आत्मा है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, इन सबका आत्मा होता है' ॥ १७ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो बायें नेत्रमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह सत्यका आत्मा, विद्युत्का आत्मा और तेज[2]का आत्मा है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, इन सबका आत्मा होता है' ॥ १८ ॥

उसके बाद बलाकानन्दन गार्ग्य चुप हो गये। तब उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'बालाके! बस, क्या इतना ही आपका ब्रह्मज्ञान है?' इस प्रश्नपर बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'हाँ, इतना ही है।' तब उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'तब तो व्यर्थ ही आपने मेरे साथ यह संवाद किया था कि मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करूँगा। बलाकानन्दन! अवश्य ही जो आपके बताये हुए इन सभी सोपाधिक पुरुषोंका कर्ता है अथवा ये सभी जिसके कर्म हैं, वही जाननेयोग्य है।'

राजाके यह कहनेपर वे प्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य हाथमें समिधा लेकर उनके पास गये और बोले—'मैं आपको गुरु बनानेके लिये समीप आता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'यह विपरीत बात हो जायगी, यदि क्षत्रिय ब्राह्मणको शिष्य बनानेके लिये अपने समीप बुलाये। इसलिये आइये (एकान्तमें चलें), वहाँ आपको मैं अवश्य ब्रह्मका ज्ञान कराऊँगा।' यों कहकर राजाने बालाकि गार्ग्यका हाथ पकड़ लिया और वहाँसे चल दिये। वे दोनों एक सोये हुए पुरुषके पास चले आये। वहाँ प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने उस सोये हुए पुरुषको पुकारा—'ओ बृहन्! हे पाण्डरवासा! हे सोम राजन्!' इस प्रकार सम्बोधन करनेपर भी वह पुरुष चुपचाप सोया ही रहा। तब राजाने उस पुरुषके शरीरपर छड़ीसे आघात किया। वह सोया हुआ पुरुष छड़ीकी चोट लगते ही उठकर खड़ा हो गया। तब बालाकि गार्ग्यसे राजा अजातशत्रुने कहा—'बालाके! यह पुरुष इस प्रकार अचेत-सा होकर कहाँ सोता था? किस प्रदेशमें इसका शयन हुआ था? और इस जाग्रत्-अवस्थाके प्रति यह कहाँसे चला आया?'

१. छाया अन्धकारका ही स्वरूप है। बाहरका अन्धकार और भीतरका अज्ञान—ये दोनों मृत्युरूप हैं।

२. संतानके उत्पादन और पालन-पोषणमें संलग्न रहनेसे यहाँ शरीरस्थित पुरुषको 'प्रजापति' कहा गया है।

३. प्राण ही यम-नियमका हेतु है तथा वह राजाकी भाँति सर्वत्र विशेष स्थान रखता है, अतएव वह 'यम राजा' कहा गया है।

१-२. नेत्र तैजस इन्द्रिय है, नेत्रसे ही नाम-रूपवाली वस्तुओंका प्रकाशन होता है; अतः इसे नाम, सत्य, ज्योति, विद्युत्, अग्नि और तेजका आत्मा बताना ठीक ही है।

राजाके इस प्रकार पूछनेपर भी बालाकि गार्ग्य इस रहस्यको समझ न सके। तब उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने फिर कहा—'बालाके! यह पुरुष इस प्रकार अचेत-सा होकर जहाँ सोता था, जहाँ इसका शयन हुआ था और इस जाग्रत्-अवस्थाके प्रति यह जहाँसे आया है, वह स्थान यह है—'हिता' नामसे प्रसिद्ध बहुत-सी नाड़ियाँ हैं, जो हृदय-कमलसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं। वे हृदय-कमलसे निकलकर सम्पूर्ण[1] शरीरमें व्याप्त होकर फैली हुई हैं। इनका परिमाण इस प्रकार है—एक केशको एक हजार बार चीरनेपर जो एक खण्ड हो सकता है, उतनी ही सूक्ष्म वे सब-की-सब नाड़ियाँ हैं। पिङ्गल अर्थात् नाना प्रकारके रंगोंका जो अति सूक्ष्मतम रस है, उससे वे पूर्ण हैं। शुक्ल, कृष्ण, पीत और रक्त—इन सभी रंगोंके सूक्ष्मतम अंशसे वे युक्त हैं। उन्हीं नाड़ियोंमें वह पुरुष सोते समय स्थित रहता है।

जिस समय सोया हुआ पुरुष कोई स्वप्न नहीं देखता, उस समय वह इस प्राणमें ही एकीभावको प्राप्त हो जाता है। उस समय वाक् सम्पूर्ण नामोंके साथ इस प्राणमें ही लीन हो जाती है। नेत्र समस्त रूपोंके साथ इसमें ही लीन हो जाता है। कान समग्र शब्दोंके साथ इसमें ही लीन हो जाता है तथा मन भी सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयोंके साथ इसमें ही लयको प्राप्त हो जाता है। वह पुरुष जब जाग उठता है, उस समय जैसे जलती हुई आगसे सब दिशाओंकी ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस प्राणस्वरूप आत्मासे समस्त वाक् आदि प्राण निकलकर अपने-अपने भोग्य-स्थानकी ओर जाते हैं। फिर प्राणोंसे उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता प्रकट होते हैं और देवताओंसे लोक—नाम आदि विषय प्रकट होते हैं॥१९॥

उस आत्माकी उपलब्धिका दृष्टान्त इस प्रकार है। जैसे क्षुरधान (छूरा रखनेके लिये बनी हुई चर्ममयी पेटी) में छूरा रक्खा रहता है, उसी प्रकार शरीरान्तर्वर्ती हृदय-कमलमें अङ्गुष्ठमात्र पुरुषके रूपमें परमात्माकी उपलब्धि होती है; तथा जिस प्रकार अग्नि अपने नीडभूत अरणी आदि काष्ठमें सर्वत्र व्याप्त रहती है, उसी प्रकार यह प्रज्ञानवान् आत्मा इस 'आत्मा' नामसे कहे जानेवाले शरीरमें नखसे शिखातक व्याप्त है। उस इस साक्षी आत्माका ये वाक् आदि आत्मा अनुगत सेवककी भाँति अनुसरण करते हैं—ठीक उसी तरह, जैसे श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त धनीका, उसके आश्रित रहनेवाले स्वजन अनुवर्तन करते हैं तथा जिस प्रकार धनी अपने स्वजनोंके साथ भोजन करता है और स्वजन जैसे उस धनीको ही भोगते हैं, उसी प्रकार यह प्रज्ञावान् आत्मा इन वाक् आदि आत्माओंके साथ भोगता है तथा निश्चय ही इस आत्माको ये वाक् आदि आत्मा भोगते हैं।

वे प्रसिद्ध देवता इन्द्र जबतक इस आत्माको नहीं जानते थे, तबतक असुरगण इनका पराभव करते रहते थे; किंतु जब वे इस आत्माको जान गये, तब असुरोंको मारकर, उन्हें पराजित करके सम्पूर्ण देवताओंमें श्रेष्ठताका पद, स्वर्गका राज्य और त्रिभुवनका आधिपत्य पा गये। उसी प्रकार यह जाननेवाला विद्वान् सम्पूर्ण पापोंका नाश करके समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठताका पद, स्वाराज्य और प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है। जो यह जानता है, जो यह जानता है, उसे पूर्वोक्त फल मिलता है'॥ २०॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

॥ ऋग्वेदीय कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ ऐतरेयोपनिषद्के आरम्भमें छप चुका है।

१. हृदय नामसे प्रसिद्ध जो कमलके आकारका मांसपिण्ड है, उसको चारों ओर आँतोंने घेर रक्खा है; आँतोंद्वारा किये गये हृदयके इस परिवेष्टनका नाम 'पुरीतत्' है। यह 'पुरीतत्' सम्पूर्ण शरीरका उपलक्षण है—ऐसा श्रीशङ्कराचार्यने माना है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इन मन्त्रोंका अर्थ प्रश्नोपनिषद्में दिया जा चुका है ।

प्रथम खण्ड

राम-नामके विविध अर्थ; भगवान्के साकार तत्त्वकी व्याख्या; मन्त्र एवं यन्त्रका माहात्म्य

ॐ सच्चिदानन्दमय महाविष्णु श्रीहरि जब रघुकुलमें दशरथजीके यहाँ अवतीर्ण हुए, उस समय उनका नाम 'राम' हुआ । इस नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'जो महीतलपर स्थित होकर भक्तजनोंका सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करते और राजाके रूपमें सुशोभित होते हैं, वे राम हैं'—ऐसा विद्वानोंने लोकमें 'राम' शब्दका अर्थ व्यक्त किया है। ('राति राजते वा महीस्थितः सन् इति रामः'—इस विग्रहके अनुसार 'राति' या 'राजते' का प्रथम अक्षर 'रा' और 'महीस्थितः'का आदि अक्षर 'म' लेकर 'राम' बनता है; इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।) राक्षस जिनके द्वारा मरणको प्राप्त होते हैं, वे राम हैं । अथवा अपने ही उत्कर्षसे इस भूतलपर उनका 'राम' नाम विख्यात हो गया (उसकी प्रसिद्धिमें कोई व्युत्पत्तिजनित अर्थ ही कारण है, ऐसा नहीं मानना चाहिये)। अथवा वे अभिराम (सबके मनको रमानेवाले) होनेसे राम हैं । अथवा जैसे राहु मनसिज (चन्द्रमा) को हतप्रभ कर देता है, उसी प्रकार जो राक्षसोंको मनुष्यरूपसे प्रभाहीन (निष्प्रभ) कर देते हैं, वे राम हैं । अथवा वे राज्य पानेके अधिकारी महीपालोंको अपने आदर्श चरित्रके द्वारा धर्ममार्गका उपदेश देते हैं, नामोच्चारण करनेपर ज्ञानमार्गकी प्राप्ति कराते हैं, ध्यान करनेपर वैराग्य देते हैं और अपने विग्रहकी पूजा करनेपर ऐश्वर्य प्रदान करते हैं; इसलिये इस भूतलपर उनका 'राम' नाम पड़ा होगा । परंतु यथार्थ बात तो यह है कि उस अनन्त, नित्यानन्दस्वरूप, चिन्मय ब्रह्ममें योगीजन रमण करते हैं; इसलिये वह परब्रह्म परमात्मा ही 'राम' पदके द्वारा प्रतिपादित होता है ॥ १—६ ॥

यद्यपि ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, प्राकृत अवयवरहित और (पाञ्चभौतिक) शरीरसे रहित है, तथापि भक्तजनोंके अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये वह चिन्मय देहको प्रकट करता है—भक्तोंके स्नेहवश निराकार ब्रह्म भी नराकार धारण कर लेता है ॥ ७ ॥

भगवान्के स्वरूपमें स्थित जो देवता हैं, उन्हींकी पुरुष, स्त्री, अङ्ग और अस्त्र आदिके रूपमें कल्पना होती है । अर्थात् भिन्न-भिन्न देवता ही अस्त्र आदिके रूपमें भगवान्की सेवा करते हैं, परंतु वे भगवत्स्वरूपसे पृथक् नहीं हैं । भगवान् जो अनेक प्रकारके स्वरूप धारण करते हैं, उनमें किसीके दो, किसीके चार, किसीके छः, आठ, दस, बारह, सोलह और अठारह—इतने-इतने हाथ कहे गये हैं । ये शङ्ख आदिसे सुशोभित होते हैं । 'विश्वरूप' धारण करनेपर भगवान्के सहस्रों हाथ हो जाते हैं । उन सभी विग्रहोंके भिन्न-भिन्न रंग और वाहन आदिकी भी कल्पना होती है । उनके लिये नाना प्रकारकी शक्तियों तथा सेना आदिकी भी कल्पना की जाती है । इस

प्रकार परब्रह्म परमात्मामें विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश आदिके रूपमें पञ्चविध शरीरकी कल्पना होती है और उन सबके लिये पृथक्-पृथक् सेना आदिकी कल्पना होती है ॥८-१०॥

ब्रह्मासे लेकर वृक्षादिपर्यन्त समस्त जड-चेतनका वाचक जो यह 'राम' मन्त्र है, यह अर्थके अनुरूप ही है—जैसा इस नामका अर्थ है, वैसा ही इसका प्रभाव भी है। अतः इस राम-मन्त्रकी दीक्षा लेकर सदा इसका जप करना चाहिये। इसके बिना भगवान्‌की प्रसन्नता नहीं प्राप्त होती। क्रिया, कर्म इत्यादिका अनुष्ठान करनेवाले जो साधक हैं, उनके अर्थ (अभीष्ट प्रयोजन) को मन्त्र बता देता है—उसकी सिद्धिका निश्चय करा देता है; अतः मनन (निश्चय) और त्राणन (रक्षा) करनेके कारण वह मन्त्र कहलाता है। वह सम्पूर्ण अभिधेयोंका वाचक होता है। स्त्री-पुरुष उभय-रूपमें विराजमान जो भगवान् हैं, उनके लिये प्रतीकरूप विग्रह-यन्त्रका निर्माण है। यदि बिना यन्त्रके पूजा होती है, तो देवता प्रसन्न नहीं होते ॥ ११-१३ ॥

द्वितीय खण्ड

श्रीरामके स्वरूपका कथन; राम-बीजकी व्याख्या

भगवान् किसी कारणकी अपेक्षा न रखकर स्वतः प्रकट होते या नित्य विद्यमान रहते हैं, इसलिये 'स्वभू' कहलाते हैं। चिन्मय प्रकाश ही उनका स्वरूप है; अतः वे ज्योतिर्मय हैं। रूपवान् होते हुए भी वे अनन्त हैं—देश, काल और वस्तुकी सीमासे परे हैं। उन्हें प्रकाशित करनेवाली कोई दूसरी शक्ति नहीं है, वे अपनेसे ही प्रकाशित होते हैं। वे ही अपनी चैतन्य-शक्तिसे सबके भीतर जीवरूपसे प्रतिष्ठित होते हैं तथा वे ही रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुणका आश्रय लेकर समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, रक्षा और संहारके कारण बनते हैं; ऐसा होनेसे ही यह जगत् सदा प्रतीतिगोचर होता है। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब ॐकार है—परमात्मस्वरूप है। जैसे प्राकृत वटका महान् वृक्ष वटके छोटे-से बीजमें स्थित रहता है, उसी प्रकार यह चराचर जगत् रामबीजमें स्थित है। ('राम्' ही रामबीज है।) ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—ये तीन मूर्तियाँ 'राम्'के रकारपर आरूढ हैं तथा उत्पत्ति, पालन एवं संहारकी त्रिविध शक्तियाँ अथवा बिन्दु, नाद और बीज-से प्रकट होनेवाली रौद्री, ज्येष्ठा एवं वामा—ये त्रिविध शक्तियाँ भी वहीं स्थित हैं। ('राम्'का अक्षर-विभाग इस प्रकार है—र्, आ, अ, म्। इनमें रकार तो साक्षात् श्रीरामका वाचक है तथा उसपर आरूढ जो 'आ', 'अ' और 'म्' हैं, ये क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीन देवोंके और उपर्युक्त त्रिविध शक्तियोंके वाचक हैं।) इस बीजमन्त्रमें प्रकृति-पुरुषरूप सीता तथा राम पूजनीय हैं। इन्हीं दोनोंसे चौदह भुवनोंकी उत्पत्ति हुई है। इनमें ही इन लोकोंकी स्थिति है तथा उन आकार, अकार, मकाररूप ब्रह्मा, विष्णु, शिवमें इन सबका लय भी होता है। अतः श्रीरामने माया (लीला) से ही अपनेको मानव माना। जगत्‌के प्राण एवं आत्मारूप इन भगवान् श्रीरामको नमस्कार है। इस प्रकार नमस्कार करके गुणोंके भी पूर्ववर्ती परब्रह्मस्वरूप इन नमस्कार-योग्य देवता श्रीरामके साथ अपनी एकताका उच्चारण करे अर्थात् दृढ भावनापूर्वक 'मैं श्रीराम ही ब्रह्म हूँ' यों कहे ॥ १—४ ॥

तृतीय खण्ड

राम-मन्त्रकी व्याख्या; जपकी प्रक्रिया तथा ध्यान

'नमः' यह नाम जीववाचक है और 'राम' इस पदके द्वारा आत्माका प्रतिपादन होता है। तथा 'राम' के साथ एकात्मताको प्राप्त हुई जो 'आय' (रामाय)-रूपा चतुर्थी विभक्ति है, उसके द्वारा जीव और आत्मा (परमात्मा) की एकता बतलायी जाती है। 'रामाय नमः' यह मन्त्र वाचक है और भगवान् राम इसके वाच्य हैं; इन दोनोंका संयोग (अर्थात् मन्त्रजपपूर्वक भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन) सम्पूर्ण साधकोंको अभीष्ट फल प्रदान करनेवाला है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है। जैसे जो नामी होता है, वह अपने वाचक नामका उच्चारण होनेपर सम्मुख आ जाता है, उसी प्रकार बीजात्मक मन्त्र 'राम्' को भी समझना चाहिये। अर्थात् इसके द्वारा बुलानेपर भी भगवान् मन्त्र-जप करनेवाले साधकके सम्मुख आ जाते हैं। बीज और शक्तिका क्रमशः दाहिने और बायें स्तनोंपर न्यास करे और कीलकका नियमपूर्वक मध्यमें अर्थात् हृदयमें न्यास करे। (यहाँ 'रां' यह बीज है, 'मां' यह शक्ति है और 'यं' यह कीलक है।) इस न्यासके साथ ही साधक अपनी मनोवाञ्छा-सिद्धिके लिये विनियोग भी करे। सभी मन्त्रोंका यही साधारण क्रम है—अर्थात् पहले बीजका, फिर शक्तिका, फिर कीलकका न्यास तथा अन्तमें अपनी मनोरथ-सिद्धिके लिये विनियोग होता है। यहाँ ध्यान-कालमें भावना करनी चाहिये कि दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम अनन्त परमात्मारूप हैं।

वे तेजमें प्रज्वलित अग्निके सदृश हैं। (अथवा राम्-मन्त्र अनन्त—'आ' और तेजोमय अग्नि 'र्' के साथ एक ही समय उच्चारित होता है। 'र्' और 'आ' का एक साथ उच्चारण होनेसे 'रा' बनता है।) वे श्रीराम जब शीतल किरणोंवाली अर्थात् सौम्य कान्तिमती श्रीसीताजीके साथ संयुक्त होते हैं, तब उनसे अग्नीषोमात्मक (पुरुष और स्त्रीरूप) जगत्की उत्पत्ति होती है। (अथवा अनुष्णगु-शब्दका अर्थ है चन्द्रमा (म्) और विश्वका अर्थ है वैश्वानर—अग्नि (रा); अतः वैश्वानर-बीज 'रा' जब चन्द्र-बीज 'म्' से व्याप्त होता है, तब अग्नीषोमात्मक जगत्का वाचक 'राम्' यह मन्त्र बनता है।) श्रीराम सीताके साथ उसी प्रकार शोभा पाते हैं, जैसे चन्द्रमा चन्द्रिकाके साथ सुशोभित होते हैं ॥ १—६ ॥

ध्यान

कौसल्यानन्दन श्रीराम अपनी प्रकृति—ह्लादिनीशक्ति श्रीसीताजीके साथ विराजमान हैं। उनका वर्ण श्याम है। वे पीताम्बर धारण किये हुए हैं। उनके सिरपर जटाभार सुशोभित है। उनके दो भुजाएँ हैं। कानोंमें कुण्डल शोभा पा रहे हैं। गलेमें रत्नोंकी माला चमक रही है। वे स्वभावतः धीर (निर्भय एवं गम्भीर) हैं। धनुष धारण किये हुए हैं। उनके मुखपर सदा प्रसन्नता छायी रहती है। वे संग्राममें सदा ही विजयी होते हैं। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य-शक्तियाँ उनकी शोभा बढ़ाती हैं। इस जगत्की कारणभूता मूल प्रकृतिरूपा परमेश्वरी सीता उनके वाम अङ्कको विभूषित कर रही हैं। सीताजीके श्री-अङ्गोंकी कान्ति सुवर्णके सदृश गौर है। उनके भी दो भुजाएँ हैं। वे समस्त दिव्य आभूषणों-से विभूषित हैं तथा हाथमें कमल धारण किये हुए हैं। उन चिदानन्दमयी सीतासे सटकर बैठे हुए भगवान् श्रीराम बड़े हृष्ट-पुष्ट दिखायी देते हैं। दक्षिण भागमें श्रीरघुनाथजीके छोटे भाई सुवर्ण-गौर कान्तिवाले श्रीलक्ष्मणजी हाथमें धनुष-बाण लिये खड़े हैं। उस समय श्रीराम, लक्ष्मण और श्रीसीताजीका एक त्रिकोण बन जाता है ॥ ७—९ ॥

चतुर्थ खण्ड

षडक्षर मन्त्रका स्वरूप; भगवान् श्रीरामका स्तवन

जैसे श्रीराम-मन्त्रका 'राम्' यह बीज बताया गया है, उसी प्रकार उसका शेष अंश भी बताया जाता है। स्व अर्थात् 'राम' शब्दके चतुर्थ्यन्त रूपके साथ जीव—अर्थात् 'नमः' पद हो तो **'रां रामाय नमः'** यह षडक्षर मन्त्र बनता है। इस प्रकार षडक्षर मन्त्र सिद्ध होनेपर दो त्रिकोणरूप बनता है। (अर्थात् छहों अक्षरोंके न्यासके लिये छः कोण बनते हैं।) एक बार जब देवता भगवान्का दर्शन करनेके लिये आये, तब उन्होंने कल्पवृक्षके नीचे रत्नमय सिंहासनपर विराजमान जगदीश्वर श्रीरघुनाथजीका इस प्रकार स्तवन किया—'कामरूपधारी तथा मायामय स्वरूप ग्रहण करनेवाले श्रीरामको नमस्कार है। (अथवा कामबीज 'क्लीं' और मायामय बीज 'ह्रीं' से युक्त श्रीराम-मन्त्रको नमस्कार है—**क्लीं रामाय नमः ह्रीं रामाय नमः**।) वेदके आदिकारण ॐकारस्वरूप श्रीरामको नमस्कार है। (इससे **'ॐ रामाय नमः'** इस मन्त्रकी सूचना मिलती है।) रमा श्रीसीताजीको धारण करनेवाले अथवा रमणीय अधरोंवाले, आत्मरूप, नयनाभिराम श्रीरामको नमस्कार है। श्रीजानकीजीका शरीर ही जिनका आभूषण अथवा जो श्रीजनकनन्दिनीके श्रीविग्रहको स्वयं ही शृङ्गार आदिसे विभूषित करते हैं, जो राक्षसोंके संहारक तथा कल्याणमय विग्रहवाले हैं तथा जो दशमुख रावणका अन्त करनेके लिये यमराजस्वरूप हैं, उन मङ्गलमय रघुवीरको नमस्कार है। हे रामभद्र! हे महाधनुर्धर! हे रघुवीर! हे नृपश्रेष्ठ! हे दशवदन-विनाशक! हमारी रक्षा कीजिये तथा हमें ऐसी श्री—ऐश्वर्य-सम्पदा दीजिये, जिसका सम्बन्ध आपसे हो, अर्थात् जो भगवत्प्रीत्यर्थ ही उपयोगमें लायी जा सके'* ॥ १—६ ॥

---

* कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च ॥
नमो वेदादिरूपाय ॐकाराय नमो नमः। रमाधाराय रामाय श्रीरामायात्ममूर्तये ॥
जानकीदेहभूषाय रक्षोघ्नाय शुभाङ्गिने। भद्राय रघुवीराय दशास्यान्तकरूपिणे ॥
रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम। भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते ॥ (२—५)

पञ्चम खण्ड

खरके वधसे लेकर वाली-वधतकका संक्षिप्त चरित्र

'रघुवीर ! आप हमें ऐश्वर्यकी प्राप्ति कराइये ।' भगवान् श्रीरामने जबतक खर नामक राक्षसका वध किया, उतने समयतक देवता आदि उपर्युक्त रूपसे उनकी स्तुति करके उनके साथ सुखपूर्वक स्थित हुए । देवताओंकी ही भाँति ऋषि भी भगवान्की स्तुति करते रहे । उस समय खर आदिके मारे जानेपर राक्षसकुलोत्पन्न रावण (मारीचके साथ) वनमें आया और उसने अपने ही विनाशके लिये रामपत्नी सीताजीको हर लिया । उन दिनों सीता भी वनमें ही रहती थीं । उसने 'वन' से उनको हरण किया, इससे वह राक्षस रावण कहलाया ('राम' शब्दसे 'रा' एवं 'वन' शब्दसे 'वन' लेकर 'रावण' नाम बना) । अथवा दूसरोंको रुलानेके कारण वह रावण कहलाता था । (अथवा एक दिन दशाननने कैलासको उठा लिया था, तब महादेवजीने कैलासपर बहुत भार डाल दिया । उस समय) दशाननने बड़ा रव किया, इसीसे उसका नाम रावण हो गया । तदनन्तर श्रीराम और लक्ष्मण सीतादेवीका पता लगानेके व्याजसे वनभूमिपर विचरने लगे । सामने कबन्ध नामक असुरको उपस्थित देख दोनों भाइयोंने उसे मार डाला और उस कबन्धके कथनानुसार वे दोनों शबरीके आश्रमपर गये । वहाँ शबरीने उनका बड़ी भक्तिसे स्वागत-सत्कार किया । तत्पश्चात् आगे जानेपर उन्हें वायुपुत्र भक्तवर हनुमान्जी मिले, जिन्होंने (मध्यस्थरूपमें) कपिराज सुग्रीवको बुलाकर उनके साथ दोनों भाइयोंकी मैत्री करायी । तत्पश्चात् दोनों भाइयोंने सुग्रीवसे अपना सब हाल आदिसे अन्ततक कह सुनाया ॥ १—५ ॥

सुग्रीवको श्रीरामके पराक्रममें संदेह था, अतः उन्होंने श्रीरामको दुन्दुभिनामक राक्षसका विशाल शरीर दिखाया (जिसे वालीने मार गिराया था); श्रीरामने दुन्दुभिके उस शवको अनायास ही बहुत दूर फेंक दिया । इसके सिवा एक ही बाणसे सात तालवृक्षोंको तत्काल बींध डाला और इस प्रकार अपने मित्रको आश्वासन देकर प्रसन्नताका अनुभव किया । इससे कपिराज सुग्रीवको बड़ा हर्ष हुआ । इसके बाद वे श्रीरघुनाथजी सुग्रीवके नगरमें गये । वहाँ वालीके भाई सुग्रीवने बड़ी विकट गर्जना की । उस गर्जनाको सुनकर वाली बड़े वेगसे घरके बाहर निकला । श्रीरामने युद्धमें उस वालीको मार गिराया और किष्किन्धाके राज्यसिंहासनपर सुग्रीवको बिठा दिया ॥ ६–९ ॥

षष्ठ खण्ड

शेष चरित्रका संक्षिप्त वर्णन; आवरण-पूजाके लिये यन्त्रस्थ देवताओंका निरूपण

तदनन्तर सुग्रीवने वानरोंको बुलाकर कहा—'वानर-वीरो ! तुम सब दिशाओंकी बातें जानते हो । इस समय शीघ्र यहाँसे जाओ और मिथिलेशकुमारी सीताको आज ही ढूँढ़ लाकर रघुनाथजीको अर्पित करो ।' (इस आदेशके अनुसार सब दिशाओंकी ओर बहुत-से वानर चल पड़े ।) तत्पश्चात् हनुमान्जी (जो कुछ प्रमुख वानरोंके साथ दक्षिण दिशामें खोज करनेके लिये भेजे गये थे) समुद्र लाँघकर लङ्कामें गये । वहाँ सीताजीका दर्शन करके उन्होंने अनेक असुरोंका वध किया और लङ्कामें आग लगा दी । फिर वहाँसे श्रीरामके पास लौटकर सब समाचार यथावत् कह सुनाया । तब भगवान् श्रीरामने क्रोधका अभिनय किया—रावणके प्रति क्रोधयुक्त होकर उन वानरोंको बुलाया और उनके साथ अस्त्र-शस्त्र लेकर लङ्कापुरीपर आक्रमण किया । लङ्काका भलीभाँति निरीक्षण करके भगवान्ने वहाँके राजा रावणके साथ युद्ध छेड़ दिया । उस युद्धमें भाई कुम्भकर्ण तथा पुत्र इन्द्रजित्के सहित रावणको मारकर उन्होंने विभीषणको वहाँका राजा बनाया और जनकनन्दिनी सीताको साथ ले उन्हें अपने वाम अङ्कमें बिठाकर उन सब वानरोंके साथ अपनी पुरी अयोध्याको प्रस्थान किया ॥ १–६ ॥

अब द्विभुजरूपधारी श्रीरघुनाथजी अयोध्याके राजसिंहासनपर विराजमान हैं । वे धनुष धारण किये हुए हैं । उनका चित्त स्वभावतः प्रसन्न है । वे सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हैं । दाहिने हाथमें ज्ञान[1]मयी और बायें हाथमें तेज-

---

१. ज्ञान-मुद्राका लक्षण इस प्रकार है—

तर्जन्यङ्गुष्ठकौ सक्तावग्रतो हृदि विन्यसेत् ।
वामं हस्ताम्बुजं वामे जानु मूर्धनि विन्यसेत् ।
ज्ञानमुद्रा भवेदेषा रामचन्द्रस्य वल्लभा ॥

दाहिने हाथकी तर्जनी और अँगूठेको सटाकर आगेकी ओर छातीपर रक्खे और बायें हाथको बायें घुटनेके ऊपर रक्खे । यह ज्ञानमुद्रा है, जो श्रीरामचन्द्रजीको बहुत प्रिय है ।

को प्रकाशित करनेवाली धनुर्मयी[1] मुद्रा धारण करके वे सच्चिदानन्दमय परमेश्वर व्याख्यानकी[2] मुद्रामें स्थित हैं ॥ ७-८ ॥

(इस प्रकार देवताओंकी स्तुतिसे लेकर श्रीरामके राज्याभिषेकतकको लीलाका संक्षेपसे वर्णन करके अब पुनः पूर्वोक्त षट्कोणका अनुसरण करके आवरण-पूजाके लिये यन्त्रस्थ देवताओंका वर्णन किया जाता है—)

श्रीरामचन्द्रजीके उत्तर और दक्षिणभागमें क्रमशः शत्रुघ्न और भरतजी स्थित हैं । हनूमान्‌जी श्रोताके रूपमें भगवान्‌के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हैं । वे भी त्रिकोणके भीतर ही स्थित हैं । भरतके नीचे सुग्रीव हैं और शत्रुघ्नके नीचे विभीषण खड़े हैं। भगवान्‌के पीछेकी ओर छत्र-चँवर धारण किये लक्ष्मणजी विराजमान हैं।* लक्ष्मणजीसे नीचे स्तरमें ताड़के पंखे हाथमें लिये हुए दोनों भाई भरत-शत्रुघ्न खड़े हैं । इस प्रकार लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नको लेकर दूसरा त्रिकोण और बन जाता है। इस तरह छः कोण होते हैं। भगवान् श्रीराम पहले तो अपने बीज-मन्त्रस्वरूप दीर्घ अक्षरोंके ही आवरणसे घिरे हुए हैं। (वह प्रथम आवरण इस प्रकार है—'रां', 'रीं', 'रूं', 'रैं', 'रौं', 'रः') ॥ ९-११ ॥

द्वितीय आवरण यों है—वासुदेव, शान्ति, संकर्षण, श्री, प्रद्युम्न, सरस्वती, अनिरुद्ध और रति । ये क्रमशः भगवान्‌के आग्नेय आदि दिशाओंमें स्थित हैं । द्वितीय आवरणमें भगवान् इन सबसे संयुक्त रहते हैं। तृतीय आवरणमें हनुमान्, सुग्रीव, भरत, विभीषण, लक्ष्मण, अङ्गद तथा जाम्बवान् और शत्रुघ्नकी गणना है । अर्थात् इन सबसे जब श्रीरघुनाथजी संयुक्त होते हैं; तब तृतीय आवरण सिद्ध होता है । इनके अतिरिक्त धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमन्त्रसे आवृत होनेपर भी तृतीय आवरण ही रहता है। इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, चन्द्रमा, ईशान, ब्रह्मा और अनन्त—इन दस दिक्पालोंसे जब भगवान् आवृत होते हैं; तब चतुर्थ आवरण होता है। (इनमें इन्द्र पूर्वके, अग्नि अग्निकोणके, यम दक्षिणके, निर्ऋति नैर्ऋत्यकोणके, वरुण पश्चिमके, वायु वायव्यकोणके, चन्द्रमा उत्तरके और ईशान—शिव ईशानकोणके अधिपति हैं। इन सबकी अपनी-अपनी दिशामें पूजा करनी चाहिये । ब्रह्माका स्थान पूर्व दिशा और ईशानकोणके मध्यभागमें है तथा अनन्तका स्थान नैर्ऋत्यकोण और पश्चिमके मध्यभागमें है । इन्द्र आदिके बीज-मन्त्र क्रमशः इस प्रकार हैं—**लं रं मं क्षं वं यं सं हं आं नं**) इन दिक्पालोंके बाह्य भागमें उनके ही वज्र आदि आयुध हैं, जिनसे आवृत भगवान् पूजनीय होते हैं । (उन आयुधोंके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—इन्द्रका वज्र, अग्निका शक्ति, यमका दण्ड, निर्ऋतिका खड्ग, वरुणका पाश, वायुका अङ्कुश, चन्द्रमाका गदा, ईशानका शूल, ब्रह्माका पद्म और अनन्तका चक्र ।) उसी आवरणमें नल आदि वानर भी भगवान्‌की शोभा बढ़ाते हैं। साथ ही वसिष्ठ-वामदेव आदि मुनि भगवान्‌की उपासनामें संलग्न रहते हैं ॥ १२—१६ ॥

---

१. धनुर्मयी मुद्रा इस प्रकार है—

वामस्य मध्यमाग्रं तु तर्जन्यग्रे नियोजयेत्।
अनामिकां कनिष्ठां च तस्याङ्गुष्ठेन पीडयेत्। दर्शयेद् वामके स्कन्धे धनुर्मुद्रेयमीरिता ॥

बायें हाथकी मध्यमा अङ्गुलिके अग्रभागको तर्जनीके अग्रभागमें सटा दे और अनामिका तथा कनिष्ठिकाको अँगूठेसे दबावे। इस प्रकारकी भङ्गी बायें कंधेपर प्रदर्शित करे । यही धनुर्मुद्रा बतायी गयी है।

२. व्याख्यानमुद्राका लक्षण यों है—

दक्षिणाङ्गुष्ठतर्जन्यावग्रलग्ने पराङ्गुलीः। प्रसार्य संहतोत्ताना एषा व्याख्यानमुद्रिका ॥
रामस्य च सरस्वत्या अत्यन्तं प्रेयसी मता। ज्ञानव्याख्या पुस्तकानां युगपत्सम्भवः स्मृतः ॥

दाहिने हाथके अँगूठे और तर्जनी अङ्गुलिके अग्रभाग परस्पर सटे हों और शेष तीन अङ्गुलियोंको फैलाकर रक्खा जाय। वे फैली अङ्गुलियाँ भी परस्पर सटी हुई और उत्तान हों। यह व्याख्यान-मुद्रा है। यह श्रीरामको और सरस्वतीको बहुत अधिक प्रिय है। इसके द्वारा ज्ञान, व्याख्यान तथा पुस्तक—तीनों मुद्राओंका एक साथ प्रकाशन माना गया है।

* पहले लक्ष्मणको भगवान्‌के दक्षिण भागमें स्थित बता आये हैं और यहाँ पश्चिमभागमें उनकी स्थिति बतायी जाती है; परंतु इसमें विरोध नहीं है। वहाँ वनवासके समयका ध्यान है; अतः उसमें भरत आदिकी उपस्थिति नहीं है। यहाँ राज्याभिषेकके समय भरतजी भी हैं; अतः उस समय लक्ष्मणजीका पृष्ठभागमें स्थित होना उचित ही है।

सप्तम खण्ड

पूजा-यन्त्रका विस्तृत वर्णन

इस प्रकार संक्षेपसे पूजा-यन्त्रका वर्णन किया गया। अब उसका पूर्णतः निर्देश किया जाता है। समरेखाओंके दो त्रिकोण बनाकर उनके मध्यभागमें दो प्रणवोंका पृथक्-पृथक् उल्लेख करे। फिर उन दोनोंके बीचमें आद्यबीज (रां) लिखकर उसके नीचे साध्य-कार्यका उल्लेख करे। साध्यका नाम द्वितीयान्त होना चाहिये। आद्यबीजके ऊपरी भागमें साधकका नाम लिखना चाहिये। साधकका नाम षष्ठ्यन्त रहना चाहिये। तत्पश्चात् बीजके दोनों ओर—वाम-दक्षिण पार्श्वोंमें एक-एक 'कुरु' पदका उल्लेख करना चाहिये। बीजके बीचमें और साध्यके ऊपर श्री-बीज 'श्रीं' लिखे। बुद्धिमान् पुरुष यह सब बीज आदि इस प्रकार लिखे कि वे दोनों प्रणवोंसे सम्पुटित रहें। फिर छहों कोणोंमें दीर्घस्वरसे युक्त मूल-बीजका उल्लेख करे; साथ ही क्रमशः एक-एकके साथ **'हृदयाय नमः'**, **'शिरसे स्वाहा'** इत्यादिको भी अङ्कित करे। (अर्थात् **'रां हृदयाय नमः'**, **'रीं शिरसे स्वाहा'**, **'रूं शिखायै वषट्'**, **'रैं कवचाय हुम्'**, **'रौं नेत्राभ्यां वौषट्'** तथा **'रः अस्त्राय फट्'**—इस प्रकार छः वाक्य छः कोणोंमें लिखने चाहिये।) कोणोंके पार्श्व-भागमें रमाबीज (श्रीं) और माया-बीज (ह्रीं) लिखे तथा उसके आगे काम-बीज (क्लीं) का उल्लेख करे। कोणके अग्रभाग और भीतरी भागोंमें क्रोध-बीज (हुम्) लिखकर मन्त्र-साधक उस 'हुम्' के दोनों पार्श्वोंमें सारस्वत-बीज (ऐं) लिखे। फिर तीन वृत्त (गोलाकार रेखाएँ) बनाये (इनमें एक वृत्त तो षट्कोणके ऊपर होगा, एक मध्यमें होगा और एक दलोंके अग्रभागमें रहेगा)। इन तीन वृत्तोंके साथ-साथ एक अष्टदल कमल भी लिखे। कमलके जो केसर हैं, उनमें दो-दो अक्षरके क्रमसे सभी स्वर-वर्णोंका उल्लेख करे। आठों दलोंमें स्वरोंके ऊपर व्यञ्जन-वर्णोंके आठ वर्गोंका लेखन करे (आठ वर्ग ये हैं—कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग, शवर्ग और ल्वर्ग)। उन आठों दलोंमें अष्टवर्गके ऊपर आगे बताये जानेवाले माला-मन्त्रके ४७ वर्णोंका एक-एक दलमें छः-छः वर्णके क्रमसे उल्लेख करे। अन्तिम दलमें अवशिष्ट पाँच वर्णोंका ही उल्लेख होगा। पूर्वोक्त प्रकारसे पुनः एक अष्टदल कमल बनाये। उसके आठ दलोंमें **'ॐ नमो नारायणाय'** इस अष्टाक्षर-मन्त्रके एक-एक अक्षरका न्यास करे। उसके केसरमें रमा-बीज (श्रीं) लिखे। उसके ऊपर बारह दलोंका कमल बनाये। और उसके बारहों दलोंमें द्वादशाक्षर मन्त्र **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'** इसके एक-एक अक्षरको अङ्कित करे॥ १—८॥

अष्टम खण्ड

पूजा-यन्त्रके अगले अङ्गोंका वर्णन

उक्त द्वादशदल कमलके केसरोंमें 'अकार'से लेकर 'क्ष' तकके वर्णोंको (१६ स्वर और ३५ व्यञ्जन) गोलाकार लिखे। (एक-एक केसरमें चार-चार अक्षर होंगे, किंतु अन्तिम केसरमें सात होंगे।) उसके बाह्यभागमें पुनः षोडशदल कमल लिखे और उसके केसरोंमें माया-बीज (ह्रीं) का उल्लेख करे। उसके षोडश दलोंमें एक-एक अक्षरके क्रमसे 'हुं' 'फट्' 'नमः' तथा द्वादशाक्षर मन्त्र[1]को अङ्कित करे। षोडश दलोंकी संधियोंमें मन्त्रवेत्ता पुरुष हनुमान्‌जी आदिके बीज-मन्त्र लिखे। वे मन्त्र इस प्रकार हैं—**ह्रं स्रं भ्रं वृं लं अं जं** और **श्रं**। (इनके अतिरिक्त धृष्टि आदिके बीज-मन्त्रोंका भी उल्लेख करे। ये हैं—**धं जं वृं सं क्षं अं धं** और **सं**। मूल श्लोकमें आये हुए 'च' से इनका समुच्चय होता है।) उसके बाह्यभागमें बत्तीस दलोंका महाकमल बनाये, जो नाद और बिन्दुसे युक्त हो। उसके दलोंपर यत्नपूर्वक नारसिंह-मन्त्रराज[2]के बत्तीस अक्षरोंको लिखे। उन दलोंमें ही आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और सबको धारण करनेवाले[3] वषट्कारका न्यास एवं ध्यान

१. द्वादशाक्षर मन्त्र यह है—'ॐ ह्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा'।

२. नारसिंह-मन्त्रराज इस प्रकार है—

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥

३. वषट्कारके साथ मूल श्लोकमें 'धाता' शब्दका प्रयोग हुआ है, उसका अर्थ 'धारण करनेवाला' है। वषट्कार दानके अर्थमें प्रयुक्त होता है। दानसे ही समस्त लोक धारण किये जाते हैं, अतः 'धाता' पद 'वषट्कार' का विशेषण ही है। 'धाता' को देवतावाचक इसलिये नहीं मानना चाहिये कि बारह आदित्योंकी श्रेणीमें धाता नामक आदित्यका नाम आ चुका है। अथवा 'धाता' पद ब्रह्माजीका वाचक है और 'वषट्कार' उसका विशेषण है। ब्रह्माजी ही सबको जन्म और जीवन प्रदान करते हैं, अतः उनके लिये 'वषट्कार' विशेषण देना उपयुक्त ही है।